सावरकर समग्र

स्वातंत्र्यवीर
विनायक दामोदर सावरकर

‘सावरकर’ शब्द साहस, शौर्य, पराक्रम और राष्ट्रभक्ति का पर्याय है। क्रांतिकारी इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों पर अंकित स्वातंत्र्यवीर सावरकर का समूचा व्यक्तित्व अप्रतिम गुणों से संपन्न था। मातृभूमि की स्वतंत्रता के लिए प्राण हथेली पर रखकर जूझनेवाले महान् क्रांतिकारी; जातिभेद, अस्पृश्यता व अंधश्रद्धा जैसी सामाजिक बुराइयों को समूल नष्ट करने का आग्रह करनेवाले महान् द्रष्टा; ‘गीता’ के कर्मयोग सिद्धांत को अपने जीवन में आचरित करनेवाले अद्भुत कर्मचोगी; अनादि-अनंत परमात्मा का प्राणमय प्रस्फुरण स्वयं के अंदर सदैव अनुभव करते हुए अंदमान जेल की यातनाओं को धैर्यपूर्वक सहनेवाले महान् दार्शनिक, अपने तेजस्वी विचारों से सहस्रों श्रोताओं को झकझोर देने और उन्हें सम्मोहित करनेवाले अद्भुत वक्ता तथा कविता, उपन्यास, कहानी, चरित्र, आत्मकथा, इतिहास, निबंध आदि विभिन्न विधाओं में उच्चकोटि के साहित्य की रचना करनेवाले प्रतिभाशाली साहित्यकार थे स्वातंत्र्यवीर विनायक दामोदर सावरकर।

स्वतंत्रता-संग्राम एवं समाज-सुधार जैसे क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण कार्य करनेवाले व्यक्ति उच्चकोटि का साहित्यकार भी हो, यह अपवाद है—और इस अपवाद के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं वीर सावरकर।

भारतीय वाङ्मय में उनके साहित्य का अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान है; किंतु वह अधिकांश मराठी में उपलब्ध होने के कारण इस महान् साहित्यकार मे अप्रतिम योगदान के बारे में अन्य भारतीय भाषाओं के पाठक अधिक परिचित नहीं हैं।

वीर सावरकर के चिर प्रतीक्षित समग्र साहित्य का प्रकाशन हिंदी जगत् के लिए गौरव की बात है।
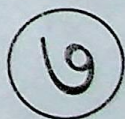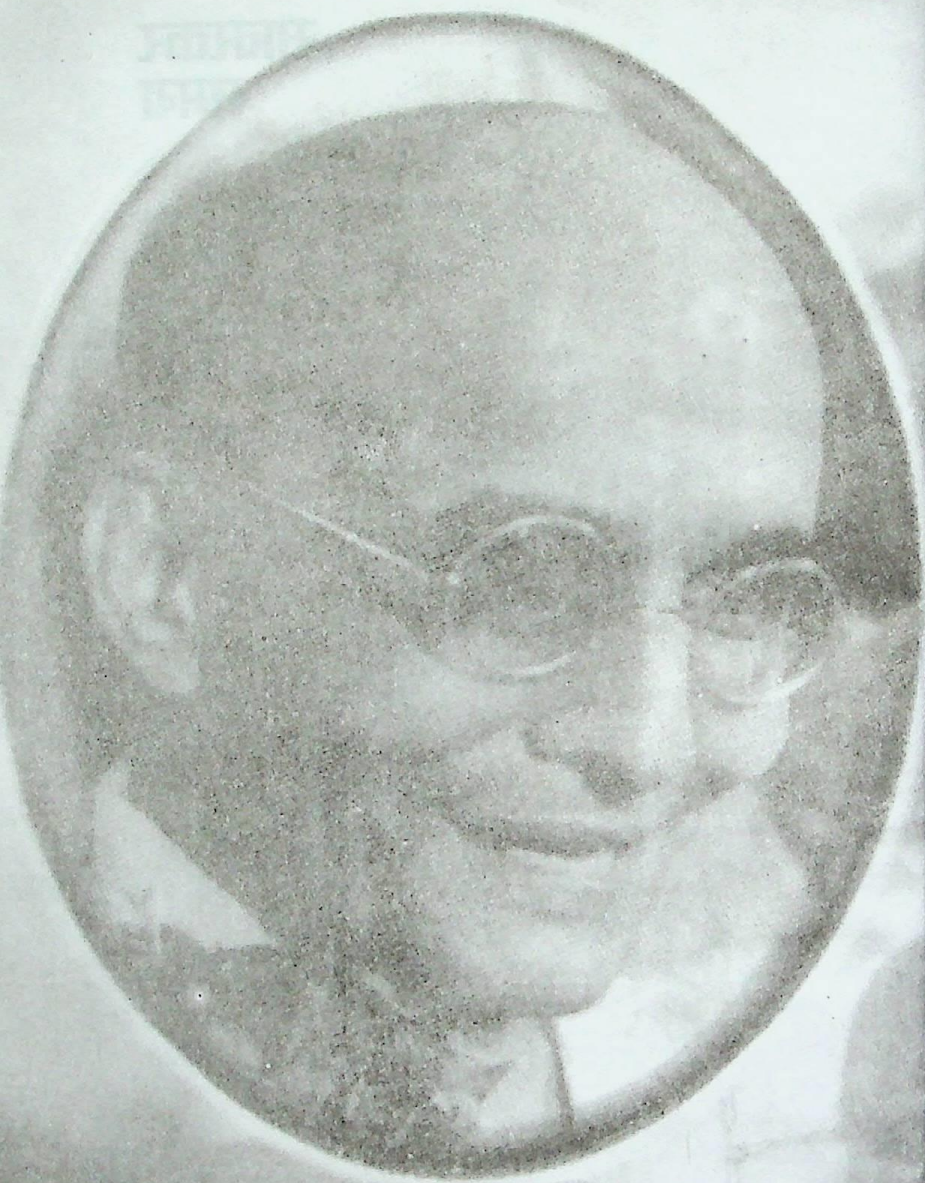
सावरकर समग्र

सावरकर समग्र

स्वातंत्र्यवीर

विनायक दामोदर सावरकर

प्रभात प्रकाशन, दिल्ली

सावरकर समग्र

प्रथम खंड

पूर्व पीठिका, भगूर, नाशिक
शत्रु के शिविर में
लंदन से लिखे पत्र

द्वितीय खंड

मेरा आजीवन कारावास
अंदमान की कालकोठरी से
गांधी वध निवेदन
आत्महत्या या आत्मार्पण
अंतिम इच्छा पत्र

तृतीय खंड

काला पानी
मुझे उससे क्या ? अर्थात् मोपला कांड
अंधश्रद्धा निर्मूलक कथाएँ

चतुर्थ खंड

उ:शाप
बोधिवृक्ष
संन्यस्त खड्ग
उत्तरक्रिया
प्राचीन अर्वाचीन महिला
गरमागरम चिवड़ा
गांधी गोंधल

पंचम खंड

१८५७ का स्वातंत्र्य समर
रणदुंदुभि
तेजस्वी तारे

षष्टम खंड

छह स्वर्णिम पृष्ठ
हिंदू पदपादशाही

सप्तम खंड

जातिभंजक निबंध
सामाजिक भाषण
विज्ञाननिष्ठ निबंध

अष्टम खंड

मैझिनी चरित्र
विदेश में भारतीय स्वतंत्रता संग्राम
क्षकिरणे
ऐतिहासिक निवेदन
अभिनव भारत संबंधी भाषण

नवम खंड

हिंदुत्व हिंदुत्व का प्राण
नेपाली आंदोलन
लिपि सुधार आंदोलन
हिंदू राष्ट्रदर्शन

दशम खंड

कविताएँ
भाषा-शुद्धि लेख
विविध लेख

अनुवाद :

प्रो. निशिकांत मिरजकर, डॉ. ललिता मिरजकर,
डॉ. हेमा जावडेकर, श्री वामन राव पाठक, श्री काशीनाथ जोशी,
श्री शरद दामोदर महाजन, श्री माधव साठे, सौ. कुसुम तांबे,
सौ. सुनीता कुट्टी, सौ. प्रणोति उपासने,
सौ. सिंधुताई भिंगारकर, श्री वि.गो. वैद्य

संपादन :

प्रो. निशिकांत मिरजकर, डॉ. श्याम बहादुर वर्मा,
श्री रामेश्वर मिश्र 'पंकज', श्री जगदीश उपासने,
श्री काशीनाथ जोशी, श्री धृतिवर्धन गुप्त, श्री अशोक कौशिक,
सौ. रश्मि घटवाई

मार्गदर्शन :

श्री त्रिलोकीनाथ चतुर्वेदी, डॉ. हरींद्र श्रीवास्तव,
श्री शिवकुमार गोयल

विनायक दामोदर सावरकर : संक्षिप्त जीवन परिचय

श्री विनायक दामोदर सावरकर भारतीय स्वाधीनता-संग्राम के एक तेजस्वी तथा अग्रणी नक्षत्र थे। 'वीर सावरकर' शब्द साहस, वीरता, देशभक्ति का पर्यायवाची बन गया है। 'वीर सावरकर' शब्द के स्मरण करते ही अनुपम त्याग, अदम्य साहस, महान् वीरता, एक उत्कट देशभक्ति से ओतप्रोत इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठ हमारे सामने साकार होकर खुल पड़ते हैं।

वीर सावरकर न केवल स्वाधीनता-संग्राम के एक तेजस्वी सेनानी थे अपितु वह एक महान् क्रांतिकारी, चिंतक, सिद्धहस्त लेखक, कवि, ओजस्वी वक्ता तथा दूरदर्शी राजनेता भी थे। वह एक ऐसे इतिहासकार भी थे जिन्होंने हिंदू राष्ट्र की विजय के इतिहास को प्रामाणिक ढंग से लिपिबद्ध किया तो '१८५७ के प्रथम स्वातंत्र्य समर' का सनसनीखेज व खोजपूर्ण इतिहास लिखकर ब्रिटिश शासन को हिला डाला था।

इस महान् क्रांतिपुंज का जन्म महाराष्ट्र के नासिक जिले के ग्राम भगूर में चित्तपावन वंशीय ब्राह्मण श्री दामोदर सावरकर के घर २८ मई, १८८३ को हुआ था। गाँव के स्कूल में ही पाँचवीं तक पढ़ने के बाद विनायक आगे पढ़ने के लिए नासिक चले गए।

लोकमान्य तिलक द्वारा संचालित 'केसरी' पत्र की उन दिनों भारी धूम थी। 'केसरी' में प्रकाशित लेखों को पढ़कर विनायक के हृदय में राष्ट्रभक्ति की भावनाएँ हिलोरें लेने लगीं। लेखों, संपादकीयों व कविताओं को पढ़कर उन्होंने जाना कि भारत को दासता के चंगुल में रखकर अंग्रेज किस प्रकार भारत का शोषण कर रहे हैं। वीर सावरकर ने कविताएँ तथा लेख लिखने शुरू कर दिए। उनकी रचनाएँ मराठी पत्रों में नियमित रूप से प्रकाशित होने लगीं। 'काल' के संपादक श्री परांजपे ने अपने पत्र में सावरकर की कुछ रचनाएँ प्रकाशित कीं, जिन्होंने तहलका मचा दिया।

सन् १९०५ में सावरकर बी.ए. के छात्र थे। उन्होंने एक लेख में विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार का आह्वान किया। इसके बाद उन्होंने अपने साथियों के साथ मिलकर विदेशी वस्त्रों की होली जलाने का कार्यक्रम बनाया। लोकमान्य तिलक इस कार्य के लिए आशीर्वाद देने उपस्थित हुए।

सावरकर की योजना थी कि किसी प्रकार विदेश जाकर बम आदि बनाने सीखे

जाएँ तथा शस्त्रास्त्र प्राप्त किए जाएँ। ९ जून, १९०६ को सावरकर इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए। वह लंदन में 'इंडिया हाउस' में ठहरे। उन्होंने वहाँ पहुँचते ही अपनी विचारधारा के भारतीय युवकों को एकत्रित करना शुरू कर दिया। उन्होंने 'फ्री इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की।

सावरकर 'इंडिया हाउस' में रहते हुए लेख व कविताएँ लिखते रहे। वह गुप्त रूप से बम बनाने की विधि का अध्ययन व प्रयोग भी करते रहे। उन्होंने इटली के महान् देशभक्त मैझिनी का जीवन-चरित्र लिखा। उसका मराठी अनुवाद भारत में छपा तो एक बार तो तहलका ही मच गया था।

१९०७ में सावरकर ने अंग्रेजों के गढ़ लंदन में १८५७ की अर्द्धशती मनाने का व्यापक कार्यक्रम बनाया। १० मई, १९०७ को 'इंडिया हाउस' में सन् १८५७ की क्रांति की स्वर्ण जयंती का आयोजन किया गया। भवन को तोरण-द्वारों से सजाया गया। मंच पर मंगल पांडे, लक्ष्मीबाई, वीर कुँवरसिंह, तात्या टोपे, बहादुरशाह जफर, नानाजी पेशवा आदि भारतीय शहीदों के चित्र थे। भारतीय युवक सीने व बाँहों पर शहीदों के चित्रों के बिल्ले लगाए हुए थे। उनपर अंकित था —'१८५७ के वीर अमर रहें'। इस समारोह में कई सौ भारतीयों ने भाग लेकर १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम के शहीदों को श्रद्धांजलि अर्पित की। राष्ट्रीय गान के बाद वीर सावरकर का ओजस्वी भाषण हुआ, जिसमें उन्होंने सप्रमाण सिद्ध किया कि १८५७ में 'गदर' नहीं अपितु भारत की स्वाधीनता का प्रथम महान् संग्राम हुआ था।

सावरकर ने १९०७ में '१८५७ का प्रथम स्वातंत्र्य समर' ग्रंथ लिखना शुरू किया। इंडिया हाउस के पुस्तकालय में बैठकर वह विभिन्न दस्तावेजों व ग्रंथों का अध्ययन करने लगे। उन्होंने अनेक ग्रंथों के गहन अध्ययन के बाद इसे लिखना शुरू किया।

ग्रंथ की पांडुलिपि किसी प्रकार गुप्त रूप से भारत पहुँचा दी गई। महाराष्ट्र में इसे प्रकाशित करने की योजना बनाई गई। 'स्वराज्य' पत्र के संपादक ने इसे प्रकाशित करने का निर्णय लिया; किंतु पुलिस ने प्रेस पर छापा मारकर योजना में बाधा डाल दी। ग्रंथ की पांडुलिपि गुप्त रूप से पेरिस भेज दी गई। वहाँ इसे प्रकाशित कराने का प्रयास किया गया; किंतु ब्रिटिश गुप्तचर वहाँ भी पहुँच गए और ग्रंथ को प्रकाशित न होने दिया गया। ग्रंथ के प्रकाशित होने से पूर्व ही उसपर प्रतिबंध लगा दिया गया। अंततः १९०९ में यह ग्रंथ फ्रांस से प्रकाशित हो गया।

ब्रिटिश सरकार तीनों सावरकर बंधुओं को 'राजद्रोही' व खतरनाक क्रांतिकारी घोषित कर चुकी थी। सावरकर इंग्लैंड से पेरिस चले गए। पेरिस में उन्हें अपने साथी याद आते। वह सोचते कि उनके संकट में रहते उनका यहाँ सुरक्षित रहना उचित नहीं है। अंततः वह इंग्लैंड के लिए रवाना हो गए।

१३ मार्च, १९१० को लंदन के रेलवे स्टेशन पर पहुँचते ही सावरकर को बंदी बना लिया गया और ब्रिक्स्टन जेल में बंद कर दिया गया। उनपर लंदन की अदालत

में मुकदमा शुरू हुआ। न्यायाधीश ने २२ मई को निर्णय दिया कि क्योंकि सावरकर पर भारत में भी कई मुकदमे हैं, अत: उन्हें भारत ले जाकर वहीं मुकदमा चलाया जाए। अंतत: २९ जून को सावरकर को भारत भेजने का आदेश जारी कर दिया गया।

१ जुलाई, १९१० को 'मोरिया' जलयान से सावरकर को कड़े पहरे में भारत रवाना किया गया। ब्रिटिश सरकार को भनक लग गई थी कि सावरकर को रास्ते में छुड़ाने का प्रयास किया जा सकता है। अत: सुरक्षा प्रबंध बहुत कड़े किए गए। ८ जुलाई को जलयान मार्सेलिस बंदरगाह के निकट पहुँचने ही वाला था कि सावरकर शौच जाने के बहाने पाखाने में जा घुसे। फुरती के साथ उछलकर वह पोर्ट हॉल तक पहुँचे और समुद्र में कूद पड़े।

अधिकारियों को जैसे ही उनके समुद्र में कूद जाने की भनक लगी कि अंग्रेज अफसरों के छक्के छूट गए। उन्होंने समुद्र की लहरें चीरकर तैरते हुए सावरकर पर गोलियों की बौछार शुरू कर दी। सावरकर सागर की छाती चीरते हुए फ्रांस के तट की ओर बढ़ने लगे। कुछ ही देर में वह तट तक पहुँचने में सफल हो गए; किंतु उन्हें पुन: बंदी बना लिया गया। १५ सितंबर, १९१० को सावरकर पर मुकदमा शुरू हुआ। सावरकर ने स्पष्ट कहा कि भारत के न्यायालय से उन्हें न्याय की किंचित् भी आशा नहीं है, अत: वह अपना बयान देना व्यर्थ समझते हैं।

१४ दिसंबर को अदालत ने उन्हें ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध षड्यंत्र रचने, बम बनाने तथा रिवॉल्वर आदि शस्त्रास्त्र भारत भेजने आदि आरोपों में आजन्म कारावास की सजा सुना दी। उनकी तमाम संपत्ति भी जब्त कर ली गई।

२३ जनवरी, १९११ को उनके विरुद्ध दूसरे मामले की सुनवाई शुरू हुई। ३० जनवरी को पुन: आजन्म कारावास की सजा सुना दी गई। इस प्रकार सावरकर को दो आजन्म कारावासों का दंड दे दिया गया। सावरकर को जब अंग्रेज न्यायाधीश ने दो आजन्म कारावासों का दंड सुनाया तो उन्होंने हँसते हुए कहा, 'मुझे बहुत प्रसन्नता है कि ईसाई (ब्रिटिश) सरकार ने मुझे दो जीवनों का कारावास-दंड देकर पुनर्जन्म के हिंदू सिद्धांत को मान लिया है।'

कुछ माह बाद महाराजा नामक जलयान से सावरकर को अंदमान भेज दिया गया। वे ४ जुलाई, १९११ को अंदमान पहुँचे। अंदमान में उन्हें अमानवीय यातनाएँ दी जाती थीं। कोल्हू में बैल की जगह जोतकर तेल पिरवाया जाता था, मूँज कुटवाई जाती थी। राजनीतिक बंदियों पर वहाँ किस प्रकार अमानवीय अत्याचार ढाए जाते थे, इसका रोमांचकारी वर्णन सावरकरजी ने अपनी पुस्तक 'मेरा आजीवन कारावास' में किया है।

सावरकरजी ने अंदमान में कारावास के दौरान अनुभव किया कि मुसलमान वॉर्डर हिंदू बंदियों को यातनाएँ देकर उनका धर्म-परिवर्तन करने का कुचक्र रचते हैं। उन्होंने इस अन्यायपूर्ण धर्म-परिवर्तन का डटकर विरोध किया तथा बलात् मुसलिम

बनाए गए अनेक बंदियों को हिंदू धर्म में दीक्षित करने में सफलता प्राप्त की। उन्होंने अंदमान की कालकोठरी में कविताएँ लिखीं। 'कमला', 'गोमांतक' तथा 'विरहोच्छ्वास' जैसी रचनाएँ उन्होंने जेल की यातनाओं से हुई अनुभूति के वातावरण में ही लिखी थीं। उन्होंने 'मृत्यु' को संबोधित करते हुए जो कविता लिखी वह अत्यंत मार्मिक व देशभक्ति से पूर्ण थी।

सावरकरजी ने अंदमान कारागार में होनेवाले अमानवीय अत्याचारों की सूचना किसी प्रकार भारत के समाचारपत्रों में प्रकाशित कराने में सफलता प्राप्त कर ली। इससे पूरे देश में इन अत्याचारों के विरोध में प्रबल आवाज उठी। जाँच समिति ने अंदमान जाकर जाँच की। अंत में दस वर्ष बाद मई १९२१ में सावरकरजी को अंदमान से मुक्ति मिली। उन्हें अंदमान से लाकर रत्नागिरि तथा यरवदा की जेलों में बंद रखा गया। तीन वर्षों तक इन जेलों में रखने के बाद सन् १९२४ में उन्हें रत्नागिरि में नजरबंद रखने के आदेश हुए। रत्नगिरि में रहकर उन्होंने अस्पृश्यता निवारण, हिंदू संगठन जैसे अनूठे कार्य किए।

'हिंदुत्व', 'हिंदू पदपादशाही', 'उ:श्राप', 'उत्तरक्रिया', 'संन्यस्त खड्ग' आदि ग्रंथ उन्होंने रत्नागिरि में ही लिखे।

१० मई, १९३७ को सावरकरजी की नजरबंदी रद्द की गई।

नजरबंदी से मुक्त होते ही सावरकरजी का भव्य स्वागत किया गया। अनेक नेताओं ने उन्हें कांग्रेस में शामिल करने का प्रयास किया; किंतु उन्होंने स्पष्ट कह दिया, 'कांग्रेस की मुसलिम तुष्टीकरण की नीति पर मेरे तीव्र मतभेद हैं। मैं हिंदू महासभा का ही नेतृत्व करूँगा।'

३० दिसंबर, १९३७ को अहमदाबाद में आयोजित अखिल भारतीय हिंदू महासभा के अधिवेशन में सावरकरजी सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुने गए। उन्होंने 'हिंदू' की सर्वश्रेष्ठ व मान्य परिभाषा की। हिंदू महासभा के मंच से सावरकरजी ने 'राजनीति का हिंदूकरण और हिंदू का सैनिकीकरण' का नारा दिया। उन्होंने हिंदू युवकों को अधिक-से-अधिक संख्या में सेना में भरती होने की प्रेरणा दी। उन्होंने तर्क दिया, 'भारतीय सेना के हिंदू सैनिकों पर ही इस देश की रक्षा का भार आएगा, अत: उन्हें आधुनिकतम सैन्य विज्ञान की शिक्षा दी जानी जरूरी है।'

२६ फरवरी, १९६६ को भारतीय इतिहास के इस अलौकिक महापुरुष ने इस संसार से विदा ले ली। अपनी अंतिम वसीयत में भी उन्होंने हिंदू संगठन व सैनिकीकरण के महत्त्व, शुद्धि की आवश्यकता पर प्रकाश डाला। भारत को पुन: अखंड बनाए जाने की उनकी आकांक्षा रही।

ऐसे वीर पुरुष का व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी हमारे लिए पथ-प्रदर्शक का काम करने में सक्षम है।

—शिवकुमार गोयल

सावरकर का एक अत्यंत दुर्लभ चित्र

समाचार पढ़ने में व्यस्त सावरकरजी

सावरकर परिवार की कुलदेवी : इन्हीं के सम्मुख बैठकर वीर सावरकर ने राष्ट्र-मुक्ति हेतु सर्वस्व न्योछावर कर देने की शपथ ली थी

स्वप्नद्रष्टा वीर सावरकर

अनुक्रम

जातिभंजक निबंध

प्रकरण—१

जातितोड़क लेख

१. वर्तमान जातिभेद के इष्ट एवं अनिष्ट पहलू

''मुझे लगता है कि देश की राजनीतिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों और उनमें सुधार करने के लिए नियत सिद्धांतों के स्वरूप का ज्ञान बच्चों को बचपन से ही करा देना बहुत आवश्यक हो गया है। जिस तरह राजनीतिक सिद्धांतों एवं सामाजिक प्रमेयों की घुट्टी छात्रों को पिलाना आवश्यक है, वैसे ही जातिभेद, जातिद्वेष एवं जातिजन्य आक्रोश में हमारा देश कैसे जल-भुन रहा है, कटता-बँटता जा रहा है इसका ज्ञान भी राष्ट्रीय विद्यालयों के छात्रों को मिलना चाहिए। जातिभेद से मुक्ति कितनी आवश्यक है, इसकी शिक्षा हमारे छात्रों को मिलनी चाहिए।''

[बेलगाँव (महाराष्ट्र) में दिया गया लोकमान्य तिलक का व्याख्यान, १९०७]

अपने हिंदू राष्ट्र के सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन से पहले चातुर्वर्ण्य और बाद में उसी के विकृत स्वरूपवाली जातिभेद संस्था इतनी गुँथी हुई है कि अपने हिंदू या आर्य राष्ट्र की व्याख्या ही कुछ स्मृतिकारों ने 'चातुर्वर्ण्यव्यवस्थानं यस्मिन् देशे न विद्यते। तं म्लेच्छदेशं जानीयात् आर्यावर्त ततः परम्।' के रूप में की है। अर्थात् अपने हिंदू राष्ट्र के उत्कर्ष का श्रेय अपने जीवन के तंतु-तंतु में गुँथे जातिभेद में निहित होने की जितनी उत्कट संभावना है उतनी ही भीषण आशंका राष्ट्र के अपकर्ष के लिए भी इस संस्था के सशक्त कारण होने की है।

चातुर्वर्ण्य के मूल आधार—गुणकर्म विभागशः सृष्टम्—का लोप होते जाने और जन्मनिष्ठ जातिभेद का प्रसार होते जाने से अपने हिंदुस्थान का अधःपतन भी

होने लगा और जब उसने रोटीबंदी, बेटीबंदी का उग्र रूप धारण किया तब हिंदुस्थान का अध:पतन भी उतनी ही तीव्र गति से हुआ।

जातिभेद एवं अधःपतन का समकालीनत्व

जातिभेद और अध:पतन का समकालीनत्व केवल काकतालीय न्याय से है या कार्य-कारण आधार पर है यह प्रश्न अत्यंत तीव्रता से उठता है, इसलिए अपने राष्ट्र की अवनति के कारण खोजते हुए अन्य महत्त्वपूर्ण बातों की तरह ही जातिभेद के वर्तमान स्वरूप के इष्ट व अनिष्ट पहलुओं की पड़ताल करना भारतीय नेतृत्व का आज का अत्यावश्यक और अपरिहार्य कर्तव्य हो गया है। कोई ऐसा उद्यान जो फल-फूलों से लदा हो, जिसके पेड़ों के विशाल-विस्तीर्ण छत्र एवं लता-बेल उल्लसित हों तो उन्हें देखकर उस उद्यान के प्रकाश, जल और मिट्टी के निर्विकार होने का अनुमान सहज है। पर यदि वृक्ष शुष्क हों, फल सड़े, फूल कुम्हलाए हुए हों तो वैसी स्थिति में उस उद्यान के प्रकाश, जल और मिट्टी आदि में कोई एक घटक या सभी घटक दोषयुक्त हैं; यह अनुमान भी उसी तरह सहज होता है और फिर बागबान का कर्तव्य हो जाता है कि वह हर घटक को जाँचकर किसमें क्या और कितना दोष है इसको जाने, और तदनुसार दोष दूर करे।

परंतु इस दृष्टि से देखें तो हिंदू राष्ट्र की अवनति के लिए यह हमारी जातिभेद संस्था कैसे व कितनी कारणीभूत हुई है अथवा नहीं, इसका विवेचन आवश्यक होते हुए भी वह व्यक्तिगत रीति से सांगोपांग करना आज संभव नहीं है। क्योंकि जातिभेद के आज के स्वरूप का विवेचन मैं करूँ तो आज की राजनीतिक स्थिति का विवेचन करना आवश्यक हो जाएगा और वर्तमान राजनीतिक जंजीरों में जकड़ी हमारी लेखनी उसे स्पर्श भी नहीं कर सकती। (राजनीति से किसी भी तरह का संबंध न रखने की शर्त पर सावरकर को अंदमान से मुक्त कर महाराष्ट्र में रत्नागिरि जिले में स्थानबद्ध रखा गया था।) इसलिए उस विवेचन को यहीं छोड़ जातिभेद के हमारे राष्ट्र की सुस्थिति और प्रगति पर सामान्यत: क्या प्रभाव हुए हैं—इसका विश्लेषण कर हमें यह प्रस्तावना समेटनी पड़ रही है।

किसका मत प्रमाण मानें?

यह विश्लेषण करते समय इस विषय में लोकमान्य तिलक के अतिरिक्त अन्य किसका मत अधिक आधिकारिक हो सकता है? गत सौ वर्षों में लोकमान्य तिलक ही पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिंदू राष्ट्र के हित-अहित के संबंध में उत्कट ममत्व से, सूक्ष्म विवेक से और स्वार्थ-निरपेक्ष साहस से सभी पक्षों पर समन्वित

रूप से विचार किया है। इस कारण हमारे हिंदू राष्ट्र की अवनति के कारण परंपरा के संबंध में उनके विचार सिद्धांतभूत चाहे न माने जाएँ, परंतु अन्य किन्हीं भी विचारों की तुलना में वे अधिक आदरणीय, विचारणीय और विश्वसनीय हैं। जातिभेद जैसी धार्मिक संस्था या सनातन संस्था होने से राजनीति और धर्मकारण में सनातनी समझे जानेवाले और करोड़ों लोगों का विश्वास जीत उनका नेतृत्व करनेवाले लोकमान्य तिलक के विचारों का महत्त्व विशेष ही होना चाहिए। वास्तव में देखा जाए तो आजकल सनातनी कौन है यह निश्चय करना कठिन है; क्योंकि जो भी कोई किसी एक सुधार का विरोध करता है और किसी एक रूढ़ि को मान्यता देता है वह उतनी देर और उस मुद्दे पर सनातनी कहा जाता है। वर्तमान में इतना ही सनातनी ठप्पा रह गया है। लोकमान्य का भी बहिष्कार किया गया। कतिपय धर्ममार्तंडों ने उन्हें सुधारक कह अपमानित किया है; फिर भी हिंदू संस्कृति के रक्षणार्थ उन्होंने अपनी पूरी आयु भर, जो अनवरत संघर्ष किया और निरुपाय होने की सीमा तक प्रचलित समाज व्यवस्था को किसी का भी अनावश्यक धक्का न लगे और अंतरकलह न बढ़े, इसके लिए सुधार-विरोधी होने का तीव्र आरोप सहन करते हुए भी जो कार्य किया उससे करोड़ों हिंदुओं में उनके सनातन धर्म संरक्षक होने का विश्वास जमा।

इन सब कारणों से जातिभेद के वर्तमान स्वरूप के संबंध में लोकमान्य जैसे अग्रणी सनातनी राजनीतिक नेता के क्या विचार हैं, यह देखने पर जातिभेद अपने हिंदू समाज की अवनति के लिए किस तरह कारणीभूत है, यह इस लेख के प्रारंभ में ही उद्धृत वाक्यांश से स्पष्ट हो जाता है। 'जातिद्वेष और जातिमत्सर के कारण हमारा देश कैसे जल-भुन रहा है।' (और इसलिए जातिभेद को नष्ट करना कितना आवश्यक है।) उनके प्रखर विचारों को पढ़ने के साथ ही यदि उनके राजनीतिक जीवन को देखें तो इसे अलग से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि जातिभेद को नष्ट करना वे कितना आवश्यक समझते थे।

आज का विकृत रूप

लोकमान्य के उपर्युक्त मातृवचनों को कुछ देर के लिए अलग भी रख दें तो आज जिस स्थिति में जातिभेद है वही देशहित के लिए अत्यंत घातक है, यह सिद्ध करने के लिए एक सामान्य, परंतु सशक्त साक्ष्य भी है और वह यह कि चार सौ वर्षों के रोटी-बेटीबंदी के हजारों पोखरों में हिंदू जाति के जीवन का गंगाप्रवाह खंड-विखंड कर सड़ा डालनेवाला यह जातिभेद घातक है, इसमें सुधार होना ही चाहिए। ऐसा विचार अब बिना किसी मतभेद के सनातनियों और

महासनातनियों में भी दिखने लगा है।

महासनातनी पंडित राजेश्वर शास्त्री भी जातिभेद के आज के अति विकृत स्वरूप का समर्थन कर सकने का साहस नहीं कर सकते, फिर किसी दूसरे की बात क्या करें। (यह निष्कर्ष इस बात से निकलता है कि) सनातन महासभा ने गोलमेज सम्मेलन के लिए बुलावा आने पर जाने का प्रस्ताव स्वीकार किया है। दरभंगा राज्य के महाराज ने भी जहाज पर चढ़ते ही परदेश-गमन के निषेध को समुद्र में धकेल दिया। उन्होंने इस संबंध में जाति बंधन की बेड़ियाँ तोड़ डालीं।

परदेश-गमन निषेध

वर्तमान काल के जातिभेद का विकृत स्वरूप हमारे लिए हानिकारक है और इसलिए उसमें कुछ सुधार होना चाहिए, इस संबंध में आज के सभी चिंतनशील नेताओं का एक मत है। इसी तरह अपने गत वैभव को खोने के पीछे भी इसी जातिभेद और उससे उत्पन्न छुआछूत के भ्रांतिपूर्ण विचार ही अधिकतर कारण हैं यह भी कोई विचारवान् व्यक्ति अब सहसा अस्वीकार नहीं कर सकता। अन्य सब ढेर सारे निषेधों की बात छोड़कर केवल एक परदेश-गमन की बात ही लें तो इस केवल एक निषेध ने ही कितने गुल खिलाए, देखें। परदेश-गमन का निषेध क्यों? तो मेरी जात चली जाएगी इसलिए और जात चली जाएगी माने क्या होगा? जाति-बाहर के लोगों से खान-पान के संबंध बनेंगे, जातिभेद की प्रवृत्ति से अंधाधुंध फैले अन्न की छूत, चिंदियों से छूत। ऐसे छूत के पागलपन से परदेश-गमन निषेध हुआ और परदेश का व्यापार और बसाव पूरी तरह डूब गया। इतना ही नहीं, विश्व के दूर-दराज में, इस छूत रोग के इस देश में फैलने के पूर्व हिंदू व्यापारियों और सैनिकों द्वारा निर्मित और बसाए हुए अनेकानेक नगर, बंदरगाह, राज्य मातृभूमि से अकस्मात् विलग हो जाने से और स्वदेश से भारतीय स्वजनों का जो निरंतर प्रवाह वहाँ जाकर उन सारी प्रवृत्तियों को जीवित बनाए रहता था, वह एकाएक थम जाने से अक्षरशः नामशेष हो गया। आज उसकी स्मृति कुछ विकृत रूप में, लेकिन प्रचलित नामों में ही शेष है।

छूत के पागलपन से दूसरों का लाभ

इंडो-चाइना (हिंद-चीन), झाझीबार (हिंदू बाजार) बाली, ग्वाटेमाला (गौतमालय) आदि नामों से ही वहाँ तक विस्तारित हुए हिंदू वैभव, संस्कृति और प्रभुत्व का पता आज भी हमें चल जाता है। हिंदुत्व और दिग्विजय जैसे शब्दों में इतना विरोधी भाव आ गया कि जब अटक तक पहुँचे मराठों के मन में इस्तांबूल

पर चढ़ाई करने की कुछ धुँधली आकांक्षा उत्पन्न हुई तब उसे संपन्न किया जाना अपने हिंदुत्व को बचाए रखते हुए संभव है यह कल्पना करना मल्हार राव जैसे हिंदू पदपादशाही के सर्वोच्च वीर को भी संभव न लगा और वह गरज उठा—"हिंदू से मुसलमान हो जाएँगे, पर अगले वर्ष काबुल पर हमला करेंगे ही।" मुसलमान देश पर सत्ता स्थापित करने के लिए मुसलमान होने के सिवाय कोई रास्ता शेष नहीं था क्या?

हिंदू भी बने रहेंगे और काबुल ही नहीं, इस्तांबूल तक पर मराठी झंडा और मराठी घोड़ा नचाएँगे—यह बात अति असंगत (विपरीत) लगी। इसका कारण उस छूत के पागलपन या 'मेरी जान चली जाएगी' के डर में समाया हुआ था। हिंदू म्लेच्छ देश जाए तो उसकी जात चली जाए, परंतु कितना आश्चर्य था कि म्लेच्छों के इस देश में आने से हिंदुओं की जात नहीं जाती थी, यहाँ छूत नहीं लगती थी! वास्तव में देखें तो छूत का पागलपन ही कुछ इस तरह होता था कि जिस किसी गाँव या प्रदेश में कोई म्लेच्छ व्यापारी घुसा, उस गाँव या प्रदेश को उस म्लेच्छ की छूत लगने से उस गाँव की जात चली जाएगी—ऐसी रूढ़ि पड़ती तो आपत्ति तो होती, पर काफी अंशों में वह इष्टापत्ति ही होती। पर कोई कासिम या क्लाइव हिंद देश में आए और वह यहाँ का व्यापार या पूरा राज्य ही निगल जाए तो उसकी छूत हम हिंदुओं को नहीं होती थी। उससे हमारी जात नहीं जाती थी। हमारी जात तब जाती थी जब कोई एक हिंदूजन म्लेच्छ देश में जाकर वहाँ धन, ऐश्वर्य कमाकर भारत देश को सधनतर और सबलतर बनाने के लिए स्वदेश लौट आता था।

जाति रही पर धर्म गया

म्लेच्छ व्यापारी को उसकी वस्तुएँ इस देश में लाने के लिए, किसी दामाद को न मिलतीं, ऐसी अनेक सुविधाएँ हिंदुओं ने दीं। पर स्वदेश का हिंदू व्यापारी परदेश में हिंदवी वस्तु बेचने और हिंदू वाणिज्य फैलाने के लिए जाने लगे तो शत्रुओं को भी न लगाई जातीं, ऐसी कड़ी शर्तें उनपर लादी जातीं। ऐसे आत्मघाती अंधेपन की इतनी बुरी परिणति हुई कि जब मलाबार के राजा को अपने कुछ विश्वसनीय आदमियों को अरबों के समुद्री वाणिज्य-व्यवसाय में निपुणता प्राप्त करने हेतु वहाँ भेजने की इच्छा हुई तो उस राज्य के हिंदुओं ने ऐसी सयानी युक्ति निकाली कि हर वर्ष हर हिंदू परिवार का एक सदस्य मुसलिम धर्म स्वीकारेगा और नौवाणिज्य सीखेगा; क्योंकि जब तक वह हिंदू है तब तक समुद्री वाणिज्य सीखना उसके लिए निषिद्ध ही रहेगा। समुद्र पार जाते ही उसकी जात चली जाएगी। जात रहे, इसलिए धर्म छोड़ा। चूल्हे में ईंधन चाहिए, इसलिए अपने ही हाथ-पैर तोड़कर

उसमें लगाए। पत्नी को आभूषण चाहिए, इसलिए पत्नी को ही बेचा जाए। जात रखने के लिए बेजात किए गए ये मोपले आज अपनी ही जातिवाले हिंदुओं को निर्वंश करने के लिए उनपर टूट पड़ रहे हैं। अधिक क्या कहें, कदाचित् किसी अद्भुत दैवी योग से दिल्ली का सिंहासन चूर्ण करनेवाले सदाशिवराव भाऊ के धन को लंदन का सिंहासन चूर्ण करने की शक्ति आ गई होती और वह दिल्ली की तरह ही इंग्लैंड जाकर लंदन के सिंहासन पर विश्वासराव को बैठाकर उसका राज्याभिषेक करता तो इंग्लैंड में हिंदू पदपादशाही स्थापित न होती। हाँ, ये दो हिंदू विदेश-गमन के पातक के कारण अहिंदू हो जाते, उनकी जात चली जाती।

पराक्रम का संकोच

ग्यारहवीं-बारहवीं शती तक भी जातिभेद के क्षय रोग से हमारी नाड़ियाँ संकुचित हो रही थीं। तब भी विदेश-गमन निषेध की परिणति तक वह रोग नहीं पहुँचा था। तब तक मद्रास के पांड्य राजा ने ब्रह्मदेश के पेगू पर हमला किया था। केवल 'प्रतस्थे स्थलवर्त्मना' नहीं, पूरे प्रबल नौसाधन लेकर जलवर्त्मना किया था और ब्रह्मदेश के पेगू को जीतकर लौटते-लौटते अंदमान आदि उस समुद्र के सारे द्वीपों को वह हिंदू साम्राज्य में सम्मिलित करके लौटा था। पर आगे जब महासागर संचारी हिंदू पराक्रम घर के कुएँ का मेढक बन गया तब पराक्रम (पर + आक्रम— माने बाहर के शत्रु देश पर हमला करना) शब्द ही हिंदुओं के शब्दकोश से लुप्त हो गया। संभावना का मूल स्रोत आकांक्षा में ही निहित होता है। पराक्रम की, वास्तविक दिग्विजय की, नए राज्य प्राप्त करने की, अपनी संस्कृति और प्रभाव सप्तद्वीपा वसुंधरा पर फैलाने की संभावना भी दिनो-दिन नष्ट होती गई। आकाश में उड़ने की साहसी वृत्ति पीढ़ी-दर-पीढ़ी नष्ट हो जाने से जिनके पंख नाकारा हो गए हैं, हिंदू पराक्रम के ऐसे मुरगे अपनी ही जाति के आँगन को विश्व मानकर उसी में बाँग देते रहे और वह भी कब? जब आतंकवादी पराक्रम को भी पुण्य माननेवाले मुसलमानी गिद्धों और यूरोपियन गुंडों ने पूरे विश्व के आकाश को ढक लिया तब। ऐसी स्थिति में उनके हमले से जाति के आँगन में बाँग देता झूमता वह मुरगा फड़फड़ाकर नहीं मरता तो ही आश्चर्य होता।

मराठी साम्राज्य का क्षय

अंतिम हिंदू साम्राज्य 'मराठा हिंदू पदपादशाही' के पतन का ही केवल विचार करें। इससे पहले के साम्राज्य और स्वतंत्रता नष्ट होने के लिए जैसे केवल जातिभेद को ही कारण बताना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा, वैसे ही मराठा राज्य केवल

जातिभेद के कारण ही डूबा—यह कहना भी अतिशयोक्ति भरा होगा। परंतु हिंदू पदपादशाही के मुट्ठी भर अंग्रेजी पलटन के पैरों तले कुचले जाने तक निर्बल होने में जातिभेद के क्षय का बिलकुल भी योगदान नहीं है, यह कहना भी वस्तुस्थिति को बहुत कम करके आँकना होगा। जातिभेद के एक उपांग—'समुद्र गमन निषेध' पर ही केवल विचार करें तो मराठी साम्राज्य काल में भी सामाजिक ही नहीं, राजनीतिक बल भी इस भयंकर व्याधि के कारण निर्जीव हो गया था, यह तत्काल दृष्टिगत होता है। जिस समय अंग्रेजों ने देश का पूरा आयात-निर्यात अपने हाथों में ले लिया था उस समय उनके देश में अपने व्यापार की एक भी हिंदू पेढ़ी (आढ़त) नहीं थी। अंतिम बाजीराव के अंत:पुर में कितनी दासियाँ हैं, उनमें से कितनी बातें करनेवाली, कौन-कौन विश्वासघाती हो सकती हैं, इतनी गहरी जानकारी जब पुणे के पास के द्वीप के कार्यालय में रहा करती थी तब भी इंग्लैंड देश है कहाँ, अंग्रेजी साम्राज्य है कितना बड़ा, उनके शत्रु कौन हैं, उनका बल कितना है ऐसी मोटी जानकारी भी स्वयं देखकर बता सके, ऐसा कोई भी हिंदू उनके देश नहीं गया था। फ्रांसीसियों के संबंध में जानकारी अंग्रेजों के मुँह से और अंग्रेजों की जानकारी फ्रांसीसियों द्वारा, वह भी उनके स्वार्थ प्रेरित उलटी-सुलटी, जो भी हो वह, ऐसी हमारी स्थिति थी।

राजमुकुट जाने दिया, पर मुकटा* बचाया

अंतिम पेशवा का वकील एक ही बार विलायत गया था, तो उसके जात चले जाने के पाप का प्रायश्चित्त उसे योनि प्रवेश कराकर करवाया गया था। योनि प्रवेश का नाटक एक योनि जैसी गुफा से होकर आना था। यह नाटक पूरा होते ही उस वकील को शुद्ध मानकर जात-बिरादरी में ले लिया गया। जैसे हजारों अंग्रेज हिंदुस्थान में आए वैसे ही लाखों हिंदू व्यापारी, सैनिक, विद्वान् यूरोप में जाते-आते रहते, तो क्या उनकी कला, उनका व्यापार, उनका अनुशासन, उनकी खोजें हमें आत्मसात् न होतीं? मराठा दरबार के काले, बर्वे, हिंगणे जैसे धुरंधर वकील, राजदूत बनकर लंदन, पेरिस, लिस्बन में रहते तो क्या जैसे हमारी फूट का लाभ उन्होंने लिया, वैसे उनकी फूट का लाभ हम न लेते? पर रास्ता काट गई जात-बिरादरी और छुआछूत की बिल्ली। अंतिम बाजीराव का राज्य छीना गया, उसकी जात नहीं गई; पर यदि पूर्व में उल्लिखित पांड्य राजा जैसा वह लंदन पर चढ़ाई करता तो नि:संशय उसकी जात चली गई होती।

---

* रसोई या पूजा के समय पहना जानेवाला रेशमी वस्त्र।

समाज का शरीर कुरेदनेवाला जातीय पागलपन

भारत का स्थल-बल इस तरह निर्बल हुआ। भारत का जल-बल, वे जहाज, वे नौसाधन, जो दसवीं सदी तक सागर की छाती पर हिंदू ध्वज फहराते, संचार करते रहे, वे तो समूल डूब गए। डूबे भी कहाँ, महासागर के जल में नहीं, अहिंदुओं के खड्ग की धार के पानी में नहीं, वे तो डूबे हिंदुओं के जाति बंधन के चुल्लू भर पानी में। आज भी सात करोड़ अस्पृश्य मुसलमानों की संख्या के बराबर का बल किसी कटे हुए हाथ की तरह निर्जीव पड़ा है इसी जाति बंधन के पागलपन में। करोड़ों हिंदू धर्म परिवर्तित कर रहे हैं केवल इस जाति बंधन के कारण। वे सारे अब्राह्मण, सत्यशोधक फूटकर निकले केवल इस जाति बंधन के कारण। ब्राह्मणों के जाति अहंकार को जो सत्यशोधी पंथ समता के अत्युच्च बिंदु तक जाकर अपने लिए कुछ प्राप्त कर लेता है वही पंथ उससे निचली जाति के द्वारा वैसी ही समता की माँग करने पर लाठी लेकर पिल पड़ता है केवल जाति बंधन के पागलपन में। ब्राह्मण क्षत्रियों के ब्राह्मण बनना चाहते हैं, क्षत्रिय शूद्रों के ब्राह्मण बनना चाहते हैं, शूद्र महाशूद्रों के ब्राह्मण बनते हैं। इस तरह यह पागलपन केवल ब्राह्मणों तक ही सीमित न रहकर अब्राह्मण चांडाल तक पूरे हिंदू समाज के ही मांस-मज्जा में घुसा हुआ है। पूरा समाज-शरीर इस जाति अहंकार के, जाति मत्सर के, जाति कलह के क्षय रोग से गलित गात हुआ है।

उपेक्षा की तो?

हिंदू राष्ट्र के आज के अतिहीनत्व के लिए जातिभेद का यह विकृत स्वरूप चाहे एकमात्र कारण न भी माना जाए, परंतु वह अनुपेक्षणीय कारण तो है ही, यह उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से साफ दिखता है और इसीलिए ऐसी स्थिति में अपने हीनत्व के बाह्य कारणों का उन्मूलन करने का प्रयास करते हुए ही इसके अंतर्गत क्षय रोग का भी उपचार करना, हम सबका एक अति आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। हिंदू राष्ट्र के लिए जो स्वतंत्रता हमें प्राप्त करनी है वह जातिभेद से जर्जर हुआ राष्ट्र-पुरुष कदाचित् प्राप्त भी कर ले, फिर भी इस रोग का उपचार होने से उसका निर्मूलन न हुआ तो स्वतंत्रता प्राप्त करना पूर्णत: कठिन हो जाएगा या उसे प्राप्त करते ही उसको गँवाने की प्रक्रिया शुरू हो जाएगी।

परंतु जातिभेद के आज के विकृत और घातक स्वरूप को समाप्त करने का प्रयास करते हुए इस संस्था में जो कुछ गुण या अच्छाइयाँ हैं वे भी नष्ट न हो जाएँ, इसके लिए हमें यथासंभव सावधान रहना चाहिए। पाँच हजार वर्ष तक जो संस्था

राष्ट्र जीवन के अणुरेणु से संबद्ध रही है उसमें आज कुछ भी अच्छाइयाँ नहीं हैं और पहले भी कुछ अच्छा नहीं था—ऐसा किसी आवेश में आकर मानना पूरी तरह मिथ्या होगा। इसलिए इस लेखमाला में जातिभेद के मूल में कौन से तत्त्व थे, उसका हितकर भाग कौन सा था, उसकी प्रवृत्ति क्या थी और विकृति क्या थी और किस तरह उसमें की अच्छाइयों को न छोड़ते हुए जो हानिकारक है उसे यथासंभव हम टाल सकते हैं, इसका यथावकाश विवेचन करने की योजना है।

(केसरी, २९.११.१९३०)

२. सनातन धर्म माने जातिभेद नहीं

जातिभेद के दोष निकालने, उसे सुधारने या उसे पूरी तरह नष्ट करने में जनसामान्य का जो कड़ा विरोध होता है उसके मूल में अधिकतर यह भ्रांति होती है कि जातिभेद सनातन धर्म है या कम-से-कम वह सनातन धर्म का अति महत्त्व का घटक है और इस कारण जातिभेद के नष्ट होते ही सनातन धर्म ही नष्ट हो जाएगा—यह मिथ्या भय जाने-अनजाने मन में बना रहता है। इसलिए जातिभेद के इष्ट-अनिष्ट तत्त्वों की खुलासा चर्चा करने के पहले यदि हम हिंदू समाज में फैली हुई यह भ्रांति और भय दूर कर सकें तो चर्चा के पूर्वग्रह-ग्रस्त होने की आशंका काफी कम होगी और बुद्धि-विवेक आधारित उस चर्चा से निकले अपरिहार्य सिद्धांतों का सामना अधिक निर्भयता से हो सकेगा।

'धर्म' शब्द के अर्थ

पहले ही संक्षेप में यह कह देना आवश्यक है कि जब हम 'सनातन' विशेषण जातिभेद, विधवा विवाह, मांसाहार निषेध या ऐसे ही किसी आचार के लिए लगाते हैं तब उसका अर्थ 'सनातन धर्म' में निहित 'सनातन' शब्द के अर्थ से भिन्न होता है। अंग्रेजी के LAW शब्द का विकास और पर्याय होते-होते उसमें जैसे अलग-अलग अर्थ समाहित होते चले गए, वैसे ही 'धर्म' शब्द के भी पर्याय से भिन्न-भिन्न भाव होते गए।

Natural Law माने प्राकृतिक धर्म या गुण या नियम। जैसे पानी का धर्म द्रवत्व, पृथ्वी का धर्म गुरुत्वाकर्षण यानी Law of gravity—एक अर्थ हुआ। दूसरा अर्थ होगा इन प्राकृतिक नियमों के, इस प्रकृति के ही मूल में स्थित ऐसा नियमों का नियम और उसका पालन करनेवाली या उसे भी अपने नियंत्रण में

रखनेवाली जो शक्ति है, उस आदिशक्ति (आदि नियमों) का शोध। इसी आदिशक्ति पर जब विचार किया जाता है, उसका शोध किया जाता है, जिससे विचार एवं शोध का संपादन किया जाता है तब उस सबको भी धर्म ही कहा जाता है। पर वहाँ उसका अर्थ तत्त्वज्ञान होता है। आदिशक्ति या आदि नियमों के प्रकाश में अपना ध्येय निश्चित कर उसकी प्राप्ति के लिए मनुष्य अपनी ऐहिक और पारलौकिक यात्रा कैसे करे—इस सबका विवरण जो दे वह भी धर्म है, पर यहाँ उसका अर्थ पंथ, मार्ग, A Religion, A Sect, A School ऐसा कुछ होगा। उन सामान्य और प्रमुख नियमों का और सिद्धांतों का निर्वाह करते हुए जीवन के नाना प्रसंगों और संबंधों के लिए जो अनेक उपनियम बनाए जाते हैं—वे भी धर्म हैं। पर यहाँ उसका अर्थ कर्मकांड, विधि, आचार, Religious Rites, Religious Laws ऐसा होता है। 'बाइबिल' में जब The Law, The Book of the Law ऐसा कहा जाता है तब Law का अर्थ यही होता है। ईश्वरकृत समझे जानेवाले या ईशप्रेरित बताए गए धर्म-नियमों से अंशतः स्वतंत्र रहकर और सापेक्षतः अधिक परिवर्तनशील मनुष्यकृत नियमों का उल्लेख करना पड़ता है तब उन्हें भी धर्म (Laws) कहा जाता है। परंतु उसका अर्थ वहाँ विधि (Political Laws) होता है। धर्म शब्द के ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थ और उनमें स्थित अंतर ध्यान में न लिये जाने से ही सनातन धर्म माने जातिधर्म, और जातिधर्म माने सनातन धर्म—की भ्रांति उत्पन्न होती है।

धर्म और आचार

परंतु जब 'धर्म' शब्द के साथ 'सनातन' विशेषण लगाया जाता है तब उसका अर्थ ईश्वर, जीव और जगत् के स्वरूप के संबंध में तथा उनके परस्पर संबंधों का विवरण करनेवाला शास्त्र और उसके सिद्धांत, तत्त्वज्ञान हो जाता है। कारण कि आदिशक्ति का स्वरूप, जगत् का आदिकारण और आदि नियम—ये सारे वास्तव में सनातन, शाश्वत एवं त्रिकाल बाधित हैं। भगवद्गीता में या उपनिषदों में इस संबंध में जो सिद्धांत प्रकट किए गए हैं वे ही सनातन हो सकते हैं। क्योंकि जगत् का आदिकारण और उसकी इच्छा या शक्ति बदलना मनुष्य शक्ति के बाहर है। वह जो है वह है और वैसा ही निरवधि रहेगा। मनुष्यमात्र नष्ट हो जाए तो भी वह 'नियम' नष्ट होनेवाला नहीं। मनुष्य तो क्या, यह पूरी पृथ्वी भी यदि कोई धूमकेतु अपने जलते जबड़े में किसी सुपारी की तरह कड़कड़ाकर, चबाकर निगल जाए तब भी उस महान् धर्म के अस्तित्व को रत्ती भर भी आघात पहुँचनेवाला नहीं है, उलटे वह घटना उसके उस सनातन अस्तित्व का और एक साक्ष्य ही होगी।

इसलिए धर्म के इस अर्थ के साथ ही 'सनातन' विशेषण समुचित एवं संपूर्णता से लागू हो सकता है। अर्थात् जिसका जीवन अत्यंत अशाश्वत है, उस मनुष्यजाति के जीवन पर ही अवलंबित रहनेवाले, जिसके रंग-रूप अत्यंत अशाश्वत हैं—ऐसी मनुष्यजाति के अल्पकालीन इतिहास में भी अनेक बार बदलाव स्पष्ट दिखते हैं। उसी मनुष्य निर्मित, कृत्रिम और मनुष्य की इच्छा के अनुसार ही भंग होनेवाली जातिभेद, अस्पृश्यता या वर्णाश्रम व्यवस्था जैसी संस्थाओं को हम जब धर्म कहते हैं तब उस धर्म के साथ उस अर्थ में सनातन, शाश्वत, अनश्वर आदि विशेषण लगाना कभी भी पूरी तरह सार्थक नहीं होता, क्योंकि वहाँ 'धर्म' शब्द का अर्थ आचार होता है। त्रिकाल बाधित आदि तत्त्वों के आदि नियम जैसा अर्थ वहाँ लागू नहीं होता। आचार मनुष्य प्रीत्यर्थ एवं मनुष्यकृत हैं, अतः वे नश्वर और अशाश्वत होंगे ही और इसीलिए केवल जातिभेद की तो बात ही क्या, पूर्ण पुरातन कर्मकांड भी यदि बदला गया तब भी सनातन धर्म का डूबना संभव नहीं। सनातन धर्म को डुबोना मुट्ठी भर सुधारकों की तो क्या, स्वयं मनुष्यजाति के बस की बात भी नहीं है। साक्षात् ईश्वर के भी हाथ का है या नहीं यह कहना भी कठिन है।

और यह जो विश्व का सनातन धर्म है उसे ही हम हिंदू सनातन धर्म कहते हैं। हम उसी के अनुयायी हैं कि जो प्रलय के बाद भी रहता है और जन्म के पहले भी। जो त्रैगुण्य विषय वेदों के भी पार निरस्त्रैगुण्य प्रदेशों को ही 'विश्वतो कृत्वा अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्', वह हम हिंदुओं का सनातन धर्म है। शेष सारे आचार, मनुष्य सापेक्ष धर्म, मनुष्य के द्वारा धारण करने की युक्तियाँ हैं। जब तक उसके द्वारा योग होगा तब तक वह धारण रहेगा, तब तक उस धर्म का, उन आचारों का हम पालन करेंगे, नहीं तो बदलेंगे, नहीं तो उन्हें डुबो देंगे, नहीं तो नई स्थापना करेंगे। उसे बदलने से या डुबोने से हम हिंदुओं का सनातन धर्म बदलेगा या डूबेगा—यह डर हमें त्रिकाल भी स्पर्श नहीं कर सकता।

धर्म के जो मूल तत्त्व हैं वे स्वभावतः ही सनातन हैं। जो आचार हैं वे आचार, धर्म स्वभावतः ही परिवर्तनशील हैं और होने चाहिए, क्योंकि—

'न हि सर्वहितः कश्चिदाचारः संप्रवर्तते।
तेनैवान्यः प्रभवति सोऽपरो बाध्यते पुनः॥'

आज जातिभेद के आचार को हम बदलना चाहते हैं। इस आचार को बदलने का यह कोई पहला अवसर हिंदू समाज में नहीं आया है। ऐसा होता तो सनातन धर्म को धक्का लगने का भय होता और फिर उसपर विचार करना पड़ता। परंतु आज तक ऐसे सैकड़ों अवसर आए हैं और इसीलिए हिंदू समाज आज भी

जीवित है। अन्य सारी बातें छोड़ दें और केवल 'कलिवर्ज्य' प्रकरण पर ही विचार करें तो भी पर्याप्त होगा। धर्म के अत्यंत महत्त्वपूर्ण माने जानेवाले संन्यास और नियोग जैसे पूर्व युग के अपने आचार, एक श्लोक के आघात से इस युग में वर्ज्य मान लिये गए, क्योंकि स्मृतिकारों को ऐसा लगा कि समाज धारण का कार्य बदली हुई परिस्थिति में उनसे नहीं हो सकता। परंतु उसके कारण सनातन धर्म डूब गया ऐसा सनातन कहलानेवालों को भी नहीं लगता। उलटे इस कलिवर्जन को ही सनातन धर्म के मुख्य आचारों में से एक आचार मानते हैं। वास्तव में देखा जाए तो चातुर्वर्ण्य ही सनातन धर्म है—यह कहनेवाले लोगों को ही उस चातुर्वर्ण्य का उच्छेद करनेवाले जातिभेद का कट्टर शत्रु होना चाहिए था। परंतु आश्चर्य यह कि ये लोग चातुर्वर्ण्य और जातिभेद दोनों को ही सनातन धर्म मानते हैं और जातिभेद के आज के अत्यंत विकृत स्वरूप को ही उठाए रखते हैं कि यदि उसे पलटा गया तो सनातन धर्म डूब जाएगा। इस घोटाले का कारण, धर्म और आचार में जो अंतर है और जिसे हमने प्रारंभ में ही स्पष्ट किया है, उसकी ओर ध्यान नहीं देता है। चातुर्वर्ण्य और जातिभेद दोनों ही आचार हैं, सनातन धर्म नहीं है। चातुर्वर्ण्य के आचार में आकाश-पाताल का भेद होने से जातिभेद का आचार चालू हुआ, लेकिन इस उलट-फेर से जैसे सनातन धर्म नहीं डूबा वैसे ही जातिभेद का आज का विकृत रूप नष्ट होने से भी वास्तविक सनातन धर्म अर्थात् ईश्वर, जीव, जगत् के स्वरूप और आदि तत्त्व और नियम के सत्य सिद्धांत डूब नहीं सकते।

चातुर्वर्ण्य का उच्छेद है जातिभेद

उपर्युक्त विधान हमने पूर्व में ही किया है। जातिभेद की लाभ-हानि की मीमांसा करने का इस लेखमाला का जो हेतु है उसके उपक्रम में ही चातुर्वर्ण्य और जातिभेद में जो महान् अंतर है, उसको और थोड़ा स्पष्ट करने से पाठकों के मन में उठ सकनेवाले दूषित पूर्वग्रह और पूर्वभय का निराकरण हो जाएगा। चातुर्वर्ण्य माने चार वर्ण। वे चार वर्ण गुण-कर्म विभागशः सृष्टित किए हुए हैं, जन्मजात नहीं; क्योंकि सृष्टम् पद का संबंध चातुर्वर्ण्य शब्द से जुड़ा है। 'चातुर्वर्ण्य मया सृष्टम्' माने मैंने चातुर्वर्ण्य संस्था उत्पन्न की। उसमें गुण-धर्म के अनुसार लोगों को जन्म देता हूँ और वंश परंपरा भी देता रहता हूँ—इस अर्थ का कोई उल्लेख इस श्लोक में नहीं है। लोकमान्य तिलकजी ने केसरी के लिए ट्रस्ट बनाया ज़ब ऐसा कहा जाएगा तब उस ट्रस्ट के ट्रस्टियों का मंडल (Board of Trustees) भी उन्होंने जन्मजात बनाया या वंश परंपरा नियुक्त किया—ऐसा यत्किंचित् भी अर्थ उसमें से नहीं निकलता। उलटे हर कोई 'जन्मना जायते शूद्रः', जन्मतः वह केवल शूद्र ही होता

है। आगे संस्कार आदि से द्विजत्व आदि अधिकार प्राप्त करता है, ऐसा स्मृतिकार स्पष्टत: कहते हैं। परंतु वह वाद भी कुछ देर के लिए अलग रखकर चार वर्णों की बात ही स्वीकार करें और पंचम वर्ण को मानें ही नहीं। फिर हिंदू समाज में चातुर्वर्ण्य का ही पालन करें ऐसा कहनेवाले मेरे सनातन धर्माभिमानी सात करोड़ अस्पृश्य हिंदुओं को शूद्रों के अधिकार देने के लिए तैयार होंगे क्या?

'ब्राह्मण: क्षत्रियो वैश्य: त्रयो वर्णा: द्विजातय:।
चतुर्थरिकजातिस्तु क्षुद्रो नास्ति तु पंचम:॥'

ऐसा पुरातन वचन है। फिर यह पंचम वर्ण पूरी तरह समाप्त करना चातुर्वर्ण्य अभिमानियों का कर्तव्य नहीं है क्या? यदि इतना भी हो गया तो जातिभेद के कारण हिंदू राष्ट्र की हो रही हानि की बहुत बड़े परिमाण में भरपाई हो जाएगी। परंतु अस्पृश्यता रखनी ही चाहिए। सात करोड़ हिंदुओं को हमें म्लेच्छों से भी हीन दृष्टि से देखना और उनसे भी नीचतर पद्धति से रखना ही चाहिए। जिस हाथ को कुत्ते के स्पर्श से छूत नहीं लगती वह हाथ अंबेडकर जैसे श्रेष्ठ विद्वान् को स्पर्श नहीं कर सकता—ऐसा कहकर जो इस पंचम वर्ण का निर्माण कर, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था पर कालिख पोतते हैं वे ही चातुर्वर्ण्य के संरक्षक कहलाते हैं और हम जो पंचम वर्ण की बात स्वीकार न करके अस्पृश्यता नष्ट कर अपने सात करोड़ धर्म-बंधुओं को सभी हिंदुओं की तरह चातुर्वर्ण्य में समाविष्ट कर लेते हैं और चातुर्वर्ण्य को यथावत् पुन: प्रस्थापित करना चाहते हैं तो वे हमें चातुर्वर्ण्य-द्वेषी और चातुर्वर्ण्य को डुबोकर सनातन धर्म डुबोने के लिए निकले पाखंडी कहते हैं—यह कितना बड़ा मतिभ्रम है!

यह बात कुछ देर के लिए अलग रखें और चार वर्ण जन्मजात ही होते हैं, यह भी चर्चा के लिए गृहीत मान लें; वैसे ही यह भी मान लें कि ये पंचम वर्णी करोड़ों अस्पृश्य भी चातुर्वर्ण्य की संस्था को ही पकड़े बैठे हैं, पर कम-से-कम वे जो मुख्य चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र हैं, वे तो केवल चार ही थे। जन्मजात ही कह लें, पर हिंदू समाज में केवल चार ही विभाग थे और उन चारों में परस्पर विवाह आदि होते थे। ये बातें पितृ सावर्ण्य, मातृ सावर्ण्य आदि आचारों के स्मार्त व्यवस्था से सिद्ध होते हुए भी उसे न देखते हुए यह कहें कि भई इतना तो सच है न कि उन चार विभागों के हर एक में बेटीबंदी और रोटीबंदी नहीं थी। सारे ब्राह्मण इकट्‌ठे बैठ सकते थे, आपस में विवाह कर सकते थे, वैसे ही करोड़ों शूद्रों के वर्ग आपस में खाते-पीते, विवाह करते थे। पर आज जातिभेद की स्थिति क्या है? अकेले ब्राह्मणों में सैकड़ों जातियाँ हैं। क्षत्रियों में सैकड़ों हैं, वैश्यों में सैकड़ों और

शूद्रों में तो हजारों जातियाँ हैं। जितने पंथ उतनी जातियाँ। जितने प्रांत उतनी जातियाँ। जितने व्यवसाय उतनी जातियाँ। जितने पाप उतनी जातियाँ, जितने अन्न उतनी जातियाँ। अब जो जातियाँ हैं उनका समर्थन जिन तत्त्वों से किया जाता है उन तत्त्वों के अनुसार वे उतनी ही रहनी चाहिए। उन सबको बेटीबंद किया इस जातिभेद ने। चातुर्वर्ण्य में बेटीबंदी थी—यह मान भी लिया तो भी रोटीबंदी तो कभी नहीं थी। राम भिलनी के झूठे बेर खा सकते थे। कृष्ण दासीपुत्रों के घर भात खाते थे, ब्राह्म ऋषि द्रौपदी की थाली की सब्जी खाते थे और सूत्रकार आज्ञा देते हैं—'शूद्राः पाककर्तारः स्युः' परंतु भाग के विभाग, विभाग के खंड, खंडों के भी राई-राई जैसे टुकड़े—रोटीबंद, लुटियाबंद, बेटीबंद, संबंधशून्य, सहानुभूतिशून्य—कर डाले इस जातिभेद ने। और इस जातिभेद का पालन करते हुए हम चातुर्वर्ण्य का ही परिपालन कर रहे हैं—ऐसा समझते हैं। सच में यदि चातुर्वर्ण्य को ही सनातन धर्म कहें तो सनातन धर्म का यदि कोई कट्टर शत्रु हो तो वह जातिभेद को समाप्त करने निकला सुधारक न होकर जातिभेद को ही सनातन मानकर उठाए चलनेवाला सनातन धर्माभिमानी ही होगा।

(केसरी, २.१२.१९३०)

३. चार वर्णों की चार हजार जातियाँ

पूर्ववर्ती लेख में वर्णित स्थिति यदि किसी को असह्य या अतिशयोक्ति लगती हो तो वह जातिभेद की नीचे दी हुई किसी भी स्थिति में नकार न सकनेवाली आज की वस्तुस्थिति को एक बार सोच-समझकर देखे। जिन तत्त्वों और कारणों से अपने हिंदू समाज के टुकड़े हुए उनमें से कुछ का उल्लेख परिचय मात्र के लिए कर रहा हूँ। पूर्व के केवल चार या बहुत कहें तो पाँच वर्णों के आज हजारों वर्ण और जातियाँ कैसे हुईं? यदि वह पहले का जातिभेद सनातन धर्म हो तो आज का जातिभेद उस सनातन धर्म का कितना बीभत्स भ्रम हुआ है और फिर भी उसे सनातन धर्म मानना अपनी ही बात काटना—'वदतो व्याघात' होता है।

हिंदू राष्ट्र के मुख्य चार भाग जिस कल्पना से बनाए गए, उसको यहाँ—

१. **वर्ण-विशिष्ट जातिभेद**—कहें तो इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अधिक पंचम या अतिशूद्र आते हैं। परंतु इन चार वर्णों के अस्तित्व और व्यवस्था के संबंध में आज कहीं भी एकवाक्यता नहीं है। 'कलावाद्यंतयोः स्थितिः' कहकर क्षत्रिय, वैश्य वर्ण अब बिलकुल

भी अस्तित्व में नहीं हैं, कुछ लोग ऐसा मानते हैं। तब भी छत्रपति शिवाजी से लेकर सोमवंशीय महार संघ तक अन्य अनेक जातियाँ और व्यक्ति अपना क्षत्रियत्व स्थापित करते हैं। इस मुख्य वर्ण-विशिष्ट भेद में फिर से जिससे उपभेद पैदा हुए वह दूसरा है—

२. **प्रांत-विशिष्ट जातिभेद**—ब्राह्मणों में पंजाबी ब्राह्मण, मैथिली ब्राह्मण, मराठी ब्राह्मण और मराठी ब्राह्मणों में फिर से कन्हाड़े, पलसे, देवरुखे, देशस्थ, कोकणस्थ, गौड़, द्राविड़, गोवर्धन। इधर के सारस्वतों की उधर के सारस्वतों से रोटीबंदी, बेटीबंदी; तेलुगु में तमिलों की नंबूदरी से रोटी-बेटीबंदी; वही स्थिति क्षत्रियों की, वैसी ही वैश्यों की, वही शूद्रों की। कोकणस्थ वैश्य अलग, देशस्थ अलग, कोकणस्थ कासार अलग, देशस्थ अलग; यही स्थिति महार, चमार और डोम की भी। इनमें भी पंजाब, बंगाल, मद्रास या अन्य प्रांत की भिन्नता और वही रोटी-बेटीबंदी। बंदी की अभेद्य किलेबंदी फिर—

३. **पंथ-विशिष्ट जातिभेद**—वर्ण एक ब्राह्मण, प्रांत एक जैसे बंगाल, परंतु एक वैष्णव, दूसरा ब्राह्मो, तीसरा शैव तो चौथा शाक्त। वर्ण एक वैश्य, प्रांत एक गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, मद्रास या पंजाब; परंतु एक जैन वैश्य, दूसरा वैष्णव वैश्य, तो तीसरा लिंगायत वैश्य, रोटीबंदी, बेटीबंदी, किलाबंदी। बौद्ध, जैन, वैष्णव, सिख, लिंगायत, महानुभाव, मातंगी, राधास्वामी, ब्राह्मो जो-जो पंथ निकले उनमें प्रत्येक की महत्त्वाकांक्षा यह कि वह जिस समाज का एक अभिन्न अंग था उससे रोटी-बेटीबंदी की दुहत्ती तलवार से साफ काटकर अलग हो जाए और नए पंथ ने यदि कहीं यह कार्य करने में कोई चूक की तो पुराने—सनातनी बहिष्कार की तीसरी तलवार चलाकर उस अंग को मुख्य देह से काटकर अलग कर देंगे। परंतु इस तरह वह कटा हुआ अंग और यह कटी हुई देह दोनों के घायल होने, दोनों की जीवनशक्ति क्षीणतर होने की अनुभूति किसी को भी नहीं होती। इन वर्ण, प्रांत, पंथ तीन विशिष्ट भेदों से अलग और इन तीनों से अधिक हानिकर एक चौथा—

४. **व्यवसाय-विशिष्ट जातिभेद**—का पहाड़ टूट पड़ा। इस व्यवसाय-विशिष्ट जातिभेद ने तो कहर ढाया है। वर्ण के हिसाब से तो कम-से-कम हिंदू राष्ट्र का नौ-दस करोड़ का समूह एक रहना चाहिए था। परंतु अभाग्य को वह सहन न हुआ और उस समूह के व्यवसाय-विशिष्ट, कर्मनिष्ठ जातिभेद ने टुकड़े-टुकड़े कर डाले। इस एक शूद्र

वर्ण की प्रांतवार अलग-अलग जातियाँ हुई ही थीं। पंथ के कारण उसमें पुनः विभाग हुए। ठठेरे, माली, नाई, सोनार, बुनकर, लोहार, बढ़ई, दरजी ऐसे कितने ही और ये जातियाँ केवल दुकानों तक ही नहीं थीं अपितु जनम-जनम की वंश परंपरा, रोटीबंदी, बेटीबंदी, किलाबंदी! ये जातियाँ भी मुख्य व्यवसाय तक ही सीमित नहीं थीं अपितु एक मुख्य व्यवसाय की जैसी स्वतंत्र जाति वैसी ही और उन्हीं तत्त्वों पर और क्रम से उस व्यवसाय के उपांग की भी उतनी ही रोटीबंद, बेटीबंद अलग जाति। जैसे कटक प्रांत के कुम्हारों की जाति देखें—उनमें कुछ बैठकर चाक चलाते हैं और छोटे मटके बनाते हैं तो कुछ खड़े होकर चाक चलाते हैं और बड़े मटके बनाते हैं। बस इतने ही अंतर से उनकी दो अलग जातियाँ हो गईं और जाति के अर्थ जन्मजात, बेटीबंद, सारे संबंध कटे हुए। कुछ ग्वाले कच्चे दूध से मक्खन निकालते हैं, उनकी अलग जाति हो गई और दूध गरम कर मक्खन निकालनेवाले ग्वालों से उनका बेटी-व्यवहार बंद हो गया। एक मछुआरे की जाति है, उनमें जो मछुआरे दाएँ से बाएँ जाल बुनते हैं वे अलग हैं और जो बाएँ से दाएँ जाल बुनते हैं वे अलग हैं, उनमें बेटीबंदी हो गई।

यह पूरा ब्रह्म घोटाला यदि किसी को सचमुच सनातन धर्म का आधार और विकास लगता हो तो उस सनातनी को चाहिए कि वह आज निर्मित हो रही नई जातियों को भी लागू कर सनातन धर्म की ध्वजा और ऊँची करे। वह केवल लेखनी से लिखनेवाले बाबुओं की जाति अलग करे, टंक लेखकों (Typist) की अलग जाति बनाए। जाति माने रोटीबंद, बेटीबंद, किलाबंद। रेलगाड़ीय ब्राह्मणों की एक जाति घोषित करे और मोटरीय ब्राह्मणों की दूसरी। नाइयों में भी ऐसी दो जातियाँ वह बनाए—पुराने ढर्रे और छुरे से हजामत बनानेवाली नाई जाति और विलायती उस्तरे तथा मशीन से हजामत बनानेवाले नाई। दोनों के बीच रोटीबंद-बेटीबंद।

अंत में यह कहना उचित होगा कि पूर्व में हमने कुछ जातियों को जो शूद्र कहा है वह पुराने धर्ममार्तंडों की परंपरा की भाषा का अनुवाद है। उनमें से कुछ अपने को क्षत्रिय मानते हैं और उन्होंने अपने को शुद्ध ब्राह्मण भी कहा तो हमें कोई आपत्ति नहीं है; क्योंकि हम गुण के सिवाय केवल बाप की अनुशंसा पर किसी को ब्राह्मण या शूद्र नहीं मानते हैं। और वैसे गुण होंगे तो हम भंगी के बेटे को भी ब्राह्मण मानने

को तैयार हैं। कर्म के संबंध में तो हम मानते हैं कि सारे ही कर्म समाज-धारण के लिए आवश्यक और सम्माननीय हैं। अपने इस हिंदू राष्ट्र के विराट् शरीर के खड़े और पड़े ऐसे शताधिक टुकड़े करने के बाद भी चूँकि भेदासुर का समाधान नहीं हुआ, इसलिए उसने उसपर जो तिरछे वार करना प्रारंभ किया, वह पाँचवाँ है—

५. **आहार-विशिष्ट जातिभेद**—वर्ण, प्रांत, पंथ, व्यवसाय एक है, पर शाकाहारी जो हैं उनकी एक जाति और मांसाहारियों की दूसरी। फिर उस मांसाहारी परिवार में कोई शाकाहार करने भी लगे तब भी उसकी एक बार जो जन्मजात निश्चित हुई वही वंश-परंपरा रहेगी। मांसाहारी ब्राह्मण, शाकाहारी ब्राह्मण। मांसाहारी आर्य, शाकाहारी आर्य। मांसाहारी में भी मछली खानेवाले ब्राह्मणों की एक जाति, तो मुरगा खानेवालों की दूसरी और बकरा खानेवालों की तीसरी। इस क्रम में और इसी आधार पर प्याज खानेवाली बहू की एक और आलू खानेवाली सास की दूसरी और लहसुन खानेवाले लड़के की तीसरी जाति नहीं हुई इतना ही सौभाग्य। अपने इधर के ब्राह्मणों को दिए जानेवाले सीधे पर जिस निष्पाप बुद्धि से ककड़ी रखी जाती है वैसे ही बंगाली ब्राह्मणों के सीधे पर एक लंबी मछली रखी जाती है। परंतु 'विष्णुना धृतविग्रह:' मछली खाना महापाप समझनेवाले कनौजिया ब्राह्मण इससे क्रोधित होकर उस मत्स्याहारी ब्राह्मण की जाति से रोटीबंदी करके संबंध तोड़कर केवल बकरे का मांस, वैदिक धर्म मानकर स्वीकार करता है। परंतु इन सब भेदकारक आधारों को भी मात देनेवाला जातिभेद का एक प्रकार अभी शेष है और वह है—

६. **संकर-विशिष्ट जातिभेद**—प्रकृति के विक्षिप्त भाव से यदि किसी स्त्री के पेट से साँप जन्म ले तो उस संतान से उस स्त्री को भय उत्पन्न होगा, वैसे ही जिन स्मृतियों ने संकर-विशिष्ट जातिभेद को जन्म दिया वे स्मृतियाँ भी अपना डरावना प्रसव देखकर थर-थर काँपने लगीं। मूल चार वर्ण और उनके अनुलोम, प्रतिलोम पद्धति के प्रथम वर्ग के संकरों की गिनती कर उनके लिए नामों की योजना भी स्मृतिकारों ने की। ब्राह्मण स्त्री और शूद्र पुरुष के संकर से चांडाल हुआ। फिर चांडाल पुरुष और ब्राह्मण स्त्री से अतिचांडाल हुआ। फिर से अतिचांडाल पुरुष और ब्राह्मण स्त्री का संकर—उनका फिर से संकर, उनका फिर से संकर माने अति-अति-अति-अति चांडाल! पर फिर संकर है ही।

ऐसे अनंत भेद, केवल ब्राह्मण प्रतिलोम के। उतने ही अनंत क्षत्रिय प्रतिलोम के, उतने ही वैश्य प्रतिलोम के, उतने ही शूद्र प्रतिलोम के। उसमें यदि एक अनंत का दूसरे, तीसरे अनंत से हुए प्रतिलोमों को लें और उसमें उतने ही अनुलोमी संकर के अनंत मिला दें तो केवल चार वर्णों से उत्पन्न संकरों की संख्या की गिनती अंकगणित की क्षमता के बाहर होगी। उसमें उस वर्ण के बाद में उत्पन्न हुए व्यवसाय आदि उपर्युक्त जातियों के परस्पर संकर जोड़ दिए तो मनुष्य जातियों की काल्पनिक संख्या अनंत गुना हो जाएगी। ऐसा विचार करते-करते हारकर स्वयं स्मृतिकार ही कहते हैं कि संकरोत्पन्न जाति की संख्यानास्ति! संख्यानास्ति, संख्यानास्ति! सौभाग्य इतना ही कि इस सारी व्यवस्था की अनवस्था केवल स्मृतिकारों की कल्पना में ही तैरती रही और वह कभी व्यवहार में नहीं उतरी।

वर्तमान जातिभेद के मूल में स्थितभेद-आधारों में से काफी मान्य, प्रमुख और प्रचलित वर्ण, प्रांत, पंथ, व्यवसाय, आहार, संकर आदि कुछ आधार ही यहाँ उदाहरण के लिए प्रस्तुत किए गए हैं। जातिभेदों में पाप-विशिष्ट जातिभेद, जैसे महापाप करनेवाले बहिष्कृतों की जाति, वंश-विशिष्ट जाति, जैसे यक्ष, रक्ष, पिशाच आदि कई भेद छोड़ दिए गए हैं।

जातिभेद के वर्तमान स्वरूप की ऐसी भयावह रूपरेखा है। हम अपने सारे हिंदू बंधुओं से साग्रह यह निवेदन करते हैं कि वर्तमान समय के जातिभेद पहले की चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का अति विकृत विध्वंसात्मक रूप है, इसलिए हम जो कह रहे हैं, वह क्यों कह रहे हैं, उसे समझने के लिए इस रूपरेखा का कम-से-कम एक बार तो ध्यान से निरीक्षण करें। अपनी राष्ट्र-देह के रोटीबंद, बेटीबंद, किलाबंद जैसे हजारों-हजार टुकड़े करनेवाला यह जातिभेद, चातुर्वर्ण्य व्यवस्था की मारक विकृति है। यह सामाजिक क्षय रोग यूँ ही बढ़ने देना अपनी राष्ट्रीय शक्ति का पोषक है क्या? आपको अभी भी यही ठीक लगता है क्या? यदि नहीं तो बाह्य शक्तियों और संकटों ने हमारे पैरों में पहले से ही जो परतंत्रता की भारी बेड़ियाँ डाली हुई हैं, उनके साथ ही हमारे अपने द्वारा डाली गई जन्मजात रोटीबंद, बेटीबंद, किलाबंद आदि जातिभेद की बेड़ियाँ अपनी प्रगति अधिक अवरुद्ध नहीं कर रहीं क्या? अधिक पंगु नहीं बना रहीं क्या? और ये बेड़ियाँ तत्काल तोड़ने का काम पूरी तरह अपने हाथ में लेना अपना त्वरित कर्तव्य नहीं है क्या? उस बाहरी संकट की बेड़ियाँ तोड़ते हुए और तोड़ने के लिए अगर स्वयं पहनी हुई बेड़ियाँ, स्वयं अपने गले में बाँधा भारी पत्थर यदि हम तोड़-फोड़ डालें तो अपना हिंदू राष्ट्र, अपनी हिंदू

जाति इन आंतरिक लड़ाई-झगड़ों और क्षय रोग के शिकंजे से उसी प्रमाण में मुक्त होकर विश्व की अन्य संगठित जातियों और राष्ट्रों की स्पर्धा और संघर्ष में अधिक सक्षम और चढ़ाई करने में अधिक सशक्त होगी।

(केसरी, १.१२.१९३०)

४. इस आपत्ति पर उपाय

जातिभेद की जन्मजात बेड़ियाँ तोड़ने से अपनी हिंदू जाति अंशतः ही सही, पर यदि आज पराक्रमशाली बनी हुई अहिंदू एवं आक्रमणकारी शक्तियों का सामना करने के लिए अधिक समर्थ होती हो तो ये जन्मजात जातिभेद हम किस उपाय से तोड़ें? यह प्रश्न उठता है। हमारे विचार से वह उपाय सूत्र रूप में यह है कि कृत्रिम संकेतों द्वारा माने हुए इस जन्मजात जातिभेद का उच्छेद कर हम गुणजात जातिभेद का उद्धार करें। क्योंकि जिसे हम जन्मजात जातिभेद कहते हैं वह वास्तव में जन्मजात है ही नहीं। वह तो केवल मन की भावना का, एक पागलपन का खेल है। उतनी भावना हम यदि बदल दें तो यह पर्वताकार ताजिया अपने आप नीचे गिर जाएगा।

यह मुट्ठी भर ब्राह्मणों द्वारा रचित नहीं है

परंतु उपर्युक्त कथित भावना बदलते हुए हम यह पहले ध्यान में रखें कि जातिभेद किन्हीं चार-पाँच दुष्ट या कुटिल आदमियों या किसी एक वर्ग द्वारा अपना स्वार्थ साधने के लिए जान-बूझकर बनाई गई कोई युक्ति नहीं है, बिलकुल नहीं है। किसी गुप्त गुफा में इकट्ठा होकर, कुछ मुट्ठी भर ब्राह्मणों ने, किसी एक बुरे दिन, पूरे विश्व को लूटने के लिए जातिभेद का यह कूट रचा और सारे विश्व की पीढ़ी-दर-पीढ़ी की मुंडियाँ अपने दो-चार श्लोकों के जाल में पक्की तरह बाँध दीं, ऐसा घटित होना जितना असंभव है उतना ही ऐसा समझना मूर्खतापूर्ण है। केवल ब्राह्मणों की ही, यदि यह चाल होती तो श्रीराम और श्रीकृष्ण तो ब्राह्मण नहीं थे, फिर उन्होंने भी चातुर्वर्ण्य को क्यों उठाए रखा? यदि कोई कहे कि क्षत्रिय आदि वर्ग बेचारे भोले थे इसलिए सहज ही ब्राह्मणों के मायाजाल में फँस गए, तो श्रीकृष्ण क्या भोले थे? या समुद्रगुप्त भोले थे? या शिवाजी भोले थे? मैंने यदि किसी से कहा कि 'कूद जा कुएँ में और जान दे दे तो तू मुक्त हो जाएगा!' तो ऐसा कहनेवाला मैं जितना लुच्चा उतना ही कुएँ में तत्काल कूदनेवाला भी मूर्ख।

जातिभेद का छल रचने के लिए यदि ब्राह्मणों को लुच्चेगिरी के कठघरे में खड़ा किया जाता है तो सूर्य-चंद्र वंश के हजारों राजर्षियों की परंपरा को भी मूर्ख कहने के लिए हमें सिद्ध होना पड़ेगा। उस कुटिलों के राजा और प्रत्यक्ष कणिक शिष्य दुर्योधन को भी आटे की तरह गूँधनेवाले श्रीकृष्ण तो चातुर्वर्ण्य का उत्पादक स्वयं ही हैं, ऐसा कहते हैं। और स्वयं मनु कौन थे? क्षत्रिय। ऐसे कुशाग्र राजर्षियों की खड्ग की और बुद्धि की धार पंडितों के कुश के अग्र के आगे भोथरी हो गई, ऐसा कहते हुए पंडितों को अपशकुन करने के लिए अपने ही वर्ण के पुरुषश्रेष्ठ पूर्वजों की महानता की नाक काटते हमें लज्जा नहीं आती, इसका मुझे बार-बार आश्चर्य होता है।

ब्राह्मण और क्षत्रियों का यह संयुक्त षड्यंत्र भी नहीं

जातिभेद को कल्पना कहें, षड्यंत्र कहें, ब्राह्मणों ने ही रचा—ऐसा भी क्षण भर के लिए मान लें तब भी व्यापक हिंदू समाज में ब्राह्मण मुट्ठी भर थे और उन मुट्ठी भर लोगों के शब्दों को विधि की कर्तुम् अकर्तुम् शक्ति देनेवाली राजशक्ति, दंडशक्ति, The sanction behind the law किसकी थी? क्षत्रियों की ही तो! ब्राह्मणों का शब्द और क्षत्रियों की शक्ति इन दोनों के संयोग से जातिभेद की प्रथा दीर्घजीवी हो सकी, इसलिए उसका सारा दोष ब्रह्मक्षत्रों पर है, ऐसा कहकर वैश्यों या शूद्रों को भी कान पर हाथ रखकर स्वयं को निर्दोष मान लेना संभव नहीं है। क्योंकि जब-जब ब्राह्मणों का शब्द और क्षत्रियों की शक्ति निर्माल्यवत् हुई—जैसाकि वर्तमान काल में है—वैश्य, शूद्र तो क्या अतिशूद्र भी अपनी-अपनी जातियों से चिपके बैठे हैं, वह क्यों? वे ब्राह्मणों के शब्दों के लिए नहीं हैं, क्षत्रियों की शक्ति के लिए भी नहीं हैं अर्थात् स्वयं की इच्छा के लिए ही तो हैं। जातिभेद की प्रथा में हर जाति को अपने से निचली जाति पर रोब जमाने का अवसर फोकट में मिल जाता है, इसलिए यह प्रथा सभी को कुछ हद तक अच्छी लगती है और इसलिए अपनी जाति को सर्वश्रेष्ठ मानकर कोई कुछ भी कहे, पर जातिभेद का निर्मूलन करने की इच्छा किसी की नहीं होती। उलटे अपने जातीय अहंकार का ढिंढोरा पीटने के लिए ही इस-उसने जातिभेद का उपयोग किया। और इसी कारण जातिभेद को इस-उसने इस या उस रीति से उठाए ही रखा, यह सच्ची बात है। बुद्धकाल में भी जातिभेद को बुरा नहीं माना गया, केवल जाति-श्रेष्ठत्व का, अग्रवर्ण का मान ब्राह्मणों का न होकर क्षत्रियों का है, यही बात अनेक ग्रंथों में लिखी मिलती है। अतः यदि जातिभेद के वर्तमान अत्यंत विकृत स्वरूप से अपने हिंदू राष्ट्र की भयानक हानि हो रही हो तो जन्मजात जातिभेद की उस हानि का दोष

किसी एक वर्ण के या व्यक्ति के सिर मढ़ने की अपेक्षा उस दोष के हिस्सेदार हम सब अब्राह्मण-चांडाल सब जातियाँ, सब वर्ण, सब व्यक्ति हैं ऐसा ही मानना उचित और इष्ट है। जातिभेद के कारण जो कल्याण पहले या आज होता आया या हुआ होगा उसका श्रेय भी हम सबका है और हम सबने मिलकर ही वह संस्था, यदि बनाकर रखी हुई हो और उससे लाभ की अपेक्षा अपनी हिंदू जाति की हानि यदि सौ गुना अधिक हो रही हो और वह दोष सुधारना, उसे पूरी तरह उखाड़ डालना हो तो वह प्रयास भी करने का कर्तव्य हम सबका ही है। वह उत्तरदायित्व हमसब पर आता है। एक-दूसरे के सिर चढ़ने की हमारी प्रवृत्ति के कारण ही हम सबको इस सहस्रबाहु भेदासुर ने अधोगति के गड्ढे में ढकेल दिया है। अब उसमें से उबरने के लिए पिछले झगड़े-टंटे छोड़कर एक-दूसरे का हाथ थाम उस भेदासुर के नाश के लिए संगठित होकर चारों ओर से चोट-पर-चोट करते रहें और उस समय यह भी ध्यान में रखें कि चातुर्वर्ण्य या जातिभेद का प्रादुर्भाव और प्रबलता मूलतः समाज-धारणा की सद्बुद्धि से ही प्रेरित होगी और उसी पूर्व में कमाए पुण्य के जोर पर जातिभेद की संस्था आज तक जीवित है।

जब तक जातिभेद से होनेवाली हानि की तुलना में समाज का कुल लाभ अधिक था तब तक और उस परिस्थिति में वह श्रेयकर भी रही होगी। हिंदुस्थान में ही नहीं अपितु आर्यावर्त के बाहर सुदूरवर्ती मिस्र देश से लेकर मेक्सिको तक किसी समय चातुर्वर्ण्य या यह जातिभेद विश्व भर में फैला था, मान्य था। कुछ सीमा तक लोकहितकारी भी था। परंतु पहले कभी वह कुल मिलाकर लाभकारी था, इसीलिए आज जब वह कुल मिलाकर अत्यंत हानिकर सिद्ध हो रहा है, तो भी उसे चलाए रखना उचित नहीं है। 'तातस्य कूप्रोऽयम्' कहकर केवल वह क्षारजल पीते रहना जैसे कायरता का लक्षण है वैसे ही आज उस संस्था से लाभ की तुलना में सौ गुनी हानि हो रही है, इसलिए वह संस्था सर्वथा और सर्वदा वैसी ही हानिकारक थी यह मानकर चलना भी अंध अज्ञान का द्योतक होगा। चातुर्वर्ण्य या जातिभेद से किसी काल में किसी परिस्थिति में अपनी हिंदू जाति को कितना लाभ हुआ या कितनी हानि हुई यह जानने के लिए इस संस्था के भूतकाल की चर्चा करना इस लेखमाला की कक्षा के बाहर की बात होने से उसका विस्तार से विवरण देना यहाँ अनावश्यक है, फिर भी जातिभेद के आज के विकृत स्वरूप का विवरण देकर इस विकृति से, इस क्षय रोग से अपनी जाति के स्वास्थ्य को कैसे मुक्त रखा जा सकेगा—यह जो इस लेखमाला का मूल हेतु है—उसका विवेचन करते हुए जातिभेद की जड़ में स्थित अनेक समाजहित साधक तत्त्वों को यथासंभव धक्का न लगाते हुए उसमें जो हितावह है वह सबकुछ यथासंभव परिपालित करते, जो इतिकारक है, उसे यथासाध्य

त्यागने की सावधानी रखना अत्यंत आवश्यक है।

जिसे हम विकृति कहते हैं, वह प्रकृति का ही अंशतः या पूर्णतः होनेवाला कुपरिपाक होता है। उस विकृति का नाश करने के लिए शल्यक्रिया को उत्सुक शल्य चिकित्सक को शल्यक्रिया के पूर्व की मूल प्रकृति को कम-से-कम धक्का लगे इसके लिए आवश्यक सावधानी बरतनी ही होगी। जातिभेद के आज के अत्यंत हानिकारक स्वरूप का जो वर्णन वर्ण-विशिष्ट, प्रांत-विशिष्ट, पंथ-विशिष्ट, व्यवसाय-विशिष्ट, आहार-विशिष्ट, संकर-विशिष्ट आदि से किया गया है। उसकी जड़ में सर्वसाधारण और विशिष्ट ऐसे जो कुछ लोकहितकारी मूल तत्त्व हैं या थे, उनसे होनेवाले लाभ को जिस योजना के द्वारा हम खोएँगे नहीं या उन तत्त्वों के अतिरेक से या विपर्यास से या अन्य घातक तत्त्वाभास से जो हानि हो रही है या हो गई है, वह जिस योजना में अधिकांशतः टाली जा सकती है ऐसी ही योजना, ऐसे ही नए आचार की हम योजना करें।

ऊपर निर्दिष्टानुसार हमारे विचार से वह योजना है—जन्मजात जातिभेद का उच्छेद और गुणानुरूप जातिभेद का उद्धार। यह हमारी इस चर्चा के प्रारंभ में ही की हुई प्रतिज्ञा है। उपर्युक्त प्रतिज्ञा को सिद्धांत का आधार देने के पहले अब इस लेखमाला के उत्तरार्ध में जातिभेद के उपर्युक्त वर्णित मुख्य प्रकारों में स्थित लाभदायी तत्त्व हमारी योजना के अनुसार किस तरह पालन किए जा सकते हैं और हानिकारक तत्त्व किस तरह टाले जा सकते हैं यह संक्षेप में दिखाने का प्रयास हम करेंगे।

जन्मजात जातिभेद का उच्छेद और गुणजात जातिभेद का उद्धार

चातुर्वर्ण्य या जातिभेद के सभी मुख्य भेदों की जड़ में एक सर्वसामान्य मुख्य तत्त्व आनुवंशिकता का है। इस आनुवंशिक गुण-विकास के तत्त्व की जाँच हम पहले करेंगे और उसके बाद उन सारे भेदों की जड़ में जो अन्य विशिष्ट तत्त्व हैं, उनका भी क्रम से निरीक्षण करेंगे और यह दिखा देंगे कि चातुर्वर्ण्य या जातिभेद की संस्था से हुए या हो सकनेवाले बहुत सारे लाभ जन्मजात जातिभेद की अपेक्षा गुणजात जातिभेद से ही अधिक मात्रा में हमारे पल्ले पड़ सकते हैं और उस संस्था से आज होनेवाली अधिकतर हानियाँ अधिक मात्रा में टाली जा सकती हैं।

(केसरी, १३.१२.१९३०)

५. आनुवंशिक गुण-विकास का तत्त्व

मौलिक चातुर्वर्ण्य या जिसका विकृत और विपर्यस्त रूप वर्तमान का जातिभेद है, ऐसा कह सकते हैं कि उस जातिभेद की जड़ में जनहितकारक जो तत्त्व थे या होंगे और जिनकी उपकारक प्रवृत्ति के बल पर ही आज तक यह संस्था जीवित रही, उन सबमें आनुवंशिक गुण-विकास का तत्त्व या जिसे संक्षेप में आनुवंशिकता (हेरिडिटी) कह सकते हैं, वह सचमुच महत्त्वपूर्ण है। पूर्व के चातुर्वर्ण्य का रूपांतर जब जन्मजात जातिभेद में होने लगा तब गुणजातक का वह रूपांतर एकदम केवल उसी हेतु से और सोच-समझकर जन्म-जातकता में हुआ था क्या? और हुआ होगा तो वह कुल मिलाकर भूतकाल में कितना उपकारक और व्यावहारिक हुआ— इस संबंध में चर्चा अभी एक तरफ रख दें, क्योंकि इस जाति-संस्था के भूतकालीन इतिहास का लेखन या विवरण इस लेखमाला का हेतु नहीं है, हमारा हेतु तो वर्तमान में उसका जो स्वरूप दिख रहा है, जिस जन्मजात जातिभेद का पालन हम कर रहे हैं उस प्रथा में आनुवंशिकता का तत्त्व कितनी मात्रा में और किस तरह पालन होता है और वह जिस प्रकार पालन होता है, उस तरीके से वह जनहितकारी है कि नहीं और यदि वैसा नहीं है तो आज के जन्मजात जातिभेद से अलग किस तरह उसका पालन करें कि जिससे हमें वह अधिक उपकारक हो सके, यह देखना है।

आनुवंशिक गुण-विकास के तत्त्व का या आनुवंशिकता का अर्थ पारिभाषिकता को छोड़कर और वर्तमान विषय की सीमा में संक्षेप में कहें तो ऐसा कह सकते हैं कि किसी मनुष्य में कोई एक गुण या प्रवृत्ति हो और उसी गुण, प्रवृत्ति एवं कर्म का अभ्यास यदि वह निरंतर करे तो उसकी संतान में भी अन्य बातों के समान होते हुए भी वह गुण एवं वह कार्य-क्षमता अधिक उत्कटता से प्रकट होना अपरिहार्य है। अब अगर उस संतान ने भी वही गुण और बढ़ाया और वैसी ही गुणवाली स्त्री से विवाह किया और यह परंपरा उस कुल में पीढ़ी-दर-पीढ़ी अविछिन्न चलती रही तो वह गुण, वह स्वभाव या वह विशिष्ट कार्य-क्षमता उस कुल में, अन्य घटकों के समान रहते हुए भी अत्यंत उत्कटता से प्रकट होगी। यह नियम पूरे प्राणी जगत् पर लागू है। हाथी के बच्चे की सूँड़ आनुवंशिक कारणों से सूअर के बच्चे की अपेक्षा जन्मत: ही अधिक लंबी होती है। सूखे प्रदेशों में ऊँचे-ऊँचे पेड़ों पर लगी पत्तियाँ खानेवाले और उन्हीं पर जीवित रहनेवाले पशुओं की गरदनें आनुवंशिक कारणों से बहुत लंबी और ऊँची होती जाती हैं। गोरे माँ-बाप की संतानें अधिकतर गोरी और कालों की काली होती हैं। वैसे ही

ऊँचे लोगों की संतानें अधिकतर ऊँची, सुंदर माँ-बाप की संतान सुंदर और मजबूत कद-काठीवालों की संतान भी अधिकतर मजबूत ही होती है। चींटियों के एक ही कुल में रहती चींटियों में भी जिन्हें हमेशा शक्ति के काम करने पड़ते हैं, ऐसी चींटियाँ चींटियों में क्षत्रिय लगें, ऐसे मजबूत शरीर की होती हैं और उनका डंक भी अधिक विषैला होता है। आनुवंशिकता के कारण जन्मतः ही ऐसा होता है। प्रजनन का कार्य जिनको सौंपा गया है, ऐसी चींटियों के प्रजनन इंद्रिय जन्मतः ही अधिक कार्यक्षम होते हैं। पशु प्रजनन में जैसा चाहे वैसा घोड़ा, बैल या कुत्ता पैदा करने के लिए उन्हीं गुणोंवाले नर-मादा खोजे जाते हैं और अधिकतर इच्छित गुणों की संतति उत्पन्न होती है।

जीवमात्र पर लागू होनेवाले इस प्राकृतिक नियम का बुद्धि से उपयोग कर अपने समाज को जिन अनेक गुणों की आवश्यकता है, उनमें से जो-जो गुण जिस-जिस व्यक्ति में उत्कटता से दिखे उन-उनमें ही शरीर संबंध स्थापित किए जाएँ तो इस परंपरा से उनकी संतानों में, कुल में और जाति में वे गुण अधिक उत्कटता से स्थिर और विकसित होते जाएँगे। ऐसे बुद्धि, शक्ति आदि कुछ (मोटे) विशिष्ट गुण चुनकर उन व्यक्तियों में, कुलों में और जातियों में उनका विकास किया जाए, बीजानुबीज से उसे बढ़ाया जाए, उन्हें पोषक अन्न, विचार, व्यवसाय, आचार आदि पीढ़ी-दर-पीढ़ी दिए जाएँ। इस तरह के सद्हेतु से और शास्त्रशुद्ध तर्क से जाति-संस्था प्रस्थापित की गई, ऐसी ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भिन्न वर्णों की और उसके बाद के सहस्राधिक जन्मजात जातियों की जो कारण मीमांसा बताई जाती है, वह बिलकुल निरर्थक है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान जातिभेद का समर्थन

जातिभेद का जो वर्तमान स्वरूप है उसमें तो इस आनुवंशिकता की प्रबलता निर्विवाद रूप से दिखती है। वर्तमान के जातिभेद का अत्यंत शुद्ध लक्षण यदि कोई हो तो वह जन्मजात ही है। जातिभेद के जो अनेक प्रकार हमने गत लेखांक में दिए हैं, उसका हर प्रकार का समर्थन कुछ सीमा तक इस आनुवंशिक आधार पर हो सकता है। पहला वर्ण-विशिष्ट जातिभेद का। इस पद के 'वर्ण' शब्द का मोटा अर्थ भी लें तो जिनका वर्ण 'हंस' की तरह शुभ्र-श्वेत हो और रूप सुंदर हो, ऐसे लोगों द्वारा काले या तत्सम लोगों की जाति से विवाह कर अपना गोरा रंग और सुंदरता गँवाना उनके या कुल मिलाकर मानवजाति के शरीर विकास की दृष्टि से अनुचित ही है। आज भी अमेरिका, यूरोप आदि भूखंडों के गोरे और सुंदर लोग अफ्रीका की काली और कुरूप जातियों के साथ सामान्यतः विवाह कर अपनी भावी पीढ़ी का

रंग और रूप बिगाड़ना नहीं चाहते। यह स्वाभाविक ही नहीं, आंशिक रूप से मनुष्य-विकास की दृष्टि से हितकर ही है।

एक अर्थ से संकर हानिकारक है

ऐसी परिस्थिति में संकर हानिकर और आनुवंश हितकर होगा। वर्ण का गुणानुरूप वर्गीकरण—ऐसा रूढ़ अर्थ लें तो भी बुद्धि-प्रधान बीज का निर्बुद्ध बीज से संकर हो जाए, तो अन्य घटकों के समान होने पर बीज की बुद्धि का अपकर्ष होगा-ही-होगा, इसलिए यथासंभव बुद्धिमानों का बुद्धिमानों से ही शरीर संबंध होना मनुष्यजाति के बुद्धि विकास के लिए हितकर होगा। जो बात रूढ़ भाषा में बुद्धि-प्रधान ब्राह्मण वर्ग की है, वही शक्ति-प्रधान क्षत्रिय वर्ग की; इतना ही नहीं, शूद्र वर्णों के जिस व्यवसायनिष्ठ जातिभेद के कारण अनेक टुकड़े होते गए उन व्यवसायों को जन्मजात करने में भी आनुवंश का हितकारी तत्त्व कुछ अंशों में पालन करने का ही हेतु था और वैसा उसका पालन होता नहीं, ऐसा भी नहीं। हर व्यवसाय में किसी-न-किसी मानसिक और शारीरिक ज्ञान तंतुओं का पेशियों पर विशिष्ट परिणाम होता रहता है। सूत का उदाहरण देखें—जिनको बचपन से सूत की जातियों को पहचानने का काम करना पड़ता है उनकी अंगुलियों को अलग-अलग क्रमांक के सूत का सूक्ष्म अंतर केवल अंगुलियों से छूकर जान लेने की अनुभूति उनके स्पर्श तंतुओं में विकसित हो जाती है। अन्य लोग केवल स्पर्श से इतना सूक्ष्म अंतर नहीं बता सकते। अब यदि एक पीढ़ी में वे स्पर्श तंतु इतने विकसित हो जाते हैं और उनकी संतति पीढ़ी-दर-पीढ़ी यही धंधा करती रही तो वह स्पर्शज्ञान उत्कृष्ट होता जाएगा, अन्य घटकों के समान होते हुए इसकी बहुत संभावना है।

ठठेरे के हाथ मजबूत, सुनार के कुशल, लेखक के हाथ हलके होते जाते हैं। एक ही व्यवसाय, एक कुल वंश-दर-वंश करता रहे तो उन गुणों का आनुवंशिक विकास जन्मत: ही होते-होते उस कला को वह कुल अधिकाधिक सहज प्रवीणता से उत्कर्ष तक ले जा सकता है। आहारनिष्ठ जातिभेद का समर्थन भी इसी तत्त्व के आधार पर कुछ सीमा तक किया जा सकता है। एक ही आहार जीवन भर करते रहें तो उसके विशिष्ट गुण मन और शरीर पर विशिष्ट प्रभाव डालेंगे ही। वही (गुण) संतान में संक्रमित होंगे। पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही आहार उसी निष्ठा से चलता रहा तो अन्य घटकों के समान होते हुए भी उस कुल में वे विशिष्ट गुण प्रबल होंगे। शाकाहारी कुलों की या जाति की मानसिक व शारीरिक रचना का पीढ़ी-दर-पीढ़ी मांसाहार करनेवाली जाति से भिन्न होना अधिक संभव है। शाकाहारी

और मांसाहारी प्राणियों में ऐसा अंतर कुछ अंशों में दिखलाई भी देता है।

हिंदू जाति द्वारा किया गया महान् प्रयोग

आनुवंशिक गुणों के विकास के प्राकृतिक नियमों के अनुसरण से जन्मजात जातिभेद की संस्था का जो समर्थन किया जा सकता है या किया जाता है, वह इस छोटी सी लेखमाला के लिए हमने यथाआवश्यक विवेचन किया है। वास्तव में इस जन्मजात जाति-संस्था ने—आनुवंशिकता के प्राकृतिक नियमों का लाभ मनुष्य जाति को कितनी मात्रा में लेना संभव है, इस संबंध में यह जो महान् प्रयोग, इस आश्चर्यकारी धैर्य से, इतने बड़े आकार में, इतनी विविधता से युगों-युगों तक करके देखा, उस संबंध में मनुष्य जाति को इसका कृतज्ञ ही रहना चाहिए।

इस आनुवंशिकता के अवलंबन के अतिरेक से या विपरीतता से वह प्रयोग फँस गया—ऐसा भी मानें तो ऐसा प्रयोग ऐसे रूप में ऐसे कारणों के लिए ऐसा फँसता है यह सिद्ध करना भी कोई छोटा काम नहीं है। अपनी हिंदू जाति ने इस जाति-संस्था के महान् प्रयोग में जो अपयश संपादन किया उसने भी मनुष्यजाति के अनुभव में एक (उल्लेखनीय) महान् योगदान कर उसे उपकृत करने का यश संपादन किया है; उस प्रयोग की जड़ में निहित वह शास्त्रीय दृष्टि एवं सद्बुद्धि तथा उसके प्रवर्तन में दिखाया गया साहस और निरंतरता आश्चर्यकारक है।

इसीलिए वह प्रयोग क्यों फँसा और कितने अंश में फँसा—यह बारीकी (निश्चितता) से देखकर उसकी असफलता इसके आगे टालने के लिए समाज की पुनारचना करने में भी वैसा ही साहस, वैसी ही शास्त्रीय दृष्टि और वैसी ही लोकहित तत्परता दिखाई जानी चाहिए। आनुवंशिकता के मूल तत्त्वों की फिर से जाँच कर उसकी उपकारक शक्तियों के साथ ही उसकी घातक शक्तियों और उसकी दुर्बलता का भी निरीक्षण करना चाहिए।

आनुवंशिकता, गुण-विकास का अनन्य कारण नहीं है

निरीक्षण करें तो पहली बात जो हमें सीखनी होगी वह यह कि गुण-विकास का एकमात्र कारण या आधार आनुवंश ही नहीं होता। सृष्टि की या समाज की रचना और प्रगति भी आनुवंश के एक ही धागे से बुनी हुई नहीं है। आनुवंशिक गुण-विकास के प्राकृतिक नियमों के साथ भी अन्य अनेक नियमों के ताने-बाने इस रचना के निर्माण में सहयोगी रहे हैं। आनुवंश से गुण-विकास होता है, परंतु अन्य सब घटक समान हों तो। इसीलिए हमने ऊपर आनुवंश का सिद्धांत विवेचित करते हुए हर स्थान पर 'अन्य सारे घटकों के समान होने पर' लिखा। पितरों के गुण

संतान में यथावत् उतरने के लिए केवल आनुवंश पर, केवल पितरों के बीज के अंतर्निहित गुणों पर ही अवलंबित नहीं रहा जा सकता। इसीलिए एक ही माँ-बाप की संतानें, जुड़वाँ संतानें भी सर्वदा और बिलकुल एक सी नहीं होतीं। बीज वही होते हुए भी गर्भधारण का समय, मन:स्थिति, शरीर स्थिति, गर्भ विकास की अवधि, अन्न, प्रदेश का वायुमान, प्रकाश आदि अनेक घटकों पर संतान की मानसिक और शारीरिक बनावट अवलंबित रहती है। एक ही पुरुष का बीज एक ही स्त्री का उदर, पर पहले गर्भ के समय से दूसरे गर्भ के समय केवल मन:स्थिति ही बदल गई तो दूसरे गर्भ की मन:स्थिति ही नहीं अपितु शरीर रचना भी बदल जाती है। सूक्ष्म अंतर दिखाते रहने की अपेक्षा एक दुर्घटना प्रसूत घटना का ही उल्लेख करना अच्छा है। किसी एक शास्त्रीय संशोधन प्रतिवेदन में इस उदाहरण का उल्लेख है। एक महिला की संतान के गाल पर पाँचों अंगुलियों के बड़े स्पष्ट निशान थे। उसकी अन्य किसी संतान के गालों पर ऐसे कोई चिह्न नहीं थे। शोध करने पर यह ज्ञात हुआ कि गर्भावस्था में किसी ने उसे चाँटा मारा था, जिससे उसके गाल पर उसके चिह्न आ गए थे। इस हादसे से उसका मन कितने ही दिनों तक बेचैन बना रहा था। महिला की मन:स्थिति का प्रभाव उस गर्भ पर इतना गंभीर हुआ कि महिला के गाल पर पड़े चाँटे का प्रतिबिंब दर्पण की तरह स्पष्ट उसके बालक के गाल पर आ गया।

बीज एक घटक है

अन्न, प्रकाश, परिस्थिति, मन:स्थिति, शरीर स्थिति—ये सारे घटक समान रहे और बालक का प्रसव होने तक बीज की मूल बुद्धि आदि प्रधान गुण भी जैसे-के-तैसे लेकर बालक का जन्म हुआ तो भी क्या? उसके प्राकृतिक गुणों का विकास केवल जन्ममात्र से नहीं होता। उसका जीवन केवल जन्म लेने मात्र से पूरा नहीं होता। उसके बीजानुगत गुणों का विकास या संकोच केवल बीज पर अवलंबित नहीं होता, जन्म के बाद की बाह्य परिस्थिति पर भी वह अवलंबित होता है। किसी वेदपाठी की कोई संतान जन्मते ही 'हरि ॐ' कहकर वेद पठन शुरू नहीं करती। यदि उसे कोई शिक्षा दी ही नहीं गई या अकबर द्वारा कुछ अभागे लड़कों पर किए गए प्रयोग में फँसकर पूरे जन्म मनुष्य प्राणी की ध्वनि ही जिसके कान में नहीं पड़ी तो वह लड़का पूर्ण निरक्षर भट्टाचार्य ही रह जाएगा। जन्म भर गूँगा-का-गूँगा। इसके विपरीत किसी अक्षर शत्रु का लड़का, जो जन्मत: शंख हो, पर उसे कुछ-न-कुछ शिक्षा मिलती रही तो वह वेदपाठी ब्राह्मण के लड़के की तुलना में अधिक वाचाल तो हो ही जाएगा। वैसे ही जैसे शिवाजी का पुत्र, असल क्षत्रिय, पर जन्म से उसे खाने-पीने को केवल अहिंसावाद की सूखी घास ही मिली और शस्त्र को

किसी शाप की तरह उसे जन्म भर स्पर्श ही नहीं करने दिया गया और भुखमरी की सात्त्विक खुराक के सिवाय उसे दूसरी खुराक ही नहीं मिली तो क्या वह रणबाँकुरा क्षत्रिय बन सकेगा? कभी नहीं। गुण-विकास के कार्य में बीज एक घटक है, अनन्य घटक नहीं।

(केसरी, २४.१.१९३१)

६. आनुवंशशास्त्र का साक्ष्य

गर्भशास्त्री कहते हैं कि कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई महिला अपने पहले पति से जब पहला गर्भ धारण करती है तो कभी-कभी उसके गर्भाशय आदि अंग एवं मन पर कोई ऐसा गहरा संस्कार पड़ जाता है कि उसका गर्भ मानो एक साँचा बन जाता है और फिर यदि दूसरे पति से भी वह गर्भ धारण करती है तो भी जो संतान उसे उत्पन्न होती है वह बिलकुल पहली संतान के रूप-रंग, आकारवाली होती है। जातिभेद के समर्थक इसका अपने पक्ष में उपयोग करते हुए कहते हैं कि देखिए वे पश्चिम के शास्त्री भी, जो एव्होल्युनिस्ट हैं, कैसे आनुवंश के—उस हेरेडिटी के सिद्धांत को मानते हैं। जातिभेद समर्थक यह भूल जाते हैं कि वे गुण-विकासवादी (एव्होल्युनिस्ट) आनुवंश के सिद्धांतों का विवरण देते हुए यह मानते हैं कि बीज परिस्थिति के हाथ की गीली मिट्टी होता है। यदि बीज जनित गुण किसी भी कारण बदलते ही नहीं हैं और उसका आनुवंशिक संक्रमण यदि केवल बीज-शुद्धि पर ही आधारित है तो उपजाति की उत्पत्ति (ओरिजिन ऑफ स्पसीज) जैसे शब्द भी बोलने की आवश्यकता नहीं होती। बाघ बाघ ही रहता है, पर परिस्थिति उसे बिल्ली बनाके छोड़ती है। घोड़ा घोड़ा ही रहता है; परंतु परिस्थिति उसे गधा बनाती है।

परिस्थिति का प्रभाव

बीज का जो प्रबल गुण, रंग, वर्ण है वह भी स्वयमेव सिद्ध नहीं रह सकता। बीज जनित आर्य 'ब्राह्मण' वर्ण से हंस जैसा गोरा होता है, होना चाहिए; पर परिस्थिति उसे आर्यलैंड (आर्यभू) में केतकी जैसा, ईरान में गुलाब जैसा, आर्यावर्त में नीबू जैसा और मद्रास में अय्यर, आयंगारों को काला-कलूटा बना देती है। बीज में अत्यंत दृढ़ता से अंतर्निहित गुण केवल सूर्य प्रकाश और उष्णता की भिन्नता से यदि रंग, ऊँचाई, आकार और देह गठन इतने बदलते हैं तो दया, शील, विद्या, पराक्रम आदि मानसिक गुण या व्यक्ति-व्यक्ति की भिन्नता, जो बीज में पूर्णता से

दृढ़ीभूत नहीं रहती, वह परिस्थिति से कितनी बदलती होगी—यह कहना कठिन है। सारांश, गुण-विकास करने का आनुवंश ही एकमात्र और संपूर्ण साधन नहीं है अपितु वह गुण-विकास के कार्य के अनेक घटकों में से एक घटक है। इतना ही नहीं अपितु उस गुण-विकास के जो दूसरे घटक हैं, उन सब संस्कार (शिक्षा), जलवायु, भौगोलिक भिन्नता आदि की परिस्थिति की तुलना में उस बीज में विकसित होने की प्राकृतिक शक्ति इतनी अल्प होती है कि उसे जीवित रहने के लिए भी उस परिस्थिति से तालमेल बैठाने के लिए स्वयं ही बदलने के सिवाय कोई गति नहीं रहती।

आनुवंशिक गुण-विकास की सीमाएँ

आनुवंशिक गुण-विकास के नैसर्गिक नियमों की इन दो सीमाओं की ओर ध्यान न देकर आज के जन्मजात जातिभेद में आनुवंश को ही एकमेव, स्वयंपूर्ण और प्रबलतम घटक समझा जा रहा है, और यही भयंकर भूल उस संस्था को इतना घटिया बनाने का मुख्य कारण है। गुणों का विकास करने हेतु आनुवंश को स्वीकारा गया, परंतु वह गुण-विकास तो दूर गया, उलटे आनुवंश मृतप्राय हो गया तब भी उसकी चिंता न कर आनुवंश रह जाए तो गुणों का क्या काम—ऐसा उलटा आह्वान करनेवाली विचित्र वस्तुस्थिति उत्पन्न हुई है। कर्णाभूषण पहनने के लिए कानों में छेद तो किए, पर कर्णाभूषण ही नहीं रहे, इसका होश नहीं रहा और छेदों को ही भूषण समझने लगे। छेद ही कानों के भूषण हो गए। आनुवंश हो, जन्म उस जाति में हुआ हो तो वे सारे जाति विशेष गुण उस मनुष्य में आ गए, यह धारणा स्थिर हुई। फिर वास्तव में वे गुण हैं या नहीं, इसकी चिंता ही नहीं रही। केवल जन्म उस विशिष्ट जाति में है। जिसमें ब्राह्मणों का रत्तीमात्र गुण नहीं, जो आतंक, चोरी, डकैती, खून-खराबा करते हुए अनेक बार कारावास जाता रहा है; जिसकी पिछली सात पीढ़ियों में ब्राह्मण गुणों का कोई संकेत नहीं मिला, उसकी किसी अज्ञात पीढ़ी में कोई ब्राह्मण था इसलिए वह ब्राह्मण, इसीलिए उसे ब्राह्मण का अधिकार। मूर्ति स्पर्श का उसे अधिकार, वेद पठन का उसे अधिकार, दक्षिणा उसे और जिसमें ब्राह्मणों के गुण प्रत्यक्ष दिख रहे हैं उसका कोई पिछला पूर्वज परिचर्यात्मक कर्म करता रहा, इसलिए वह शूद्र और उस कुल में जन्म लेनेवाला हर कोई शूद्र, हीन, अस्पृश्य। फिर वह अरविंद घोष भी हो तो भी हम उसे वेद-घोष नहीं करने देंगे। महात्मा गांधी हो तो भी टीका लगाने का अग्राधिकार उसे नहीं। विवेकानंद हो तो भी वह संन्यास नहीं ले सकता। तुकाराम हो तो भी वह उज्जैन के महाकाल को स्पर्श नहीं कर सकता। जिस नंद के साम्राज्य की छाती पर नाचते हुए म्लेच्छ ग्रीकों

ने पूरा आर्यावर्त छोड़े की टापों से पादाक्रांत किया—वह नंद भी क्षत्रिय। परंतु उस वादग्रस्त सूर्य-चंद्र वंशीय क्षत्रियों की पूर्व सात पीढ़ी में भी चंद्रगुप्त जितना बलवान् साम्राज्य किसी ने स्थापित नहीं किया, फिर भी वह चंद्रगुप्त क्षत्रिय नहीं। विश्व विजेता का गर्व हरण जिसने किया वह क्षत्रिय नहीं। 'नन्दान्तं क्षत्रियकुल' कहकर क्षत्रिय वंश ही समाप्त घोषित कर दिया। उसका वेदोक्त राज्याभिषेक नहीं होगा। उसके महापराक्रम की बात गौण, उसके बाबा-पड़बाबा की जाति कौन सी थी, यह बात प्रमुख। और ऐसा बखेड़ा केवल ब्राह्मण ही फैलाते थे—ऐसा नहीं। हिंदू मूर्तियों को औंधा कर जिन्होंने मसजिदों की सीढ़ियाँ बनाईं, उस मुसलमान बादशाह के पैर चाटने में जिन्होंने अपने को धन्य माना, उस क्षत्रिय जाति के लोग भी। उस बादशाही को गिराकर अपने सिंहासन की जिसने सीढ़ियाँ बनाईं और हिंदू पदपादशाही का राजमुकुट हिंदू जाति के मूर्धाभिषिक्त मस्तक पर शोभित किया, वह छत्रपति भी जाति का क्षत्रिय नहीं है, यह बात अंत तक उसे चुभोई जाती रही। शिवाजी के सामने इन क्षत्रियों का सिर ऊँचा। तू क्षत्रिय नहीं, अपनी विजयावली का बखान न कर, अपनी वंशावली निकाल। ऐसी माँग वे करते रहे। दिल्लीश्वर के चरणों पर अपनी बेटी अर्पित करनेवाले असल क्षत्रियों की जाति नहीं गई मानो वे म्लेच्छ दिल्लीश्वर, कौशल्या के पेट से प्रभु रामचंद्र के साथ ही जनमे हों।

बीज एवं क्षेत्र शुद्धि

आनुवंश की उपर्युक्त वर्णित मर्यादाओं की ओर ध्यान न देने का जो अक्षम्य अपराध हमने किया, उसके कारण आनुवंश की स्वच्छंदता उन्माद जैसी हो गई। आनुवंश के नियमों का मानवहित में उपयोग कहाँ तक किया जा सकता है, इसका विचार करते हुए ऊपर दी हुई दो बातों की तरह ही जो महत्त्व की तीसरी बात ध्यान में रखनी आवश्यक है, वह यह कि आनुवंश से गुण-विकास होता है। इसका अर्थ यह भी है कि सद्गुणों की तरह दुर्गुणों का भी दृढ़ीकरण या विकसन होता है। मनुष्य के लिए हितकर उतने ही गुण दृढ़ या वृद्धि करने का कार्य आनुवंश का नियम नहीं करता। प्रकृति के अधिकतर नियमों की तरह मनुष्यों को भोलेपन से ऐसा लगता है कि ये सारे नियम मेरे ही भले के लिए ईश्वर ने बनाए हैं; पर आनुवंश के नियमों को वैसा नहीं लगता। जो नियम मनुष्य के लिए उपयोगी हैं, जैसे साँप को मारनेवाले हाथ जन्मजात मिलते हैं, वैसे ही मनुष्य के प्राण हरण करने में समर्थ विषैले दाँत सर्प को भी जन्मजात होते हैं। स्वास्थ्य की तरह माँ-बाप से संतान को महारोग भी मिलते हैं। इन बातों की ओर ध्यान न देने से मनुष्य को कभी-कभी बड़ी दुर्घटनाओं का सामना करना पड़ता है, पड़ा है। आनुवंश से सद्गुणों की ही

बढ़ोतरी होती है, ऐसा मान लेने से मनुष्य ने कभी-कभी आनुवंशिकता पर अपनी निष्ठा का इतना भयंकर अतिरेक किया कि बीज शुद्धि और क्षेत्र शुद्धि पूरे सौ प्रतिशत सँभाले रखने के लिए बहन-भाइयों के विवाहों को अतिश्रेष्ठ विवाह मान, इसी श्रेष्ठ कुलाचार का पालन वह करता रहा।

सीता कौन? तो राम की भगिनी

क्षत्रियों में क्षात्र-तेज उत्कट बना रहे, इसलिए क्षत्रिय 'क्षत्रिय' जाति में ही विवाह करे, ताकि आनुवंश से वह तेज अधिक वृद्धिंगत हो। इसी विचार पद्धति को एक कदम आगे बढ़ाने पर यह भी मानना पड़ेगा कि उन क्षत्रियों में भी कुछ कुल जो अधिक शूर रहते हैं, विशेषत: किसी राजकुल के, तो वह राजतेज दैवी है, अत: उसका यदि उसी कुल में विवाह संबंध होता रहा तो अन्य हीन क्षत्रियों की अपेक्षा वह कुल दैविक संपत्ति के राजगुणों से जन्मत: ही संपन्न बना रहेगा। परंतु राजा की बराबरी का दूसरा क्षत्रिय कौन? उस अद्वितीय राजा के गुण पूर्ण रूप से तो उसके पुत्र और पुत्री में ही होंगे। अर्थात् उस राजपुत्र को उसके समतुल्य दैवी राजगुण से युक्त पत्नी उस राजा की पुत्री के अतिरिक्त दूसरी कौन हो सकती है? प्राचीन नील देश, मेक्सिको, ब्रह्मदेश तथा और भी अनेक देशों के राजवंशों में इसी विचारधारा के अधीन बहन-भाइयों के विवाह प्रचलित थे। क्योंकि राजा और राज्ञी दोनों ही मनुष्य जाति में अद्वितीय। उनका वह दैवी गुण उसी अद्वितीय बीज के द्वारा और उसी अद्वितीय क्षेत्र में अर्थात् उनके ही कुमार और कन्या में अवतरित होगा। अत: यदि बीज और क्षेत्र शुद्धि में किसी तरह की मिलावट को रोकना है और उन दैवी गुणों का आनुवंशिक विकास करना है तो उस राजकुमार का विवाह उसकी सगी बहन के साथ करने के सिवाय दूसरा कोई रास्ता ही शेष नहीं रहता। 'लाट' नामक एक पैगंबर का बीज व्यर्थ न जाए इसलिए उसकी दोनों कन्याओं ने अपने पिता से ही संबंध बनाया। यह कथा 'बाइबिल' में है और प्रख्यात है। बुद्ध का कुल भी यही मानता था कि सगे भाई-बहन के विवाह से ही हमारी उत्पत्ति हुई है और कदाचित् बुद्ध जन्म की इस घटना का अप्रत्यक्ष समर्थन करने के लिए ही कदाचित् बुद्धरचित 'रामायण' में राम और सीता सगे भाई-बहन थे, ऐसा वर्णन है।

आनुवंशिकता से मनुष्य के हितकर गुण ही केवल उतरते तो उपर्युक्त विचारधारा उस सीमा तक तो लाजवाब ही होती। आज की परंपरा में कहें तो समाज में ब्राह्मण जाति जैसे बुद्धि-प्रधान है, वैसे ही उस जाति में भी कोई नाना फड़नवीस या चाणक्य कुल अति बुद्धिमान् होगा ही। फिर जन्मजात गुणों की विचारधारा के अनुसार उस अत्यंत बुद्धिमान् कुल में विवाह, उनका बीज और क्षेत्र अत्यंत शुद्ध

रहे, इसके लिए उसी कुल में और अंत में अपनी ही औरस संतान में करना उचित होगा। परंतु अंत में इस विचारधारा के आनुवंश के नियम पर की गई निष्ठा के अतिरेक से उस आनुवंश के नियम ने ही कैसा सत्यानाश किया—आगे देखेंगे।

(केसरी, १३.२.१९३१)

७. सगोत्र विवाह निषिद्ध क्यों?

एक ही माँ-बाप के पुत्र-पुत्री में जब विवाह होते गए तब उन माँ-बाप के शरीरगत दोष, गुणों के संक्रमण की भाँति ही और कभी तो गुणों से भी अधिक प्रबलता से संतान में संक्रमित होते गए। पहले अकेले पिता की ही एक आँख कुछ दुर्बल थी। वह दुर्बलता उसके लड़के-लड़की में उतरी। अब इन भाई-बहनों का विवाह होते ही उन दोनों की दाईं आँख की दुर्बलता उनकी संतान में अर्थात् नातियों में दुगुनी प्रबल होकर आई और उनकी संतान की दाईं आँख बिलकुल बंद ही रही। एक ही कुल में विवाह होने से उस कुल के अवगुण संतानों में बढ़ने लगते हैं। इतना ही नहीं अपितु अनेक भयानक रोग एक पीढ़ी से दूसरी में तेजी से संक्रमित होते हैं, यह अनुभव आने पर सहोदर या सगोत्र विवाह इस या उस रीति से विश्व के अधिकांश सुसंगठित समाजों में निषिद्ध ठहराए गए। जो बात कुल की है, वही विस्तार से जाति की। व्यवहार में ब्राह्मण जाति बुद्धिमान् के रूप में ख्यात है, पर उससे भी अधिक उसकी कुख्याति यह है कि ब्राह्मण डरपोक और भोजनभट्ट होते हैं। बनिया की व्यापार-व्यवसाय में जितनी ख्याति है उससे अधिक कुख्याति यह है कि अरे बनिया का बेटा है, जोड़ू है। यद्यपि ये दोनों की कुख्यातियाँ भ्रांत हैं, फिर भी आनुवंशिकता से सद्गुणों की तरह ही अवगुणों का भी संक्रमण संतान में होता है, यह तथ्य उस व्यंग्योक्ति के द्वारा व्यक्त होता है, यह बात सच है।

संकर की उपयुक्तता

जातीय आनुवंश का कट्टर विरोधी है संकर। पर वही कभी-कभी हितकर भी सिद्ध होता है; क्योंकि आनुवंश के नियम का परीक्षण करते हुए ऐसा दिखता है कि कभी-कभी पितरों के गुण संतान में विकसित होते-होते अंत में उनका विकास रुक जाता है और पतन शुरू हो जाता है, मानो व्यक्ति की देह की तरह गुणों की देह भी बुद्धि की एक मर्यादा पार कर जाने के बाद क्षय की ओर बढ़ने

लगती है। ऐसे समय में उस दुर्बल होते बीज क्षेत्र में अन्य प्रबल बीज क्षेत्र का संकर करना हितकर होता है। संकर माने भिन्न कुल के बीज क्षेत्र का चुनाव और संयोग। ऐसे संकर द्वारा मानव विपुल इच्छित सृष्टि का निर्माण कर सकता है—करता आया है। देसी आम से देसी आम ही पैदा होता है। लँगड़े आम के पेड़ पर बीज शुद्धि का सात्त्विक कुलाचार यदि करते भी रहें तो वे प्रयास निष्फल ही होते हैं। पर यदि लँगड़े आम की कलम देसी आम पर बाँधी जाए, उन दो जातियों का संकर किया जाए तो उसी देसी आम पर बढ़िया आम लगने लगता है। टमाटर से टमाटर ही होता है। आलू से आलू। परंतु कुछ दिनों पूर्व इन दो जातियों का यथाप्रमाण संकर कर एक वैज्ञानिक ने एक अत्यंत उपयुक्त शाकभाजी उत्पन्न की है। उस पौधे में नीचे आलू लगते हैं और ऊपर टमाटर।

संकर नहीं है

जिस जातिभेद के संबंध में हम यहाँ विचार कर रहे हैं उसमें हमारी हिंदू जाति के संबंध में तो बोलने की आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि अपने हिंदू समाज के व्यक्ति-व्यक्ति में आलू और टमाटर की तरह या हाथी और गाय की तरह, या जापानी और नीग्रो की तरह का प्राकृतिक जातिभेद शेष नहीं रहा है। ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, बंगाली, पंजाबी, दरजी, सुनार ये जातियाँ जन्मजात हैं, यह केवल माना जाता है। उनमें जन्मजात स्वतंत्र या प्राकृतिक जातीय भिन्नता रत्ती भर भी नहीं है, क्योंकि वे जन्मजात जातियाँ थीं ही नहीं। वे केवल व्यवहार जाति, पोथी जाति, संकेत जाति हैं और इसीलिए प्राकृतिक अर्थ में जो जाति एक ही है उसमें संकर होगा, ऐसा कहना 'वदतोव्याघात' होगा माने कही बात काटना होगा।

संकर के कुछ उदाहरण

परंतु उसी भ्रांत भाषा में बोलने से वह भ्रांति दूर करना अधिक सरल है, अत: 'जाति' और 'संकर' शब्दों का उपयोग कर यह कहें कि एक ही जाति के पितरों की औरस संतति की तुलना में भिन्न जाति के पितरों की संकर संतति अधिकतर समबल और कभी-कभी तो अधिक प्रबल उत्पन्न होने के उदाहरण हमें अपने हिंदू इतिहास में हजारों देखने को मिलते हैं।

विदुर दासीपुत्र, संकरजात प्रजा थी, परंतु औरस समझे गए धृतराष्ट्र या पांडु इन दोनों ही क्षत्रिय बंधुओं की तुलना में वह कितना ज्ञानी, कितना सात्त्विक निकला। उसके शूद्र माता की शूद्र गोद उसके समकालीन ब्राह्मणी की या क्षत्राणी की गोद से किसी प्रकार कम सात्त्विक या कम शुद्ध या कम सद्‌गुण-संपन्न नहीं

थी। उलटे कुरु राजवंशीय राजाओं से वह दैवी संपत्ति में अधिक संपन्न निकली। चंद्रगुप्त दासीपुत्र, असल बीज के क्षत्रिय नंद से वह संकर पुत्र क्षात्र गुणों में हजारों गुना श्रेष्ठ साबित हुआ। 'भविष्य पुराण' में वर्णित एक कथा है, जिसमें व्याध के वीर्य से एक ब्राह्मण स्त्री के गर्भ से जनमा एक बालक विक्रमादित्य का मुख्य यज्ञाचार्य बना—ऐसा वर्णन है। विक्रमादित्य के उस मुख्य यज्ञाचार्य से लेकर तो मराठा साम्राज्य के पाटीलबुवा, दिल्ली के राजसिंहासन को अपने अधीन रखनेवाले महादजी सिंधिया तक संकरोत्पन्न संतानें कभी-कभी एक जाति से उत्पन्न संतानों की तुलना में अधिक तेजस्वी और मानवीय गुणों से भरपूर सिद्ध हुई हैं।

और एक कारण : गुप्त संकर

अमुक जाति की विवाहिता के पेट से जनमे बच्चे की जाति उसके लौकिक पितर की जाति होगी और उसमें पिता के सद्‌गुण अवतरित होंगे, यह आज के जन्मजात जातिभेद माननेवालों का पक्का विश्वास है। यह विश्वास और एक सशक्त कारण से मूलत: ही संशयास्पद हो जाता है, क्योंकि मानवजाति का जातीय आनुवंश पीढ़ियों तक शुद्ध रखना अत्यंत दुष्कर है। प्राकृतिक रूप से भिन्न स्वरूप प्राप्त जो जीव हैं, जैसे कृमि, कीटक, पंछी, पशु, मानव इनमें जातीय आनुवंश को विजातीय संकर से शुद्ध रखने के लिए स्वयं निसर्ग पहरा देता रहता है। परंतु निसर्ग-जनित जातियों में संकर का कट्टर विरोध करनेवाला ईमानदार पहरेदार निसर्ग स्वयं इन पोथीजात मनुष्य-मनुष्य में भेद करनेवाले जाति के अंत:पुर में संकर का प्रवेश कराने किसी सखा जैसी गुप्तचरी करता रहता है।

निसर्ग का नियम तो यह है कि न तो मत्स्य किसी खग को और न खग किसी पशु को जन्म देता है। न एक पशु जाति दूसरी पशु जाति को जन्म देती है। पर मानव-मानव में यह भेद होने से असवर्ण स्त्री भी अन्य वर्ण के किसी भी पुरुष का सहज गर्भ धारण कर लेती है। स्पष्ट ही है कि निसर्ग हमारे पोथीजात जातिभेद को जातिभेद मानता ही नहीं। जाति की मूल व्याख्या ही यह कहती है कि जो जन्म से आती है वही वास्तविक जाति; पोथी से आती है वह जाति नहीं। हमारे वैश्य, शूद्र, दरजी, सुनार, कच्चे दूध से मक्खन निकालनेवाले यादव और दूध गरम कर मक्खन निकालनेवाले ग्वाला आदि जाति-प्रपंच निसर्ग स्वीकार नहीं करते और इसीलिए इन पोथीजात जातिभेद की बेटीबंद व्यवस्था को बनाए रखने के लिए हम अपनी पोथी-पुस्तकों की चीन जैसी दीवार भी बनाएँ तो भी उसे लाँघकर संकर, यौन आकर्षण के पुष्पक विमान से किलाबंद अंत:पुर में उतरे बिना नहीं रुकता।

अंधनिष्ठा

समाज व्यवस्था के लिए बनाए हमारे मानवीय नियम हमें उपयुक्त लगते हैं, इसलिए वे निसर्ग के नियमों को उलटने में हमेशा समर्थ होंगे ही, ऐसा माननेवाली निष्ठा एक तरह की आत्मवंचना ही है। यह अंधनिष्ठा समाज व्यवस्था के लिए चाहे अपरिहार्य हो, पर प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति के अखंडनीय विरोधी साक्ष्य के सामने (किसी भी वैज्ञानिक चर्चा में भ्रमपूर्ण मानते हुए) एक तरफ रखी जानी चाहिए। अमेरिका, यूरोप, एशिया आदि सभ्य समझे जानेवाले विश्व के न्यायालयों में हमेशा ही हजारों वैवाहिक अभियोग प्रस्तुत होते हैं और निर्णय पाते हैं, उनके निर्णयों को टालना असंभव है।

विश्व में पग-पग पर जो अनुभव सामने आता है उससे तो ऐसा की कहा जाएगा कि किसी भी वंश, कुल या घराने के संबंध में चाहे वह यहूदी, मुसलिम, क्रिश्चियन या हिंदू हो, शास्त्रीय आधार पर प्रतिज्ञा के साथ यह कहना एक साहस ही होगा कि उस कुल में गत सात या सत्तर पीढ़ियों में प्रकट या अप्रकट रूप से कुलसंकर या जातिसंकर हुआ ही नहीं। ऐसी स्थिति में गली के अमुक एक घर पर कभी हजार वर्ष पूर्व ब्राह्मण, महार, दरजी, बढ़ई के नाम पर क्रमांक पड़ गया, इसलिए उस घर में जिसका भी जन्म हुआ वह ब्राह्मण, महार, दरजी या बढ़ई ही होगा और उसमें उस जाति विशेष के व्यावसायिक गुण उतरे ही होंगे, ऐसा कहना या इसके भी आगे जाकर जो नहीं दिख रहे हैं वे दिखते हैं, ऐसा मानना ही होगा और अन्य स्थान पर दिख रहे हों तो उसे दिखते नहीं कहकर नकारना ही होगा। आग्रहपूर्वक अपने मन को इस तरह समझाना कितना गलत होगा! आज का जातिभेद जन्मसिद्ध होने की बात कहना भी मुख्यत: इसी गलत सोच पर आधारित नहीं है क्या? इसलिए पोथीजनित बेटीबंदी पर खड़ी की गई मानव जातियाँ निसर्गजनित बेटीबंदी द्वारा निर्मित नैसर्गिक जातियों जैसी ही एक-दूसरे से विलग रह सकती हैं। इस विषय की शास्त्रीय चर्चा करते समय गुप्त संकर के अस्तित्व को नकारना संभव नहीं है।

पोथीजनित बेटीबंदी

किसी उथले पाठक को भ्रम न हो, इसलिए अंत में यह कहना आवश्यक है कि इस चर्चा में संकर शब्द विवाह शब्द के विलोम के रूप में प्रयुक्त है, ऐसा नहीं है। विवाह संस्था अच्छी है या बुरी—यह प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न इतना ही है कि कुल और जाति की पोथीजनित बेटीबंदी से संकर टाला जा सकता है या नहीं। वैवाहिक दांपत्य के व्रतभंग से उत्पन्न संकर 'संकर' है ही, परंतु विवाह का व्रत

अति अभंगता से पालन करते हुए भी वधू-वर की जातियाँ मूलतः भिन्न होने के आधार पर हुआ, विवाह भी जातिभेद की परिभाषा में संकर ही होगा और वह जातिसंकर भी आज की जन्मजनित जाति शुद्धता को बिगाड़ेगा ही।

इसी तरह किसी सिद्धांतप्रिय और तार्किक वाचक की गलत धारणा न हो, इसलिए यह भी कहना इष्ट है कि यहाँ प्रयुक्त नैसर्गिक शब्द भी 'मनुष्यकृत' शब्द के विलोम के रूप में मर्यादित अर्थ में ही उपयोग में लिया है। अन्यथा निसर्ग के सैद्धांतिक और व्यापक अर्थ में वह कृत्रिम और स्वाभाविक है, ऐसा कोई भेद हो नहीं सकता। जो कृत्रिम है या जो मनुष्यकृत है, अधिक क्या कहें, जो-जो भी घटित हो सकता है वह-वह वास्तव में नैसर्गिक ही है। इस तरह अनैसर्गिक कुछ होता ही नहीं।

(केसरी, १०.३.१९३१)

८. जातिसंकर के अस्तित्व का साक्षीदार—स्वयमेव स्मृति

माने हुए और केवल पोथीजनित जातिभेद को परस्पर संकर से शुद्ध रखना ऊपर बताए अनुसार दुष्कर है, यह सामान्य रूप से मान्य करके भी हम हिंदू लोग यही कहते हैं कि वह नियम सामान्यतः कितना भी सच हो हमारे चातुर्वर्ण्य के प्रकरण में झूठ ही है। ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भिन्न जातियाँ परस्पर संकर से एकदम अलिप्त हैं; क्योंकि वे वैसी रहें, इसलिए वैसा ही असाधारण प्रबंध शताब्दियों से किया हुआ है। ऐसा कहनेवालों की ऐसी धारणा है कि एक शुभ पुरातन मुहूर्त पर विराट् पुरुष के मुख से ब्राह्मणों की पूरी जाति अकस्मात् टप से नीचे गिरकर खड़ी हो गई और छाया डालने के समय पेड़ों-झुरमुटों में छिपे सैनिक जैसे प्रकट होते हैं वैसे ही विराट् की भुजाओं के रोम-रोम से शस्त्रास्त्र सज्जित क्षत्रिय छलाँगें लगाकर बाहर आए। इस आदिसंभव से लेकर आज तक इन चार वर्णों का रक्तबीज एकदम शुद्ध और संकररहित बने रहने से जैसे ब्राह्मण के लड़कों में ब्राह्मण के गुण ही रहते हैं, वैसे ही क्षत्रियों में क्षत्रियों के और शूद्रों में शूद्र के गुण बने हुए हैं।

परंतु जिनकी धारणा सच में ऐसी है उनकी धारणा कितनी गलत और काल्पनिक है—यह अपने प्राचीन और सर्वमान्य ग्रंथ, श्रुति, स्मृति, पुराणों का हर पृष्ठ सिद्ध कर सकता है। व्यक्तिगत उदाहरण तो विपुल हैं, उन्हें छोड़कर केवल दो-चार पुरातन रूढ़ियों और परंपरा प्रचलित प्रथाओं का निर्देश यह सिद्ध करने के

लिए काफी है कि हमारे ये चार वर्ण संकर से कभी भी अलिप्त नहीं थे। उन सुप्रतिष्ठित और शास्त्रोक्त प्रथा के एक-एक नाम में हजारों व्यक्तिगत उदाहरण समाहित हैं।

हमारे चारों वर्णों में 'संकर' शास्त्रीय पद्धति से होता आया है और हमारी सैकड़ों जातियाँ तो संकर से ही उत्पन्न हैं।

पितृ सावर्ण्य

विवाह संस्था का जब जन्म भी नहीं हुआ था या उद्दालक ऋषि के संगम, स्वतंत्रता का जो एक काल था, उसे छोड़ दें। पुराण कथा के अनुसार जब श्वेतकेतु ने विवाह संस्था स्थापित की उसके बाद के काल में भी ब्राह्मण सभी जातियों की स्त्रियों से विवाह करते थे, अर्थात् इसके लिए शास्त्र की अनुमति प्रदान थी ही। इन तीनों वर्णों की स्त्रियों की गोद से उत्पन्न संतति ब्राह्मण ही मानी जाती थी। वचन ही है—'त्रिषु वर्णेषु जातो हि ब्राह्मणो ब्राह्मणात् भवेत्' और ये भिन्न वर्णजात ब्राह्मण संतति ब्राह्मणों की कन्याओं से अभिन्नता से विवाह करते थे। सैकड़ों वर्ष यह पितृ सावर्ण्य प्रथा शास्त्र सम्मत रूप में हममें विद्यमान थी। सारांश, हममें तीनों वर्णों का रक्त पीढ़ी-दर-पीढ़ी संचरित होता आ रहा है। क्षत्रियों और वैश्यों में भी यही पितृ सावर्ण्य प्रथा थी और इसलिए उनमें भी सब वर्णों का रक्त संचरित है। ब्राह्मण की माँ शूद्र, मौसी वैश्य और चाची क्षत्रिय होना सामान्य बात थी। सगा ममिया भाई 'क्षत्रिय' तो सगा मौसिया भाई 'शूद्र' हो सकता था। बेटीबंदी जहाँ इतनी खुली थी वहाँ रोटीबंदी की तो बात ही गौण है।

मातृ सावर्ण्य

आगे जब मातृ सावर्ण्य प्रथा चालू हुई और माँ की जाति ही संतान की जाति होने लगी, तब भी 'शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते। ते चं स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चायजन्मनः॥' यह नियम बना। यह मिश्र विवाह का प्रयोग था। पितृ सावर्ण्य के कारण ब्राह्मणों में तीनों वर्णों का रक्त संक्रमित हुआ तो मातृ सावर्ण्य के कारण ब्राह्मणों का रक्तबीज तीनों वर्णों में और तीनों के फिर परस्पर में संक्रमित हुए। मातृ सावर्ण्य के कारण एक ही ब्राह्मण का एक पुत्र ब्राह्मण, दूसरा क्षत्रिय, तीसरा वैश्य तो चौथा शूद्र हो सकता था। इस तरह समाज के चारों वर्ण केवल लक्षणा से नहीं अपितु रक्तबीज से भाई-भाई थे और उनमें भी गुण-कर्म प्रभाव से एक वर्ण के लोग अन्य वर्णों में समय-समय पर लिये जाने से जैसे विश्वामित्र ब्राह्मण होकर या सूतपुत्र कर्ण मूर्धाभिषिक्त अंगराज होकर क्षत्रिय हो

गए और उन-उन वर्णों में विवाह करने लगे। इसी तरह चारों वर्णों में परस्पर रक्तबीज का जीवन प्रवाह संचरित होता रहता था।

अनुलोम और प्रतिलोम

अनुलोम और प्रतिलोम प्रथाएँ कब अस्तित्व में आईं, यह प्रश्न एक तरफ रख दें तो भी उन प्रथाओं के कारण चातुर्वर्ण्य के मध्य हुए संकर से अनेक उपजातियाँ बनीं—यह सत्य है। और इसीलिए सूत मगध आदि से लेकर शूद्र पुरुष संबंध से ब्राह्मण स्त्री को हुई संतति, जिसे चांडाल माना गया तक, हमारे पूर्वास्पृश्य भाइयों से ब्राह्मण आदि वर्ण का रक्तबीज संकीर्ण हुआ है। हमारी सारी जातियों की नस-नस में एक-दूसरे का रक्त प्रवाहित हो रहा है, यह तथ्य कोई भी नकार नहीं सकता।

पितृ सावर्ण्य, मातृ सावर्ण्य, अनुलोम और प्रतिलोम इन चार प्रथाओं को श्रुति, स्मृति, पुराणोक्त ऐसी शुद्ध सनातनी मुद्राओं की मान्यता प्राप्त थी। इन प्रथाओं से बिना किसी वाद-विवाद के यह सिद्ध हो सकता है कि चार वर्णों में ही नहीं, संकर के कारण बनी चार सौ जातियों में निःसंकीर्ण (शुद्ध) आनुवंश कहीं रहा ही नहीं और यह सब शास्त्रीय विवाह और संगम के द्वारा ही हुआ। रक्तबीजों का परस्पर संकर पीढ़ियों से होता आया है और इसीलिए आनुवंशिक गुण-विकास के नियम से ही हममें एक-दूसरे के गुण-अवगुण भी संकीर्ण हुए हैं।

एक पांडव कुल ही देखें

उदाहरण के लिए पांडवों के कुल को ही देखें। धर्म संरक्षक आर्योत्तम प्रत्यक्ष सम्राट् भरत का यह कुल कोई हीन या अमंगल कुल नहीं था। और यह वह समय था जब श्रीकृष्ण ने स्वयं 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं' की घोषणा कर चातुर्वर्ण्य की रक्षा का अभिवचन दिया था। ऐसा नहीं कि कोई कहे कि मुसलमानों ने सबकुछ बिगाड़ा है या बुद्ध के पाखंड के कारण सब गड़बड़ हुई है। वह धर्म-हानि का काल नहीं था। उस काल में विशुद्ध चातुर्वर्ण्य की रेत की बाँध फोड़कर हमारा जीवन प्रवाह बह रहा था।

प्रतीप ने शांतनु से कहा कि हे राजा! यह स्त्री कौन है, कहाँ की है, किस जाति की है? ऐसे प्रश्न न पूछते हुए तू उससे विवाह कर ले। इस कथन के बाद अज्ञात जाति की गंगा से शांतनु ने विवाह किया। उसका पुत्र भीष्म अभिषेक से क्षत्रिय हुआ। फिर शांतनु ने, जिसकी जाति-पाँति ज्ञात थी, ऐसी एक मछुआरे की कन्या 'सत्यवती' से विवाह किया और उसे पटरानी बनाया—फिर भी शांतनु की

जाति बनी रही। इतना ही नहीं अपितु उस मछुआरे की कन्या के लड़के चित्रांगद और विचित्रवीर्य दोनों ही भारतीय ब्राह्मणों के शास्त्रोक्त सम्राट् बने। उसी मछुआरे की कन्या के पुत्र विचित्रवीर्य ने अंबिका और अंबालिका ऐसी दो क्षत्रिय कन्याओं से विवाह किया। परंतु वह निस्संतान ही मर गया, इसलिए उसकी रानियों से नियोग पद्धति से संतान उत्पन्न करने के लिए उनकी सास उस मछुआरे की कन्या 'सत्यवती' ने श्रीमान् व्यास को कहा।

व्यास कौन? ब्राह्मणश्रेष्ठ पाराशरपुत्र, और वे ब्राह्मणश्रेष्ठ पाराशर कौन? 'श्वपाकाच्च पराशर:।' एक अस्पृश्य श्वपाक का पुत्र। वह अस्पृश्य श्वपाक का पुत्र ब्राह्मणश्रेष्ठ माना गया। उस ब्राह्मणश्रेष्ठ पाराशर को मछुआरे की कुमारी कन्या से जो पुत्र हुआ वही वह महाज्ञानी, महाभारतकार व्यास था।

अच्छा हुआ किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय से नहीं, श्वपाक से ब्राह्मणश्रेष्ठ पाराशर मुनि उत्पन्न हुआ। यह भी अच्छा हुआ कि किसी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जाति की कुमारी से पाराशर ने संबंध नहीं किया। यदि ऐसा होता तो यह देश व्यास जैसे लोकोत्तर पुरुष से वंचित हो जाता। पर पाराशर से सवाई पुत्र जिसकी गोद में पैदा हुआ, वह मछुआरे की कन्या उस महाऋषि पर मोहित हो गई, इसलिए बीज क्षेत्र का ऐसा अलौकिक चयन हुआ कि उस संबंध से 'व्यासोच्छिष्टं जगत्सर्व' ऐसी सार्थ गर्ववाणी जिसकी अलौकिक प्रतिभा के कारण आज हम करते हैं, वह व्यास जैसा भारत कुलवंतस पुत्र उत्पन्न हुआ। कृष्णद्वैपायन व्यास जिसकी श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण कहकर वंदना की और भारतीय सम्राटों के राजमुकुट जिसकी चरणधूलि मस्तक से लगाते रहे, जिस संकर से ऐसा पुत्र पैदा हो, वह संकर वास्तव में शास्त्रीय विवाह है। जिससे संतति हीनतर हो वह वास्तव में संकर, फिर वह सवर्ण विवाह क्यों न हो? उच्चतर संतति का प्रसव जिससे हो वह असवर्ण विवाह भी हो तो भी वही असली विवाह। ऐसा संकर 'नारकीय' न होकर 'स्वर्गीय' कहना होगा।

महर्षि व्यास ने क्षत्रिय रानियों से नियोग विधि से पांडु और धृतराष्ट्र को जन्म दिया और उनकी शूद्र दासी से विदुर को जन्म दिया। ये तीनों ही उस राजकुल में भाइयों की तरह ही रहते थे। पांडु की अनुज्ञा से उसकी दोनों रानियों कुंती और माद्री ने किन्हीं अज्ञात पाँच पुरुषों से पाँच पांडवों को जन्म दिया। उस कुंती देवी को पहले भी कुमारी अवस्था में ही सूतपुत्र कर्ण हुआ था। उस सूतपुत्र कर्ण को दुर्योधन ने यह कहकर कि क्षत्रियों का मुख्य गुण कुल नहीं शौर्य है, गुण-कर्मानुसार क्षत्रिय बनाकर अंग देश का राजा बना दिया। भीम ने राक्षस जाति की हिडिंबा से विवाह किया। श्रीकृष्ण ने भी जांबुवंती से और कुब्जा से विवाह किया

था। अर्जुन ने नागकन्या से गांधर्व विवाह किया था। परंतु उनमें से कोई जातिच्युत नहीं हुआ।

बहुत हुआ। इस एक आर्यश्रेष्ठ पांडव-कुल के ग्रथित इतिहास से उस काल के हजारों अग्रथित उदाहरणों का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि आज यह हिंदू राष्ट्र जिस रोटीबंदी, बेटीबंदी आदि के मजबूत किले में बंद कर दिया गया है वैसा वह उस काल में बिलकुल नहीं था। इसे कोई नकार नहीं सकता। बुद्धकाल में तो जाति-संस्था स्पष्ट ही तुच्छ हो गई थी। अशोक की माँ ब्राह्मणी! वैश्य सम्राट् श्री हर्ष की कन्या ने क्षत्रिय से विवाह किया था। यक्ष, तक्षक, नाग आदि कुल भी क्षत्रिय ही मान लिये जाने से क्षत्रियों के उनसे बेटी-व्यवहार होने लगे थे।

जाति-वर्ण में शास्त्र मान्य ऐसे रक्तबीज संबंध जहाँ उपर्युक्त के अनुसार होते थे, वहाँ जाति-जाति में स्त्री-पुरुषों के यौन आकर्षणवश गुप्त रीति से इससे कितने गुना अधिक होते होंगे! आज जाति-जाति में बेटीबंदी इतनी कट्टरता से लागू है तब भी यौन आकर्षण से वर्णसंकर इतनी बड़ी मात्रा में खुला चल रहा है, तो जब बेटीबंदी शास्त्र और व्यवहार में इतनी ढीली थी तब जाति-जाति में रक्त संबंध कितनी बड़ी मात्रा में होते होंगे—यह अलग से कहने की आवश्यकता नहीं।

आनुवंश की अब तक की गई जाँच का सारांश यह है कि आनुवंश शुद्ध रखने पर गुण-विकास या गुण-दृढ़ीकरण होता है, यह प्राकृतिक नियम अंशतः सच होते हुए भी आज की बेटीबंदी और जातिभेद का समर्थन करते हुए निम्न सीमाएँ ध्यान में रखनी चाहिए—

१. गुण-विकास के लिए आवश्यक आनुवंश एकमात्र घटक न होकर अनेक घटकों में से एक घटक है।
२. आनुवंश शुद्ध रखने पर भी प्रकाश, अन्न, जल, वायुमान, पितरों की मनःस्थिति, उनके संस्कार, शिक्षा, संधि, साधन आदि परिस्थितियाँ जैसे-जैसे बदलती हैं वैसे-वैसे संतान के बीजभूत गुण भी भिन्न-भिन्न मात्रा में विकसित या आकुंचित होते हैं।
३. आनुवंश शुद्ध हो तो भी सद्गुणों की तरह ही दुर्गुणों का भी वर्धन या दृढ़ीकरण होता है। इसीलिए आनुवंश कभी-कभी अत्यंत हानिकर सिद्ध होता है और केवल संकर ही वह दोष या दुर्गुण संतानों में से निकाल डालने के लिए समर्थ और हितकारी होता है।
४. आनुवंश शुद्ध रखें तो भी पितरों के सद्गुण कुछ काल तक विकसित हो, फिर क्षीण होते जाते हैं या विकृत होते हैं। ऐसे समय भी संकर

प्राणियों के हित में होता है।

५. निसर्गजनित जातियों में आनुवंश शुद्ध रखना सहज है, पर केवल माने हुए, केवल पोथीजनित जातियों में आनुवंश लंबे काल तक शुद्ध रखना असंभव है।

६. ब्राह्मण आदि जिन जातियों में आज परस्पर बेटीबंदी कड़ाई से लागू है उन हिंदू जातियों में शास्त्र सम्मति से भी पहले अनेकानेक पीढ़ियों में अन्य-अन्य रक्तबीजों का प्रवाह अखंड बहता था और यौन आकर्षण से होनेवाला गुप्त संकर भी हमेशा ही इस ओर उस गति से प्रवाहित होता आया है और होता रहेगा। अत: वर्तमान में विवाहों की सीमा में बेटीबंदी कितनी भी कड़ाई से लागू की जाए, तो भी ब्राह्मण का लड़का उपजते ही ब्राह्मण गुण-संपन्न या क्षत्रिय का क्षत्रिय गुण-संपन्न होगा ही, ऐसा मानना मूलत: त्याज्य सिद्ध होता है। हमारी सब जातियों के आनुवंश पीढ़ियों से खुले (संकीर्ण) होने से आनुवंश के नियमानुसार और उस नियम की सीमा में किसी भी जाति को किसी विशिष्ट गुण का एकाधिकार (Monopoly) प्राप्त होना असंभव है।

प्रत्यक्ष अनुभव

तर्क से अनुमानित उपर्युक्त सिद्धांत को व्यावहारिक अनुभवों का भी अनुमोदन हमेशा मिलता आया है। माँ-बापों जैसे ही बच्चे नहीं होते यह अनुभव भी सबको है। श्रीकृष्ण का एक भी पुत्र श्रीकृष्ण नहीं निकला। आँखोंवाले व्यास का पुत्र धृतराष्ट्र अंधा था और सात्त्विक व्यास के पौत्र दुर्योधन, दु:शासन हुए। शुद्धोधन का पुत्र बुद्ध और बुद्ध का पुत्र राहुल। अपनी कन्याओं का बलपूर्वक केवल मुखदर्शन चाहनेवाले म्लेच्छों को रक्तस्नान करानेवाले चित्तौड़ के प्रतापी महाराणा और उनके ही पुत्र की कन्याओं को कोई बलपूर्वक हरण न कर पाए, इसलिए अपनी कुमारी कन्याओं को विषपान करानेवाले भीमसिंह भी महाराणा। शिवाजी का पुत्र संभाजी और संभाजी पुत्र शाहू। बाजीराव प्रथम का बेटा राघोबा और पौत्र दूसरा बाजीराव। पृथ्वी के पूरे इतिहास की यह कहानी है कि किसी शककर्ता के बाद की चौथी-पाँचवीं पीढ़ी तक कोई-न-कोई दुर्बल राज्य विनाशक पुत्र उत्पन्न होगा ही, मानो यह कोई सिद्धांत है। किसी एक बीज की अंतर्निहित शक्ति किसी एक पुरुष को परम उत्कर्ष देने में व्यय हो जाने पर वह बीज युद्ध में रिक्त हुए तरकस की तरह खाली हो जाता है और अगली पीढ़ियों में उसका तेज संक्रमित नहीं हो पाता।

इसीलिए प्रत्यक्ष गुण देखना उत्तम

माँ-बापों जैसी संतति नहीं होती—यह सार्वजनिक अनुभव है। आनुवंशिक गुण-विकास का नियम सत्य होते हुए भी ऐसा क्यों होता है? आनुवंश के सारे नियमों की अभी तक जो छनाई (जाँच) हमने की उससे तथा जातिभेद को जितना आवश्यक था उतना विवेचित करने के बाद वर्तमान में प्रचलित जातिभेद की व्यवस्था केवल आनुवंश के सिद्धांत पर करने में हमारी जो भूल हुई या हो रही है, उसे सुधारने में उसमें क्या संशोधन किए जाएँ, यह सहज ही ज्ञात हो जाएगा। हम बेटीबंदी का और तज्जन्य शतश: जातियों का समर्थन इसलिए करते हैं कि आनुवंश के कारण जो-जो (जातिगत) गुण जिस-जिस जाति में विकसित होते हैं या दृढ़ होते हैं, संकर से वे गुण मलिन होने की आपत्ति आती है। चातुर्वर्ण्य में बुद्धि, शक्ति आदि विशिष्ट गुणों का विकास हो—इसलिए। यदि ऐसा है तो वधू-वर में वे गुण प्रत्यक्ष हैं या नहीं यह विशेषत: देखा जाना चाहिए। वे वधू-वर अमुक जाति के हैं या अमुक कुल के हैं, इतना ही देखकर चलनेवाला नहीं। क्योंकि ऊपर दिए गए छह-सात कारणों से और आनुवंश के गुण-विकास की दृष्टि से एकमात्र घटक न होने से अमुक जाति या अमुक माँ-बाप हों तो संतान में अमुक गुण होंगे ही—ऐसा निश्चितता से केवल आनुवंश के आधार पर कभी भी नहीं कहा जा सकता। उसमें भी पोथीजनित, केवल मानी हुई, केवल काल्पनिक भिन्नता पर आधारित हमारी वर्तमान की जाति के लिए तो ऐसा मानना केवल अंधी धारणा है। इसीलिए वर्तमान की केवल आनुवंश पर अवलंबित बेटीबंदी तोड़कर प्रत्यक्ष गुणों पर अवलंबित ऐसी बेटीबंदी को यदि हम मानने लगे तो हमारा जो मुख्य हेतु है, 'सद्‌गुण-विकास' वह अधिक निश्चयपूर्वक हम प्राप्त कर सकेंगे।

वधू-वर अमुक एक जाति के हों तो उस जाति का जो माना हुआ गुण है वह होगा ही, ऐसा नहीं है। क्योंकि गुण केवल आनुवंश से उतरते, बढ़ते नहीं और हमारा मुख्य कार्य तो गुणों से है, आनुवंश से नहीं। इसलिए जिन वधू-वर में वह इष्ट या अपेक्षित गुण प्रकट हुआ है फिर चाहे वह केवल आनुवंश से उतरा हो या परिस्थिति से हो, उन वधू-वर का विवाह करने से ही हमारे जातिभेद के मूल में निहित गुण-विकास का हेतु साध्य होना अधिक संभव है। फिर उन वधू-वर की मानी हुई जाति कोई भी क्यों न हो।

विवाह के समय मंगल या शनि उन वधू-वर की कुंडली में किस स्थान पर है, आदि बेकार के झगड़ों की ओर हम जितना ध्यान देते हैं उतना ध्यान वधू-वर की संतान में हम जो अपेक्षा करते हैं वे गुण हैं या नहीं, यह देखने में लगाएँ तो

आनुवंशिक गुण-विकास करने में हम आज की अपेक्षा अधिक समर्थ होंगे। बीज से अनुरूप फल लगेगा ही, यह जितने निश्चय से कहा जा सकता है उससे सौ गुना अधिक निश्चितता से यह कहा जा सकता है कि फल लगने पर वह अनुरूप बीज का ही है। वैसे ही व्यक्ति में गुण प्रकट हो जाने के बाद उसका आनुवंश या जाति अमुक ही होगी यह कहना उतने धोखे का नहीं है जितना वह व्यक्ति अमुक (पीढ़ीजात) जाति का है, इसलिए उस व्यक्ति में उस जाति का वह माना हुआ या पोथीजनित गुण होगा ही—यह कहना। यदि वह गुण प्रकट हुआ तो उसका आनुवंश, परिस्थिति आदि कारण ठीक मिल गए होंगे, यह प्रत्यक्ष सिद्ध हो जाता है और गुण प्रकट हुआ ही नहीं है तो फिर उस आनुवंश को क्या चाटना है! गुण प्रकट न हुआ तो उस अनुपात में आनुवंश ठीक हो तो परिस्थिति ठीक न होगी। लेकिन उससे क्या लेना-देना?

संतान में गुण-विकास चाहिए तो वह गुण प्रत्यक्ष में जिनमें दृष्टिगोचर हो रहा है, उन वधू-वरों का संबंध करना चाहिए। फिर वे गुण उन वधू-वरों में आनुवंशिकता के कारण आए हों या परिस्थिति के कारण। आज के हमारे हिंदू समाज में केवल पोथी में लिखा हुआ भिन्नत्व अन्य किसी भी सहज लक्षण से प्रमाणित नहीं होता, अतः ब्राह्मण, शूद्र, दरजी, सुनार, बनिया, लिंगायत, ग्वाला, माली आदि हजारों पैदाइशी भिन्न जातियों को मानना पहली भूल है और फिर महादेव की जटा से अमुक जाति निकली, ब्रह्मदेव की नाभि से अमुक—ऐसी काल्पनिक उपपत्तियों को अक्षरशः सत्य मानकर किसी जाति विशेष में विशिष्ट गुण पैदा होते-ही-होते हैं यह पक्का मान लेना और भी अधिक गलत है। वह गुण विशेष उस जाति की संतान में प्रकट न होते हुए भी उसे प्रकट मानना तथा उसी गुणानुरूप मान-पान, सुविधा-असुविधा, उच्चता-नीचता उस जाति की संतान को भोगने देना पर्वतसमान त्रुटि है साथ ही यह कहना कि हमारे ऋषियों द्वारा खोजा गया आनुवंशिक गुण-विकास का रहस्य यही है।

कोई कन्या नकटी है किंतु उसकी पड़नानी की नाक चंपाकली जैसी थी, इसलिए हम उसे भी सुंदर नाकवाली तो नहीं कहते! तो उस आनुवंशिक गुण-विकास के उस सनातन रहस्य की रत्ती भर भी परवाह न करते हुए उसके प्रत्यक्ष दिखती नकटी नाक को देखकर उसे नकटी ही कहते हैं। वैसे ही किसी लड़के की आँख जन्मतः ही अंधी हो तो उसके किसी पूर्वज की आँखें कमल जैसी थीं, इसलिए उस लड़के को कमललोचन न मानते हुए हम उसे काना ही कहते हैं। फिर वही न्याय पोथी में लिखे चातुर्वर्ण्य के गुणों के लिए क्यों न लागू हो! ब्राह्मण वंश में कोई गधा निकला तो उसे गधा ही कहना होगा और शूद्रों में ज्ञानी निकला तो उसे

ज्ञानी ही कहना चाहिए—फिर चाहे उसका पिता, बाबा या पड़बाबा गधा हो या ज्ञानी हो। आनुवंश सही उतरा हो तो गुण प्रकट होगा ही, पर गुण प्रकट न हुआ तो आनुवंश परिस्थिति या किसी अन्य गुण के विकास घटक में कुछ त्रुटि हुई है, ऐसा मानना होगा।

कोई कहता है, व्यक्ति के गुण हमेशा बच्चे में उतरते ही हैं, ऐसा नहीं है। वे तीसरी-चौथी पीढ़ी में भी प्रादुर्भूत होते हैं। हाँ, होते हैं। पर कभी-कभी! और कभी-कभी तो होते ही नहीं। वे जब प्रकट होंगे तब उसे मानेंगे ही। पर किसी गवैया की मधुर आवाज उसके पौत्र-प्रपौत्र में सनई जैसी मधुर निकलेगी ऐसी पक्की गारंटी दी भी गई हो तो उसपर विश्वास कर उसके पुत्र और पौत्र को संगीत शिक्षक के पद पर नियुक्त कर उसके गर्दभ स्वर की प्रशंसा कर 'फिर से, फिर से' कह सकेंगे क्या? एक वीर पुरुष पैदा हुआ, हमने उसे अपना सेनापति बनाया। उसका पुत्र डरपोक निकला, घोड़े को देखते ही वह डरता है। पर सेनापति का वीरत्व उसके पौत्र में फिर से प्रकट होगा, इस आशा से उस डरपोक पुत्र को वांशिक सेनापति पद देकर घोड़े पर बाँधकर क्या पानीपत की लड़ाई में भेजा जाए? तीसरी-चौथी पीढ़ी में पितृगुण उतरते हैं, संत तुकाराम की आज १०-२० पीढ़ियाँ हो चुकीं, पर उस वंश में एक भी तुकाराम पैदा नहीं हुआ। या आनुवंश के गुणों की दया कर पांडुरंग ने संत तुकाराम के किसी वंशज के लिए फिर से आज तक स्वर्गीय विमान नहीं भेजा। गत सात पीढ़ियों में रामदास के घर रामदास नहीं है और न बोनापार्ट के कुल में बोनापार्ट पैदा हुआ।

विश्व के अन्य राष्ट्रों के अनुभव देखें

पोथीजनित माने हुए जातिभेद के गड़बड़झाले पर कभी न सोचते हुए गुण-विकास के विज्ञान का अवलंबन कर जो समाज आज विश्व में जी रहे हैं, उनमें से अधिकतर में ही हर पीढ़ी कुल मिलाकर पहले से अधिक ऊँची, विशाल, सुंदर, सुबुद्ध, वीर और परोपकार-निरत पैदा हो रही है, जैसे अमेरिका। हर पीढ़ी में उनके पुरुष 'दीर्घौरस्को वृषस्कन्धो शालप्रांशुर्महाभुजः' ऐसे पौरुषीय लक्षणों से अधिकाधिक संपन्न होते जा रहे हैं। उनकी महिलाएँ सुंदरता में, सृजन क्षमता में, सुभगता में और अपत्य संगोपन में भी अधिकाधिक क्षमतावान हो रही हैं। और हमारे यहाँ की हर पीढ़ी पहले की अपेक्षा अधिक दुर्बल, दुर्मन और दुर्धन पैदा हो रही है। हमारे विचार से इसके कारण कई हैं, जातिभेद ही अकेला कारण नहीं है।

परंतु जातिभेद के कारण ही आनुवंशिक गुण-विकास सही में हो रहा होता तो वस्तुस्थिति उलटी होती। क्योंकि वे अमेरिकी पोथीजनित जातिभेद की हवा में

नहीं टिकते और हम तो मानो उसी में जी रहे हैं। कोई कहेगा, यह तो ऐसा ही होगा।

अरे ये कलियुग है

ये कलियुग है, इसमें आदमी दुर्बल होंगे। गायें सूखी रहेंगी, खेती कमजोर रहेगी, बरसात कभी-कभार होगी—हमारे त्रिकालदर्शी ऋषियों ने यह सब पहले ही कह रखा है। हम उनसे एक प्रतिप्रश्न करना चाहते हैं। कलियुग तो पूरे विश्व पर आएगा, इसके प्रभाव में पूरी मनुष्यजाति आएगी। फिर अमेरिका में इसके ठीक उलटी स्थिति क्यों है? उनके आदमियों का सीना, ऊँचाई, प्रतिभा हर पीढ़ी में बढ़ती ही जा रही है। उनकी एक गाय हमारी दस गायों के बराबर दूध देती है। नारियल जितने बड़े आलू, बिना बीज के अंगूर और विश्व के हर भूखंड को देकर भी शेष रहे—इतना अनाज और आदमी। चाहे जहाँ और चाहे जितना पानी बरसाने की कला उसके अधीन है।

हाँ, यदि उन त्रिकालज्ञ ऋषियों ने कलियुग का बाँझ भविष्य केवल भारत के लिए ही व्यक्त किया हो तो निश्चित ही वे त्रिकालज्ञ थे, क्योंकि जिन अनेक कारणों से हमारी यह दुर्दशा हुई है उसमें प्रत्यक्ष अनुभव होते सुजननशास्त्र के नियमों को लतियाकर अंधे अनुमान पर खड़े किए गए जातिभेद का टीका गत अनगिनत पीढ़ियों से लगवा लेना यह एक महत्त्व का कारण है।

उसी टीके के कारण हमारे यहाँ चींटियों जैसे नन्हे, सड़े, कीड़ा लगे आदमी संतान रूप में उत्पन्न होंगे—यह उन ऋषियों को भी ज्ञात होगा। ऐसा ही हो तो उन्होंने जो भविष्यवाणी की, सत्य ही थी।

९. उपसंहार

इस लेखमाला का यह अंतिम लेख है। समाचारपत्र की सीमा में जितनी संभव थी उतनी इस विषय की चर्चा विस्तार से पिछले लेखों में हो जाने के बाद इस लेख में उसका उपसंहार कर इस लेखमाला के प्रारंभ में ही कहे अनुसार जन्मजात जातिभेद के उच्चाटन की एक योजना संक्षेप में देकर यह लेखमाला हम आज पूरी करनेवाले हैं।

आज के जातिभेद का प्रमुख लक्षण उसका जन्मत: होना है और जन्मजात का समर्थन करनेवाला प्रमुख तत्त्व और हेतु है आनुवंशिक गुण-विकास का निसर्ग नियम। इसीलिए गत दो-तीन लेखों में हमने उस आनुवंश (Heredity) का यथास्थान पूरा विश्लेषण किया और उसकी सीमाएँ निश्चित की, जो निम्न हैं—

१. आनुवंश, गुण-विकास का एक घटक होने के कारण समाजहितकारक लगनेवाले गुण जिनमें प्रकट हों, ऐसे वधू-वरों का आपस में विवाह होने पर उन गुणों के दृढ़ अथवा विकसित होने की संभावना अन्य परिस्थितियों के समान होने पर अधिक है, यह बात सच है।

२. पर आनुवंश, गुण-विकास का अनन्य घटक नहीं होता। गर्भकाल में माता की परिस्थिति और संतान के जन्म लेने के बाद की शिक्षा, संस्कार आदि परिस्थिति उस संतान के बीज का वह (विशेष) गुण विकसित होने में या नष्ट होने में बड़ी मात्रा में सहायक होती है।

३. आनुवंश से जैसे सद्गुण-विकास होता है वैसे ही दुर्गुण-विकास भी होता है। इसलिए जातीय बीजशुद्धि के साथ ही उस दुर्गुण का उच्चाटन करने में समर्थ संकर का जोड़ भी कभी-कभी हितकर होता है।

४. एक अकेला गुण कितना ही उत्कृष्ट क्यों न हो, हर व्यक्ति या जाति में वैसे अन्य उपकारक गुणों की अनुपस्थिति में वह गुण लूला पड़ जाता है। केवल सिर (बुद्धि) कितना ही उत्तम हो, पर हाथ-पैर समर्थ न हो तो वह बुद्धि पंगु ही होगी। इसके लिए उत्कृष्ट बुद्धि को शक्ति की और उत्कृष्ट शक्ति को बुद्धि का सहयोग अवश्य चाहिए। इसलिए बुद्धि-प्रधान, शक्ति-प्रधान कुलों या जातियों में अन्य अनुकूल गुण-प्रधान कुल या जाति का संकर भी कभी-कभी हितकर ही होता है इसलिए सब जातियों का यथाप्रमाण यथाआवश्यक सम्मिश्र बेटी-व्यवहार चालू रहना उनके विशिष्ट गुणों के उत्कर्ष और कार्य-क्षमता के लिए उपयोगी ही होगा।

५. आज का हमारा जातिगत बँटवारा निसर्गत: भिन्न न होने के कारण और वह केवल माना हुआ, पोथीजात होने के कारण, उसका आनुवंश, उसकी जातीय बीजशुद्धि, शुद्ध रखना कठिन है।

६. व्यावहारिक अनुभव भी यही सिद्ध करता है। ब्राह्मणों में भी परशुराम, द्रोणाचार्य, दुर्वासा आदि ऋषियों से लेकर मराठी साम्राज्य के पेशवा, पटवर्धन या चापेकर, राजगुरु तक की लंबी सूची के पुरुष क्षत्रियों से भी अधिक पराक्रमी सिद्ध हुए। दूसरी ओर क्षत्रिय, वैश्यों आदि में जनक, बुद्ध से संत तुकाराम तक अनेक सत्त्वशील, शांतिप्रिय, तपस्वी हुए। इन व्यावहारिक अनुभवों के बाद भी हमारे माने हुए जाति-बँटवारे में अमुक गुण अमुक जाति में होता ही है और अन्यों में नहीं होता—ऐसा मानकर उन जातियों को उन गुणों पर और सम्मान पर

जन्मजात अधिकार जताने का अधिकार देनेवाली जातिभेद की प्रथा तथ्यविहीन और अन्यायकारी है।

७. अपने इतिहास की ओर देखें तो आज जो जातियाँ रक्तबीज के कारण भिन्न हैं, जैसाकि हम समझते हैं, वे मूलत: ही सम्मिश्र थीं यह स्पष्ट दिखता है। पूर्व में चार वर्णों की चार हजार उपजातियाँ नहीं थीं माने उनके उस समय आपस में विवाह होते थे और उन चारों वर्णों में भी परस्पर बेटी-व्यवहार निषिद्ध नहीं था। पितृ सावर्ण्य, मातृ सावर्ण्य, अनुलोम और प्रतिलोम इन चार स्मृति प्रतिपादित प्रथाओं के ये चार नाम ही निर्विवाद रूप से यह सिद्ध करते हैं कि चारों वर्णों में रक्तबीज परस्पर घुले-मिले हैं। इसीलिए अमुक जाति में अमुक गुण जन्मत: ही होते हैं—इसका अनुभव नहीं होता।

आनुवंश के नैसर्गिक नियमों की ये सब सीमाएँ और दोष ध्यान में लें तो आनुवंश के कारण गुण-विकास होना ही चाहिए, यह समझने में हमारी कितनी बड़ी भूल हो रही है, यह समझ में आ जाता है। इस कारण जाति से गुण की पहचान न कर गुण से जाति की पहचान करना अधिक उचित है। अमुक एक क्षत्रिय का पुत्र है तो वह वीर होगा ही—ऐसा न मानकर और वीरता का पदक उसका जन्मजात अधिकार है, इसलिए उसके नाम संस्कार के दिन ही उसके सीने पर न लटका, अमुक एक वीर व्यक्ति है ऐसा प्रमाणित हो जाने पर ही, उसे क्षत्रिय मानकर वीरता का पदक देना उचित है, फिर वह वीरता उसमें बीज से आई हो या संकर से।

उसी तरह किसी गुण का विकास या दृढ़ीकरण करने के लिए भी जिस व्यक्ति में वह गुण साफ-साफ दिखाई दे रहा हो उससे विवाह करना अधिक उपयोगी होगा। गोरा पुत्र चाहिए तो वधू-वर का रंग गोरा है कि नहीं, यह देखकर ही चुनाव करें तो संतान गोरी होने की संभावना अधिक होगी। परंतु ब्राह्मण जाति की मानकर स्पष्ट काले-कलूटे दिखनेवाले वर-वधू को गोरा मानकर विवाह किया तो वह गोरी संतान प्राप्त करने का सुरक्षित रास्ता नहीं होगा। यही बात अन्य गुणों की है। एक बार प्रत्यक्ष गुण से आनुवंश का अनुमान लगाया जा सकता है, परंतु केवल माने हुए आनुवंश से गुण सुनिश्चित नहीं किया जा सकता।

जन्मत: जातियों का उच्छेद और गुणानुरूप जाति का उद्धार

उपर्युक्त और यहाँ अनुल्लेखित ऐसे अनेक कारणों का विचार कर जातिभेद के विकृत स्वरूप से छुटकारा पाने की एक मोटी योजना हम नीचे दे रहे हैं। हमारी

ऐसी निष्ठा है कि प्रस्तुत योजना से जितना भी कार्य हुआ तो आज के जातिभेद के विषैले कीड़े से अपना समाज मुक्त किया जा सकेगा। जन्मत: जाति का उच्छेद और गुणानुरूप जाति के उद्धार का यह सूत्र कार्य में लाना कठिन नहीं है, क्योंकि जातिभेद का मुख्य आधार केवल भावना है।

आज उसके पीछे और कोई भी शक्ति खड़ी नहीं है; हमारे मानने में ही उसका सच्चा जीवन है और उसका सच्चा मरण हमारे न मानने में है। इसलिए वह जाति अहंकार की भावना हम त्याग दें तो उसकी मृत्यु निश्चित है। इसलिए जिसे आज की इस विकृत जातिभेद की अनिष्ट पीड़ा से मुक्ति चाहिए, वह कम-से-कम निम्न योजना के अनुसार स्वयं का आचरण रखे तो भी काम हो जाएगा। इससे यह जन्मजात जातिभेद सहज ही टूट सकता है। जिस जातिभेद की हम चर्चा कर रहे हैं, वह हिंदू समाज का जातिभेद है; अत: निम्न चर्चा का संबंध हिंदुओं से ही है—यह स्पष्ट है।

जन्म से शिशु की एक ही जाति-हिंदू

१. अमुक हिंदू जाति जन्मत: उच्च और अमुक जन्मत: नीच यह भावना कोई हिंदू कभी भी मन में आने न दे। श्रेष्ठता-नीचता व्यक्ति के प्रकट गुणों से तय होनी चाहिए। यदि किसी व्यक्ति का आनुवंश उच्च होगा तो उसमें उच्च गुण प्रकट होंगे ही। यदि गुण प्रकट न हों तो उस आनुवंश या परिस्थिति में कुछ-न-कुछ दोष है—यह मानना होगा।
२. जन्म से हर हिंदू लड़के की एक ही जाति होगी—हिंदू! इसके सिवाय दूसरी उपजाति मानी न जाए। 'जन्मना जायते हिंदू'। (वास्तव में जन्म से तो मनुष्य की जाति एक ही है—'मनुष्य'! परंतु जब तक मुसलमान-ईसाई आदि विधर्मीय लोग उस उच्च ध्येय को छोड़ जन्म से अपनी जाति मुसलमान या ईसाई मानते हैं और हिंदुओं को खा जाना चाहते हैं तब तक स्वसंरक्षणार्थ जाति के इस अहंकार का सापेक्षतया पालन करना ही होगा। हर समय और जनगणना में अपनी जाति हिंदू ही लिखाएँ, अन्य सब उपभेद धंधा-व्यवसाय माने जाएँ।)
३. हर हिंदू को वेद सहित सब हिंदू धर्मग्रंथ पढ़ने और सीखने तथा इच्छानुसार संस्कार भी वेदोक्त रीति से करवाने का, करने का अधिकार हो। पुरोहिती किसी एक जाति की जन्मजात विरासत नहीं है। जो हिंदू पुरोहिती की योग्यता प्राप्त करे या परीक्षा उत्तीर्ण करे, वह पुरोहित हो, हो सकता हो; जाति से नहीं अपितु 'तस्मच्छीलगुणैर्द्विज:'।

४. हिंदुओं के विशिष्ट तीर्थक्षेत्र, मंदिर और पवित्र ऐतिहासिक स्थान (जैसे नासिक, पंचवटी के राम, सेतुबंध रामेश्वर) जाति-वर्ण निर्विशेषता से स्पृश्य-अस्पृश्य सब हिंदुओं को समान रूप से खुले हों।

५. प्रत्यक्षावलंबी सुजननशास्त्र की दृष्टि से योग्य किसी भी हिंदू वधू-वर का विवाह, वह जन्मजात भिन्न मानी हुई जाति में हुआ है इसलिए निषिद्ध और बहिष्कार योग्य न माना जाए। (यह नियम निषेधात्मक है।) ब्राह्मण और महार के बीच विवाह संबंध होना ही चाहिए ऐसा नहीं। परंतु यदि गुण, शील, प्रीति आदि दृष्टि से परस्पर अनुकूल वधू-वर (ब्रह्मण-महार) विवाह करें तो उनकी जातियाँ भिन्न हैं, इसलिए वह विवाह निषिद्ध न माना जाए।

६. वैद्यकशास्त्र की दृष्टि से जो शुद्ध और आरोग्यप्रद है उसकी दृष्टि से योग्य किसी भी व्यक्ति के साथ माने एक थाली में नहीं तो एक पंगत में भोजन करने में हानि न मानी जाए। पड़ोस में बैठकर भोजन करने से जाति अगली कई पीढ़ियों के लिए बदल जाती है, यह कल्पना पागलपन की है। मांसाहारी-मांसाहारी एक पंगत में बैठें तो उत्तम और वैसे ही शाकाहारियों की भी पंगत हो सकती है। सुपाच्य और रुचिकर अन्न-सहभोजन में कोई हानि न मानी जाए। पूर्व में अर्थात् महाभारत काल में चारों ही वर्णों के सहभोजन होते थे। 'शूद्राः पाककर्तारः स्युः' (आपस्तंब) या 'दासनापितगोपालाः कुल मित्रार्धसीरिणः। एते शूद्रेषु भोज्यान्नः ॥' ऐसे सैकड़ों वचन हैं।

शाकों में अति तामसी गुणवाले शाक भी होते हैं। वे मांसाहारी जो हमेशा ही मांस नहीं खाते, शाकाहारियों की पंगत में बैठ सकते हैं।

७. धार्मिक समानता के साथ प्राथमिक सामान्य शिक्षा हर हिंदू को दिए जाने के बाद जैसे गुण या प्रवृत्ति प्रकट हो वैसा व्यवसाय हर हिंदू करे। आज सबको व्यवसाय स्वतंत्रता है। ब्राह्मण जूते बेचते हैं, चमार उत्तम शिक्षक होते हैं। अब सुधार जो अपेक्षित है वह इतना ही कि प्रत्यक्ष व्यवसाय भिन्न होते हुए भी मूल व्यवसाय की जो मानी हुई रोटी-बेटीबंद जाति है और उसके पीछे ही पड़े रहने की जो प्रवृत्ति है, उसे टाला जाए। माने जाति दरजी, व्यवसाय सुनार; जाति ब्राह्मण, व्यवसाय दुकानदारी यह जो गड़बड़झाला है वह टूटेगा। सबकी जाति हिंदू, व्यवसाय जो कुछ होगा वह होगा।

बैरिस्टर और वाहन चालक

अब इस चर्चा का मंतव्य संक्षेप में शीघ्र ध्यान में आ जाए, इसलिए एक-दो उदाहरण देकर यह लेखमाला समाप्त करें। जो बातें बचपन से हमें अच्छी

कहते हुए बताई जाती हैं उनकी हास्यास्पदता तत्काल ध्यान में नहीं आती। इसलिए इन उदाहरणों में पुरानी जाति का उदाहरण न लेते हुए अर्वाचीन, बिना जाति व्यवसायों को दिखाया गया है कि जिससे हास्यास्पदता तत्काल दिख जाए। नए व्यवसाय जैसे बैरिस्टरी एवं मोटर चालक व्यवसाय का उदाहरण लें। मानो एक बैरिस्टर हो गया और दूसरा वाहन चालक। अब केवल रोटीबंदी से उनके वंश में वह गुण विकसित होता है। इस पुरानी कल्पना के अनुसार उनकी तुरंत एक व्यवसायनिष्ठ जाति बन जानी चाहिए और उस बैरिस्टर के लड़के को जन्मतः बैरिस्टर मानना चाहिए जैसे ब्राह्मण के लड़कों को ब्राह्मण कहा जाता है। आगे उस बैरिस्टर के पुत्र-पौत्र को बैरिस्टरी की पढ़ाई न करते हुए भी बैरिस्टरी के चोगे, प्रमाण-पत्र, सम्मान एवं अधिकार दिए जाएँ। उस बैरिस्टर ब्राह्मण या वाहन चालक ब्राह्मणों के विवाह अन्य बैरिस्टर या चालक ब्राह्मणों से ही किए जाएँ। इतना ही नहीं, उनका खान-पान भी उन्हीं की नई जाति में हो। फिर कालांतर में उनके वंश में किसी ने दुकानदारी या बाबूगिरी की तो भी उनकी रोटीबंद-बेटीबंद जाति बैरिस्टरी या वाहन चालक ही रहेगी।

डॉक्टर की संतान की जाति जन्मजात डॉक्टर। मरणासन्न व्यक्ति की नाड़ी देखने का पहला जन्मजात अधिकार उस जाति के डॉक्टर को, फिर चाहे उसे डॉक्टरी विद्या की गंध भी न हो। आज जो नए व्यवसाय प्रचार में आ रहे हैं उनकी भी रोटीबंद-बेटीबंद जन्म-जातियाँ हो जाएँ तो—'वचनात्प्रवृत्तिर्वचनान्निवृत्तिः' कहकर गर्जन करनेवाले वर्णाश्रम संघवाले पंडित भी उसे हास्यास्पद पाखंड कहेंगे। फिर आज जो दरजी, सुनार, ठठेरा, बढ़ई, लुहार आदि जन्म-जातियाँ हैं; परंतु जो अन्य व्यवसाय करती हैं उनकी भी स्थिति एक हास्यास्पद पाखंड जैसी है। पर हम कहते हैं उस नई व्यवस्था में किसी ने बैरिस्टरी परीक्षा उत्तीर्ण की तभी वह बैरिस्टर होगा, उस वर्ग के संघ का, बाररूम का वह सदस्य होगा। आनुवंशिक गुण-विकास से उसके पुत्र में वह गुण आएगा और वह भी बैरिस्टर हो गया तो वह संघ (बाररूम) में जाएगा। पर यदि वह झाड़ूवाला बना तो उसका पड़बाबा बैरिस्टर या लड़ाकू क्षत्रिय था, इसलिए उसे बैरिस्टर या क्षत्रिय नहीं माना जाएगा या व्यवसाय अमुक है इसलिए अन्य व्यवसायवालों से उसका रोटी-बेटी व्यवहार केवल मानी हुई जाति भिन्नता के कारण बंद पड़ने का कारण नहीं रहेगा।

इस तरह प्रत्यक्ष गुणनिष्ठ वर्गीकरण के कारण आज के जन्मजात वर्गीकरण द्वारा किया गया सबगोलंकार टूटता है, वही वे सबगोलंकार तोड़नेवाले को सबगोलंकार करनेवाले कहते हैं।

इसपर भी किसी को ऐसा डर हो कि पोथीजात जातिभेद छोड़ दें तो समाज

की भयंकर अवनति होगी, तो वे मन में इतना ही विवेक धरें कि यह पोथीजात जातिभेद की बला पृथ्वी के किसी भी धुरंधर राष्ट्र में रूढ़ नहीं है। जापान, रूस, ईरान, तुर्किस्तान, इंग्लैंड, अमेरिका, जर्मनी इन सबको ऐसा जातिभेद समाज में करना आवश्यक नहीं लगा। उनके व्यवसाय जन्मजात नहीं हैं, इसलिए उनके ज्ञान, बल, संगठन में जातिभेद नहीं है इसलिए दुर्बलताएँ हैं क्या? उलटे आज इन सब गुणों में वे हमसे हजारों गुना उन्नत, संपन्न और प्रबल हैं और सामाजिक उन्नति का सनातन मंत्र मानकर जिस जातिभेद को हम चिपकाए बैठे हैं वह हमें ही चारों खाने चित कर हमारी छाती पर चढ़ा हुआ है। इसलिए इस एक प्रथम प्रत्यक्ष तथ्य से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि जातिभेद सामाजिक प्रतिष्ठा का एकमेव मंत्र नहीं है। अवनति का वह एक बीजमंत्र है, ऐसी शंका अवश्य आ सकती है। क्योंकि आज के ज्ञात राष्ट्रों में हम ही केवल सबसे नीचे और सबसे पद-दलित हैं।

अंत में, लोकहितार्थ अपरिहार्य मानकर परोसी हुई यह लेखमाला लिखने का कटु कर्तव्य करना पड़ा। मुझे अपनी बात कहने के लिए केसरी (समाचारपत्र) ने बिना किसी पक्षपात के स्थान दिया, इसलिए उनके प्रति आभार प्रकट कर और यह कहते हुए कि इस लेखमाला को पुस्तक रूप में जल्द ही प्रकाशित करने की इच्छा है, यह लेखमाला समाप्त करते हैं।

(केसरी, ५.५.१९३१)

□

प्रकरण—२

पोथीजात जातिभेद-भंजक सामाजिक क्रांति घोषणा : तोड़ डालो ये सात स्वदेशी बेड़ियाँ

'तस्मान्न गोऽश्ववत् कश्चिज्जतिभेदोऽस्ति देहिनाम्।
कार्यभेदनिमित्तेन संकेतः कृत्रिमः कृतः ॥१॥'

(भविष्य पुराण, अ. ४०)

नए-पुराने मत के अनेक लोगों द्वारा हमसे बार-बार यह पूछा जा रहा है कि श्रीमान्, आपके इस जन्मजात जातिभेद-तोड़क आंदोलन के घटक कौन से हैं? इन जातियों को तोड़ने के लिए क्या-क्या करना है? वैसे ही जाति तोड़ना वास्तव में क्या तोड़ना है और क्या रखना है? इस सबके सूत्र क्या हैं? कार्यक्रम क्या हैं?

उपर्युक्त सहज, उचित एवं अपरिहार्य शंकाओं या आपत्तियों के समाधानार्थ इस लेख में हम आज हिंदू राष्ट्र को छिन्न-भिन्न कर डालने में कारणीभूत हुए और हो रहे, आज के पोथीजात जातिभेद को तोड़ने के लिए हिंदुओं को जो आंदोलन करना चाहिए, जो एक सामाजिक क्रांति घटित करनी चाहिए उसके मुख्य सूत्र एवं कार्यक्रम की रूपरेखा यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. पहली बात तो यह कि आज हम हिंदुओं में जिसे जन्मजात जातिभेद कहा जाता है वह वास्तव में पोथीजात है। मद्रासी ब्राह्मणों की अपेक्षा मराठी चमार गोरे होते हैं। महार जैसी निकृष्ट समझी जानेवाली जाति में चोखा मेला जैसे संत एवं डॉ. अंबेडकर जैसे विद्वान् पैदा होते हैं तो उत्तर हिंदुस्थान में सैकड़ों ब्राह्मण पीढ़ी-दर-पीढ़ी खेती करते हैं और निरक्षर होते हैं। ब्राह्मण दरजी की, सुनार की या जूते-चप्पलों की दुकानें चलाते हैं तो दरजी, सुनार, बनिया आई.सी.एस., एम.ए. आदि

पदवीधारी हो जाते हैं। जाट लोगों को राजपूत इतना हीन मानते हैं कि यदि कोई जाट किसी राजपूत के घोड़े पर बैठ जाए तो मारपीट के बाद जाति बहिष्कार भी हो जाता है। पर वही जाट यदि सिख बन जाए तो उसे क्षत्रियों में प्रखर क्षत्रिय कहा जाता है। पठानों को कभी भी राजपूत हरा नहीं पाए, पर जाट से सिख बने क्षत्रियों ने उनकी ऐसी-तैसी कर कश्मीर-काबुल तक अपना राज्य विस्तार किया। केवल जाट ही नहीं, निम्नवर्ग जाति के हजारों हिंदू सिख बने और सिंग-सिंह हुए। सिखों में तत्त्वतः कोई जात-पाँत नहीं है। पर हमारा (जाति का) ठप्पा लगे क्षत्रियों से उनका बल, तेज एवं पराक्रम कम नहीं है। कायस्थों को 'शूद्र' माना जाता है, पर बंगाल के विवेकानंद, अरविंद, पाल, घोष, बोस आदि कायस्थ; बुद्धि में, विद्या में बंगाली ब्राह्मणों से आगे ही रहे हैं। पानीपत का सेनापति भाऊ ब्राह्मण, 'यातिशूद्र वंश' तुकाराम परम संत। इन सब अखंडित साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि पाँच हजार वर्ष के पूर्व क्या था और क्या नहीं था। उसे भी छोड़ें तो आज जो जातियों में भिन्नता मानी जाती है उनमें वर्ण या गुण या कर्म आदि के आधार पर संघशः ऐसी कोई भी निश्चित 'जन्मजात' भिन्नता दिखती नहीं है। वे जातियाँ जन्मजात न होकर आज केवल 'पोथीजात' रह गई हैं। कोई भी विशिष्ट उच्चता जन्मतः न होते हुए भी चूँकि पोथी में उच्च जात कही हुई है, अतः जिस घर के दरवाजे पर 'ब्राह्मण' का पट लगा हुआ है उस घर में जन्म लेनेवाला ब्राह्मण और वैसे ही क्षत्रिय। यह परिस्थिति यथार्थ रूप में व्यक्त की जा सके, इसलिए हमने नया शब्द बनाया 'पोथीजात'। आज का जातिभेद यद्यपि जन्मजात कहा जाता है तो भी वास्तव में वह जन्मजात न होकर केवल पोथीजात है। केवल माना हुआ, झूठा-खोटा।

२. अतः कोई भी जाति या व्यक्ति केवल अमुक एक गुट में जनमा या गिना गया, इसलिए ही उच्च या नीच माना न जाए और उस स्वभाव का गुण-विकास होने या करने का अवसर समानता से उसे दिया जाए। आनुवंशिकता (Heredity) गुण-विकास का एकमात्र घटक नहीं है और पर्यावरण (Environment) भी एक महत्त्व का घटक है। किसी का पड़बाबा बुद्धिमान् और शूर था, इसलिए उसका पौत्र या उसके बाद के वंशज प्रत्यक्षतः मूर्ख एवं डरपोक होते हुए भी बुद्धिमान् और वीर होंगे ही—ऐसा मानकर उसे प्रधानमंत्री या सरसेनापति नियुक्त

करनेवाले राष्ट्र को धूल में मिलना ही चाहिए। मोटर में बैठना है तो वाहन चालक को इसकी अनुमति मिली है या नहीं, यह पूछना ही होगा। उसका बाबा चालक था इसलिए केवल आनुवंश के आधार पर वाहन चलाने की कला से अवगत न होते हुए भी उसे गाड़ी सौंपकर उसमें यात्रा के लिए निकलना जैसी आत्मघाती मूर्खता है वैसी ही अमुक एक पोथीजात जाति में जनमा है, इसीलिए उच्च या नीच मानना और उसे वे जन्मजात विशिष्टाधिकार देना राष्ट्रघाती मूर्खता है। प्रकट गुणों के आधार पर आनुवंशिकता मानी जानी चाहिए। मानी हुई आनुवंशिकता के आधार पर गुण नहीं माने जाने चाहिए।

३. मनुष्यकृत, परिवर्तनीय और प्रसंग से परस्पर विरोधी ग्रंथों में क्या कहा गया है, उस आधार पर ही कोई धारणा (इष्ट या अनिष्ट) उचित या अनुचित निश्चित न करते हुए यह देखा जाए कि वह विशिष्ट धारणा उस विशिष्ट परिस्थिति में राष्ट्रधारणा के लिए हितकर है या नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण से इसपर विचार करें और परिस्थिति बदलते ही विधियाँ भी बेधड़क बदली जाएँ।

४. प्राचीन धर्मग्रंथों में दिए कुछ या सारे निर्बंध या विचार या नियम आज की परिस्थिति में भले ही त्याज्य हो गए हों, परंतु उस प्राचीन परिस्थिति में अर्थात् जब वे बने या बनाए गए तब राष्ट्रधारणा का कार्य करने में उनमें से कितने ही आचार एवं विचार कारण हुए हैं, इसलिए उस राष्ट्रीय ग्रंथ संपत्ति को हमें ऐतिहासिक कृतज्ञता से एवं स्वाभिमान तथा ममत्व से आदरणीय एवं संरक्षणीय ही मानना होगा। इतना ही नहीं अपितु विश्व में उस काल के राष्ट्रों से तुलना करें तो हमारे राष्ट्र ने संपत्ति का, सामर्थ्य का एवं संस्कृति का जो अति उच्च शिखर स्पर्श किया उस राष्ट्रीय पराक्रम और यश का श्रुति, स्तुति, पुराण, इतिहास आदि प्रचंड संस्कृत वाङ्मय किसी हिमालय जैसा मूर्तिमंत स्मारक है और उसी दृष्टि से हम उसे आदरणीय एवं पवित्र भी मानें।

५. इसलिए अपनी श्रुति, स्मृति आदि में वर्णित शास्त्रों का अथाह अनुभव एवं विविध प्रयोगों का सारांश ध्यान में रखें, परंतु उनकी बेड़ियाँ पैर में न डालकर इस पोथीजात जातिभेद को तोड़ने के लिए आज की परिस्थिति में विज्ञान की कसौटी पर खरी उतरनेवाली समाज धारणा को हम तत्काल अंगीकृत करें। उसके लिए 'शास्त्राधार' है क्या? यह प्रश्न गौण है। हमारे हिंदू राष्ट्र के गठन एवं अभ्युदय के लिए कौन सा

सुधार आज की परिस्थिति में आवश्यक है? यह प्रश्न ही मुख्य है—फिर उसे शास्त्राधार प्राप्त हो या न हो। भूतकाल का अनुभव ध्यान में लेते हुए यथासंभव भविष्य के क्षितिज की जाँच करें और आज की परिस्थिति में विज्ञान की कसौटी पर खरी उतरनेवाली समाज धारणा को हम तत्काल लागू करें। चूँकि इस पोथीजात जातिभेद से अपने हिंदू राष्ट्र की हानि-ही-हानि हो रही है; चूँकि इस पोथीजात जातिभेद से मंदिरों में, रास्तों में, घरों में, नौकरियों में, ग्राम-संस्थाओं में, नगर-संस्थाओं में, विधि मंडलों में, विधि समितियों (कौंसिल, असेंबली) में हिंदू जाति के टुकड़े-टुकड़े कर आपस में कलह-ही-कलह फैलाकर अहिंदू आक्रमण का सामना करने की संगठित शक्ति हिंदू राष्ट्र में उत्पन्न होना दुष्कर कर दी गई है; इस सड़े हुए पोथीजात जातिभेद से जो कुछ तथाकथित लाभ आज भी हो रहे हैं, ऐसा लगता है, वे अन्यथा होनेवाली अमर्यादित राष्ट्रीय प्रगति की तुलना में एकदम तुच्छ हैं; अत: इस पोथीजात जातिभेद को आमूलचूल उखाड़ना ही आज के अपने हिंदू राष्ट्र के उद्धार का एक आवश्यक कार्य हो गया है। सारा यूरोप, सारा अमेरिका इस तरह के पोथीजात जातिभेद की व्याधि से मुक्त होने के कारण ही मुक्त है या इसीलिए निरंतर समर्थ, स्वतंत्र, सबल रहते हुए उन्नति की ओर अग्रसर है और हम उसे सीने से लगाए हुए हैं, इसीलिए निरंतर विघटित, परतंत्र, दुर्बल होते जा रहे हैं। वास्तव में राष्ट्रीय बल-संवर्धन एवं अभ्युदय के लिए जातिभेद की इस व्याधि की अपरिहार्य आवश्यकता नहीं है, उलटे इससे बाधाएँ ही खड़ी होती हैं—यह स्पष्ट है। पिछले शास्त्राधार हों या न हों, आज की आवश्यकता है, इसीलिए इस पोथीजात जातिभेद को पूरी तरह उखाड़ना ही चाहिए।

सात स्वदेशी बेड़ियाँ

उसे उखाड़ने के लिए हमें सात बेड़ियाँ तोड़नी होंगी। अपने राष्ट्र के पैरों में जो विदेशी बेड़ियाँ हैं, उन्हें तोड़ने की क्षमता, हमने अपने पैरों में धर्म के नाम पर जो बेड़ियाँ स्वेच्छा से डाल रखी हैं उन्हें तोड़ने से हममें अधिक संचरित होंगी। उसमें भी निम्न सात स्वदेशी बेड़ियाँ तोड़ना पूरी तरह अपने हाथों में है। हम कहें कि 'टूटो' तो वे टूटनेवाली हैं। जब तक वे बेड़ियाँ पैर में हैं तब तक 'विपक्ष' हमें चलते, चढ़ते ठोकर-पर-ठोकर मार सकता है। पर हम उन्हें तोड़कर निकल पड़े तो

'विपक्ष' का यह साहस नहीं रहेगा कि वह बलपूर्वक हमें बाँधे रखे। अस्पृश्यता को जब तक हम मान रहे हैं तब तक इस हिंदू राष्ट्र में स्पृश्य एवं अस्पृश्य का भेद बढ़ा-चढ़ाकर तथा उन्हें जातिवार प्रतिनिधित्व देकर उनमें परस्पर कलह बढ़ाकर राष्ट्रशक्ति के टुकड़े विपक्षीय अवश्य करेंगे। पर जो अंगुली हम कुत्ते को बिना मन के भ्रम के छुआते हैं वही अपने स्वयं के बीज को, धर्म और राष्ट्र सहोदर, उन अस्पृश्यों को लगाकर बड़ी ही सरल युक्ति से उस अस्पृश्यता को ही निकालकर फेंक दें और स्पर्शबंदी की बेड़ी तोड़ दें, तो तीन-चार करोड़ धर्मबंधुओं को हमसे कौन सा विपक्षीय अलग कर सकेगा? स्पृश्य-अस्पृश्य का यह विघटक विभाग तो चुटकी से ही नामशेष हो जाएगा, वही बात अन्य बेड़ियों की है।

जातिभेद तोड़ने के लिए और कुछ नहीं करना

जो सात बेड़ियाँ हमें तोड़नी हैं वे बेड़ियाँ हमने अपने-आप ही अपने पैरों में डाली हैं, किसी विदेशी शक्ति ने नहीं डालीं। ऐसा होता तो उन्हें तोड़ना कठिन होता। पर उन्हें तो हम ही अपने हौंस से अपने पैरों में डाले हुए हैं। इसीलिए तो हम उसे स्वदेशी बेड़ियाँ कह रहे हैं। केवल हम हौंस छोड़ दें तो वे टूट जाएँगी। अपने-अपने मन से हर कोई संकल्प कर यह कहे कि 'मैंने निम्न सात बेड़ियाँ अपने राष्ट्र के पैरों से तोड़ डालीं' और अपने उस संकल्प के अनुसार अपने व्यवहार से उन सात बेड़ियों की चिंता नहीं की कि हो गया। पोथीजात जातिभेद तो एक मनोरोग है। मन नहीं माने तो वह तुरंत ठीक हो जाता है। जिन सात स्वदेशी बेड़ियों को तोड़ने से, पोथीजात जातिभेद की व्याधि से या भूतबाधा से यह हिंदू राष्ट्र मुक्त हो सकता है; वे सात बेड़ियाँ निम्न हैं—

१. **वेदोक्तबंदी**—यह पहली बेड़ी है जिसे तोड़ना चाहिए। सारे हिंदुओं का वेद आदि समस्त धर्मग्रंथों पर समान अधिकार होना चाहिए। वेदों का अध्ययन या वेदोक्त संस्कार, जिसे इच्छा हो उसे करना चाहिए। म्लेच्छ लोग यदि वेद पढ़ सकते हैं तो स्वयं के क्षत्रिय आदि धर्मबंधुओं को भी वेद आदि पढ़ने का अधिकार नहीं है, ऐसा कहनेवाली पंडेबाजी इसके बाद नहीं चलनी चाहिए। वैसे ही क्षत्रिय आदि 'स्पृश्यों की अस्पृश्यों' पर चलनेवाली डंडेबाजी भी बंद होनी चाहिए। उलटे वेदादि ग्रंथ सारी मानवजाति के लिए खुले कर विश्व में वैदिक अध्ययन फैलाने से ही 'वैदिक' धर्म की दृष्टि से भी हम सच्ची विजय प्राप्त करेंगे।

२. **व्यवसायबंदी**—यह दूसरी बेड़ी है जो तोड़नी चाहिए। व्यक्ति को जो

व्यवसाय करने की हिम्मत और इच्छा हो, उसे वह करने की छूट होनी चाहिए। अमुक पोथीजात जाति में जनमा इसलिए वह वही व्यवसाय करे, नहीं तो वह जाति-बहिष्कार का भागी होगा, ऐसा अत्याचार नहीं होना चाहिए। स्पर्धा का डर न हो तो जन्म से ही किए जानेवाले व्यवसाय एवं कार्य संबद्ध वर्ग उचित दक्षता से नहीं कर पाते। जैसे पुरोहित, पुजारी, भंगी, राजा आदि। इसके आगे भी वही पुरोहित चलना चाहिए जिसने पुरोहिती के लिए उचित विद्या प्राप्त कर परीक्षा उत्तीर्ण की है, चाहे वह किसी भी जाति का हो। पंडा परीक्षा जो उत्तीर्ण करेगा वह पंडागिरी करेगा। वैसे ही भंगी का। समाजोपयोगी सारे व्यवसाय निर्दोष हैं। आज व्यवसायबंदी टूटी हुई है। पंडागिरी एवं भंगीगिरी अवश्य अभी भी जातिबद्ध धंधे हैं। वे भी टूटने चाहिए। जातियों की मानी हुई योग्यता से व्यवसाय बँधा न रहना चाहिए। उन्हें प्रत्येक व्यक्ति के प्रकट गुणों पर आधारित होना चाहिए। इससे योग्य व्यक्तियों के उचित कार्य में लगकर राष्ट्रकार्य अति दक्षता से करने की संभावना अधिक रहती है। डॉ. अंबेडकर महार जाति के थे, जो मुख्यत: मृत पशुओं का चमड़ा खींचने का काम करती है। डॉ. अंबेडकर वही कार्य करते रहने को बाध्य होते तो देश एक उच्च विधिवेत्ता और राजनीति के महापंडित से वंचित रह जाता। इसके विपरीत जिन पंडों की या क्षत्रिय आदि स्पृश्यों की योग्यता मृत पशु का चमड़ा खींचने की है, उसे पुरोहित या सैनिक बनाना, उस कार्य का नाश करने जैसा ही है। राष्ट्रीय शक्ति का मितव्यय एवं क्षमता बढ़ाने का उत्कृष्ट साधन माने प्रत्येक व्यक्ति के प्रकट गुणानुरूप उसे वह काम सौंपना है। आज का चमार का लड़का गुण के उत्कर्ष से कल प्रधानमंत्री हो सकता है, जैसे स्टालिन रशिया का हुआ, इसके विपरीत आज के प्रधानमंत्री का पुत्र चमड़े का बड़ा कारखाना लगा सकता है, चमार हो सकता है।

३. **स्पर्शबंदी**—यह तीसरी बेड़ी तोड़कर जन्मजात अस्पृश्यता का समूल नाश करना चाहिए। छूत केवल उस स्पर्श की मानी जाए जिससे आरोग्य को हानि हो। वैसे ही सारी छूत-अछूत की कल्पनाओं को चिकित्सा दृष्टि से ही देखा और माना जाना चाहिए। अस्पृश्य जाति की अस्पृश्यता तो केवल मानी हुई, मानवीयता पर कलंक है, वह तो तत्काल नष्ट होनी चाहिए। केवल इस एक सुधार के कारण करोड़ों हिंदू बांधव अपने राष्ट्र के साथ एक-जान होकर समा जाएँगे। अपने

पक्ष में भी उतने एकनिष्ठ सैनिक बढ़ेंगे और हिंदू राष्ट्र के आक्रमण और युद्ध में भिड़ जाएँगे।

४. **समुद्रबंदी**—यह चौथी बेड़ी काटकर परदेश-गमन खुला किया जाना चाहिए। परदेश-गमन को पापकर्म मानने की मूढ़ता जिस दिन या जिस अवधि में हमारे सिर चढ़ी, उसी दिन या अवधि में हमारा विशाल हिंदू राष्ट्र, जो मेक्सिको से मिस्र तक फैला हुआ था, परस्पर संपर्क से वंचित हो गया। विदेश व्यापार पूरा डूब गया, नौसैनिक बल भी डूबा। विदेशी शत्रु समुद्र पारकर हमला करने में समर्थ हो सके। इसके पूर्व ही इस बंधन को कुल्हाड़ी से काटा जाना आवश्यक था। विदेशी विद्याओं का संजीवनीहरण दुष्कर हो गया। आज भी जो लाखों हिंदू देश-विदेश में बसे हुए हैं, उनसे यदि संबंध अभंग न रखे गए तो वे हिंदू संस्कृति एवं हिंदू धर्म के मजबूत बंद टूट जाएँगे और वे भी हमसे दूर हो जाएँगे तथा अहिंदुओं के पेट में समाकर उनका बल बढ़ाएँगे। हजारों धर्मोपदेशक, हिंदू संगठक, हिंदू व्यापारी तथा वीर छात्रों की बड़ी संख्या विदेश में बसते और आते-जाते रहनी चाहिए।

५. **शुद्धिबंदी**—यह पाँचवीं बेड़ी तोड़कर पूर्व में परधर्म में गए या परधर्म में ही जनमे अहिंदुओं को हिंदू धर्म में समा लेने की कोशिश करनी चाहिए। इतना ही नहीं अपितु उन्हें हिंदू राष्ट्र में ममता से और समानता से संव्यवहार कर आत्मसात् कर लेना चाहिए। मुसलमान-ईसाइयों में हिंदू स्त्री-पुरुष धर्मांतरित होकर जाते ही जैसे पानी के समान मिल जाते हैं वैसे ही हम शुद्धिकृतों को समाज में आत्मसात् कर लें तो दस-बीस वर्षों के अंदर एक करोड़ अहिंदू लोग शुद्ध होकर हिंदू धर्म में आ सकते हैं। यह बात वसई, राजपूताना, आसाम, कान्हदेश, बंगाल आदि स्थानों पर शुद्धि कार्य करनेवाले महान् कार्यकर्ताओं ने बार-बार कही है। मंदिरबंदी, रोटीबंदी, बेटीबंदी की बाधाओं के कारण परधर्म में अटके हिंदुओं की इच्छा होते हुए भी अहिंदुओं के गुट में से कटकर इतना बड़ा संख्याबल अपने शिविर में आ नहीं पा रहा।

६. **रोटीबंदी**—इसी के लिए रोटीबंदी की छठी बेड़ी को भी तत्काल तोड़ना चाहिए। यदि यह एक बेड़ी तोड़ी गई; खाने से जाति नष्ट होती है, धर्म डूबता है यह मूर्खतापूर्ण राष्ट्रघातक एवं घृणा भाव छोड़ दें तो अन्य सब बेड़ियाँ एकदम टूट जाएँगी। क्योंकि इस रोटीबंदी के कारण

करोड़ों हिंदुओं ने केवल अकाल के समय ईसाइयों के हाथ से खाया इसलिए, घर पर गोमांस का टुकड़ा फेंका इसलिए, मुसलमानों ने दंगे में जबरन सैकड़ों हिंदुओं के मुँह में कौर ठूँसा, इसलिए वे हिंदू धर्म से ही कट गए। उनका बहिष्कार किया गया। वंश-परंपरा से हिंदू रहे करोड़ों लोग हमसे कट गए। शुद्धिबंदी, समुद्रबंदी वास्तव में इस रोटीबंदी की ही राक्षसी संतानें हैं। यह रोटीबंदी की इल्लत सहभोजन के घनप्रहार से तोड़ डालनी होगी। खाना-पीना वास्तव में वैद्यकशास्त्र का विषय है। वैद्यक दृष्टि से जो आरोग्यकर वही भोज्यान्न। किसी भी व्यक्ति के साथ खाने या पीने में हानि नहीं। उससे जाति नष्ट नहीं होती, धर्म नहीं डूबता। जाति रक्तबीज में होती है, भात के भगौने में नहीं। धर्म का स्थान हृदय है, पेट नहीं। जो सुस्वादु है, पाचन योग्य है वह किसी का हो, कहीं भी किसी के साथ भी मजे से खाना चाहिए। मुसलमान के साथ हिंदू खाए तो हिंदू का मुसलमान क्यों होगा, मुसलमान का हिंदू क्यों नहीं होता? सारे विश्व ने हिंदुओं का अन्न खा डाला, वे धर्मभ्रष्ट नहीं हुए, हिंदू नहीं हुए। इसलिए आगे उसी न्याय से अपना अन्न बचाओ और पराक्रम से विश्व को जीतकर विश्व का अन्न भी खाओ और हिंदू-के-हिंदू भी बने रहो। तभी हम जी सकते हैं।

७. **बेटीबंदी**—हिंदू राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े करनेवाली यह सातवीं स्वदेशी बेड़ी है। यह बेटीबंदी भी टूटनी चाहिए। इसके माने ये नहीं कि हर ब्राह्मण-क्षत्रिय वधू या वर महार-भंगी से ही विवाह करें या महार-भंगी वधू-वर अन्य निम्न जाति के वधू-वर से विवाह करें। ऐसा इसका विपरीत अर्थ नहीं है। गुण, शील, प्रीति अनुरूप हों तथा सृजन दृष्टि से उन्नततर संतति होने में बाधक न हो तो हिंदू जाति के वर-वधू से विवाहबद्ध होने में जन्मजात जाति का कोई बंधन रुकावट न हो। ऐसे विवाह का बहिष्कार न किया जाए, उलटे उसका सम्मान हो। परंतु अहिंदू से विवाह करना हो तो फिर वर्तमान स्थिति में उस अहिंदू व्यक्ति को हिंदू बना लेने के बाद ही ऐसा विवाह होना चाहिए। यह मर्यादा हिंदू राष्ट्र के हित में आज अपरिहार्य है। जब तक मुसलमान मुसलमान ही बना रहना चाहता है, ईसाई ईसाई, पारसी पारसी, ज्यू ज्यू, तब तक हिंदू भी हिंदू ही रहे। यह आवश्यक है, उचित है, इष्ट है। जिस दिन वे विधर्मीय गुट अपनी संकुचित दीवारें तोड़ एक ही मानव धर्म या मानव राष्ट्र में समरस होने में समानता से सिद्ध होंगे उस

दिन हिंदू राष्ट्र भी उसी मानव धर्म की ध्वजा के नीचे मानवमात्र से समरस होगा। वास्तव में मानव धर्म ही हिंदू धर्म की परम सीमा और परिपूर्णता मानी गई है।

उपर्युक्त सात स्वदेशी बेड़ियाँ, जो हमने ही अपने पैरों में बड़ी हौंस से डाल रखी हैं और जिन्हें खोलना आज भी अपने ही हाथ में है, उन्हें तोड़ते ही पोथीजात जातिभेद का विषैला दाँत टूट जाएगा। मूलभूत गुण न होते हुए भी जाति में जन्म के कारण विशिष्ट जातीय अधिकार या विशिष्ट हानि किसी के भी हिस्से में नहीं आनी चाहिए। फिर जाति के नाम कुल नाम, उपनाम या गोत्र नाम की तरह परिवार के साथ कुछ काल और चलें तो भी हानि नहीं।

पोथीजात जातिभेद के प्राणघातक लपेटों को तोड़-फोड़कर एक बार भी हिंदू राष्ट्र की संगठित शक्ति से हाथ-पैर खुले हो जाएँगे तो जिस बाह्य आपत्ति ने, जिन विदेशी बेड़ियों ने आज हमें कसकर रखा है, बाँधकर रखा है उस संकट से भी पलटकर टक्कर लेने के लिए अपना राष्ट्र आज की अपेक्षा सौ गुना अधिक शक्ति से भिड़ने में सक्षम हो जाएगा।

□

प्रकरण—३

अस्पृश्यता का पुतला दहन : रत्नागिरि में जन्मजात अस्पृश्यता का मृत्युदिवस

कर्मवीर अण्णा साहेब शिंदे, पुणे, का भाषण

जैसाकि पहले से उद्घोषित था, दिनांक २५.२.३३, शिवरात्रि का दिन रत्नागिरि के संगठनाभिमानी हिंदू समाज ने बड़ी धूमधाम से मनाया। दिनांक २१ की शाम पुणे के कर्मवीर विट्ठल रामजी शिंदे, मुंबई के प्रसिद्ध हिंदू नेता डॉ. सावरकर, श्री पुष्पाला, श्री राजभोज आदि डेढ़-दो सौ अतिथियों के जहाज से बंदरगाह पर उतरते ही श्रीमंत कीर सेठजी ने उन्हें माला पहनाकर स्वागत किया। इसके बाद उनको सम्मान से एक बड़ी शोभायात्रा में बंदरगाह से पतितपावन मंदिर में लाया गया। वहाँ चमार नेता श्री राजभोज सहित सबने सीधे गर्भगृह तक जाकर देवदर्शन किया, फिर सभा हुई। स्वातंत्र्य वीर बैरिस्टर सावरकर, श्री विट्ठल रामजी शिंदे आदि ने स्वागत भाषण किया, उसके बाद डॉ. सावरकर ने अतिथि नेताओं का रत्नागिरिवासियों को परिचय देते हुए कहा, "हिंदू संगठन हर हिंदू का धार्मिक ही नहीं, राष्ट्रीय कर्तव्य भी है और इस दृष्टि से हिंदू के रक्षणार्थ श्री पुष्पाला द्वारा मुंबई में किया गया प्रयास सभी हिंदू वीरों के लिए शोभादायी ही था।" कर्मवीर अण्णाराव शिंदे ने कहा कि 'अस्पृश्यता निवारणार्थ रत्नागिरि द्वारा किया गया उत्तम प्रयास देखने मैं स्वयं यहाँ आया हुआ हूँ। अस्पृश्यता उन्मूलन के भी आगे बढ़ जन्मजात जातिभेद का ही उन्मूलन करने के लिए आप सीना ताने इतना आगे बढ़ रहे हैं यह देखकर विस्मय होता है। यह विलक्षण मनःक्रांति रत्नागिरि जैसे पुराणप्रियता के नशे में डूबे नगर में हुई तो कैसे हुई, इसकी कुंजी मुझे इस आंदोलन के धुरंधर वीर बैरिस्टर सावरकर से लेनी है।

महाशिवरात्रि के दिन प्रात: ही श्री विट्ठल राव शिंदे, राजभोज आदि लोग समाज की मन:स्थिति को प्रत्यक्ष सूक्ष्मता से देखने महारों, चमारों आदि की बस्तियों में गए और वहाँ लोगों से चर्चा करके आए। दोपहर दो बजे अस्पृश्यता मृत्युदिवस के अवसर पर एक सभा हुई। भूसा भरा हुआ एक काला-कलूटा पुतला बीच में रखा हुआ था। यही था वह अस्पृश्यता रूढ़ि राक्षसी का पुतला, जिसे युवा हिंदूसभा जलाकर भस्म करने को आतुर थी। सारे नेता लोगों के आते ही स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने तरुणों का आह्वान करते हुए भाषण दिया कि इस पुतले का दहन करने के पूर्व आपने अस्पृश्यता को अपने मन से ही नहीं अपितु आचरण से भी सचमुच में नष्ट कर दिया है, यह मैं गत दो वर्षों से देख रहा हूँ, इसलिए मैं यह पुतला जलाने की अनुमति आपको दे रहा हूँ। अस्पृश्यता के माने हैं—कुछ विशिष्ट जातियों को जन्म से ही न छूने का उन जातियों के सिर पर लगाया हुआ प्रतिबंध, वह रूढ़ि। सन् १९३० से महार, चमार, मेहतर आदि न छुए जानेवाले हिंदू बंधुओं को आपने केवल सार्वजनिक स्थानों पर ही नहीं वरन् नब्बे प्रतिशत घरों में भी अन्य स्पृश्यों की तरह खुले रूप में प्रवेश देकर जन्मजात अस्पृश्यता को मृत्यु की ओर बढ़ाया है। उसी वर्ष से रत्नागिरि का जन्मजात अस्पृश्यता उन्मूलन का आंदोलन, जातिभेद के ही उन्मूलन का आंदोलन हो गया। अस्पृश्यों-स्पृश्यों से जो 'छूत' आड़े आती थी उसे तोड़कर अस्पृश्यों को सन् १९३० से ही आपने पूर्वास्पृश्य बनाया। अस्पृश्यता तो जन्मजात जातिभेद नामक विषवृक्ष की मात्र एक शाखा थी और आप तो जातिभेद की जड़ पर ही सामाजिक क्रांति की कुल्हाड़ी मार रहे हैं। रत्नागिरि के तरुण हिंदुओं में से नब्बे प्रतिशत तरुण सहभोज में प्रत्यक्ष हिस्सा लेते हैं। महार, भंगी बंधुओं के साथ छुआछूत छोड़कर प्रत्यक्ष खान-पान करनेवाले ये युवा केवल सैद्धांतिक नहीं अपितु आचरण में भी रोटीबंदी तोड़कर दिखानेवाले हैं। इस तथ्य को मैंने परखा है। मालवीयजी केलकर के हाथों का पानी नहीं पीते, ऐसी स्पृश्यों के बीच चालू अस्पृश्यता को, उसी पोथीजात जातिभेद को तुम रत्नागिरि के हिंदू युवा प्रत्यक्ष में नष्ट कर रहे हो, इसलिए तुम्हें यह अस्पृश्यता का पुतला जलाकर उस रूढ़ि की, रत्नागिरि की सीमा में ही सही, मृत्यु घोषित करने का अधिकार है। तुमने पहले कर दिखाया, फिर देश को बता रहे हो कि रत्नागिरि ने एक राष्ट्रीय प्रश्न को अपनी सीमा में ही सही, हल कर लिया है। रत्नागिरि नगरी 'अस्पृश्यता के पाप से मुक्त हो गई है' यह उद्घोषणा इस पुतले में लगी आग सारे देश में घोषित करे। इस आग में यह पुतला ही नहीं अपितु तुम्हारे मन का सात हजार वर्ष पुराना वह दुष्ट संस्कार भी जलकर राख हो जाए। इस आशय का बैरिस्टर सावरकर का भाषण होते ही एक भंगी, एक ब्राह्मण, दो लड़कों ने उस पुतले के दोनों पैरों को आग लगाई।

कितनी अर्थपूर्ण विधि थी वह! अस्पृश्यता ऊँच-नीच के बीच में ही नहीं, नीच-नीच में भी चालू है। उसके अस्तित्व के दोनों ही दोषी हैं, अत: उसका निर्मूलन भी दोनों के सहकार्य से किया जाएगा तभी वह स्थायी होगा।

जन्मजात अस्पृश्यता **राक्षसी** का पुतला दहन होते समय बैंड, ताशे, ढोल बज रहे थे। उस दृश्य को चारों ओर से घेरे हुए हजारों हिंदू—भंगी से लेकर ब्राह्मण तक हिंदू धर्म की जय की घोषणा करते रहे। वह दृश्य कभी भी न भूलने जैसा था।

फिर बड़ी भारी शोभायात्रा निकाली गई। पालकी में भगवान् की पादुकाएँ भंगी नेता और ब्राह्मणों ने मिलकर रखीं। शोभायात्रा में कुंडलिनी कृपाणांकित भगवा हिंदू ध्वज लेकर चलने का सम्मान एक मजबूत भंगी बंधु को दिया गया। सबसे आगे महारों का हिंदू बैंड और एक बड़ा चित्र गाड़ी पर बाँधा हुआ था, उसका नाम था 'अस्पृश्यता हनन'। उसमें एक ओर एक महिला को एक सर्प ने पैर से लेकर कंठ तक लपेटा हुआ था। उसका चेहरा विह्वल 'भयभीत' था। यह महिला थी सात वर्ष पूर्व की रत्नागिरि नगरी की, जिसे अस्पृश्यता की नागिन ने बाँध रखा था। और पड़ोस में ही वही महिला उसी नागिन के लपेटे से मुक्त होकर भाले से उसका फन कुचल रही थी—यह आज की रत्नागिरि थी।

उस शोभायात्रा में पाँच हजार भंगी-ब्राह्मणों का एकत्रित समुदाय भागेश्वर मंदिर के मैदान में जमा हो गया और वहाँ उन हिंदुओं की सभा हुई। पहले एक भंगी कन्या ने स्पृश्य समाज को इंगित करनेवाली एक प्रार्थना गाई। उसमें मंदिर खुले रहने की विनती थी। उसका मुखड़ा था—मुझे देवता के दर्शन लेने दो, नजर भर मुझे उसे देखने दो। यह करुण गीत सुनकर जिसका गला न भरा हो, ऐसा आदमी खोजे नहीं मिल सकता। फिर एक महार कुमार ने संस्कृत वाणी में गीताध्याय सुनाया। उसके बाद जिस व्यक्ति ने लाखों रुपए खर्च कर पतितपावन का हिंदू मंदिर बनवाया और इस तरह रत्नागिरि के हिंदू संगठन को आकार प्रदान किया तथा अपना भागेश्वर मंदिर भी पूर्वास्पृश्य हिंदू बंधुओं के लिए खुला कर दिया, उस साधुशील श्रीमंत भागोजी सेठ कीर को रत्नागिरि के प्रौढ़ एवं प्रमुखतम नागरिकों से लेकर छात्रों तक के एक हजार पाँच सौ से अधिक हस्ताक्षरों का अभिनंदन पत्र सभा के अध्यक्ष कर्मवीर श्री अण्णा साहेब शिंदे के हाथों समर्पित किया गया। श्रीमंत कीर सेठ ने कहा कि हमने जो किया वह ईश्वर कार्य समझकर किया। मेरे हाथ से हिंदू जाति की जो सेवा हुई वह आप स्वीकार करें और जो सुधार हुए हैं उन्हें दृढ़तापूर्वक बनाए रखें। तात्या राव रत्नागिरि से चले भी गए तो भी कदम पीछे न पड़ने दें। अपने भाषण के अंत में अध्यक्ष श्री अण्णा साहेब शिंदे ने कहा, "रत्नागिरि के सामाजिक परिवर्तन की सूक्ष्म जाँच जो हमने की उससे मैं बिना संकोच कह

सकता हूँ कि यहाँ घटित हुई सामाजिक क्रांति वास्तव में अपूर्व है। सामाजिक सुधार का कार्य मैं जीवन भर करता रहा। वह कार्य कितना कठिन, कितना दुरूह है; मैं भी कई बार निरुत्साहित हुआ। ऐसा यह कार्य केवल सात वर्ष में रत्नागिरि जैसे नगर में, जिसने रेल-फोन का अभी तक मुँह भी नहीं देखा, ऐसे पुरातनपंथियों के छोटे किले में आप हजारों लोग जन्मजात अस्पृश्यता का उन्मूलन कर आज जन्मजात जातिभेद का ही उन्मूलन करने सज्जित हुए हैं और भंगी आदि धर्मबंधुओं के बराबर बेखटके सहासन, सहपूजन और सहभोज आदि सारे सामाजिक व्यवहार खुले रूप में कर रहे हैं—यह मैं देख रहा हूँ। इस सबसे मैं इतना प्रसन्न हूँ कि यह दिन देखने के लिए मैं जीवित रहा यह बहुत अच्छा हुआ, ऐसा मुझे लग रहा है। मैं किसी का स्तुति पाठक होना नहीं चाहता, परंतु जिस स्वतंत्रता-सेनानी ने अपने अज्ञातवास के केवल सात वर्ष की अवधि में यह अपूर्व सामाजिक क्रांति कर दिखाई उस सावरकर पर मैं कितना गर्व करूँ, मुझे समझ में नहीं आ रहा। कल से मैं देख रहा हूँ, आप हजारों नागरिक विशेषत: युवा उनपर कितना विश्वास प्रदर्शित कर रहे हैं। परंतु आप सबमें खरा युवा यदि मुझे कोई दिख रहा है तो वह हिम्मतवाला बहादुर सावरकर ही है। मुझे यह भी कहने में कोई संकोच नहीं है कि अच्छा हुआ सावरकर को अज्ञातवास मिला अन्यथा यह सामाजिक सेवा करने के लिए ये महोदय जीवित रहते या नहीं, यह आशंका ही थी। सावरकर बंधुओं के प्रति हममें पहले से ही बहुत आदर है और इसीलिए उनसे मिलने ही विशेषकर मैं यहाँ आया। उनके द्वारा चलाया जा रहा सामाजिक क्रांति का यह सफल आंदोलन देखकर मैं इतना प्रसन्न हूँ कि ईश्वर मेरी शेष आयु उन्हें दे—ऐसी प्रार्थना ईश्वर से करना चाहता हूँ। क्योंकि मेरे अधूरे सपने यही वीर पूरा करेगा, ऐसा विश्वास मुझे हो रहा है। सरकार उन्हें सामाजिक कार्य के लिए खुला छोड़े ऐसा प्रयास सभी स्पृश्यों-अस्पृश्यों की ओर से किया जाए—ऐसा मैंने और राजभोज ने निश्चय किया है।

अंत में स्वतंत्रता सेनानी ने अपने ओजस्वी भाषण में कहा कि कुछ भी कहीं हो नहीं रहा था, उस हिसाब से यह (परिवर्तन) ठीक रहा। परंतु जो होना चाहिए उस हिसाब से यह कुछ भी नहीं है। ये तो साधन हैं। महार को हम ब्राह्मण कर दें, पर आज ब्राह्मण ही विश्व का महार हो गया है। हिंदू शब्द आज विश्व में 'कुली' के लिए उपयोग में लाया जा रहा है, उसका क्या? श्रीराम या श्रीकृष्ण के काल में भारतभूमि को जो सम्मान, जो गौरव, जो सांस्कृतिक शक्ति प्राप्त थी वह सांस्कृतिक शक्ति और उच्चतम स्थान विश्व में फिर से जब तक प्राप्त नहीं होता तब तक हिंदू संगठन के इस आंदोलन को थककर रुकना नहीं चाहिए। जो कुछ रत्ती भर कार्य

हुआ वह रत्नागिरि नगर के सुबुद्ध और सद्प्रवृत्त हिंदू समाज का है। मेरे सनातनीय और सुधारक दोनों ही धर्मबंधुओं ने हिंदू राष्ट्र के गौरवार्थ अपने-अपने शूद्र वर्णाहंकार की बलि देने में संकोच नहीं किया। कम-से-कम कोई निम्न स्तर की जिद या विरोध नहीं किया, इसलिए यह कार्य हो सका, अत: इस कार्य का आधे से अधिक श्रेय मैं अपने नए व पुराने धर्मबंधुओं, अखिल हिंदू समाज को दे रहा हूँ। सच यह भी है कि मैं अकेला कुछ नहीं कर पाता।

बैरिस्टर सावरकर का भाषण समाप्त होते ही 'हम-तुम सब हिंदू बंधु। बंधु-बंधु!!' यह एकता गीत पूरी सभा ने एक स्वर से गाया और सब स्पृश्य-अस्पृश्य मंदिर में ईश दर्शन करने गए। इधर-उधर सब ओर से हिंदू धर्म की जय, सावरकर बंधु की जय के नारे गूँजने लगे। समाज का उत्साह ज्वार की तरह ऊपर उठता रहा।

विशाल सहभोज

दूसरे दिन दिनांक २३ को पतितपावन मंदिर में विशाल सहभोज आयोजित हुआ। प्रात: ग्यारह बजे से दोपहर चार बजे तक पंगतें बैठती-उठती रहीं। महार, भंगी, मराठा, ब्राह्मण, चमार, भंडारी सब जातियों के वकील, विद्यार्थी, अधिकारी, किसान सभी वर्ग के छोटे-बड़े एक हजार से अधिक नागरिक सहभोज में मिले-जुले भोजन कर गए। हर पंगत के प्रारंभ में हम रोटी-बेटीबंदी की बेड़ी क्यों तोड़ रहे हैं, यह बैरिस्टर सावरकर स्पष्ट समझाते थे और फिर निम्न संकल्प सब लोग दोहराते थे—'जन्मजातजात्युच्छेदनार्थम् अखिल हिंदूसहभोजनम् करिष्ये।'

संध्या समय मुंबई के प्रसिद्ध व्यायामाचार्य श्री रेडकर एवं हरिश्चंद्र लश्कर आदि की मंडली ने व्यायाम के करतब दिखाए। रात में ही गोधडे बुवा के शिष्य चंद्रभानु बुवा का कीर्तन हुआ। इस अवसर पर बहुत भीड़ हो गई थी। इस सारे महोत्सव का व्यय श्रीमान् भागोजी सेठ कीर ने वहन किया।

(सत्यशोधक-रत्नागिरि, ५.३.१९३३)

□

प्रकरण—४

नासिकवासी सनातनी हिंदू बंधुओं को मेरा अनावृत-पत्र

मेरे सभी हिंदू बंधुओ एवं विशेषकर मेरे नासिकवासी धर्मबंधुओ! मेरी आपसे अत्यंत नम्र परंतु आग्रहपूर्ण विनती है कि जितनी शीघ्र संभव हो उतनी शीघ्रता से, अभी आज ही अपने पूर्वास्पृश्य हिंदू बंधुओं के लिए पंचवटी का श्रीराम मंदिर अन्य स्पृश्य हिंदुओं की तरह खुला कर दें।

मैं इस विषय की विस्तार से चर्चा नहीं कर रहा, वह चर्चा काफी हो चुकी है। वैसे ही मैं युक्तिवाद या शास्त्राधार के सहारे यह पत्र नहीं लिख रहा, केवल हिंदू हित और प्रेम का आश्रय लेकर यह पत्र लिख रहा हूँ।

दूसरे किसी मंदिर के संबंध में मैंने ऐसा पत्र कदाचित् लिखा न होता। नए हिंदू देवालय का देश में निर्माण करने से भी कुछ अंशों में यह प्रश्न छूट जाएगा। पर पंचवटी का राम, सीता गुफा या सेतुबंध आदि स्थानों का जो पवित्र ऐतिहासिक महत्त्व है वह अन्य किसी मंदिर को प्राप्त नहीं हो सकता। इसी कारण इस पवित्र ऐतिहासिक स्थान पर सारे हिंदुओं का समान विशिष्ट वारिसाना अधिकार है। रायगढ़ छत्रपति शिवाजी की राजधानी है। उसका दर्शन करने गए किसी महाराष्ट्रीय को यदि हम यह कहने लगें कि तुझे नया किला बाँध देते हैं, तू उसे ही रायगढ़ मान और संतुष्ट हो ले, तो यह हास्यास्पद होगा; क्योंकि वहाँ का स्थान माहात्म्य अप्रतिम है। वैसे ही जहाँ राम वनवास अवधि में रहे, जहाँ सीता रहीं, जहाँ कौरव-पांडव लड़े, जहाँ गीता का उपदेश दिया गया—ऐसे-ऐसे जो ऐतिहासिक देवस्थान, तीर्थक्षेत्र हैं वे सारे अप्रतिम हैं। उनकी विशिष्टता उनकी किसी भी प्रतिलिपि में आना संभव नहीं। उनकी वह विशेषता नित्य बनी रहेगी। अतः हमारे तीर्थ-माहात्म्य से संबंधित ग्रंथों ने उन्हें जो अनन्य पुण्यत्व दिया है उसके कारण ही वे स्थान पूरे

हिंदू समुदाय के लिए मुक्त करने ही होंगे—और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

अतः चाहे जो हो, पर हम अपनी ओर से वे स्थान और इस पत्र के संदर्भ में वह राम मंदिर अपने पूर्वास्पृश्य हिंदू बंधुओं के लिए खुला कर दें।

मैं तो नासिकवासी ही हूँ, इसलिए मुझमें नासिक के लिए अल्हड़ ममत्व जन्म से ही रहा है और मेरे लिए नासिक ने भी आज तक अनेक बार जो अपनत्व एवं विशेष प्रेम और आदर व्यक्त किया है उस प्रेम और ममत्व की अनुशंसा से मैं आबालवृद्ध हिंदू जाति के लिए तथा हिंदुस्थान के लिए जो छोटी-बड़ी सेवा कर सका, दुःख उठा सका और आज तीस वर्षों से वह सेवा करते हुए हम हिंदुओं का हित-अहित किसमें है, इसका जो अनुभवजनित ज्ञान मुझे हुआ है, उस सेवा का, उन कष्टों का एवं उन अनुभवों का भरोसा देकर मैं आपको यह निवेदन कर रहा हूँ, यह आश्वासन भी दे रहा हूँ कि पंचवटी का श्रीराम मंदिर पूर्वास्पृश्य हिंदू बंधुओं के लिए अन्य हिंदुओं की तरह ही खुला करते ही अपनी हिंदू जाति की शक्ति, प्रभाव और जीवन अनेक गुना अधिक प्रबल हो जाएगा, कम-से-कम रत्ती भर भी दुर्बल नहीं होगा।

पूर्वास्पृश्यों की मंदिर प्रवेश की माँग एकदम धर्म्य, न्याय्य है और वे जिस सत्याग्रह संघर्ष तक आए हैं, वह सत्याग्रह हमारे पीढ़ियों के दुराग्रह की ही अपरिहार्य प्रतिध्वनि है। साठ-सत्तर पीढ़ियों तक उन्होंने राह देखी और कितनी राह देखें? अब हम उन्हें वह राह खुली कर दें, यही एकमात्र रास्ता शेष है।

इसलिए पूर्वास्पृश्य हिंदू बंधुओं के मंदिर के पास आते ही आप सब उनका उत्कंठ प्रेम से स्वागत करें और पतितपावन प्रभु श्री रामचंद्र के सामने इकट्ठे होकर आप सब स्पृश्यास्पृश्य पतित दोनों हाथ जोड़कर—जो हो चुका उसकी क्षमायाचना करें—देखिएगा इससे जातीय प्रेम की एक विशाल लहर पूरे हिंदुस्थान में उठेगी। सारे हिंदुओं के कंठ से निकली हिंदू धर्म की जय की अपूर्व गर्जना से वह राम मंदिर आज तक गूँजा न होगा और फिर अहिंदू शत्रु का मान भरा चेहरा काला पड़ जाएगा।

राक्षस कुल के विभीषण आदि के लिए उनमें भक्ति का उदय होते ही श्रीराम ने अयोध्या का अपना राजभवन जैसे खुला कर दिया था, वैसे ही उन्हीं की जाति, धर्म और राष्ट्र के उन परंपरागत भक्तों को, उन पूर्वास्पर्श्य हिंदू बंधुओं को अपने मंदिरों के राजद्वार खुले करने की सद्बुद्धि हम स्पृश्य हिंदुओं को हो, यह पूरे मन से चाहनेवाला—

आपका
जातिबंधु-धर्मबंधु
वि.दा. सावरकर

रत्नागिरि
१३.३.१९३१

□

प्रकरण—५

मद्रास प्रांत की कुछ अस्पृश्य जातियाँ

जातिभेद का आज का तिरस्करणीय रूप कितना भयंकर है और उसके कारण हमारे हिंदू राष्ट्र के कैसे टुकड़े-टुकड़े हुए हैं—यह विवेचन करने के कार्य में केवल सैद्धांतिक या सामान्य विवेचन से मन पर जो परिणाम होता है उससे सौ गुना अधिक परिणाम उसका वास्तविक चित्र खींचने से होता है। कश्मीर से रामेश्वर तक कितनी भिन्न-भिन्न जातियाँ, उनकी उपजातियाँ, फिर उन उपजातियों की अनुजातियाँ, उन जाति, उपजाति, अनुजाति की हर जाति में एक-दूसरे से बेटीबंद, रोटीबंद, लुटियाबंद। जातिभेद कहने मात्र से अधिकतर 'बहुशाखा ह्यनंताश्च' जैसे जातिभेद के विषैले विस्तार की कुछ भी कल्पना नहीं आती और इसलिए जातिभेद ने अपने हिंदू राष्ट्र का कितना अपरिमित विघटन किया है, कितने टुकड़े-टुकड़े किए हैं और उसके परिणाम कितने भयावह हो रहे हैं, इसकी स्पष्ट कल्पना कभी नहीं आ पाती। 'जातिभेद' कहते हैं तो अधिकतर लोगों की दृष्टि के सामने केवल चातुर्वर्ण्य ही खड़ा हो जाता है और वे कहते हैं—उसमें क्या है, बुद्धिशाली वर्ग, शक्तिशाली वर्ग, धनिक एवं श्रमिक बस इतने ही चार वर्ग तो हैं और वे कितने उचित श्रम विभाग हैं। हर राष्ट्र इन चार विभागों में बँटा होता ही है। परंतु उन राष्ट्रों में 'पहले तो ये चार भाग रोटीबंदी, बेटीबंदी की दुर्लंघ्य दीवारों से पृथक् किए हुए नहीं होते। काम की आवश्यकतानुसार वे अलग होते हैं, पर शाम को घर लौटने पर वे इकट्ठे रहते हैं, एक साथ खाते-पीते हैं, वे एक-कुटुंबीय ही रहते हैं। श्रम विभाग सब जगह होगा पर श्रम विभाग के जाति विभाग कर राष्ट्र के चार—बेटी-रोटी-लुटिया बंद टुकड़े नहीं होते।

पर केवल जातिभेद कहने से लोगों के मन में हिंदुओं के चार वर्ण रूपी चार टुकड़े, इतना ही अर्थ आता है, यह कितना त्रुटिपूर्ण है। यह तथ्य जातिभेद के

सामान्य नाम का विस्तृत विवरण या उसका परिगणन करते ही स्पष्ट हो जाता है।

चातुर्वर्ण्य माने चार वर्ण और जातिभेद माने कम-से-कम चार हजार जातियाँ! 'ब्राह्मण जाति' इस सामान्य नाम से या ब्राह्मण जाति की सैद्धांतिक चर्चा करने से सामान्यत: ऐसा लगता है कि वह एक ही जाति है, परंतु उसका गहराई से परीक्षण करें या केवल जो-जो ब्राह्मण हैं उनके नाम गिनाने लग जाएँ तो समझ में आता है कि ब्राह्मणों की पाँच सौ उपजातियाँ हैं। जिनमें परस्पर बेटीबंदी, रोटीबंदी है। यही बात 'क्षत्रिय' शब्द की या 'वैश्य' शब्द की या शूद्रों की है। 'जातिभेद' इस सामान्य शब्द से या उसकी सैद्धांतिक चर्चा से जो एकत्व का या अधिक-से-अधिक चार होने का जो बोध होता है वह उस जातिभेद का गहराई से अध्ययन करें तो समाप्त हो जाता है। इन चार जातियों की चार सौ बड़ी-बड़ी जातियाँ, उनकी उपजातियाँ तथा अनुजातियाँ मिलकर चार हजार हो जाती हैं।

यही स्थिति 'अस्पृश्य' शब्द की है। अस्पृश्य वर्ग—इतना ही सामान्य उल्लेख करने से मन में कैसी भ्रांति उत्पन्न होती है, यह देखें। लगता है—अस्पृश्य एक समूह है। स्पृश्य नामक दूसरा समूह इस अस्पृश्य समूह पर अस्पृश्यता का भयानक अत्याचार कर रहा है, इतना ही अर्थ लक्षित होता है। पर अस्पृश्य कौन-कौन हैं, उस एक शब्द के पेट में कितनी जातियाँ, उपजातियाँ, अनुजातियाँ भरी हुई हैं और एक अस्पृश्य भी दूसरे अस्पृश्य को किस तरह अछूत मानता है, उस पाप का अधिकारी केवल 'स्पृश्य' ही अकेला न होकर अस्पृश्य भी कैसे है, यह तथ्य अस्पृश्यता का गहराई से अध्ययन करने से जैसे स्पष्ट होता है वैसे केवल अस्पृश्य, अछूत कहने मात्र से नहीं होता।

जातिभेद या अस्पृश्यता आदि सामान्य शब्दों के उच्चारण से जो अर्थ या अनर्थ मनुष्य के मन में सामान्यत: प्रकट होता है उसका विस्तृत वर्णन या परिगणन उत्कटता से मन पर प्रभाव करता है। वह कैसे होता है? एक उदाहरण देखें— 'जातिभेद ने हिंदू राष्ट्र के टुकड़े-टुकड़े किए' इस सामान्य एवं सैद्धांतिक विधान से किसी के मन पर—जातिभेद से हिंदू राष्ट्र के हुए टुकड़े और उस कारण हुई भयानक हानि का जो हलका सा प्रभाव पड़ता है उसे देखें और उन टुकड़ों की केवल महाराष्ट्र में गिनती करने से, केवल जातियों के नाम ही गिनने से, उनका उच्चारण करने से जो वास्तविक प्रभाव पड़ता है, उससे बिना बतियाए हानि की जो कल्पना होती है उसे देखें—

महाराष्ट्र की जातियाँ—देशस्थ, चित्पावन, कहराडे, गोवर्धन, सामवेदी, पलसे, सारस्वत, शेणवी कुडालकर, भंडारी, मराठे, दैवज्ञ, कासार, लिंगायत, संगमेश्वरी वाणी, नामदेव शिंपी, भावसार शिंपी, कोकणस्थ वैश्य, देशस्थ वैश्य, पाताणे प्रभु,

साली, माली, कोष्टी, तांबट, सोनार, धनगर, जिनकर और हर एक जाति की उपजातियाँ, अनुजातियाँ। वैसे मराठा एक जाति है, पर उसकी उपजातियाँ सौ हैं। अस्पृश्य जाति का भी ऐसा ही। कोई अंडा फोड़े और उसमें से इल्लियाँ-ही-इल्लियाँ बाहर निकलें। वैसे ही जाति में से उपजातियाँ और अनुजातियाँ निकलती हैं। अछूतों में और अछूत, उन अछूतों से भी नीचे अछूत इस तरह अस्पृश्यों में भी उच्च जाति और नीच जाति अलग-अलग और इन सब जातियों, उपजातियों, अनुजातियों में पिछली अनगिनत पीढ़ियों से बेटी-रोटी-लुटियाबंदी की दीवारें पक्की, कभी भी एक होने का अवसर न देनेवालीं।

जातिभेद से विभाजित हिंदू राष्ट्र के किन्हीं दो टुकड़ों को जोड़ना 'अधर्म', पर उस उपजाति के शतशः टुकड़े करने की पूरी स्वतंत्रता, वह धर्म। प्रभु जाति के किसी व्यक्ति के हाथ से गंधपात्र, जिसे कंचोले कहते हैं, गिर गया; वह पाप माना गया, पापी को जाति बहिष्कार का दंड सुनाया गया। उस एक पापी का पक्ष लेने आगे बढ़े सारे लोग भी 'जाति बहिष्कृत' हो गए, उनकी एक अलग जाति बनी—कंचोले प्रभु। इस तरह जाति विभाजन की करुण कथाएँ सुनने पर जातिभेद राक्षस के घृणित स्वरूप का जो बोध होता है वैसा बोध केवल 'जातिभेद' शब्द के उच्चारण से कभी भी नहीं होता।

यह तो केवल महाराष्ट्र की कथा है। पर पूरे हिंदू राष्ट्र के इस जातिभेद ने कैसी बुरी गत बनाई है, इसकी स्पष्ट कल्पना हो इसके लिए हिंदुस्थान की जातियों की पूरी सूची पढ़नी चाहिए। सामान्य नागरिक को उसकी कल्पना नहीं होती। जातिभेद के विरुद्ध कोई पाँच सौ पृष्ठों का ग्रंथ लिखें और उसमें सैद्धांतिक और सामान्य चर्चा करें तो वह ग्रंथ पढ़कर वाचक को कोई धक्का नहीं लगेगा, परंतु यदि वह सारे हिंदुस्थान के हिंदुओं में प्रचलित केवल बड़ी-बड़ी जातियों की नामावली ही सुने तो भयभीत हो जाए। पहले ब्राह्मण ही को लें—उनमें कश्मीरी, मुलतानी, पंजाबी, कनौजी, मारवाड़ी, गुजराती, बंगाली, तेलुगु, तमिल, ओड़िसी, असमिया, मलबारी, कन्नड़ी जैसे प्रांतिक भेद फिर उसमें शैव, वैष्णव, कुलीन-अकुलीन, शाकाहारी-मांसाहारी; मांसाहारियों में अंडा न खानेवाले, खानेवाले; मुरगा न खानेवाले पर बकरा खानेवाले, मछली खानेवाले पर बकरा न खानेवाले। ऐसे अनगिनत भेद और उन सबमें रोटी-बेटीबंद। ऐसी ही स्थिति क्षत्रियों की और वैश्यों की। जातिभेद कहते ही चातुर्वर्ण्य माननेवाले और केवल चार टुकड़े माननेवाले कितनी बड़ी भ्रांति में रहते हैं। चातुर्वर्ण्य के अनुसार ब्राह्मण एक समूह, एक टुकड़ा है, पर उस ब्राह्मण समूह की जाँच करें तो उसमें पाँच सौ बड़ी-बड़ी जातियाँ दिखती हैं। जितने प्रांत उतनी जातियाँ, जितने पंथ उतनी जातियाँ, जितनी भाषा उतनी जातियाँ, जितने धंधे

उतनी जातियाँ और रोटी-बेटीबंद, यह है जाति की पहचान। कहाँ रह जाता है चातुर्वर्ण्य, वह तो कभी का मर गया। शेष जो रहा है वह है चतुष्कोटिवर्ण!

इस जातिभेद के राक्षस ने अपने हिंदू राष्ट्र के विराट् शरीर के ऐसे सैकड़ों टुकड़े किस प्रकार किए हैं, वह सैद्धांतिक चर्चा से अधिक अच्छी तरह बताने और उन सारे टुकड़ों की गिनती एक-एक करके दिखानी होगी। इसी विधि से सही कल्पना होगी। इसलिए बीच-बीच में महाराष्ट्र के अपरिचित अन्य प्रांतों की जातियों के नाम एवं जानकारी देना जितना मनोरंजक होगा उतना ही हृदयविदारक भी होगा। जातिभेद के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो, इसलिए वैसी जानकारी देने का प्रयास होना जरूरी है। अत: कुछ जानकारी आज दे रहे हैं—वह भी मद्रास की अछूत जाति की ही सर्वप्रथम देने का कारण यह है कि इस जातिभेद के लिए घृणा उत्पन्न हो; सिवाय इसके कि अत्यंत अन्याय्य एवं आत्मघाती अस्पृश्यता का घातक रूप एवं उसके कारण हिंदू राष्ट्र की जो भयानक हानि हो रही है, उसकी जानकारी मिलते ही 'उलटी' हो जाए। स्पृश्यों का ही नहीं अपितु अस्पृश्यों का भी मन घृणा से भर जाए, वे भी अस्पृश्यता के हिस्सेदार हैं। उच्च वर्णीय जैसे अछूतों को स्पर्श न कर उन्हें कुत्ते की तरह दुत्कारते हैं वैसे ही वे अछूत भी स्वयं स्पृश्य बनकर उनसे नीची जाति को छूते नहीं और उन्हें कुत्ता मानकर दुत्कारते हैं। वरिष्ठ जातियों को गाली देते समय स्वयं को भी गाली देनी चाहिए। जो-जो भी दोषी हैं वे सारे मिलकर वह दोष दूर करें—यही उचित है। अस्पृश्य जो गालियाँ स्पृश्यों को देते हैं वही गालियाँ स्वयं अस्पृश्यों को भी दी जाती हैं इसे उन्हें भूलना नहीं चाहिए।

मद्रास की कुछ अस्पृश्य जातियाँ

चेरुम (पुलिया)

मलाबार में रहनेवाली यह अस्पृश्य जाति है। उत्तर मलाबार में रहनेवालों को पुलिया कहते हैं और दक्षिण मलाबार के अस्पृश्यों को चेरुगा कहा जाता है। अर्थात् स्थान भिन्नता से इस जाति की दो उपजातियाँ हो गईं। परंतु इतने से क्या होता है। इन दो उपजातियों में से चेरुमा की उनतीस उपजातियाँ हैं जिनमें से कुछ के नाम कनक्का, चेरुगा, पल्ला, चेरुमा, ऐलारेन, रोलन, बुडान आदि हैं। पुलिया की बारह उपजातियाँ हैं। इनमें से चेरुगारिया स्वयं को पुलिया जाति से ऊँचा समझते हैं। वे सारे चेरुगा लोग अपने को ब्राह्मण क्षत्रियों से हुए अस्पृश्य मानते हैं। शूद्र भी उन्हें नहीं छूते। यह अस्पृश्यता इतनी कड़ी है कि परंपरा के अनुसार अस्पृश्य चेरुगा ब्राह्मण से नब्बे फीट दूरी पर और नायर आदि अब्राह्मणों से चौंसठ

फीट दूरी पर खड़ा रहता है।

ब्राह्मण शूद्र आदि लोगों के पास नहीं जा सकते, नहीं तो उन्हें छूत लग जाएगी। इधर महाराष्ट्र में अस्पृश्यों की छाया स्पृश्यों पर न पड़े इतनी दूरी मान्य है अर्थात् इतना ढीलापन है। मद्रासी परंपरा की तुलना में तो मानो वह वरदान ही है। यदि कोई चेरुगा अस्पृश्य इस दूरी के अंदर जाकर बोला तो उस ब्राह्मण शूद्र को स्नान कर प्रायश्चित्त करना पड़ता है। बहुत स्थानों पर तो उन्हें बाजार में भी प्रवेश नहीं करने दिया जाता, फिर तालाब या कुएँ की बात तो बहुत दूर।

ब्राह्मण, शूद्र आदि के द्वारा चेरुगा लोगों का किया जानेवाला अपमान एवं पीड़ा सुनकर उनकी दलित अवस्था पर जितनी दया की जाए कम है। स्वयं इतने दलित और निम्न ये चेरुगा अस्पृश्य भी पुला, परिया, नवादी और उल्लदन जातियों के लोगों को अस्पृश्य मानते हैं, उनपर कितनी दया की जाए! क्षत्रिय आदि स्पृश्य जैसे चेरुमाओं को पीड़ा देते हैं और उन्हें छूना भी पाप समझते हैं, वैसे ही चेरुम अपने से निम्न जाति के परिया, पुलादी आदि से व्यवहार कर उन्हें पीड़ा देते हैं और उन्हें छूना भी पाप समझते हैं। वरिष्ठ जो पीड़ा और नीचता उनपर लादते हैं उसी पीड़ा और नीचता का बोझ चेरुम अपने से निम्न जातियों पर लादकर वरिष्ठों से होनेवाले अपमान की भरपाई अपने से निम्नों का अपमान कर करते हैं। इस कारण ब्राह्मण क्षत्रियों को वे प्रपीड़क नहीं कह पाते, क्योंकि उसी नियम से वे अस्पृश्य स्वयं को उच्च समझकर अपने से निम्न जातियों के ब्राह्मण, क्षत्रिय बन जाते हैं और उन्हें छूना भी पाप समझते हैं। अस्पृश्यता की क्रूरता के लिए जो-जो गालियाँ अस्पृश्य स्पृश्यों को देते हैं वे सारी गालियाँ लौटकर उनके सिर आकर गिरती हैं। क्योंकि हर अस्पृश्य जाति दूसरी किसी निम्न जाति को अस्पृश्य मानता है। एकदम निम्नतर जाति कौन सी है—यह वास्तव में बड़ी गंभीर खोज का विषय है और उसके लिए तो किसी पाताल यंत्र की मदद लेनी पड़ेगी।

चेरुम जाति के लोग उच्चवर्णियों की खेती करते हैं। स्वामी के वे वंश-परंपरागत चाकर होते हैं, किसी दूसरे के खेत पर चाहे जब चाकरी करना उन्हें संभव नहीं होता। वे खेत में ही बँधे होते हैं। उनके यहाँ विवाह करने की अनुमति उन्हें अपने स्वामी को दस रुपए देकर लेनी पड़ती है। ये चेरुम अपनी स्त्री को बेच सकते हैं। सन् १८४१ तक लड़का साढ़े तीन रुपए में और लड़की तीन रुपए में बिकती थी।

कहा जाता है कि ये चेरुम लोग प्राचीन समय में मलाबार के राजा थे—छोटे-बड़े इनके राज्य थे। चेरनाद्र ऐसे ही एक राजा की राजधानी थी। पराभव के बाद विजेताओं ने उन्हें इस निम्न कोटि में ढकेला। चेरुम की उपजातियाँ पुला,

चेरुगा आदि गोमांस खाती हैं, उन्हें चेरुगा की अन्य जातियाँ भी निम्न अस्पृश्य मानती हैं। चेरु शब्द का अर्थ खेत होता है, उनके आज के मुख्य व्यवसाय भी खेत संबंधी ही हैं। इससे यह अनुमान होता है कि ये कभी भूमिपति होंगे। किसी दुर्घटना से भूमि का स्वामित्व दूसरे के पास चला गया और ये भूदास (Serfs) हो गए, ऐसा भी एक तर्क इनके लिए प्रचलित है।

चेरुमा और पुलिया हिंदू-धर्मीय, देवी-देवपूजक हैं। परकुट्टी, कमरकुट्टी, चयन आदि विशिष्ट देवता और अपने पूर्वजों की वे पूजा करते हैं। कर्क और मकर संक्रांति को वे ओनम् (ॐ ?) एवं विष्णु भगवान् की पूजा कर प्रसाद चढ़ाते हैं। उनकी विवाह विधि में बूढ़ों पर चावल मारते हैं और मंगलम नामक संस्कार के बाद विवाह का संपन्न होना मानते हैं। चेरुम जाति की स्त्री यदि इस जाति से नीच पारिया जाति से संबंध रखती है तो उसे जाति बहिष्कृत किया जाता है अर्थात् वह ईसाई या मुसलमान के पंजे में चली जाती है। सन् १९२१ की जनगणना के अनुसार चेरुमा ढाई लाख और पुलिया पौने तीन लाख की संख्या में थे।

होलिया

यह जाति मलाबार के ऊपर दक्षिण कानडा में रहती है। होला शब्द का अर्थ 'भूमि' होता है और इसी से यह जातिवाचक नाम चला। चेरुमा शब्द का अर्थ जैसे भूमिधर है वैसा ही होलिया का भी है। इतना ही नहीं, चेरुमा के प्राचीन राज्य जैसे मलाबार में थे वैसे ही होलिया के दक्षिण कानडा में थे। अर्थात् इनकी भी भूमि जब विजयी लोगों के हाथ में चली गई तब ये भूमिदास हो गए। ये अपने शव गाड़ते हैं। ये भी अस्पृश्य हैं, ये भी उच्चवर्णीय भूस्वामी का कृषि कार्य करते हैं, कहीं-कहीं कपड़ा भी बुनते हैं और मच्छीमारी भी करते हैं। इनका मुख्य देवता शिव है। वे ग्रामदेवता भी मानते हैं। एक आश्चर्यजनक रूढ़ि इनमें है—होलिया का स्पर्श हो जाए या कोई होलिया ब्राह्मण बस्ती में घुस जाए तो ब्राह्मण अपने को अपवित्र मान प्रायश्चित्त करते हैं। वैसे ही यदि कोई ब्राह्मण भूलकर होलिया बस्ती में चला जाए तो होलिया लोग भी अपनी बस्ती को अपवित्र मान उसे शुद्ध करने का एक संस्कार करते हैं। इनकी कुल-रीतियों, देह-रचना, इतिहास से यह ज्ञात होता है कि ये मलाबार की चेरुमा जाति के ही हैं अर्थात् कभी दोनों के पूर्वज एक ही थे। सन् १९२१ की जनगणना में इनकी संख्या पौने सात लाख थी।

पल्ला

अस्पृश्यों की यह तीसरी बड़ी जाति है। ये लोग तंजौर, त्रिचिनापल्ली,

सलेम एवं कोयंबतूर जिले में रहते हैं। पल्ला शब्द का अर्थ निचली भूमि होता है। इनका व्यवसाय भी निचली भूमि में चावल की खेती करना है। इस आधार पर ही अनुमान लगाया जाता है कि कानडा के होलिया एवं मलाबार के चेरुमा की तरह ये भी कभी भू-स्वामी थे, पर कालगति से विजेताओं के भूदास बनकर रह गए। स्पृश्यों के गाँव में ये रह नहीं सकते। गाँव के बाहर ही झोंपड़ियों की इनकी बस्ती होती है, इन बस्तियों को पल्लाचेरी कहते हैं।

इनकी जाति-संस्था संगठित और जीवट की है। हर गाँव में तीन-चार व्यक्ति मुखिया रहते हैं—पंच। उनमें का एक (अध्यक्ष) सरपंच 'नात्तुगुप्पन' एक अडुमपिल्लची चपरासी की तरह पंचायत के समय सबको बुलाकर लानेवाला आज की भाषा में प्रतोद (Whip) होता है। इनकी जाति के नाई, धोबी स्वतंत्र होते हैं। जाति-नियम तोड़नेवाले को जातिच्युत करते हैं, फिर नाई-धोबी आदि कोई उनका काम नहीं करते। ये लोग शिव और ग्रामदेवता की उपासना करते हैं। सन् १९२१ में इनकी जनसंख्या नौ लाख के आस-पास थी।

पारिया, माल और मादिगा

मद्रास की अस्पृश्य जातियों में से शेष रहीं ये तीन बड़ी जातियाँ हैं। पारिया में कुछ लोग नगाड़ा बजाते हैं। पर अधिकतर लोग चेरुमा, होलिया एवं पल्ला जातियों की तरह खेती करते हैं। श्वेत मालिक की बँधी हुई नौकरी पीढ़ी-दर-पीढ़ी करते हैं। माल और मादिगा जातियाँ तेलुगु प्रांत में एवं पारिया तमिल प्रांत में बसे हैं। उनमें आपस में बेटीबंदी, रोटीबंदी आदि बंदियाँ हैं—यह कहने की आवश्यकता नहीं। ये माता काली, शिव, विष्णु और ग्रामदेवता का पूजन करते हैं। गत जनगणना में पारिया चौबीस लाख, माल चौदह लाख एवं मादिगा सात लाख थे।

दक्षिण कानडा के होलिया, मलाबार के चेरुमा, तंजौर के पल्ला, तमिल प्रदेश के पारिया और तेलुगु के माल-मदिगा इन पाँच जातियों को पंचम जाति कहते हैं। इन पाँच बड़ी-बड़ी अस्पृश्य जातियों की कुल संख्या साठ लाख से ऊपर चली जाती है। यूरोप के तीन-चार देशों—डेनमार्क, पुर्तगाल, स्विट्जरलैंड राष्ट्रों के बराबर यह संख्या है। आधी इटली। अपने हिंदू राष्ट्र का यह संख्याबल होकर भी न होने के बराबर है। इस अस्पृश्यता के महारोग की खाई में हम स्वयं उन्हें ढकेले हुए हैं—उन्हें मृतप्राय बनाए हुए हैं। वे अस्पृश्य हैं, इतना ही नहीं अपितु उनमें से काफी अदृश्य भी हैं। तमिल प्रांत के चौबीस लाख पारियाओं में से कुछ उपजातियाँ मद्रासी सनातनियों के लिए अदृश्य हैं। माने उनके स्पर्श से नहीं, छाया से नहीं अपितु दूर से होनेवाले दर्शन से भी सनातनियों को छूत लग जाती है। उन्हें स्नान

करना पड़ता है, उनका शब्द कान पर आते ही भोजन छूतहा हो जाता है। स्नान करना पड़ता है। रास्ते में चलते हुए यदि किसी उच्चवर्णीय के सामने कोई पारिया पड़ जाता है तो उसे कपड़े से अपना मुँह ढक लेना पड़ता है; क्योंकि वह अदृश्य है। अस्पृश्य से कई गुना अधिक अस्पृश्य। वह दिखते ही उच्चवर्णियों को छूत लग जाती है। उस पारिया को नियम का पालन न करने पर पीटा भी जा सकेगा।

ये पाँचों अस्पृश्य एवं अदृश्य जातियाँ मूल में एक जाति थीं, ऐसा अधिकतर इतिहासवेत्ता, समाजशास्त्रियों का विचार है। उस एक कृषक जाति की पाँच जातियाँ आगे प्रांत और भाषा भेद के कारण पाँच की पचास और पचास की पाँच सौ! अस्पृश्यों में भी अनुलोम, प्रतिलोम की छुरियों से बकरा काटा जाए वैसा समाज, राष्ट्र काट-काटकर टुकड़े कर दिए। स्पृश्य अस्पृश्य को छुएगा नहीं, मुँह भी देखेगा नहीं; अस्पृश्य भी अपने से नीच जाति के साथ ऐसा ही व्यवहार करेगा। ये सारी पाँच सौ जातियाँ जन्मजात पृथक्, रोटीबंद, बेटीबंद।

हाय! हाय! ऐसे में हमारे बीच कैसा संगठन और कैसी एकता होगी! नहीं! नहीं! हिंदू राष्ट्र को यदि संगठित करना है, आज की परिस्थिति से लोहा लेने में समर्थ मौलिक एकता का हममें निर्माण करना है तो इस जन्मजात जातिभेद के राक्षस का वध पहले करना होगा और उसका वध करना इतना सरल है कि मर जा कहते ही वह मर जाता है। उसका जीवन केवल हमारी इच्छा के अधीन है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि केवल इच्छा में हमारा मरण है। केवल अस्पृश्यता निकाल देने मात्र से काम नहीं होगा, उस विषैली शाखा के जीवनदाता—जन्मजात जातिभेद के विषवृक्ष को ही जड़ से उखाड़ना होगा।

जब तक यह जातिभेद हमारी इच्छा से हमारे प्राण सोख रहा है तब तक हमें मारने का काम शत्रु को करने की आवश्यकता ही नहीं है। हम स्वयं ही मर रहे हैं। मद्रास की इन पाँचों अस्पृश्य जातियों में से इसलाम और ईसाई ये दोनों हमारा संख्याबल लूट रहे हैं। केवल ईसाइयों ने दो-चार वर्ष में पचास हजार से अधिक अस्पृश्यों को ईसाई बना लिया। मोपला मुसलमानों जैसे अशिक्षित जाति के लोग भी अस्पृश्यों को धड़ाधड़ धर्मांतरित कर रहे हैं। उन विपक्षियों के नाम पर रोने से कुछ होनेवाला नहीं। जो दुःस्थिति मद्रास की, वही सर्वत्र है।

यदि हम हिंदू इस जन्मजात जातिभेद को समूल उखाड़ेंगे तभी हम एक राष्ट्र के रूप में, धर्म के रूप में जी सकेंगे, दूसरा कोई उपाय शेष नहीं है।

(किर्लोस्कर)

□

प्रकरण—६

आनुवंश या आत्मघात या वाहियातपना

अपने इस हिंदू राष्ट्र में आज जो हजारों-हजार जातियाँ, उपजातियाँ, अनुजातियाँ हो गई हैं वे सब मानो किसी महान् समाजशास्त्री पुरुष ने आनुवंशिकता का गहरा अध्ययन कर, गणित जैसे नियमों से आरेखित कर बनाई हैं। हर जाति-उपजाति-अनुजाति के रक्तबीज गुण अन्य जाति-उपजाति-अनुजाति के रक्तबीज गुण से भिन्न हैं—ऐसा किसी प्रयोगशाला में हर रक्त की बूँद का कठोर परीक्षण कर निश्चित किया हुआ है और जिस गुट का रक्तबीज आनुवंश विज्ञान के अनुसार मिलता है, उसपर उनकी संतति निकृष्ट-निकृष्टतर होगी, ऐसा प्रयोगशाला में सिद्ध हुआ है। उनके गुट अलग किए गए और इसीलिए आज की हजारों-हजार जातियाँ, उपजातियाँ, अनुजातियाँ तोड़ने पर समाजशास्त्र का ही सत्यानाश हो जानेवाला है ऐसा एक भ्रम आज के इस शास्त्र के विद्वान् Heredity, Eugenics जैसे भ्रामक शब्द का प्रयोग कर कहते हैं।

पर यह भ्रम कितना निर्मूल है इसका निर्विवाद साक्ष्य आज की बढ़ी हुई जाति व्यवस्था में से कुछ की पृथक्-पृथक् उत्पत्ति देखने से सरलता से मिल जाता है। रक्तबीज की बूँद-बूँद की परीक्षा प्रयोगशाला में कर, अमुक कुल का रक्तबीज हीन है, इसलिए उसकी जाति हम अलग करते हैं ऐसा उल्लेख किसी समाजशास्त्री के ग्रंथ या आनुवंश विज्ञान के किसी पुराण में नहीं मिलता, ऐसी हजारों अनुजातियाँ आज विद्यमान हैं। इतना ही नहीं अपितु अनुजातियाँ या जातियाँ कैसे बनीं इसके संबंध में दी गई उक्ति या तर्क जो पुराणों में दिए गए हैं, उनमें ऊपर दिए शास्त्रशुद्ध किसी परीक्षण की कल्पना भी नहीं है और जो कारण दिए गए हैं वे सब गप्पें, कपोल कल्पित कथाएँ हैं।

जातियों का विघटन या निर्माण पुराण काल में ही पूरा हो गया था—ऐसा

मानने का साक्ष्य नहीं है। सबल साक्ष्य तो यह है कि पुराणों के इतिश्री काल में अर्थात् जब पुराणों के पृष्ठ मुद्रण कला से गिनकर उनपर लकड़ी की पट्टियाँ रख उन्हें ऐसा कसकर बाँधा गया कि जिससे उसमें एक भी अनुष्टुप का प्रवेश न हो सके उसके बाद भी अर्वाचीन काल तक जातियों के फिर-फिर टुकड़े होते रहे और उनकी उत्पत्ति की कहानियाँ अधिकतर सरकारी कागज-पत्रों में मिलती हैं। इस ऐतिहासिक जानकारी से तो यही स्पष्ट होता है कि रक्तबीज की शास्त्रोक्त परीक्षा कर आनुवंश की दृष्टि से समाज में उत्तम संतति बढ़े, ऐसे किसी हेतु से आज की ये जातियाँ तोड़ी नहीं गई हैं, उनकी तोड़-फोड़ क्षुद्र कारणों पर हुई हैं—जैसे तू मांस खाता है, तू शैव है या तू वैष्णव है, तू खड़े-खड़े बुनाई करता है या बैठकर? तू ताजे दूध से मक्खन बनाता है या गरम करने के बाद? तू नासिक जिले में रहता है या नागपुर में? ऐसी अति हास्यास्पद मत-भिन्नता से एक-दूसरे का बहिष्कार करते हुए जातियों का विघटन होता गया और एक की अनेक जातियाँ बनती चली गईं।

हाथ कंगन को आरसी क्या? आज चालू हजारों भिन्न-भिन्न रोटीबंद, बेटीबंद, जाति-पाँति की उत्पत्ति के संबंध में कुछ की उत्पत्ति की जो जानकारी पुराणों की कपोल कल्पित कथाओं में मिलती है या कुछ की जो जानकारी ऐतिहासिक कागज-पत्रों में मिलती है, उसी के कुछ उदाहरण नीचे दे रहे हैं, उससे यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि हजारों जाति-उपजातियों की उत्पत्ति आनुवंशिक रक्तबीज की परीक्षा आदि वैज्ञानिक विधि से नहीं हुई अपितु उनकी उत्पत्ति वाहियात सोच या कपोल कल्पित कथाओं के आधार पर की गई है।

हाँ, यह केवल वाहियातपना है। इससे उचित शब्द इन सब कारणों का उल्लेख करने के लिए मिलेगा नहीं। वाहियातपना माने आचार का मूर्खतापूर्ण बड़प्पन। माथे पर चंदन लगाने जैसी बात पर उसमें खड़ा चंदन लगानेवाले और आड़ा चंदन लगानेवाले। यदि किसी खड़ा चंदन लगानेवाले वैष्णव ने आड़ा चंदन लगा दिया तो मानो गजब हो गया। इसका दंड उसका जाति निष्कासन। उसी के साथ उसका घर, जो-जो भी उससे व्यवहार करे, खाए-पीए वे सब जाति बहिष्कृत; बन गई उनकी नई जाति। नई जाति माने रोटीबंद, बेटीबंद। राष्ट्र के एक संघ, एक प्राण, देह का एक टुकड़ा तड़ाक् से तोड़ डाला। वंश-परंपरा तोड़कर। केवल चंदन लगाने की किसी दस-पाँच लोगों की जिद से पचास पीढ़ियाँ पूर्व बनी एक नई जाति। सैकड़ों जातियों के टुकड़े हो-होकर सैकड़ों उपजातियाँ, अनुजातियाँ उत्पन्न हुई हैं—केवल वाहियात सोच के कारण।

किसी को उपर्युक्त कथन अतिशयोक्तिपूर्ण लग रहा हो तो एक अर्वाचीन

एवं जिसके साक्ष्य में अभिलेख भी प्राप्त हैं, ऐसी एक उपजाति की जन्मपत्रिका प्रस्तुत है।

कंचोले प्रभु की जाति क्यों और कैसे उत्पन्न हुई?

वह किस्सा ऐसा है कि कोई डेढ़ सौ वर्ष पूर्व पाठारे प्रभु नामक जाति में एक विवाह समारोह था। पाठारे प्रभु की पूरी बिरादरी विवाह मंडप में जमा थी। जाति, संगठन और एकता मजबूत हो इसलिए ऐसे सामाजिक-धार्मिक आयोजन होते हैं। मंडप में जब जाति के सब छोटे-बड़े जमा हो गए तो रीति के अनुसार सबको चंदन लगाने के लिए हाथ में चंदन पात्र लेकर एक तरुण सभा में आया। चंदन पहले किसे लगाया जाए, यह समझ में न आने के कारण सबसे पहले जिसे चंदन लगाया गया उसके विरुद्ध अग्रता या अग्रसम्मानवाले सज्जन ने इसका प्रतिवाद किया और बात बढ़ गई। झगड़ा खड़ा हो गया। इस झगड़े में उस तरुण की भी खींचतान हुई और फलत: उसने गुस्से में वह चंदन पात्र भूमि पर पटक दिया।

एक विवाह समारोह में एकत्रित एक ही जाति के लोगों में हुआ यह झगड़ा। चंदन 'इन्हें' पहले लगाना था, उसको क्यों लगाया? यह मूल कारण। और एक तरुण गंधपात्र को फेंक देता है। एक सौ पचास-साठ वर्ष पूर्व में घटित घटना। बहुत छोटी, बहुत साधारण, पर परिणाम यह कि एक संघ पाठारे प्रभु दो टुकड़ों में बँट गए। वंश-परंपरा, रोटीबंदी, बेटीबंदी प्रारंभ हो गई।

उस गंधपात्र फेंकनेवाले युवक को अग्रमान के लिए लड़नेवाले गुट ने दंडित किया। वैयक्तिक अपराध के लिए कुछ देह दंड या द्रव्य दंड दिया जाता था। परंतु दंड माने जाति बहिष्कार। जाति बहिष्कार के माने उसके साथ कोई खाए नहीं, विवाहित न हो। रोटीबंदी, बेटीबंदी। अच्छा यह भी केवल उस व्यक्ति तक नहीं, उसके पूरे वंश के लिए, पीढ़ी-दर-पीढ़ी। गंधपात्र फेंकने का दंड अगली डेढ़ सौ पीढ़ियों को। एक छोटा टुकड़ा टूट जाने के कारण कंचोले प्रभु जाति में विवाह संबंध स्थापित करना एक समस्या है और इसीलिए वे विवाह आपसदारी में ही करते हैं। भिन्न रक्तबीज का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

ऐसी ही निरर्थक मान-अपमान की गँवारू कल्पनाओं के कारण झगड़े होने से एक-दूसरे को जाति बहिष्कृत कर एक की दो, दो की चार जातियाँ कैसे होती गई हैं—इसकी सामान्य जानकारी रिसले, एश्नोवेन आदि विदेशी लेखकों ने दी है। जनगणना करनेवाले अधिकारियों ने अध्ययन कर यह जानकारी प्रस्तुत की है। इसे खुले मस्तिष्क से, दुराग्रह छोड़कर पढ़ने पर यह तथ्य उजागर होगा कि हिंदू राष्ट्र के जात-पाँत के कारण जो हजारों टुकड़े हुए हैं उसमें से सैकड़ों जातियों की

उत्पत्ति ऐसे ही वाहियात कारणों से हुई है। आनुवंश आदि वैज्ञानिक आधार पर किसी ने सोच-समझकर उनकी रचना की है ऐसा आभास उत्पन्न करना केवल पाखंड है।

यह कहा जा सकता है कि पाखंड काल में हुई हिंदुओं की अर्वाचीन जाति निर्मिति के लिए उपर्युक्त कथन सच होगा भी, पर वह प्राचीन पुराण काल के लिए सच नहीं है। उस समय की जाति निर्मिति आनुवंशकीय समाजशास्त्रीय कसौटी पर रक्तबीज की जाँच करके ही हुई होगी। ऐसा यदि किसी को लगता है तो वह पुराणों और पोथियों में दी हुई जाति उत्पत्ति की उपपत्तियाँ देखे। वे उपपत्तियाँ तो झूठ का ऐसा पुलिंदा हैं कि उसकी तुलना में उपर्युक्त दी हुई ऐतिहासिक जानकारी कम मूर्खता की नहीं है तो भी कम-से-कम सच्ची तो है। उदाहरण के लिए जिस जाति के अस्तित्व का उल्लेख एक हजार वर्ष पूर्व के ग्रंथों में मिलता है, उसकी उत्पत्ति के संबंध में संस्कृत ग्रंथों में क्या वर्णन किया गया है, यह देखें।

भंडारी जाति के संबंध में पोथी-पुराणों में दी हुई जानकारी

भंडारी जाति के संबंध में ब्रह्मोत्तर खंड एवं 'कथा कल्पतरु' में ऐसा कहा गया है कि एक बार तिलकासुर नामक दैत्य बहुत उत्पात करने लगा। महादेव को भी उसने पीड़ित किया। महादेव ने उसे पकड़कर कोल्हू में पेर दिया और अपने नंदी को कहा कि चलाओ कोल्हू और निकालो इसका तेल। नंदी ने कोल्हू चलाना शुरू किया और शंकरजी, जो उसे पकड़ने आदि में थक गए थे, हुश् करके बैठ गए। वे जैसे ही बैठे उनके कपाल से उनकी एक श्रम बूँद नीचे टपकी और उसमें से तत्काल एक पुरुष ने जन्म लिया। उसे देखते ही शंकरजी बोले, ''तेरा नाम भावगुण, क्योंकि तू मेरी स्तुति करते हुए मेरे सामने खड़ा है। जा पहले जाकर पानी ले आ, मुझे प्यास लगी है।'' (शंकर की जटा में बैठी पतिसेवा-निरत भागीरथी उस समय कहीं तीर्थयात्रा पर गई होंगी, नहीं तो पानी की कमी महादेव को न होती।) भावगुण ने पूछा, ''महाराज, ठंडा जल कहाँ से लाऊँ? यहाँ आस-पास तो वह कहीं है भी नहीं।'' यह सुनते ही शंकरजी ने अपनी इच्छा से एक वृक्ष उत्पन्न किया, वही नारियल वृक्ष है। (वनस्पतिशास्त्री नारियल वृक्ष की उत्पत्ति ध्यान में रखें। इस कथा के कारण आनुवंशिकी विद्या के साथ ही वनस्पति विज्ञान में भी भंडारी की उत्पत्ति कथा ने नया योगदान दिया है।)

उस नारियल वृक्ष पर इच्छा मात्र से सुरामधुर फल भी उत्पन्न किए। तब से नारियल वृक्ष को 'सुरातरु' कहते हैं। भावगुण उस वृक्ष पर तत्काल चढ़ा और सुराफल तोड़कर, छीलकर, महादेवजी को सुरा पीने को दी। (मनुष्य, वृक्ष, फल

केवल इच्छा मात्र से उत्पन्न करनेवाले महादेव प्यास लगते ही मुँह-के-मुँह में सुरा की निर्मिति क्यों नहीं कर सके या वृक्षफल को भावगुण पेड़ पर चढ़कर तोड़े उसके पूर्व नीचे क्यों नहीं लाए, ईश्वर ही जानें)। सुरा पीकर महादेव प्रसन्नचित्त होकर भावगुण से बोले, ''जा, अलकावती के भंडार का तू अधिकारी हो जा।'' तब से उसे भंडारी कहने लगे और शंकरजी सुरातरु के सुराफल पीने लगे। (उस दिन तक शंकरजी भाँग आदि का सेवन ही करते थे; परंतु भंडारी भावगुण की पहचान होते ही भगवान् सुरा भी पीने लगे, संगति का यह दोष है।)

पर इतने में उस सौभाग्य के वृक्ष से घिसटकर नारियल के वृक्ष पर, मनुष्य नीचे गिरे वैसे भावगुण भंडारी भाग्यहीनता के कठोर पत्थर पर आ गिरा। क्योंकि माँ पार्वती उसे भंडार में से स्वर्ण लाकर देने के लिए जैसे ही भंडारगृह में गईं कि एक ब्राह्मण वहाँ आया। उसे देखते ही भावगुण भंडारी उस पीढ़े पर से उठ गया जिसपर वह बैठा था और वह अयाचित प्रकट हुआ। ब्राह्मण उसपर बैठ गया। माँ पार्वती स्वर्ण लेकर आईं और पीढ़े पर भावगुण ही बैठा है, यह समझकर उस अयाचित ब्राह्मण को उन्होंने स्वर्ण दे दिया। ब्राह्मण तत्काल उठकर चला गया। (माँ पार्वती को गुप्तचरों जितना भी अंतर्ज्ञान या व्यवहार ज्ञान इस समय न रहे और ब्राह्मण बिना पकड़े छूट जाए!) माँ पार्वती ने पीछे मुड़कर देखा तो वहाँ भावगुण खड़ा था। तब उन्होंने कहा, ''अरे, तुझे स्वर्ण दे दिया तब भी तू खड़ा क्यों है?'' वह बेचारा बोला, ''स्वर्ण ब्राह्मण को दिया, मुझे नहीं। मैं तो धर्माचार मानकर ब्राह्मण को देखते ही आदर से उसे पीढ़ा देकर स्वयं खड़ा हो गया। उसे मिलनेवाली दक्षिणा में बाधा न आए इसलिए कुछ बोला भी नहीं। आप ईश्वर, वह ब्राह्मण। आप तो सर्वज्ञ हैं, आप यह न जान पाए, यह मैं स्वप्न में भी नहीं सोच सकता।'' यह सुनते ही पार्वती माँ कुपित हो गईं और उन्होंने उस बेचारे भावगुण भंडारी को शाप दिया— (अपराधी ब्राह्मण को कुछ नहीं कहा) ''तुम्हारी जाति को नारियल की माड़ी और ताड़ी बेचकर ही जीवन-यापन करना पड़ेगा। तुम्हारी जाति हमेशा दरिद्र रहेगी। भंडारी को कभी भी स्वर्ण प्राप्ति नहीं होगी।'' तब से भंडारी जाति ताड़ी-माड़ी बेचकर ही जी रही है। पर मेरे परिचय का एक भंडारी चतुर निकला। उसने महादेव के चार मंदिर बनवाए, उनसे अपनी अनुशंसा कराई और पार्वती के शाप की धार भोथरी कर वह धनवान् हो गया। श्रीमंत भागोजी कीर भंडारी जाति के हैं, पर उनके घर में, बैंक में, जेब में सब जगह सोने के सिक्के होते हैं और हम उस ब्राह्मण के वंशज होकर भी, जिसे पार्वती माँ ने स्वयं स्वर्ण दिया, एक छल्ले भर सोने के लिए तरस रहे हैं।

जाति की उत्पत्ति दर्शानेवाली ऐसी सैकड़ों कथाएँ पुराणों में हैं; पर कहीं भी

रक्तबीज की परीक्षा कर सुजनन के लिए आवश्यक होने से उच्च या नीच जाति की निर्मिति की गई है, इसकी किंचित् सूचना भी इनमें नहीं मिलती। जात-पाँत की उत्पत्ति की अधिकतर सारी कथाएँ ऐसी ही बिना पेंदे की, निरर्थक और कपोल कल्पित हैं।

वास्तव में भंडारी जाति का मूल राजपूत है। भांड का अर्थ 'बड़ी नौका' होता है। संस्कृत और पेशवाई के कागज-पत्रों में भी 'भांडे' शब्द नौका के लिए ही प्रयुक्त है। (भांडे के दो मान्य अर्थ हैं—नौका और पात्र। अंग्रेजी में भी 'वेसल' शब्द के 'नौका' और 'पात्र' ऐसे ही दो अर्थ होते हैं। यह साम्य उल्लेखनीय है।) मौर्य काल से भंडारी जाति के पूर्वज सामुद्रिक सैनिक थे, वे पेशवाई तक वैसे ही बने रहे। मौर्य काल से ही 'भांड' सेना के अधिकारी और 'भांडी' निर्माणकर्ता भी होते थे, अत: उनकी जाति को भंडारी कहा गया। अब यह जाति निर्मिति की कथा अधिक विचारणीय है या पुराण की, महादेव के पसीने की बूँद की घानी में जुते नंदी की? कोंकण में भंडारी नौकायन का मुख्य व्यवसाय करते हैं। नारियल की नीरा-ताड़ी का व्यवसाय द्वितीय है। इसे ही बिना समझे-बूझे किसी पुराण-पाठी ने कथा रचकर पुराण में घुसेड़ दी। जैसे पुराणवाचक वैसे ही बेचारे भंडारी। उन्होंने अपनी जाति की उत्पत्ति की यह वाहियात कथा ही स्मरण में रखी और असली कथा भुला दी।

दरजी उपजाति की उत्पत्ति

भावसार क्षत्रिय जाति के टूटे टुकड़े की उत्पत्ति के संबंध में एक मजे की चर्चा वर्तमान में दरजी समाज में प्रचलित है, अब उसकी बात करें। संत नामदेव के काल तक भावसार क्षत्रिय रोटी, बेटी सब बातों में एक जात, एक रक्त, एक बीज मूल हिंगला देवी की शाक्तपंथीय जाति थी। इस जाति में से जो लोग नामदेव के शिष्य हो गए और जिन्होंने भक्तिमार्ग स्वीकार किया, उन्हें नामदेव दरजी कहने लगे और यह एक उपजाति ही बन गई। इसके होने का कारण था शाक्तपंथियों का भक्त-संप्रदायी लोगों का बहिष्कार करना। रोटीबंदी, बेटीबंदी लागू हो गई। उनमें से किसी के रक्तबीज की वैज्ञानिक परीक्षा हुई और सुजनन के लिए कम योग्य साबित हो गए इसलिए नहीं। केवल दैवत्व अलग हो गए। फिर इन नामदेव दर्जियों में कुछ नासिक की ओर, कुछ कोंकण में, कुछ नागपुर में, ऐसे गुटों में काफी दिन रहने के कारण एक-दूसरे समूह से जाति व्यवहार न हो पाया। कारण कोई वैज्ञानिक प्रतिबंध नहीं था, केवल आने-जाने के सुगम साधन, जैसे रेलगाड़ी आदि नहीं थी। अत: उन नामदेव दर्जियों में तीन अनुजातियाँ पैदा हो गईं। सभी में रोटीबंद,

बेटीबंद। ये सारी बातें ऐतिहासिक कागजों में लिखी हैं। इसलिए कथावाचकों को उन्हें शंकर, पार्वती, नंदी आदि के सूत्र में बैठा नई कहानी गढ़ने का मौका न मिला। अन्यथा महादेवजी की कौपीन लाड़ में या झगड़े में पार्वती के हाथों फट जाने से उनकी फटी चिंदी से ये नामदेव अनादिकाल में उत्पन्न हुए—ऐसी कथा रचकर कोई कथावाचक किसी पुराण ग्रंथ में घुसेड़ देता या Heredity, Eugenics आदि भारी-भारी शब्दों के आवर्तन कर यह अनुजाति शास्त्रीय आधार पर ही निर्मित है ऐसी गप्प-कथा कोई गोमाजी शास्त्री छाती ठोककर कहता। दर्जियों की सारी अनुजातियाँ अर्वाचीन हैं इसलिए एक ठोस साक्ष्य मिलता है कि उनमें से किसी ने भी मौलिक संगठन के बाहर बेटी व्यवहार नहीं किए। अर्थात् रक्तबीज आदि की ऊँच-नीच के कारण जातियों का विभाजन हुआ, यह बिलकुल झूठ है। उस समय तेज गति वाहन नहीं होने के कारण ये जातियाँ एक-दूसरे से कट गईं, अलग हो गईं। भौगोलिक कारणों से एक जाति में जो भेद दिखते हैं उसका मुख्य कारण उनमें उत्तम रक्तबीज की कमी नहीं, वाहनों की कमी थी।

अंडे पर पैर पड़ा और जाति बँट गई

कुछ कारणों से जातिरूढ़ि तोड़ने के आरोप पर जाति बहिष्कार का दंड देकर एकदम अलग कर देने की यह प्रक्रिया आज भी वैसी ही चल रही है। छोटे-छोटे नमूने न देकर एक बड़ी जाति में घटित स्तंभित कर देनेवाला एक प्रकरण यहाँ प्रस्तुत है।

मालवा में ओसवाल नामक एक विख्यात और प्रमुख जाति है। सन् १९३१ में उनमें एक गड़बड़ी पैदा करनेवाली घटना घटी। उस जाति के एक सेठजी के घर में लगे हुए एक चित्र के पीछे चिड़िया ने अपना घोंसला बनाया और उसमें दो अंडे दिए। उसमें से एक सुपारी के आकार का अंडा नीचे आ गिरा, गिरने से फूटा और उसके अंदर का चिपचिपा पदार्थ भूमि पर गिरा। उसी समय सेठजी का दस वर्ष का लड़का दरवाजे में से कमरे में घुसा और उस अंडे के चिपचिपे द्रव्य पर उसका पैर पड़ा। घर के बड़े आदमियों ने देखा तो उन्होंने पाया कि वहाँ अंडा गिरकर फूटा था। यह छोटी सी बात इस मुँह से उस मुँह में होते-होते फैलती गई। अंडे पर पैर पड़ा, पैर से अंडा फूटा, यह पाप हुआ, बच्चे के पैर ने अधर्म किया। सेठ बागमल का लड़का अधर्मी हो गया।

ओसवाल जैन पक्के शाकाहारी। उस लड़के को उसके घरवालों ने ही भोजन की पंगत से अलग बैठाना शुरू किया। एक-दो दिन में जैन श्वेतांबर मंदिर में जाति पंचायत बुलाई गई। पूर्वोक्त पक्ष पर गंभीरता से विचार हुआ। चिड़िया के

अंडे पर अनजाने लड़के का पैर पड़ा और पैर गंदा हो गया, उस भयंकर हिंसा दोष के लिए उस लड़के को जाति बहिष्कृत किया जाए या नहीं। वाद-विवाद हुए। दो पक्ष हो गए। जाति टूटी। उस लड़के के परिवार को जाति से अलग किया गया। उसके पक्ष में जो बोले उन सबको जाति बहिष्कृत किए जाने की नौबत आ गई। पर नए जमाने में ऐसे प्रकरण न्यायालय में जाने लगे थे। सेठजी ने भी प्रकरण को न्यायालय में ले जाने की धमकी दी। पंचायत चुप हो गई। पर फिर भी अनेक परिवार ने उस चिड़िया के अंडे पर पैर रखनेवाले लड़के के परिवारवालों से रोटी-व्यवहार बंद कर ही दिया।

उपर्युक्त नए-पुराने उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक, जैन, लिंगायत आदि अखिल हिंदू राष्ट्र में जो हजारों जातियाँ हो गई हैं वे आनुवंश या सुजनन या अन्य किसी समाजशास्त्रीय रक्तबीज परीक्षा की जाँच करके विभाजित की गई हैं—ऐसा भ्रम फैलाना केवल गप्पबाजी है। आज की जातियों में से हजारों अनुजातियाँ केवल प्रांत, भाषा, धर्म, मत, मुरगा खाना या बकरा मांसाहार या शाकाहार, लहसुन या प्याज, खड़े-खड़े बुनाई करना या बैठकर करना, गंधपात्र फेंकना, अंडे पर पैर पड़ना—ऐसे वाहियात कारणों से निर्मित हुई हैं। एक संघ, एक प्राण, अखंड राष्ट्रीय देह के जाति बहिष्कार की तलवार से खंड-खंड कर हजारों टुकड़े कर दिए हैं। कुछ भी हो जाए करो जाति बहिष्कृत और जाति बहिष्कृत माने रोटीबंदी, बेटीबंदी, जन्म-जन्म, पीढ़ी-दर-पीढ़ी। कहाँ है इसमें आनुवंश, यह तो केवल वाहियात आत्मघात है।

इसीलिए बड़ौदा जैसे राज्य में गँवार, अनाड़ी और जिन्हें पता ही नहीं है कि उनके निर्णय के राष्ट्रीय परिणाम क्या होंगे—ऐसी जाति पंचायत के अधिकार क्षेत्र से जाति बहिष्कार का यह आत्मघाती शस्त्र निकाल लेने के लिए विधि बनाई जा रही है, जो उचित है। वाहियात कारणों से निर्मित इस जातिभेद को समूल उखाड़ फेंका जाना चाहिए और उसके लिए आवश्यक है रोटीबंदी को तोड़ना, सहभोज आयोजित करना।

(किर्लोस्कर)

□

प्रकरण—७

वज्रसूची

'फलान्यथौदुंबरवृक्षजाते: मूलाग्रमध्यानि भवानि वापि।
वर्णाकृति:स्पर्शरसैस्समानि तथैकतो जातिरिति प्रचिंत्या॥ १॥
तस्मान् गोऽश्ववत्कश्चित् जातिभेदोऽस्ति देहिनाम्।
कार्यभेदनिमित्तेन संकेत: कृत्रिम: कृत:॥ २॥'

(भविष्य पुराण, अ. ४०)

बौद्ध धर्म के जो महान् प्रचारक हुए उनमें अवशघोष की योग्यता बड़ी मानी गई। उनका लिखा संस्कृत श्लोकबद्ध 'बुद्धचरित्र' काव्य वाङ्मय के क्षेत्र में उत्कृष्ट, पूज्य एवं प्रासादिक ग्रंथ माना जाना है। उसकी गणना संस्कृत वाङ्मय की काव्य संपत्ति के एक माननीय ग्रंथ के रूप में की जाती है।

इस विद्वान् बौद्ध प्रचारक ने 'वज्रसूची' नामक एक अन्य ग्रंथ की भी रचना की है, जिसका विषय जन्मजात जातिभेद है। बौद्ध धर्म की उत्पत्ति के बाद हिंदू राष्ट्र में वैदिक और बौद्ध ऐसे दो धर्मपंथों के बीच जन्मजात जातिभेद के तीव्र मतभेद का जो प्रश्न बन गया था, उसपर अश्वघोष ने अपने ग्रंथ में जातिभेद प्रथा पर तर्कमूलक चर्चा की है।

उपनिषद् काल से ही वन-उपवनों में स्थित आश्रमों में स्वतंत्र तत्त्व चिंतन का भारतीय वातावरण हमेशा निनाद करता रहा। उसमें श्रुति-स्मृति द्वारा रेखित मंत्ररेखा की मर्यादा की भी चिंता न करते हुए बुद्धकाल में बुद्धिवाद स्वतंत्र अकुंठित संचार करने लगा, फिर तो राष्ट्र और मानव चिंतन के हर क्षेत्र में यह ऐसा क्यों, इस प्रश्न की अग्निपरीक्षा में उस काल के सारे मत, रूढ़ियाँ, आचार-विचार साधक-बाधक चर्चा की ज्वाला में कुंदन की तरह दमकने लगे। वैदिकों ने बौद्धों के और बौद्धों ने वैदिकों के हर वचन, मंत्र, कोटिक्रम, कुशाग्र

तर्कों की धुनकी से धुनक-धुनक तार-तार अलग कर दिया। वैदिक-वैदिक से जब चर्चा करता या बौद्ध-बौद्ध से वाद-विवाद करता जब उनकी तर्कशुद्धता को हमेशा 'इतिश्रुति' या 'इतिबुद्धानुशासन' की अनुलंघ्य मंत्ररेखा की बाधा आगे बढ़ने से रोकती। क्योंकि श्रुतिवाक्य झूठ है, यह कहना वैदिकों के लिए असंभव है, वैसे ही 'बुद्धवाक्य' झूठ है यह कहना बौद्धों के लिए सर्वथा निषिद्ध। इस कारण श्रुति की परख, परीक्षा वैदिक तर्क के लिए मना, बौद्धगम की परख, परीक्षा बौद्ध तर्कशक्ति को मना।

पर वैदिक और बौद्धों के बीच जब उपनिषद् काल से प्रचलित चले आए 'तद्विद् संवाद' पर चर्चा होने लगी तब श्रुति आदि सब अनुल्लंघनीय एवं अशंकनीय मर्यादाएँ भी तर्क की गति को रोक नहीं सकीं। क्योंकि बौद्धों को इतिश्रुति का डर नहीं होता था, वे तो हर मंत्र को तर्क की भट्ठी में और हेतुवाद की चंदन शिला पर घिस, परख लेने के बाद भी टिका तो लेते थे। वैदिकों के लिए 'इति बुद्धानुशासनम्' की कोई चिंता न रहती। वे बुद्ध के हर शब्द को तर्क की मार के नीचे लाते थे। ऐसी स्थिति में बुद्धकाल में श्रुति-स्मृति, अगम-निगम, रीति-रूढ़ि, आचार-विचार इन सब छन्नों में से छनकर पुरुष बुद्धि अग्निपरीक्षा से गुजरने को बाध्य हुई। श्रुतियों को भी पुरुष बुद्धि की परीक्षा में बैठकर ही जो प्रमाण-पत्र मिल सकता था वह प्राप्त करना आवश्यक हो गया। ऐसी ऊहापोह इतनी बड़ी मात्रा में आज तक नहीं हुई थी।

इसी कारण बुद्धकाल के धर्म-अधर्म, कर्म-अकर्म, आचार-अनाचार इन सबकी परख करनेवाली निर्मल एवं स्वतंत्र तर्क की कसौटी पर कसी गई चर्चाएँ आज बड़ी मनोरंजक एवं बोधप्रद लगती हैं। कुशाग्र बुद्धिवाद के उस समय के मान से अप्रतिम एवं अकुंठित उदाहरण आज भी पठनीय और विचारणीय लगते हैं। ग्रंथ का उल्लेख कर उसमें ऐसा लिखा है—इसलिए वह सत्य है, ऐसा कह तर्क का मुँह बंद करने की परिपाटी सहसा नहीं दिखती। युक्तिसंगत, हेतुगम्य, बुद्धिनिष्ठ ऐसे उस काल के जो उदाहरण आज भी उपलब्ध हैं, उन्हीं में जन्मजात जातिभेद की रूक्ष और खड़ी भाषा में साधक-बाधक चर्चा करनेवाले श्रीमत् अश्वघोष रचित 'वज्रसूची' नामक निबंध को गिना जाना चाहिए। उसमें आज की तर्क पद्धति का सर्वत्र अवलंबन न होते हुए भी उस समय के चातुर्वर्ण्य विषय पर जो कुछ अनुकूल, प्रतिकूल, आक्षेप-प्रत्याक्षेप चलते थे उनका विचार आज भी अध्ययनीय लगे, इतने बुद्धिवाद से किया गया है। आज के जन्मजात जाति निर्मूलन के वाद में आधार प्राप्त करने के लिए नहीं अपितु इस विषय पर उस काल में इस राष्ट्र के नेतृत्व के क्या मत-विमत थे, उसे समझ लेने के लिए उपयुक्त और

अपरिहार्य एक प्राचीन अधिकृत लेख मानकर उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

श्रीमत् अश्वघोषकृत 'वज्रसूची'

जगतगुरु श्रीमंजुघोष की अनेक वंदना कर और उनका स्मरण कर उनका शिष्य मैं अश्वघोष 'वज्रसूची' नामक ग्रंथ शास्त्राधारपूर्वक प्रारंभ कर रहा हूँ। धर्म और अर्थ की विवेचना करनेवाली श्रुति और स्मृति के मत-मतांतरवाले भाग को यद्यपि मैं प्रमाण नहीं मानता तथापि उसमें वर्णित विश्वसनीय एवं संयुक्तिक भाग को प्रमाण मानने में मुझे कोई आपत्ति नहीं।

परंतु श्रुति-स्मृति को इस तरह प्रमाण मानते हुए भी मुझे लगता है कि चातुर्वर्ण्य विषयक उसकी कल्पनाएँ उस ग्रंथ के आधार पर सिद्ध नहीं की जा सकतीं।

पहले ब्राह्मण की विवेचना करें। आप ब्राह्मण किसे कहते हैं? जीव, जाति, जन्म, आचार, वेदज्ञान, ज्ञान? ब्राह्मणत्व किससे आता है? इनमें से किसे ब्राह्मण कहेंगे?

जीव को ही आप ब्राह्मण कहेंगे तो वेदों में वैसा मानने का कोई आधार नहीं है। जीव की एक स्वतंत्र जाति ही ब्राह्मण है। कुछ भी हो, वह ब्राह्मण की ब्राह्मण ही रहेगी। ऐसे मत का वेद बिलकुल समर्थन नहीं करते। प्रत्यक्ष देवों के लिए जब वेद कहते हैं, 'सूर्यः पशुरासीत। सोमः पशुरासीत। इन्द्रः पशुरासीत पशवो देवाः ॥' देवता भी प्रथम पशु ही थे, तदनंतर कर्मबल से देव हुए, तो ब्राह्मण का जीव मूलतः ब्राह्मण है और वह ब्राह्मण अपरिवर्तित ब्राह्मण ही रहेगा—यह कैसे सिद्ध होगा? अधिक क्या कहें, नीच से नीच जो हैं श्वपाक वे भी ब्राह्मण तो क्या देव भी हो सकते हैं, हुए हैं—'आद्यत्ते देवा पशवः श्वपाका अपि देवा भवन्ति' ऐसा श्रुति ही कहती है। वैसा ही अनुवाद 'महाभारत' ने किया है। 'महाभारत' में तो एक जगह स्पष्ट लिखा है कि कालिंजल पहाड़ी के सात शिकारी, दस मृग, मानस सरोवर का एक बतख, शरद् द्वीप का एक चक्रवाक—ये सब कुरुक्षेत्र में ब्राह्मण के रूप में जनमे और वेद पढ़ उसमें पारंगत हुए। मनु कहता है, चतुर्वेद और उसके अंग-उपांग में प्रवीण ब्राह्मण यदि शूद्र से दक्षिणा या दान स्वीकार करेगा तो उसे गधे के बारह जन्म, सूअर के छह जन्म और सत्तर जन्म कुत्ते के होंगे। इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण का यह जीव ब्राह्मण स्वरूप है और वह कभी भी अब्राह्मण नहीं हो सकता। यह कल्पना श्रुति-स्मृति को स्वीकार नहीं है।

अब आप यह कहें कि ब्राह्मणत्व माँ-बाप से अर्थात् रक्तबीज से प्राप्त होता है, ब्राह्मण माँ-बाप के पेट से जिसका जन्म होता है वह और वही ब्राह्मण है तो वह

कल्पना भी शास्त्र-विरुद्ध है। स्मृति के हर श्लोक से यह स्पष्ट है। अचल मुनि का जन्म हाथी के पेट से, केशपिंगला का उल्लू के पेट से, कौशिक का घास के पेट से, द्रोणाचार्य का मटके से, तैत्तरी ऋषि का पक्षी के पेट से, व्यास का मत्स्यकन्या से, कौशिकी का शूद्रिणी से, विश्वामित्र का चांडाल से, वशिष्ठ का वैश्या से—ये सारे उदाहरण स्मृति से दिए जाने से आपको मान्य करने ही होंगे। इन सबके माँ-बाप ब्राह्मण न होते हुए भी उन्हें आप ब्राह्मणत्व के अधिकारी मानते हैं। अतः माँ-बाप के द्वारा ही ब्राह्मणत्व मिलता है, ब्राह्मण माँ-बाप के पेट से जन्म ले वही ब्राह्मण हो सकता है—यह कहना असत्य हो जाता है।

स्मृति के श्लोकों की बात भी छोड़ दें और प्रत्यक्ष व्यवहार में घटित जो कुछ सुनने में आता है तथा देखा जाता है उसका विचार निस्संकोच करें। अनेक उदाहरण देखने में आते हैं, जिनमें शूद्र पुरुष से ब्राह्मण स्त्री का गुप्त संबंध हो जाता है और वह संतति ब्राह्मण कुल में ही समाई रहती है। माँ-बाप में से एक या दोनों के ही ब्राह्मण न होते हुए भी मनुष्य को ब्राह्मणत्व प्राप्त हो जाने के प्राचीन (स्मृति में उद्धृत) एवं अर्वाचीन उदाहरणों के आधार पर यह कहना कि ब्राह्मणत्व माँ-बाप से ही मिलता है, झूठ है।

ब्राह्मण माँ-बाप के उदर से जन्म लेने से प्राप्त ब्राह्मणत्व की पैतृक उत्पत्ति को सच मानें तो एक बार प्राप्त ब्राह्मणत्व मरने तक समाप्त नहीं होना चाहिए। ब्राह्मण पितरों के उदर से जो मिले वह तो आजीवन रहेगा ही, क्योंकि उसके प्राप्त होने की जो प्रथम शर्त है वह जनमते ही पूर्ण हो चुकी है। पर हमारी स्मृतियों को पढ़ें तो कुछ अलग ही दृश्य दिखता है। मनु कहते हैं, जो ब्राह्मण मांस भक्षण करेगा वह तत्काल ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाएगा। जो ब्राह्मण मोम, दूध, नमक बेचेगा वह तीन दिन में शूद्र हो जाएगा। अर्थात् ब्राह्मण माँ-बाप के उदर से जन्म लेना ही एकमेव ब्राह्मणत्व का कारण नहीं है या ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का उपाय नहीं है। जन्म से निश्चित होनेवाला ब्राह्मणत्व नीच कर्म से अकस्मात् नष्ट कैसे हो जाएगा? आकाश में उड़नेवाले घोड़े के भूमि पर उतरते ही सूअर बन जाने की कथा क्या किसी ने सुनी है या उसपर विश्वास किया है?

ब्राह्मणत्व शरीर का धर्म है, किसी एक विशिष्ट शरीर में ब्राह्मणत्व आवेशित है—ऐसा कहेंगे तो बड़ा घोटाला हो जाएगा। ब्राह्मण का शरीर प्रेत होते ही जो उसे चिता पर रख अग्नि देगा, उन्हें ब्रह्म हत्या का पाप लगेगा। वध किए जाने पर दंड का भागी होगा। क्योंकि ब्राह्मणत्व यदि शरीर में होगा तो जो शरीर जलाएगा वह ब्रह्म हत्या करेगा। जिन श्लोकों में ऐसा लिखा हुआ होता है कि यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन, दान, प्रतिग्रह ये सारे कार्य ब्राह्मण की देह से निर्मित होते हैं—

ऐसे मतवादियों से हम यह प्रश्न करते हैं कि ब्राह्मण का शरीर नाश होते ही उन सारे कर्मों के गुणधर्मों का नाश हो जाता है क्या? उनका उत्तर होगा 'कभी नहीं'। तो इसका अर्थ होगा ब्राह्मण का शरीर माने ब्राह्मणत्व नहीं। इतना ही नहीं, वह ब्रह्म कर्म का उत्पत्ति स्थान भी नहीं है।

अब ज्ञान से ब्राह्मण होता है ऐसा कहें तो ठीक, पर व्यवहार में लाया जाए तब। उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार जो भी ज्ञानी है उसे ब्राह्मण के सारे अधिकार दिए जाने चाहिए। ज्ञान से ब्राह्मणत्व प्राप्त होता हो तो अनेक शूद्रों को ब्राह्मण मानना पड़ेगा। चतुर्वेद, व्युत्पत्ति मीमांसा, सांख्य, वैशेषिक, ज्योतिष, तत्त्व ज्ञान आदि में पारंगत पंडित शूद्रों में आज भी हैं और मेरे परिचित हैं; परंतु उनमें से किसी को भी ब्राह्मण मानकर उन्हें ब्राह्मणत्व के अधिकार सौंपे नहीं गए हैं। अत: आप जिसे ब्राह्मणत्व कहते हैं वह केवल ज्ञान से प्राप्त होता है, ऐसा आप कैसे कह सकते हैं?

आचरण से ब्राह्मण निश्चित होता है ऐसा कहेंगे, परंतु व्यवहार में आप अपनी इस व्याख्या के अनुसार रत्ती भर भी चलते नहीं हैं। भाट, कैवर्तक और भांड आदि के आचार कितने सात्त्विक होते हैं देखें, अनेक कष्ट सहन कर वे कड़ाई से धर्माचार का पालन करते हैं। साधारण ब्राह्मण से उनके आचार इतने सात्त्विक होने पर भी आप उन्हें गलती से भी ब्राह्मण नहीं कहते।

ज्ञान के अन्य विभाग में कोई कितना ही पारंगत क्यों न हो, उसे ब्राह्मणत्व नहीं मिलता। ब्राह्मणत्व तो वेदपठन एवं वेदज्ञान प्राप्त करके ही संपादित किया जा सकता है, ऐसा कहेंगे; पर हम पूछते हैं कि रावण वेद में पारंगत था पर उसे राक्षस कहा जाता था, ब्राह्मण नहीं। उस युग के राक्षस वेदपठन करते थे फिर आप उन्हें ब्राह्मण क्यों नहीं कहते?

सारांश यह है कि आप किस गुण के कारण या किस धर्म के कारण ब्राह्मणत्व निश्चित करते हैं, यह आप समझते नहीं हैं। ब्राह्मण किसे कहा जाए? इसका आप विचार ही नहीं करते। कोई एक कसौटी निश्चित करें और उस कसौटी पर जो खरा उतरे वही ब्राह्मण हो, ऐसा आपका आचरण नहीं है।

मेरे विचार से ब्राह्मण का लक्षण यह है कि वह एक निष्कलंक गुण है। जिसके कारण पाप घटता है वह ब्राह्मणत्व! व्रततप, दान, शमदम संयम आदि से सुसंपन्न मनुष्य एवं अविवेक, अहंकार, राग व द्वेष से मुक्त, संग व परिग्रह के लिए अशक्त, दया जिसका ध्येय, वह ब्राह्मण! इन सद्‌गुणों के विरुद्ध जो दुर्गुणी व दुष्ट वह चांडाल! वेदों और शास्त्र में ब्राह्मणत्व का यही सामान्य लक्षण है। शुक्राचार्य तो इससे भी आगे जाकर कहते हैं कि देवों को जाति की परवाह नहीं होती, अधमाधम गिनी जानेवाली जाति में जनमे सज्जन व्यक्ति को वे ब्राह्मण कहते हैं।

सज्जन शूद्र को भी संन्यास का अधिकार नहीं, उन्हें तो द्विजों की सेवा ही करनी होगी; क्योंकि शूद्र तो नीच है। आपके ऐसे विधान का आधार क्या है? तो कहा जाता है कि चातुर्वर्ण्य की गिनती में 'शूद्र' शब्द अंत में आता है, इसलिए वह नीच है ऐसा कहना बचपने का चरम प्रदर्शित करने जैसा है। इतना भी आपको कैसे ध्यान में नहीं आता, समझ के बाहर है। बोलते या लिखते समय जो शब्द प्रवाह में आगे-पीछे लिखे-कहे जाते हैं वे उच्च या नीच का प्रदर्शन करने के लिए नहीं होते। उच्चारण में सहज गति आने के लिए या व्याकरण की दृष्टि से आगे-पीछे रखे जाते हैं। ऐसे शब्दक्रम का अर्थ यदि हमेशा ऊँच-नीच के अर्थ में लिया तो क्या-क्या हास्यास्पद स्थिति बन सकती है, देखें—

पाणिनि का एक प्रसिद्ध सूत्र है—'श्वानं युवानं मधवानमाह।' अब इसमें श्वान पहले आया है तो क्या कुत्ता इंद्र (मधवान) से श्रेष्ठ और इंद्र कुत्ते से नीच समझा जाए। दन्तौष्ठ समास में 'दंत' पहले आया है इसलिए दाँत होंठों से श्रेष्ठ होगा क्या? वास्तव में होंठ ज्येष्ठ, दाँतों का जन्म तो बाद का। 'उमामहेश' कहा जाता है तो क्या उमा को महेश से श्रेष्ठ मानें। वैसे ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहने से शूद्र नीच? कितना ही सज्जन हो, पर यदि वह शूद्र है तो वह दुर्जन है ऐसा कहना बचपना ही तो होगा। शूद्र को इसीलिए संन्यास का अधिकार भी है।

मनु ने अपने ग्रंथ में, शूद्र नीच होते हैं—ऐसा कहा है, ऐसा आप कहते हैं—शूद्र स्त्री का स्तनपान जिसने किया है या जिसपर शूद्रिणी ने फूँक मारी है या जिसकी माँ ही शूद्र हो ऐसे ब्राह्मण कुल को ब्राह्मण जाति में प्रायश्चित्त लेकर भी प्रवेश मना है। जो शूद्र स्त्री से अन्न-पानी लेता है वह ब्राह्मण इसी जन्म में शूद्र एवं अगले जन्म में कुत्ता होगा। शूद्र स्त्री को 'राखना' भी नहीं चाहिए। ऐसा करनेवाला ब्राह्मण मरने पर नरक में जाता है। ऐसी सारी व्यवस्थाएँ मनु के ग्रंथ में हैं, यह सच है। परंतु उसे सच मानें तो ब्राह्मण जन्म से ब्राह्मण है और वह कुछ भी करे ब्राह्मण का शूद्र नहीं होता, यह आपका मुख्य सिद्धांत ही असत्य है। शूद्र सदाचारी हो तो ब्राह्मण हो जाता है और दुराचारी हो तो ब्राह्मण ही शूद्र हो जाता है—यह हमारा सूत्र ही सत्य है। मनु ने अपने ग्रंथ में यह भी स्पष्ट किया है कि शूद्रों ने अपने पुण्यशील आचरण से ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है। काठीन मुनि और उर्वशी का पुत्र वशिष्ठ, कुलाल स्त्री का पुत्र नारद—ये जन्मतः शूद्र होते हुए भी तप और सदाचार से ब्राह्मण हुए। नीच कुल में जन्म लेकर पुण्य के बल पर स्वर्ग तक पहुँचे, ऐसे लोगों के चाहे जितने उदाहरण मिलते हैं, उन्हें क्या आप नकार देंगे?

ब्राह्मण के लिए जो मैंने कहा वही क्षत्रिय के लिए भी वैसा-का-वैसा ही लागू है। बड़े राजा का वंश होते हुए भी सद्गुणों का अभाव हो तो वह क्षत्रिय भी

तिरस्कार के योग्य है—ऐसा मनु कहता है। चार जाति-वर्ण की कल्पना ही असत्य है। मनुष्य की जाति केवल एक है।

तुम्हीं कहते हो ब्रह्मदेव ने सारी मनुष्य जाति उत्पन्न की, फिर उनमें एक-दूसरे से रक्तबीज संबंधविहीन चार जातियाँ कैसे निर्मित हुईं? मुझसे मेरी पत्नी को चार बालक हुए वे सब एक ही जाति के तो होंगे! फिर एक ब्रह्मदेव की चार संतानें जाति से अलग-अलग कैसे होंगी?

जाति की भिन्नता वास्तव में कैसी होनी चाहिए?

यदि जाति अलग माननी हो तो भेद कैसा होना चाहिए, यह निश्चित करने के लिए प्राणियों की जातियाँ कैसे निश्चित होती हैं—वही देखना चाहिए। इंद्रियादि रचना के मूल भेद से ही जाति की विलगता निश्चित होती है। घोड़े का पैर हाथी के पैर जैसा नहीं होता। शेर की टँगड़ी और मृग की टँगड़ी एक जैसी नहीं होती। इस तरह के शरीर और इंद्रियों के रचनात्मक मूल भेद के आधार पर ही एक जाति दूसरी से अलग है, यह निश्चित किया जाता है। पर उसी अर्थ और आधार पर ब्राह्मण और क्षत्रिय की दो जातियाँ कभी भी नहीं मानी जा सकतीं। उनके पैर उस तरह से अलग-अलग नहीं होते। बैल, साँड़, घोड़ा, हाथी, गधा, बंदर, बकरा आदि के जनन अंग, रंग, आकार, ध्वनि, मल-मूत्र तक में इतना मौलिक अंतर होता है कि उनमें प्रत्येक को भिन्न जाति के रूप में सरलता से पहचाना जाता है। मनुष्य में उसी आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय भिन्न जातियों के हैं ऐसा क्या कभी कहा जा सकता है? जैसे पशुओं में वैसी ही स्थिति पंछियों में। कबूतर, तोता, कौआ, मोर आदि के ध्वनि, रंग, पंख, जितने मूल रूप में भिन्न होते हैं उतना और वैसा भिन्नत्व क्या कभी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में होना कभी संभव है? वृक्षों में बड़, पीपल, बबूल, अशोक, ताड़, चंपा आदि के तने, पत्ते, फूल, फल, छिलके, बीज सबकुछ अलग, उनकी जाति अलग। परंतु इसी अर्थ में जाति शब्द से ब्राह्मण-क्षत्रिय आदि में विभेद करना संभव ही नहीं, इतने ये चारों वर्णों के लोग अंतर्बाह्य एक-जाति हैं। हड्डी, रक्त, मांस, अवयव आदि लक्षण अभिन्न हैं। हास्य-रोदन, भाव-भावना, रोग-भोग, जीने-मरने की रीतिकृति, डर के कारण, कर्मों की प्रवृत्ति आदि इतने एक जैसे हैं कि घोड़ा और बैल में जितनी सहजता से जातिदर्शक भिन्नत्व दिखता है वैसा भिन्नत्व चार वर्णों के बीच कभी दिख नहीं सकता, इसीलिए उनके साथ भिन्न जाति का विशेषण लगाया ही नहीं जा सकता और उस अर्थ में उन्हें एक-जाति ही समझना अनिवार्य है।

गूलर और बड़ के पेड़ों में डाली, तना, टहनी, जड़ सब स्थानों पर फल

लगते हैं, लेकिन डाली पर लगा फल तने या जड़ पर लगे फल से रंगाकृति, स्पर्श, रस में बिलकुल समान होता है और इसीलिए वे फल एक ही हैं—ऐसा हम समझते हैं। अलग जाति के नहीं मानते। टहनी के सिरे पर लगे गूलर को ब्राह्मण गूलर कहें क्या? उसी तरह आप कहते हैं कि ब्रह्मदेव के शरीर के अलग-अलग भाग से ब्राह्मण, शूद्रादि उत्पन्न हुए, ऐसा मान भी लें तो भी उन्हें भिन्न जातीय कैसे माना जा सकता है? वे अलग-अलग जातियों के कैसे होंगे?

वैशंपायन-धर्मराज संवाद

महाभारत में वैशंपायन और धर्मराज के बीच हुई एक चर्चा इसी संदर्भ पर अच्छा प्रकाश डालती है, उसे देखें। धर्मराज ने प्रश्न किया—"हे वैशंपायन ऋषि! आप ब्राह्मण किसे कहते हैं और ब्राह्मण के लक्षण क्या हैं?" इस प्रश्न के उत्तर में वैशंपायन अंत में कहते हैं—"युधिष्ठिरजी, सत्य, दया, इंद्रिय दमन, परोपकार एवं तपाचरण ये गुण जिसमें हैं उसे मैं ब्राह्मण समझता हूँ, जिसमें इन गुणों का अभाव है उन्हें शूद्र। ये पाँच गुण माने ब्राह्मणत्व। यदि ये गुण किसी चांडाल में हों तो वह भी ब्राह्मण ही है। पहले भूलोक पर एक ही जाति थी, फिर आचार, कर्मादि भिन्नत्व बढ़ने से चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था स्थापित हुई। 'एकवर्णमिदं पूर्वं विश्वमासीत् युधिष्ठिर। कर्मक्रियाप्रभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्॥' सब मानवों की उत्पत्ति स्त्री से एक ही पद्धति से होती है, सबकी दैहिक आवश्यकता, अंतरइंद्रिय एक जैसी होती हैं अर्थात् जाति अलग न होकर जिसका आचरण अच्छा वह ब्राह्मण, बुरा वह शूद्र अर्थात् आचरण सुधारते ही वह शूद्र तत्काल ब्राह्मणत्व का अधिकारी हो जाता है। हे राजा! इसलिए इंद्रिय मोह से अलिप्त और सद्‌शील शूद्र को दान देना सत्कृत्य ही है और स्वर्ग प्राप्ति करानेवाला भी। जाति का विचार असत्य, सद्‌गुणों पर ही ब्राह्मणत्व अधिष्ठित है। जो दूसरे के कल्याण के लिए दिन-रात लगा रहता है वह ब्राह्मण, जो जीवन सद्‌कृत्यों में खपाता है वह ब्राह्मण, क्षमा, दया, सत्य, शौच, ज्ञान विज्ञान से जो युक्त वह ब्राह्मण।"

'महाभारत' ग्रंथ में वैशंपायन ऋषि ऐसा कहते हैं। मित्र, आप भी इसे समझें, उस सत्मार्ग पर चलें।

अज्ञान दूर हो इसलिए मैं, अश्वघोष ने यह प्रवचन किया। पट गया आपको तो ठीक, किसी ने उसे जान-बूझकर टाल दिया तो भी मैं उसका बुरा न मानूँगा। इति वज्रसूची।

उपर्युक्त प्रवचन द्वारा अश्वघोष ने प्राचीन काल में प्रचलित आक्षेपों आदि का निराकरण उस काल की तर्क पद्धति के अनुसार किया है अर्थात् उस प्राचीन

लेख को तत्कालीन मानकों पर ही देखा जाना चाहिए, यह कहने की आवश्यकता नहीं। उपर्युक्त लेख में जन्मजात चातुर्वर्णीय जातिभेद के विरुद्ध जो-जो तर्क प्रस्तुत किए गए हैं उन्हें आज की परिस्थिति में पढ़ते समय उनमें जो कमियाँ हैं उस ओर भी दुर्लक्ष नहीं होना चाहिए। उसमें एक कमी ऐसी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वह यह कि उसमें ब्राह्मण जाति ही सारी ऊहापोह का केंद्र है। परंतु वास्तव में ब्राह्मणों को दिए हुए उत्तर क्षत्रियों से निम्न वर्णों को पैरों तले कुचलनेवाले क्षत्रियों पर भी यथावत् लागू होते हैं। वैश्यों में भी ऊपर के ब्राह्मण-क्षत्रियों को पीड़क वर्णाहंकारी आदि गाली देनेवाले हैं तो शूद्र, अस्पृश्य आदि निम्न वर्णों को अपनी उच्च बनियायी का पानी दिखाकर नीच वर्ण के ब्राह्मण बननेवाले लाखों वैश्य भी हैं। शूद्रों में भी 'त्रैवर्णिकोने' जातिभेद का ढोंग फैलाकर हमें नंगा किया, कहनेवाले शूद्र भी उनसे निम्न शूद्र उपजातियों को उसी जातिभेद के उसी ढोंग से हीन दरशाने से नहीं चूकते।

मंदिर प्रवेश के लिए महाराष्ट्र में शूद्रों द्वारा किए गए सत्याग्रह में सत्याग्रहियों के सिर पर लाठी मारनेवालों में अनेक 'मराठे' भी थे। नासिक के राममंदिर सत्याग्रह में अस्पृश्यों को मंदिर में प्रवेश न करने देनेवाले महा कट्टर विरोधी लोगों में केवल पंडित नहीं थे अपितु सेठजी और रावजी भी थे। अस्पृश्य घोड़े पर न बैठे, यह अधिकार केवल क्षत्रियों का है, ऐसा अहंकार दरशानेवाले अनेक क्षत्रिय राजाओं ने अस्पृश्यों को कठोर दंड दिए हैं। राजपूताने में गत दो वर्षों में कई-कई बार मारपीट किए जाने की घटनाएँ हुई हैं। एक शिक्षित मराठा कन्या द्वारा उच्च वर्णीय कुल में प्रेमविवाह करने की ठानने पर जातिगंगा भरकर उसके विरुद्ध मारपीट की धमकी देने तक बात बढ़ी और हिंदूसभा में उसकी शिकायत की गई। 'पांडव प्रताप' नामक ग्रंथ का उत्सव कर शोभायात्रा निकालनेवाले महारों पर शूद्रों के लाठी चलाने की घटना तो अभी ताजा ही है। गाँव खेड़े की पाठशालाओं में हमारे बच्चे के पास चमार, भंगी के बच्चे को नहीं बैठने दिया जाना या मारपीट तो बहुत ही सामान्य सी बात है। द्विजों के साथ एकासन करनेवाले शूद्र को दंडनीय कहनेवाले स्मृतिग्रंथों को गंदी गालियाँ देनेवाले शूद्र स्वयं के साथ अस्पृश्यों को एकासन करने नहीं देते। अधिक क्या कहें, अस्पृश्यों में भी निम्न जाति पर वही अन्याय उसी उच्च जातिमत के सूत्र से वे करते हैं, जो अन्याय ब्राह्मणों ने उनपर किए, इसलिए ब्राह्मणों से निम्न ब्राह्मणों को और अस्पृश्य स्पृश्यों को गालियाँ देते आए हैं। इस तरह सीढ़ी का हर ऊँचा डंडा अपने से नीचे डंडे को डंडा दिखाकर अपना उच्चत्व सिद्ध करता है।

नासिक में राममंदिर में घुसेंगे—ऐसा कहते ही ब्राह्मण, वैश्य, मराठों ने

महारों की पिटाई की और उस असमानता के लिए सात्त्विक एवं न्याय्य गुस्से से लाल महारों के मंदिर में यदि भंगी वैसा ही सत्याग्रह कर घुसने लगें तो वे ही महार उसी असमानता के झंडे की रक्षा करने के लिए भंगियों को पीटने से बाज नहीं आएँगे। रायगढ़ किले पर गत माह शिवाजी उत्सव के अवसर पर महार सहभोजन के लिए आए, इसलिए कुछ मराठा और ब्राह्मण उठकर चले गए। वैसे ही महारों की सार्वजनिक पंगत में भंगी लोगों के घुसते ही महार भी उनका प्रतिकार करने से चूकते नहीं।

इस तरह जातिभेद के पागलपन का दोष ब्राह्मण, क्षत्रिय या स्पृश्यों पर डालना केवल पक्षपात है। इस रोग से भंगियों तक हर जाति ग्रसित है। जाति अहंकार का रोग सबमें है। उसकी जो भी गालियाँ कोई ब्राह्मण या क्षत्रियों को देना चाहता है वह गालियाँ वास्तव में समान रूप से भंगियों तक हर जाति में बाँट देनी चाहिए।

मजे की बात यह कि इस जन्मजात जातिभेद के रोग को नष्ट करनेवाले सुधारकों में प्रमुख सुधारक ब्राह्मण ही थे; बुद्ध ने अपने बाद अपने संघ का पूरा बोझा एवं संचालकत्व का अधिकार एक ब्राह्मण को सौंपा था। वैसे ही मरने के पूर्व 'पीठाधिष्ठानवसन' के स्वयं को प्रांप्त अधिकार अपने जिस पट्ट शिष्य को सौंपे वह महाकाश्यप एक ब्राह्मण था। बौद्ध पंथ के बड़े-बड़े ग्रंथकार, सूत्रकार, प्रचारक, भिक्षु भी ब्राह्मण ही थे। वैष्णव संतों में अनेक प्रमुख आचार्य चैतन्य प्रभु, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, रामकृष्ण परमहंस सारे ब्राह्मण थे। आर्य समाज के संस्थापक दयानंद, ब्रह्म समाज के अध्वर्यु टैगोर, प्रार्थना समाज के रानडे ब्राह्मण थे। उसी तरह अनेक क्षत्रिय, अनेक वैश्य, अनेक शूद्र जैसे रोहिदास, चोखा, नंद तिरुपेल्लुयर जैसे अनेक अस्पृश्य भी महान् सुधारक हो गए हैं और हो रहे हैं।

अर्थात् ब्राह्मणों में, भंगियों में जाति अहंकारी, विषमतावादी, पीड़क जैसे मिलते हैं वैसे ही उसी अनुपात में जातिभेद नष्ट करने के इच्छुक समतावादी, सुधारक भी मिलते हैं। ब्राह्मण या क्षत्रिय ही लुच्चे और अन्य सब बड़े परोपकारी, साधु, समतावादी, सज्जन ऐसा कहनेवाला जातिभेद नष्ट करने का इच्छुक व्यक्ति जातिद्वेष का ही कार्य करता है, जाने-अनजाने जातिभेद ही सत्य है यह सिद्ध करता है। क्योंकि ब्राह्मण या अन्य कोई भी जाति जन्मतः और पूरी जाति ही खराब एवं अन्य जाति पूरी और जन्मतः ही पक्की तरह अच्छी, ऐसा कहें तो जातियाँ केवल मानी हुई, केवल पोथीजात न होकर वास्तविक जन्मजाति हैं, उनमें जन्मजात ऐसा कोई विशिष्ट विभेद है यही सिद्ध होता है।

ब्राह्मणों की या भंगियों की जाति में सब ही बुरे या सब ही अच्छे जन्मतः

ही विभाजित नहीं होते। ऐसा कहनेवाले किसी पगले का वह आक्षेप मूलतः झूठा और द्वेष-दूषित होता है। सारी जातियाँ मूलतः भिन्न नहीं हैं। जातिभेद जन्मतः नहीं होता, केवल माना हुआ, पोथीजन्य है यही निश्चित होता है।

अश्वघोष द्वारा लिखित 'वज्रसूची' में ये सारे सिद्धांत सूचित हैं, पर उचित स्पष्टीकरण के लिए हमने उपर्युक्त स्पष्टीकरण दिया है।

(किर्लोस्कर)

□

प्रकरण—८

मुसलमानों के पंथ-उपपंथों का धर्मविज्ञान दृष्टि से तुलनात्मक परिचय

हिंदू धर्म में घुसे हुए जन्मजात जातिभेद, अस्पृश्यता आदि रूढ़ियों की तरफ अंगुली दिखाकर मुसलमान प्रचारक भोले-भाले हिंदुओं को कहते रहते हैं कि तुम मुसलमान बनो! हम में जातिभेद, पंथभेद नहीं है। हमारा धर्मग्रंथ एक, पैगंबर एक, पंथ एक, हमारे धर्म में सारे मुसलमान एक समान, कोई ऊँच-नीच नहीं। मुसलिम मौलवियों का यह वाग्जाल कितना तथ्यहीन है यह दिखाने के लिए हम मुसलिम धर्मपंथ की सत्य जानकारी देनेवाले एक-दो लेख लिख रहे हैं।

किसी एक धर्म का पक्षपात या पक्षघात करने की अन्यायी एवं अहितकारी दुर्बुद्धि न रखते हुए केवल 'सत्य' (जो है उसका यथावत् ज्ञान) ही सब धर्मों के अध्ययन की न्यायिक एवं हितकारी कसौटी है—यह मानकर जिसे सब धर्मों का स्वतंत्र अध्ययन करना हो, उसे जो पहला सूत्र सीखना चाहिए या जिस शर्त का पालन करना चाहिए वह यह है कि मनुष्यजाति में अज्ञान युग के हाटेटांट अंदमानी द्वीपों के धर्ममत को लेकर अत्युच्च वेदांत विचार तक, जो भी धर्ममत प्रचारित हुए या हो रहे हैं, वे सारे अखिल मानवजाति की सामूहिक संपत्ति हैं; उस विशिष्ट परिस्थिति में मनुष्य के हितार्थ सूझी हुई, ऐहिक एवं पारलौकिक कल्याण के लिए रचित वह योजना होने से वे प्रयास अखिल मानवजाति के कृतज्ञ आदर के पात्र हैं। ऐसी ममत्व एवं समत्व की सादर भावना से ही उन सब धर्ममतों का अध्ययन करें, उनके धर्मग्रंथों को पढ़ें, उन सारे धर्मग्रंथों का सम्मान करें।

हर उस धर्ममत में जो भी चिरंतन सत्य हो उसको स्वीकार करने में हम सबका हित है। जो कुछ उस परिस्थिति में सत्य लगा या उस संघ को उस काल

सीमा में हितकर था, परंतु आज जो विज्ञान की शोध ज्योति के झकाझक प्रकाश में निश्चित सत्याभास है कि आज की परिस्थिति में वह मनुष्य-हित में बाधक है उसका त्याग करने में ही हम सबका हित है। उस सबको त्यागना सत्य के शोधकर्ता का और मनुष्य के उद्धार के लिए प्रयासरत रहने के इच्छुक प्रामाणिक साधक का कर्तव्य है, धर्म-कर्तव्य है।

कारण कुछ भी हो, परंतु जो ऐहिक एवं पारलौकिक धारण करता है वह धर्म है—'धारणात् धर्ममित्याहु:'। धर्म की यह व्याख्या इतनी सुसंगत और बुद्धिनिष्ठ है कि उसे नकारने का साहस धर्म-उन्मादियों को भी सहसा न होगा।

अर्थात् किसी भी धर्ममत में या धर्मग्रंथ में 'यह' ऐसा है इसलिए वह सत्य एवं कृत्य होगा ही, ऐसी किसी अध्ययनकर्ता की बुद्धि को पहले कदम पर ही पंगु बना देनेवाली किसी प्रतिज्ञा से धर्माधर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने का इच्छुक विज्ञानवादी स्वयं को बाँधकर नहीं रखेगा। वेद के अध्ययन के प्रारंभ में ही यदि 'वेद ईश्वरकृत है और इसलिए इसका हर अक्षर सत्य ही होगा। उसके किसी भी अक्षर को असत्य कहनेवाला नरक में जाएगा।' ऐसी प्रतिज्ञा स्वीकार करने पर अवेस्ता, तौलिद, बाइबिल, कुरान आदि अन्य धर्मग्रंथों का पक्षपातरहित दृष्टि से अध्ययन करना संभव न होगा। वैसे ही कुरान ईश्वरकृत है, इसलिए उसका हर अक्षर सत्य। यदि सहज झूठ ही कहा जाए कि तू मरने पर नरक में नहीं जाएगा, यहीं-के-यहीं तुम्हें मार डालना चाहिए तो ऐसी प्रतिज्ञा करना तर्क न होकर लाठी मार ही होगा। जो ऐसा मानेगा उसे कुरान के बाद अन्य धर्मग्रंथों का अध्ययन करना संभव नहीं होगा। उन्हें तो अधर्मग्रंथ के रूप में पढ़ा जा सका तो पढ़ा जा सकेगा।

परंतु विकृत पूर्वग्रह स्वीकार करने से साफ इनकार करनेवाला विज्ञानवादी वेद, अवेस्ता, कुरान आदि हर ग्रंथ को पक्षपातरहित दृष्टि से और उस ग्रंथ में प्रवृत्ति-निवृत्ति पर हुए लेखन ने उस काल में जो मनुष्यजाति की सापेक्ष उन्नति की होगी, उसे परखकर एक सीमा तक कृतज्ञता से अध्ययन करने को मुक्त रहेगा। अरस्तू, प्लेटो, चाणक्य, ह्यूम, हस्कले, हेगेल, मार्क्स आदि के धर्म दीवानेपन की कक्षा में न समानेवाले जागतिक ग्रंथों को उसमें निहित भिन्न मतवाद से या आज कच्चे लगनेवाले भौतिक विधेयों से विषाद न करते हुए जैसे ममत्व बुद्धि से, समतोल बुद्धिवाद की कसौटी पर परखते हुए, निर्भयता से उसे मानवजाति की संयुक्त संपत्ति मानते हुए, उनका सम्मान करते हुए हम सब पढ़ते हैं, वैसे ही यदि हम सब वेद, अवेस्ता, बाइबिल, कुरान आदि सारे धर्मग्रंथों को उसी वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से पढ़ें तो उनके तुलनात्मक अध्ययन से हर उस ग्रंथ के सैद्धांतिक सत्य एवं उपयुक्त आचार स्वीकार करने के लिए अधिक खुलेपन से तैयार हो

जाएँगे और उन ग्रंथों के नाम पर धर्म के पागलपन में जो कत्लेआम एवं रक्तपात हुए उनके होने की आशंका भी नहीं रहेगी। विज्ञान ग्रंथों (Scientific Works) को पढ़ते हुए जैसे विद्युत् या रेडियम के उत्पत्ति-सूत्र में मतैक्य न होते हुए भी रक्तपात होने की आशंका जन्म नहीं लेती।

मिल्टन, होमर, वाल्मीकि, उमर आदि के काव्य; कांट, स्पेंसर, कपिल, स्पिनोसा आदि के तत्त्वज्ञान के ग्रंथ, इतिहास ग्रंथ, विद्युत् प्रकाश, ऊर्जा आदि के वैज्ञानिक ग्रंथ, यंत्रविद्या, वैद्यक, शिल्प, उपन्यास आदि के लाखों ग्रंथ विश्व में कहीं भी लिखे गए हों, उन सभी को संयुक्त विश्व की साझा संपत्ति मानकर ममत्व और समत्व से, शांति से पढ़ा जाता है। ऐसा नहीं होता कि ग्रंथालय में पढ़ते-पढ़ते एकाएक जोश में आकर आपस में भिड़ जाएँ। वैसे ही ये दस-पाँच धर्मग्रंथ हम क्यों नहीं पढ़ सकते? इन दस-पाँच पुस्तकों के कारण पिछली दस-पाँच सदियों में सिवाय रक्तपात, उत्पात और विध्वंस के कुछ नहीं हुआ। आदमी आदमी का बैरी हो गया। ऐसा तो किसी अधर्म ग्रंथ के कारण होना था, धर्मग्रंथ से तो नहीं।

बुद्धिवाद के विरुद्ध आक्षेप

किसी भी विषय के ग्रंथों को अपने तर्कशुद्ध बुद्धिवाद से जैसे हम परखते हैं वैसे ही उपर्युक्त सारे धर्मग्रंथों को ममत्व और समत्व से सादर पढ़कर विज्ञान की अद्यतन कसौटी पर उन्हें परखें और जो उत्तम है उसे मानव की सामूहिक संपत्ति मानकर हम सब स्वीकार करें।

हमारी उपर्युक्त सूचना पर एक निश्चित आक्षेप जो किया जाता है और जो शब्दनिष्ठ प्रवृत्ति का होता है, वह यह कि 'पुरुषबुद्धि अधिकतर हर व्यक्ति की भिन्न होती है, वह अस्थिर और परिवर्तनशील भी होती है इसलिए मनुष्य को ऐसा कोई ठोस आधार नहीं मिलता।' पुरुषबुद्धि स्खलनशील परंतु ईश्वरीय आज्ञा अस्खलनशील, त्रिकाल बाधित होती है इसलिए किसी एक ईश्वरोक्त ग्रंथ को प्रमाण न मानने पर मानव की जीवननौका बिना पतवार बिना गंतव्यबोध के भटकने लगती है। अच्छे-बुरे के बारे में पक्का निर्णय, अभिमान तोड़ सके ऐसा अंतिम प्रमाण मिलना कठिन हो जाता है।

ऐसा कोई निश्चित प्रमाण ईश्वर ने सचमुच ही दिया होता तो कितना अच्छा होता, परंतु···

वेद, अवेस्ता, कुरान, बाइबिल ये सब ईश्वरप्रणीत ग्रंथ हैं ऐसा मानें तो भी उपर्युक्त आक्षेप की आपत्ति नहीं टलती। यही मुख्य बाधा है, क्योंकि ईश्वर निर्मित, अपौरुषेय, ईशप्रेषित ऐसे जो पचास-पचहत्तर ग्रंथ भिन्न-भिन्न मनुष्य समुदाय ने

स्वीकृत किए हुए हैं वे अत्यंत पारस्परिक विधानों से भरे हुए हैं। इन सारे ग्रंथों में से हर ग्रंथ बिना विवाद जो एक बात कहता है वह यह कि वह एकमात्र ग्रंथ ईशप्रेषित परम प्रमाण है, और शेष सारे पाखंड हैं।

उपर्युक्त में से वेद, कुरान किसी को भी ईश्वरोक्त समझ लें तो भी बात बनती नहीं है, क्योंकि यही एक ईश्वरोक्त है और अन्य मनुष्यकृत, यह कौन निश्चित करेगा? पुरुषबुद्धि ही तो? परंतु जिस किसी तर्क से वे अन्य ईश्वरोक्त नहीं हैं ऐसा निश्चित करें तो उन तर्कों से एक भी ग्रंथ ईश्वरोक्त नहीं है—यही सिद्ध होता है।

तर्क पद्धति को तिलांजलि देकर केवल लाठी से भैंस हाँकने के न्याय से कोई एक ग्रंथ मनुष्य समाज पर लादा जाए और कहा जाए कि यही ईश्वरोक्त, स्वयं प्रमाण है और शेष सारे ग्रंथ झूठ हैं—ऐसा लाठी फरमान हो तब भी पुरुषबुद्धि फिर से अपनी हरकतें शुरू करने और स्वयं प्रमाण ग्रंथ से स्वयं के हाथ की गुड़ियाँ बनाने का काम छोड़ेगा नहीं। क्योंकि एक ग्रंथ के अर्थ तो अनेक होते हैं। इस आपत्ति से मुक्ति नहीं मिलती। इससे मुक्ति का एक ही उपाय था और वह यह कि स्वयं ईश्वर एक ही ग्रंथ ईश्वरोक्त कहकर सब जगह भेजता और उसी के साथ उस ग्रंथ के हर अक्षर का एक ही अर्थ मानव को सूझना अनिवार्य कर डालता, दूसरा अर्थ सूझे ही नहीं, ऐसी पुरुषबुद्धि कर डालता। तब केवल एक ही ग्रंथ ईश्वरोक्त रहता और हमेशा रहता। पर वैसी कोई व्यवस्था ईश्वर ने की नहीं। इसलिए एक ही ग्रंथ को अहं प्रमाण, स्वयं प्रमाण, ईश्वरोक्त प्रमाण के रूप में मानें तो भी उसका भाष्य करने का काम चूँकि उस पुरुषबुद्धि को ही करना पड़ता है जो बहुत भिन्न, अस्थिर, अप्रतिष्ठ होती है, इसलिए एक ही ग्रंथ में अनेकता, अस्थिरता, विविधता आती है और ग्रंथ अप्रतिष्ठित हो जाता है।

उदाहरणार्थ, पहले वेद को लें। वेद अपौरुषेय हैं पर 'प्रमाणं परमं श्रुतिः' माननेवाले करोड़ों धर्म-जिज्ञासु हिंदुओं के लिए 'वेद' एक धर्मकेंद्र होते हुए भी उसके हर मंत्र और हर शब्द की अर्थ भिन्नता से अनेक वेद हो जाते हैं। पुरुषबुद्धि के सिवाय उसका अर्थ लगाने का दूसरा साधन मनुष्य के लिए उपलब्ध न होने से जितने पुरुष उतने वेद, उतने पंथ, उतने ही भिन्न प्रमाण होते हैं। एक कहता है वेद में पशु यज्ञ है, दूसरा कहता है नहीं ऐसा नहीं है। तीसरा तीसरे ही विकल्प की बात करता है। एक को मांशासन, जन्मजात अस्पृश्यता, मूर्तिपूजा, केशवपन, वेदांत आदि वेद में हैं ऐसा लगता है; उसी वेद के उसी मंत्र के आधार पर ये सब आचार प्रथा वेदबाह्य है—ऐसा दूसरे को लगता है। बहुतकाय ईश्वर एक है यह वेद के आधार पर एक पक्ष उच्च स्वर से कहता है तो मीमांसा आदि पंथ भिन्न पुरुष के पार

या देवता के पार ईश्वर है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। कोई वेद का आधार लेकर संन्यासियों की निंदा करता है तो 'यदहरेव विरजेत। तदहरेव प्रव्रजेत। वनाद् वा गृहाद्वा॥' ऐसा वेद आधार पर ही अन्य पंथ मानते हैं। एक मजे की बात यह कि यह सारी एक-दूसरे से भिन्न बातें कोई ऐरा-गैरा नहीं कह रहा, ये तो यास्क, कपिल, जैमिनी, शंकर, रामानुज से लेकर दयानंद तक बड़े-बड़े आचार्य कहते हैं। वे सब स्थितप्रज्ञ, योगी, सिद्ध, साक्षात्कारी थे। कौन सच, कौन झूठ, कैसे चुनें? चुने बिना कैसे रहें? और चुनाव तो पुरुषबुद्धि से ही होगा। अंतिम बात यह कि यद्यपि वेद ग्रंथ अक्षर रूप में एक हैं फिर भी अर्थ रूप से जितने टीकाभाष्य और अर्थकार उतने शताधिक वेद हो जाते हैं।

सारांश, पुरुषबुद्धि को टालने के लिए एक ग्रंथ को परम प्रमाण ही नहीं अपितु ईश्वरोक्त प्रमाण मान लेने पर भी मनुष्य को ऐहिक और पारलौकिक पथ-प्रदर्शक पुरुषबुद्धि के सिवाय दूसरा कोई भी मिलना संभव नहीं है।

अंतर इतना ही है कि पुरुषबुद्धि से जो तर्क प्रतिष्ठ लगेगा वही लेंगे, ऐसा स्पष्ट कहने के बाद भी अन्य ग्रंथों की तरह वेद, कुरान, बाइबिल आदि ग्रंथ भी पढ़े और अनुसरण किए तो मतभेद होने पर वह गाली-गलौज, लाठी-डंडा चलने तक जाने की आशंका बहुत अधिक नहीं होती। वैज्ञानिक ग्रंथ पढ़ और परिस्थिति के अनुसार उसका सामना करने या पैंतरा बदलने के लिए आदमी स्वतंत्र रहता है, पर ईश्वरोक्त वेद का मैं करूँ वही अर्थ ईश्वरोक्त है, ऐसा कहने और ऐसा ही मानते हुए वेदपठन और उसपर आचार करने का दुराग्रह रखा तो मेरा जो विचार वही ईश्वर का विचार ऐसा खुराफाती अहंकार पालनेवाला व्यक्ति धार्मिकता के नशे में झूमने लगता है और वेद का अर्थ करने का ठेका मेरा, तेरा नहीं, ऐसा चिल्लाते हुए मनुष्य मनुष्य का भयानक शत्रु हो जाता है और विचार व्यक्त करने का स्थान व्यक्ति को ही नामशेष करने में हो जाता है। मेरा विचार मेरी मानवीय बुद्धि के अनुसार है यह भावना मन में रहे तो व्यक्ति धार्मिकता में पगला न जाए जितना कि वह यह मानने पर हो जाता है कि मेरा कहा—ईश्वर का कहा है। इस भाव से तो वह उन्मादी हो जाता है। सर्वसामान्य व्यक्ति पर लागू होनेवाला यह सत्य नकारा नहीं जा सकता।

परंतु जिन्हें ऐतिहासिक और बुद्धिनिष्ठ दृष्टि से इन धर्मग्रंथों का अध्ययन करना होता है, उन्हें भी उन मंत्र उद्गाता ऋषियों या ईसा, मूसा, मोहम्मद आदि बड़े-छोटे शताधिक पैगंबरों द्वारा प्रेषितों के, संतों और साधुओं के अंतःस्फूर्त संदेश ईश्वर ने स्वयं ही कहे हैं ऐसा पूर्ण निश्चय था, उन महान् पैगंबर, साधु, संत, ऋषि, महर्षि आदि से व्यक्तिपरक चर्चा करने का कोई कारण नहीं है। उन महान् विभूतियों की वह निष्ठा सच्ची थी, उन्हें वे स्वयं ही ईश्वर के अवतार या ईश्वर के प्रेषित,

पैगाम लानेवाले हैं ऐसा जो लगता था वह उनके लिए एक सत्य ही था, ढोंग नहीं था—ऐसा मानते हुए भी हम विज्ञाननिष्ठ अध्ययनकर्ताओं को वे धर्मग्रंथ, शब्द-शब्द की निष्ठा से न पढ़कर जैसेकि कोई मनुष्यकृत ग्रंथ पढ़ा जाता है वैसे ही तर्क की कसौटी पर कसते हुए पढ़ने की स्वतंत्रता का उपभोग करने का अधिकार है—ऐसा लगता है।

बुद्धि की स्वतंत्रता कहकर इसका उपभोग चाहते हैं। इन ग्रंथों का पुरुषबुद्धि से ही अध्ययन करना संभव है—ऐसा स्पष्ट कहते हैं। परंतु ग्रंथों को ईश्वरप्रेषित या अपौरुषेय माननेवाले लोग उनका भाष्य करते समय अवशता से, न कहते हुए पर समझते-बूझते हुए अंत में पुरुषबुद्धि की ही शरण जाते हैं इतना ही केवल अंतर है।

ग्रंथ को मनुष्यकृत मानकर पुरुषबुद्धि के साफ चश्मे से पढ़ना या ग्रंथ को ईश्वर-रचित मानकर उसका अर्थ उसी पुरुषबुद्धि के मैले चश्मे से पढ़ना परिणाम की दृष्टि से एक ही बात है। शब्द से वेद चाहे एक ही हो, पर अर्थ के भाव से जितने आचार्य, जितने भाष्यकार, जितने स्मृतिकार या जितने वाचक उतने वेद हो जाते हैं। यह तो हुई वेदों की बात, पर यह बात अकेले वेद की नहीं है। मानवजाति में जो-जो ग्रंथ ईश्वरीय माने गए हैं या माने जाएँगे उन सबकी यही गति होगी। तर्कत: वह अपरिहार्य है, वस्तुत: वैसा ही घटित भी हुआ है।

इसके दूसरे उदाहरण के रूप में इस लेख में प्रख्यात ग्रंथ 'पवित्र कुरान' (कुरानशरीफ) का इसी संदर्भ में इतिहास देखें। वेद में से शताधिक पंथ बने, उन सबने वेद के अपने-अपने भिन्न अर्थ माने और इस तरह प्रत्यक्ष में शताधिक वेद ग्रंथ बने, यह सारी कहानी अपने घर की ही होने के कारण काफी कुछ परिचय की है। पवित्र बाइबिल, जिसको वेद जैसा ही अपौरुषेय, ईश्वरप्रेषित मानकर सम्मान किया गया, वह ग्रंथ भी शब्दश: एक ही ग्रंथ है तब भी अर्थभाव से उसके सैकड़ों बाइबिल कैसे बने यह भी, यूरोप के इतिहास का जिन्हें काफी परिचय है ऐसे शिक्षित वर्ग को, काफी कुछ ज्ञात है। परंतु हमारे निन्यानबे प्रतिशत हिंदुओं को और हिंदुस्थान के लाखों मुसलमानों को यह निश्चित ज्ञात नहीं कि ईश्वरोक्त कहने के कारण सम्मानित मनुष्य जाति के एक और प्रख्यात और सुप्रतिष्ठित ग्रंथ की, कुरानशरीफ की भी, वही गत बनी हुई है। कुरानशरीफ शब्दश: एक ही ग्रंथ है, फिर भी भिन्न-भिन्न संप्रदाय उसके हर वाक्य और मतितार्थ का भिन्न ही नहीं अपितु अन्योन्य विरोधी अर्थ अपनी पुरुषबुद्धि की अपरिहार्य दृष्टि से करते आए हैं और इसीलिए अर्थभाव से एक कुरान के शताधिक कुरान बने हैं। उन भिन्नार्थवादी पंथ-उपपंथों में से किसके द्वारा लगाया जानेवाला भावार्थ सत्य है, यह प्रश्न हमारे सामने नहीं है। उनमें से कुछ प्रमुख पंथों ने कुरान के एक ही विधेय के कितने

विभिन्न अर्थ किए हैं। यह वास्तविकता है और जो वास्तविकता है उसे स्थालीपुलक न्याय के अनुसार दिखाना ही इस लेख का उद्देश्य है।

इसी संदर्भ में जानकारी देने के लिए प्रथम श्रेणी के प्रमाणित ग्रंथकारों का ही आधार लिया गया है। अंग्रेजी में कुरान का अनुवाद करनेवाले जॉर्ज सेल, कुरान के मराठी अनुवादक के समान ही यूरोप को मान्य होगा, ऐसी नई दृष्टि से कुरान का अर्थ देते हुए अंग्रेजी में उसका अनुवाद करनेवाले इंग्लैंड के प्रख्यात इसलाम प्रचारक डॉ. मोहम्मद साहेब, इसलाम संस्कृति के प्रगाढ़ अध्ययनकर्ता जस्टिस अमीर अली आदि नामवर इसलाम धर्म, इतिहास एवं संस्कृति आदि के लेखक वर्ग के ग्रंथों का हमने जो काफी वर्षों से अध्ययन किया, उसी आधार पर निम्न जानकारी का, हर शब्द का सावधानी से सहारा लिया है। जो चाहे वह उस जानकारी की जाँच कर सके इसीलिए लिये गए आधार का उल्लेख यहाँ कर रहा हूँ। यथावत् जानकारी देते हुए मेरा स्वयं का मत-प्रदर्शन कोष्ठक में दिया जाएगा।

पवित्र कुरान की संक्षिप्त रूपरेखा

'कुरान' शब्द का अर्थ—पढ़ने योग्य, पाठ्य या संकलन होता है। समय-समय पर ईश्वर की ओर से मोहम्मद साहेब को जो संदेश प्राप्त हुए वे फुटकर संदेश जिसमें इकट्ठा किए गए वह संचय, संग्रह, संकलन माने कुरान। पैगंबर का अर्थ होता है—पैगाम (संदेश) लानेवाला, ईश्वरीय संदेश लानेवाला, ईशप्रेषित। कुरान के एक सौ चौदह अध्याय हैं—अध्याय को 'सूदा' कहा जाता है। हर अध्याय के श्लोक को आयत कहा जाता है। कुरान की मूल सात अलग-अलग प्रतियाँ ज्ञात थीं। दो मदीना पंथी, तीसरी मक्का पंथी, चौथी कूफा में प्रचलित, पाँचवीं जिसे बास्रा में सम्मान प्राप्त है, छठवीं सीरिया की और सातवीं सर्वसाधारण में प्रचलित। इन प्रतियों की श्लोक संख्या भी अलग-अलग है। एक में छह हजार श्लोक हैं, तो दूसरी में छह हजार दो सौ छत्तीस।

यहूदी लोगों की तरह ही मुसलमानों ने पवित्र कुरान के शब्द सत्रह हजार छह सौ उनतालीस और अक्षर तीन लाख तेईस हजार पंद्रह गिने हैं। इतना ही नहीं अपितु हर अक्षर कुरान में कितनी बार आया है उसकी भी गिनती की गई है अर्थात् इन संख्याओं को विवादास्पद माननेवाले आचार्य हैं ही।

कुरान के कुछ अध्यायों के प्रारंभ में जिनका कोई रूढ़ अर्थ नहीं है ऐसे दो-चार अक्षर होते हैं। उस प्रयोग का क्या हेतु है यह जानने, यहूदी लोगों के धर्मग्रंथों की तरह ही मुसलमान धर्मशास्त्री मतभेद के भँवर में फँसे हुए हैं। कुछ कहते हैं, इन अक्षरों का अर्थ तो केवल ईश्वर को ही ज्ञात है या फिर मोहम्मद पैगंबर को ज्ञात

होगा। अन्य इस बात को न मानते हुए यथामति उसका अर्थ करते हैं। हर व्यक्ति अपने द्वारा किए गए अर्थ को ही सच्चा ईश्वरीय अर्थ मानता है। जैसे कुछ अध्यायों के प्रारंभ में अ, ल, म ये तीन अक्षर आते हैं। कुछ आचार्य कहते हैं इनका अर्थ मनुष्य को करना ही नहीं चाहिए।

उसका अर्थ ईश्वर या पैगंबर ही जाने। दूसरा पंथ कहता है, नहीं उसका अर्थ किया जाना चाहिए और वह अर्थ भी यही होगा कि 'अल्लाह, लतीफ, मजीद' इन तीन शब्दों के वे पहले वर्ण हैं और उनका अर्थ है—'ईश्वर दयालु और गौरवशाली है।' तीसरे कहते हैं उन तीन वर्णों से 'अनालमीनि' यह वाक्य बनता है और उसका अर्थ है—मुझे और मुझसे (सब पूर्ण और शुभ जन्म लेता है)। चौथा कहता है वह वाक्य अना-अल्ला-आलम है और उसका अर्थ है—सब ओर जो ईश्वर है वह मैं ही हूँ। पाँचवाँ कहता है वे आद्याक्षर हैं ही नहीं। कुरान की कर्ता शक्ति, प्रकट शक्ति एवं प्रचार शक्ति ऐसे तीन अल्लाह-जिब्रील-मोहम्मद का वह संकेत है और पहले का पहला अक्षर, दूसरे का अंतिम अक्षर और तीसरे का अंतिम से पहला उसी क्रम से लें तो अ, ल, म बनता है। छठा कहता है 'अ' मूल स्वर है, 'ल' तालव्य है और 'म' ओष्ठ्य है और इससे सूचित होता है कि ईश्वर सारे जग और कर्म का आदि, मध्य और अंत है और इसलिए उसका स्मरण नित्य आदि, मध्य, अंत में करना चाहिए। सातवाँ पंथ कहता है कि ये वर्ण संख्यावाचक हैं, जिनका योग ७१ है और वह यह निर्देशित करता है कि इतने वर्ष में इसलाम धर्म सारे विश्व में प्रस्थापित हो जाएगा।

(ईश्वरीय धर्मग्रंथ अक्षर-अक्षर एक होते हुए भी पुरुषबुद्धि उसके कितने विविध अर्थ करती है, इसका यह कितना सुंदर उदाहरण है—तीन अक्षर तीस अर्थ।)

कुरान के अध्यायों के नाम एवं मंगलारंभ वाक्य के संबंध में कुछ धर्मशास्त्रियों का मत है कि वे कुरान के अध्यायों की ही तरह ईश्वरोक्त हैं तो कुछ धर्मशास्त्री मुसलमानों के मत में वे मनुष्यकृत हैं, ईश्वरोक्त नहीं।

मुसलमानी शास्त्रीय मत परंपरा के अनुसार कुरान की रचना मोहम्मद साहेब या किसी मनुष्य ने नहीं की है, वह अनादि है। इतना ही नहीं, वह ईश्वरकृत भी नहीं है, वह तो ईश्वरमय ही है। उसकी पहली प्रतिलिपि जो लिखी गई वह ईश्वर के सिंहासन के पास की एक बड़ी मेज पर रखी हुई है। संपूर्ण भूत-भविष्य का लेखन भी उसी मेज पर अति उच्च स्वर्ग में लिखा रखा है। उस ईश्वरीय मेज पर रखी कुरान की एक प्रतिलिपि देवदूत जिब्रील के हाथों से सबसे नीचे के स्वर्ग में भेजी गई। वह रमजान माह की जिस रात को भेजी गई, उस रात का नाम 'शक्तिमती' था।

उस कागजी प्रतिलिपि का वह कुरान देवदूत जिब्रील द्वारा मोहम्मद साहेब को क्रमश: प्रकट किया गया। कुछ मक्का में, कुछ मदीना में, जैसा-जैसा अवसर आता गया वैसा-वैसा वह लिखित भाग जिब्रील की ओर से पैगंबर की चेतना में डाला गया। परंतु वह पूरी-की-पूरी दिव्य पुस्तक देखने का भाग्य भी मोहम्मद पैगंबर को जिब्रील की कृपा से वर्ष में एक बार मिलता था। रेशमी वस्त्र में बँधी सोने की कलाबत्तू से कढ़ी, स्वर्गीय हीरे-जवाहरात में मढ़ी वह दिव्य पुस्तक थी।

यद्यपि उपर्युक्त मत के अनुसार कुरान अनिर्मित एवं अनादि है और प्रत्यक्ष कुरान में वैसा न माननेवाले को पाखंडी कहा गया है, फिर भी हर महत्त्व के धर्म-प्रश्नों की तरह इस प्रकरण में भी मुसलमान धर्मशास्त्रियों में तीव्र मतभेद जो होना था हुआ। मोटाझलाईट और मोझदार के अनुयायियों का प्रबल इसलामी पंथ उपर्युक्त मत के पूरी तरह विरुद्ध है और उनके मत में कुरान को अनादि, ईश्वरमय एवं अनिर्मित मानना बहुत बड़ा पाप है, पाखंड है। इस संदर्भ के कुरान वाक्यों का वे उपर्युक्त से बिलकुल उलटा अर्थ निकालते हैं। यह मतभेद इतना बढ़ा कि अलमामून खलीफा के राज्य में, कुरान अनादि न होकर निर्मित है, ऐसी धर्माज्ञा जारी हुई और जो कुरान को अनादि, अनिर्मित मानेगा उसे कोड़े लगाने, कारा में बंद करने का और मृत्युदंड भी दिया गया। अंत में खलीफा अलमोतावक्केले ने दोनों ही पक्षों को अपने-अपने मत पर चलने की स्वतंत्रता दी।

कुरान जिस भाषा में लिखा है वह अरबी भाषा-शैली अरबिस्तान में इतनी श्रेष्ठ मानी जाती है कि उसी भाषा-शैली के आधार पर ऐसा सिद्ध करने का वे प्रयास करते हैं कि वह पुस्तक मनुष्यकृत न होकर ईश्वरकृत होगी। जो प्रतिपक्षी मोहम्मद पैगंबर को ढोंगी कहते हैं उनका हम आह्वान करते हैं कि वे इतनी सुंदर अरबी लिखकर दिखाएँ, ऐसी काव्यमय रचना करके दिखाएँ। परंतु चूँकि कोई भी ऐसी उत्तम अरबी लिख नहीं सकता, इसलिए कुरान ईश्वरोक्त ही होगा। कुरान मनुष्यकृत न होकर ईश्वरीय है—इसका दृढ़ साक्ष्य यही है कि उसकी भाषा-शैली अतुलनीय है।

(परंतु इस तर्क से तो इतना ही सिद्ध होता है कि मोहम्मद पैगंबर उत्कृष्ट कवि थे। मुसलमानों के मोटाझलाईट, मोझदार, नोधम आदि धर्मशास्त्रीय पंथ भी उपर्युक्त तर्क का उपहास करते हुए खुले-खुले कहते हैं कि कुरान से भी उत्कृष्ट अरबी भाषा-शैली मनुष्य लिख सकता है। और यह भी कि तर्क के आधार पर उत्कृष्ट अरब भाषा-शैली है, इसलिए कुरान ईश्वरीय है तो उत्कृष्ट संस्कृत भाषा-शैली या उत्कृष्ट मराठी, बँगला, तमिल, जर्मन, ब्राह्मी में लिखे ग्रंथों को भी ईश्वरीय मानना पड़ेगा।)

कुरान कैसे प्रकट हुआ? मोहम्मद पैगंबर जब चालीस वर्ष के आस-पास के थे तब एक गुफा में ईश्वर का ध्यान करने बैठते थे। वहाँ देवदूत जिब्रील मनुष्य रूप में आया और उसने कहा तेरा जो मालिक है उसका लिखा यह देख! मोहम्मद ने कहा, पर मुझे तो अक्षर न पढ़ने आते हैं, न लिखने। तब मोहम्मद पैगंबर को अंत:प्रेरणा से ईश्वरीय संदेश आने लगे। वे जैसे आते थे मोहम्मद उसका वैसे ही उच्चारण करते थे। उनके शिष्य उनको स्मरण रखते, कुछ लिख लेते। ऐसा बीस वर्ष होता रहा और पैंसठ वर्ष की आयु में जब मोहम्मद पैगंबर स्वर्गवासी हुए तब तक जो संदेश समय-समय पर मिले थे, वे उस समय अरबिस्तान में कागज बहुत प्रचलित न होने से चमड़े और खजूर के पत्तों पर लिखे गए। बाद में जो इधर-उधर थे उन्हें एक जगह संगृहीत किया गया। जो मौखिक थे वे सारे एकत्रित कर मोहम्मद के खास शिष्य और उत्तराधिकारी अबूबकर ने कुछ व्यवस्था से एक ग्रंथ में लिखे, वही कुरान है। मोहम्मद के पहले शिष्य अधिकतर लड़ाइयों में मारे जाने से जब यह कुरान संगृहीत किया गया तब कुछ संदेश छूट गए। स्थल-काल का अनुक्रम नहीं रहा। इस ग्रंथ में मोहम्मद पैगंबर के कई वाक्य, जो अन्यों को स्मरण थे, न आने से वे उसे अपूर्ण कहने लगे। इस संबंध में सभी मुसलमान धर्मशास्त्री एकमत हैं।

(इसका अर्थ यह है कि अपने वेद की जो स्थिति है कि उसमें कितनी ही श्रुतियाँ लुप्त हैं; व्यास ने जो मूल श्रुतियों का संकलन किया, वही आज का अनुक्रम है, उससे अधिक पुराना नहीं; ऋषि, देवता आदि विषयों का सुसंगत एकीकरण नहीं है; वही स्थिति अर्वाचीन होते हुए भी इस कुरान की हुई है। कितने ही ईश्वरीय संदेश छूट गए हैं, अत: उसे ईश्वरीय प्रमाण ग्रंथ माना तो उसमें उल्लिखित आज्ञाएँ ही केवल ईश्वरीय धर्म है, ऐसा समझना गलत है। क्योंकि जो संगृहीत हैं उनसे भिन्न और कोई ईश्वरीय आज्ञाएँ थीं ही नहीं—ऐसा नहीं कहा जा सकता।)

अबूबकर द्वारा किया गया यह संकलन (कुरान) मोहम्मद पैगंबर की अनेक पत्नियों में से एक विधवा स्त्री हप्सा, जो खलीफा उमर की कन्या थी, को सौंपा गया। परंतु पैगंबर की मृत्यु के बाद तीस वर्षों में ही उपर्युक्त दिए नाना कारणों से कुरान की एक से दूसरी न मिलनेवाली अनेक आवृत्तियाँ मुसलमानी साम्राज्य के अलग-अलग भागों में चलने लगीं। हर कोई अपने ही कुरान को सत्य मानकर दूसरे कुरान के पाठ भेद को पाखंड, धर्मबाह्य कहने लगा। अबूबकर के कुरान को उसके प्रतिस्पर्धी 'वह अबूबकर की स्वयं की कृति है' ऐसा कहते और ईश्वरीय होने का उसका अधिकार नकारते। यह सारा घोटाला ठीक करने के लिए खलीफा (उस्मान) आश्मन ने अलग-अलग प्रचलित कुरान की जितनी संभव हो सकीं

उतनी प्रतियाँ एकत्रित कर और हप्सा के पास की अबूबकर की प्रति को ही मान्य करते हुए उसमें जो कुछ है उसे ही मानने का आदेश जारी किया। अबूबकर के कुरान की हजारों प्रतियाँ तैयार करवाकर दूर-दूर तक बाँटीं तथा उससे अलग या कम-अधिक आयतोंवाली प्रतियाँ जप्त कीं और जला दीं।

इतने प्रयास के बाद आज का कुरान ईश्वरीय और सच्चा माना गया।

परंतु आज भी बहुत पाठभेद इसलामी धर्मशास्त्रियों के मतानुसार अस्तित्व में हैं।

इतने से भी काम न हुआ। परस्पर विरोध टालने के लिए भिन्न-भिन्न प्रतियाँ जलाकर एक ही कुरान रहने दिया तब भी उसमें ऊपर वर्णित कुछ पाठभेद हैं ही। पर उससे भी अधिक कठिनाई और आश्चर्य की बात यह कि उस ईश्वरीय मानी गई अनन्य प्रति में मोहम्मद पैगंबर के ही अनेक परस्पर विरुद्ध 'वचन' अनिवार्य रूप से आए हुए हैं। पैगंबर स्वयं ईश्वर का एक आदेश एक दिन कहते थे और दूसरे दिन पहले दिन के आदेश का एकदम उलटा आदेश लिखवाते थे। शिष्य हर शब्द को लिख लेते थे, पूरी ईमानदारी से। पर उनकी समझ में नहीं आता कि बिलकुल परस्पर विरोधी आदेश ईश्वर कैसे दे देता था। सर्वज्ञ ईश्वर को भी अपने विचार मनुष्य की तरह भिन्न-भिन्न परिस्थिति में बदलने पड़े। मोहम्मद साहेब का प्रतिपक्षी और अनुयायी भी इससे बहुत आश्चर्य और संदेह में पड़ गए। प्रतिपक्ष तो खुला आरोप लगाने लगा कि इससे यह साफ हो जाता है कि भूत-भविष्य-वर्तमान जाननेवाले सर्वज्ञ ईश्वर की यह रचना न होकर इसपर तो मनुष्यकृति होने की स्पष्ट छाप है।

किसी एक परिस्थिति में मोहम्मद की सत्ता और हित को जो अनुकूल लगा वह ईश्वर का आदेश है, ऐसा कहा गया। दूसरी परिस्थिति में जब वह नियम सत्ता पर छाए विभिन्न संकट के कारण अहितकारी लगने लगा तो मोहम्मद पैगंबर ने उलटा नियम कहकर उसे ईश्वर की अंतिम से अंतिम आज्ञा के रूप में प्रचारित किया। सर्वज्ञ ईश्वर यदि उस कुरान को लिखता तो पहले ही अपना गलत आदेश न देता या कह रखता कि कुछ समय बाद अमुक परिस्थिति आते ही मैं विपरीत आदेश देनेवाला हूँ। तब तक इस पहली का पालन किया जाए। ऐसा होता तो परस्पर विरुद्ध आदेश प्रसारित न होते। उससे ईश्वरीय कृति अधिक सजती। पर ऐसा न कर पहला आदेश त्रिकाल बाधित धर्म के रूप में कहा गया और बाद में 'मैंने गलती की, अब जो दूसरा आदेश कह रहा हूँ वो पहले के उलट होते हुए भी त्रिकाल बाधित सत्य है' ऐसा कहा जाना कुरान के रचयिता ईश्वर को मानव की तरह क्षणभंगुर बुद्धि का मानने की अपेक्षा सारे कुरान को ही मनुष्यकृत मानना ईश्वर

के सच्चे भक्तों को अधिक सरल था। मोहम्मद पैगंबर भी अपनी जीवित अवस्था में अपने प्रतिपक्ष का विरोध टाल न सके। प्रतिपक्ष के आरोपों का उत्तर वे इतना ही देते कि मैं क्या करूँ? ईश्वर ने जैसा समझा वैसा आदेश दिया, उसको कौन रोकेगा? कौन उसका मुँह पकड़ेगा? वह चाहे जैसा आदेश देगा। ईश्वर सत्य ही सर्वशक्तिमान और स्वतंत्र है। (अति शब्दनिष्ठ मुसलमान धर्मशास्त्री भी इन परस्पर विरुद्ध कुरान-वचनों का स्पष्टीकरण उपर्युक्त उत्तर से अधिक सुसंगत रीति से नहीं कर सकते।)

स्वयं पैगंबर के मुँह से निकले कुरान के परस्पर विरुद्ध वचन, जिनका उल्लेख ऊपर आया है, वे वैसे ही परस्पर विरुद्ध हैं, इस संबंध में अधिकतर इसलामी आचार्यों के साथ ही स्वयं पैगंबर का भी यही मत है। परंतु ऐसे केवल दो-तीन अपवाद नहीं हैं। इसलामी धर्मशास्त्री ऐसे अपवादों की संख्या दो सौ तीस मानते हैं। जैसे मोहम्मद पैगंबर के मुँह से ईश्वर ने सभी मुसलमानों को यह आदेश दिया कि तुम सब मुसलमान जेरुसलम (ज्यू लोगों का काशी तीर्थ) की ओर मुँह कर प्रार्थना करोगे। यह भी नहीं कहा कि यह आदेश अल्पकालिक है। अन्य सारे फरमानों की तरह यह फरमान भी त्रिकाल बाधित है, सर्वत्र सर्वथा अनुल्लंघनीय धर्माज्ञा की तरह उसी ढंग और भाषा में प्रथम दिया हुआ है। पर उसके अनेक वर्षों बाद ईश्वर ने दूसरा आदेश पहले के बिलकुल विपरीत किया कि जेरुसलम की ओर मुँह करके प्रार्थना न करते हुए सच्चे भक्त, मेरे भक्त मक्का की ओर मुँह करके प्रार्थना करेंगे। [कुरान को ईश्वरीय कृति मानने पर यह विरोध विसंगत लगता है। वही कुरान मनुष्यकृत मानने पर इन दो प्रार्थनाओं में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं लगता। क्योंकि पहले मक्का में प्राचीन अरबी धर्म के मूर्तिपूजक लोग प्रबल थे, उन्होंने मोहम्मद साहेब का उच्चाटन कर दर-दर की ठोकरें खाने को मजबूर कर दिया था। उनके विरोधी जब तक मक्का पर काबिज थे तब तक मोहम्मद साहेब के उन शत्रुओं का केंद्र मक्का था, इसलिए मक्का की ओर मुँह करके प्रार्थना करना मोहम्मद साहेब को पसंद न था। पर बाद में उन्होंने मक्का पर अपना अधिकार जमा लिया। मक्का चूँकि उनकी मूलभूमि, जन्मभूमि, तीर्थभूमि थी इसलिए उसपर कब्जा होते ही वह उनके इसलामिक धर्म की राजधानी और पवित्र क्षेत्र हो गया। इसलिए फिर संपूर्ण मुसलमानी समाज ने अपने धर्म राष्ट्र को एकसूत्री, एकमुखी, एकजीवी करने के लिए जो एकरूप बंधन लादे उनमें यह बंधन भी था कि हर मुसलमान मक्का की ओर मुँह करके ही नमाज (प्रार्थना) अता करेगा।]

इसलाम धर्म का जो संविधान ग्रंथ है उसमें ही इतने संदेह पैदा करनेवाली

न्यूनताएँ हैं तो उसे अविकल, अशंकनीय, अनन्य ईश्वरीय ग्रंथ कैसे मानें, यह उनके एकनिष्ठ अनुयायियों के लिए भी एक समस्या बन जाने से उन्हें उन न्यूनताओं को भरने के लिए अंत में पुरुषबुद्धि की सहायता कैसे लेनी पड़ी और चूँकि पुरुषबुद्धि 'श्रुतिर्विभिन्ना स्मृतयश्चभिन्ना' होती है; अतः मूल कुरान कौन सा है, कौन से श्लोक सच्चे हैं, कौन सी प्रतिलिपि पूर्ण है, किस पाठभेद का कौन सा अर्थ ग्राह्य है इन सारे प्रश्नों का भिन्न निर्णय देनेवाले आचार्यों की जितनी संख्या उतने कुरान हो गए हैं।

और जो स्थिति कुरान के मूलपाठ या विधान की है वही उसके हर वाक्य के अर्थ की बन गई है। एक ही वाक्य या विधेय के इसलामिक पंथ, उपपंथ, उपपंथ के आचार्यों ने कैसे भिन्न-भिन्न अर्थ प्रस्तुत किए—वह बोधप्रद और धर्मशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन के लिए उपयुक्त है। मैं यह जानकारी इस लेख के उत्तरार्ध में दे रहा हूँ।

उत्तरार्ध

पवित्र कुरान की जिन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख मैंने पूर्वार्ध में किया था और जो सामान्य हिंदू और मुसलमान को भी स्मरण रहनी चाहिए, उनका सार संक्षेप निम्नवत् है—

१. मोहम्मद पैगंबर को ईश्वर ने जो संदेश भेजे, जैसा उन्हें लगता था, वे सारे-के-सारे तत्काल लिखे नहीं जाने से उनमें से कुछ खो गए। पैगंबर की मृत्यु के बाद अबूबकर द्वारा किया गया उनका संकलन अपूर्ण है।

२. उस अपूर्ण कुरान में अनेक ईश्वरीय आज्ञाएँ परस्पर विरोधी हैं। एक आदेश को कहने के बाद ईश्वर ने उसे रद्द किया और दूसरा आदेश जारी किया। ऐसे कोई डेढ़-दो सौ प्रकरण हैं। इससे उस अपूर्ण कुरान में जो आदेश हैं उन्हें भी रद्द करने के आदेश उन खोए हुए और छूटे हुए भाग में होने की बहुत संभावना है। इसलिए जो उपलब्ध है वह कुरान भी कुछ-एक पंथों के मुसलमान आचार्यों के विचार से विश्वास करने योग्य नहीं है।

३. इसी कारण अबूबकर के कुरान से अलग सात-आठ कुरान ग्रंथ और प्रचलित हैं।

४. इन सात-आठ कुरानों में से अमुक एक कुरान सच्चा है, यह ईश्वर ने प्रत्यक्ष साक्ष्य से कहीं नहीं कहा। हाँ, उस्मान खलीफा ने अपनी दंडशक्ति से या लाठी के जोर से, उनकी पुरुषबुद्धि को उचित लगी इसलिए अबूबकर के कुरान पर सच्ची होने की मोहर लगाई और शेष को जलाकर या जप्त कर नष्ट कर दिया। सुन्नी पंथियों ने उसको स्वीकार किया।

५. पर इतना होने के बाद भी जिन्हें सुन्नी पंथ के सिद्धांत मान्य नहीं थे, उन शिया पंथियों की बड़ी-बड़ी मुसलमानी जमातों ने उस निर्णय को मान्यता नहीं दी। सुन्नी पंथियों का वर्तमान कुरान घटा-बढ़ाकर बना अविश्वसनीय ग्रंथ है, ऐसा शिया पंथ के आचार्य खुल्लमखुल्ला कहते हैं; पर सच्चा कुरान ग्रंथ हमारे पास है—ऐसा जो शिया पंथ के लोग कहते हैं उसको सुन्नी पंथ के मुसलमान झूठा ग्रंथ कहते हैं। सारांश यह कि पूर्ण ईश्वर प्रदत्त या ईश्वरोक्त लगनेवाले कुरान ग्रंथ का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

६. सुन्नी पंथ का जो ग्रंथ आज कुरान के रूप में सुन्नियों में आदरणीय है, उसमें भी अनेक पाठभेद हैं, यह बात अनेक मुसलमानी धर्मशास्त्री निर्विवाद रूप से मानते हैं।

सारांश यह कि यद्यपि धर्मग्रंथ का एक ही नाम कुरान है, फिर भी उस नाम का ईश्वरदत्त ग्रंथ कौन सा है—यह मानव बुद्धि से ही निश्चित करना पड़ता है। इसलिए भिन्न-भिन्न प्रतियों को भिन्न-भिन्न आचार्य सच्चा मानते हैं। इस तरह अनेक कुरान हो गए। शब्दशः देखें तो कुरान में शब्दशः एकवाक्यता नहीं है।

और अर्थशः देखें तो घेटाला शतगुना बढ़ा हुआ है। क्योंकि शब्दशः जो विचार एक पंथ मानता है उसी में अर्थशः अनेक भाव निर्मित होते हैं और उसके सैकड़ों अर्थ होते हैं तथा एक-एक अर्थ को प्रधानता देनेवाले अलग उपपंथ बनते हैं। उनमें से कुछ प्रमुख उपपंथ निम्न हैं—

१. **हानिफाई (सुन्नी)**—इस उपपंथ का नाम उसके आचार्य हानिफा के नाम पर पड़ा है। मोहम्मद पैगंबर की 'स्मृति' को यह पंथ अमान्य नहीं करता, फिर भी उसका शब्दशः पालन नहीं करता।

२. **शफाई सुन्नी**—यह आचार्य शफाई का अनुयायी पंथ है। मुसलमानी श्रुति (कुरान) और स्मृति (पैगंबर से संबंधित आख्यायिका एवं उनके स्वयं के वचन) इन दो की कक्षा में मानव बुद्धि को कोई स्वतंत्रता नहीं है। हर शब्द परम प्रमाण है, ऐसा इनका मत है। आचार्य शफी अमुक

एक बात सच या झूठ है यह कहते हुए कभी भी ईश्वर की सौगंध नहीं लेते थे।

३. **मालेकी सुन्नी**—इस पंथ के आचार्य का नाम मालेक है। जिन प्रश्नों पर कुरान और पैगंबर की आख्यायिकाओं में कोई स्पष्ट अभिप्राय नहीं है उन सारे प्रश्नों पर मालेक मौन रहता था, इतना वह और उसका पंथ शब्दनिष्ठ प्रवृत्ति का था। मृत्युशय्या पर पड़ा वह रो रहा था, उससे रोने का कारण उसके ही अनुयायियों ने पूछा तो आचार्य मालेक ने कहा, ''कुरान के वचनों के बाहर मैंने स्वयं की बुद्धि से कुछ निर्णय तो नहीं किए? यह चिंता ही मुझे रुला रही है। यदि मैंने कभी शास्त्र के आदेश के बाहर जाकर बरताव किया हो या निर्णय दिया हो तो वैसे हर मेरे मनगढ़ंत शब्द के लिए ईश्वर कोड़े से मेरी उतनी बार धुनाई करे।

४. **हानबाली सुन्नी**—पैगंबर के वचन एवं आख्यायिकाओं का यह पंथ अत्यंत अभिमानी है। इसके आचार्य हानबाल को पैगंबर की दस लाख आख्यायिकाएँ मुखोद्‌गत हैं—ऐसी उनके अनुयायियों में उसकी प्रसिद्धि थी। कुरान केवल अपौरुषेय नहीं, वह तो अनादि, अनिर्मित एवं स्वयंसिद्ध है और उसकी उत्पत्ति ईश्वर ने भी नहीं की। वह ईश्वरमय ही है, ऐसा आचार्य हानबाल का कहना था। कुरान को ईश्वरमय ही समझना धर्मबाह्य पाखंड है ऐसा विचार मोटासम खलीफा का था और उसने खलीफा होने के कारण हानबाल को वैसा पाखंड फैलाने से रोका था; परंतु हानबाल मानता नहीं था। तब खलीफा ने उसे बंदी बनाकर रक्त-रंजित होने तक उसकी कोड़े से पिटाई करवाई।

हानबाल पंथ कट्‌टर और कर्मठ माना जाता है। एक बार इस पंथ के अनुयायियों ने बगदाद की राजधानी में उत्पात किया और जो मुसलमान कुरान के आदेशों के पालन में कर्मठ नहीं थे उनके घरों में घुसकर उनके मदिरा भरे पात्र लुढ़का दिए, मदिरापान के पात्र फोड़ डाले। कुरान के आदेश न मानकर नाच-गाने करते-करवाते हैं, इसलिए नर्तकियों-गायिकाओं को भारी मार लगाई। वाद्य चकनाचूर कर दिए। इसलाम धर्म के लिए इस पंथ के अति कर्मठ, कट्‌टर भाव जिन्हें मान्य नहीं थे उन्होंने जब इस पंथ के विरुद्ध कड़े उपाय किए तो उन्हें कठोर दंड देकर चुप कराना पड़ा। उपर्युक्त पंथ उनके विचार और उनकी कट्‌टरता न माननेवाले मुसलमानों को पाखंडी, पापी समझते हैं और

उन्हें शाप देते हैं कि वे सारे नरक में जाएँगे और जब संभव होता है तब उन्हें दंडित करने से नहीं चूकते।

उपर्युक्त चारों सुन्नी पंथों में, स्मार्तों में, कुरान और आख्यायिका के प्रमाण मानने संबंधी जो ऊपरी एकवाक्यता है वह भी निम्नवर्णित पंथों में आवश्यक नहीं मानी जाती और तत्त्वत: वे सब स्वतंत्र हैं। ऐसे सुन्नी वर्ग में न आनेवाले कुछ प्रमुख पंथ भी हैं।

५. **मोटाझली**—इस पंथ का प्रवर्तक वासेल है। वासेल के अनुसार ईश्वर एक है तो उसे विशेषणों की अनेकता से दरशाना भी पाप है। ईश्वर है, अस्ति सत् इसके आगे उसे चित् आदि अन्य गुण दरशानेवाले विशेषण नहीं लगाने चाहिए। उसका अखंड स्वरूप इस कारण खंडित होता है। चित् आदि भिन्न गुणधर्म एक ही अनंत, अखंड, एकरस पदार्थ के कैसे माने जा सकते हैं। ऐसा करने से एक से अधिक असीम पदार्थ मानने का दोष लग जाता है। एकेश्वरी धर्म के यह विरुद्ध है। उसका दूसरा महत्त्व का मत यह है कि नियतिवाद झूठा है। अच्छा जो कुछ है उसका कर्ता ईश्वर है, जो अच्छा नहीं है उसका वह कर्ता नहीं है। तीसरा उसका मत यह है कि अच्छा या बुरा कहने का इच्छा स्वातंत्र्य मनुष्य को है। उस आचार्य के मतानुसार प्रलय के अंतिम दिन पूरी दुनिया का जब न्याय किया जाएगा तब मनुष्य अपने चर्मचक्षु से ईश्वर देख सकेगा, यह कहना असत्य है। ईश्वर के लिए प्रयुक्त की जानेवाली साकार उपमाएँ वे स्वीकार नहीं करते चाहे वे उपमाएँ कुरान में ही क्यों न दी गई हों।

कुरान के अक्षर-अक्षर को प्रमाण और सत्य माननेवाले धर्मशास्त्रियों का उपर्युक्त मतों से भयंकर विरोध हो जाने से 'मोटाझली' पंथियों का मुँह भी नहीं देखना चाहिए, ऐसा कर्मठ-कट्टर सोचने लगे। मोटाझली लोग भी उतनी ही कट्टरता से सोचने लगे। मोटाझली लोग भी उतने ही कट्टर और अपने विचारों के प्रति धर्मनिष्ठुर हैं, इस कारण ये लोग भी अन्य मुसलमानी पंथियों के कट्टर शत्रु बन गए। वासेल के इस नए पंथ में भी उपपंथ बनने लगे, उनमें के कुछ खास उपपंथ निम्न हैं—

क. **हशेमियन**—हाशम के अनुयायियों का मत है कि जब बुरे का कर्ता ईश्वर होता ही नहीं तब बुरी-से-बुरी चीज, जैसे काफिर (इसलाम धर्म पर विश्वास न करनेवाले) की उत्पत्ति ईश्वर करे

यह कैसे संभव है? जो मुसलमान नहीं हैं वे सारे लोग आदमी होते हुए भी कुरान को एकमेव, ईश्वरोक्त, परम प्रमाण धर्मग्रंथ न माननेवाले और मोहम्मद पैगंबर को अंतिम ईशप्रेषित न माननेवाले काफिरों की, पापियों की निर्मिति ईश्वर कैसे करेगा? ईश्वर का ईशतत्त्व उससे लांछित होगा, अत: जो मुसलमान नहीं हैं ऐसे काफिरों की उत्पत्ति ईश्वर ने नहीं की।

ख. **नोथेमियन**—उदाहररण के लिए इस पंथ का एक उत्तर देना हो तो यह कहें कि यदि ईश्वर सर्वशक्तिमान है तो वह केवल अच्छे की निर्मिति करता है और बुरे की निर्मिति वह कर ही नहीं सकता ऐसा कैसे कहा जा सकता है? अगर बुरा निर्मित करने की शक्ति ही उसे न हो तो फिर वह कैसा सर्वशक्तिमान! इसलिए वे कहते हैं कि ईश्वर को बुरे का भी निर्माण करने की शक्ति थी, पर इच्छा नहीं थी। इसलिए उसने अच्छे का निर्माण किया और बुरे का किया ही नहीं।

ग. **हेयिटियन**—इस पंथ का मत था कि ईश्वर दो माने जाने चाहिए। एक परमेश्वर नित्य, अनंत; दूसरा ईश्वर अनित्य, सांत। वे पुनर्जन्म को भी कुछ अंशों में स्वीकार करते हैं और कहते हैं कि जीव जन्मानुसार देहांतर प्राप्त करता है। नाना शरीर प्राप्त करते हुए विश्व के अंत के समय जो शरीर होगा उसी शरीर को ही अंतिम न्याय के समय परलोक का दंड या भोग भोगने के लिए स्वर्ग या नरक भेजा जाएगा।

घ. **मोझदारी**—आचार्य मोझदारी के अनुयायी, ईश्वर को बुरा निर्माण करने की शक्ति नहीं है—ऐसा माननेवाले धर्मशास्त्रियों का यह पंथ इतना विरोधी था कि सर्वशक्तिमान ईश्वर असत्यवादी और अन्यायी भी हो सकता है ऐसा यह पंथ स्पष्ट कहता है। उनकी इस ईश्वर निंदा से अन्य पंथ के लोग इतने नाराज हो जाते हैं कि उनका उपर्युक्त मत सुनना भी पाप मानकर तोबा-तोबा करते हैं। कुरान का जो वाक्य गायत्री जैसा पवित्र माना जाता है, वह वाक्य है— 'उस एक ईश्वर के अतिरिक्त कोई ईश्वर नहीं है।' उसी वाक्य का उच्चार भी मोझदारी आचार्य धर्मबाह्य, महापाप मानते हैं; क्योंकि उसमें 'दूसरा ईश्वर' शब्द का निषेध करते ही सही पर उच्चार करना पड़ता है। एकेश्वर पंथ के लोगों को वह उच्चार भी

असह्य हो जाता है। मोझदार कहता था—"हमारे पंथ द्वारा किया गया कुरान का अर्थ ही सही होने से जो मुसलमान नहीं हैं उनके सहित अन्य पंथों के वे मुसलमान जो कुरान का अलग अर्थ लगाते हैं, वे सबके-सब पतित, नीच एवं धर्मशत्रु माने जाकर नरक में ही भेजे जाएँगे।" यह सुनकर एक मुसलिम भिन्न पंथीय आचार्य ने व्यंग्य से मोझदार से पूछा, "कुरान में वर्णित पृथ्वी और आकाश से निर्मित विस्तृत, सुविशाल स्वर्ग मोझदार और उसके दो-चार अनुयायियों के लिए ही है क्या?"

ङः **बाशेरी**—बाशेरी का कथन है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर चाहे तो किसी मनुष्य की बुद्धि में ऐसी दुर्भावना भर सकता है कि उसे नरक में ही जाना पड़े। परंतु ऐसा कृत्य करने के बाद भी वह अन्याय है, कहना पड़ेगा।

सारे मानव मुसलमान हो जाएँ ऐसी सद्बुद्धि उनमें भरना ईश्वर के हाथ में होते हुए जो मुसलमान नहीं हैं उन दुष्टों के लिए नरक का निर्माण करने की क्रूरता टालना ईश्वर के हाथ में था। पर ईश्वर ने नरक का निर्माण किया और मानव को स्वतंत्र इच्छाशक्ति दी। इस सबसे ईश्वर केवल अच्छे का निर्माता है, बुरे का नहीं। यह अन्य धर्मशास्त्रियों का मत झूठा साबित होता है।

च. **थमामी**—थमामी के अनुयायी यह कहते हैं कि पापियों को अनंत काल तक नरक में सड़ना चाहिए। अन्य मुसलमानी आचार्यों का यह कहना असत्य है कि नरक दंड का कुछ काल बाद अंत हो जाता है। अंतिम प्रलय के दिन केवल मुसलमान ही नहीं, वे मूर्तिपूजक भी भयंकर नरक में पड़ेंगे-ही-पड़ेंगे। परंतु ईसाई, ज्यू, पारसी आदि सारे नास्तिक, जो मुसलमान नहीं हैं, उन सबका सत्यानाश कर ईश्वर उन्हें मिट्टी में मिला देगा।

छ. **कादेरियन**—ईश्वर केवल अच्छाई का निर्माता है, बुराई का नहीं इस पक्ष का यह पंथ है। अर्थात् बुराई का निर्माता शैतान हो जाता है, इस तरह दो निर्माता हो जाते हैं। अन्य मुसलमान इसीलिए इस पंथ को पारसियों के द्वैत पाखंड को माननेवाले पतितों का मानते हैं।

६. **सेफेशियन**—इस पंथ के भी कुछ उपपंथ हैं, परंतु यहाँ तीन पर ही विचार प्रस्तुत हैं—

क. **आशारियन**—इनके मत से ईश्वर का केवल गुणधर्म ही नहीं अपितु रूप-वर्णन भी कहना धर्म सम्मत है। कुरान में वर्णन है कि ईश्वर सिंहासन पर बैठता है। ईश्वर कहता है मैं अपने हाथ से निर्माण करता हूँ, मेरी दो अंगुलियों में विश्वसनीय लोगों के हृदय हैं। ऐसे सैकड़ों कथन चूँकि कुरान में हैं, इसलिए वे सत्य ही हैं, उनको केवल आलंकारिक नहीं कहा जा सकता? वैसा वास्तव में होता तो कुरान में स्पष्टतः कहा जाता। ईश्वर के हाथ, अंगुलियाँ आदि अवयव हैं, परंतु वे कैसे हैं? यह कोई कहे नहीं। इतना ही नहीं, कुरान पठन करते हुए, अपने हाथ से मैंने उसका निर्माण किया—यह ईश्वर वाक्य पढ़ते समय यदि कोई अपना हाथ आगे बढ़ाकर अभिनय करता है तो वह भी पाप है, क्योंकि ईश्वर का हाथ मनुष्य जैसा है—ऐसा उससे सूचित होता है। इतना ही नहीं अपितु कुरान के अरबी शब्द, जो हाथ, पैर, अंगुली आदि ईश्वरीय अवयवों के लिए उपयोग में लाए गए हैं उनका अनुवाद अन्य भाषाओं में हाथ, पैर, अंगुली न कर वहाँ उन्हीं अरबी शब्दों का प्रयोग करना चाहिए। न जाने उनका दैवी अर्थ प्राकृत परभाषा में चूक जाए। ईश्वर मनुष्याकृति है, ऐसा कहने का महापाप हो जाए।

ख. **मूशाबेही**—इस उपपंथ को उपर्युक्त मत मान्य नहीं हैं। कुरान में ईश्वर के मुख से जो शब्द निकले हैं वे अक्षर-अक्षर सच माने जाएँ, ईश्वर मनुष्य से पूरी तरह असदृश्य है ऐसा मानने का कोई कारण नहीं है। उसके अवयव हैं, ऊपर-नीचे आना-जाना ही नहीं, ईश्वर को मनुष्य रूप धारण करना सहज संभव है। जिब्रील नामक देवदूत मनुष्य रूप धारण करता था यह स्वयं पैगंबर साहेब कहते हैं और यह भी स्पष्ट रूप से कहते हैं कि 'ईश्वर मुझे सुंदर रूप में दिखा। मोसेस के साथ भी वह साक्षात आकर बोला था।' कुरान के ऐसे अनेक वाक्यों का अर्थ अक्षरशः न लेना महापाप है।

ग. **केरामियन**—इस उपपंथ के लोग, कुरान में ईश्वर का जो वर्णन आया है, उसके शब्दों के अर्थ को स्वीकार करते हुए इतना आगे निकल जाते हैं कि वे मानते हैं कि ईश्वर साकार, सावयव और ऊपर-नीचे से समर्याद भी होना चाहिए। कुछ लोग कहते हैं वह ऊपर की ओर अनंत है, परंतु नीचे की ओर से मर्यादित है। ऐसा

न मानें तो ईश्वर नीचे आया, बैठा आदि कुरान वाक्य झूठे पड़ जाएँगे। ईश्वर को मनुष्य अपने हाथों से छू सकता है, अपने चर्मचक्षु से देख सकता है। उसके भी आगे जाकर इस पंथ के कुछ आचार्य कुरान के आधार पर यह निश्चित करते हैं कि हाथ, पैर, सिर, जीभ आदि अवयव और शरीर होते हुए भी वह मनुष्य के शरीर से कुछ अलग है। क्योंकि सिर से वक्षस्थल तक वह भरा हुआ नहीं है। वक्षस्थल से नीचे भरा हुआ है और उसके बाल काले और लहराते हैं। इस सबका आधार कुरान है; क्योंकि उसमें मोहम्मद पैगंबर स्पष्टता से ईश्वर के संबंध में 'ईश्वर बोला, चला, बैठा, ईश्वर ने मेरी पीठ पर हाथ की अंगुलियों से स्पर्श किया तब वे अंगुलियाँ शीतल लगीं, ऐसा वर्णन करते हैं और कहते हैं कि 'ईश्वर ने अपने स्वयं जैसा ही मनुष्य बनाया' अर्थात् ईश्वर से मनुष्य की दैहिक सादृश्यता न मानी गई तो कुरान झूठा पड़ जाएगा।

७. **खारेजायी**—इस पंथ की उत्पत्ति राजनीतिक प्रश्न से हुई। खारेजायी का मत था कि मुसलिम सत्ता और धर्म का मुख्य खलीफा या इमाम होना ही चाहिए, ऐसा नहीं है। यदि इमाम नियुक्त करना ही हो तो वह न्याय-निष्ठुर एवं उत्कृष्ट हो। मोहम्मद पैगंबर के कोरेश वंश का ही व्यक्ति खलीफा या इमाम हो सकता है—ऐसा जो शिया मुसलमान कहते थे वह उसे स्वीकार नहीं था। खलीफा चुनने का अधिकार मुसलमानों को न होना भी उसे मान्य नहीं था। खलीफा अली से द्वेष करते हैं, प्रार्थना के समय उसे शाप देते हैं, ऐसे धार्मिक मतों के कारण अली ने उनका कत्ल किया। इमाम यदि दुराचारी हो तो उसे पदच्युत करना या मार डालना धर्म है—ऐसा भी यह पंथ कहता है।

८. **शिया**—यह पंथ खारेजायी पंथ के एकदम उलटे विचारवाला है। खलीफा अली का अति अभिमानी। उसका कहना है कि इमाम, धार्मिक मुखिया कौन बने? इसका अधिकार भीड़ को नहीं है। मनुष्य के मूर्खतापूर्ण बहुमत से उसका चयन कर देने से दुराचारी और बलवान् व्यक्ति भी इमाम बनने लग सकते हैं। वे इसके बहुत से साक्ष्य देते हैं। इमाम और खलीफा के पदों पर कई दुराचारी, शराबी, पापी आदमी आ बैठे, ऐसा मुसलमानी इतिहास है ऐसा उनका कहना है। इसीलिए वे अली के बाद के सुन्नी खलीफा को महापापी कह शाप देते थे।

सुन्नी लोग यही बात उलटकर शियाओं को कहते हैं और उन्हें पाखंडी और काफिर कहने से भी नहीं चूकते। अली का वंश परम पवित्र है, इसलिए शिया लोग ऐसा मानते हैं कि ईश्वर ने इमाम पद उनके ही वंश में रखा है। अली के पुत्र हसन-हुसैन और उनके अनुयायियों का करबला की लड़ाई में अंत हुआ। सुन्नी लोगों ने जिस दिन यह कत्ल किया शिया लोग उसी दिन को शोक दिन के रूप में मनाते हैं, ताजिए निकालते हैं। अली के वंश का अंतिम पुत्र 'अमर' है, वह लड़ाई में मारा ही नहीं गया और वह लौटकर आएगा—ऐसी श्रद्धा शिया मुसलमान आज भी रखते हैं। शियाओं के कुछ उपपंथ ऐसा कहते हैं कि अली और उसके वंशज इमाम के रूप में ईश्वर ने ही जन्म लिया, वे ईश्वर स्वरूप थे। ईश्वर मनुष्य रूप में अवतार ले सकता है। (यह उनकी श्रद्धा है) साबाई लोग तो अली को वास्तविक ईश्वर ही मानते हैं। ईश्वर का अवतरण—'अलहोलूल' होता है और मनुष्य की देह में ईश्वर रहता है। शिया पंथ का एक उपपंथ 'ईशाकी' तो कहता है कि अली स्वर्ग और पृथ्वी के भी पहले अस्तित्व में था, वह तो मोहम्मद पैगंबर जैसा ही पैगंबर था।

इन शियाओं से आगे बढ़कर सूफी पंथी लोग तो अन्य अनेक मनुष्यों का देवत्व मान्य करते हैं। उनके कई साधु तो कहते ही हैं कि हम ईश्वर के समक्ष बातें करते हैं। हम ईश्वर को देखते हैं, हम ही ईश्वर हैं। इस तरह की बातें करना सुन्नी जैसे एकेश्वरवादी मुसलमानों को कितना असह्य होता था, यह बात हुसैन अल हिलाज आदि को जो, कत्ल किया गया, उससे प्रकट होती है। वे ईश्वर से साक्षात्कार की या स्वयं ही ईश्वर होने की बातें करते थे। सूफी पंथ में बहुत बड़े-बड़े साधु हो गए। वेदांती हुए। इन लोगों का तत्त्वज्ञान कुछ अंशों में ब्रह्मवाद की ओर झुकता दिखता है।

शिया लोग यह मानते हैं कि सुन्नी लोग जो कुरान पढ़ते हैं उसमें उन्होंने अनेक 'प्रक्षिप्त' घुसेड़कर मिलावट कर दी है और कुरान अपने मूल सत्य रूप में नहीं है। सुन्नी भी वैसा ही कहते हैं, वे भी कुरान में मिलावट किए जाने का आरोप शियाओं पर लगाते हैं। सारांश यह कि शिया कुरान स्वतंत्र, सुन्नियों को वह मान्य नहीं; सुन्नियों का स्वतंत्र, शियाओं को वह मान्य नहीं। दूसरा अत्यंत विरोध का प्रश्न पैगंबर का है। सुन्नियों के विचार में इसलाम धर्म का अपरिहार्य और मुख्य-से-मुख्य लक्षण यह है कि मोहम्मद पैगंबर ही अंतिम, सर्वश्रेष्ठ और परिपूर्ण पैगंबर थे। उनके कहे कुरान के बाहर दूसरा पैगंबर नहीं है। परंतु शिया लोग हजरत अली

को भी मोहम्मद के बराबर का पैगंबर मानते हैं। कुछ पंथ तो अली को मोहम्मद पैगंबर से भी श्रेष्ठ मानते हैं और कुछ तो उन्हें ईश्वरमय ही मानते हैं। शिया और सुन्नी ऐसे अत्यंत मूलभूत विरोध के कारण एक-दूसरे को काफिर कहते हैं। सुन्नियों के बड़े आचार्य तो शियाओं को मुसलमान ही नहीं मानते। अर्थात् यही बात शिया सुन्नियों के लिए कहते हैं।

मोहम्मद पैगंबर के बाद में भी पैगंबर

मेरे बाद कोई भी पैगंबर नहीं होगा, मेरे पूर्व में अब्राहम गोसेज, जीसस आदि अनेक पैगंबर, ईश्वरदूत हुए, पर उन्होंने ईश्वर का समग्र संदेश मनुष्य को नहीं दिया और उन्होंने अपने अनुयायियों को जो संदेश दिए वे भी पूर्णता से संगृहीत न कर उसमें मिलावट कर बाइबिल जैसे ग्रंथ बनाए। इसलिए समग्र और सत्य संदेश देकर परमेश्वर ने मुझे भेजा। अब भविष्य में कोई अन्य पैगंबर मेरे सिवाय माना न जाए ऐसा मोहम्मद पैगंबर ने बार-बार कहा। यह भी कहा कि जो कोई किसी दूसरे मोहम्मद को मानेगा वह मुसलमान नहीं, महापापी है। यह इसलाम के सैकड़ों धर्मपंथों की प्रतिज्ञा होते हुए मोहम्मद के बाद के मुसलमान पैगंबर कहना 'वदतो व्याघात' मानना चाहिए। पर वास्तविकता यह है कि स्वयं को मुसलमान कहनेवाले अनेक पंथों के लोग मोहम्मद के बाद भी पैगंबर हुए—ऐसा मानते हैं। जिन पुरुषों ने मोहम्मद के बाद भी स्वयं को पैगंबर कहा—ईश्वर का दूत होने का दावा किया उनमें से कुछ की जानकारी उदाहरण के लिए नीचे दे रहा हूँ—

१. **मोसिलेमा**—यह मोहम्मद पैगंबर का समकालीन था। अरबों की एक जमात का मुखिया था। अपनी जमात की ओर से मोहम्मद से मिलने गया और इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया। बाद में स्वयं को पैगंबर कहने लगा; ईश्वर का दूत हूँ यह प्रसिद्ध करवाया। अनुयायी भी मिले। कौन सा पैगंबर सच्चा है, यह निश्चित करना सहज नहीं था। भविष्य ही कह सकता था, इसके सिवाय कोई मापनतंत्र मिलना असंभव था। मोहम्मद पैगंबर की तरह ही मोसिलेमा भी अरबी में पद्यों की रचना करने लगा। वह कहता, यह ईश्वरीय है। मोहम्मद पैगंबर को इससे बड़ा गुस्सा आया, वे उसे लुच्चा-झूठा कहते, पर उसके भी अनुयायी बढ़ रहे थे इसलिए मोहम्मद की मृत्यु तक उसका कुछ भी नहीं बिगड़ा। अबूबकर के जमाने में इन दोनों पैगंबरों में सच्चा कौन है, इसका निर्णय हुआ। किस विधि से? ईश्वर ने कोई संकेत दिया इसलिए नहीं, किसी तत्त्व विचार की तुलना से नहीं, आत्मिक या अन्य

कसौटी से भी नहीं, अपितु केवल लाठी के जोर से। लड़ाई में मोसिलेमा की दस हजार सेना काटी गई, मोसिलेमा भी मारा गया, इसलिए वह आडंबरी पैगंबर साबित हुआ।

२. **अल आस्वाद**—एक और दूसरी अरब जमात का यह मुखिया था। मोहम्मद का समकालीन। पहले इसलाम धर्म स्वीकार किया, परंतु फिर स्वयं ही पैगंबर बनने की इच्छा हुई। देवदूत मुझे भी संदेश भिजवाते हैं, ऐसा प्रचारित करवाया। नए-नए चमत्कार भी करने लगे। चमत्कारों से प्रभावित होकर यही वास्तव में पैगंबर है ऐसा समझ हजारों लोग मोहम्मद को छोड़ इनके अनुयायी बने। मोहम्मद पैगंबर जो कुछ आश्चर्यकारक करते उसे जो मुसलमान दैवी चमत्कार कहते वही और वैसे ही नहीं, उससे भी अधिक आश्चर्यकारक कृत्य अल आस्वाद करने लगा। तब मोहम्मद साहेब के अनुयायी उसे हाथ की सफाई, जादूगिरी कहते। इसके उलट अल आस्वाद के अनुयायी मोहम्मद साहेब के चमत्कारों को जादू और आडंबर कहते।

इस तरह के आरोप-प्रत्यारोप पहले से ही पैगंबरों के प्रकरण में चले आ रहे हैं। परंतु धीरे-धीरे अल आस्वाद प्रबल होता चला गया। मोहम्मद के एक सूबेदार और उसके लड़कों को मारकर उसकी पत्नी से ही उसने विवाह किया। फिर इस पत्नी के पिता को भी अल आस्वाद ने मारा था। इस सबका बदला लेने के लिए अल आस्वाद की इस पत्नी ने मोहम्मद साहेब से मिलकर अपने महल में सैनिक घुसा लिये और अपने पति का गला घोंटा। अल आस्वाद बड़े जोर-जोर से चिल्लाने लगा। पहरेदार उस आवाज को सुनकर सहायता के लिए आए। दरवाजे पर ठक-ठक करने लगे। औरत ने अंदर से कहा, चुप रहो। सवारी आई हुई है, इसलिए यह आवाज आ रही है। पैगंबर की पत्नी के ऐसा कहने से पहरेदार चुप हो चले गए। अल आस्वाद का सिर काट मोहम्मद साहेब की सेना को महल में बुला लिया। इस तरह एक नकली पैगंबर रूपी काँटा मोहम्मद साहेब के रास्ते से हट गया। सच्चा पैगंबर कौन है ? यह फिर एक बार तलवार से निश्चित हुआ। जिसकी लाठी मजबूत वह पैगंबर।

३. **तोलीहा**—इसने भी स्वयं को ईश्वरदूत सिद्ध करने का प्रयास किया।

४. **पैगंबरी सेजाज**—यह महिला पैगंबर के रूप में ख्यात हुई। उसे हजारों अनुयायी मिले। मोसिलेमा पैगंबर से उसने विवाह किया, पर

फिर वह अलग हो गई और पैगंबर पद का उपभोग करती रही। परंतु उसका पंथ नामशेष हो गया।

हाकिम-बिन-हाशम या बुरकेवाला

यह भी अपने को पैगंबर कहता था। सुनहले बुरके में वह सिर से पैर तक ढका रहता था। उसके अनुयायी कहते कि उसका ईश्वरीय तेज कोई नंगी आँखों से देख नहीं सकता था। उसके शत्रु कहते, उसकी एक आँख नहीं है और लड़ाई में चेहरा भी बिगड़ गया है इसलिए मुँह ढके रहता है। वह अनेक चमत्कार करता था। एक बार कुएँ से चाँद निकाल कई-कई रातों को प्रकाशित किया, ऐसा उसके अनुयायी कहते। तब से उसे चंद्र निर्माता कहा जाने लगा। ईश्वर का अवतार मान उसकी पूजा भी होने लगी। ईश्वर मनुष्य शरीर में अवतार लेता है, अपना यह मत वह कुरान के आधार पर सिद्ध करता था। सुन्नी लोगों से उसने भयंकर युद्ध किए और उसे अपने मरे सैनिक पुनर्जीवित करने की विद्या आती है—ऐसा कहा जाता था। उसने घोषणा की कि वह अदृश्य होकर फिर अवतार लेगा। एक बार एक किले में मुसलमानों द्वारा घेरे जाने पर वह अदृश्य हो गया। सुन्नी मुसलमान कहते कि उसने स्वयं को जलाकर राख कर दिया। परंतु उसके अनुयायियों को यह विश्वास था कि चंद्र निर्माता हाकिम अदृश्य हो गया। उसके अनुयायियों का बड़ा पंथ श्वेतांबरी या सफेद जामावाले नाम से चालू रहा। मुसलमानी खलीफा के झंडे का रंग काला होता है इसलिए ये सफेद परिधान धारण करते। चंद्र निर्माता पैगंबर फिर से अवतार लेगा और सारी दुनिया पर वह राज करेगा—यह उनका विश्वास है।

बाबेकी करमातियन, इशमेलियन, बाबी

ऐसे अनेक पंथों के संस्थापक और मोहम्मद के बाद के मुसलमानों में से पैदा हुए पैगंबर बहुत होते आए हैं। हर पचास वर्ष बाद एक नया पैगंबर उत्पन्न होता है और अपने अवतार-कार्य के संगत वह कुरान के अर्थ लगाता है या फिर मुझे ईश्वर ने नया कुरान देकर भेजा है, ऐसा कहनेवाला और जिसके पीछे हजारों लोग लगे हैं, ऐसा पुरुष पैदा होता ही है। मुसलमानों के इतिहास में मोहम्मद पैगंबर के समय से यह क्रम आज तक चालू है। बाबी, करमातियन और इशमेलियन आदि ने तो ईसाइयों का इतना विरोध नहीं किया जितना मुसलमानों का किया। हजारों मुसलमानों को मार डाला। हसन सबाह की अधीनता में इशमेलियन लोगों ने अपने इमाम को अवतार मानकर उसके आदेश से हत्या करनेवाला एक धर्म संप्रदाय ही प्रचारित किया। इस 'हसन' नाम का अंग्रेजी में Assassin शब्द बना जिसका अर्थ

होता है हत्या करनेवाला। बाब नामक पैगंबर ने मोहम्मद पैगंबर से जुड़ा मंत्र कि ईश्वर के सिवाय ईश्वर नहीं और बाब ही ईश्वरप्रेषित पैगंबर है, नमाज के समय कहना शुरू करवाया।

उपर्युक्त सुन्नी, शिया, बहावी आदि नाना पंथों, उपपंथों का झमेला और लड़ाइयाँ भारतीय मुसलमानों के इतिहास में भी प्रारंभ से जारी हैं।

एक ताजा पैगंबर

इन पचास वर्षों के अंदर का एक ताजा उदाहरण है पंजाब के कादियानी पंथ के मुसलमानों का। हजरत अब्दुल मिर्जा कादियानी नामक एक व्यक्ति को साक्षात्कार हुआ कि वह स्वयं अली अकबर पैगंबर है। उनके पूर्व जो पैगंबर हुए उनमें कादियानी महोदय ने यीशू, मोहम्मद, राम, कृष्ण आदि हिंदू अवतारों की भी गणना की। वेद को भी ईश्वरप्रणीत ग्रंथ माना, जैसाकि कुरान है। परंतु पहले के सारे पैगंबर और धर्मग्रंथ पूर्ण कार्य नहीं कर सके, इसलिए ईश्वर ने मिर्जा अब्दुल कादियानी, जो सबसे अंतिम पैगंबर है, को भेजा। वे अपने को फिर भी मुसलमान कहते। परंतु सारे मुसलमान उन्हें काफिर मानते हैं। काबुल की ओर भेजे गए उनके प्रचारकों को पत्थरों से मार-मारकर मारने का दंड दिया गया था।

समापन

उपर्युक्त सब पंथों, उपपंथों के मत मुसलमानों के ही शब्दों में सच-झूठ, अच्छा-बुरा इस तरह की कोई भी चर्चा न करते हुए दिए गए हैं, इस दृष्टि से कुरान संपूर्ण मुसलमानों का अनन्य धर्मग्रंथ है और वे सारे उसे एक ही ईश्वर प्रदत्त पुस्तक मानते हैं—यह लोकभ्रम कितना तथ्यहीन, खोखला, बेपेंदे का है, यह स्पष्ट हो जाता है।

कुरान शब्दश: एक नहीं है। परस्पर विरुद्ध अर्थ कहनेवाले सात सौ पंथ मुसलमान धर्मशास्त्रियों ने ही गिने हैं। सात सौ में से हर पंथ कुरान का अपना ही अर्थ सच और ईश्वरीय मानता है और अन्य सारे मुसलमानी पंथों को काफिर, धर्मविहीन, पाखंडी कहता है और शाप भी देता है कि वे सारे नरकगामी होंगे। माने वास्तविकता देखते हुए कुरान सात सौ हैं, एक नहीं।

खताबियन पंथ

अब्दुल खताव नामक मुसलमान आचार्य का पंथ एक ही कुरान का अत्यंत विरोधी अर्थ लगाने की परंपरा का शिरोमणी पंथ दिखता है। उसका मत है कि

कुरान का अर्थ शब्दशः न लेकर कहीं-कहीं लाक्षणिक रूप में भी लिया जाना चाहिए। वैसा लाक्षणिक अर्थ लगाया जाए तो जो ईश्वरीय संदेश मिलता है वह यह कि ईश्वर द्वारा कुरान में बताए स्वर्ग के माने हैं लोगों के समस्त सुख और भोग; नरक के माने दुःख और रोग। वह कहता है—प्रलय की बात झूठी है, विश्व ऐसा ही चलेगा। इसलिए 'मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रामैथुनगेंव च' का यथेच्छ उपभोग करना ही धर्म है। इस दुनिया में जो-जो कष्ट देनेवाली, उपवास आदि बातें हैं वही अधर्म हैं ('Sale's Koran Introduction', पृष्ठ १३६) दिन में पचास बार नमाज पढ़ना चाहिए, पाँच से क्या होगा? इस तरह एक ही कुरान का कर्मठ, कठोर अर्थ लगानेवाला 'करमाती' पंथ है तो उसी कुरान का उपर्युक्त ढीला अर्थ लगानेवाला खताबियन पंथ भी है।

पुरुषबुद्धि एवं तर्क को अप्रतिष्ठित, अस्थिर मानकर अपौरुषेय, अनुल्लंघ्य, तर्क से परे, देवदत्त धर्मग्रंथ को प्रमाण मानना ही उचित है—ऐसा कहनेवालों ने कुरान की गत भी वेद या बाइबिल जैसी कैसे बनाई यह ध्यान में लाया जाए। ग्रंथ एक ही कुरान, उसे त्रिकाल बाधित और अनुल्लंघ्य माना; इतना ही नहीं, जिस किसी ने उसे वैसा नहीं माना तो लाठी के जोर से मनवाया, फिर भी कुरान का अर्थ लगाने के लिए मनुष्य के पास पुरुषबुद्धि के सिवाय और कोई साधन न होने से एक कुरान के सात सौ कुरान हो गए।

किसी भी ग्रंथ को ईश्वर प्रदत्त मानें तो मनुष्य की प्रगति एवं विज्ञान के पैरों में बेड़ी डालकर धर्मोन्माद खुला घूमता ही है।

इससे अच्छा है यह मानें कि कुरान, पुराण, वेद, अवेस्ता, बाइबिल, टालमद आदि सारे ग्रंथ मनुष्यकृत हैं। उस विशेष परिस्थिति में ज्ञान और अज्ञान से संपृक्त परंतु लोकहित बुद्धि से प्रचारित होने से आदरणीय मानकर हम सब उनका अध्ययन करें। प्रयोग करते हुए आज जो उसमें अतथ्य दिखे, अहितकारी लगे, उसे छोड़ दें। तथ्य एवं हित जो हो, वह सबकी सामूहिक मानवी संपत्ति है—यह स्वीकारना ही इष्टकर, तथ्यकर और हितकर है।

(किर्लोस्कर, जुलाई-अगस्त १९३५)

इसलाम में समता का झंडा

जिसे जो धर्म प्रिय, वह उसपर चले; जिसे जो धर्मग्रंथ ईश्वरीय या पवित्र लगे, उसे वह माने। अन्यों को भी चाहिए कि वे उसे समुचित आदर दें। शिष्टाचार

के ये सारे आदर्श मानने में कम-से-कम हिंदू तो कभी भी आनाकानी नहीं करेगा। 'येऽप्यन्यदेवताभक्ता यन्ते श्रद्धयान्विताः। तेऽपि मामेति कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।' ये पाठ तो हिंदुओं के महान् ग्रंथ 'भगवद्गीता' में दिया ही हुआ है।

गौब का पूर्व पक्ष

परंतु जब कोई मुसलिम या अन्य अहिंदू धर्मीय स्वयं धर्म की तुलना का प्रश्न फैलाए, इतना ही नहीं, जो यह कहे कि हिंदू धर्म विषमता से ओत-प्रोत है और हमारा मुसलिम धर्म आदमी-आदमी के बीच मानी जानेवाली विषमता से कोसों दूर है, हमारे मुसलिम धर्म में सारे मानव समान माने जाते हैं, वे सब ईश्वर की संतान हैं, समता और वैचारिक स्वतंत्रता का, दया और परधर्म सहिष्णुता का अमृत चाहिए तो हिंदू धर्म को छोड़कर हमारा मुसलिम धर्म स्वीकार करो—ऐसे सार्वजनिक आमंत्रण एवं आह्वान वे देने लगें तो ऐसे समय उनकी बात न काटते हुए, उनके आह्वान को स्वीकार न करते हुए 'रावणाय स्वस्ति रामाय स्वस्ति' ऐसी ढीली-पोली वृत्ति से बैठे रहना भी शिष्टाचार को भंग करना ही होगा, केवल भोलापन ही होगा। डॉ. अंबेडकर जैसे अछूतों द्वारा धर्मांतरण की बात कहते ही अपना बड़प्पन और हिंदू धर्म की निंदा खुले और बहाने-बहाने से आरंभ कर दी गई। धर्म तुलना का प्रश्न पहले उन्होंने उठाया, उनकी आपत्तियों को हमने निर्भय संयम से सुना, अब उनके द्वारा उठाए प्रश्नों के उत्तर हम दे रहे हैं और उन्हें चुपचाप सुनना चाहिए।

मुसलिम धर्म में सिद्धांत रूप से या व्यवहार में सारे लोग समान होते हैं। उनमें धार्मिक ऊँच-नीच या जन्मजात जातिश्रेष्ठता बिलकुल नहीं है—यह अहं केवल एक गप है, यह स्पष्ट करने के लिए मुसलिम धर्ममत के एवं व्यवहार के गौब जैसे पक्षपाती मुसलिम धर्मप्रचारक भी अस्वीकार न कर सके, ऐसे कुछ उदाहरण नमूने के रूप में नीचे दे रहा हूँ। इससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि मुसलिम धर्म सिद्धांत में एवं धर्म व्यवहार में विषमता है, केवल इतना ही नहीं अपितु वह कहीं-कहीं अत्यंत असहिष्णु एवं आततायी (विषमतायुक्त) है। गौब चाहे तो इन उदाहरणों का वह खंडन करे।

विषमता का प्रारंभ

इसलाम धर्म की मूल प्रतिज्ञा में ही विश्व को एकदम दो फाँक कर दिया गया है। मोहम्मद साहब को पूर्ण और सच्चा पैगंबर माननेवाले ही केवल मुसलमान और शेष सौ करोड़ मानव काफिर हैं। जो मुसलमान है वही स्वर्ग में जाएगा और

सारे काफिर हमेशा नरक में सड़ेंगे। माने मोहम्मद साहब को पैगंबर मानना मानवता का पहला गुण है। सदाचार, परोपकार आदि सारे गुण गौण हैं। जो मोहम्मद को पैगंबर नहीं मानेंगे, वे अनंत नरक में सड़ते रहेंगे। बुद्ध, कंफ्यूशियस, चीनी, जापानी संत-महंत, यीशू, सारे ईसाई संत, वशिष्ठ, मनु, व्यास, ज्ञानेश्वर, तुकाराम, रामानुज, चोखा, रैदास, चैतन्य, नानक सारे राष्ट्रभक्त लोकसेवक, पूरे विश्व के अनगिनत महान् पुरुष और करोड़ों विगत एवं विद्यमान व्यक्तियों ने मोहम्मद पैगंबर को ही सच्चा और अंतिम प्रेषित नहीं माना, इसलिए वे सब नरक में सड़ने के योग्य हैं। यह जिस धर्म की पहली ही प्रतिज्ञा हो वह धर्म कितनी बड़ी विषमता का वाहक है, यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। नीच-से-नीच होगा, पर यदि मोहम्मद साहब को पैगंबर मानता हो तो वह मुसलमान किसी भी काफिर साधु से श्रेष्ठ होगा, ईश्वर को प्रिय होगा। ऐसा कुरान के पन्ने-पन्ने पर उद्घोषित करनेवाला धर्म क्या पूरी मानवजाति को समान माननेवाला धर्म है? या फिर वह आदमी-आदमी में भयंकर एवं असमर्थनीय धर्मोन्मादी विषमता फैलानेवाला धर्म है? जिन मुसलमानों की ऐसी निष्ठा हो वे अपने धर्म का सुख से पालन करें। पर दूसरे धर्म को विषमता फैलानेवाला कहकर लांछित करते हुए ऐसी गप न मारें कि हमारा इसलाम धर्म ही सब आदमियों को समान माननेवाले विचार और आचार की स्वतंत्रता देता है।

समता एवं सहिष्णुता का अर्क

जो मुसलमान होकर कुरान का हर वाक्य, चाहे वह बुद्धि और तर्क की कसौटी पर कितना ही हीन लगता हो, ईश्वर के कथन जैसा अनुल्लंघ्य एवं सत्य नहीं मानेंगे वे करोड़ों-करोड़ आदमी नरक में पड़े सड़ेंगे, वे काफिर होंगे। इस मूल सिद्धांत की विषमता जितनी कठोर है उससे भी अधिक मुसलमानी शासन के अनुशासन, उनके स्मृति ग्रंथ की विषमता सौ गुनी क्रूरतर है। उनके अनेक मौलवियों एवं बादशाहों ने काफिरों को मृत्युदंड की धमकी देकर भी मुसलिम धर्म में लाना स्वीकारा, वैसी ही धर्म व्यवस्था बनाई। जिन्होंने धर्मांतरण स्वीकार नहीं किया उनको कत्ल किया। उनपर मुसलिम राज्य में एक विशेष हीनता का जजिया लगाया। उन्हें घोड़े पर बैठने न देना, शस्त्र नहीं देना, उनके धर्माचार को अधर्माचार मानकर बंद कराना, मुसलमानी धर्म ने यह नंगा नाच पर्शिया, अफगानिस्तान, हिंदुस्थान, स्पेन आदि मुसलमानों द्वारा जीते हुए देशों में किया। जिनके कारण सैकड़ों शहीदों का रक्त मुसलमानों ने बहाया, वे सब मानव ईश्वर की संतान हैं ऐसा कहने और सम-समान माननेवाला मुसलमानी अनुशासक तो नहीं था। मोहम्मद गजनवी, अलाउद्दीन, औरंगजेब आदि का शासन काल मानवी समानता और परमत सहिष्णुता

का चरम काल था, क्या ऐसा कोई मानेगा? समता तो छोड़ें, तब तो मुसलिम को छोड़ सबको आदमी की तरह जीने भी न देनेवाला भयानक विषमता और आततायी असहिष्णुता का काल था जिसमें हिंदू रक्त से इतिहास का हर पन्ना तर-बतर हुआ। वैसा ही स्पेन, सीरिया और ईरान में हुआ।

आज भी मुसलिम धर्मप्रचारकों ने उनके धर्मशास्त्र के अनुसार मनुष्यजाति को वैसे ही दो फाँक बनाए रखा है, विषमता की क्रूर दीवार पाताल से स्वर्ग तक खड़ी की हुई है। मौलवी मोहम्मद अली, शौकत अली जैसे पियर्स साबुन से धुले मुसलिम प्रचारक भी बिलकुल खुले कहते हैं—"गांधी कितना ही सद्विचारक हो परंतु जब तक वह काफिर है तब तक नीच-से-नीच मुसलमान भी मुझे उससे श्रेष्ठ ही लगेगा, पाक लगेगा।"

अंदरूनी विषमता

मानवजाति में मुसलिम और काफिर ऐसे चिरंतन भेद डालनेवाली विषमता तो मुसलिम धर्मशास्त्र में फैली है ही, इसके सिवाय मुसलमानों में भी समता या सहिष्णुता नहीं है। समता को ही धर्मबाह्य माना जाता है। जैसे पैगंबर मोहम्मद साहब जिस कोरेश जाति में जनमे वह जाति अधिकतर मुसलमानी पंथों एवं आचार्यों के मत से जन्म से ही शुद्ध या श्रेष्ठ या विशेष माननीय जाति मानी जाती है। सुन्नी आचार्यों में से अधिकतर इसी मत के हैं। यह मत इतना धर्मानुकूल समझा जाता है कि मुसलमानों का खलीफा (शंकराचार्य एवं सम्राट्) उस कोरेश जाति का ही होना चाहिए, यह धर्मशास्त्र का एक बहुमत सिद्धांत ही है। अन्य मुसलिम जातियों में कितना ही योग्य पुरुष हो पर खलीफा जन्मजात उच्च माने गए। मोहम्मद साहब की कोरेश जाति में से ही चुना जाना चाहिए। कोरेश जाति का न हो तो वह खलीफा धर्मबाह्य। इस एक प्रश्न पर मुसलमानों में रक्त की नालियाँ बही हैं। शिया पंथ के मतानुसार अली साहब का वंश जन्मजात उच्च वर्णीय होता है, इसलिए खलीफा उस वंश का चाहिए। इसी बात पर कर्बला में मुसलमानों ने मुसलमानों का भयानक कत्ल किया। मोहम्मद साहेब के नाती को मोहम्मद के ही अनुयायियों ने पीड़ा दे-देकर मार डाला।

क्या गुलामी को मानवीय समता माना जाए?

गुलाम? मनुष्य को केवल पशु ही समझनेवाली गुलामी कुरान में धर्मबाह्य नहीं है। स्वयं मोहम्मद पैगंबर और उनका हर अनुयायी गुलाम रखता था। मुसलमानी धर्म में गुलाम रखना पशु पालने जैसा वैध कर्म माना जाता था। यह निर्विवाद सत्य

बात थी। इतना ही नहीं, बड़ी-बड़ी लड़ाइयों में हारे हुए शत्रु—स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकाओं—को भरे बाजार में पशुवत् बेचा जाता था। गुलाम माने एक पशु। उनकी संतान उनकी नहीं, उनके मालिक की होती थी। घर की मुरगी या गाय के बछड़े जैसे उससे दूर कर किसी को भी बेचे जा सकते हैं वैसे ही इन गुलाम बच्चों को बेचा जाता था। मालिक के मरने पर गुलामों का संपत्ति जैसा बँटवारा होता था। गुलाम का पारिवारिक जीवन नहीं रहता था। पत्नी को पति या पति को पत्नी नहीं होती थी। कोई संपत्ति या पैसा-कौड़ी भी वह स्वयं की नहीं रख सकता था। आदमी-आदमी के बीच की समानता तो छोड़ें, मानवता ही छीन लेने की यह भयंकर प्रथा जिस इसलाम धर्म में वैध है और लाखों मुल्ला, मौलवी, खलीफा, बादशाह, अमीर, उमरावों ने जिसका उपभोग किया, उस इसलाम धर्म में समता का राज्य है—ऐसा कहना बर्बरता नहीं है क्या? गुलामी बंद की ईसाइयों ने। मुसलमानों को उसे जबरन बंद करना पड़ा। ईसाई राष्ट्रों ने भी जो गुलामी प्रथा बंद की वह मुख्यत: राजनीतिक कारणों से। क्योंकि ईसाई धर्म में भी वह धर्मबाह्य नहीं है। 'Slaves, obey your Masters' ऐसा बाइबिल कहता है।

कट्टर अस्पृश्यता

जो बातें सिद्धांत और अनुशासन की वही लोकरीति की। पठानी मुसलमानों में जाति विषयक ऊँच-नीच इतनी तीव्र है कि भिन्न जातियों में बेटी-व्यवहार नहीं हो सकता। अन्य अनेक मुसलमान जातियों में भी ऐसा ही होता है। मुसलमानों में अस्पृश्यता भी रूढ़ है। बंगाल में मुसलमानों में स्पृश्य मुसलमान एवं अस्पृश्य मुसलमान का भेद इतनी कट्टरता से पालन किया जाता है कि बंगाल में मुसलमानों को मिलनेवाली नौकरियाँ एवं प्रतिनिधित्व स्पृश्य मुसलमान ही भोगते हैं। अस्पृश्य मुसलमानों को कुछ भी नहीं मिलता।

मुसलमानों में मसजिदें भी अनेक जगह अलग-अलग होती हैं। एक पंथ की मसजिद में दूसरे पंथ के लोग नहीं जा सकते। क्योंकि वह पंथ अधिकतर दूसरे पंथ के लिए ईश्वर से यही प्रार्थना करता है कि इस काफिर को नरक में भेज। शिया मुसलमानों की मसजिद में हसन-हुसैन के वंश के, ईश्वरीय वंश के इमाम की प्रार्थना कर सुन्नी खलीफाओं को झूठा कहनेवाली मसजिद में सुन्नी कैसे जाएँगे? वैसे ही उसी तीव्र धार्मिक मतभेद से सुन्नी की मसजिद में शिया पंथी कैसे जाएगा? क्योंकि वहाँ इमाम का विरोध कर खलीफा पर प्रभु की कृपा रहे, ऐसी प्रार्थना जो होती है।

जिस इसलाम धर्म में प्रार्थना मंदिर भी एक नहीं हो सकते वहाँ यह कहना

कि हममें समता का राज है, मानवीय विषमता हम नहीं मानते, जातिभेद नहीं है, मुसलमान पूरा एक है; एकमत, एकपंथी और एकजाति है ऐसी प्रतिज्ञा करना गप्पें लड़ाना जैसा ही है। मसजिद जैसे ही सुन्नी पंथ के कब्रिस्तान भी अलग-अलग होते हैं। सुन्नियों के कब्रिस्तान में शिया का शव नहीं गाड़ा जा सकता, वैसे ही शियाओं के कब्रिस्तान में सुन्नियों का शव नहीं दफनाया जा सकता।

कुछ-एक अस्पृश्य नेताओं ने व्याख्यानों और समाचारपत्रों के माध्यम से ऐसा हल्ला-गुल्ला किया है कि वे समता और सत्य की दृष्टि से धर्म की खोज करने हिंदू धर्म से बाहर हो गए हैं और कुरान का अध्ययन कर रहे हैं। वे तुलनात्मक अध्ययन अवश्य करें। तुलना की लालटेन से डरकर तथा किसी की उपेक्षा या दया पर हिंदू धर्म एवं हिंदू संस्कृति जीना नहीं चाहती। तुलना में टिकी रहकर ही वह जीना चाहेगी। परंतु तुलना करते समय मुल्ला-मौलवी उनके हाथों में गलत मापदंड न पकड़ा दें इसके लिए वे सावधान रहें। गौब जैसे पक्षपाती प्रचारकों की टीका-टिप्पणी पर वे इसलाम धर्म की कल्पना न कर लें। कम-से-कम वे मुसलमान सज्जन द्वारा ही किया गया कुरान का मराठी अनुवाद अवश्य पूरी तरह पढ़ लें। इसके बाद SALE का अंग्रेजी अनुवाद एवं विशेष रूप से उसकी लंबी-चौड़ी प्रस्तावना अवश्य पढ़ें। उसके बाद जस्टिस अमीर अली जैसे कट्टर मुसलमान द्वारा लिखित 'History of Sarasins' यह मुसलमानी इतिहास भी अवश्य पढ़ें।

और इसके बाद किर्लोस्कर मासिक के जुलाई और अगस्त सन् १९३५ में लिखे मेरे लेख—'मुसलमानों के पंथ-उपपंथ' समीक्षात्मक विवेचन की दृष्टि कैसी होनी चाहिए यह ज्ञात करने के लिए अवश्य पढ़ें। कम-से-कम इतना पढ़ लेने के बाद फिर अंत में स्वामी दयानंद के 'सत्यार्थ प्रकाश' में दिया गया मुसलिम मत खंडन का उत्तर पक्ष के रूप में पढ़ें। इस सबसे मुसलमानी धर्म एवं आचार और विशेषत: भारतीय मुसलमानों में सीमारहित अस्पृश्यता तथा असहिष्णुता कितनी व्यापक है यह अपने-आप ज्ञात हो जाएगा।

(केसरी, १७.१.१९३६)

□

प्रकरण—९

हमारे 'अस्पृश्य' धर्मबंधुओं को चेतावनी

अपने हिंदू समाज में अत्यंत अन्याय और आत्मघाती अस्पृश्यता की जो रूढ़ि पड़ी हुई है उसका उच्छेद करने के लिए हम कितने प्रयास कर रहे हैं, यह 'श्रद्धानंद' (पत्रिका) के पाठकों को कहने की आवश्यकता नहीं है।

अस्पृश्यता के नाम पर हम अपने ही सात करोड़ धर्मबंधुओं को व्यर्थ ही पशुओं से भी हीन मानें, यह मनुष्य जाति का अपमान तो है ही, पर यह अपनी आत्मा का भी घोर अपमान है, इसलिए अस्पृश्यता से हमें छुटकारा पाना है—ऐसा मेरा स्पष्ट मत है। अस्पृश्यता निवारण से आज अपने हिंदू समाज का ही हित है, इसलिए भी हमें उससे छुटकारा चाहिए। पर मान लें, उससे किसी कारण हमें लाभ भी होता तब भी हमने उसके विरुद्ध इतना ही प्रबल आंदोलन चलाया होता। क्योंकि मेरे अस्पृश्य माने जानेवाले भाई को केवल वह अमुक जाति का है इसलिए मैं स्पर्श नहीं करता और किसी कुत्ते-बिल्ली को छूने में कोई संकोच नहीं करता, तब मैं मनुष्य के विरुद्ध एक अत्यंत हीन अपराध कर रहा होता हूँ। केवल आपदा से छुटकारा पाने के लिए अस्पृश्यता को हटाना है, ऐसा नहीं है। धर्म का किसी भी तरह से विचार करें तो भी वर्तमान की इस अमानुषिक रूढ़ि का समर्थन करना अशक्य है, इसलिए धर्म का आदेश मानकर ही हमें वह रूढ़ि नष्ट करनी चाहिए। न्याय की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से, मानवता की दृष्टि से कर्तव्य है, इसलिए अस्पृश्यता का कलंक हम हिंदू साफ धो डालें। इससे आज की परिस्थिति में लाभालाभ क्या हैं यह प्रश्न गौण है। यह लाभालाभ का प्रश्न ही आपद्धर्म है और अस्पृश्यता निवारण ही मुख्य और निरपेक्ष धर्म है।

परंतु जिस तरह ईश्वर-भक्ति करना मुख्य धर्म होते हुए भी जो उच्च भावना से वह कर नहीं सकता उसे निष्काम बुद्धि से भी न हो तो अभ्युदय के लिए, पुत्र,

धन, पत्नी, आरोग्य आदि की प्राप्ति के लिए ईश्वर-भक्ति का कहना उचित ही होता है, उसी तरह केवल न्याय के लिए तथा मनुष्यता का धर्म जानकर अस्पृश्यता त्याज्य है यह समझने किसी-किसी का मन उदार, विशाल न हो तो धर्म समझकर नहीं, पर कम-से-कम आपद्धर्म है, यह मानकर ही अस्पृश्यता की रूढ़ि नष्ट करो यह कहना उचित है। इतना ही नहीं अपितु न्याय-दृष्टि से और नीति-दृष्टि से भी वह कर्तव्य होता है। विद्यालय में पढ़ने के लिए नहीं जानेवाले लड़के को रोज मिसरी की डली देकर विद्यालय भेजना जरूरी होता है। इसका कारण यह है कि शिक्षा की रुचि लगते ही वह अपने-आप विद्यालय जाने लगेगा। वही स्थिति उस हिंदू समाज की भी है जिसमें असंख्य अनुयायियों में से धर्म के उदार भाव लुप्त हो गए और अन्यायी और आत्मघाती रूढ़ि को ही धर्म समझा जाने लगा है। न्याय के लिए अस्पृश्यता छोड़ने की बात तुम्हें समझ न आती हो तो तुम्हें समझ में आए तब तक ठहरने का समय न होने से उस अमानुषिक रूढ़ि से राष्ट्रपुरुष के प्राण जाने की स्थिति आ जाने से अब उतनी देर भी असह्य है। यह रूढ़ि आत्मघाती है, इसलिए उसे तू छोड़—यह बार-बार कहना पड़ता है और कहना अपरिहार्य ही नहीं, कर्तव्य भी है। यह कर्तव्य करते हुए बार-बार यह सिद्ध कर दिखाना पड़ता है कि अस्पृश्य लोग इस अन्याय त्रास से उकताकर धर्म परिवर्तन करने के निंद्य मोह में पड़ जाते हैं और उससे हिंदू समाज के संख्याबल और गुणबल की भयंकर हानि होती है। धर्मशास्त्र को अस्पृश्यता मान्य है ऐसा थोड़ी देर के लिए मान भी लिया तो भी धर्मशास्त्र में आपद्धर्म की जो व्यवस्था है उसमें 'राष्ट्रविप्लवे स्पृष्टास्पृष्टिर्न विद्यते' जैसी स्पष्ट और निर्णायक आज्ञा भी है। इसलिए धर्मशास्त्र के अनुसार नहीं तो आपद्धर्म शास्त्र के आज्ञानुसार ही यह अस्पृश्यता की रूढ़ि छोड़ना कर्तव्य है, ऐसा घुमाकर कहना पड़ता है।

हिंदू राष्ट्र के उद्धार के लिए आवश्यक होने से धर्म न सही आपद्धर्म समझकर ही अस्पृश्यता निवारण के लिए सैकड़ों लोग तैयार हो जाएँ तो युगों-युगों से मरे पड़े अस्पृश्यता के कुसंस्कार धीरे-धीरे धुंधला जाते हैं और वे मूर्खताजनित पूर्वग्रह, जो अस्पृश्यों के प्रति दृढ़ हुए हैं, वे उनकी संगति, विचार और संपर्कों से झूठे हो जाते हैं। यह बात जिनके ध्यान में आ जाती है अस्पृश्यता का पूरे मन से धिक्कार करने लगते हैं, इसलिए नहीं कि आपद्धर्म के रूप में स्वीकार की गई बात लाभकर है बल्कि न्याय है इसलिए, उपकार नहीं मानवता के कारण।

उनके लिए अस्पृश्य जाति को अस्पृश्य कहना भी भारी हो जाता है और उन्हें 'पूर्वास्पृश्य' या ऐसा ही कुछ कहने लगते हैं। यह अनुभव हमें सैकड़ों जगह, प्रामाणिक परंतु पुराणप्रिय धर्मशास्त्रियों से लेकर अज्ञानी और इसीलिए शास्त्र से भी

अधिक रूढ़िअंध-गँवार किसान तक अनेक बार हुआ है।

उपर्युक्त सब विस्तार से कहने का मूल हेतु यह है कि 'श्रद्धानंद' पत्रिका में जब हम यह कहते थे कि अस्पृश्यता निवारण से अमुक लाभ हैं, इसलिए अस्पृश्यता छोड़ें तब यह भी कहा जाता था कि अस्पृश्यता त्यागने की बात यदि धर्मशास्त्र में नहीं मिलती तो आपद्धर्म के सूत्रों में वह मिलेगी, इसलिए आपद्धर्म समझकर ही अस्पृश्य बंधुओं को गले गलाएँ। पर यह तर्क दूसरे क्रमांक का है, फिर भी यह कहा जाता था।

'श्रद्धानंद' में इस संबंध में प्रकाशित लेख प्रामाणिक व्यक्तियों द्वारा भी पूरे न पढ़े जाने और केवल बीच-बीच की कुछ कंडिकाएँ ही पढ़ने से कुछ भ्रांतियाँ जन्म लेती हैं और उनके लिए ही स्पष्टता से और बलपूर्वक यह कहना आवश्यक है कि अस्पृश्यता की रूढ़ि अति अन्यायकारी और आत्मघाती होने से मूलत: मानवीय आधार पर ही हम हिंदू उसका निर्दलन करें, अन्य सारे कारण गौण हैं। यही हमारा अबाधित मत है।

ऊपर लिखे गए और व्यावहारिक आधार पर भी विचार करें तो हमें ऐसा लगता है कि तथाकथित अस्पृश्य बंधुओं को विधि के द्वारा प्राप्त अधिकारों का भी स्पृश्य जन इसके बाद भी विरोध करेंगे तो उन विधिक अधिकारों को प्राप्त करने के लिए जहाँ अपरिहार्य हो वहाँ तथाकथित अस्पृश्य यदि शांत सत्याग्रह करते हैं तो उन्हें कोई दोष नहीं दिया जा सकता। अर्थात् मन परिवर्तन से और स्पृश्यों का मन घुमाकर वे विधिक अधिकार प्राप्त करने के सारे मधुर उपाय हार जाने के बाद ही निरुपाय होकर ऐसे सत्याग्रह किए जाएँ। अनेक स्थानों पर स्पृश्य लोगों को न्याय और व्यवहार से आज यह बात समझाना सरल है कि सार्वजनिक स्थान और प्रसंग में अस्पृश्यता त्याज्य माननी चाहिए। यह हमारा अनुभव है। वैसे ही ऐसे बंधुभाव से ही वह प्रश्न सुलझ सकता है, यह भी निश्चित है। परंतु कभी-कभी इस प्रश्न का वैसा कोई हल नहीं निकलता है तो अपने विधिक अधिकारों के संरक्षण के लिए अस्पृश्य बंधुओं को सत्याग्रह, शांत सत्याग्रह, करना पड़ सकता है—यह भी हमें ज्ञात है। सत्याग्रह की नीति हमेशा की नहीं है, परंतु विशिष्ट और अपवाद रूप में प्रयोग में लाने का एक कड़ुवा परंतु अपरिहार्य अंतिम उपाय तो है ही। सार्वजनिक विद्यालय, नल, नगर संस्था, जिला समितियों आदि स्थानों पर, विशेषकर जहाँ-जहाँ मुसलमान आदि अहिंदू स्पृश्य समझे जाते हैं, वहाँ-वहाँ और उससे भी आगे एक कदम हमारे तथाकथित अस्पृश्य बंधुओं को स्पृश्य बंधु द्वारा आने देना चाहिए। वह उनका न्यायिक अधिकार है, वह उनका विधिक अधिकार है। इसी कारण डॉ. अंबेडकर द्वारा 'महाड' में आयोजित सत्याग्रह आंदोलन हमें दोषपूर्ण नहीं लगता,

यह हम स्पष्टता से घोषित करना चाहते हैं। क्योंकि महाड के संबंध में जो बात खुले रूप से ज्ञात है वह यह कि जिस तालाब से मुसलमान पानी भरते हैं और बरतन भी धोते हैं उस तालाब से पानी की तंगी के दिनों में भी अपने अस्पृश्य हिंदू बंधुओं को पानी पीने से रोका गया। इतना ही नहीं, नगर संस्था के आदेश के बाद तालाब पर आकर पानी पीनेवाले अस्पृश्य बंधुओं को स्पृश्य बंधुओं ने मारा-पीटा। अस्पृश्य मंदिर प्रवेश करेंगे—ऐसी आशंका के कारण ही यह मारपीट हुई ऐसा कहना विश्वसनीय नहीं हो सकता। क्योंकि फिर गोमूत्र छिड़ककर उस तालाब की शुद्धि नहीं की जाती। अपने धर्म के रक्त के, बीज के हिंदू मनुष्य के स्पर्श मात्र से जल दूषित हो जाता है और पशु मूत्र छिड़कने से शुद्ध हो जाता है। इस अत्यंत तिरस्कार योग्य प्रकरण में मनुष्य स्पर्शजन्य भ्रष्टता की भावना अधिक तिरस्कार योग्य है या वह पशु मूत्र से शुद्ध करने की भावना अधिक धिक्कार करने योग्य है—यह कहना कठिन है।

नगर संस्था और विधिमंडल इन दोनों ही विधिक संस्थाओं ने जो विधिक अधिकार अस्पृश्यों को दिए थे, वे अधिकार यथासंभव शांति से मिलने के सारे प्रयास करने के बाद भी महाड के लोगों ने उन्हें वे बंधुभाव से नहीं दिए। जब मुसलमान तालाब का पानी पी रहे थे तब हिंदुओं के द्वारा हिंदुओं को पानी छूने से भी मना करना कितना बड़ा कलंक है! ऐसे में महाड जाकर उस तालाब पर शांति से सत्याग्रह कर पानी लेने का प्रयास करना केवल अस्पृश्यों का नहीं अपितु अखिल हिंदू का कर्तव्य है। इस न्याय कार्य में जो कुछ भी धींगामुश्ती हुई वह डॉ. अंबेडकर सत्याग्रह मंडल की ओर से न होकर महाड के धर्मविमूढ़ स्पृश्यों की ओर से हुई और यह अतिरेक यदि टालना है तो डॉ. अंबेडकर की मंडली को 'जाने भी दो' कहकर टाला नहीं जा सकता। हमारा महाड के हिंदू बंधुओं से प्रेमाग्रहपूर्वक निवेदन है कि वे अब भी चेतें और इस दुःखद अध्याय का अंत करें और वैसा करना कितना सरल है। यदि एक पत्र पूरे समाज की ओर से या नगर संस्था की ओर से हमारे महाडकर बंधु उनके हिंदू धर्म के नाम पर जो कुछ भी अपमान हुआ हो, उसे भूलकर प्रकाशित करने की उदारता दिखाएँगे और कहेंगे कि इस तालाब पर हमारे अस्पृश्य बंधु आएँ और सुख से पानी पीएँ तो सत्याग्रह करने का दुःखद अवसर तत्काल टल जाएगा। हिंदू अपने ही प्यासे हिंदू बंधु को तालाब पर पानी न पीने दें और वह सारा मजा उसी तालाब का पानी पीते खड़े मुसलमान और ईसाई हँसते, मुस्कराते देखें, यह अति लज्जाकारी दृश्य हमारे महाडकर बंधु विश्व को फिर से न दिखाएँ, यह हमारा उनसे हार्दिक निवेदन है।

महाडकर यदि ऐसा पत्र सर्वसम्मति से प्रकाशित न कर पाएँ तो वे ऐसा करें

कि जब अपने हिंदू बंधु पानी पीने दलबल सहित आएँ तब उनका बिलकुल भी विरोध न करते हुए वह पानी उन्हें सुख से पीने दें जिससे कलहप्रिय परधर्मी लोगों की सारी उठापटक (खटाटोप) व्यर्थ हो जाएगी और शिकार से वंचित व्याध की तरह उनकी फजीहत हो जाएगी। अपने अस्पृश्य बंधुओं के हमले को हम स्पृश्य बंधु स्वयं ही पराजय स्वीकार कर पराजित करें। अंग्रेजों और मुसलमान गुंडों के सामने हार न मानें, जो कुछ भी धर्माभिमान और शौर्य है वह उन दो के सामने हम दिखाएँ। अपनी ही जीभ को अपने ही दाँतों से काटने में कौन सा पौरुष है?

जिस तरह 'स्पृश्य' बंधुओं से हमारा यह निवेदन है उसी तरह हमारे अस्पृश्य बंधुओं को भी एक चेतावनी देना हमें अपना कर्तव्य लगता है। और वह चेतावनी यह कि वे स्पृश्य हिंदुओं को यह धौंस देना बंद करें कि अस्पृश्यता हटाओ अन्यथा हम धर्मांतरण करेंगे। क्योंकि ऐसा कहना भी उनको बहुत लांछनास्पद है। अस्पृश्यता जो हटाएगा उसका ही केवल हिंदू धर्म पर अधिकार है और 'अस्पृश्य' सारे हिंदू धर्म में आए हुए कोई मेहमान हैं क्या? अस्पृश्यों के लिए हिंदू धर्म चाहे जब फेंक सकें ऐसा जीर्ण कपड़ा या बाजार से लाई गई सब्जी-भाजी तो नहीं है। हिंदू धर्म की और हिंदू संस्कृति की, हिंदू देश की और हिंदू इतिहास की, हिंदू तत्त्वज्ञान की और हिंदू वाङ्मय की, संक्षेप में हिंदुत्व की यह अपनी पूर्वार्जित विरासत केवल वशिष्ठ जैसे ज्ञानी ब्राह्मणों ने या श्रीकृष्ण जैसे गीता उद्घोषक क्षत्रिय ने या हर्षवर्धन जैसे साम्राज्य निर्माता वैश्य ने या नामदेव, तुकारात जैसे संतों ने ही अर्जित नहीं की, उसे अर्जित करने में अस्पृश्य जाति के अनेक पूर्वज भी लगे रहे। उस हिंदुत्व की रक्षा करने में हजारों अस्पृश्य वीर रणभूमि पर खेत रहे हैं। महाभारत के एक उज्ज्वल अध्याय में व्याध गीता का उद्‌गाता 'अस्पृश्य' से लेकर हिंदुत्व के भगवा ध्वज के रक्षणार्थ अपने प्राण न्योछावर करनेवाले महार, शिदनाईक तक के लाखों अस्पृश्य संत, चिंतक, वीर आदि ने हिंदुत्व की इस सामूहिक संपत्ति का उपार्जन और संरक्षण किया है। हिंदुत्व के गाँव सीमा की रक्षा में जिन महारों ने रातें जागते हुए काटी हैं, वे सारे महार तुम्हारे ही पूर्वज थे।

हाँ, यदि पूर्वजों की ही बात करनी है तो अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों के कारण ही अस्पृश्यों की उत्पत्ति अधिकतर हुई है, इसलिए उनके और तुम्हारे पूर्वज एक ही हैं। यह तथ्य कम-से-कम त्रैवर्णिक तो नकार नहीं सकते। क्योंकि अस्पृश्यों का रक्त स्पृश्यों के शरीर में संचार कर रहा है और स्पृश्यों का अस्पृश्यों के शरीर में। इस विधान की पुष्टि उनकी मनुस्मृति ही देती है। पंचमादिक वर्णों की उत्पत्ति की उपर्युक्त मीमांसा उन्हें मान्य मनुस्मृति में ही कही हुई है। फिर जब कुछ समय पूर्व स्पृश्यों और अस्पृश्यों के पूर्वज एक ही थे तो यह हिंदुओं की विरासत जितनी

स्पृश्यों की है उतनी ही अस्पृश्यों की परंपरागत स्वायत्त संपत्ति है। तुम्हारे और हमारे वे पूर्वज जब एकत्रित थे तब और आगे गाँव-के-गाँव में ही स्पृश्य-अस्पृश्य के झगड़े कर अलग हुए तब भी सामूहिक श्रम से प्राप्त की है। सामूहिक शौर्य से संरक्षित रखी है। उसपर जितना स्पृश्यों का है उतना ही अस्पृश्यों का पैतृक अधिकार है। फिर आप यह कैसे पूछते हैं कि 'इस हिंदुत्व पर हमारा अधिकार है या नहीं? हिंदू धर्म हमारा है कि नहीं?'

इस प्रश्न में तुम अनजाने में यह मानकर चल रहे हो कि हिंदुत्व मानो अकेले स्पृश्यों की विरासत है। तुम स्वयं ही अपना अधिकार यों छोड़ कैसे देते हो? किसी राज्य के दो वारिस हों और उनमें से एक वारिस ने दूसरे को हीन स्थिति में रखा हुआ है तो क्या वह दलित वारिस छली के छल से उकताकर उस राज्य को ही छोड़ दे और परशत्रु के दरवाजे से फेंके टुकड़ों पर पले? यह श्रेयस्कर और वीरवृत्ति को शोभादायी नहीं है। वह छली वारिस राज्य को छोड़ जाने का आदेश भी दे तो भी उसकी चिंता न कर राज्य पर अपना न्याय अधिकार बनाए रखना ही वीरवृत्ति का परिचायक है।

मेरे तथाकथित अस्पृश्य बंधुओ, तुम इस हिंदुत्व के सनातन और पूर्वज अर्जित साम्राज्य पर अपना अधिकार जताओ, दरवाजे के सामने खड़े भिखारी की तरह भीख माँगना और न मिलने पर आगे बढ़ना—ऐसे डरपोक भाव का प्रदर्शन न करो। घर के मालिक की तरह घर में बराबरी से खड़े रहो। तुम्हारे स्पृश्य बंधु चाहे तो कहें कि तुम हीन हो, हिंदुत्व का यह महान् सांस्कृतिक राज्य मेरा है, तू निकल जा बाहर; तुम उनकी बात न मानकर उनसे उलटकर कहो यह अकेला तुम्हारे बाप का अर्जित किया हुआ नहीं है। उसके अर्जन में पिछले हजार-हजार वर्ष मेरे भी पूर्वज प्रयासरत रहे हैं। मैं बाहर नहीं जाता, मुझे 'बाहर जा' कहने का अधिकार तुम्हें नहीं है। तुमने आज तक अपनी सामूहिक संपत्ति को बहुत भोगा, अब मैं तुम्हें उसे अकेले भोगने न दूँगा।

हिंदू धर्म मेरा है, उसे छोड़ने के लिए कहनेवाला तू कौन?

ऐसा प्रश्न तुम स्पृश्यों को करना चाहिए। हिंदू धर्म में रहने देने या न रहने देनेवाले अधिकारी ये स्पृश्य लोग ही हैं ऐसी हीन भावना हमारे अस्पृश्य बंधुओं को कभी नहीं करनी चाहिए। और वह दरिद्र भावना व्यक्त करके यह कहना कि 'हमें छुओ' नहीं तो हम दूसरे घर जाते हैं, ऐसी अत्यंत भिखारी और दुर्बल कुलकलंक जैसी बातें कहकर अपने ही पूर्वजों का घर छोड़कर उनके शत्रु को ही अपना पूर्वज समझने का डरपोकपन कभी भी नहीं करना चाहिए। क्योंकि हिंदुत्व का अधिकार

छोड़ना सारे अस्पृश्य संतों को छोड़ना, भुला देना होगा। इन संतों और उनके विशाल शिष्य वर्ग ने अर्थात् तुम्हारे प्रत्यक्ष पूर्वजों द्वारा उपार्जित की हुई संपत्ति डरकर छोड़ भाग जाना, न कभी नहीं। जो हिंदुत्व तुम्हारी हजारों पीढ़ियों ने अपने प्राण दाँव पर लगाकर, अस्पृश्यता की सारी पीड़ाएँ भोगते हुए अर्जित किया, उस हिंदुत्व को छोड़ना तुम्हारे ही उन महार, माँग आदि सोमवंशी कुल के शत-सहस्र पूर्वजों को मूर्ख मानकर अपने बाप का नाम बदलने जैसा है। फिर तुम्हें राम हमारा, कृष्ण हमारा, काशी हमारी, मथुरा हमारी, द्वारका हमारी, कालिदास हमारा, व्यास हमारा यह हिंदू संस्कृति हमारी—ऐसा कहने का और अनुभव करने का अधिकार नहीं रहेगा। जो तुम्हारे स्वयं के माता-पिता हिंदू बनकर रहे उन्हें तुम्हें काफिर कहना पड़ेगा। तो अब ऐसी अमंगल भाषा तुम स्वयं के जातीय अभिमान के लिए मुँह से नहीं निकालना।

एक भाई ने दूसरे को पीड़ित किया तो दूसरा पहले से लड़े और अपना न्याय भाग प्राप्त करे। ऐसा न करे कि उस भाई पर का गुस्सा निकालने के लिए अपने बाप को बाप कहना ही छोड़ दे और श्राद्ध के दिन किसी दूसरे और उसमें भी उससे जिससे दोनों भाइयों के बाप-दादे लड़ते रहे ऐसे परशत्रु को पिता मान उनका श्राद्ध करे। इसलिए हे मेरे धर्मबंधुओ, यह नीच भावना मन को छूने भी मत दो। स्वधर्म त्याग की भावना जिसके मन में आती है वही वास्तविक अस्पृश्य है। वह तुरंत पश्चात्ताप का प्रायश्चित्त कर ले।

और ऐसी हीन बात सोचते हुए तुम मुसलमान के दरवाजे पर जाते हो तो भी तुम्हें कुत्ते की तरह टुकड़ों पर ही जीना पड़ेगा। हसन निजामी नामक एक मुसलमान की लिखित पुस्तक है—'चेतावनी घंटा' (Alarm Bell)। उसमें निजामी ने स्पष्ट कहा है, उच्च और कुलीन मुसलमानों को चाहिए कि वे धर्मांतरित होकर आए हिंदू भंगी, महार आदि से बेटी आदि व्यवहार करे, ऐसा मैं बिलकुल नहीं कहता।

हैदराबाद के निजाम के समय मुसलमान हुए महार आदि अस्पृश्यों के हाथ का पानी न पीनेवाले अनेक मुसलमान हमने देखे हैं। कुछ वर्षों पूर्व धर्मांतरित अस्पृश्यों की अनेक जातियाँ मुसलमान समाज में अभी भी जैसी-की-तैसी अलग बनी हुई हैं। ईसाइयों में तो त्रावणकोर में स्पृश्य ईसाई और अस्पृश्य ईसाइयों के बीच बार-बार दंगे होते रहते हैं यह तो सबको ज्ञात ही है। अर्थात् मुसलमान होने पर कोई बड़ा राज्य मिलनेवाला है—ऐसा नहीं है।

वैसा वह राज्य मिलता तो भी केवल उसके लिए तुम्हारे ही पूर्वजों की हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति, धर्म और समाज को छोड़कर जन्मदात्री माँ और बाप को छोड़कर, परशत्रु के पैर पकड़ना अत्यंत नीच प्रवृत्ति है। ऐसी नीच प्रवृत्ति पर हमारे

अस्पृश्य धर्मबंधु आज तक बलि नहीं चढ़े। इतनी अमानुषिक पीड़ा पीढ़ी-दर-पीढ़ी सहते रहे पर बलि नहीं चढ़े। यह जितना उनको पीड़ा देनेवाले स्पृश्यों के लिए लज्जाजनक है उतना ही अस्पृश्यों के लिए गौरवास्पद है।

आवश्यकता पड़ी तो हम हिंदू धर्म पर लगा अस्पृश्यता का कलंक अपने रक्त से धोएँगे—यह डॉ. अंबेडकर की प्रतिज्ञा सच्चे हिंदू के लिए गर्व की बात है, इसलिए उनके सत्याग्रह को भी हम न्याय्य ही मानते हैं, परंतु इसी के साथ प्रेमपूर्वक, परंतु चिंता के साथ चेतावनी भी देते हैं कि हिंदू धर्म हमारा है कि नहीं कहो? ऐसा आत्मघाती प्रश्न करके कि 'नहीं तो हम हिंदुत्व छोड़ देंगे' ऐसे अभद्र और लज्जाजनक वाक्य का उच्चारण सिद्धांतत: जितना नाश करनेवाला है उतना ही व्यवहार में भी होगा। एक युक्ति की तरह उसका उपयोग करना भी लज्जाजनक है।

क्योंकि सगे परंतु दुष्ट भाई को डराने के लिए ही तेरे बाप को मैं आज से अपना बाप नहीं कहूँगा, यह धमकी देना स्वयं के लिए ही घृणित है, वैसे ही स्पृश्यों को धमकी देने के लिए हिंदुत्व छोड़ दूँगा यह कहकर पितृ परंपरा से पूजे हुए हिंदुत्व के मुँह पर थूकना भी अति निंदनीय और तुम्हारी ही आत्मा को कलंकित करनेवाला है।

स्पृश्य भी होऊँगा और हिंदू भी रहूँगा

ऐसी प्रतिज्ञा करें। हिंदू धर्म, हिंदू संस्कृति, हिंदुत्व अकेले स्पृश्यों के बाप का नहीं है, वह तो दोनों के ही बाप की सम्मिलित संपत्ति है। उसे छोड़कर जाऊँ क्या? ऐसा स्पृश्यों को ही क्यों पूछते हो? क्या वे मालिक और तुम चोर हो? और जो पापी और निर्दय स्पृश्य तुम्हारे लाखों लोगों के धर्मांतरित होकर चले जाने पर भी अस्पृश्यता को छोड़ने को तैयार नहीं है, वे और कुछ लाख निकल गए तो भी घबराने की बात नहीं है। उनके लिए ऐसी अमंगल भावना जितनी लज्जाकारक है उतनी ही परिणाम में विफल होने से हमारे अस्पृश्य बंधुओं के लिए भी। झूठ-मूठ भी उसके पास जाने का पाप न करें, ऐसी हमारी उनसे हार्दिक विनती है।

(श्रद्धानंद, १.९.१९२७)

बैरिस्टर सावरकर का 'समता संघ' को पत्र

(डॉ. अंबेडकर के समाज की 'समता संघ' नामक एक संस्था थी। उसका मुखपत्र 'समता'। उसमें 'अपना आदमी' शीर्षक से जातिभेदोच्छेदक विषय पर

कुछ लेख छपे। उनमें व्यक्त विचारों पर बैरिस्टर सावरकर ने निम्नलिखित पत्र भेजा। वह पत्र 'समता' के २४ अगस्त, १९२७ के अंक में प्रकाशित हुआ।)

रत्नागिरि से बैरिस्टर विनायक दामोदर सावरकर का निम्न पत्र प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ है—

१. श्री संपादक 'समता', नमस्कार, निवेदन यह है कि समता संघ के मुखपत्र 'समता' के अंक आप मुझे भेजते हैं, इसके लिए आभारी हूँ।
२. अपने पत्र में प्रकाशित अनेक लेखों में आप यह दिखाने का प्रयास कर रहे हैं कि मैं जातिभेद का बड़ा अभिमानी हूँ और उसके निर्मूलन का प्रयास करने की कल्पना का, निश्चय का और तदनुरूप आचरण का जिम्मा जो केवल आपके ही पास है, ऐसा समझते हैं उसमें मेरा कुछ भी अंशदान नहीं है। इतना ही नहीं अपितु उस तरह के सुधार का मैं पूर्ण और प्रत्यक्ष विरोधी हूँ।
३. यदि यह बात सच होती तो आपकी टीका को प्रामाणिक मान मैं कुछ भी न कहता। परंतु आपकी और मेरी भेंट में मेरा मत जातिभेद के निर्दलन के लिए पूरी तरह से अनुकूल है और मैं स्वयं रोटीबंदी व्यवहार में यथासंभव सुधार करने और दूसरों से करवाने के लिए प्रयत्नशील हूँ यह बात स्पष्ट हो गई है। फिर भी जिस कारण आप 'समता' में मेरे नाम का उल्लेख करते हुए—मैं उसके विरुद्ध हूँ ऐसा आभास उत्पन्न कर रहे हैं, उससे यह स्पष्ट होता है कि आपकी टीका का हेतु और ही कुछ है। वैसा हो तो जिस कार्य पर आपकी निष्ठा है उस कार्य के लिए कम-से-कम भविष्य में जान-बूझकर जनता में ऐसी भ्रममूलक बात न फैलाएँ—यह मैं आपको देशबंधुत्व और धर्मबंधुत्व के नाते सुझाना चाहता हूँ।
४. फिर भी यदि वृत्तपत्र आपके स्वामित्व का होता तो मैं ज्ञात जातिभेद विरोध के अपने विचार और आचार आपको ही फिर-फिर कहते रहने का परिश्रम न करता और वह प्रश्न आपकी व्यक्तिगत सत्यनिष्ठा पर सौंपकर उधर दुर्लक्ष्य ही करता। पर समता संघ के मुखपत्र के रूप में 'समता' का प्रकाशन हो रहा है इसलिए मैं यह स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझता हूँ।
५. हिंदू समाज से जन्मजात जातिभेद का जड़ से नाश करना अत्यंत आवश्यक है। उसका अस्तित्व किसी भी आनुवंशिक आधार पर असमर्थनीय और राष्ट्रीय शक्ति के लिए हानिकारक है। हिंदू समाज में

प्रांतीय और जातीय कोई भी भेद न स्वीकारते हुए पंगत व्यवहार और विवाह व्यवहार होने चाहिए। वैद्यक, स्वास्थ्य या रुचि-भिन्नता को छोड़ अन्न व्यवहार में कोई मर्यादा मान्य न होनी चाहिए। शुद्ध, स्वास्थ्यवर्धक और उचित अन्न-जल हो तो किसी के भी द्वारा और कहीं भी पकाया या लाया गया, खाने या पीने में कोई आपत्ति नहीं है। उसमें कहीं 'जाति' का विषय भी न आए। और विवाह केवल वधू-वर की योग्यता पर स्वास्थ्य और परस्पर प्रीति पर अवलंबित हो। उसमें भी जाति-पाँति का कोई बखेड़ा न हो।

६. अर्थात् उपर्युक्त स्पष्टीकरण केवल हिंदू राष्ट्र के अंतर्गत व्यवहार के लिए हैं।

७. जातिभेद के निर्मूलन के लिए उपर्युक्त आधार पर जब मैं विद्यालय में था तब से खुले रूप में व्यवहार कर रहा हूँ। कॉलेज में तो मैं इस विषय पर खुला भाषण देता था और प्रत्यक्ष व्यवहार में उसे लाते हुए मैंने सैकड़ों लोगों की जातिभेदमूलक दूषित प्रवृत्तियाँ पलटी हैं। कारागृह से बाहर आने के बाद से मैंने तीव्र लोक विरोध सहन करते हुए जातिभेद के निर्मूलन के लिए व्याख्यान, लेख, चर्चा कर अपनी व्यक्तिगत सीमा तक ऐसा आचरण भी किया है। इस संबंध में मेरा कथन ही पर्याप्त साक्ष्य था, पर संक्षेप में दो-चार घटनाओं का भी उल्लेख मैं कर रहा हूँ। मेरे लिखे पत्र—'अंदमान के पत्र' प्रकाशित हो चुके हैं। उनमें मैंने उस काल में भी जातिभेद से होनेवाली हानि पर समय-समय पर लिखा था और रोटी-बेटी व्यवहार सारे हिंदुओं में हो, इस हेतु की मेरी उत्कट इच्छा प्रकट हुई दिखेगी। 'माझी जन्मठेप' नामक मेरी जो दूसरी पुस्तक है, उसमें भी इस विषय के कतिपय अध्याय हैं। हिंदू सारा एक, हमें एक ही जाति ज्ञात है वह है हिंदू—ऐसा उपदेश और आचार का उधर कैसा लगातार प्रयोग मैंने चलाया हुआ था वह सारा लिखा हुआ है। भगूर में रहते खुले रूप में मैंने पूर्वास्पृश्य बंधु के साथ (उसे अस्पृश्य कहना भी मैं पाप समझता हूँ, पूर्वास्पृश्य भी केवल निरुपाय होकर मैंने कहा है।) दूध और चाय पी है। नासिक में हजारों लोगों की सभा में यह घटना सुनाकर मैंने सदिच्छा प्रकट की थी कि मेरे शव को यदि ब्राह्मण, मराठा, महार, डोम आदि मेरे सारे हिंदू बंधु कंधा देकर ऐसा कर दिखाएँ कि अस्पृश्यता और जातिभेद मर गया तो मेरी आत्मा बड़ी सुखी होगी। ये बातें तत्कालीन 'सधर्म' आदि

पत्रों में प्रकाशित हुई हैं। 'श्रद्धानंद' में तो लेखनी थक जाए तब तक रोटी व्यवहार विरुद्ध लिखा जा रहा है। धर्म का स्थान 'हृदय है पेट नहीं'। यह वाक्य श्रद्धानंद के कारण मराठी भाषा में कहावत जैसा परिचित हो गया है। मेरे घर में एक बार नहीं अपितु नित्य ही सहभोजन होते हैं। रत्नागिरि में सैकड़ों लोग भंगी के लड़के के साथ चाय-चिउड़ा खाते हैं। मैं अपने मराठा, वैश्य, ब्राह्मण आदि हिंदू बंधुओं के यहाँ भोजन करता हूँ और अंदमान से अब तक अनेक अंतरजातीय विवाह मैंने सफलतापूर्वक कराए हैं।

८. इतना उल्लेख भी आवश्यक होने से करना पड़ा। वास्तव में हजारों लोगों को मैंने जातिभेद तोड़ने के लिए कहा है। सैकड़ों लोगों को उसके अनुकूल कर लिया है। मेरा आचरण भी स्वयं वैसा ही है। किसी का प्रमाण-पत्र मुझे नहीं चाहिए, पर प्रामाणिक मतिभ्रम (गलतफहमी) हो तो वह न रहे इसलिए लिखना पड़ रहा है।

९. जातिभेद का जड़-मूल से नाश करना अपने हिंदू राष्ट्र के लिए हितकर होने से मैं उस सीमा तक समता संघ का अभिनंदन करता हूँ। हाँ, यह अवश्य कहूँगा कि आज मुझे जातिभेद नहीं चाहिए, पर हिंदुत्व चाहिए। इसीलिए रोटी व्यवहार में स्वास्थ्य का ध्यान रखते हुए किसी अहिंदू के साथ वह करने में मेरी कोई आपत्ति नहीं है, यह यद्यपि आज मैं कहता हूँ, पर बेटी व्यवहार के संबंध में और कुछ अवधि तक हिंदू अपनी बेटियाँ अहिंदुओं को न दें ऐसा मुझे लगता है। अहिंदू कन्या कर लेने में कोई हानि नहीं है ऐसी समझ और रूढ़ि हिंदुओं में बहुत अंश तक बद्धमूल हो जाने के बाद ही वैसे मुक्त विवाहों का समर्थन मैं करूँगा। आज हमारी कन्याएँ जाएँगी और उनके वंश से हम वंचित रह जाएँगे—मुझे यह डर है। शुद्धि, जातिभेद निर्मूलन और आंतरिक संगठन पक्का हो जाने के बाद ही अहिंदुओं से बेटी-व्यवहार करने वे जितने खुलेपन से बरतेंगे उतना करने में हम तत्पर होंगे।

१०. इतना ही नहीं मुसलमानपन, ईसाईपन आदि 'पन' यदि अन्य छोड़ दें तो मेरा हिंदूपन भी मानवता में विलय हो जाएगा। जैसे मेरा राष्ट्रपन, हिंदीपन मानव राष्ट्र में तब विलय होगा जब इंग्लिशपन, जर्मनीपन आदि 'पन' लुप्त होकर केवल मनुष्यपन ही मनुष्यों में शेष रह जाएगा। आज भी जो सच्चा मनुष्यवादी है उससे मैं भी सारे भेदभाव छोड़कर व्यवहार करूँगा।

११. मैं अभी हिंदुत्व रखना चाहता हूँ यह मत जिस किसी को अमान्य हो वह उसके लिए मेरी चाहे जितनी टीका करे, वह सच्ची होगी। परंतु मैं जातिभेद का संरक्षण करना चाहता हूँ यह कोई न कहे, न ही वैसा कुछ माने। वह टीका झूठी होगी। समता संघ के उस उद्देश्य के लिए मैं अनुकूल हूँ यह प्रकाशित हो जाने से जो कुछ शक्ति उस जातिभेद निर्मूलन को मिलेगी, वह मिले इसलिए यह पत्र मैंने खुले रूप में लिखा है। यह पत्र समता में जैसा-का-तैसा प्रकाशित कर पक्षपातरहित इस स्पष्ट कथन को आप स्वीकार करेंगे यह मुझे आशा है। जाते-जाते यह भी कहना पड़ेगा कि 'श्रद्धानंद' में मेरे नाम से छपे लेख की सीमा तक ही मैं उत्तरदायी हूँ। स्नेह बना रहे, यह निवेदन है।

रत्नागिरि
१४.८.१९२९

आपका
वि.दा. सावरकर

डॉ. अंबेडकर के सुपुत्र फिर से हिंदू होंगे

चाहे तो बुद्धिवादी विधर्मी बने, परंतु हिंदू धर्म से उत्तम धर्म नहीं मिलेगा

डॉ. अंबेडकर ने हिंदू धर्म छोड़ने का निश्चय किया हुआ है। इस समाचार से मुझे उतना आश्चर्य नहीं हुआ जितना इस समाचार से कि वे हिंदू धर्म से अच्छा कोई एक धर्म खोजने का प्रयास कर रहे हैं। हिंदू धर्म छोड़ने के लिए जो कारण उन्होंने दिए हैं, जो प्रकाशित हुए हैं, वे अत्यंत संदिग्ध हैं, अत: उनका हेतु एक यही है ऐसा कह नहीं सकते। फिर भी यदि वे इसलिए धर्म त्याग कर रहे हों कि हिंदू धर्म बुद्धिवाद (Rationalism) की कसौटियों पर खरा नहीं उतरता तो उस बात का अर्थ थोड़ा-बहुत समझ में आ सकता है—Ism को यदि धर्म मानें तो उसमें बुद्धिबाह्य कुछ विशिष्ट श्रद्धा तो होगी ही। बुद्धि को जो मान्य नहीं, ऐसी श्रद्धा रखना जिन्हें पसंद नहीं, इतना ही नहीं अपितु तर्क के विरुद्ध जानेवाले धर्ममत अंधश्रद्धा के आदेश को सीने से चिपकाए रखना जिन्हें अप्रामाणिक लगता है, धर्म कहते ही, जिसमें कुछ पुराणपंथी और आज की परिस्थिति में निरर्थक नहीं तो अन-अर्थक हो गए ऐसे आचार और संकेत भी जो होते हैं, उनको लोकहित के लिए सुधारना जिन्हें अपना कर्तव्य लगता है और पारलौकिक मानी जानेवाली बातों

पर भी जो प्रत्यक्षनिष्ठ तर्क के पार जाकर विश्वास करने की इच्छा नहीं रखते, ऐसे Positivists या Rationalists आदि बुद्धिवादी जब धर्म त्याग करते हैं तब उसका कारण सहज ध्यान में आ जाता है। उन अर्थों में डॉ. अंबेडकर यदि Hinduism छोड़ रहे हों तो उसमें कोई बड़ा आश्चर्य नहीं।

चाहिए तो एक नए 'बुद्धिवादी संघ' की स्थापना करें

पर जिस बुद्धिवाद की कसौटी से हिंदू धर्म छोड़ने की इच्छा होती है उस कसौटी को मानें तो विश्व का कोई भी धर्म स्वीकार्य होना कठिन है। जैसे इसलाम एवं ईसाई धर्म लें। वेद अपौरुषेय हैं, अग्नि पूजा से स्वर्ग प्राप्त होता है आदि हिंदू धर्म के सिद्धांत जिस बुद्धिवाद को अंधश्रद्धा का निरा ढोंग लगता है वह बुद्धिवाद इसलाम धर्म की मूलभूत प्रतिज्ञा कि मोहम्मद साहब ही अंतिम पैगंबर हैं, उनके कुरान का हर शब्द ईश्वर की मेज पर विश्व के पहले ही लिखकर रखी हुई एक प्रचंड पुस्तक से पृष्ठ फाड़-फाड़ देवदूत के हाथों से मोहम्मद साहब को भेजा गया और मोहम्मद साहब को जो सर्वश्रेष्ठ पैगंबर नहीं मानेगा, वह अखंड नरक में सड़ता रहेगा आदि सिद्धांत मैं मान्य करता हूँ—ऐसा प्रतिज्ञा के साथ कहने की अप्रामाणिकता कैसे करेगा। या यीशू ख्रीस्त को कुमारी मेरी देवी के गर्भ में ईश्वरीय तेज के अपौरुषेय संभोग से जन्म मिला और उसका हर शब्द अनुल्लंघनीय ईश्वरीय आज्ञा है ऐसी प्रतिज्ञा भी कैसे की जा सकती है। यदि डॉ. अंबेडकर हिंदू धर्म छोड़ रहे हों कि वह बुद्धिवाद की कसौटी पर खरा नहीं उतरता तो वे बुद्धि को न पटनेवाली केवल श्रद्धा की नींव पर खड़े स्पष्ट ही पुरुष द्वारा रचित ग्रंथ को अपौरुषेय माननेवाले और अनेक झूठमूठ कथाओं से भरे हुए किसी भी धर्म को, धर्म एक फैशन के रूप में घर या बँगले में होना ही चाहिए, इसलिए स्वीकार न करें।

आज की परिस्थिति में प्रत्यक्ष लोकहितकारी नियम जिसका आचार हो, तर्कनिष्ठता और प्रत्यक्षागत सिद्धांत जिसके उपनिषद् हों और विज्ञान जिसकी स्मृति हो—ऐसे एक बुद्धिवादी संघ की स्थापना की जाए और उसके अनुयायियों को अंधश्रद्धा तथा झूठमूठ की कथाओं के पिंजड़े से एक झटके में बाहर निकालकर अधुनातन (अद्यावत्)—ऐसी वैज्ञानिक बुद्धि स्वतंत्रता के उच्चतम और स्वास्थ्यप्रद वातावरण में ले जाया जाए। यह उत्तम मार्ग होगा।

परंतु हिंदू धर्म लकड़ी का गले में लटका भोलेपन का एक बेंडा है और उसे फेंककर उसके स्थान पर ईसाई या मुसलमानी धर्म दीवानेपन और धर्मोन्माद की बड़ी विशाल शिला वे स्वयं के और अपने अनुयायियों के गले में बाँधना चाहते हैं तो उससे मानवीयता के नाते उनका अध:पतन ही होगा। कुछ भी हो, बुद्धिवाद की

दृष्टि से कुल मिलाकर देखें तो सब धर्मों में ग्राह्यतम धर्म हिंदू धर्म ही है। 'किर्लोस्कर' मासिक (इस पुस्तक में समाविष्ट) में इसलाम धर्म और उसके पंथों पर हमने जो दो लेख लिखे हैं, वे धर्म तुलना की दृष्टि से लोगों को अवश्य पढ़ने चाहिए।

धर्मांतरण से आज अस्पृश्यों की हानि अधिक होगी

अब यदि डॉ. अंबेडकर केवल अस्पृश्यों की मानवता बढ़ाने के लिए और आत्म-सम्मान की रक्षा करने के लिए हिंदू धर्म को त्याग रहे हों तो वे इस बात को ध्यान में रखें कि अगले दस वर्ष में अस्पृश्यता का उच्चाटन हुए बिना न रहेगा। और केवल दस वर्ष वे धीरज रखें। इतनी बड़ी राष्ट्रीय समस्या सुलझाने के लिए इतना समय तो और लगेगा ही। आज अस्पृश्यता का प्रश्न हर तरह से हल होने के कगार पर है। सदियों से महार आदि अस्पृश्यों के हिंदू धर्म से जुड़े संबंधों के कारण, परधर्म में जाते हुए उन्हें जो आर्थिक और सामाजिक कष्ट एवं हानि भोगनी पड़ेगी, उसकी तुलना में जिस स्थिति में वे हैं उसी स्थिति में दस वर्ष और संघर्ष कर अस्पृश्यता की बेड़ियाँ तोड़ डालना अधिक सुलभ और सम्मान की बात है। कुछ भी हो पर पूर्वास्पृश्य लोगों में से लाख में दस और महार आदि जातियों में से हजार में दस आदमी भी डॉ. अंबेडर के पीछे-पीछे पूर्व परंपरागत संत रैदास आदि का हिंदू धर्म छोड़ेंगे—यह बात संभव नहीं दिखती।

ऐसा धर्मांतरण भी मानवीयता को कालिख ही लगाएगा

और मानवता की दृष्टि से देखें तो इसलाम या ईसाई धर्म में प्रवेश के लिए जो अपरिहार्य प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि मोहम्मद या यीशू पर जो विश्वास न करे वह हमेशा नरक-भोगी होगा—ऐसी प्रतिज्ञा करना मानवीयता को कालिख पोतना ही तो है। कोई भी मानवीय संवेदनावाला मनुष्य किसी नौकरी के लिए या लाभ के लिए अपने माँ-बाप को भरे बाजार दस गाली दे सकेगा क्या? फिर अपने जाति-धर्म की पिछली सत्तर पीढ़ियों के सारे आदरणीय माँ-बाप, साधु-संतों को उन्होंने मोहम्मद या यीशू पर विश्वास नहीं किया, इसलिए घोर नरक में सड़ रहे हैं ऐसा कहकर जिन माँ-बाप के उदर से जन्म लिया उनके उपकारों से मुक्त होने का नीच साहस डॉ. अंबेडकर या उनके अनुयायी कर सकें तो क्या वह मानवता का कार्य होगा?

मनुष्य मुसलमान या ईसाई होते ही अस्पृश्यता से एकाएक मुक्त हो जाता है यह कहना भी सरासर झूठ है। बंगाल में मुसलमानों में अस्पृश्य मुसलमान (हलाल) और स्पृश्य मुसलमान (अश्राफ) के बीच झगड़ा इतना तीव्र हुआ है कि बंगाल

विधान-सभा में अस्पृश्य मुसलमानों ने स्पृश्य मुसलमानों के आक्रमणों से सुरक्षा के लिए आरक्षित स्थान माँगे हैं। अन्य प्रदेशों में भी अनेक स्थानों पर सय्यद जैसे स्पृश्य मुसलमान अस्पृश्य मुसलमानों के साथ बेटी-व्यवहार नहीं करते। त्रावणकोर आदि दक्षिण हिंदुस्थान के स्पृश्य ईसाई अस्पृश्य ईसाइयों को छूते तक नहीं। नासिक के पुजारियों जैसे ही स्पृश्य लोगों में उनको आने नहीं देते। अस्पृश्य ईसाइयों ने स्पृश्य ईसाइयों के विरुद्ध त्रावणकोर विधानसभा में स्वतंत्र प्रतिनिधित्व की माँग की है, यह बात डॉ. अंबेडकर ने सुनी नहीं है क्या? अतः अस्पृश्यता की और समता की दृष्टि से भी देखें तो महार आदि अस्पृश्य सामाजिक उठा-पटक के अति कष्टकारी गड्ढे में गिरने की अपेक्षा दस-बारह वर्ष बाद अपने धर्मबंधु हिंदुओं के जाति उच्छेदक सुधारकों से सहकार्य कर अस्पृश्यता का ही नहीं, जातिभेद का भी प्रश्न हल करें, इसी में वास्तविक सामाजिक और आर्थिक हित हैं।

अब स्पृश्य हिंदुओं को एक बात यह कहूँ कि ऐसी अपरिहार्य आपत्ति से विचलित होने की आवश्यकता नहीं है। उन्हें तो चाहिए कि वे जिसे जन्मजात मानते हैं, पर जो केवल पोथीजन्य है उस अस्पृश्यता को ही नहीं अपितु जातिभेद की दूषित रूढ़ि की जड़ पर कुल्हाडी से जल्द-से-जल्द प्रहार करें। डॉ. अंबेडकर जाएँ या रहें। आज तक बड़े-बड़े पंडित एवं राजा-महाराजा हिंदू धर्म को त्यागकर परधर्म को स्वीकार करने का धर्मद्रोह करते रहे, उस नीचता का घाव सहन करके भी इस हिंदू राष्ट्र के कुंडलिनी-कृपाणांकित भगवा ध्वज के नीचे बीस करोड़ कट्टर अनुयायी प्राणपण से खड़े हैं। अतः विचलित न होते हुए, परंतु केवल सनातनता की भाँग के नशे में न रहते हुए अपनी राष्ट्र देह में घुसे हुए जातिभेद के रोग पर शस्त्रक्रिया करनी चाहिए। इसके लिए कुछ रक्त बिंदु या धारा बहेगी, कुछ मांस के टुकड़े टूटकर अवश्य गिरेंगे। परंतु यदि यह जाति उच्छेदक सुधार की शस्त्रक्रिया कुशलता के साथ हम कर सकें तो बह गए रक्त से शतगुणित शक्तिशाली नया रक्त अपनी नस-नस में बहने लगेगा और सारे घाव भर जाएँगे।

शुद्धि का दरवाजा, अब क्या चिंता!

पचास-पचहत्तर वर्ष पूर्व डॉ. अंबेडकर परधर्म में गए होते तो उसकी जितनी चिंता करनी आवश्यक थी उतनी आज करनी आवश्यक नहीं, क्योंकि अब शुद्धि का दरवाजा पूरा खुला है। गोवा में जैसे सात पीढ़ी पूर्व धर्मांतरित हुए दस हजार ईसाई आज हिंदू धर्म में लौट आए या साठ हजार मलकाना राजपूत फिर से हिंदू हो गए या गत माह दिल्ली में चार सौ ईसाई हिंदू धर्म में लौट आए, वैसे ही इस संक्रमण काल में ये धर्मद्रोह करनेवाले हजार-दो हजार या लाख-दो लाख लोग

भी बाइबिल में वर्णित मूर्ख पुत्रों की तरह बाप का घर खोजते कल फिर हिंदू धर्म में लौट आएँगे और हम उन्हें शुद्ध कर लेंगे। अंबेडकर रत्नागिरि जिले के ही हैं। अंबेडकर और उनके अनुयायी आज दूसरे धर्म में चले भी गए तो भी हिंदू संगठन की जाति उच्छेदक संजीवनी से नवप्राणित हुए हिंदू धर्म में हमें फिर से शुद्ध कर प्रवेश दें, ऐसा निवेदन डॉ. अंबेडकर के चिरंजीव कुछ ही वर्षों में रत्नागिरि हिंदूसभा को करेंगे—इसकी संभावना मुझे अधिक दिखती है।

जैसा वह राष्ट्रद्रोह, वैसा ही यह धर्मद्रोह

ऊपर हमने कुछ तात्कालिक लाभ के लिए हिंदुत्व त्यागने के इस कृत्य को धर्मद्रोह कहा है, वह यदि किसी को अन्याय का लगे तो हम उससे यह पूछते हैं कि यदि हिंदुस्थान के कुछ नागरिक इस भारत राष्ट्र को अध:पतित हुआ देख अपनी जेब में चार रुपए अधिक भरने के लिए हिंदू राष्ट्र के शत्रुओं से जा मिलते हैं या रशिया के दुर्दिनों में अपने राष्ट्र के लिए सबकुछ दाँव पर लगाकर संघर्ष न कर कोई लेनिन रशियन बंधुओं से अपने सारे संबंध तोड़कर जर्मनी या अमेरिका का नागरिकत्व स्वीकार कर वहाँ का बड़ा अधिकारी हो जाता है तो उस नामर्द मनुष्य के उस स्वार्थी कृत्य को राष्ट्रद्रोह कहा जाता या नहीं। वह जैसा राष्ट्रद्रोह वैसा ही यह धर्मद्रोह। वह जैसा अमानवीय, वैसा यह भी।

(निर्भीड, ३.११.१९३५)

सावरकर का डॉ. अंबेडकर को निमंत्रण

रत्नागिरि, दिनांक १३.११.१९३५

श्रीयुत डॉ. अंबेडकर महोदय,

गत पाँच-छह वर्षों से रत्नागिरि नगर में पोथीजन्य जातिभेद निर्मूलन आंदोलन बहुत बड़े स्तर पर चल रहा है। अपने हिंदू धर्म की एवं हिंदू राष्ट्र की जड़ को लगा यह जन्मजात कहा जानेवाला पर पोथीजन्य जातिभेद का कीड़ा मारे बिना यह हिंदू धर्म संगठित और सबल होकर आज के जीवन कलह में जी नहीं सकेगा, इस संबंध में मुझे बिलकुल भी आशंका नहीं है। आपके जैसा ही और आपके जितने ही स्पष्ट शब्दों में मैं अस्पृश्यता आदि अन्याय, अधर्म एवं आत्मघाती ऐसी अनेक रूढ़ियों का प्रसार करनेवाले इस जन्मजात जातिभेद का विरोध करता आ रहा हूँ। साथ में अपने दो-तीन लेख भी भेज रहा हूँ। समय मिले तो अवलोकन कर लें।

परंतु यह पत्र मैं जातिभेद के संबंध में शाब्दिक विरोध या चर्चा करने के लिए नहीं भेज रहा। इस पीढ़ी में इस जातिभेद का निर्मूलन करने के लिए हिंदू समाज प्रत्यक्ष कौन सा कार्य करना चाहता है इसका कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य, प्रत्यक्ष दर्शन, मनोवृत्ति पलटने का निर्विवाद साक्ष्य आपको चाहिए ऐसा कुछ आपने मसूरकर महाराज से कहा, ऐसा सूचित हुआ। अस्पृश्यता व जातिभेद निर्मूलन का दायित्व स्पृश्यों पर ही नहीं है, अस्पृश्यों में भी अस्पृश्यता और जातिभेद की पैठ स्पृश्यों जितनी ही है। पंडा और भंगी ये दोनों ही जातिभेद के पाप के भागीदार हैं और मनोवृत्ति में परिवर्तन का साक्ष्य दोनों को एक-दूसरे को देना चाहिए। दोनों को ही मिलकर इस पाप का निस्तार करना चाहिए। दोष तो सबका ही है, पर प्रमाण बहुत थोड़े हैं। जातिभेद के नाश का प्रत्यक्ष कार्य वहीं हृदय से और यथार्थता से हुआ ऐसा कहा जा सकेगा, जहाँ ब्राह्मण और मराठा ही केवल महारों के साथ भोजन नहीं करते अपितु महार भी भंगी के साथ भोजन करेगा। जाति अहंकार की अत्याचारी वृत्ति से महार भी इतना मुक्त नहीं कि वह स्पृश्य वर्ग से ही अपनी मनोवृत्ति पलटने के सक्रिय साक्ष्य की माँग करे, यह अनुभव तो मुझ जैसा आपको भी होगा।

"केवल बातों की सहानुभूति नहीं चाहिए। अब सक्रिय गारंटी क्या देते हैं यह पक्की तरह तय करके दिखाइए।" ये आपकी माँग न्याय्य ही नहीं अपितु उपयुक्त भी है। मैं भी गत चार-पाँच वर्षों से जो पक्का है वही कार्य, यह सूत्र हिंदू राष्ट्र के आगे अन्य बातों के साथ सामाजिक क्रांति के विषय में भी रख रहा हूँ। इस सूत्र को आचरण में लाने और जन्मजात जातिभेद को प्रत्यक्षतः तोड़कर दिखाने का प्रयोग रत्नागिरि नगर में विशाल आकार में और उससे कुछ कम मालवण नगर में सफल हुआ है। कोई प्रयोग जब प्रयोगशाला के एक कोने में भी सफल होता है तब उसके सफल होने की संभावना दिखने लगती है एवं नियम सामान्य होने से वह उस अंश तक सफल ही समझा जाना चाहिए। इसलिए आपका चाहा हुआ सक्रिय साक्ष्य, 'क्या करते हो दिखाओ' की माँग रत्नागिरि का जाति निर्मूलन संघ अपनी सीमा तक प्रत्यक्ष कार्य से ही दिखलाना चाहता है और इसीलिए उस संघ की ओर से यह निमंत्रण मैं आपको भेज रहा हूँ।

जातिभेद तोड़ने का व्यावहारिक कार्यक्रम रोटीबंदी तोड़ने में निहित है। जिसने भी रोटीबंदी तोड़ी उसने वेदोक्तबंदी एवं स्पर्शबंदी तोड़ दी। बेटीबंदी इतनी रह जाती है परंतु वह कोई, हर कोई तोड़-जोड़ सके ऐसी बात नहीं है। वह वर-वधू का भी प्रश्न है। ऐसा कोई मिश्र विवाह होता है और दूसरे उसे धर्मबाह्य या बहिष्कार करने योग्य कार्य नहीं मानते और उस जोड़े को अन्य विवाहितों जैसा ही

सामान्य मानते हैं तो प्रश्न समाप्त। इसलिए जातिभेद को व्यवहार में तोड़ने का कभी भी थोक में दिया जा सके ऐसा निर्विवाद साक्ष्य है सार्वजनिक घोषणा के साथ रोटीबंदी तोड़कर दिखाना। आपके आगमन पर ऐसा ही कार्यक्रम रखेंगे—

१. आप एक पखवाड़े के भीतर कभी अपनी सुविधानुसार रत्नागिरि आएँ। आने के एक हफ्ते पूर्व हमें सूचित करने का कष्ट करें।

२. पतितपावन मंदिर के बीच संभामंडप में औसत एक हजार ब्राह्मण मराठा, वैश्य, किसान आदि अनेक स्पृश्य प्रतिष्ठित प्रमुख नागरिक से लेकर कर्मचारी तक सब वर्गों के स्पृश्यों के साथ अस्पृश्य महार, चमार, भंगी सहित सब मिल-जुलकर पंगत में बैठते हैं, ऐसा ही विशाल सहभोज आपकी अध्यक्षता में होगा। ऐसे सहभोज स्पृश्य और अस्पृश्यों के कई बार हो चुके हैं।

३. आपकी इच्छा हो तो महिलाओं का भी सहभोज होगा। उसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रतिष्ठित परिवारों की महिलाएँ प्रौढ़ एवं युवा अपनी महार, चमार, भंगी आदि धर्म-बहनों के साथ मिल-जुलकर भोजन करेंगी।

४. सहभोज में सम्मिलित लोगों के नाम समाचारपत्र में प्रकाशित किए जाते हैं—यह शर्त जिसे स्वीकार है, उन्हें ही सहभोज में सम्मिलित किया जाता है।

५. यहाँ के भंगी कथावाचक कथा बाचेंगे। यदि आपके साथ कोई सुयोग्य कथावाचक हो तो वह भी कथा कह सकेंगे। मंदिर में अन्य कथावाचकों जैसे ही भंगी कथावाचक का स्वागत-सत्कार किया जाएगा और सैकड़ों लोग कथावाचक के चरण-स्पर्श करेंगे। गत गणेश उत्सव में श्री काजरोलकर भंगी कथावाचक का ऐसा ही सत्कार-सम्मान किया गया था।

६. आपकी इच्छा प्रतिकूल न हो तो आपका एक व्याख्यान भी इस अवसर पर हो, यह भी हमारी इच्छा है।

७. कार्यक्रम का स्थान पतितपावन मंदिर होगा। यह मंदिर श्रीमंत भागोजी सेठ कीर के स्वामित्व का है और सहभोज के कार्यक्रम में वे स्वयं आएँगे। इस कारण अन्य किसी तीसरे व्यक्ति के वहाँ न होने और इसीलिए विधिक बाधा उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं है।

८. हाँ, सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कि ऐसे छोटे-बड़े डेढ़ सौ से अधिक सहभोज यहाँ आयोजित हुए हैं और सबके नाम भी प्रकाशित हुए हैं;

परंतु किसी सहभोजक को किसी भी जाति ने जाति से बाहर नहीं किया। उलटे सहभोज जिसने चाहा किया या नहीं किया तो वह प्रश्न जिसका उसका। वह जाति से बाहर करने का कार्य नहीं है, यह यहाँ का धर्मशास्त्र हो गया है। उस वस्तुस्थिति का आप स्वयं अवलोकन करेंगे।

यह कार्यक्रम होते ही यह राष्ट्रीय प्रश्न सुलझ गया, ऐसा समझनेवाला मूर्ख कोई नहीं है। पर उससे हवा के रुख का पता चल जाता है। हमें भी कोई सक्रिय प्रारंभ चाहिए। और यदि छह हजार वर्ष की बलवान् रूढ़ि छह वर्षों में इतने बड़े आकार में यहाँ केवल मन के परिवर्तन से तोड़ी जा सकती है तो अन्य स्थानों पर भी ऐसा हो सकता है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं है। इसीलिए हम यह निमंत्रण दे रहे हैं।

हम हिंदू, आप हिंदू अनगिनत पीढ़ियों के धर्मबंधुत्व के स्मरण से ही हृदय में जो ममता उमड़ आती है उस ममता के कारण ही यह खुला निमंत्रण भेज रहा हूँ।

मेरा-आपका कुछ व्यक्तिगत स्नेह भी है। उसका स्मरण करते हुए यह आमंत्रण प्रेम से आप स्वीकारें।

हमारे संघ के दो-तीन नेताओं के हस्ताक्षर इस पत्र पर उनकी भी वैसी उत्कट इच्छा होने से लेकर यह पत्र भेज रहे हैं। स्नेह बना रहे, यह निवेदन है।

आपका

वि.दा. सावरकर

डॉ. शिंदे

रा.वि. चिपलूणकर, एम.ए., एल.एल.बी.

दत्तोपंत लिमये, बी.ए., एल.एल.बी.

संपादक सत्यशोधक

प्रकरण—१०

धर्मांतरण के प्रश्न पर महार बंधुओं से खुली चर्चा

लेखांक-१

येवला नामक स्थान पर डॉ. अंबेडकर द्वारा धर्मांतरण की बात छेड़ देने के बाद से अस्पृश्य वर्ग में जो हलचल मची हुई है उससे ऐसा लगता है कि हमारे मातंग धर्मबंधुओं के नेताओं में से अधिकांश का विचार धर्मत्याग के विचार के विरुद्ध हो रहा है। यह अच्छी बात है। हिंदू संगठनवादी जाति उन्मूलन संघ से सहयोग कर हिंदू समाज के जन्मजात जातिभेद की बला नष्ट कर आज के अस्पृश्यता के रोग से अस्पृश्यों की वास्तविक मुक्ति होनेवाली है, धर्म-त्याग से अस्पृश्यों के हित की अधिक खराबी होनेवाली है। उनकी जाति का सत्त्व, मानवीयता और उनका अस्तित्व सभी पूरी तरह नष्ट होनेवाले हैं, यह बात हमारे मातंग एवं चमार बंधुओं के ध्यान में आ गई दिखाई देती है।

रत्नागिरि के जन्मजात जाति उन्मूलन संघ की ओर से बैरिस्टर सावरकर, चिपलूणकर वकील, दत्तोपंत लिमये, संपादक सत्यशोधक, डॉ. शिंदे आदि हिंदू नेताओं ने डॉ. अंबेडकर को जो निमंत्रण भेजा था, उसका निम्न उत्तर डॉ. अंबेडकर ने भेजा—

रत्नागिरि में आप जो कार्य कर रहे हैं उसकी जानकारी पढ़कर मुझे खुशी हो रही है। यहाँ के लॉ कॉलेज की व्यस्तता के कारण मैं आपके आमंत्रण का लाभ नहीं ले पा रहा हूँ, इसका मुझे खेद है।

(प्रात: दिनांक २४.११.१९३५)

उनकी ओर से दिखाई जा रही हिंदुत्व के प्रति इस आस्था को बनाए रखने के लिए उनकी अस्पृश्यता ही नहीं अपितु जातिभेद की बेड़ियाँ भी यथासंभव शीघ्र

तोड़कर उनका विश्वास बढ़ाना चाहिए।

परंतु अस्पृश्यों के हित की दृष्टि से धर्मांतरण कितना घातक है यह बात ध्यान में न आने से महार बंधुओं में से कुछ लोग बहुत हुल्लड़ मचाए हुए हैं और वह विशेषकर महारों में ही है। इस कारण हम यह लेखमाला अपने महार बंधुओं को संबोधित करके ही लिखने वाले हैं। उनको अपने हुल्लड़ में हमसे धार्मिक स्नेह या हिंदुत्व का नाता भी टूटा हुआ लग रहा हो, फिर भी वे जब तक हिंदू हैं तब तक हमारे लिए तो वे हमारे हिंदू धर्म के राष्ट्रीय बंधु ही हैं। हमारे ही नहीं अपितु उनके हित की भी चिंता करना हमारा कर्तव्य है। इसी कारण धर्मांतरण कर वे संपूर्ण हिंदू राष्ट्र की ही नहीं अपितु उनकी स्वयं की भी कितनी हानि वे कर लेंगे, इसकी स्पष्ट कल्पना एक बार उनके सामने रखें फिर उन्हें जो कुछ उचित लगे वह वे करें, इस हेतु से यह लेखमाला हम लिख रहे हैं। अस्पृश्यता की क्रूर रूढ़ि के प्रति हमें कितनी घिन है, न्याय और मानवता की दृष्टि से भी अस्पृश्यता नष्ट करना कितना आवश्यक है इसकी अनुभूति हमें कितनी तीव्रता से है, इसका पता इसी से लग सकता है कि पिछले दस वर्षों से हम इस रूढ़ि को समाप्त करने के लिए अपनी स्थानबद्धता की सीमा में कितना अविश्रांत प्रयास कर रहे हैं। इसके लिए हमारे महार बंधु उनके लिए स्नेह रखनेवाले उनके ही हितचिंतक और जातभाई द्वारा लिखी लेखमाला विश्वास से पढ़ें, यह हमारा उनसे निवेदन है। या यह भी कि किसी ने किसी भाव से लिखी हो, उसमें क्या कहा गया है और जो कहा गया है उसमें कितना तथ्य या अतथ्य है, यह देखने से अपना हित ही होगा, हानि तो होगी नहीं—ऐसे त्रयस्थ भाव से वे यह लेखमाला पढ़ें और उसपर विचार करें, यह हमारा उनसे निवेदन है।

इस लेखमाला में हम स्वधर्माभिमान, हिंदुत्वाभिमान, पुरुषों का अभिमान आदि हिंदू भावना की अति उदारता का उल्लेख कर कुछ भी सिद्ध करने का प्रयास नहीं करेंगे। क्योंकि जो महार बंधु अब धर्मांतरण के आंदोलन की राह पर चल पड़े हैं वे इन भावनाओं के पार चले गए हैं। इन भावनाओं की बलि देकर जो इच्छित वस्तु वे प्राप्त करना चाहते हैं वह इच्छित उन्हें उन भावनाओं से अधिक प्रिय लग रहा है यह स्पष्ट है। इसलिए हम उन्हें यही समझाने का प्रयास करेंगे कि वे भावनाओं को बलि देकर भी 'इच्छित' प्राप्त नहीं कर सकते, इतना ही नहीं, वह 'इच्छित' उन भावनाओं के बल पर ही उन्हें अधिक शीघ्रता से प्राप्त होगा। हिंदुत्व छोड़ने से लाभ से अधिक हानि-ही-हानि होने की आशंका अधिक है, यह यदि उन्हें ज्ञात होगा तो ही वे अपना गुस्सा भरा मार्ग छोड़ें तो छोड़ें।

उनके धर्मांतरण के आंदोलन के संबंध में जो-जो बातें सुनने में आ रही हैं

उससे यह कहा जा सकता है कि धर्मांतरण का उनका मुख्य हेतु अस्पृश्यता की व्याधि से तत्काल मुक्ति प्राप्त करना है। कौन सा धर्म सिद्धांत की दृष्टि से अच्छा है, द्वैत या अद्वैत, ब्रह्म या माया, निराकार या साकार, हिंसक या अहिंसक—ये सारे प्रश्न उनके सामने नहीं हैं। जिस धर्म में प्रवेश करने से उनकी अस्पृश्यता समूल निकल जाएगी और वे किसी बलिष्ठ समाज के अंग बन जाएँगे—वह धर्म उन्हें चाहिए। उचित और स्वीकार्य धर्म की उनकी कसौटी यही है, यह उनकी ओर से बार-बार कहा जा रहा है। हम उनकी ही कसौटी पर कसकर उनकी धर्मांतरण की इच्छा के संबंध में यह कहना चाहते हैं कि ये दोनों ही हेतु—महार जाति की आज की पूरी परिस्थिति एवं अवस्था को ध्यान में रखें तो धर्मांतरण की अपेक्षा हिंदू धर्म में तथा हिंदू राष्ट्र के ध्वज के नीचे रहकर ही अधिक अच्छी तरह एवं निश्चयपूर्वक प्राप्त हो सकती है। इतना ही नहीं अपितु धर्मांतरण के गड्ढे में हुल्लड़ करते हुए कूदने से लाभ से सौ गुनी हानि ही होनेवाली है। वह कैसे होगी? इसका क्रमवार विचार करें।

पहली बात तो यह कि मुट्ठी भर लोगों की अस्पृश्यता नहीं, पूरे महार समाज की ही अस्पृश्यता गई तो 'अस्पृश्यता गई' ऐसा कहा जा सकता है। कुछ लोगों ने धर्मांतरण किया तो उन्हें नौकरी मिल सकती है या गवर्नरी मिल सकती है। पर देखा यह गया है कि धर्मांतरण करने के बाद बावर्चीगिरी से अधिक कुछ हाथ में न आने से और विशेषत: अपने सगे-संबंधियों से छूट जाने से बहुतों की परधर्म और परसमाज में बड़ी दुर्दशा होती है। जब शुद्धि आंदोलन नहीं था तब ऐसे धर्मांतरित और धोखा खाए कितने ही लोग वहीं सड़ते रहे। अब शुद्धि की सुविधा संभव हो जाने से व्यक्तिगत धर्मांतरित कितने ही महार आदि अस्पृश्य शुद्ध होकर अपने छूटे हुए सगे-संबंधियों में फिर से मिल सकते हैं। शुद्ध होकर अपने धर्म में लौट आनेवाले समाज को हिंदू समाज जैसे-जैसे अपना मानने लगेगा वैसे-वैसे पूर्व में धर्मांतरित समाज में से बहुत बड़ी संख्या फिर से हिंदू होने लगेगी। हिंदू समाज की मूर्खता के कारण शुद्धिकृत समाज पहले की अस्पृश्य जाति में ही लिये जा रहे हैं फिर भी कितने ही अस्पृश्य शुद्ध हुए हैं। इस प्रत्यक्ष उदाहरण से हमारा उपर्युक्त कथन स्वयंसिद्ध हो जाता है।

व्यक्तिश: आज तक जो महार धर्मांतरित हुए उनके धर्मांतरण से महार की या किसी भी अस्पृश्य जाति की अस्पृश्यता का प्रश्न हल नहीं होता, यह स्पष्ट है। यदि महारों में से कुछ लोग आज तक धर्मांतरित हुए ही न होते तो यह संभावना थी कि देखें इस नए प्रयोग के परिणाम क्या होते हैं? पर आज तक सैकड़ों महार आदि अस्पृश्य व्यक्तिगत या छोटे समूहों में धर्मांतरित हुए हैं। धर्मांतरण के बाद उनकी

स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ है। इतना ही नहीं, वे अन्य धर्मों में भी अछूत ही बने हुए हैं। और तो और वे महार ईसाई मांग ईसाई बने हुए हैं और उनसे वहाँ भी वे रोटी, बेटी, लोटी व्यवहार नहीं करते। जिन धर्मांतरित लोगों की स्थिति धर्मांतरण के कारण सुधरी है उनकी अस्पृश्यता व्यक्तिश: चली गई, पर स्वयं उनकी जाति और बहुसंख्य हिंदू राष्ट्र से वंचित हो जाने से करोड़ों अछूतों की अस्पृश्यता से मुक्त करने में उनका भी कोई उपयोग नहीं हुआ, यह बात अनुभवों से इतनी स्पष्ट और स्वयंसिद्ध है कि मुट्ठी भर या अंजुली भर अस्पृश्यों के व्यक्तिश: धर्मांतरण से अस्पृश्य जाति की अस्पृश्यता नष्ट करने के कार्य में कुछ भी कहने लायक सहायता मिलनेवाली नहीं है। यदि अस्पृश्यता के कलंक से सारा अस्पृश्य समाज ही मुक्त करना हो तो डॉ. अंबेडकर जैसे पचीस-पचास बड़े आदमी या एक-दो हजार छोटे लोगों के धर्मांतरण से कुछ नहीं होगा—यह सत्य महार जाति के तुरंत ध्यान में आने योग्य है, यह प्रयोग पहले हो चुका है।

अत: यदि पूरी महार जाति को अस्पृश्यता की बेड़ियों से या गड्ढे से बाहर निकालना है तो हर गाँव की महारबाड़ी के दस-पाँच महार आदमियों द्वारा धर्मांतरण करने से कोई बहुत लाभ होनेवाला नहीं है। हाँ, यदि पूरी महार जाति या उनमें से प्रति सैकड़ा नब्बे लोग यदि धर्मांतरित होने की हिम्मत करें तो उसका कुछ परिणाम, प्रभाव पड़ने की संभावना हो सकती है।

(निर्भीड, ८.१२.१९३५)

लेखांक-२

पर आज की परिस्थिति में कुछ भी करें तो भी सौ में से दस से अधिक महार लोग धर्मांतरित होने के लिए तैयार नहीं होंगे, और दूसरा यह कि इच्छा भी करेंगे तो साहस नहीं कर पाएँगे। कम-से-कम पूरी महार जाति अर्थात् सौ में से नब्बे का धर्मांतरित होना पूरी तरह असंभव है।

उपर्युक्त परिस्थिति को महारों में से कोई भी समझदार आदमी नकार नहीं सकता। सौ में नब्बे महार कभी भी धर्मांतरित नहीं होंगे, क्योंकि उनमें से अधिकतर यह नहीं चाहते, उसके निम्न कारण हैं—

महारों में जन्मजात जाति का अभिमान एवं जाति गंगा के पंचायत का प्रभाव इतना प्रबल है कि स्पृश्यों को कल्पना नहीं। महार उनसे छोटी भंगी आदि जाति से रोटी व्यवहार करने में ब्राह्मणों जितना ही विरोधी है। यह बात हमेशा के अनुभव की है। जो कुछ छुटपुट महार आज तक धर्मांतरित हुए हैं उन्हें महार जाति अति नीच समझकर, धर्मद्रोही या जातिद्रोही समझकर जाति बहिष्कृत करती है। धर्मांतरित

ब्राह्मण को शुद्ध करने के बाद ब्राह्मण जाति में स्थापित करना जितना कठिन है वैसा ही शुद्धिकृत महार को उसकी जाति में स्थापित करना कठिन है। धर्मांतरितों की शुद्धि धर्मसम्मत है, यह महार लोगों को समझाना अन्य किसी जाति जैसा ही बड़ा कठिन है। ब्राह्मणों के साथ भोजन करते हुए किसी शुद्धिकृत ब्राह्मण को ब्राह्मणों की अवहेलना का सामना करना पड़ता है। ठीक वैसा ही अनुभव महारों की पंगत में शुद्धिकृत महारों को भोगना पड़ता है। सहभोज में अनेक बार भंगी तो क्या चमार को भी पंगत में बैठा देख महार उठकर चले जाते हैं। मांग जाति के लोगों को महार अपने कुएँ पर पानी नहीं भरने देते। यह बात मातंगों के नेता कई बार कहते हैं। कोई महार जान पर ही आ जाए तो भंगी का काम करेगा। महार भंगियों को, मांगों को अस्पृश्य मानते हैं। सारांश यह कि गाँव-गाँव में महार उन जातियों से, जिन्हें वे नीच मानते हैं, रोटी, बेटी आदि व्यवहार कड़ाई से नहीं करते और उनकी वह जातीय भावना किसी भी स्पृश्य जाति जितनी ही बद्धमूल है, उनके रक्तमांस में समाई हुई है। वही बात उनके देवी-देवता और रूढ़ि की है।

उदाहरण के लिए कोंकण की बात करें। यहाँ दापोली, गिमवणें, खेड, चिपलूण, संगमेश्वर, देवरुख, रत्नागिरि, राजापूर, खारेपाटण, देवगढ़, कणकवली, मालवण, वेंगुर्ले इन सब तहसील स्थानों पर बड़ी-बड़ी महार बस्तियाँ हैं। हम इन बस्तियों में और छोटे-छोटे गाँवों की छोटी-छोटी महार बस्तियों में कई-कई बार पैदल घर-घर जाकर, देखकर उनके हाथ का पानी माँगकर पीकर, अन्न या खाद्य पदार्थ जबरन खाकर आए हैं। इन सब महार बस्तियों में ईसाई धर्म-प्रचार केंद्र हैं। उनके चलाए विद्यालय हैं, प्रचारक हैं, प्रार्थनाघर हैं। वे हर तरह के प्रचार साधनों का उपयोग कर प्रचार करते रहते हैं। जितनी बड़ी महार बस्ती होगी, प्रचार केंद्र भी उतना बड़ा होगा। ये केंद्र गत तीस-चालीस वर्षों से महार बस्तियों में जमकर प्रचार कर रहे हैं। वे दवाइयाँ मुफ्त देते हैं। बच्चों को मिठाई, खिलौने बाँटते हैं। हिंदू देवी-देवताओं को बिना मूल्य गालियाँ देते हैं। महारों को धर्मांतरित करने को वे चालीस वर्ष से निरंतर उपदेश कर रहे हैं। कभी-कभी कोई महार धर्म परिवर्तन कर लेता है तो उसका बड़ा सम्मान आदि कर उसे दस-बारह रुपए माहवार की माने उस कंगले दीन, मृतमांस खाकर उकताए महार को गवर्नरी मिलने जैसी नौकरी देते हैं। कभी वह मास्टर साहब बन जाता है या दफ्तर में स्पृश्य, जिसे समता से छूते हैं ऐसा पट्टेवाला (चपरासी) बना देते हैं। बड़े-बड़े गोरे साहब और उनकी मेम कभी मोटर में बैठकर आकर महारों को कह जाती हैं—तुम्हारा हिंदू धर्म खोटा, हमारा ईसा खरा, टुम ईसाई बनो।

जिस महार जाति को स्पृश्य जनता अस्पृश्य कहकर अपमानित करती है

वही महार लोग डोम, भंगी आदि उनसे नीच जातियों के ब्राह्मण, क्षत्रिय बनकर उतने ही ठाठ से उनका अपमान करते हैं।

पर किसी भी महार बस्ती से, स्पृश्यों द्वारा किए जानेवाले अपमान से, मिशनों के दिखाए जानेवाले लालच से, चालीस-पचास वर्षों से रात-दिन मच्छरों जैसी कान के पास की जानेवाली प्रचार की गुन-गुन—टुम ईसाई बनो से दस प्रतिशत से अधिक धर्मांतरित महार हमें दिखा नहीं।

महार अपने महार धर्म को सामान्यतः छोड़ना नहीं चाहता

क्योंकि वे जिन देवी-देवताओं का भजन-पूजन करते हैं वही धर्म वे अपना स्वयं का धर्म मानते हैं। वह उनपर किसी दूसरे पोंगा पंडित ने या राव ने लादा है या किसी पर उपकार करने के लिए वे उसका पालन कर रहे हैं—यह उनकी भावना नहीं है। जैसे उनका 'मैं' स्वयं का वैसी उनकी महार जाति उनकी स्वयं की और वैसे ही उनका धर्म उनका स्वयं का है। वह महारों का अपना धर्म है, दूसरे किसी का नहीं। इसीलिए हर छह माह बाद होनेवाली पंढरपुर की यात्रा में महार पुरुष, महार महिलाएँ, बच्चे, बड़े-बूढ़े सैकड़ों, हजारों महार 'ग्यानवा तुकाराम' की गर्जना करते, संतों के भजन गाते, आँखों से आँसू टपकाते जाते हुए हमें दिखते हैं। गाँव से निकलती पालकी, गाँव का मंदिर, अपने महार धर्म का हर महार कट्टर अनुयायी है; कट्टर सनातनी है।

जो बात महारों की वही चमारों या अन्य अनेक नीच से नीचतर अस्पृश्य जाति की है। उपर्युक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट होती है कि आज ही पूरी महार जाति अपना धर्म छोड़ना चाहेगी, यह असंभव बात है। उनमें से पचहत्तर प्रतिशत तो निश्चित ही धर्म परिवर्तन नहीं चाहेंगे। कोई चाहेगा तो भी आगे नहीं बढ़ पाएगा।

और यह महत्त्वपूर्ण है। अनेक के मन में आने के बाद भी बहुसंख्या में जनता धर्मांतरण कर नहीं सकती, उसकी हिम्मत ही नहीं होगी। यदि महार कहीं एक जगह बहुसंख्या में रहे होते तो कदाचित् वे धर्मांतरण कर भी लेते, पर आज एक-एक गाँव में उनके दस-बीस घर होते हैं, हर कहीं वे अल्पसंख्यक हैं। सारा गाँव दूसरे बहुसंख्य स्पृश्यों का। उसमें भी महार कंगाल, अशिक्षित, युगों-युगों का दलित, कुव्वत कुछ भी नहीं। सारा जीवन गाँव से जुड़ा। वह हिंदू रहकर, हिंदू का ही मन प्रवर्तन होकर स्पृश्य माना गया तो होगा। गाँव के कुल-व्यवहार में कुछ काम महारों के आरक्षित, उन कामों और उस अवसर के वे माननीय, उनके गौरव बोध को बढ़ानेवाले अवसर गिने-चुने पर निश्चित, अपना वह सम्मान सँभालने को

वे हमेशा तत्पर। उनकी महार बस्ती के मरी माता या विठोबा के मंदिर में यदि कोई उनसे नीच जाति के भंगी, चमार घुसने का प्रयास करें तो उसका स्वागत लाठी आदि से करने, उनके सिर फोड़ने से वे पीछे हटनेवाले नहीं हैं।

क्या अच्छा है, क्या बुरा है यह प्रश्न यहाँ नहीं है। वास्तविकता क्या है? यह प्रश्न है। वास्तविकता यही है कि अपनी जाति और जातिधर्म से अनगिनत पीढ़ियों से चिपकी हुई यह महार जाति, कुछ महार परधर्म में चले गए तो भी अपने पूर्वजों के जातिधर्म को एकाएक छोड़ देंगे और धर्म परिवर्तन कर लेंगे यह असंभव है, चुटकी बजाते ही एक या ग्यारह वर्षों में यह होना कठिन है।

शुद्धि करो, रोटीबंदी तोड़ो, सारी जातियाँ तोड़ो आदि उपदेश महारों के गले में उतारना हमें उतना ही कठिन लग रहा है जितना ब्राह्मणों के गले उतारना। बहुत क्या, अस्पृश्यता समाप्त करो, यह भी महारों को उनसे नीच जातियों के संबंध में समझाना स्पृश्यों को समझाने जितना ही कठिन है। और यह भी कि किसी गाँव की सारी महार बस्तियों में धर्मांतरण की इच्छा हुई भी तो वे दस-बीस परिवार सारे गाँव के शत्रु हो जाएँगे। खुले या छिपे, परदे के पीछे से पूरा गाँव कदम-कदम पर उनकी अवहेलना करेगा। गाँव का महार हिंदू धर्म को लात मारता है, यह देख गाँव का मुखिया उन्हें घर छोड़ने के लिए कहेगा, साहूकार अपना पैसा माँगेगा। गाँव के मंदिर में निश्चित उसका स्थान एवं सारे गाँव से रिश्ते-नाते टूट जाएँगे और वह गाँव का शत्रु बन जाएगा। बहुसंख्य हिंदू गाँव एक ओर हो जाए तो धर्मांतरित दस-पाँच घर दूसरी ओर हो जाएँगे। विधि (कानून) पुस्तकों में कुछ भी हो तो भी पूरे गाँव के विरोध के आगे विधि क्या करेगी? इसके भी आगे धर्मांतरित महारों के पीछे जो उसके नाते-संबंधी होंगे वे छूट जाएँगे। बाप से बेटा, बहन से बहन, माँ से पुत्र टूटकर जन्म के, पीढ़ी के दूसरे हो जाएँगे, जाति के बेजात होंगे।

ईसाई हो गए तो भी इन हजारों फैले हुए महारों को सालों-साल पैंट, टोपियाँ, नौकरियाँ देकर कोई भी साहब नहीं बना सकता, मेमें नहीं दे सकता। आज जैसे कोई-कोई धर्मांतरित महार दिखते हैं वैसे वे घूमते भी नहीं रह सकते, क्योंकि गाँव से बँधे हुए हैं। उनका तो गाँव के पटेल, बनिया से जन्म का रिश्ता है। मुसलमान हो गए तो भी वही स्थिति। गाँव में दस-पाँच मुसलमान के घर, उनमें ये और दस-पाँच। धर्मांतरित महारों के लिए उनके पास क्या है? न नौकरियाँ, न लड़कियाँ। मुसलमानों में भी उनकी स्थिति कमीना मुसलमान, कमजात मुसलमान की होगी। जैसे पंजाब में अस्पृश्य मुसलमान हैं वैसे ही।

(निर्भीड, १५.१२.१९३५)

लेखांक-3

पिछले दो लेखों के मुख्य मुद्दे अगली चर्चा के अनुसंधानार्थ और पाठकों के चित्त पर ताजा हो जाएँ, इसके लिए फिर एक बार संक्षेप में कहूँ और फिर उसे ही आगे बढ़ाऊँ।

१. धर्मांतरण का आंदोलन महारों में ही फैला है। अन्य चमार आदि अस्पृश्य जातियों के नेताओं ने कहा है कि धर्मांतरण की भाषा मानवता को शोभा नहीं देती। उससे अस्पृश्यता का प्रश्न भी हल नहीं होगा। इतना ही नहीं, ऐसी आततायी जल्दबाजी से उन विशिष्ट जातियों का स्वत्व और अस्तित्व मिट्टी में मिले बिना नहीं रहेगा, ऐसी चेतावनी भी उन्होंने दी है।

२. अर्थात् धर्मांतरण से क्या बनेगा, क्या बिगड़ेगा इसकी चर्चा मुख्य रूप से अपने महार धर्मबंधुओं से ही करना आवश्यक है। माने महाराष्ट्र की महार जाति की वर्तमान परिस्थिति एवं प्रवृत्ति क्या है, इसकी ही जाँच मुख्यत: करनी है और धर्मांतरण से उस महार जाति की अस्पृश्यता एवं दुरवस्था सुधरेगी या बिगड़ेगी—यह तय करना है।

३. किसी भी पारलौकिक या तत्त्वज्ञान विषयक हेतु से धर्मांतरण का यह विचार महारों के नेताओं ने नहीं किया है। उनका कहना है कि धर्मांतरण करने का हमारा हेतु अस्पृश्यता से छुटकारा पाना और किसी एक बलवान् समाज से जुड़ना है। आंदोलन का मुख्य सूत्र यही है, इसी की घोषणा की जा रही है। और वास्तविकता को देखें तो धर्मांतरण उसे कहा अवश्य जा रहा है, पर आंदोलन के सामने धर्म का प्रश्न ही नहीं है। अपनी सामाजिक स्थिति ऐहिक लाभ की दृष्टि से किस गुट में रहने पर सुधरेगी यही एक प्रश्न उनके सामने है। ब्रह्म या माया, आस्तिक और नास्तिक, तत्त्वज्ञान या नीति, स्वर्ग-नरक, सत्य-असत्य आदि दृष्टि से हिंदू धर्म श्रेष्ठ या अन्य कोई धर्म श्रेष्ठ—यह तय करने के लिए एक अक्षर भी लिखना केवल विषयांतर होगा। हिंदू धर्म का तत्त्वज्ञान कितना ही श्रेष्ठ हो या न हो, वेद ईश्वरोक्त हो या कुरान हो, यह धर्म सच्चा है या वह, पेट भरने के लिए पूर्व अर्जित धर्म का त्याग करना मानवता को शोभा देता है या नहीं—इस सबकी चर्चा धर्मांतरण करना चाहनेवाले लोगों के मन पर कुछ भी प्रभाव करनेवाली नहीं है। धर्मांतरण से उनकी पूरी जाति कभी भी अस्पृश्यता की बला से मुक्त

होनेवाली नहीं। धर्मांतरण से ऐहिक लाभ से शतगुणित हानि ही अधिक होनेवाली है और हिंदू धर्म में रहकर ही उनकी अस्पृश्यता जाने के साथ ही उनकी जाति सामाजिक दृष्टि से बलवान् होने की संभावना अधिक है, ऐसा उन्हें रुपए-पैसे की भाषा में ठोस रीति से समझाया जा सके तो कदाचित् उनके मन पर कुछ प्रभाव पड़ सकता है। जिस धर्म-आचरण से अस्पृश्यता से मुक्ति पाकर एक बलिष्ठ समाज में समाया जा सकता है वह धर्म सच्चा, खरा—इतनी ही उनके सच्चे धर्म की आज की व्याख्या है। उस व्याख्या के अनुसार भी हिंदू धर्म ही, हिंदू राष्ट्र संबंध ही वास्तविक हित का है यह निर्विवाद सिद्ध हो सके तो ही हम उनसे चर्चा करने जाएँ अन्यथा वे हमसे कटे—ऐसा समझकर दूसरे रास्ते जाएँ।

४. सबसे पहले महार नामक पूरी जाति को ही अस्पृश्यता के रोग से मुक्त करना हो और धर्मांतरण से वह इच्छा पूरी होगी यह मानकर भी एक अपरिहार्य बात यह कि वैसा कुछ प्राप्त करने के लिए महार नामक संपूर्ण जाति को ही एक साथ मुसलमान या ईसाई हो जाना चाहिए। दो-चार बड़े आदमी या दो-चार हजार फुटकर लोगों के धर्मांतरित होने से कार्य पूरा नहीं होगा। जो मुट्‌ठी भर धर्मांतरित होंगे उन्हें पूरे उच्च वर्णीय अधिकार और शक्ति प्राप्त हो जाने के बाद भी उन मुट्‌ठी भर का व्यक्तिगत हित पूरा हो जाएगा, पर महार के रूप में नहीं। उनकी जाति के लिए तो, जो हजारों-हजार धर्मांतरित न होकर अपने बाप-दादों के धर्म से एकनिष्ठ रहेंगे उस महार जाति के लिए जो मुट्‌ठी भर धर्मांतरित होंगे वे मृतवत् ही हो जाएँगे। जो भी धर्मांतरित होगा, वह मुसलमान हो जाएगा, वह महार तो रहेगा नहीं। 'महारी मुसलमान' जैसा कोई स्वतंत्र वर्ग होना या बना रहना। यदि वे मुसलमान जन्मज़ात, जातिभेद नहीं मानते या वैसी यदि मुसलमानों की शेखी हो तो कठिन ही है, सारे-के-सारे महार एक साथ धर्मांतरण करेंगे तो भी 'कठिन' और मुट्‌ठी भर या गठरी भर धर्मांतरित होने के बाद भी 'कठिन'। माने धर्मांतरण के साथ ही महार जाति मृत। महार जाति के लिए वे सब मरे से। यह बात केवल अनुमान ही नहीं है, प्रत्यक्ष साक्ष्य की है। सैकड़ों ब्राह्मण गुट-के-गुट धर्मांतरित हुए, वे ब्राह्मण जाति के लिए मर गए। ब्राह्मण रहे ही नहीं। वैसे ही आज तक जो सैकड़ों महार व्यक्तिगत या मुट्‌ठी-मुट्‌ठी भर धर्मांतरित हुए वे महार जाति के लिए

तो मर ही गए। वे महार रहे ही नहीं। उनके सुख-दुःख की तो बात ही छोड़ें, उनकी जन्म-मृत्यु का भी महार जाति को न सोहर न सूतक। उनकी अस्पृश्यता उनकी धर्मांतरित अवस्था में रही या गई, किसी को क्या? वे उधर साहब भए या शेख बने तो भी जो बहुसंख्य महार अपनी जाति को बेजाति करनेवाले, धर्मांतरण का दुष्कृत्य करनेवाले नहीं हैं, उनके सुख-दुःख से या सामाजिक अवस्था से उन धर्मांतरितों का कुछ भी प्रत्यक्ष संबंध ही नहीं होता। शेष रहे बहुसंख्य महारों की, महार जाति की यदि वास्तविक उन्नति करनी हो तो वह उस जाति में रहकर ही की जा सकती है। डॉ. अंबेडकर या उनके सहयोगी कोई धर्मांतरण की ओर जानेवाले पहले महार नहीं हैं। वह प्रयोग हो चुका है। जो सैकड़ों महार आज तक धर्मांतरित हुए वे गली-गली भटकते हुए महार जाति की ओर से गाली ही खाते हैं। महारों की दृष्टि में वे पतित, जाति बहिष्कृत ही माने जाते हैं। उनका पानी भी महार नहीं पीते। हजारों जातिवंत महार अपने सोमवंश के कट्टर अभिमानी होते हैं। वे उनके साथ खाएँगे नहीं। अपने कुल-धर्म में उन्हें बुलाएँगे नहीं। धर्मांतरण के पूर्व वे धर्मांतरित महारों में तो कम-से-कम सम्मानीय थे। धर्मांतरण से उनका सामाजिक स्थान महारों के बाहर उच्च होने की जगह इतना हीन समझा जाता है कि उनकी गिनती नीचतरों में ही होती है। अन्य हिंदुओं की दृष्टि से तो बात भी करना संभव नहीं। धर्मांतरण से कुछ धन मिल सकता है, थोड़ा-बहुत उत्कर्ष भी हो सकता है; पर धर्मांतरित अधिकतर दुर्दशा में ही भटकते रहते हैं। और उन धर्मांतरितों का चाहे कुछ भी हो, शेष बहुसंख्य महारों माने महार जाति की अस्पृश्यता निवारण में या उनकी स्थिति सुधारने में उन धर्मांतरितों के उत्कर्ष का या विपन्नता का कुछ भी लाभ होनेवाला नहीं, और उलटे उन धर्मांतरितों की संख्या के बराबर महार जाति का संख्याबल कम होगा, उनकी शक्ति क्षीण होगी, महार जाति जाति की दृष्टि से अधिक विपन्न, दुर्बल और विघटित होगी। इन सब कारणों से यह स्पष्ट होता है कि महार जाति को अस्पृश्यता के अभिशाप से मुक्त करना हो तो पूरी जाति या कम-से-कम सौ में नब्बे संगठित रूप से एकदम परधर्म में जाना चाहिए। केवल एक-दो हजार के व्यक्तिगत और टूटकर हुए धर्मांतरण से महार जाति की अस्पृश्यता कभी समाप्त होनेवाली नहीं।

५. पर पूरी महार जाति एक साथ धर्मांतरित होना उनकी आज की परिस्थिति

में एवं प्रवृत्ति से संभव नहीं लगता। महार जाति को उनके बाप-दादों के धर्म का, देवता का, कुलाचार का आज भी इतना भारी अभिमान और ममत्व है कि उनमें से सैकड़ा में बीस का भी चार वर्षों में तो क्या चालीस वर्षों में भी धर्मांतरण कर मुसलमान या ईसाई होना संभव नहीं है।

वे जिन देवताओं का पूजन करते हैं, जिन कुलाचारों का पालन करते हैं, उनके प्रति उनकी जो धार्मिक श्रद्धा है वे सब उनके जीवन से इतने घुले-मिले तदाकार हो गए हैं कि उनका पालन करने में ही अपना ऐहिक और पारलौकिक हित है—यह बात महार जाति के सौ में नब्बे लोगों में इतनी दृढ़ है कि जैसे ब्राह्मण भंगी के साथ जो अपने कुलाचार छोड़ने, ईसाई, मुसलमान आदि के देवताओं को मानने और स्वयं के देवताओं को फेंक देने के किसी प्रस्ताव का घोर विरोध करने से नहीं चूक सकता, उतना ही महार—महार जाति और महार धर्म से जी-जान से चिपका हुआ है और उसके विरुद्ध बरसने के लिए उसका मन बिलकुल तैयार नहीं हो सकता। यह वास्तविक स्थिति किसी भी महार बस्ती में कुल मिलाकर एक नियम के रूप में दिखेगी।

ऐतिहासिक साक्ष्य देखें—खुसरो की वीरगाथा

एक हजार वर्ष तक हिंदुस्थान पर मुसलमानों की बादशाही चली और उन्होंने ब्राह्मण-क्षत्रियों को धर्मांतरित करने के लिए जितने अत्याचार, मार-काट, अग्निदाह और छल किए उतने ही अत्याचार अस्पृश्यों पर भी किए। पर अपवाद छोड़ दें तो करोड़ों ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि स्पृश्य जैसे अपनी-अपनी जाति-धर्म से मृत्यु भय त्यागकर चिपके रहे वैसा ही विकट धर्मवीरत्व महार आदि अस्पृश्य बंधुओं ने भी दिखाया। अपने-अपने पुरखों के जाति-धर्म की, प्राण संकट में डालकर भी, उन्होंने रक्षा की। अपने स्वत्व, स्वजाति और स्वधर्म को उन्होंने नहीं छोड़ा। एक धर्मांतरित अस्पृश्य की कथा तो हिंदुस्थान के इतिहास में अमर और अद्‌भुत ही है। एक अस्पृश्य हिंदू खुसरो को जबरन मुसलमान बनाया गया। वह अपने पराक्रम से दिल्ली का बादशाह बना। यादवों की राजकन्या मुसलमानी बादशाह ने जबरन भगाई थी। उसके साथ खुसरो ने मेल-जोल कर दिल्ली का तख्त प्राप्त किया और तख्त प्राप्त होते ही अकस्मात् हिंदू पदपादशाही का झंडा लगा दिया। स्वयं को हिंदू घोषित किया और मुसलमानों से बदला लेने के लिए मुसलमानी ग्रंथों और मसजिदों को समारोह के साथ नष्ट करना चालू किया। सारे मुसलमानी जगत् में एक अस्पृश्य हिंदू द्वारा किए गए इस संहार कार्य से बड़ा कोहराम मच गया। अंत में सारा मुसलमान पंजाब से लेकर दिल्ली तक एक हो गया और उसको

आ घेरा। वह वीर अंत में संघर्ष करते हुए अपनी सेना के साथ मारा गया हिंदू होकर। इतनी जिद, स्वधर्माभिमान, परिस्थिति से धर्मांतरित होनेवाले अस्पृश्यों के अंतरंग में, रक्त में, चित्त में भी समाया रहता है। मुसलमानों के वे पचीस-पचास बादशाह, हिंदुओं को मुसलमान बनाने के लिए म्यान से बाहर तैयार लाखों तलवारें, मुसलमानी बादशाही मिट्टी में मिल गई, पर महार जाति के लोग अपने जाति-धर्म से चिपके रहे। आज भी अपनी जाति का स्वतंत्र अस्तित्व और स्वत्व संरक्षित रखे हुए हैं। अपनी जाति और धर्म के प्रति उनका लगाव अटल है। उनकी जाति में चोखामेला जैसे संत यूँ ही नहीं उत्पन्न हुए। हजारों महार वारकरी चंद्रभागा नदी के तट पर सदियों से विट्ठल-विट्ठल के नामघोष से सारा परिसर गुंजायमान करते आ रहे हैं।

मराठों द्वारा मुसलमानों के तख्त और तलवार के टुकड़े-टुकड़े कर हिंदुस्थान को बलपूर्वक मुसलमान बनाने की उनकी महत्त्वाकांक्षा को धराशायी कर देने के बाद मिशनरी आए। उन मिशनरियों ने ब्राह्मण, क्षत्रियों को छोड़ पूरी शक्ति महार बस्ती पर ही लगाई। डेढ़ सौ वर्ष पैसा, नौकरियाँ, निंदा, दवाइयाँ, विद्यालय आदि की उन्होंने खैरात की। पूतना के स्तनों का सारा दूध महार बस्ती में ही उँडेला। परंतु उस पूतना की पहले गोकुल में जैसी गत हुई वही हमारी महार बस्ती में आज भी हुई। कोंकण से तो मिशनरी उठकर जाने लगे। डेढ़ सौ वर्षों के निरंतर धन और श्रम बहाने के बाद सारी मिशनरी मेमें और सब मिलाकर कुछ सौ महार महार-बस्तियों से धर्मांतरित कर सके हों तो बहुत हुआ। महारों की अपने जाति-धर्म पर निष्ठा इतनी अटल है। रोटी के मोल लेने-देने की चीज न होकर महारों का जाति-धर्म महारों के जीवन का ही एक घटक है।

एक और अनुल्लंघनीय बाधा यह कि यदि कदाचित् बहुत बड़ी संख्या में महार जनता धर्मांतरण करने को दो-चार वर्षों में तैयार भी हुई वैसी इच्छा उन्होंने की और यह कठिन बात चर्चा के स्तर पर मान भी ली तो भी महारों की बहुसंख्या धर्मांतरण करने की हिम्मत नहीं कर सकती। क्योंकि उससे गाँव-गाँव में इधर-उधर बिखरकर रह रहे मुट्ठी-मुट्ठी भर बस्ती का उनका जीवन अतिशय दुस्सह हो जाएगा। धर्मांतरण के लाभ से उनकी आर्थिक, पारिवारिक और सामाजिक हानि सौ गुना अधिक होनेवाली है। यह उन्हें अति स्पष्ट दिखाई देने से धर्मांतरण की बहुसंख्य महारों को हिम्मत भी नहीं होगी। यदि महार जाति एक गुट में एक स्थान पर रह रही होती या किन्हीं-किन्हीं तहसीलों में बहुसंख्य होती तो कदाचित् उनका सांघिक धर्मांतरण उनको कम कष्टकर हुआ होता, ऐसा मानकर चला जा सकता है। परंतु आज की स्थिति ऐसी है कि महार अधिकतर गाँव-खेड़े में रहनेवाले हैं। हर

गाँव खेड़े में उनके दस-बीस घर होते हैं। सौ घरों की महार बस्ती तो अपवाद ही है। अन्य अस्पृश्यों से उनका कोई संबंध नहीं होता। इतना ही नहीं, महार उनसे और चमार आदि जाति की जनता महारों से ऊँच-नीच की प्रतिस्पर्धी वृत्ति से रहती है। ऐसी स्थिति में केवल अस्पृश्यता हटाने के लिए हिंदू समाज की छाती पर और केवल हिंदुओं को चिढ़ाने के लिए हिंदू धर्म को महारों ने त्याग दिया तो उस कारण स्पृश्य हिंदू ही नहीं अपितु चमार आदि हिंदुत्व के अभिमानी तथा कथित अस्पृश्य हिंदू बंधुओं के भयानक गुस्से का उनको सामना करना पड़ेगा। गाँव का यह गुस्सा यदि विधि की सीमा में भी व्यक्त हो तब भी गाँव-का-गाँव बाधा खड़ी करने लगे तो उस मुट्ठी भर निराधार महार बस्ती का क्या होगा? इसलिए उस धर्मांतरित मुट्ठी भर महार बस्ती को किसी का सहारा नहीं।

सगे-संबंधियों से दुःखद बिछोह

अधिक क्या कहें, महार जाति के जो महार संबंधी उनके जैसे धर्मांतरित नहीं हुए; जो महार जाति में और महार धर्म को बाप-दादों की परंपरा से मरदों जैसी बहादुरी से सँभालकर रहेंगे वे महार भी उन धर्मांतरित महारों के शत्रु हो जाएँगे। पिता बेटे को घर से बाहर करेगा, माँ बच्चे का मुँह नहीं देखेगी, प्रिया प्रेमी को छोड़ देगी, मामा-मौसी, बुआ-भाई एक-दूसरे से जन्म-जन्म के लिए दूर होकर, नाता-संबंध तोड़कर हिंदू महार उन धर्मांतरित नातेदारों का पानी तक नहीं लेंगे। घर बंद होंगे। यह महार, वह मुसलमान। जात से बेजात। इस घोटाले में स्वजनों के वियोग से महार जाति घर-घर रोएगी। फूटने-फटने से उसका आज का संख्याबल घटेगा, घर-घर में कलह और बैर बढ़ेगा।

धर्मांतरण के प्लेग का रोग फैलते ही महार जाति की पारिवारिक, आर्थिक, धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा होगी। उसमें गाँव-गन्ना रहते आए इनके फुटकर हजारों-हजार आदमियों को मुसलमान क्या सहायता दे सकेगा? महाराष्ट्र में हर गाँव में मुसलमानों के बीस-तीस घर हैं। मुसलमान भी दरिद्र, कुछ रोटी, कुछ लँगोटी। उन्हें ही अधिकतर न खाने को, न शिक्षा, न सत्ता। हर गाँव के दस-बीस मुसलमान घर और उनमें ये धर्मांतरित दस-बीस और। इन धर्मांतरित महारों को वे स्वयं कंगाली में जी रहे मुसलमान कितनी भूमि, पैसा या नौकरियाँ दे सकेंगे—यह साफ है। उसमें एक बात यह भी कि महाराष्ट्र में बड़ी संख्या में मुसलमान स्वयं अस्पृश्य ही हैं। कुछ थोड़े सार्वजनिक स्थान छोड़ दें तो उनको जाने-आने की मनाही। मुसलमान हो जाने के बाद भी गाँव में उनसे चिपकी अस्पृश्यता तो जानेवाली नहीं। महारी अस्पृश्यता जाएगी तो मुसलमानी अस्पृश्यता गला पकड़

लेगी। साक्ष्य के साथ मैंने पूर्व में बताया ही था—बंगाल, मद्रास आदि अनेक प्रांतों में धर्मांतरित अस्पृश्यों की अछूत ईसाई, कमीना, रंगरेज आदि हीन मुसलमान नामक अलग जातियाँ बनी हुई हैं। असल ईसाई या मुसलमान उन धर्मांतरितों से दूर ही रहते हैं।

आर्थिक दुर्दशा भी वही रहेगी

धर्मांतरित महारों में बहुत बड़ी संख्या में एक साथ धर्मांतरण करने के बाद मूल में ही मुट्ठी-मुट्ठी गाँव-गन्ना फैले हुए हजारों-हजार धर्मांतरित महारों को हर माह और जीवन भर कोई शौकत अली या मि. गौब मनीऑर्डर भेज सकते हैं क्या? मुसलमानों के पीढ़ीजात बादशाह जो नहीं कर सके? मिशन बहुत धनाढ्य हैं, पर पूर्व में धर्मांतरित महारों का ही पालन वे कर नहीं पाते फिर बड़ी नौकरियों की बात तो दूर। गाँव के विपुल धन, बुद्धि, सत्ता के मालिक हिंदुओं को धर्मांतरण से चिढ़ाए जाने पर उन महारों की धर्मांतरित और अधर्मांतरित दोनों की क्या और कितनी दुर्दशा होगी, इसकी कल्पना हर गाँव की महार बस्ती अपने-आप करे।

सारांश यह कि धर्मांतरण से महारों की पूरी जाति की अस्पृश्यता जाएगी यह संभव नहीं है, उलटे उनकी जाति की पारिवारिक, आर्थिक, सामाजिक दुर्दशा होने की भयंकर आशंका है। यदि कभी अस्पृश्यता हटाकर उपर्युक्त दुर्दशा टालना भी संभव है तो वह हिंदुत्व के झंडे तले रहकर ही और हिंदू समाज का मन-परिवर्तन करके ही—और कोई रास्ता नहीं। अंबेडकर जो दूसरा रास्ता सुझा रहे हैं उससे अस्पृश्यता मिटकर महार जाति की उन्नति तो होनी नहीं, उलटे महार जाति के ही नामशेष होने की आशंका अधिक है। सोमवंशी महार विश्व में शेष न रहेगा।

मुसलमान होना माने महार जाति की मृत्यु। महार रहकर अस्पृश्यता जाएगी तो उत्तम। जाति ही मर जाए, महारों का स्वत्व ही न रहे, बाप-दादों के महार वंश को विश्व से समाप्त कर, निर्वंश कर जो अस्पृश्यता जाएगी वह गई तो क्या, न गई तो क्या? सोमवंशी महारों की दृष्टि से कुछ नहीं। मनुष्य के मर जाने पर उसे गहने पहनाए या न पहनाए एक सा!

महार रहें, हिंदू रहें और अस्पृश्यता से मुक्त हों- यह संभव है क्या? हाँ! हाँ! हाँ!!!

यदि कुछ संभव है तो यही संभव है और इष्ट भी। सापेक्ष रूप में सुसाध्य भी यही है। उसमें भी आज जैसी सुसंधि पहले कभी भी आई नहीं थी। क्योंकि आज लाखों स्पृश्य हिंदू ही उस अस्पृश्यता का समूल नाश करने में ईमानदारी से

लगे हुए हैं। आर्य समाज, देव समाज, हिंदू महासभा, राष्ट्रीय सभा ऐसी प्रमुखों में प्रमुख एवं कर्तव्यशील भारतव्यापी संस्थाएँ हमारे आज तक के अस्पृश्य धर्मबंधुओं और राष्ट्रबंधुओं को पूर्वास्पृश्य माने पहले जो अस्पृश्य थे, पर अब स्पृश्य हो गए हैं—ऐसे पूर्वास्पृश्य बनाने के लिए इस अस्पृश्यता के विषवृक्ष के मूल को कुल्हाड़ी से काट रहे हैं। ऐसे समय में इन हिंदू स्पृश्यों के कंधे से कंधा भिड़ाकर यदि हिंदू अस्पृश्य सहयोग कर अपनी भी कुल्हाड़ी से इस विषवृक्ष को काटने लग जाएँ; दोष सबका है, सब मिल-जुलकर उसमें सुधार करें तो यह सुधार दस-बीस वर्षों के अंदर निश्चित रूप से हो जाएगा। यह विषवृक्ष टूटकर गिर जाएगा। यदि हमारे चमार, मांग, वड़ारी आदि तथाकथित 'अस्पृश्य' धर्मबंधु यह परिस्थिति देखकर अस्पृश्यता उखाड़ डालेंगे हिंदू-के-हिंदू बने रहकर, धर्मांतरण का दुष्कृत्य प्राण जाए तो भी न करते हुए, अस्पृश्यता को गहरे गाड़ देने का पूरा विश्वास है, उन्होंने ऐसा करने का पक्का निश्चय किया हुआ है तो केवल महार बंधु ही ऐसा कुलद्रोह, जातिद्रोह एवं धर्मद्रोह करने का पापी विचार क्यों मन में ला रहे हैं? अस्पृश्यता को मारने का महामंत्र अब मिल गया है। वह मंत्र है हिंदू संगठन। जन्मजात जातिभेदोच्छेदक हिंदू संगठन! अब हम बीस-पच्चीस वर्ष के अंदर अस्पृश्यता का संहार कर दिखाएँगे तो ही सच्चे हिंदू!!

(निर्भीड, २९.१२.१९३५)

□

प्रकरण—११

रत्नागिरि ने अस्पृश्यता और रोटीबंदी की बेड़ियाँ कैसे तोड़ीं?

हिंदू राष्ट्र के उद्धार के लिए और विश्व के प्रबलतम राष्ट्रों की शृंखला में उसकी गणना हो, उसे इतना समर्थ बनाने के लिए क्या-क्या कार्य करना चाहिए इसकी सूची बनाने की बात कितनी ही आवश्यक हो तो भी उन कार्यों में से छोटे-से-छोटे कार्य भी करके दिखाने की अपेक्षा वह कितनी सरल होती है। हिंदुस्थान को प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बनाने के लिए क्या करना चाहिए? ऐसा प्रश्न कक्षा पाँच के छात्रों से यदि परीक्षा में पूछा जाए तो वे आधे घंटे में कागज भर-भरकर एक-से-एक बढ़िया योजना प्रस्तुत कर देंगे, परंतु उन योजनाओं में से बिलकुल सरल-से-सरल योजना को पूरी कर दिखाने की हिम्मत और लगन प्राप्त करने और वह कार्य पूर्ण कर दिखाने के लिए शताब्दी बीत जाए तब भी समय कम ही पड़ता है; क्योंकि योजना बनाना सापेक्षतः सरल होता है, उसे पूरा करना, योजना के अनुरूप कार्य कर दिखाना, बहुत कठिन होता है। मजबूत घर बनाने के लिए किसी भी शिल्पज्ञ को दस रुपए देकर रूपरेखा बनवा ली जा सकती है। परंतु उस रूपरेखा के अनुसार भवन बाँधकर पूरा करने में लगनेवाली हजारों रुपए की राशि और श्रम को जुटाकर भवन खड़ा करने का कार्य करना उस कागजी योजना से कितना कठिन होता है! परंतु वास्तविक उपयोग वह घर बाँधकर पूरा करने से ही होता है; घर की रूपरेखा कितनी ही परिपूर्ण और सुविधाजनक लगती हो फिर भी उस रूपरेखा में कोई रह नहीं सकता। गरमी, सरदी, वर्षा से उसकी रक्षा नहीं हो सकती।

ऐसा होते हुए भी आज हर कोई अपने हिंदू राष्ट्र के उत्थान की केवल रूपरेखा ही बनाकर बैठा है। योजना बनाना भी आवश्यक होता है, पर केवल

योजना का अर्थ पूर्ति नहीं है। वास्तविक काम माने क्या-क्या करना यह कहना नहीं, काम कर दिखाना या कम-से-कम काम करने लगना है। पर वह अति कठिन है। इसलिए काम करके दिखाने की अपेक्षा यह करना चाहिए, वह करना चाहिए ऐसी सरल चर्चा में ही लोग अपना समय गँवाते हैं। ऐसी टिप्पणियाँ, चर्चा करके ही देश-कार्य कर रहे हैं, ऐसे झूठे समाधान में हम स्वयं अपने को झाँसा देते रहते हैं। यदि अपने इस राष्ट्र का उद्धार करना है तो ये करना चाहिए, वो करना चाहिए ऐसा हम आपको कहें और आप हमें कहें—इसी में सारा समय और शक्ति खर्च की जा रही है। समाचारपत्र, नियतकालिक-पत्र, परिषदें, उत्सव, इन सभी में होनेवाला लेखन और चर्चा देखें। योजना, मनोरथ परोपदेशेपांडित्यम् से भरे हुए हैं। क्या-क्या करना चाहिए इसके आलेखों पर आलेख; फिर वही पीस रहे हैं। यह किए गए काम का आलेख किए गए काम की रपट—विरलतम।

ऐसा-ऐसा करना चाहिए, यह जो रानडे की पीढ़ी ने कहा वही तिलक की पीढ़ी ने कहा और वही हमारी पीढ़ी कह रही है। सारी योजना लाखों लोगों को मुँहजबानी हो गई है।

पर यह किया, उस योजना का यह कार्य पूरा हुआ, यह कहनेवाला लाख में एक भी कठिन है। काम करने का साहस, संकल्प और पूर्ति ही आज की सबसे बड़ी कमी है। सैकड़ों काम ऐसे हैं जो वे अपनी सीमा में ही करें तो हो जानेवाले हैं। पर हर कोई यह कहने में अपना काम पूरा हुआ मानता है कि दूसरा यह काम करे।

वही दोष अस्पृश्यता निवारण के काम में भी दिखाई देता है। अस्पृश्यता निवारण होना चाहिए, इस विचार के हजारों लोग भी उस प्रश्न का शास्त्रार्थ, मतितार्थ आदि को ही घोटते बैठे हैं। वह भी आवश्यक है, पर मुख्य काम है हर कोई अपने घर-पड़ोस में सारे व्यवहार में अपनी सीमा की अस्पृश्यता प्रकटतः फेंककर अस्पृश्यों को स्पृश्यों जैसा माने और वैसा ही व्यवहार करे, पर व्यवहार का प्रश्न आते ही हमारे कदम पीछे हट जाते हैं। लाखों में एकाध अपवाद मिलेगा। व्यक्ति की यह बात है, फिर कोई एक नगर अस्पृश्यता तोड़कर अलग हो गया है, ऐसा पूरे देश में दस-पाँच जगह भी मिलना कठिन है।

परंतु 'रत्नागिरि' और काफी कुछ अंशों में 'मालवण' इन दो नगरों ने अस्पृश्यता का और रोटीबंदी का विध्वंस कर जो एक राष्ट्रकार्य अपनी-अपनी सीमा में कर डाला है उसकी रिपोर्ट उन नगरों के लिए तो गर्व की बात है ही, अन्यों के लिए भी प्रेरक और अनुकरणीय है। अतः इस लेख में मुख्यतः रत्नागिरि नगर स्पर्शबंदी, रोटीबंदी की बीमारी से कितना मुक्त हो गया है और किन-किन साधनों से और सीढ़ियों से वह मुक्त हो सका है—यह संक्षेप में हम दिखाना चाहते हैं—

'किर्लोस्कर' मासिक पत्र में प्रकाशित हमारे लेख, जिसमें हमने 'क्या करना चाहिए' ऐसी योजनाएँ लिखी थीं, को पंजाब तक के हजारों पाठकों ने बहुत सराहा ऐसा बार-बार मुझे कहा गया। अर्थात् हमारे कार्य की दृष्टि से वह हमारे लिए संतोषप्रद था, परंतु अमुक एक काम छोटा कहें, बड़ा कहें, केवल करना चाहिए की टिप्पणी की सीमा में न रख, कर डाला ऐसा कहना और ऐसा किया जा सकता है का सफल प्रयोग लोगों के सामने रखनेवाला यह लेख केवल सैद्धांतिक या टीकात्मक लेख की तुलना में कम मनोरंजक लगे तब भी अधिक उपयुक्त एवं हितकर है—ऐसा जानकर पाठक इसे ध्यान से पढ़ें और स्वयं के व्यवहार में से अस्पृश्यता हटा दें तो भी हमें अथाह संतोष होगा और अपने हिंदू राष्ट्र की सौ गुनी अधिक सेवा होगी।

रत्नागिरि में दस वर्ष पूर्व महार जाति के व्यक्ति की छाया को भी छूत माना जाता था। महार के छूते ही कपड़ों सहित स्नान करनेवाले हजारों लोग थे। कर्मठ ब्राह्मणों के घर में 'महार' शब्द का उच्चारण तक अशुभ मानने के कारण नहीं किया जाता था। महार की जगह उसे 'बाहर का' कहा जाता था। विद्यालयों में तो महार बच्चों को साथ बैठाना कभी भी संभव नहीं था।

नगर की सीमा के बाहर जिले में तो अस्पृश्यता इससे भी अधिक तीव्र थी। चमार, महार, भंगी ये आपस में भी अस्पृश्य होते थे। कोई किसी को छू नहीं सकता, घर नहीं जा सकता। महार, चमार, भंगी ये शब्द स्पृश्य लोगों में गाली माने जाते थे। महार भी दूसरे महार को 'साला भंगी' कहकर गाली देता था।

ऐसी स्थिति में १९२५ के गणपति उत्सव के अवसर पर अस्पृश्यता की दूषित रूढ़ि को समाप्त करने के लिए आंदोलन शुरू किया गया। उसके कारण हिंदू राष्ट्र के संगठन में कितनी बाधा होती है, वह रूढ़ि कितनी अन्यायकारी एवं अधर्म्य है आदि विषयों पर व्याख्यान, लेख, संवाद की हमने झड़ी लगा दी। अन्य कुछ बड़ा राष्ट्रकार्य हो नहीं सकता तो कम-से-कम यह एक राष्ट्रकार्य (तुम्हारी सीमा में) तो कर ही डालो, ऐसा तर्क दे-देकर बहुत बड़ी सीमा तक वातावरण अनुकूल कर लिया। पर वह केवल सिद्धांत रूप में। प्रत्यक्ष कार्य करने, स्वयं आचरण करने को मुट्ठी भर आदमी भी आगे आने को तैयार नहीं थे। फिर भी जो आदमी इस सीमा तक आगे बढ़े कि हम स्वयं अस्पृश्यता नहीं मानेंगे, उनको लेकर हम महार बस्ती में भजन करने जाने लगे, यह सरलतम कार्य था।

१. महार बस्ती में भजन करने के साथ ही इधर-उधर निरीक्षण करना भी प्रारंभ किया। महारों को गाँव में लाकर भजन मंडली में बैठाना उस काल में इतना दुरूह कार्य था कि स्वयंसेवक के रूप में आगे आए

लोग भी ऐसा नहीं कर पाते थे। इस कारण स्पृश्यों ने ही महार बस्ती में जाने का कार्यक्रम बनाया। परंतु पहले-पहले महार बस्ती में या चमार बस्ती में हम सफेदपोश जाते तो महार-चमार ही घर के बाहर नहीं आते थे। आवाज लगाते तो—'घर में नहीं है' ऐसा अंदर से कोई कह देता। हम स्वयं दरी साथ लेकर जाते और उसे बिछाकर बैठ जाते तो भी वे बैठक पर बैठते नहीं थे। उसमें भी उनको बड़े कष्ट होते। कभी सात जनम न हुई बात। अनेक महार, चमारों को बामन-बनिया उनके घर आएँ इसकी भी घिन लगती, अधर्म हो रहा है ऐसा लगता, ऐसी ही भावना पंडों जैसे स्पृश्यों की भी थी। जबरन भजन करके लोग घर लौटते तब घर-घर में मजे आते। किसी की नानी-दादी घर में ही नहीं घुसने देती। कपड़े बदलने की शर्त पर घर में प्रवेश मिलता। भजन को आनेवाले कुछ लोग वह आपद्धर्म मानकर करते, सद्धर्म के रूप में नहीं। फिर वे स्वयं स्नान करके ही घर जाते। फिर घर में हाथ लगाते। इतने पर ही बातें रुकी नहीं। दस-पाँच बार महार बस्तियों में रात में भजन के लिए जाकर फिर दशहरा, संक्रांति आदि के समय शमीपत्र या तिलगुड़ बाँटने अस्पृश्य बस्ती में जाने के बाद लौटकर हम सब गाँव में छुआछूत करते घूमते हैं, यह देखकर हमारा संगठित विरोध होने लगा। महार बस्ती में जाकर स्नान न करते हुए घर में घुसनेवाले हम लोगों का इस पापकर्म के लिए बहिष्कार किया जाएगा अन्यथा हम सब प्रायश्चित्त ले लें, यह धमकी भी हमें दी गई। श्री आप्पाराव पटवर्धन का तो उनके गाँव ने बहिष्कार किया ही था, पर इस विरोध की परवाह न करते हुए हिंदूसभा के बहुत लोग बार-बार महार-चमार बस्तियों में जाकर उनके पीने के पानी की टंकियाँ देखते, उनमें दवाई डालते, गलियों में झाड़ू लगाते, तुलसी और फूलों के पौधे लगाते, भजन करते, साबुन देकर कपड़े धुलवाते और अपने-अपने घर लौट जाते। धीरे-धीरे आदत पड़ गई, छूत ढीली पड़ती गई, पर आंदोलन वहीं रुक जाता तो वहीं मर जाता। अगला कदम उठाए बिना पहला पीछे पड़ता नहीं। इसलिए महार बस्ती में जाकर भजन करना समाज की आदत में आते ही महार-चमारों को गाँव में लाकर सम्मिश्र भजन करना प्रारंभ किया।

२. अस्पृश्यों को गाँव में लाकर सम्मिश्र भजन, व्याख्यान आदि समारोह करने में फिर वही बाधाएँ, वही विरोध। भरी बस्ती में स्पृश्य लोग

महार-चमारों को भजन या सभा में मिल-जुलकर बैठने देने में जितना विरोध करते उतना ही विरोध महार-चमार स्वयं भी वहाँ बैठने में करते। उन्हें भी वह अच्छा नहीं लगता। जिन्हें अच्छा लगता, वे भी डरते। हमारे स्वयंसेवक पैसे देकर भी दस-पाँच लोगों को गाँव में खुले रूप में स्पृश्य मंडली के साथ एक बैठक पर बैठकर भजन करने या किसी सभा में टोली में खड़े रहने के लिए मना-मनाकर लाते। गाँव में चलते-चलते सबके सामने उनके कंधे पर हाथ रखते, उनके हाथ की चीज लेते या उन्हें देते। यह सब इसलिए कि जिससे अस्पृश्यों को छूने-छू लेने की और नागरिकों द्वारा यह सब देखने की आदत पड़ जाए। धीरे-धीरे 'भगवान् की पालकी' उत्सव में उन्हें साथ ले जाने लगे। कुछ हिंदू संगठन अभिमानी दुकानदार अस्पृश्यों को दुकान की सीढ़ियाँ चढ़ने देने लगे। कुछ और आगे बढ़े, वे अस्पृश्यों को सामान उनके हाथों में देने लगे, पहले दूर से फेंका जाता था।

३. विद्यालय में लड़के एक-दूसरे से मिल-जुलकर बैठें इसके लिए हिंदू महासभा ने १९२५ से ही आंदोलन चलाया हुआ था। अस्पृश्यों की शैक्षणिक उन्नति के लिए ही नहीं, अस्पृश्यता की भावना की जड़ पर कुल्हाड़ी चलाने के लिए विद्यालय के बच्चों में साथ बैठने की आदत डालना सर्वोत्तम उपाय था। पर वह जितना परिणामकारक और मूलग्राही था उतना ही दुरूह भी था। पूरे जिले में विद्यालय-विद्यालय में कहीं बाहर के चबूतरे पर या दालान के कोने में घुसाए हुए अस्पृश्य बच्चों के स्लेट-पेंसिल को भी मास्टर नहीं छूते थे। कुछ मास्टर उन्हें मारने के लिए छड़ी फेंकते थे। दो-चार अपवाद छोड़ दें तो कहीं भी मिल-जुलकर बैठाने की बात करना भी कठिन था। रत्नागिरि या मालवण में ऐसा एक भी विद्यालय नहीं था। सरकारी आधा कच्चा आदेश बच्चों में भेदभाव न करने का १९२३ का था। पर उस आदेश का कहीं अता-पता न लगता। ऐसी परिस्थिति में हिंदू महासभा ने १९२५ में उस प्रश्न को हाथ में लिया।

दापोली, खेड़, चिपलूण, देवरुख, संगमेश्वर, खारेपाटण, देवगढ़, मालवण आदि सारे बड़े-बड़े नगरों में दौरे कर, व्याख्यानों की वर्षा कर, लोकमत घुमाकर, अनेक विद्यालयों में बच्चे साथ-साथ बैठाए। रत्नागिरि में हर विद्यालय का प्रकरण स्वतंत्र लड़ना पड़ा। इस कार्य में बनिया, ब्राह्मण वर्ग से भी तीव्रतर विरोध मराठा, कुलवाड़ी, भंडारी आदि अशिक्षित और समाचारपत्रों से अलग रहने के कारण

जिनमें हिंदू राष्ट्र की संगठित आकांक्षा की चेतना ही नहीं थी उनकी ओर से पूरे जिले और गाँव-गाँव में हुआ।

कोतवडे, फोंडा, कणकवली, शिपोशी, कांदल गाँव, आडिबरे आदि साठ-सत्तर गाँवों में हड़ताल, मारपीट, तोड़-फोड़ आदि का हुल्लड़ हुआ। स्कूल बोर्ड भयभीत हुआ। जिला बोर्ड की ओर से १९२९ में साथ-साथ बैठाना आवश्यक नहीं है, ऐसा प्रस्ताव पारित किया। पर हिंदूसभा ने जिद न छोड़ी। लोकमत अपनी ओर करके वरिष्ठ अधिकारियों और विधानसभा तक आंदोलन चलाया।

जिन अस्पृश्यों के बच्चों के लिए यह आंदोलन था उन अस्पृश्यों ने अपने बच्चों को विद्यालय में भेजना ही छोड़ दिया। कुछ डर के कारण और जहाँ डर की कोई बात नहीं थी वहाँ भी लड़के विद्यालय में न भेजे जाते। उन्हें शिक्षा का महत्त्व भी पता नहीं था। माँ-बाप को तीन-तीन रुपए वेतन देकर, स्लेट आदि बिना मूल्य देकर, कपड़े देकर, महार-चमार-भंगी लड़कों को विद्यालय में जबरन बैठाते थे। बरसात में माँग उठती छतरी दो। सभा ने छतरियाँ भी दीं, पर फिर भी लड़के विद्यालय में न आते। पर धीरे-धीरे उनमें भी शिक्षा के प्रति चाव लगने लगा। मालवण, रत्नागिरि आदि जगहों पर बड़े-बड़े सम्मेलन, सभाएँ आयोजित की गईं। हजारों रुपयों का व्यय और निरंतर सात वर्ष आंदोलन करते रहने से केवल रत्नागिरि नगर में ही नहीं, जिले भर के अधिकतर विद्यालयों में बच्चे मिल-जुलकर बैठने लगे। सरकारी आदेश भी कड़े निकले। स्कूल बोर्ड भी साहस से उनका पालन कराने लगे। हिंदूसभा ने हर गाँव का बार-बार दौरा कर निगरानी की। कई विद्यालयों में चुपके-चुपके बच्चे अलग ही बैठाए जाते पर रिपोर्ट में झूठा ही लिखते। ऐसे प्रकरणों की छानबीन कर शासन को बतलाया गया। शिक्षक दंडित हुए, दो-चार विद्यालय बंद हुए। ऐसे अनेक उपाय निरंतर करते रहने से आज अस्पृश्यता उखड़ गई है। जिले भर में बच्चे मिले-जुले बैठते हैं। अगली पीढ़ी की अस्पृश्यता की भावना बचपन की आदत से नष्ट हो जाने से विद्यालय में बच्चे साथ-साथ बैठाने से अस्पृश्यता की जड़ पर ही कुल्हाड़ी पड़ी है। विद्यालयों में बच्चे साथ-साथ बैठाने से एक ओर तो अस्पृश्यों की शिक्षा एवं रहन-सहन में सुधार होकर वे बच्चे उन्नत होते हैं, दूसरी ओर, अस्पृश्यों में से अनेक छात्र अपनी बराबरी के या कभी-कभी अधिक चतुर और बुद्धिमान् हो सकते हैं, यह जानकर स्पृश्य लड़कों का झूठा अहंकार टूट जाता है। बचपन से समता की आदत हो जाने से छुआछूत की भावना ही शेष नहीं रहती। इसलिए अस्पृश्यता निवारण के सारे उपायों में विद्यालय में बच्चे साथ-साथ बैठाने का उपाय बहुत परिणामकारी है। हिंदूसभा का यह पक्का सिद्धांत था। इस कार्य के लिए स्थानीय हिंदूसभा ने कितने परिश्रम किए, कष्ट भोगे

वह सब उसके पंचवार्षिक प्रतिवेदन के दो खंडों में प्रकाशित है। हर कार्यकर्ता उसे अवश्य पढ़े, यह अनुरोध है।

गृहप्रवेश

विद्यालयों में बच्चे मिले-जुले बैठाने के आंदोलन के चलते रत्नागिरि नगर में अस्पृश्यता को घर से भी चलता करने के लिए सन् १९२७ से ही हिंदूसभा ने गृह प्रवेश का उपक्रम चालू किया। दशहरा और संक्रांति के दिन शमीपत्र और तिल-गुड़ देने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि जातियों के लोगों के साथ महार, चमार, भंगी जातियों के दो-दो लोगों को लेकर हिंदूसभा की ओर से घर-घर जाने का कार्यक्रम शुरू किया गया। आँगन में जाते ही निवेदन किया जाता—"हम शमीपत्र देने आए हैं, आप अपने घर में ईसाई, मुसलमान आदि अहिंदू को जहाँ तक आने देते हैं वहाँ तक आप हमें आने दें। अपने हिंदू धर्मी को अस्पृश्य मानना अहिंदू से भी अधिक हिंदू धर्मियों का अपमान-अवमान है।" इस निवेदन से कुछ हिंदुओं का हृदय पसीज उठता, वे महार आदि सहित सबको अंदर लेकर शमीपत्र या तिल-गुड़ देते-लेते। 'हिंदू धर्म की जय' की घोषणा के साथ लोग दूसरे घर की ओर चल देते।

पर पहले दो वर्ष अधिकतर लोगों ने आँगन में ही आकर शमीपत्र-तिल-गुड़ लिया-दिया। घर में नहीं लिया। कुछ लोगों ने गुस्से से बाहर निकल जाने को कहा—अपशब्द भी कहे। स्वयंसेवक उनपर गुस्सा न करते हुए उन्हें समझाते हुए बाहर आ जाते। दो-चार वर्ष यह उपक्रम निरंतर जारी रखा। यह रूढ़ि बनती चली गई। सन् १९३० में दशहरे के अवसर पर पूरे गाँव में यह कार्यक्रम किया गया। इसमें भी घर आने-जानेवालों के नाम समाचारपत्र में छापे जाते थे, यह ज्ञात होते हुए भी सौ में से नब्बे लोगों ने अपने घरों में बैठक तक अस्पृश्यों सहित सबको आदर सहित आने दिया। इत्रपान दिया, कहीं-कहीं मुँह मीठा भी कराया गया। घर से भगा देनेवाला, आँगन से लौटा देनेवाला एक भी मिला नहीं। बाजार की अधिकतर दुकानों में (उपाहार-गृह छोड़कर) अस्पृश्यों को सहज प्रवेश मिलने लगा, तब वह प्रयोग अनावश्यक जान छोड़ दिया।

महिलाओं के हलदी-कुंकुम समारोह

महिलाओं का सुधार-योजना के प्रति विशेष ही विरोध है, ऐसा माना जाता है। उसमें भी कोई सुधार-योजना उनको समझ में आ गई, फिर भी उसपर आचरण करने की या कहने की स्वतंत्रता उन्हें नहीं थी। ऐसी विकट स्थिति में उनमें से भी अस्पृश्यता की भावना निकाल डालने के लिए व्याख्यान आदि बुद्धिवाद के प्रयोगों

से उनकी मनोभूमिका अनुकूल कर लेने के बाद सम्मिश्र हलदी-कुंकुम समारोह आयोजित किए गए। सन् १९२५ में पहले हलदी-कुंकुम समारोह में अस्पृश्य महिलाएँ किसी भी तरह स्पृश्य महिलाओं के बीच जाने को तैयार नहीं थीं और उसके विपरीत उन महार-चमार महिलाओं को कुंकुम लगाने के बड़े प्रयासों के बाद केवल पाँच महिलाएँ तैयार हुईं।

हलदी-कुंकुम के समारोहों में मुक्तहस्त कोई-न-कोई वस्तु बाँटने की रूढ़ि है। गन्ने की गाड़ी से गन्ना या फिर बरफी आदि दिए जाने का कार्यक्रम किया गया इससे अस्पृश्य स्त्रियों की संख्या बढ़ी। स्पृश्य महिलाओं में भी हिचक घटी। इस तरह ऐसे हलदी-कुंकुम कार्यक्रम में सैकड़ों स्त्रियाँ खुलेपन से आने लगीं। यात्रा, सभा, सम्मेलनों में महिलाओं या पुरुषों को स्पृश्य-अस्पृश्य का भेदभाव भूलकर साथ-साथ बैठने-उठने की आदत पड़ी।

गाड़ी, सभा, नाटक-घर

पहले नाटक-घरों में अस्पृश्य महिलाएँ और पुरुष स्पृश्यों से अलग बैठते थे। हिंदूसभा ने वह रूढ़ि तोड़ने के लिए जब प्रयास आरंभ किए तब झगड़े होने लगे। एक बार बैरिस्टर सावरकर के 'उ: शाप' नाटक के समय अस्पृश्य लोगों को कुरसियों पर नि:शुल्क टिकट देकर स्पृश्यों के बीच-बीच बैठा दिया गया। वैसा ही महिलाओं के साथ भी किया गया। कुरसियों पर भंगी, महार को बैठे देखकर इतना झगड़ा हुआ कि मजिस्ट्रेट को शांति भंग की आशंका लगी। परंतु बैरिस्टर सावरकर ने सब सँभाल दिया। उन्होंने स्पृश्यों को समझाया, अस्पृश्यों के अधिकार की भी बात की। धीरे-धीरे यह रीति भी समाज के लिए नई बात नहीं रही। किराए पर लोगों को इधर-उधर ले जानेवाले गाड़ीवाले अस्पृश्यों को गाड़ी में नहीं बैठाते थे। उनसे बार-बार चर्चा कर उन्हें समझाया गया कि मुसलमानों को बैठाते हो, अस्पृश्य हिंदू अपने भाई हैं, उनको क्यों छोड़ते हो। कुछ मान गए, कुछ ने कहा, नौकरी छोड़ देंगे पर महार-चमार को गाड़ी में नहीं चढ़ने देंगे। जो तैयार हुए उनकी गाड़ियों में महार-चमारों को हिंदूसभा के लोग यूँ ही इधर-उधर घुमाते-फिराते, इसलिए कि वह दृश्य देखने की आदत लोगों को पड़ जाए। धीरे-धीरे बात बनी और अस्पृश्यता दूर हुई।

हिंदू बैंड

पूर्वास्पृश्यों की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्हें पूँजी देकर बैंड लेने को प्रवृत्त किया। पहले बैंडवाले केवल मुसलमान ही हुआ करते थे। वे हिंदुओं की

इच्छा न होते हुए भी मसजिद पर से जाते हुए बैंड बंद कर देते थे। रूढ़ि तैयार करते। इसलिए हिंदू इन्हीं पूर्वास्पृश्यों का बैंड बुलाएँ—ऐसा प्रचार किया गया और रत्नागिरि के हिंदू अभिमानी लोगों ने उसका साथ दिया। इससे दूसरा महत्त्व का लाभ यह हुआ कि अस्पृश्यता संस्कारों में से भी हट गई। विवाह आदि समारोहों में ये अस्पृश्य बैंडवाले ब्राह्मण, बनिया लोगों में एक-दूसरे से मिलने, छूने लगे। अस्पृश्यों से पूर्वास्पृश्य हो गए। आर्थिक स्थिति सुधारने, दफ्तर-कचहरी में अनेक पूर्वास्पृश्यों को नौकरियाँ दिलवा दी गईं।

पूर्वास्पृश्य मेला एवं देवालय प्रवेश

सन् १९२६ से ही देवालयों में प्रवेश कराने का प्रश्न हमारे सामने था। गणपति उत्सव के लिए महार-चमार-भंगी बच्चों की एक मंडली तैयार की गई। पर वे अस्पृश्य लड़के आपस में एक-दूसरे को छूते नहीं थे। इसीलिए आते नहीं थे। लाई, चना बाँटा जाता तो आते। पर महार चमार के दिए चने नहीं खाता, वैसे ही भंगी का। उन सब बाधाओं को पार किया तो मंडली को सिखाने के लिए स्थान नहीं मिलता था। एक आँगन न मिले। फिर भी उन्हें सिखाया, तैयार किया। सार्वजनिक गणेश उत्सव विट्ठल मंदिर में होता था, वहाँ के पंचों को मनाया। बहुत दूर आँगन में खड़े रहने की अनुमति मिली। बालमंडली का कार्यक्रम देखने सैकड़ों की भीड़ उमड़ी, पर सब दस हाथ दूर खड़े थे।

दूसरे वर्ष अस्पृश्यता भी चारों ओर से आघात होते रहने के कारण इतनी घायल हो गई थी कि उस मंडली को आँगन से सीढ़ियों तक लोग स्वयं ही साग्रह ले आए और सैकड़ों लोग उन्हें छूते हुए मंदिर में जाकर बैठे। यह सब कृत्य पुराने लोगों को भ्रष्टाचार लगा। पर और दो वर्षों के अंदर १९२९ में उस पूर्वास्पृश्य मंडली की ही अखिल हिंदू मंडली बनी। मैट्रिक और कॉलेज के छात्र ही नहीं स्वतंत्र व्यवसाय करनेवाले सौ चुने हुए युवा उस पूर्वास्पृश्य मंडली में मिल गए और हजारों लोगों के सामने एवं तालियों की गड़गड़ाहट में विट्ठल मंदिर के मुख्य मंडप में प्रवेश किया। पूर्वास्पृश्यों सहित आधा घंटा वह भव्य कार्यक्रम मुख्य मंडप में हुआ। उस दिन से अर्थात् १९२९ से विट्ठल मंदिर में गोकुल अष्टमी आदि उत्सव में, बीच-बीच में कथा सुनने देवालय प्रवेश के लिए अनुकूल सैकड़ों लोगों की सहायता से पूर्वास्पृश्य लोग मंदिर में जा रहे हैं। देवालय प्रवेश के लिए असहमत एक वर्ग इस कार्य का विरोध भी कर रहा है। एक एकादशी को पूर्वास्पृश्य लोगों के साथ मंदिर में एक घंटे तक भजन किया और उसके फोटो भी लिये गए। सारांश, विट्ठल मंदिर पूर्वास्पृश्य युवा वर्ग के लिए खुला हो गया। समाज के दूसरे

पुराने विचारों के लोगों ने उसे सहज नहीं स्वीकारा। ऐसी परिस्थिति में ही पतितपावन मंदिर की स्थापना हुई और देवालय प्रवेश का प्रश्न अलग ही तरह से, पर अत्यंत सफलता से हल हो गया।

पतितपावन की स्थापना

संपूर्ण हिंदुओं के लिए पुराने देवालयों में प्रवेश दिलाना अत्यंत कठिन होने से हिंदू महासभा ने नए अखिल हिंदू देवालय की स्थापना करने का निश्चय किया। पुराने देवालयों को खुलवाने में विविध बाधाएँ भी बहुत आनी थीं। नए अखिल हिंदू मंदिर में स्पृश्य-अस्पृश्य समाज बेखटके एकत्रित पूजा-प्रार्थना कर सकता था। वहाँ सम्मिलित पूजा करने की आदत लग जाने पर पुराने मंदिर का महत्त्व भी घट जाता है या वहाँ स्पृश्य, अस्पृश्य हिंदुओं के जाने लगने से कुछ भी अनिष्ट नहीं होता है यह बात भी समाज-मन में बैठ जाती। हिंदूसभा ने महान् दानी श्रीमंत भागोजी सेठ कीर से निवदेन किया और उन्होंने पतितपावन अखिल हिंदू मंदिर बनवाया। दो-ढाई लाख रुपए खर्च किए। पतितपावन मंदिर संस्था भी बनी जो आज तक चल रही है। इस अखिल हिंदू मंदिर की कीर्ति पूरे भारत में इतनी फैली कि उसका यहाँ वर्णन करना अनावश्यक है। रत्नागिरि में अस्पृश्यता की दूषित रूढ़ि उपर्युक्त आघातों के बाद भी जो कुछ टिकी हुई थी वह इस पतितपावन संस्था की स्थापना होते ही उखड़ गई। हजारों स्पृश्य-अस्पृश्य स्त्री-पुरुष आज चार वर्ष से इस मंदिर में आ-जा रहे हैं। जातिभेद की पोथीजात ऊँच-नीच को न मानते हुए पूरा हिंदू समाज एक हृदय से जहाँ पूजा-अर्चना कर सकता है, ऐसा यह एक हिंदुओं का राष्ट्रीय केंद्र बन गया है। वहाँ बने हुए निवास-गृहों में ब्राह्मण, क्षत्रिय परिवारों के साथ ही पूर्वास्पृश्य परिवार भी समानता से पड़ोसी बने रहते हैं। वहाँ बने हुए मंडप, बाग, कुएँ का उपयोग सब हिंदू समानता से करते हैं। एकमात्र स्वच्छता का ही वहाँ भेद माना जाता है। अमुक व्यक्ति इस जाति में जनमा इसलिए उच्च या नीच, स्पृश्य या अस्पृश्य नहीं माना जाता। रत्नागिरि के हिंदू समाज ने इन नियमों का पालन कर इस संस्था को राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया। किले पर बना सेठजी का भागेश्वर मंदिर भी पूर्वास्पृश्यों के लिए खुला हो गया है।

अखिल हिंदू उपाहार-गृह

दस वर्ष पूर्व रत्नागिरि में उपाहार-गृहों में अस्पृश्यों को चाय आदि वस्तुएँ सड़क पर ही उनके अपने कप या नरोटी में उड़ेलकर दिए जाते थे, जबकि मुसलमानों को बैठाया जाता, कप आदि देकर सम्मानित किया जाता। अस्पृश्यता

निवारण का आंदोलन तेज होते-होते जब रोटीबंदी तोड़ने तक सामाजिक क्रांति का आंदोलन बना तब अखिल हिंदू उपाहार-गृह नामक संस्था स्थापित कर सारे पोथीजात भेदभावों को तिलांजलि दी गई। महार, मराठा, ब्राह्मण, भंगी सारी जातियों के लोग खुल्म-खुल्ला मिल-जुलकर चाय, पानी और खान-पान करते हैं। उपाहार करनेवालों के नाम समाचारपत्र में छापे जाएँगे, ऐसा खुला नियम है। फिर भी सैकड़ों की संख्या में स्पृश्यास्पृश्य वहाँ खान-पान करते हैं और किसी भी जाति ने किसी को भी जाति बहिष्कृत नहीं माना।

जिले भर में प्रचार-मालवण में ही अस्पृश्यता मरी

रत्नागिरि के समाज सुधार आंदोलन के धक्के जिले भर में व्याख्यानों, दौरों, परिषदों, सहभोज का आयोजन कर-करके दिए गए जिससे अस्पृश्यता और रोटीबंदी की जड़ भी हिल गई। इस सबका प्रभाव मालवण पर भी पड़ा। मालवण के प्रगतिशील समाज में हिंदू महासभा के प्रचार के लिए अनुकूल भूमि मिली। अप्पा राव पटवर्धन जैसे कार्यकर्ताओं के सहयोग से तथा समाज के सहयोग से मालवण में भी अस्पृश्यता समाप्त हो गई। तीन-चार बड़े देवालय पूर्वास्पृश्यों के लिए निर्विवाद रूप से खुल गए।

अस्पृश्यता का मृत्युदिवस! स्पर्शबंदी का पुतला जलाकर रोटीबंदी पर हमला

वास्तविक अस्पृश्यता का प्रश्न राष्ट्रीय प्रश्न है, फिर भी रत्नागिरि और मालवण ने अपनी सीमा में इस प्रश्न को समाप्त कर अस्पृश्यों को पूर्वास्पृश्य कर डाला (पूर्वास्पृश्य अर्थात् भूतपूर्व अस्पृश्य)। इन नगरों की सीमा में कदम रखते ही पाँच हजार वर्ष पुरानी जन्मजात अस्पृश्यता की बेड़ियाँ अस्पृश्य बंधुओं के पैरों से टूट जाती हैं। व्यक्ति-व्यक्ति में कितने ही मतभेद हों फिर भी ये दो नगर ऐसे सामुदायिक नाते से अस्पृश्यता के पाप से मुक्त हो चुके हैं और वह भी केवल बुद्धिवाद के बल पर, सामाजिक मनक्रांति के भरोसे। इस सुधार की प्रकट उद्घोषणा दिनांक २२ फरवरी, १९३३ को रत्नागिरि में एक बड़े समारोह में स्पर्शबंदी का पुतला जलाकर की गई। इस समारोह में हजारों ब्राह्मण, भंगी हिंदू बंधु उपस्थित थे। पुतला दहन कार्यक्रम इन सबके सामने और उनकी सहमति से हुआ। वह दिन अस्पृश्यता का मृत्युदिवस माना गया।

इस दिन से स्पर्शबंदी की अगली सीढ़ी रोटीबंदी पर रत्नागिरि ने हमले करने प्रारंभ किए। हजारों स्त्री-पुरुषों ने जाति-पाँति के भेदभाव को छोड़कर

सहभोज की धूम मचा दी। प्रात: दस बजे मैला साफ करने के अपने काम में लगी भंगिन स्नान करके साफ कपड़े पहन बारह बजे सुवासिनी के रूप में पतितपावन मंदिर में भोजन करने आती हैं और नगर की बड़ी-बड़ी प्रतिष्ठित ब्राह्मण आदि सैकड़ों महिलाएँ उसके साथ पंगत में प्रत्यक्षत: अपना नाम समाचारपत्र में देकर सहभोज करती हैं। रोटीबंदी की बेड़ियाँ इस तरह तोड़ फेंकने के कारण गत गणेश उत्सव में ११ सितंबर, १९३५ को रत्नागिरि में रोटीबंदी का पुतला भी जलाया गया।

आज रत्नागिरि में हर हिंदू नागरिक या तो सहभोज में भोजन किया हुआ है नहीं तो सहभोजक के साथ भोजन किया हुआ है। माने सहभोज जाति बहिष्कार के लिए उपयुक्त कारण नहीं माना जाता। इसका अर्थ यह है कि रत्नागिरि ने स्पर्शबंदी की ही नहीं अपितु रोटीबंदी की बेड़ियाँ भी तोड़ डाली हैं। केवल दस वर्षों के अंदर घटित यह सामाजिक क्रांति एक तरह से आश्चर्यकारी एवं गौरवशाली है। यह बात सच परंतु वह 'अकरणान्मंदकरणं श्रेय:' इस नाते से है, यह भूलना नहीं चाहिए।

इन दस वर्षों में विश्व कितना आगे बढ़ा! वह जारशाही का रशिया वायुवेग से लेनिनशाही हो गया और हम गडूले की सहायता से चलने लगे। इतना ही कह सकते हैं कि मृतवत् थे तो चलने लगे। इतना ही विशेष। यह बिना भूले किया, इससे भी हजार गुना कर दिखाएँ तो बात खरी।

□

प्रकरण—१२

महाराष्ट्र भर में सहभोज का धूम-धड़ाका (१९३६)

'किर्लोस्कर' मासिक पत्र के सन् १९३५ के फरवरी अंक में 'जातिभेद तोड़ने के लिए क्या करना चाहिए' शीर्षक लेख छपा था। इसमें हमने यह लिखा था कि जन्मजात कही जानेवाली, पर वास्तविकता में पोथीजन्य जातिभेद का निर्मलन करने के लिए सहभोज एक अचूक साधन है। रोटीबंदी की बेड़ियाँ टूटते ही जातिभेद का डंक भी टूटेगा। जातिभेद तोड़ने के लिए और कुछ नहीं करना है केवल यही करना है और वह है रोटीबंदी की वैसी गत बनाना जैसी आज व्यवसायबंदी की हुई है।

पहले जातिभेद का महत्त्वपूर्ण संकेत व्यवसायबंदी ही था। ब्राह्मण धोबी का, बढ़ई का, लोहार का धंधा नहीं कर सकता था। उसके लिए वह निषिद्ध था। लोहार मछली पकड़ने-बेचने का, बढ़ई पुरोहिती का व्यवसाय नहीं कर सकता था। पर आज क्या है? धंधे का जाति से कुछ भी संबंध नहीं है। जाति का प्रश्न अलग, धंधे का अलग। जो चाहे जैसा धंधा करे उसकी जात नहीं जाती। यह बात इतनी पक्की हो गई है कि आज वही मानो श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त सनातन शास्त्र है। वेदशाला के गुरुजी को भी यदि कहा जाए कि देखिए उस ब्राह्मण ने किराने की दुकान खोली है या उसने भैंस पाली है और वे दूध बेचते हैं और वे तीसरे ब्राह्मण तो विलायती जूते बेचने का काम कर रहे हैं, इसलिए उन्हें ब्राह्मण जाति से बहिष्कृत किया जाए, तो वे वेदशास्त्रसंपन्न गुरुजी भी ताल ठोंककर कहेंगे, क्यों भई, क्यों? दुकान खोलने से ब्राह्मण की जाति नहीं जाती है। भोले हो, धंधा पेट के लिए किया जाता है, जाति का उससे क्या संबंध? धंधा लोहारी का, वैद्य का, डॉक्टरी का, गाड़ी

चालक का, दूध का, किसी का भी करे। जो दरजी जाति में पैदा हुआ वह दरजी ही रहेगा। अपवाद अभी अस्पृश्य धंधे में रह गया है। पर यदि मशीनों की सहायता से उसे किया जाए तो जाति बनी रहती है। मराठा, ब्राह्मण, बनिया जाति न खोते हुए जूतों के कारखानेवाला हो सकता है। चमड़े की बनी वस्तुएँ अब बिना रोक-टोक सैकड़ों ब्राह्मण, मराठा, बनिया दुकानदार बेच रहे हैं। माने हर ब्राह्मण मूल रूप से जो शूद्रों के व्यवसाय थे वही कर रहा है ऐसा नहीं है और भी चाहे जो धंधा ब्राह्मण करे तो भी उसकी जाति नहीं जाती। यह बात पक्की। वही स्थिति सारी जातियों की। धंधा बढ़ई का जाति यादव, धंधा लोहार का जाति कन्हाडे ब्राह्मण, धंधा दूध का जाति दरजी, धंधा दरजी का जाति ठाकुर ऐसी खिचड़ी हो गई है और जातियों के नाम धंधे के लिए केवल कुलनाम रह गए हैं। धंधे से जाति जाती है यह मान्यता अब पूरी तरह मर गई है। व्यवसायबंदी इस अर्थ में कुल मिलाकर टूट गई है।

वैसी ही स्थिति रोटीबंदी की होते ही जातिभेद मृत्यु के दरवाजे जा बैठा, यह मान लो। 'धंधे का जाति से क्या संबंध?' ऐसा जैसे आज पुरोहित भी गुस्से से पूछता है और चाहे जो धंधा करो फिर भी जाति बनी रहती है, ऐसी पक्की मान्यता सबकी हो गई है वैसी ही भोजन करने से जाति नहीं जाती, ऐसी पक्की मान्यता जब सब जगह फैल जाएगी तब रोटीबंदी की बेड़ियाँ टूट गईं यह मानना पड़ेगा। इतना ही नहीं अपितु जातिभेद की भी मृत्यु पास आ गई—ऐसा मानना पड़ेगा। हर ब्राह्मण या मराठा दूसरी जातियों के साथ भोजन करे ही, सहभोजन करे ही ऐसा रोटीबंदी की रूढ़ि तोड़ने का अर्थ नहीं है। यदि कोई ब्राह्मण या मराठा, बनिया किसी भी अन्य जाति के साथ भोजन करता है, सहभोज में सम्मिलित होता है तो उस कारण उसकी जाति जाने का कोई कारण नहीं है ऐसी मान्यता रूढ़ हो जाए तो रोटीबंदी की बेड़ियाँ टूटीं, ऐसा मानना पड़ेगा। आज जैसे पंडा भी पूछता है कि क्यों जी, धंधे का जाति से क्या संबंध? वैसा ही कल वह विस्मय से पूछे कि भोजन करने का जाति से क्या संबंध? सहभोज में किसी ने भोजन किया तो वह व्यक्ति की अपनी रुचि, अभिरुचि का प्रश्न है। जिसको जो उचित लगे वह व्यवसाय वह करे, जहाँ जिसको उचित लगे वहाँ वह खाए? इस कारण जाति कैसे जाएगी? ऐसा आश्चर्य उसे लगने लगे तभी रोटीबंदी की बेड़ियाँ टूटी समझो।

कोई कहेगा 'अरे, ये तो शब्द हैं। व्याख्या ठीक है। पर गत दो-तीन हजार वर्षों की रूढ़ि, शास्त्र, शिष्टाचार ये सारे इतने बलवान् हैं और बचपन से रक्त-मांस में घुसे हुए हैं कि यह रोटीबंदी की इतनी स्पष्ट भावना केवल बातें करते-करते उखड़ेगी कैसे? अत्यंत कठिन है यह!'

इसका उत्तर यह है कि सिर्फ बोलने से यह रोटीबंदी की रूढ़ि नहीं उखड़ेगी

यह बिलकुल सच है, पर करते-करते वह रूढ़ि नामशेष की जा सकती है। बिलकुल गिनकर दस वर्षों में रोटीबंदी की बेड़ियाँ तोड़कर जातिभेद की हड्डी नरम की जा सकती है। यह केवल आशावाद नहीं है अपितु करके दिखाया हुआ प्रयोग है। रत्नागिरि में आज रोटीबंदी जाति-पाँति का जीवित भाग नहीं रहा है, वह प्राय: व्यवसायबंदी जैसी ही पंगु हो गई है।

छह वर्षों में रत्नागिरि ने रोटीबंदी की बेड़ी तोड़ डाली

सन् १९३० के गणेश उत्सव में रत्नागिरि की हिंदू महासभा शाखा की ओर से हमने रोटीबंदी की बेड़ियाँ तोड़ने का आंदोलन करने का संकल्प लिया। तुरंत इस मत का प्रचार करना प्रारंभ किया। परंतु मुख्य रूप से सहभोज आयोजित कर रोटीबंदी को प्रत्यक्षत: तोड़ने के कार्य पर ही संगठन ने जोर दिया। सहभोज की सतत धारा चालू की। संगठन के सैकड़ों स्त्री-पुरुष कार्यकर्ता अपने नाम प्रकाशित कर, बहिष्कार का सामना करते हुए प्रकट रूप से 'जात्युच्छेदनार्थ अखिल हिंदू सहभोजन करिष्ये' ऐसा संकल्प करते हुए लगातार सालों-साल सहभोज कराते रहे। भंगी से भटजी तक कोई भी आज यह नहीं कह सकता कि 'सहभोज में भोजन करने आए व्यक्ति के साथ भोजन नहीं किया। ब्राह्मण, मराठा, महार, भंगी स्त्री-पुरुष हजारों लोग मिल-जुलकर सहभोजन में खाते रहे। इस कारण रत्नागिरि में भोजन से जाति का संबंध रहा ही नहीं। घर-घर का हिंदू सहभोज में भोजन किया हुआ है या सहभोजनकर्ता के साथ भोजन किया हुआ है। किसी भी जाति-संस्था ने अपनी जाति के सहभोजनकर्ता को जाति से बहिष्कृत नहीं किया। रत्नागिरि में वह प्रश्न उठा ही नहीं। धंधे से जाति नहीं जाती वैसे ही भोजन करने से जातियाँ टूटती नहीं, यही आज रत्नागिरि का सामान्य नियम है, व्यवहारशास्त्र है। इसीलिए १९३५ के गणपति उत्सव में हिंदूसभा के दशवार्षिक दिन के निमित्त रोटीबंदी के पुतले को हजारों लोगों के जय-जयकार और बाजे-गाजे के साथ जलाकर राख किया गया।

रत्नागिरि ने पाँच वर्षों में रोटीबंदी तोड़ी, वैसे ही अन्य नगरों में तोड़ना क्यों संभव नहीं? केवल बात करने से, केवल सैद्धांतिक बखान करने से, ऐसा करना चाहिए, वैसा करना चाहिए; यह मैं तुम्हें और तुम मुझे कहते जाओ की बुरी आदत छोड़कर जातिभेद निवारण के लिए जो कुछ करना वह करने लगना चाहिए। हर कोई अपना नाम देकर खुले रूप से और पुण्य कर्तव्य मानकर सहभोज में खुलेपन के साथ सम्मिलित होता रहे। करने से, बढ़ने से, स्वयं कर डालने से सुधार होता ही है। रूढ़ि उतनी टूटती है। अन्य क्रांतियों के लिए जो मार्गदर्शन करता है, वही समर्थ

रामदास स्वामी का 'सूत्र' इस सामाजिक क्रांति के लिए भी मार्गदर्शक है—

'अग्नि को चेताओ रे, चेताने से चेतता है रे।
करने से होता है रे, पहले करना चाहिए रे॥'

इसीलिए हमें आज सहभोज का धूम-धड़ाका शीर्षक लेख लिखने में विशेष आनंद का अनुभव हो रहा है। क्योंकि रोटीबंदी तोड़ने के ये लाभ हैं और वे लाभ हैं, जातिभेद ऐसे तोड़ा जाए और वैसे तोड़ा जाए, सहभोजन कैसे करना, क्यों करना—इस तरह की केवल माथापच्ची से, केवल योजनाओं पर बक-बक करने से यह लेख छिपनेवाला नहीं है। उलटे रोटीबंदी अमुक-अमुक स्थान पर, अमुक-अमुक व्यक्ति द्वारा तोड़कर दिखाई गई, कुछ काम करके दिखा दिया है, यह कहने का प्रसंग इस लेख के साथ जुड़ गया है।

केवल योजना बनाने और फालतू बकवास से हमें अब घृणा हो गई है। एक ही योजना घोटते और वही शास्त्रार्थ करते तीन पीढ़ियाँ हो गईं। न्यायमूर्ति रानडे ने जो योजना बनाई, तिलक ने जिनको बार-बार कहा वही-वही यह पीढ़ी भी बना रही है, कह रही है, लिख रही है—पर उन योजनाओं में से शतांश काम भी नहीं हुआ। हर कोई दूसरा क्या करे यह कहता है। हर दिन मासिक, साप्ताहिक, दैनिकों के गट्ठे-के-गट्ठे, वही-वही शाब्दिक योजना, केवल वही सैद्धांतिक चर्चा, वही यह करना चाहिए का रोना रो रहे हैं, पर तिनके के बराबर काम भी कर दिखानेवाला, यह एक योजना पूरी हो गई कह सकनेवाला, हजार में एक भी नहीं मिलता! ऐसी स्थिति में रोटीबंदी तोड़ने के कार्य में यह देखिए इतने सहभोज कराके इतने लोगों ने रोटीबंदी स्वयं की सीमा में प्रकटतः तोड़ डाली है, उस संबंध में कुछ काम कर दिखाया है, यह कहने का संतोष हमें यह लेख लिखते हुए मिल रहा है। इसलिए इस लेख का हमें विशेष महत्त्व लगता है।

रोटीबंदी क्यों तोड़नी है और कैसे तोड़नी है इस विषय की केवल बकवास करनेवाले पाँच सौ लेखों की तुलना में पूर्वास्पृश्यों सहित मिली-जुली पंगत में भोजन कर प्रत्यक्ष और प्रकटता से तोड़ देनेवाला पाँच आदमियों का सहभोज अधिक महत्त्व का है।

रोटीबंदी को तोड़ना संभव है—यह रत्नागिरि ने स्वयं के कार्य से सिद्ध कर दिखाया है। यह घोषणा करने के लिए जब गत वर्ष (सन् १९३५) के गणेश उत्सव में रोटीबंदी के पुतले को एक महार और एक ब्राह्मण तरुण ने समारोहपूर्वक आग लगाई तब हुए भाषण में ऐसा कहा गया था कि जो आग आपने आज महाराष्ट्र के इस कोने में चेताई है उसकी चिनगारियाँ सारे महाराष्ट्र में उठेंगी और रोटीबंदी को

भस्म कर देंगी। हमारा वह भविष्य एक वर्ष के अंदर इतने वेग से सच सिद्ध हो रहा है कि समाजक्रांति करना चाहनेवाले रत्नागिरि के जात्युच्छेदक संघ को साश्चर्य संतोष हुआ। रत्नागिरि के जाति उच्छेदक आंदोलन की हवा पर्वतों के पार महाराष्ट्र में ले जाने का श्रेय विशेषकर जिन्हें है उनका नाम है श्री अनंतराव गद्रे। रत्नागिरि की सामाजिक क्रांति के होमकुंड से महाराष्ट्र तक पहली चिनगारी वे ही लेकर गए।

हिंदूसभा के दशवार्षिक अधिवेशन में गणेश उत्सव के प्रसंग पर डॉ. मुंजे महोदय सहित महाराष्ट्र के बड़े-बड़े नेता, संपादक, कार्यकर्ता रत्नागिरि में आमंत्रित थे, उनमें ही मुंबई के श्री अनंतराव गद्रे रत्नागिरि में आए थे। उन्होंने पोथीजन्य जातिभेद को समाप्त करने के लिए चलाए जा रहे रत्नागिरि के आंदोलन को स्वयं देखा। हजारों ब्राह्मण, भंगी स्त्री-पुरुषों के सहभोज में वे स्वयं सम्मिलित हुए और यह कार्य महाराष्ट्र भर में फैलाने का यथाशक्ति प्रयास करूँगा—ऐसी प्रतिज्ञा कर उन्होंने उस दिन से अपने 'निर्भीड' साप्ताहिक को इस आंदोलन को ही समर्पित कर दिया। रोटीबंदी तोड़ने के कार्य में लोग ये करें, वो करें ऐसा केवल परउपदेश ही वे नहीं करते रहे, उन्होंने तो स्वयं वह कार्य प्रत्यक्षत: कर दिखाने के लिए एक संस्था भी स्थापित की।

झुणकाभाकर सहभोजन संघ

श्री गद्रे के उर्वरा मस्तिष्क में से निकली झुणकाभाकर सहभोजन की कल्पना आज तक की उनकी अनेक कल्पनाओं की तरह एक चमत्कारी कल्पना ही नहीं रही वरन् दूर तक प्रभाव करनेवाला एक राष्ट्रकार्य बन गई है। नाम बड़े और दर्शन छोटे, ऐसी एक आकर्षक नाम की संस्था पर कार्य की दृष्टि से शून्य ऐसी इस संस्था की स्थिति नहीं है। पहले से ही इस संघ के नाम जैसा काम करने के लिए अनंतराव गद्रे ने श्रम किया। उन्हें श्री अत्रे, श्री खांडेकर जैसे अनेक उत्साही हिंदू संगठक सज्जनों का प्रोत्साहन और सहयोग मिला। इस कारण इस झुणकाभाकर सहभोजन संघ ने इस एक वर्ष में ही इतने बड़े-बड़े सहभोज आयोजित किए हैं कि रोटीबंदी की बेड़ियाँ उनके घन की चोट से अल्पावधि में ही चरमराने लगीं, क्योंकि उस संघ की ओर से आयोजित सहभोज के कारण रोटीबंदी प्रकट रूप से तोड़ देने की एक प्रबल प्रवृत्ति इधर-उधर उठने लगी है। या यह कहें कि वह संघ ही यह प्रवृत्ति है। वह कोई संस्था नहीं है, उसका कोई विधान नहीं है, सदस्यों की सूची नहीं है, संस्था का कोई विशेष नाम भी नहीं है इसलिए झुणकाभाकर सहभोजन संघ प्रवृत्ति है। जो कोई यहाँ या वहाँ किसी भी नाम से या बिना नाम के जाति उच्छेदन हेतु अखिल हिंदू सहभोज में भाग लेता है और नाम प्रकाशित कर रोटीबंदी की

बेड़ी तोड़ता है वह झुणकाभाकर सहभोजन संघ का सदस्य होता है—यही उसका विधान है।

सात वर्ष पूर्व रत्नागिरि में उठा सामाजिक क्रांति का ज्वार आज महाराष्ट्र-व्यापी हो गया है

झुणकाभाकर सहभोजन संघ की तरह ही अब अनेक मंडल, संघ, हिंदूसभा सहभोजनों का विशाल आयोजन कर रहे हैं, हजारों स्वयंसेवक, स्वयंसेविकाएँ प्रकट रूप से रोटीबंदी की बेड़ियाँ तोड़कर जातिभेद को समाप्त करने आगे आ रही हैं इसकी अनुभूति एकाध दूसरे सहभोज का यत्र-तत्र छपा स्फुट समाचार कभी कहीं पढ़कर जितनी होनी चाहिए, नहीं होती। पर उन सारे आयोजनों के संकलित समाचार को सामने रखते ही जो प्रभाव मन पर पड़ता है उससे उस आंदोलन की वास्तविक शक्ति का सही पता चल जाता है, इसलिए गत छह माह में रत्नागिरि द्वारा किए गए आंदोलन का प्रसार महाराष्ट्र में किस तरह होता जा रहा है इसे दरशाने के लिए स्थान-स्थान पर आयोजित सहभोजनों में से कुछ प्रमुख सहभोजनों की एक सूची हम इस लेख में दे रहे हैं। यह सूची संपूर्ण नहीं है, कुछ सहभोजनों का उल्लेख उसमें न हो पाया हो तो उसका बुरा न मानें। जो स्मरण हैं उनमें से भी कुछ कम उदाहरण ही यहाँ स्थानाभाव के कारण देना संभव हो रहा है।

दिसंबर १९३५ से

१. झुणकाभाकर सहभोजन संघ का पुणे में श्री राजभोज के घर आयोजित सहभोज—श्री बापूराव राजभोज चमार नेता हैं। यह सहभोज चमार बस्ती में हुआ। चमार महिलाओं ने रसोई बनाकर पंगत परोसी। उस सहभोज के अध्यक्ष केशवराव जेधे थे। सहभोज में काका साहेब गाडगील, श्री वैशंपायन, श्री अ.ह. ग्रदे आदि प्रमुख लोग और ब्राह्मण, मराठा आदि 'उच्च' जाति के कई लोग थे। उसमें विशेष बात यह थी कि चमारों से हीन मानी जानेवाली जाति के अस्पृश्य बंधुओं के नेता श्री सकट भी राजभोज के साथ पंगत में बैठे थे। नाम छपे थे। सभी तरह से यह सहभोज रोटीबंदी के लिए संपूर्ण नाशकारी था। *(दिसंबर १९३५)*

२. भेलसा, खालिर में सहभोज—हरिजन सेवक संघ के श्री दाते, सुरेंद्रजी मास्टर, मन्नुलालजी, पंडित काशीनाथ आदि अनेक स्पृश्य, अस्पृश्य लोग सम्मिलित थे। रसोई बनाने और परोसनेवाले चमार लोग इकट्ठा थे। नाम छापे गए। *(दिनांक २४.१२.३५; स्वराज्य, खंडवा)*

३. राष्ट्रभाषा स्वर्ण-महोत्सव सहभोज—मुंबई में हुआ। श्री नरिमान जैसे बड़े नेता पंगत में बैठे थे। एक हजार छह सौ से अधिक लोग इकट्ठा थे। उनमें पाँच-छह सौ पूर्वास्पृश्य लोग थे। एक कमी इस आयोजन में रह गई, वह यह कि सारे नाम नहीं छापे गए। नाम न छापने से रूढ़ि तोड़ने का जो मुख्य हेतु है वह पूरा नहीं होता।

४. नाय गाँव (वसई) में शुद्धिकृत कोलियों से आज तक रोटी-व्यवहार बंद था। वह होना चाहिए ऐसा कुछ पुराने कोलियों को लगता था, इसलिए शुद्धिकृतों के साथ यह सहभोज हुआ। इतना ही नहीं, कुछ विवाह भी हुए। जब तक शुद्धिकृतों के साथ रोटीबंदी, बेटीबंदी तोड़कर संव्यवहार नहीं किए जाते तब तक शुद्धिकार्य को शक्ति कैसे मिलेगी? शुद्धि चाहिए तो रोटीबंदी की बेड़ियाँ तोड़नी ही होंगी। पुणे के इस शुद्धि समारोह में मसूरकर महाराज, श्रीमंत शंकराचार्य कुर्तकोटी, पाचले गावकर महाराज आदि की अनुमति से पहले जैसा छोटा व्यवहार किया जाना चाहिए, यह प्रस्ताव पारित हुआ। इन महान् धार्मिक नेताओं को यह सुधार पसंद आया, यह अच्छा हुआ।

५. राजपूताना 'प्रगत हिंदू बंधु' सहभोज—जाति निर्मूलन का संकल्प लेते हुए चार सौ से अधिक स्पृश्य-अस्पृश्यों ने भोजन किया। परंतु उधर के समाचारपत्रों में सारे नाम छपे या नहीं, यह ज्ञात नहीं हुआ।

६. झुणकाभाकर संघ का मुंबई में पहला विशाल सहभोज—टिकट खरीदकर छह सौ से अधिक लोगों ने भोजन किया। रोटीबंदी तोड़ने और जाति निर्मूलन का खुला संकल्प लेकर मुंबई में आयोजित यह पहला सहभोजन था। पहले चंदावरकर आदि बड़े नेताओं के प्रयासों से प्रार्थना समाज ने सहभोज आयोजित किए थे। उस समय उनकी सीमा में जो कुछ करना आवश्यक था वह सब उन अग्रणी नेताओं ने किया यह वास्तव में उनके लिए गौरवास्पद था। यह भी सच है कि उनके द्वारा बोए गए बीज व्यर्थ नहीं गए।

हिंदू संगठन के व्यापक सिद्धांतों पर रत्नागिरि से चलाए गए सहभोजनों के जाति निर्मूलक, निरंतर और संगठित आंदोलन की ओर से आयोजित स्पृश्य-अस्पृश्यों का इतना बड़ा सहभोज मुंबई में पहला ही था। प्रो. गाजेंद्र गडकर, डॉ. वेलकर आदि अनेक नेता और ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, महार, चमार आदि सब जातियों के स्त्री-पुरुष मिल-जुलकर पंगत में बैठे थे। 'निर्भीड' ने सारे नाम प्रकाशित किए थे। यह सहभोज सब दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।

७. इंदौर के साहित्य सम्मेलन में सहभोज—वहाँ एकत्रित महानुभावों में उस

मराठी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष श्रीमंत पंतप्रतिनिधि औंधकर भी थे। सदस्यों आदि की रसोई जिस पाकशाला में तैयार की जाती थी उसमें 'शारदाराजे होलकर छात्रावास' की पूर्वास्पृश्य कन्याओं ने अन्य स्वयंसेविकाओं के साथ मिल-जुलकर रसोई बनाई, परोसी, चाय-पान किया। साहित्यिकों ने जातिभेद न मानते हुए मिल-जुलकर सहभोजन किया। रसोई व्यवस्था में जिन कन्याओं ने कार्य किया उनके नाम थे— मंजुला, चंद्रभागा, लक्ष्मी, सौ. नगिनाराजा। परंतु इस सहभोज में एक कमी रह ही गई और वह यह कि सहभोजन में सम्मिलित लोगों के नाम प्रकाशित नहीं हुए। वे नाम गुप्त रहने से स्पृश्य-अस्पृश्यों के साथ जमकर पंच-पकवानों पर हाथ मारनेवाले 'सवर्ण मध्यमी' अनेक साहित्यिक पुणे, मुंबई में अपने-अपने घर आते ही उलटी बातें करने लगे थे—"नाम प्रकाशित कर सहभोजन करना गलत है।" यह बात वे सवर्ण मध्यमी साहित्यिक जोर-शोर से कहने लगे हैं। इन डाकुओं का यह मिथ्याचार प्रकट करना आवश्यक है, इसलिए वे किसी सहभोज में भाग लें तो उनके नाम प्रकाशित कर देने चाहिए। *(दिसंबर १९३५)*

८. पुणे की हिंदू महासभा की स्वागत समिति द्वारा आयोजित सहभोज—इसमें अलग-अलग प्रदेशों के सैकड़ों बड़े-बड़े स्पृश्य, अस्पृश्य लोग, मिले-जुले पंगत में बैठे, पर कमी जो रही वह यही कि उनके नाम प्रकाशित नहीं किए गए। फिर भी 'निर्भीड' पत्र ने कुछ नाम प्रकाशित किए जिनमें तात्याराव केलकर, श्री शिखरे आदि प्रमुख थे। यदि सारे नाम प्रकाशित किए जाते तो सवर्ण मध्यमी टोली को सहभोजक संप्रदाय की छावनी में लाना सरल हो जाता। पर ऐसा न होने से उस सहभोज में ताव मारकर आए अनेक लोग सहभोज को एक अतिवादी आंदोलन कहकर स्वयं बच निकलने के लिए खुले रह गए हैं।

९. भावसार मंडली का शहाबाद में आयोजित सहभोज—भावसार मंडली के श्री हंचाटे की कन्या के विवाह पर शहाबाद के श्री सुलाखे महोदय ने पूर्वास्पृश्य लोगों को भोजन के लिए बुलाया। सब लोगों की सहमति से मुख्य पंगत के सामने ही पूर्वास्पृश्यों की भी पंगत बैठाई गई। दावणगिरी के नरसिंह राव आंबेकर, शहाबाद के हंचाटे, श्री सुलाखे आदि व्यक्तियों ने उस सहभोज में भाग लिया। अन्य बारातियों ने भी उस सहभोज को जाति-बहिष्कृत नहीं माना। भावसार मंडली की यह प्रगति उल्लेखनीय है।

(भावसार क्षत्रिय, दिनांक १५.२.१९३६)

१०. चिंचोली (जिला पुणे) का सहभोज—इस सहभोज की विशेषता यह थी कि इसमें निमगाँव, देहू, भोसूरी, केंपूर, जांभूल आदि बीस-एक गाँव की पूर्वास्पृश्य जनता आई थी। महार, मांग, चमार आदि अस्पृश्यों की रोटीबंद जातियों ने भी रोटीबंदी तोड़ी। पाँच सौ से अधिक पत्तलें उठीं। (दिनांक १.३.१९३६) इस सहभोज में केवल उन्नीस-बीस रुपए खर्च आया। क्योंकि श्री गायकवाड बाजरा लाए और उसे घरों में बाँट दिया। हर परिवार ने उसे घर में पीसकर, भाकरी (रोटी) बनाकर उनके ढेर भोजन स्थान पर पहुँचाए। इससे किसी को विशेष कष्ट भी नहीं हुआ और खर्च भी कम आया। यह करने लायक युक्ति थी ही।

११. कराची में मित्रमंडल का सहभोज—यह सहभोज रायबहादुर मजुमदार की ओर से आयोजित था। तीन सौ लोगों ने भोजन किया। स्पृश्यास्पृश्य मिली-जुली पंगत में बैठे। प्रो. जुन्नरकर, डॉ. तांबे, बाबूराव गद्रे, आणावकर, 'सिंध मराठा' के संपादक डॉ. मजुमदार, रायबहादुर ज.वा. मजुमदार, वाइसराय कैंप की उड़ान प्रतियोगिता में दूसरा क्रमांक पानेवाले प्रसिद्ध वैमानिक गाडगील आदि बड़े-बड़े लोग उसमें थे। नाम छापे गए। यह एक महत्त्वपूर्ण सहभोज था। (२५.२.१९३६)

१२. मुंबई के झुणकाभाकर केंद्र का दूसरा विशाल सहभोज—अनंतराव गद्रे, श्रीमती वागले, कोल्हापुर के 'सत्यवादी' पत्र के पाटील आदि ने इसके लिए कष्ट किया। टिकट लगाकर आयोजित किया जानेवाला यह मुंबई का दूसरा सहभोज पहले से अधिक विशाल था। एक हजार पत्तलें उठीं। महार, मांग, ब्राह्मण, मराठा, चमार, वाणी, भंगी, प्रभु, भंडारी आदि अनेक जातियों के स्त्री-पुरुषों ने मिली-जुली पंगत में भोजन किया। भोजन के समय लोगों ने संकल्प लिया—'जन्मजात जात्युच्छेदनार्थ अखिल हिंदू सहभोजनं करिष्ये'। सैकड़ों नाम थे, कॉलम-के-कॉलम छापे गए। प्रोफेसर, वकील, डॉक्टर, संपादक आदि सुशिक्षित नेताओं की ऐसी भीड़ उमड़ी कि किसका नाम विशेष रूप से यहाँ लिखा जाए यही हमें समझ में नहीं आ रहा।

१३. सांताक्रुज (मुंबई) के हिंदू संघ का सहभोज—अध्यक्ष डॉ. उदगाँवकर हिंदू संगठन के प्रसिद्ध नेता थे। श्री वर्दे, मानकर, श्रीनानाराव चापेकर, श्रीमती वागले, इंदिराबाई शिर्के, नाझीबाई सावंत, लक्ष्मीबाई साने, श्री काले, मोहिते माने आदि लिंगायत, मराठा, ब्राह्मण, महार, चमार, प्रभु, भंगी, वैश्य आदि जातियों के लोग मिले-जुले थे। तीन बड़ी पंगतें हुईं। सारे नाम छापे गए। (१५.३.१९३६)

१४. इंदूर का चटनी-रोटी सहभोज—पूर्वास्पृश्य महिलाएँ रसोई में भी थीं। जात्युच्छेदक संकल्प बड़े जोर से कहकर पंगत बैठी। रायबहादुर भांडारकर, प्रो. पाटील, सौ. भांडारकर, कर्णिक आदि मान्यवर लोग उपस्थित थे। नाम प्रकाशित हुए। (२४.३.१९३६)

१५. सांगली मांग बस्ती सहभोज—मांग जाति अछूत मानी जाती है। मांग लोगों ने ही रसोई बनाई। महार आदि अस्पृश्यों ने रोटीबंदी को पैरों के नीचे कुचलकर सहभोजन किया। नाम छापे गए। (२४.३.१९३६)

१६. पुणे लश्कर पूर्वास्पृश्य सहभोज—महारों के विवाह समारोह में महार, मांग, मोची इकट्ठे पंगत में बैठे। (१७.३.१९३६)

१७. पुणे का विशाल झुणकाभाकर संघ सहभोज—पुणे के इस बहुत सफल सहभोज ने तो सहभोज में उच्चांक ही प्राप्त किए। एक हजार लोगों ने भोजन किया। प्रो. अण्णाराव कर्वे, प्रिंसिपल आठवले, सर गोविंदराव माडगाँवकर, रा.ब. सहस्रबुद्धे, बालगंधर्व आदि सभी जातियों के मान्यवर नेता, छात्र, महिला, सैकड़ों स्पृश्य-अस्पृश्य लोगों की पंगत के बाद पंगत उठती रही। ज्ञानप्रकाश, निर्भीड आदि पत्रों ने सारे नाम प्रकाशित किए। कोल्हापुर के 'सत्यवादी' के संपादक पाटील, 'निर्भीड' के गद्रे भी थे। प्रि.प्र.के., अचे, खांडेकर साहित्यकार एवं काकाराव लिमये आदि लोगों ने पूरी निष्ठा, श्रम व लगन से अभी तक के सहभोजनों (सम्मेलनों) में उच्चांक प्राप्त करनेवाला यह सहभोज आयोजित किया। (२२.३.१९३६)

१८. अमरावती का झुणकाभाकर सहभोज—संगठन के नेता सेठ पन्नालाल सिंघई, वर्हाड देशपांडे, कुर्हाडे इन सबने श्रम किया। रोटीबंदी तोड़ने के लिए स्पृश्य-अस्पृश्यों के चार सौ से अधिक लोग मिली-जुली पंगत में बैठे। रसोई बनाने और परोसने का काम भी स्पृश्य-अस्पृश्य लोगों ने मिल-जुलकर किया। (७.४.१९३६)

१९. कोल्हापुर के दो झुणकाभाकर सहभोज—'सत्यवादी' के संपादक पाटील ने बड़े परिश्रम से अल्प समय में कोल्हापुर में दो बड़े-बड़े सहभोज जाति तोड़ने का संकल्प लेकर आयोजित कराए। महार बस्ती में एक और विशाल सहभोज हुआ। पाँच सौ से अधिक स्त्री-पुरुषों ने इसमें भाग लिया। मुंबई के गद्रे, 'प्रभात' के संपादक विजयकर, डॉ. कांबले, सत्तूर, लालनाथजी आदि बहुत से ब्राह्मण-अब्राह्मण लोगों ने हिस्सा लिया। स्थान के अभाव में यहाँ प्रमुख नाम भी देना कठिन है। (१०.४.१९३६)

२०. कर्हाड में झुणकाभाकर संघ का सहभोज—जाति तोड़ने का संकल्प लेकर

अनेक स्पृश्य-अस्पृश्य लोगों ने सहभोज में हिस्सा लिया। श्री सत्तूर, श्री खानोलकर, श्री गद्रे, सब कर्हाड में इकट्ठे हुए थे। पवार का तो यह सम्मेलन ही था। उन्होंने बहुत कष्ट उठाया। *(अप्रैल)*

२१. कल्याण में झुणकाभाकर संघ का सहभोज—पेठे बंधुओं ने श्रम की अगुवाई की। एडवोकेट, डॉ. खंडेराव मुले, भाई राव गडबोले, अ.ह. गद्रे, डॉ. फड़के, भिवंडी के भागवत, उकिडवे, डॉ. सबनीस, करंदीकर, भोसेकर, श्री म. वर्दे, डॉ. भालेराव, जगताप, डेविड (ईसाई), गांगल बी.एस.सी., डॉ. कुलकर्णी आदि सौ आदमी स्पृश्य-अस्पृश्य मिली-जुली पंगत में थे। टिकट थे। नाम प्रकाशित हुए। *(२५.४.१९३६)*

२२. सावंतवाडी का सहभोज—हरिजन सेवक संघ रत्नागिरि की अगुवाई में एक बड़ा सहभोज सावंतवाडी में हुआ। सावंतवाडी के प्रशासक महोदय स्वयं सौ सवा सौ महार-चमार आदि पूर्व-अस्पृश्यों सहित मिली-जुली पंगत में बैठे थे। अनेक ब्राह्मण, मराठा, बनिया आदि लोगों ने उसमें हिस्सा लिया। रोटीबंदी तोड़ने का खुला संकल्प लिया। नाम प्रकाशित हुए।

उपर्युक्त मुख्य-मुख्य सहभोजों से रोटीबंदी तोड़ डालने का सक्रिय आंदोलन गत छह माह में कितने वेग से पूरे महाराष्ट्र में फैला, यह निर्विवाद रूप से ज्ञात हो जाता है। फिर भी इन सहभोजों में गत छह माह में रत्नागिरि में आयोजित सहभोजों की गिनती हमने नहीं की है। गंधर्व नाटक मंडली के श्री बापूराव राजहंस द्वारा आयोजित सहभोज, सम्मेलनों में हुए सहभोज, विवाहों में हुए सहभोज, रत्नागिरि में हर पखवाड़े में एक-न-एक सहभोज नाम प्रकाशित कर जन्मजात जातिभेद उन्मूलनार्थ होते ही रहे हैं। पर स्थान के अभाव में उसकी जानकारी यहाँ नहीं दी जा रही है। पर यह केवल प्रारंभ है। इससे सौ गुने बलवान् अर्थात् धुआँधार सहभोज होते रहने चाहिए। और पाँच वर्षों तक वही-वही सहभोज उसी-उसी स्थान पर बार-बार होने चाहिए तथा यह संप्रदाय फैलते हुए हर गाँव तक पहुँचना चाहिए। गाँव में सहभोज एक सहज घटना होनी चाहिए।

विद्यालय, महाविद्यालय, सम्मेलन के सहभोजकों के नाम प्रकाशित हों

इस कार्य में अब छात्र सहज रूप से महत्त्वपूर्ण सहयोग कर सकते हैं। विद्यालयों में हर नगर में छात्रों के सम्मेलन प्रतिवर्ष होते रहते हैं। उनमें अधिकतर छात्र सहभोज में पंगत में मिले-जुले ही बैठते हैं। पर नाम प्रकाशित न होने से वही छात्र अपने गाँव जाते ही छुआछूत मानने लगते हैं। सहभोज में खुले नहीं बैठते हैं

और स्कूल-कॉलेज छोड़कर व्यवसाय करने लगने पर कोई सनातनी नेता, वकील, डॉक्टर और संपादक बनकर प्रतिष्ठा पाते हैं। सहभोज अतिवादी कार्य है ऐसा भी वे कहते हैं। इन मिथ्याचारी लोगों को ऐसा दोहरा व्यवहार नहीं करने देना चाहिए। इसलिए विद्यालय, महाविद्यालयों के हर सम्मेलन में जो भी छात्र सहभोज में सम्मिलित हों उनका नाम प्रकाशित कर देना चाहिए।

सम्मेलन में होनेवाले व्याख्यान, नाटक, पुरस्कार आदि सारी जानकारी समाचारपत्र में सम्मेलन के आयोजक जैसे छपवाते हैं वैसे ही खुली पंगत में कौन-कौन बैठा था, उनके नाम छापने का अधिकार समाचारपत्रों को है। ये सम्मेलन घर में किए जानेवाले गृह-संस्कार जैसे नहीं होते, ये तो लोक कार्यक्रम होते हैं। अतः जाति निर्मूलन के अभिमानी सैकड़ों सहभोजक छात्र भविष्य में अपने नाम प्रकाशित करने 'निर्भीड' पत्र को या दूसरे समाचारपत्रों को भेजा करें। ऐसे नाम जब छपते जाएँगे तब विद्यालय-महाविद्यालय में आयोजित होनेवाले ये सम्मेलन रोटीबंदी तोड़नेवाले बिना व्यय के झुणकाभाकर सहभोजन संघ ही बनते जाएँगे, पर नाम प्रकाशित होने चाहिए। अतः आगामी हर सम्मेलन में छात्र सहभोज का आयोजन करें और सहभोजी छात्रों के नाम प्रकाशित कराएँ तथा इस सामाजिक क्रांति में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देने का अवसर नहीं खोएँ।

□

प्रकरण—१३

जातिभेदोच्छेदक संस्था की जातिसंघ संबंधी नीति क्या हो?

वर्तमान में हिंदुस्थान में जो जन्मजात जातिभेद माना जाता है उसे नष्ट किए बिना हिंदू राष्ट्र की सामुदायिक एकता, पराक्रम एवं प्रगति-क्षमता बढ़ना अब संभव नहीं है, यह बात जिन्हें अच्छी तरह जँच गई है और उस जातिभेद को निर्मूल करने जो व्यक्तिगत या संगठन बनाकर सक्रिय प्रयास कर रहे हैं उनके सामने यह प्रश्न हमेशा उपस्थित होता है कि आज की जन्मजात जातिभेद की संस्थाएँ यदि जड़मूल से समाप्त की गईं तो उस समाप्ति के प्रयास के रास्ते में इस जातिसंघ रूपी प्रचंड बाधा को हटाने की सरल-से-सरल व्यावहारिक और कम-से-कम हानिकारक कौन सी नीति स्वीकार करना ठीक है? जाति निर्मूलक संस्था क्या इस जातिसंघ से कोई संबंध रखे ही नहीं या रखे तो कैसा रखे? जाति-संस्था के कुछ उपयोग हैं क्या? और हों तो उससे होनेवाली अत्यंत घातक हानि टालकर उसका जो तात्कालिक उपयोग है क्या उतना ही प्राप्त किया जा सकता है? वर्तमान के जातिसंघ को चुटकी बजाते ही समाप्त करना संभव है क्या? और यदि नहीं तो जब तक वह समाप्त नहीं होता तब तक के दीर्घ संक्रमण काल में उस जातिसंघ के उपद्रवी पहाड़ों को कहाँ चक्कर लगाकर, कहाँ बगल देकर, कहाँ लग्गा लगे तो उसके बीच से ही सुरंग खोदकर अर्थात् न्यूनतम प्रतिकार की नीति से अपने जाति निर्मूलन आंदोलन का रास्ता किस तरह खोला जा सकता है?

जाति निर्मूलक संस्था की जातिसंघ के संबंध में नीति क्या हो?

हिंदू संगठन के इस अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न के संबंध में एक सुनिश्चित कार्यक्रम हमारी जाति निर्मूलक संस्था के सामने रहना अत्यंत आवश्यक है। इसीलिए

उस संबंध में अपना अभिप्राय हम इस लेख में विस्तार से एक बार स्पष्ट करना चाहते हैं।

हमारी जाति हिंदू, अन्य कोई भी उपजाति हम नहीं मानते या हम किसी भी जातिसंघ के सदस्य नहीं हैं

इस लेख के प्रारंभ में ही इस विषय के तथा हमारे संबंध में किसी तरह का भ्रम उत्पन्न न हो, इसलिए यह स्पष्टता से कहना आवश्यक है कि हम स्वयं हिंदू जाति को ही अपनी अनन्य जाति मानते हैं। स्पृश्य या ब्राह्मण या चित्तपावन आदि कोई भी उपजाति हम नहीं मानते या वैसे किसी भी जातिसंघ की सदस्यता हमने नहीं ली है। रत्नागिरि के चित्तपावन संघ की सदस्यता हमने ग्रहण की है ऐसी हवा गत दो-तीन सालों से जो महाराष्ट्र में फैलाई गई है वह पूर्णतः निराधार है। 'राष्ट्रवीर' आदि कुछ पत्रों ने जब ऐसे लेख और उनपर टीका छापी कि एक तरफ जाति उन्मूलन का समर्थन करते हुए दूसरी ओर हमने चित्तपावन संघ की सदस्यता स्वीकार करने का कपटपूर्ण व्यवहार किया है तभी हमने उसका प्रतिवाद किया था; पर उधर कुछ लोगों ने अपनी सुविधा के लिए उसपर ध्यान न देने का कपटपूर्ण व्यवहार अभी भी चालू रखा हुआ है। उसे पढ़कर हमारे कुछ अपने सहयोगियों की दृष्टि में उसका प्रतिवाद न आने से वे भी भ्रमित हो रहे हैं और उन्होंने 'निर्भीड' आदि समाचारपत्रों में बीच-बीच में हमारे व्यवहार की विसंगति के विषय में शंकाकुल परंतु सदिच्छायुक्त लेख छपवाए हैं।

परंतु हमारे विरोधियों की टीका और सहयोगियों का भ्रम मूलतः ही निराधार है, यह हम इस लेख में प्रारंभ में ही फिर से खुले रूप से कह रहे हैं।

मैं चित्तपावन संघ के दो अधिवेशनों में उनके निमंत्रण पर उपस्थित था और उनके आग्रह पर व्याख्यान भी दिए थे, परंतु हम केवल हिंदू जाति को मानते हैं और आज जिसे जन्मजात कहा जाता है परंतु जो केवल पोथीजन्य है और हिंदू संगठन के लिए हर तरह से घातक है ऐसा जातिभेद मैं मानता नहीं, यह साफ-साफ मैंने कहा था।

मैं एक बार मुंबई प्रांतिक महार जाति परिषद् का अध्यक्ष था। मालवण के रत्नागिरि अस्पृश्य परिषद् का भी अध्यक्ष था। रत्नागिरि में आयोजित महार जिला परिषद् का भी अध्यक्ष था। संगमेश्वर वैश्य परिषद् ने मुझे बुलाया था इसलिए वहाँ गया था। कुछ समय पूर्व स्थापित मराठा शिक्षा परिषद् के अनेक संचालकों से हमने चर्चा की। परंतु इससे जैसे हम महार, चमार, बनिया या मराठा जाति के नहीं हो जाते या उन जातियों को मानता हूँ ऐसा नहीं होता उसी प्रकार उस

चित्तपावन संघ में बुलाने पर गया, उनसे विचार-विनिमय किया, इसलिए चित्तपावन जाति को हम मानते हैं या जाति उन्मूलन के काम में वह जाति अपवाद होने से उसे वैसे ही रोटीबंद, बेटीबंद रहने दी जाए ऐसा समझते हैं—ऐसा निर्णय करना एकदम भूल होगी।

उसमें भी रत्नागिरि के चित्तपावन संघ ने प्रगतिप्रियता और राष्ट्रीय वृत्ति का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है वह बहुत अनुकरणीय है। अपने उस उदाहरण से वह संघ विघटन की आपत्तियों से काफी कुछ मुक्त हो गया है। हमारी ओर से ही उनको यह आग्रह किया गया था कि वे अपने विधान में निम्न सिद्धांत जोड़ लें। वह सिद्धांत ऐसा है कि रत्नागिरि चित्तपावन संघ के कार्यक्रमों में ..."None of the activities of this society shall have any connection with any movement for the creation and furtherence of disparity based on birth alone."

माने केवल जन्म-आधारित किसी तरह की मानी जानेवाली ऊँच-नीच की भावना को यह समिति मान्यता नहीं देगी तथा जाति अंतर्गत केवल मानी हुई जन्मजात श्रेष्ठता कनिष्ठता को बढ़ावा देनेवाले किसी भी आंदोलन से संबंध नहीं रखेगी।

किसी जाति या किसी व्यक्ति के प्रत्यक्ष गुणों से जो भी योग्यता निश्चित होगी, उसी के अनुसार उसके साथ व्यवहार किया जाएगा और इसी सूत्र के अनुसार चित्तपावन लोगों की उनके प्रकट गुणों के अनुसार जो पात्रता होगी वही उनकी पात्रता और उसी मान से अन्य किसी भी जाति के उतने ही योग्य व्यक्ति को जो अधिकार मिलेंगे उतने ही उसे मिलेंगे। चित्तपावन कुल के या ब्राह्मण जाति के मानकर उसकी जन्मजात श्रेष्ठता मानी जाए या जन्मजात विशिष्टाधिकार उसे मिलें, ऐसा केवल बाप के नाम पर प्राप्त हो ऐसी भिक्षा न माँगें, 'दैवायत्ते कुले जन्म मदायत्तम तु पौरुषम्' वे ऐसी स्वाभिमानी महत्त्वाकांक्षा रखें और वैसी गुणाधिष्ठित योग्यता संपादन करने का सांघिक प्रयास करने के लिए जातिसंघों की स्थापना करना है तो करें जिससे वे हिंदू संगठन की राष्ट्रीय दृष्टि से कम-से-कम आपत्तिजनक साबित हों। ऐसा ही आग्रह हमने अपने भाषण में उस संघ से किया था और उस समिति ने भी अपने विधान के ज्ञापन-पत्र में उपर्युक्त आशय की प्रतिज्ञा कर डाली।

आज हिंदुस्थान में जो हजारों जातिसंघ हैं वे सभी यदि यही नीति अपना लें तो अखिल हिंदू संगठन के काम में जितनी हानि आज हो रही है उतनी नहीं होगी। वह कैसे होगा यह हम इसी लेख में आगे स्पष्ट करेंगे।

जातिभेद के विषैले साँप का विषदंत कौन सा है?

जातिभेद को नष्ट करने के लिए क्या-क्या करना चाहिए, इस विषय का विस्तृत विचार हमने आज तक कुछ लेखों में किया। उनमें से जो बिंदु ध्यान में रखे जाने चाहिए वे संक्षेप में निम्न हैं—

१. आज के जातिभेद का अतिविघातक मूल बिंदु यह है कि किसी व्यक्ति की श्रेष्ठता-नीचता उसके गुणों के आधार पर निश्चित नहीं की जाती। व्यक्ति की श्रेष्ठता-नीचता वह व्यक्ति किस जाति में उत्पन्न हुआ, इस आधार पर ठहराई जाती है। उसकी जाति पोथीजनित सूत्र के किस स्थान पर हजार वर्ष पूर्व लिखी गई उसी आधार पर ही निश्चित की जाती है। मनुष्य के गुणों का विचार न कर केवल जन्म से ही उसकी श्रेष्ठता-नीचता निश्चित की जाती है और इस माने पोथीजन्य ऊँच-नीच के आधार पर मनुष्य को जन्मत: कुछ अधिकार या न्यूनताएँ प्राप्त हो जाती हैं इसका विचार नहीं किया जाता। उसके स्वयं के गुण के आधार पर उसकी पात्रता क्या है या हो सकती है, इसका बिलकुल विचार न कर वह जिस जाति में जनमा, उस आधार पर वह अधिकार भोग सकता है। जाति-जाति में जो बैर और फूट उत्पन्न होती है उस सबका मूल इसी में है। प्रत्यक्ष पात्र की पात्रता का विचार न करते हुए मानी हुई जन्मजात ऊँच-नीच के अनुसार प्रदत्त विशिष्टाधिकार में ही वह निहित माना जाता है। जातिभेद नामक प्राणघातक साँप का मुख्य विषैला दाँत यही है।

२. हिंदू संगठन के लिए हानिकर सारी रूढ़ियाँ एवं बैर मानी हुई जन्मजात ऊँच-नीच पर किस तरह अवलंबित हैं, इसको जानने के लिए दस-पाँच उदाहरण देखें—

   क. व्यवसायबंदी—जो उच्च कुल में जनमा उसकी पात्रता-अपात्रता का विचार न कर उसे उच्च व्यवसाय करने का तथा पोथीजनित नीच कुल में जिसने जन्म लिया उसे नीच धंधे का अधिकार सुरक्षित करती है। पुरोहित का लड़का मूर्ख हो तो भी पुरोहित, क्षत्रिय का लड़का चोर, डरपोक हो तो भी सैनिक, भंगी का लड़का बुद्धिमान् हो तो भी भंगी, महार से भी नीच! आज व्यवसायबंदी टूटी है, फिर भी पुरोहित और भंगियों के काम उस पोथीजनित ऊँच-नीच पर जन्म से ही बँटे हुए हैं।

ख. **स्पर्शबंदी**—किसी की जाति महार है माने वह अस्पृश्य है, फिर वह राजभोज, काजरोलकर या अंबेडकर ही क्यों न हो। और ब्राह्मण या बनिया के घर जनमा इसलिए पुरोहित, शेठजी, स्पृश्य फिर वह स्वयं क्षयपीड़ित, पापी, दिवालिया, दुरात्मा ही क्यों न हो।

ग. **वेदबंदी**—शिवाजी शूद्र कुल में जनमे और तुकाराम बनिया थे, इसलिए वेद-पठन का अधिकार उन्हें नहीं। अरविंद, श्रद्धानंद, विवेकानंद अब्राह्मण थे, इसलिए संन्यास और वेद-पठन के लिए अनधिकारी और निरक्षर, वेदविक्रेता या रसोइया हो तो भी ब्राह्मण कुल का है, इसलिए उपनिषद् का अधिकारी। संन्यासी के वस्त्र उसकी पैतृक संपदा।

घ. **रोटीबंदी**—गंदा ब्राह्मण हो, देशद्रोही बालाजी नातू या सूर्याजी पिसाल हो तो भी उसके साथ भोजन करने से अन्य ब्राह्मणों की या क्षत्रिय की जाति नहीं बिगड़ती। वह पंगत का अधिकारी है, पर एकदम स्वच्छ, शाकाहारी, देवभक्त आदि-आदि हो पर, भंगी हो तो उसके साथ भोजन करते ही जाति नष्ट होती है; ब्राह्मण का, मराठा का धर्म डूबता है। गांधी के साथ भोजन करना ब्राह्मण के लिए, मराठा के लिए निषेध, पर किसी ब्राह्मण के गंदे भोजनालय में भोजन करने से जाति नहीं बिगड़ती। मृतमांसभक्षी महार यदि भजनानंदी शाकाहारी, साधु भंगी के घर खाए तो जाति भ्रष्ट, क्योंकि भंगी महार से नीच जाति का—यह मान्यता है।

जहाँ रोटीबंदी की यह स्थिति है वहाँ बेटीबंदी की तो बात ही करना असंभव है। लूले-पंगु पापी ब्राह्मण से विवाह करे तो ब्राह्मण वधू पतित नहीं होती, परंतु यदि वह विद्वान्, सभ्य कायस्थ से विवाह करे तो पतित हो जाए। शराबी, कंगाल मराठा से विवाह करे तो मराठा स्त्री पतित नहीं, पर यदि वह शाकाहारी, लोकसेवक, पढ़े-लिखे चमार से विवाह करे तो वह नीच, उसका मुँह भी न देखें। वास्तव में संकर तो वह जिससे संतति उत्तरोत्तर उत्कर्ष न कर सके ऐसा विवाह। यही सुजनन विज्ञान का नियम है, पर इस नियम का किसी को पता नहीं। जातिभेद में मान्य संकर माने उच्च जाति का नीच जाति से विवाह। फिर उस वधू-वर में से कोई रोगी हो या उनकी संतति चाहे प्रकटतः अधोगति की ओर जानेवाली हो।

महारों की बात लें। उनकी कन्या से कोई पाँच पीढ़ी से

निरोगी, पढ़ा-लिखा, सुंदर, पैसेवाला काठियावाड़ का भंगी विवाह करने को आगे आए तो भी उसका बाप अपनी लड़की उसे नहीं देगा और किसी काले, गंदे, बीमार; मूर्ख, निर्धन, पर महार लड़के से उसका विवाह कर देगा। जबकि ऐसे वर से विवाह का अर्थ निकृष्ट संतान को जन्म देना है अर्थात् वास्तव में संकर करना है। पर ऐसा सोच है कहाँ? ब्राह्मण मराठा की तरह ही वह लड़का महार जाति में जनमा, इसीलिए भंगी लड़के से उच्च माना जाएगा। महार भी अपनी जाति को भंगी से ऊँचा ही मानेगा।

त्रावणकोर राज्य में मंदिर अस्पृश्यों के लिए खोल दिए गए हैं पर केवल एझुवा अस्पृश्यों के लिए। पालुवा और परिया जाति के अस्पृश्यों को उसमें प्रवेश अभी भी मना है। परिया में कुछ लोग एझुवा जितने ही सुधरे हुए हैं, परंतु उन्हें मंदिर में प्रवेश देने में एझुवा अस्पृश्यों का ही विरोध है। एझुवा स्वयं में एक अस्पृश्य जाति है और उन्हें यह लगता होगा कि स्पृश्य उनपर अत्याचार, अन्याय कर रहे हैं फिर भी वही एझुवा जब पालुवा और परिया को अस्पृश्य मानते हैं तब उन्हें वह किसी पर उनके द्वारा होनेवाला अन्याय नहीं लगता वरन् सनातन धर्म ही लगता है। पालुवा जिस मंदिर में प्रवेश करेंगे वह मंदिर अशुद्ध हो जाएगा—ऐसा वे 'एझुवा' समझते हैं। क्योंकि कोई परिया चाहे किसी एझुवा जितना ही सुधरा हुआ हो, पर उसका जन्म तो नीच जाति में हुआ है। स्पृश्यों की पोथी में एझुवा जन्मतः नीच और एझुवा की पोथी में परिया जन्मतः नीच।

यद्यपि अपने राज्य के सारे राजमंदिर एझुवा अस्पृश्यों को खुले करके त्रावणकोर के महाराजा और उनके कारभारी श्री आयर ने बहुत ही अभिनंदनीय सुधार किया है फिर भी रत्नागिरि के पतितपावन मंदिर की तरह केवल महार ही नहीं, भंगी तक संपूर्ण हिंदुओं को समानता से मंदिर-प्रवेश देकर जातिभेद की टाँगें पूरी तरह से तोड़ दी गई हैं ऐसा त्रावणकोर में अभी तक नहीं हुआ है यह भुलाया नहीं जा सकता। दूसरी भी एक विषमता त्रावणकोर मंदिर में है और वह है वेदोक्त पूजा। रत्नागिरि के पतितपावन मंदिर में पूर्वास्पृश्य मूर्ति की भी और वेदोक्त पूजा भी कर सकता है। वह अधिकार एझुवाओं को भी अभी तक नहीं मिला है। तीसरी बात यह भी ध्यान में रखने की है कि त्रावणकोर के पूरे राज्य में लागू कर दिखाने का कार्य जब तक कारभारी

पद पर मुसलमान व्यक्ति पदासीन था तब तक नहीं किया जा सका। अंत में यह सुधार लागू करने का दायित्व श्री आयर जैसे एक ब्राह्मण कारभारी ने ही पूरा किया। उच्च वर्गीय स्पृश्य-अस्पृश्यता निवारण के लिए कभी भी अनुकूल नहीं होनेवाले ऐसी वाहियात बातें करनेवाले हिंदूद्वेषी यह बात विशेष रूप से ध्यान में लाएँ कि एक क्षत्रिय महाराजा और एक ब्राह्मण प्रधान अस्पृश्यों को सैकड़ों राजमंदिर खुले करता है, पर एक अस्पृश्य जाति एझुवा दूसरे अस्पृश्य पालुवा, परिया को अपने से जन्मत: नीचतर, अस्पृश्यतर मानने से चूक नहीं रहा है। माने जातिभेद की मानी हुई जन्मजात ऊँच-नीच अभी भी सीने से लगाए रखने का सारा पाप उच्चवर्णीय स्पृश्यों का है, यह मानकर उनपर ही गालियों की बरसात करनेवाले अंबेडकर यह जान लें कि भंगी को अस्पृश्य माननेवाले महार एवं परिया को न छूनेवाले एझुवा अस्पृश्य भी उन गालियों में बराबर के हिस्सेदार हैं।

३. उपर्युक्त सारे विवेचन से यह ध्यान में आ सकता है कि जन्मजात जातिभेद की सारी हानिकर प्रवृत्ति की जड़ में मानी हुई पोथीछाप जन्मत: लटकाई हुई ऊँच-नीच है। पहले कभी जाति-जाति के बीच उपजी ऊँच-नीच और उससे पैदा हुई स्पर्शबंदी, रोटीबंदी, बेटीबंदी आदि रूढ़ियाँ अधिकतर उपयुक्त एवं अपरिहार्य हुई होंगी, जातिभेद भी बहुत मात्रा में लाभकारी भी हुआ होगा, परंतु आज वे प्रश्न हमारे सामने नहीं हैं। भिन्न-भिन्न जातियों में मानी जानेवाली यह जन्मजात ऊँच-नीच आज प्रकट गुणों की कसौटी पर पूरी झूठी और हानिकारक सिद्ध हो रही है और उस जातिभेद से उपजी स्पर्शबंदी, वेदोक्तबंदी, रोटीबंदी आदि रूढ़ियाँ हिंदू संगठन के लिए आज अतिघातक सिद्ध हो रही हैं। प्रकट गुणों पर से ही ऊँच-नीच निश्चित करना आज न्याय्य एवं हितकारी है। आज के जातिभेद के सारे अनिष्ट की जड़ है मानी हुई ऊँच-नीच की भावना, उसी का उच्चाटन हो जाए तो इस जातिभेद का विषदंत निकल जाए।

४. यदि यह जन्मजात ऊँच-नीच का भ्रम उखाड़ा गया और स्पर्शबंदी, रोटीबंदी, बेटीबंदी आदि जातिभेद की जो आधारभूत रूढ़ियाँ हैं उन्हें तोड़ा गया तो जो जातिभेद शेष रह जाएगा, वह विषैला दाँत टूटे साँप जैसा निर्जीव और निरुपद्रवी होगा। आज जैसे कुलनाम अलग-अलग हैं वैसे ही ये जाति के नाम और उनके गुण जीवित रहे तो भी हानिकर

नहीं होंगे। ब्राह्मण जाति का नाम ब्राह्मण ही रहा, पर उसके प्रकट गुण से अधिक उसे जन्मजात श्रेष्ठत्व या जन्मजात विशेषाधिकार न रहे तो वह स्वयं को प्राचीन ऐतिहासिक परंपरा का निर्वाह करते हुए अपने को ब्राह्मण कहे तो क्या और न कहे तो क्या?

महार जाति से चिपकी जन्मजात अस्पृश्यता निकल गई, अपने गुणों के आधार पर कोई भी व्यवसाय करना उसे संभव हुआ, समाज में सामान्य रूप से रहने लगा, अपनी इच्छानुसार किसी के साथ भी खाने-पीने लगा, उसकी इच्छा हो तो उसे वेदविद्या से लेकर कोई भी ऊँची-से-ऊँची शिक्षा प्राप्त करने में कोई बाधा न रहे। जाति के कारण किसी भी तरह के हीन भाव से वह मुक्त हो गया तो उस जाति के लोग अपने को महार कहें और अपनी जाति का संघ बना अपनी पात्रतानुसार अन्य किसी को भी नागरिक समानता से मिलनेवाले अधिकार प्राप्त करने के लिए या उस जाति के शिक्षा सुधार और उसका विकास करने के लिए सांघिक प्रयास करें तो उसमें हिंदू संगठन की दृष्टि से विघातक कुछ नहीं होगा। ऐसे केवल नाम के लिए, किसी भी तरह के जन्मजात अधिकारहीन पर जाति-संस्था को माननेवाले जातिसंघ या वर्गसंघ बने रहे तो कोई आपत्ति नहीं है।

हमारा कुलनाम सावरकर, किसी का किर्लोस्कर। कुलनाम केवल भिन्न हैं, पर हममें कोई टकराव नहीं है। पर सावरकर कुल में जनमा कोई व्यक्ति कोई परीक्षा दे अथवा न दे बैरिस्टर माना जाएगा और उसे वे सारे अधिकार भी मिलेंगे या किर्लोस्कर कुल में जनमा हर व्यक्ति उसमें उद्योगप्रियता की पात्रता हो न हो वह कारखाना ही लगाए—ऐसा जन्मजात नियम बना तो झगड़ा प्रारंभ हुआ। समाज की हानि हुई। आज के जातिभेद से जो हानि और मनमुटाव होते हैं वह ऐसे ही केवल मानी हुई जन्मजात ऊँच-नीच के विशिष्ट अधिकारों के कारण और विशिष्ट व्यंगों के कारण है। किसी भी जाति को उसके प्रकट गुणों से अलग कोई भी विशिष्ट उच्चता या नीचता चिपकाना बंद होते ही कोई स्वयं को ब्राह्मण कहे या महार कहे, कोई ब्राह्मण संघ बने या महार संघ बने, कोई कुल अपने को सावरकर कहे या किर्लोस्कर कहे, उससे न व्यक्ति की हानि, न समाज की।

इतनी बात ध्यान में रहे, फिर संक्रमण काल में जातितोड़क संघ की क्या नीति रहे यह निश्चित करना काफी सरल हो जाएगा। यह कैसे होगा—इसे देखें।

संक्रमण काल में जातिसंघ एक अपरिहार्य अनिष्ट है

जातितोड़क एक विशेष बात अवश्य जान लें कि इस संक्रमण काल में और सौ वर्ष तक 'तोड़ो' कहने से जातिसंघ टूटनेवाले नहीं। वह रास्ते की एक अनिष्ट

और विशाल बाधा है और वह बाधा गेंती की मार से भी टूटनेवाली नहीं। पर उसमें से सुरंग निकालना फिर भी आसान है। वह एक अपरिहार्य बाधा कैसे है यह इस लेख की सीमा में विस्तार से कहना असंभव है। फिर भी कुछ मुद्दों पर विचार करें।

पहला कारण—जब तक अधिकतर जातियों के जातिसंघ हैं तब तक दूसरों को उसे टालना कठिन और हानिकारक भी है। जैसे वैश्य संघ को लें। ब्राह्मण संघ, ब्राह्मण छात्रों की ही सहायता करेगा, सारस्वत संघ, भावसार संघ, प्रभु संघ, कायस्थ संघ भी अपने-अपने छात्रों की ही सहायता करेंगे। अब वैश्य जाति के युवक शिक्षा के लिए सहायता प्राप्त करने किसके दरवाजे जाएँ? जहाँ जाएँगे वहाँ यही कहा जाएगा कि केवल अपनी जाति के लिए ही छात्रवृत्ति देते हैं। ऐसी स्थिति में वैश्य बच्चों के लिए उनकी जाति का संघ बनाना अपरिहार्य हो जाता है। चित्तपावन संघ आज तक कोई विशेष अस्तित्व में नहीं था, परंतु सारस्वत, वैश्य, नाई, धोबी, माली, मराठा आदि अधिकतर जातियों के संघ बन जाने के कारण चित्तपावनों के अपने प्रश्न और आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए, कम-से-कम शिक्षा में सहायता देने के लिए ही संघ स्थापित करना अपरिहार्य हो गया।

दूसरा कारण—आज जातिसंस्था बद्धमूल और जीवंत है। हर जाति को जन्म से ही क्रमबद्ध ऊँच-नीच लटकी हुई है। इस कारण उनके हित-अहित की सीमा के कुछ प्रश्न ही उनके होते हैं जैसे महार आदि अस्पृश्यों के हैं। अस्पृश्यता का धब्बा उनकी एक बाधा है। उसे दूर करना है तो उस विशिष्ट बाधा को दूर करने के प्रयास उनका ही संगठित संघ जो कर सकता है वह दूसरा संघ कैसे करेगा? गाड़ीवालों के अपने दुःख जैसे गाड़ीवाला संघ ही प्रकट कर सकता है या प्रतिकार कर सकता है वैसे दूधवाला संघ उनके लिए नहीं कर सकता।

महार लड़कों को पाठशाला में मिला-जुला बैठाना हो या उनको छात्रवृत्ति देनी हो तो 'महार जाति' को मानना ही पड़ेगा। अस्पृश्यों में चमारों के दुःख अलग हैं क्योंकि उनका व्यवसाय, स्थिति, मान अलग हैं। भंगियों की जाति संबंधी वेदना और कमियाँ अलग हैं। वैसे ही मराठा जाति का है। उनको अन्याय्य लगनेवाले, चुभनेवाले प्रश्न अलग हैं और उनके निराकरण के लिए उनका अपना मराठा संघ ही चाहिए। मनुष्य स्वभाव देखें तो मराठा जाति के प्रश्नों को ब्राह्मण संघ क्यों व कैसे सुलझा सकता है? महिलाओं के प्रश्नों का हल खोजने के लिए महिला संघ ही चाहिए।

जाति की अपनी जातिमूलक कमियाँ, आवश्यकताएँ जब तक अस्तित्व में हैं तब तक उन विशेष प्रश्नों के हल खोजने के लिए जातिसंघ बनाना और प्रयास करना अपरिहार्य ही होगा। जातिमूलक कोई विशिष्ट कमी, अन्याय या आवश्यकता

जैसे-जैसे कम होती जाएगी, सारी जातियाँ जितनी-जितनी समतल पर आती जाएँगी उसी अनुपात में जाति-विशिष्ट विषमता कम या ढीली होगी, उसी अनुपात में वे संघ अपने-आप ही अनावश्यक होते-होते मृत्यु के दरवाजे बैठने लगेंगे। पर इससे पहले नहीं।

तीसरा विशेष महत्त्व का कारण—उपर्युक्त अपरिहार्य अनिष्ट में सौभाग्य से जो एक इष्ट प्रवृत्ति बीज रूप में है उसका जैसे विष का प्रयोग औषधि में होता है वैसा प्रयोग चतुरता से किया जाए तो संगठन के लिए बहुत उपयोग हो सकता है। बुरा यदि जड़ से ही निकाला न जा सकता हो तो उसमें से जो कुछ उपयुक्त निकाला जा सके, वह उपयोगी निकाल लेना चाहिए। इस सूत्र में जातिसंघों के नाम से आज हिंदुस्थान में कम-से-कम उस समूह का जो संगठन हो सकता है वैसा सबल, सहज और सत्वर संगठन अन्य किसी भी नाम से अभी नहीं हो सकता। हम एक राष्ट्र के या एक धर्म के हैं इस भावना से अधिक हम अमुक एक जाति के हैं यह भावना ही आज अपनी करोड़ों सामान्य जनता में बहुत तीव्र और लोक संग्राहक है। जन्म से ही उठते-बैठते, खाते-पीते नाते-संबंधियों में नामकरण से अंतविधि तक सब धर्मकार्यों में जाति का संबंध पग-पग पर, जाति की भावना धर्म में, अर्थ में आती रहने से हिंदू शिशु से अतिवृद्ध तक में हम ब्राह्मण, बनिया या महार यही एकमेव लोकसंग्राहक भावना अति प्रबल और आदत से रोम-रोम में रमी देखते हैं। इसलिए वैश्य संघ कहते ही पिछले गाँव के बनिया में भी ममता उमड़ पड़ती है। अपना उसके साथ लाभ-संबंध है यह तीव्र भावना बिना किसी प्रचार, प्रयास करते आज अपने-आप जाग जाती है। वैसी ममता अभी तक करोड़ों सामान्य जनता में हिंदू संघ या राष्ट्र संघ इस नाम के लिए कुटिया-कुटिया में चेताई तो भी चेतती नहीं है। इस नंगी सच्चाई को अस्वीकारना मूर्खता होगी। अंबेडकर कहते ही गाँव-गाँव का महार उन्हें देखने उमड़ पड़ता है। वह अंबेडकर बैरिस्टर हैं इसलिए नहीं, अपितु वे महारों के बैरिस्टर हैं, हमारे जात-भाई हैं इसलिए। यही स्थिति ब्राह्मण से भंगी तक की है। वैश्य परिषद् के लिए हम संगमेश्वर गए थे। देखा तो एकदम गँवार, बूढ़े बनिए भी आस्था से किराया खर्च करके वहाँ आए थे। पर हिंदू परिषद् या हिंदी परिषद् नाम से कोई आयोजन होता तो उस भीड़ में सौ में से पचहत्तर बनिया किराया देते तो भी न आते।

ब्राह्मण के पड़ोस में रहनेवाला मराठा का एक-दूसरे से आज की परिस्थिति में भी लाक्षणिक भाव से नहीं, वास्तविक भाव से कोई भी सोहर-सूतक नहीं होता। परंतु दो पीढ़ी पूर्व कलकत्ता गए हुए और एक-दूसरे का मुँह भी न देखे हुए ब्राह्मण, मराठा से उनके रक्तबीज, सोहर-सूतक आदि निकट के संबंध होते हैं, हो सकते

हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति जाति से रोटी-बेटी संबंधों के कारण पक्का बँधा हुआ तो हर जाति का दूसरी जाति से रोटीबंदी, बेटीबंदी की खाइयों के कारण दुराव बढ़ा हुआ। कुछ प्रकरणों में एक-दूसरे का स्पर्श तो मद्रास जैसे प्रदेश में दर्शन भी वर्जित है। ऐसी परिस्थिति में हिंदू राष्ट्र को संगठित करने के लिए व्यक्ति को व्यक्ति से जोड़ना महादुष्कर है, तुलना में जाति को जाति से जोड़ने के फिर नए सूत्र जोड़ना प्रारंभ में तो आसान है। लोक संग्रह इसीलिए पहले जातिसंघों को ही सहज है। नए ढंग के जातिसंघ 'नाही' कहें तो भी अपने-आप उगते चले जा रहे हैं और हिंदू संघ सप्रयास खड़े करने पड़ रहे हैं उसका यही कारण है।

उपजाति संघ भी कहें तो भी कुछ तो नियंत्रण हो ही जाएगा। महाजाति संघ कहें तो उपजाति संघों को एक करने की प्रवृत्ति बढ़ेगी ही; क्योंकि संघ का अर्थ ही संकुचन की नाशप्रवृत्ति है। ब्राह्मण महासभा या अखिल ब्राह्मण संघ है तो ब्राह्मण जाति की उपजातियाँ नष्ट हो सकती हैं और उतने अनुपात में संगठन बढ़ सकता है। भावसार क्षत्रिय संघ है तो नामदेव, कोंकणस्थ, देशस्थ, शाक्त, वैष्णव, दरजी, रंगारी आदि उपजातियों के एकीकरण की प्रक्रिया चालू हो जाती है और उतने अनुपात में संगठन बढ़ता है। वैश्य संघ हो तो संगमेश्वरी, पाटणें, नार्वेकरी बनिया एक सूत्र में बँधकर उतनी उपजातियों को एक करने का प्रयास शुरू हो जाता है। संगठन उस अनुपात में बढ़ता है। इस दृष्टि से देखें तो जाति-जाति के महासंघों से यदि उनका उचित उपयोग कर लेने की दक्षता रखी गई तो हिंदू संगठन के राष्ट्र-मंदिर की ओर चढ़ते जाने के लिए सीढ़ियाँ बनाना कोई कठिन कार्य नहीं है। उपजातियों की संकुचित वृत्ति का नाश करनेवाले ये महासंघ जिन संघटक प्रवृत्ति को लाखों हिंदुओं में उत्पन्न करते हैं उसी व्यापकता की प्रवृत्ति के बल पर हिंदू संगठनों की क्षमता एवं संभावना अधिकाधिक बढ़े बिना नहीं रह सकती। यदि उस जातिसंघ का निर्देशन उसी हिंदू संघटक ध्येय की दिशा को लक्ष्य कर पहले से ही मजबूती से करने के प्रयास में हमने ढिलाई नहीं की तो।

चौथा कारण—इस संक्रमण काल में जिन कारणों से जातिसंघ अपरिहार्य होते जा रहे हैं, उन कारणों में इनके द्वारा ही हो सकनेवाले कुछ उपयोगी कार्य हैं। जैसे जाति में शिक्षा का प्रसार/विकास करने के लिए हिंदू विद्यार्थी सहायता संघ की स्थापना की गई या राष्ट्रीय शिक्षण संघ की स्थापना की गई, तो राष्ट्र की चिंता जिन्हें है—ऐसे दस-पाँच व्यक्ति ही सहायता करने आगे आते हैं, क्योंकि अन्य सैकड़ों ग्रामीणों में राष्ट्र की भावना नहीं होती। परंतु महार विद्यार्थी संघ, माली विद्यार्थी संघ या भंडारी जाति के शिक्षा हेतु संघ की स्थापना की जाए तो पिछड़ी होते हुए भी उस जाति की बुड्ढी-सुड्ढी महिलाएँ भी उसमें सहायता करने को

अधिक तत्परता से आगे आती हैं। यह ठोस अनुभव है। कारण भी स्पष्ट है। उनमें जातिधर्म की सीख जैसे माँ के दूध के साथ ही पिलाई जाती है वैसी राष्ट्रधर्म की नहीं होती। वह राष्ट्रधर्म की सीख रोम-रोम में रमे तब तक शिक्षावृद्धि, स्वास्थ्य, दारूबंदी आदि अनेक सुधारों के लिए लगनेवाला श्रम और पैसा जो राष्ट्रसभा या हिंदूसभा के नाम से कभी भी इकट्ठा किया नहीं जा सकता, वह भी सहज जमा हो जाता है। उपजातियों के बीच की रोटीबंदी, बेटीबंदी तोड़ने में भी इन जाति महासंघों का उपयोग अत्यधिक होता है। भावसार महासभा के प्रस्ताव के कारण दर्जियों की उपजातियों में परस्पर विवाह होने लगे यह प्रत्यक्ष आज का उदाहरण है। हिंदू महासभा या जाति उन्मूलक संघ के प्रस्ताव से इस तरह झटपट बेटीबंदी तोड़ना संभव न हो पाता। क्योंकि हिंदू महासभा क्या होती है यह जिन शताधिक अशिक्षित दर्जियों को ज्ञात नहीं है, उन्हें अपनी जाति का संघ क्या है यह अच्छी तरह ज्ञात है और इसलिए उससे उनका जुड़ाव है। मृत पशुओं को उठाना तथा उसका मांस खाना छोड़ें—ऐसा प्रस्ताव महार परिषद् में पारित हुआ। इस प्रस्ताव को लागू करने का अर्थ प्रत्यक्ष आर्थिक हानि सहन करना ही नहीं था, गाँववालों का रोष भी सहन करना था, परंतु दोनों ही बातों का सामना करते हुए महार जाति ने यह प्रस्ताव लागू किया। सैकड़ों महार लोगों ने ढोर खींचना और मृत मांस खाना छोड़ा है। राष्ट्रसभा के प्रस्ताव से इतनी त्वरित गति से कार्य न हुआ होता।

सारांश यह कि शिक्षा का प्रसार कर शताधिक उपजातियों में चली आ रही रोटीबंदी, बेटीबंदी तोड़कर, गंदी प्रथाएँ खत्म कर करोड़ों हिंदुओं को उस मर्यादा तक क्यों न हो, पर संगठित एवं विकसित करने के काम में इन जातिसंघों का उपयोग आज अधिक हो रहा है और उस दृष्टि से समाज को हिंदू संगठन के काफी पास लाने में भी मदद मिलती है, इसलिए ये जातिसंघ आज अपरिहार्य सिद्ध होते हैं।

ये जातिसंघ जाति उन्मूलन के रास्ते की सुरंग होने के कारण उनका कुशलता से उपयोग कर लेने पर और जब तक दूसरा कोई साधन पास नहीं है तब तक उसी का जो हो सके वह उपयोग कर लेना अपरिहार्य होने से, जातिसंघों की उन्हीं सुरंगों से जातिभेद की नींव ढीली करने का कार्य काफी कुछ अंशों में कर लेने जैसा है, कर लेना आवश्यक है।

जाति-उन्मूलनवालों की जातिसंघ के संबंध में नीति क्या हो?

जातिसंघों के संबंध में नीति निर्धारित करते समय किस कार्यक्रम का अनुसरण किया जाए? उसका निर्देशन करूँ तो वह (कार्यक्रम) क्यों किया जाए

यह समझ में आ जाएगा।

१. प्रथम आवश्यक बात यह कि किसी भी जातिसंघ से कैसा भी संबंध न रखनेवाली जाति निर्मूलन समिति नगर-ग्रामों में, जहाँ-जहाँ संभव हो, स्थापित की जाए। इस समिति के सदस्य अपनी जाति केवल हिंदू ही लिखें। जनगणना में या अन्यत्र कहीं भी अपनी किसी उपजाति का उल्लेख न करें। हम ऐसा ही कहते हैं। स्पर्शबंदी, रोटीबंदी को खुले नाम छापकर तोड़ें। सहभोजों का आयोजन चालू रखें। पूर्वास्पृश्यों के घर नाम घोषित कर भोजन करें। स्वच्छता का बंधन अवश्य पालन करें।

२. उपर्युक्त जाति निर्मूलन समिति के लोग दूसरी कोई भी जाति-संस्था स्थापित न करें। कोई भी जाति अपनी है यह नहीं मानें, न कहें। परंतु हम इस कुल में जनमे यह कहने में कोई आपत्ति नहीं। वह न कहना हास्यास्पद है। मैं राष्ट्रवादी होते हुए भी किस गाँव में जनमा? इस प्रश्न का उत्तर दूँ कि 'हिंदुस्थान में' तो वह हास्यास्पद ही होगा। मैं भगूर गाँव में जनमा यही कहना ठीक, सत्य और आपत्तिरहित है। वैसे ही चित्तपावन कुल में जनमा यह भी कहना ही पड़ेगा। वह तो इतिहास ही है। क्योंकि मेरे माता-पिता चित्तपावन कहलाते थे, इनको नकारना अशक्य। मैं स्वयं चित्तपावन जाति नहीं मानता, परंतु पिता मानते थे अत: मेरा जन्म चित्तपावन जाति का, परंतु अब मैं पूरे मन से हिंदू जाति का ही हूँ। यही अंतिम सत्य है। उसी तरह मैंने किसी जाति-संस्था की स्थापना नहीं की, तब भी जब तक कुछ प्रश्न जाति की मर्यादा में ही हल करना हिंदू संगठन की दृष्टि से अपरिहार्य हैं मुझे उन प्रश्नों के लिए जात-पाँत की बात माननी ही पड़ेगी। संक्रमण काल में जातिभेद का और जात-पाँत का उल्लेख करना ही पड़ेगा। अस्पृश्यता हटाना है तो अस्पृश्य जातियों का उल्लेख करना ही होगा। सहभोज में सब जातियाँ मिली-जुली बैठी थीं यह सिद्ध करने के लिए, जाति तोड़ने के लिए ही, सहभोजियों की वर्तमान जाति न होते हुए भी उनके नाम छापते हुए उनके जन्म की मानी हुई जाति का यथा—ब्राह्मण, मराठा, महार आदि का उल्लेख अपने नाम के सामने कोष्ठक में करना होगा। वह विसंगत नहीं है। इतना ही नहीं अपितु अपने जन्म के समय की मानी हुई जाति का नाम न कहना केवल शब्द छल होगा। उसी कारण से और जैसाकि ऊपर कहा गया है, जातिसंघ के अनिष्ट में भी जो इष्ट

घटक है उसका जाति निर्मूलन के पक्ष में उपयोग करने के लिए जाति निर्मूलकों द्वारा सभी जातिसंघों से सब तरह का असहयोग करना, निरर्थक, अनर्थक एवं त्रुटिपूर्ण होगा।

३. सभी जातिसंघों से संपूर्ण असहयोग न करें ऐसा जो ऊपर कहा गया है, उसका अर्थ यह है कि कुछ जातिसंघों से संपूर्ण असहयोग और कुछ जातिसंघों से कुछ अंशों में सहयोग करना चाहिए। उसका चुनाव करने की अच्छी कसौटी निम्न है।

४. आज जो जातिसंघ अस्तित्व में हैं उनमें से कुछ अपनी जाति के जन्मजात श्रेष्ठत्व का डंका पीटनेवाले हैं। उसमें जाति निर्मूलन के विचार का खुला प्रचार करनेवालों और सहभोज आदि कार्यक्रम आयोजित कर जातिभेद तोड़ने की क्रिया में सहभागी लोगों को उसी जाति के होने पर भी अपनी उपर्युक्त व्यवहार स्वतंत्रता छोड़े बिना प्रवेश नहीं मिलता। ऐसा जहाँ हो वहाँ जाति निर्मूलनकर्ता कोई संबंध न बनाएँ। जैसे किसी लिंगायत संघ ने भंगियों के साथ या ब्राह्मणों के साथ या भिन्न जाति के साथ भोजन किए लोगों का बहिष्कार करने, अस्पृश्यों को न छूने, मंदिर प्रवेश न करने देने आदि नियम बनाए हों और उनका पालन न करनेवालों की सदस्यता ही रद्द करने की जिद करनेवाले जातिसंघ से जाति निर्मूलकों को कभी भी और कैसा भी संबंध न रखना होगा।

५. पर भाग्य से जातिसंघों का एक दूसरा भी वर्ग है। जैसे गत दस वर्षों के हिंदूसभा के प्रचार से उत्पन्न हुए संगठित वातावरण में रहते आए रत्नागिरि जिले में वैश्य सभा और मराठा शिक्षण संघ हैं। इन दोनों संघों में सहभोज में भंगियों के साथ भी प्रकटत: भोजन करनेवाले एवं जातिभेद तोड़े जाने का प्रचार करनेवाले अनेक बनिया या मराठा लोग हैं जिन्होंने अपने जाति निर्मूलक ध्येय एवं प्रत्यक्ष वैयक्तिक आचार को किसी भी तरह त्यागा या मोड़ा नहीं तथा संघ की ओर से वैसा करने का दबाव भी नहीं आया। उनकी कार्यकारिणी में भी ऐसे जाति निर्मूलक चुनकर आते हैं। दूसरे यह कि इस संघ की सदस्यता की प्रकट व्याख्या इतनी ही है कि जो वणिक कुल में या मराठा कुल में जनमा हो, वह सदस्यता के लिए पात्र है, फिर वह आज जातिभेद मानता है या नहीं या बनिया या मराठा जाति का उल्लेख अपने नाम के साथ करता है या नहीं इससे संघ को कुछ भी लेना-देना नहीं। यह शर्त

स्वीकार करना जाति निर्मूलक बनिया या मराठा संगठनकर्ता को विसंगत लगने का कोई कारण नहीं है, यह पहले ही इस लेख में कहा गया है। तीसरा यह कि ये संघ अनेक उपजातियाँ तोड़कर उनके बीच की रोटीबंदी, बेटीबंदी तोड़ने के अनुकूल हैं। माने ये संघ जाति निर्मूलन संघ की उस अनुपात में द्वितीय या आंशिक शाखा हो जाते हैं। चौथा यह कि उनका कार्यक्षेत्र भी संगठन के अनुकूल ही है। अपनी जाति में शिक्षा प्रचार करना, व्यसन और खर्चीलेपन को दूर करना, उसे उसके गुणानुसार अधिकार यदि अन्य जातियों या सरकार के दुराग्रह से या उपेक्षा से नहीं मिल रहे हों तो उन्हें प्राप्त करना। जाति पर जाति के कारण होनेवाले विशिष्ट अन्याय को रोकना आदि अनेक उपयुक्त न्याय और हिंदू संगठन के अनुकूल कार्य ही वे संघ अधिकतर कर रहे हैं। अन्य जाति पर अपनी श्रेष्ठता लादना या स्वयं को अपने प्रकट गुणों से अधिक कोई भी विशिष्टाधिकार हैं, ऐसा न मानना ही उनकी नीति है।

उपर्युक्त जातिसंघों से जाति निर्मूलनकर्ता सहयोग करें, यही उचित है। अपने जाति निर्मूलक विचारों के प्रचार और प्रकटतः किए गए सहभोजन आदि जाति निर्मूलक कार्यों को किसी भी तरह न त्यागते हुए केवल उस जाति में जन्म लिया, इस एकमात्र शर्त पर उस जातिसंघ की सदस्यता उस जाति का जाति निर्मूलक यदि ग्रहण कर सकता हो तो उस जातिसंघ का सदस्य बनने में जाति निर्मूलकों को कोई आपत्ति न होनी चाहिए। इतना ही नहीं, उलटे यह कि ऐसे जातिसंघ की सदस्यता जितने अधिक जाति निर्मूलक ग्रहण करें उतना अच्छा।

उदाहरण के लिए रोटीबंदी तोड़ने की ही बात लें। ऊपर नमूने के लिए उद्धृत जिले की वैश्य परिषद् में या मराठा परिषद् में भी भोजन समारोह में उस जातिसंघ के सारे सदस्य और अतिथि मिले-जुले बैठाए जाते हैं। अब उसमें बहुत बार प्रत्यक्षतः महार-भंगियों के साथ भोजन किए हुए पचास-पचहत्तर बनिया, मराठा या चित्तपावन तो रहते ही हैं। पर जाति परिषद् में आयोजित जातिभोज में इस पर कोई आपत्ति नहीं है। माने अस्पृश्यों सहित अन्य किसी भी जाति के साथ भोजन किया हुआ व्यक्ति बनिया, मराठा या बामन जाति-बाहर नहीं होता। रोटीबंदी कोई जाति का लक्षण या कर्तव्य नहीं रहा है, यह स्पष्ट है। जाति निर्मूलन के रास्ते में अन्य जाति के साथ भोजन करने मात्र से किए जानेवाले बहिष्कार की घातक रूढ़ि इस तरह जितनी मरणोन्मुख होगी उतने अनुपात से वह जाति हिंदू संगठन के ध्येय की ओर बढ़ेगी। यह काम भी कम नहीं है। वही बात शुद्धि की। शुद्धिकृत बनिया,

मराठा या बामन अपनी जाति में ही नहीं अपितु जाति पंगत में समा लेने में इन परिषदों में अब कोई रोक-टोक नहीं है। शुद्धिकृतों को पंगत-पावन कर लिया जाता है। अब जातिभेद की रोटीबंदी, शुद्धिबंदी जैसी बेड़ियाँ भी ये प्रगतिशील और सयाने जातिसंघों ने तोड़ीं अर्थात् उनमें जाति निर्मूलक विचारों के सदस्यों की संख्या अधिक थी। ऐसे लोग बनिया, मराठा या बामन संघों के सदस्य बने, इसीलिए यह स्थिति बनी। इन जातिसंघों से रोषपूर्ण असहयोग कर लोग बाहर न निकले होते तो भी जातिसंघ बना ही रहता, पर फिर वह ऐसा प्रगतिशील नहीं होता यह एकदम स्पष्ट है।

अत: ऐसे दूसरी तरह के जातिसंघ में अपनी संख्या यथासंभव बढ़ानी चाहिए। अपने जाति-भाइयों को केवल जन्मजात ऊँच-नीच की घातक भावना एवं जातिभेद के अधीन स्पर्शबंदी, रोटीबंदी आदि दूषित रूढ़ियों से मुक्त कराने का प्रयास इन जातिसंघों में घुसकर करना चाहिए और इस रीति से स्वतंत्र जाति निर्मूलक संघ बाहर से और जातिसंघों में घुसकर अंदर से ऐसी दोहरी चोट करें—यही आवश्यक है। विशेष रूप से आज जो प्रगतिशील जातिसंघ हैं उन संघों में बहुमत से ऐसी एक प्रतिज्ञा संस्था के ज्ञापन में अंकित करने के लिए बनाई जाए कि 'यह जातिसंघ केवल जन्म से ही कोई जाति उच्च या नीच होती है यह नहीं मानता है, इसलिए जाति या व्यक्ति की योग्यता उसके द्वारा प्रकट गुणों पर से ही आँकी जाए और अपना गुण-विकास करने के लिए हर जाति को समान अवसर दिए जाएँ।'

रत्नागिरि के चित्तपावन संघ ने जैसी अपनी उपर्युक्त नीति स्पष्टता से निर्देशित की है वैसी ही हर प्रगतिशील जातिसंघ को अपनी जाति-संस्था के ज्ञापन में करनी चाहिए। जातिसंघों का मन उपर्युक्त प्रतिज्ञा के लिए अनुकूल करने के लिए और उन जातिसंघों की ओर से उपजातियाँ तोड़कर स्पर्शबंदी, रोटीबंदी आदि रूढ़ियों की भावना नष्ट कर शिक्षा आदि उपयुक्त कार्य करा लेने के लिए ऐसे प्रगतिशील जातिसंघों में उन जातियों में जनमे हमारे जाति निर्मूलन संस्था के हिंदू बंधु अवश्य शामिल हों। और वे वहाँ बहुमत में हों, इतनी संख्या में जाएँ। और अपने जाति-भाइयों का मन जाति निर्मूलन के लिए अनुकूल कर लें।

आज विधानसभाओं में जातिवार स्थान आरक्षित हैं। वैसा न होता तो अच्छा होता। पर चूँकि वे हैं इसलिए महार की जगह कोई बुद्धू प्रतिनिधि जाकर बैठे या मराठा के लिए आरक्षित स्थान पर कोई अड़ियल भेजने की अपेक्षा दौडकर जाधवराव, काजरोलकर, बालू, राजभोज आदि जातिभेद को न माननेवाले लोगों में से कोई भेजा जाना जाति निर्मूलन की दृष्टि से अधिक लाभदायक होगा—यह स्पष्ट है।

परंतु महार के लिए स्थान, मराठा के लिए स्थान, ऐसे शब्द प्रयोगों को स्वीकार कर उम्मीदवार खड़ा करना जातिभेद को कुछ अंशों में स्वीकारना होता है। ऐसे शाब्दिक हौवे से डरकर यदि जाति निर्मूलक कहलानेवाले अंबेडकर, राजभोज, यादवराय, दौंडकर उन स्थानों का बहिष्कार करने लगें तो उन स्थानों पर कट्टर, अयोग्य और अड़ियल जातिनिष्ठ कब्जा कर लेंगे और शब्द के लिए उसके अर्थ का ही गला कटेगा। ऐसे समय में जाति के नाम पर ही विधिमंडल में जाति निर्मूलक लोग घुसें और उस आरक्षित जातिनिष्ठता की प्रथा को नए संविधान में विधिमंडल के रास्ते से ही तोड़ दें। यही इष्ट और बुद्धिमत्ता है। वही नीति जाति-संस्थाओं के बारे में भी वैसी-की-वैसी लागू है।

जाति-संस्थाओं में जाति निर्मूलकों का बहुमत बने रहने से स्पर्शबंदी, रोटीबंदी आदि आज के जात-पाँत के चिह्न नष्ट होंगे? कोई कुछ खाए, किसी के साथ खाए, उसकी जाति नहीं बिगड़ेगी—यह नई भावना जाति-संस्थाओं में ही रूढ़ होती जाएगी। कोई भी जाति केवल जन्मत: ही ऊँची या नीची नहीं है—यही हर संस्था की प्रतिज्ञा होगी। इससे जातिभेद का विषदंत निकल जाएगा और सारी जातियों का इकट्ठा उठना-बैठना, स्पर्श करना, खाना-पीना, रहना होने लगने से अंत में जातियाँ केवल नाम के लिए ही रह जाएँगी जैसे आज कुलनाम हैं और कालांतर में हिंदू संघ की संघटक शाखा होकर रह जाएँगी।

(किर्लोस्कर, मार्च १९३७)

□

प्रकरण—१४

चित्तपावन शिक्षा सहायता समिति और बैरिस्टर सावरकर

रत्नागिरि में चित्तपावन छात्रों को शिक्षा प्राप्त करने में सहयोगार्थ एक समिति की स्थापना गत प्रतिपदा को हुई है। वास्तव में देखा जाए तो इसी जिले में देवरुखे संघ, कर्हाडे संघ, मराठा समाज आदि जातियों के अनेक संघ हैं। पूरे हिंदुस्थान में द्रविड़ संघ, सारस्वत संघ, राजपूत सभा, जाट सभा, महार मंडल, चर्मकार मंडल, ब्राह्मण सभा, क्षत्रिय महासभा, वैश्य सभा आदि-आदि जितनी जातियाँ उतनी जाति सभाएँ फैली हुई हैं। उसी में यह छोटा चित्तपावन संघ रत्नागिरि जैसे एक कोने के नगर में स्थापित हुआ तो इस नगर के बाहर उसकी पूछताछ आज तो कोई भी नहीं करता। परंतु आज रत्नागिरि का नाम सारे देश में जाति उन्मूलक सामाजिक क्रांति के केंद्र के रूप में गूँज रहा है, इसलिए और उस आंदोलन का देश भर में ख्यात बैरिस्टर सावरकर जैसा नेता उस दिन की सभा में उपस्थित होने से उस छोटी सभा का बड़ी चर्चा महाराष्ट्र में होने की संभावना थी। उस सभा के अध्यक्ष भी अपने दैनिक जीवन में खुले रूप में जन्मजात जातिभेद का सक्रिय निर्मूलन करनेवाले यहाँ के लोकप्रिय और प्रमुख अधिकारी सिविल सर्जन डॉ. साठे महोदय थे। वैसे ही सुधारवादी अन्य नामवर संपादक, वकील, प्रचारक जैसे कितने ही मुख्य लोग उस सभा में उपस्थित थे। जन्मजात जातिभेद निर्मूलन का व्रत जिन्होंने लिया हुआ है वे चित्तपावन संघ जैसे एक जातिनिष्ठ संघ के कार्यक्रम में कैसे उपस्थित थे? यह प्रश्न पूरे महाराष्ट्र में गूँजना स्वाभाविक है।

देशभक्त बैरिस्टर सावरकर ने इसीलिए उस दिन के अपने भाषण में, सारी जातियाँ टूटकर एक संगठित हिंदू जाति रह जाने तक और जन्मजात ऊँच-नीच का

संपूर्ण नाश होकर व्यक्ति के प्रकट गुणों पर ही व्यक्ति की योग्यता मानी जाने तक बीच के संक्रमण काल में ऐसे जाति विशेष संगठन क्या नीति अपनाएँ और उस संघ से किन शर्तों पर जाति उन्मूलक सुधारवादी सहयोग करें, इसका सैद्धांतिक विवेचन किया था। वह उनका बिना लाग-लपेट का स्पष्ट भाषण इतना तत्त्वनिष्ठ और वक्तृत्वपूर्ण था कि सनातनी और सुधारक दोनों पक्षों का हर सुबुद्ध बामन 'साधु-साधु' करता हुआ उस भाषण की मुक्तकंठ प्रशंसा कर रहा था। उस भाषण का सारांश महाराष्ट्र भी जाने, इसलिए हम उसे यहाँ उद्धृत कर रहे हैं—

हम जन्मजात जातिभेद का निर्मूलन करने की बात कहते हैं, माने क्या कहते हैं, यह अच्छी तरह से जान लें। वर्तमान में प्रचलित जातिभेद में जो जन्मजातपन है वह इतना हानिकारक नहीं कि जितना उस जन्म के साथ देह में गुण न होते हुए भी उस व्यक्ति पर लगती ऊँच-नीच की छाप और उसके अनुसार व्यक्ति को प्राप्त होनेवाले अधिकार या अवहेलना है। कितनी ही बातों में जन्मजातपन को टालना संभव नहीं है, आवश्यक भी नहीं है। मैं सावरकर कुल में जनमा, मेरे ये मित्र जोशी कुल में जनमे, इसे नकारना असंभव है। सावरकर या जोशी कुल चित्तपावनों में माने जाते हैं यह इतिहाससिद्ध बात है। इसलिए मेरा जन्म अमुक घर में या अमुक गाँव में हुआ, यह तथ्य जैसे नकारा नहीं जा सकता वैसे ही हम जन्म से चित्तपावन हैं यह भी नकारना असंभव है। परंतु यदि मैं सावरकर कुल में या चित्तपावन जाति में जनमा यही मेरा भारी गुण है या इसीलिए मैं जन्मत: अन्य कुलों से या जातियों से श्रेष्ठ हूँ ऐसी शेखी बघारने लगा तो अवश्य ही अन्यायकर्ता होऊँगा और अन्यों से बिना कारण कलह करूँगा। कुल का अभिमान माने उस कुल के महान् एवं न्यायी पुरुषों का अभिमान है। मैं अपने गुणों से श्रेष्ठ बनूँ, पिता के गुण मुझमें न होते हुए भी मैं पैतृक बड़प्पन का अधिकारी न बनूँ। लेनिन कहता था—"मैं 'ज्यू' हूँ यह मेरा गुण भी नहीं, दोष भी नहीं।" मैं जन्म से चित्तपावन जाति का हूँ तब भी मन से हिंदू हूँ! मैं महार जाति में जनमा होता तब भी मुझे लज्जा न आती। चित्तपावनों में जनमा इसलिए मुझे रत्ती भर भी अभिमान नहीं है। मैं अभिमानी हूँ तो चित्तपावन जाति में जनमी महान् विभूतियों का। बालाजी विश्वनाथ ने जिस दिन एक ही समय लेखनी और कृपाण उठाई उस दिन से हिंदू राष्ट्र की दिग्विजयी दुंदुभि असिंधु-सिंधु निनादते ले जानेवाले वे बाजीराव प्रथम, नाना साहेब, भाऊ विश्वासराव, माधव राव, फडणवीस, पेठे, पटवर्धन, मेहेंदले, गोखले, वे सत्तावन के नाना साहेब, वे बुद्धिसागर न्यायमूर्ति रानडे, चिपलूणकर, आगरकर, वासुदेव बलवंत, गोखले, तिलक और जिनके नाम अनु-लेख के कारण विशेष लिखित होंगे—ऐसे अन्य शतश: वीरात्मा, हुतात्मा, धुरंधर पुरुष अपनी इस चित्तपावन जाति

में उत्पन्न होकर राजनीतिक क्रांति में या सामाजिक क्रांति में हिंदुस्थान का इतिहास बदलते हुए आज दो सौ वर्षों से राष्ट्र को दिशा देते आए, उनके केवल नाम स्मरण से ही मेरे रक्त में अभिमान की तरंगों-पर-तरंगें उठने लगती हैं। परंतु वे महान् पुरुष चित्तपावन जाति में जनमे इसलिए महान् नहीं हुए। वे हिंदू राष्ट्र गौरव के मुकुटमणि के रूप में ही शोभित हों ऐसे गुणों के कारण महान् थे। अंतिम बाजीराव भी चित्तपावन, उसी पेशवा कुल के थे, परंतु मुझे महादजी सिंधिया का अभिमान उनसे शतगुणित अधिक है। महादजी दूसरे बाजीराव के स्थान पर पेशवा हो जाते तो कितना अच्छा होता, ऐसा लगता है।

इससे आपकी समझ में यह बात आ गई होगी कि विशेषकर जन्मजात कहकर जो ऊँच-नीच व्यक्ति पर, उसमें वह गुण न होते हुए भी चिपकाते हैं उसका निर्मूलन हम करना चाहते हैं। जन्मजात उपनामों का भेद, जन्मजात गोत्र नाम का भेद इनसे कुछ बिगड़ता नहीं है। वैसे ही केवल जातियों के भिन्न नाम हैं तो क्या और नहीं हैं तो क्या? यदि उनसे किसी को भी उच्च या नीच माना जानेवाला भाव नहीं है और वेदोक्त जैसे या स्पृश्यता जैसे विशिष्ट अधिकार बलात् लिये जानेवाले नहीं हैं तो ऐतिहासिक स्मृति-चिह्नों की तरह या भू-गर्भीय ढाँचे की तरह वे नाम और कुछ काल तक रहे और उस जाति नाम के संघ चले तो वह बात एक अनुकरणीय इष्ट के रूप में नहीं अपितु एक अपरिहार्य अनिष्ट के रूप में और कुछ दिन सहन करनी पड़ेगी। सहन की भी जा सकती है। रोटीबंदी की और बेटीबंदी की बेड़ियाँ टूटकर सभी हिंदुओं के एक हिंदू जाति में एकजीव होने तक जो संक्रमण काल होगा उसमें ये जाति विशेष संघ चलते ही हैं तो कम-से-कम उसी एक शर्त पर चलने चाहिए कि हर जातिसंघ यह घोषित करे कि हम कोई भी जाति केवल जन्म से ही ऊँची या नीची नहीं मानते। व्यक्ति को उसके गुणानुसार ही जो स्थान मिलेगा, वह मिले। गुणों का विकास करने के लिए जाति के व्यक्ति को उचित अवसर और सहायता देने के काम में और किसी अन्य जाति पर कोई अन्याय हो तो उसके निवारण के लिए वे जातिसंघ प्रयास करें तो उनके हानिकर होने की आशंका बहुत अंशों में कम हो जाएगी।

यह आपकी समिति चित्तपावन छात्रों की सहायता करने के लिए ही स्थापित हुई है। देवरुखे, सारस्वत, कर्हाडे आदि जातियों के संघ चूँकि अपनी जाति के छात्रों की सहायता करते हैं, इसलिए यदि चित्तपावन विद्यार्थियों को कोई सामूहिक सहायता प्राप्त होती हो तो वह उन्हें करा देना हम, आप सबका कर्तव्य है या यह कहें कि हमारे जाति निर्मूलक संघ का तो एक कर्तव्य ही है—ऐसा हम मानते हैं।

महार आदि पूर्वास्पृश्य विद्यार्थियों की उनके महार आदि जातियों के होने से

अवहेलना होती है, तब हम जन्मजात जाति के निर्मूलक, उस अन्याय को दूर करने का प्रयास करते हैं। उन्हें विद्यालय में निःशुल्क पढ़ाया जाए—ऐसा कहते हैं, महार परिषदों में जाते हैं। वैसे ही कुछ विद्यार्थियों को या व्यक्तियों को केवल चित्तपावन जाति के होने के कारण सहायता नहीं मिल पाती हो या उनके गुणों के अनुसार उन्हें स्थान न दिया जा रहा हो और उनकी अवहेलना हो रही हो तो जाति निर्मूलक और गुण कर्म विभागशः ऊँच-नीच निश्चित हो, इस हमारे ध्येय के अनुसार ही वह सहायता देने, अन्याय दूर करने के लिए इसी कार्य के लिए स्थापित चित्तपावन, सारस्वत, मराठा या बनिया संघ से सहयोग करने के लिए हम बँधे हुए हैं। जाति निर्मूलक डॉ. अंबेडकर महार जाति की संस्थाएँ स्थापित करते हैं, महारों के अधिकारों के लिए संघर्ष करते हैं। जाति निर्मूलक विट्ठल राव शिंदे पूर्वास्पृश्य जातियों के छात्रों के लिए आश्रम स्थापित करते हैं, जाति निर्मूलक सयाजी राव मराठा जाति समाज से सम्मान प्राप्त करते हैं, ये सारे कार्य संक्रमण काल की परिस्थिति में अपरिहार्य, अनिष्ट समझकर ही किए जाते हैं। इसमें भी आपके इस संघ ने रोटीबंदी आदि की बेड़ियाँ तोड़ने की हम सुधारवादियों की या न तोड़ने की सनातनियों की किसी भी बात से अपने को न तो बाँध लिया है, न समर्पित किया है, इसलिए विद्यार्थियों की सहायता करने छात्रावास आदि कार्यों के लिए स्थापित इस संघ को दोनों ही पक्षों द्वारा सहायता देने में कोई हानि नहीं है। इतना ही नहीं अपितु इस संघ के बुद्धिमान् संचालकों ने दोनों पक्षों को जोड़ने के लिए ऐसे जातिनिष्ठ संघों-हिंदू संगठनों की प्रगति में होनेवाली बाधा दूर हो, इसलिए जो शर्त माननी चाहिए वह उल्लेख मैंने ऊपर किया हुआ है। वह शर्त शर्त के रूप में ही नहीं बल्कि न्याय-कर्तव्य मानते हुए अपने उद्देश्य में स्पष्ट शब्दों में लिखी है और आज वह यहाँ सर्वसम्मत हो रही है—यह बात मैं विशेष महत्त्व की मानता हूँ। हम किसी भी जाति को जन्मतः उच्च या नीच नहीं मानते, ऐसी जो घोषणा इस मूल उद्देश्य में आपने की है वह आपको जितनी शोभादायी है उतनी ही अपने हिंदू राष्ट्र की संगठित प्रगति में सहायक भी होनेवाली है।

रत्नागिरि के चित्तपावन ब्राह्मणों में से इतने महान्, सुविज्ञ, सुप्रतिष्ठित और प्रमुखों में भी प्रमुख नागरिकों से भरी हुई इस सभा में हम जाति संबंधी ऊँच-नीच नहीं मानते, ऐसी लिखित घोषणा दोनों पक्षों द्वारा एकमत से की गई, यह छोटी बात नहीं है। ब्राह्मण चाहे पतित हो गया हो फिर भी वह तीनों लोक में श्रेष्ठ है। निरक्षर या नीच हो तब भी हर ब्राह्मण को वेदोक्त अधिकार है। पर गांधी, विवेकानंद को शूद्र कहा, इसलिए वे वेद श्रवण भी न करें। वे तो जन्म से नीच हैं। अंबेडकर कितने ही साफ-सुथरे और विद्वान् हों तो भी उनकी छाया मात्र हमारे स्पृश्य शराबी को

अशुद्ध करती है; क्योंकि वे अस्पृश्य जाति के नीचतम हैं, आदि बेहूदा अहंकारी हिंदू हित-घातक बकवासों को तिलांजलि देने के लिए ब्राह्मण ही आगे आएँ और हम केवल जन्म से किसी भी जाति को उच्च या नीच नहीं मानते—ऐसी घोषणा करें। इसी को मैं सच्चा ब्राह्मणत्व मानता हूँ। यह घोषणा नई नहीं है। यह भी सनातन ही है। कारण 'जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्चते।' इस सनातन संस्कृत सूत्र का ही यह प्राकृत अनुवाद है कि जन्म से किसी भी जाति को ऊँचा या नीचा न माना जाए। उसके प्रकट गुणों से श्रेष्ठता-नीचता मानी जाए।

मेरे द्वारा व्यक्त किए गए विचार मेरे हैं, आप लोग उनसे बँधे नहीं हैं। पर इस संघ के मूल उद्देश्य में जो घाषणा हम सबने एक मत से की है वह और उन शब्दों की सीमा तक आप-हम-सबकी वह एक मुँह की घोषणा है। इसलिए इस संघ के उद्देश्यों को मैं अपनी स्वीकृति दे रहा हूँ। रत्नागिरि का हिंदू समाज, हिंदू राष्ट्र के महान् हित में संकुचित जातीय अहंकार की बलि किस तरह चढ़ा रहा है उसका भी यह एक नया उदाहरण है। अन्य जातिनिष्ठ संघ भी ऐसी घोषणा अपनी संस्था के उद्देश्यों में करेंगे और वैसा व्यवहार भी करेंगे तो उस संक्रमण काल में उसका अस्तित्व अधिक असहनीय नहीं लगेगा; हानिकर भी नहीं होगा।

अंत में मैं आपको यह आश्वासन देता हूँ कि गुण के आधार पर ऊँच-नीच निश्चित करनेवाली जाति व्यवस्था चालू हो जाने पर किसी भी जाति को, विशेषकर आपकी ब्राह्मण जाति को डरने का कोई कारण नहीं है। ऐ ब्राह्मण! आपने आज तक जिस बुद्धिबल से श्रेष्ठत्व प्राप्त किया ऐसा कहते हैं वह बुद्धि और पराक्रम आप में अभी भी है या नहीं? यदि आप में बुद्धि और पराक्रम है तो फिर गुण आधार पर श्रेष्ठता मिलनेवाली व्यवस्था में आप अधिक सहजता से श्रेष्ठ बन सकेंगे। कोई एक पहला बाजीराव अपने गुणों से इस व्यवस्था में भी पेशवा ही नहीं, छत्रपति भी हो जाएगा। क्योंकि गुणों में वह अपनी पीढ़ी में छत्रपति होने के ही योग्य था। परंतु यदि आप में अंतर्निहित वह बुद्धि और पराक्रम बुझ गया हो तो दूसरे अधिक क्षमतावान् वर्ग के हाथों में इस अपने हिंदू राष्ट्र का और हिंदू धर्म का भविष्य सौंपकर अपनी उस भूतपूर्व श्रेष्ठता को राष्ट्रहित में होम कर दें और दधीचि की तरह ब्राह्मण जाति अपने अस्तित्व का देवकार्य में बलिदान करे यही सच्चे ब्राह्मण को शोभा देनेवाला आपका अंतिम कर्तव्य नहीं है क्या? केवल गुण आधारित उच्चता निश्चित करने या संपादित करने से वही डरेगा जिसे अपने में वे उच्च गुण नहीं दिखते हों। मुझमें बुद्धि नहीं है, पर मेरे पिता के कारण मुझे सुबुद्धि कहा जाए, मैं डरपोक हूँ, पर मुझे मेरे पिता की धौंस में बहादुर कहें ऐसा कहने की दीन स्थिति की अपेक्षा जो सच्चा ब्राह्मण होगा वह किसी देवकार्य के लिए संघर्ष करते मर

जाएगा। यही संदेश मुझे मेरे हिंदू राष्ट्र की हर जाति को देना है। जन्मजात जाति व्यवस्था का माने झूठी जन्मजात ऊँच-नीच का निर्मूलन कर गुणजात उच्चता का पुनरुद्धार करें। अंतिम बाजीराव जैसा बड़प्पन और दरिद्र अहंकार नहीं, कर्ण जैसी हुंकार भरें—"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाभ्यहम्। देवयत्तं कुले जन्म महायत्तं तु पौरुषम्।"

संक्रमण काल को एक अपरिहार्य अनिष्ट मानकर ऐसे संघ का नामकरण करते हुए इस सारी पोथीजन्य जाति एवं बेटीबंदी, रोटीबंदी की बेड़ियाँ तोड़ते हुए बड़े वेग से एक महान् हिंदू जाति में विलीन होते ही इसका अंतिम संस्कार करने का शुभ योग जल्दी ही आ जाए, ऐसा इस संघ को मेरा हार्दिक आशीर्वाद है।

□

प्रकरण—१५

जन्मजात अस्पृश्यता का मृत्युलेख : अस्पृश्यता मर गई, पर उसका क्रियाकर्म अभी शेष है

पूर्वार्ध

"Untouchability is abolished and its practice in any form is forbidden. The enforcement of any disability arising out of untouchability shall be an offence punishable in accordance with law."
The Constitution of India, Article 17.

'अस्पृश्यता' का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। 'अस्पृश्यता' जन्य हीनता किसी पर लादना इस निर्बंधानुसार दंडनीय अपराध होगा। *(भारत का संविधान, अनुच्छेद १७)*

उपर्युक्त घोषणा जिस दिन अपनी भारतीय संविधान समिति के द्वारा सर्वसम्मति से पारित की गई वह दिन मानवता की दृष्टि से और हिंदू संगठन की दृष्टि से एक स्वर्ण दिन समझा जाना चाहिए। अशोक स्तंभ जैसे किसी चिरंतन स्तंभ पर उकेरने के महत्त्व की यह महान् उदार घोषणा थी।

गत अनेक शतक जिन शताधिक साधु-संतों ने, समाज-सुधारकों ने एवं राजनीतिक धुरंधरों ने इस जन्मजात अस्पृश्यता की बेड़ियाँ तोड़ने के लिए अत्यधिक प्रयास किए, उनके उन समस्त प्रयासों को उस दिन पूर्ण सफलता मिली।

अब अस्पृश्यता का पालन केवल एक निंदनीय पाप नहीं रहा, यह एक दंडनीय अपराध घोषित हो गया है। अस्पृश्यता पालन न किया जाए यह अब केवल

विध्यर्थी-औपचारिक नीति-नियम नहीं रहा, अब अस्पृश्यता का पालन न किया जाए यह आदेशात्मक विधि बन गया है।

भारतीय संविधान के उपर्युक्त अनुच्छेद १७ में अस्पृश्यता शब्द का उपयोग मोटा है जबकि विधि की सूक्ष्मता की दृष्टि से उस शब्द का स्पष्टीकरण करनेवाली एकाध पाद टिप्पणी वहाँ देना आवश्यक था। (वैद्यकीय) चिकित्सकीय, वैयक्तिक एवं प्रासंगिक अस्पृश्यता को समाजहित में कहीं-कहीं निषिद्ध नहीं माना जा सकता। उपर्युक्त अनुच्छेद में जिस अस्पृश्यता का अंत किया गया है उस अस्पृश्यता का अर्थ है—किसी एक जाति में जन्म होने के कारण उन स्त्री-पुरुषों पर लादी जानेवाली जन्मजात अस्पृश्यता। अर्थात् अस्पृश्यता में जो विशेष घटक निषिद्ध माना गया है वह मानी हुई जन्मजातता है।

उपर्युक्त मर्म पर ध्यान दें तो यह स्पष्ट होगा कि ऐसी केवल मानी हुई जन्मजातता के कारण जो हीनता, ऊँच-नीच और अक्षमता आज जातिभेद की दूषित रूढ़ि के कारण अपने हिंदू समाज की जाति-जाति से चिपकी हुई है उसमें से जन्मजात अस्पृश्यता की हीनता एवं अक्षमता आज की रूढ़ि के अनुसार अत्यंत असमर्थनीय एवं दूषित होने से यद्यपि उस अस्पृश्यता को उपर्युक्त अनुच्छेद द्वारा अवैध और दंडनीय ठहराते हुए भी उससे और उसी न्याय से वैसी अन्य जन्मजात मानी हुई हीनता, ऊँच-नीच या अक्षमता भी न्यूनाधिक असमर्थनीय और निषिद्ध है यह भी सूचित किया हुआ है। जातिभेद की अस्पृश्यता छोड़कर शेष रही और जाति-जाति पर लादी गई अन्य हीनता एवं ऊँच-नीच के सूत्र यद्यपि अवैध नहीं माने गए फिर भी अवैध हैं। दंडनीय न हो, पर खंडनीय है। उस अनुच्छेद का यह गर्भितार्थ इसी संविधान में भारतीय नागरिकों को मूलभूत समता की जो गारंटी उद्देशिका (प्रियंबल) में दी हुई है और फिर नागरिकों के मूलाधिकार के (अध्याय) भाग में जो स्पष्टता से विधान किए गए हैं कि भारतीय राज्य किसी भी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि किसी कारण से कोई भी विभेद नहीं करेगा और सबको विधि के अधीन समता प्राप्त होगी

(अनुच्छेद १४-१५)

उपर्युक्त वाक्यों से उस गर्भितार्थ का स्पष्टता से समर्थन होता है।

इस तरह केवल मानी हुई जन्मजात अस्पृश्यता पर ही नहीं, अपितु जन्मजात कही जानेवाली, परंतु केवल पोथीजन्य जातिभेद की दूषित रूढ़ि के कारण जाति-जाति पर लादी हुई अन्य सब तरह की मानी हुई हीनता एवं अक्षमता की जड़ों पर भी संविधान ने विधि की कुल्हाड़ी चलाई है। अब किसी भी हिंदू स्त्री-पुरुष को वह अमुक जाति में जनमा इसी एक कारण पर कोई भी हीनता या अक्षमता सहन

नहीं करनी पड़ेगी या कोई भी जन्म से प्राप्त विशेषाधिकार या विशिष्ट उच्चता का उपभोग नहीं कर सकेगा। विधि के क्षेत्र में जाति का प्रश्न ही नहीं रहा है।

दुर्योग से इसमें एक अपवाद अवश्य रह गया है और वह है दलित वर्ग के लिए कुछ वर्षों के लिए दी गई कुछ विशिष्ट सुविधाएँ। सद्य: परिस्थिति में किसी एक जाति के नाम पर नहीं, पर दलित वर्ग के लिए ऐसी सुविधाएँ देना उचित ही था। अपरिहार्य भी था। परंतु उस दलित वर्ग की परिगणना में 'वर्गीकृत जाति' ऐसा जाति के आधार पर जो विभाग किया गया है वैसा नहीं करना चाहिए था। क्योंकि उस कारण केवल जन्मजाति के आधार पर विशिष्टाधिकार आरक्षित स्थान, नौकरियाँ आदि कुछ जातियों को मिलनेवाली हैं। माने इस सीमा तक जन्मत: जातिभेद संविधान में माना गया है। यह संविधान में दिए गए नागरिकों को मूलभूत समानता के अधिकारों से विसंगत है। यह अपवाद टालकर भी उन दलितों की सहायता की जा सकती थी। परंतु इस लेख में केवल अस्पृश्यता को समाप्त करने की घोषणा पर ही विचारणीय होने से इतना उल्लेख काफी है कि जिसे बहुत महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं, ऐसे इस अपवाद को छोड़ दें तो अस्पृश्यता के संबंध की इस संवैधानिक घोषणा ने जन्मजात जातिभेद की दूषित रूढ़ि की रीढ़ ही तोड़ दी है।

अस्पृश्यता दंडनीय अपराध है। इस घोषणा का वास्तविक महत्त्व, मर्म और उसके दूर तक होनेवाले परिणाम पूर्णता से जनता के ध्यान में आएँ इसके लिए जिस परिस्थिति में और जिस तरह वह घोषणा की गई उसकी भी सूक्ष्म छानबीन करना आवश्यक है। ऐसी छानबीन अभी तक सुसंगत रूप से नहीं हुई है और दूसरा यह कि वैसी छानबीन हुए बिना उस घोषणा के अनुसार अपने विस्तृत भारतीय समाज के रोम-रोम में रची-बसी यह जन्मजात अस्पृश्यता की भावना आमूलाग्र समाज के निचले स्तर तक उखाड़ने का दुष्कर कार्य केवल विधि के बल पर आसान नहीं होगा। जब विधि के बल को जनता की उत्कट इच्छा का बल भी मिलेगा तब कहीं जाकर करोड़ों लोगों की हाड़-मांस में एकजीव हुई शतकों की रूढ़ि के उच्चाटन का कार्य सहज होगा। उस घोषणा की इस कारण से ऐसी छानबीन करें तो उसमें निहित मुख्य-मुख्य विधेय स्पष्ट हो जाएँगे।

यह सुधार हमारे हिंदू राष्ट्र पर किसी अहिंदू शक्ति द्वारा बलपूर्वक लादा हुआ नहीं है

अस्पृश्यता को समाप्त करनेवाली यह घोषणा मुगल या अंग्रेजी शासन जैसे किसी विदेशी राष्ट्र द्वारा हमपर लादी हुई नहीं है या तलवार की नोक पर हमारी

इच्छा के विरुद्ध हमसे लिखवाई गई नहीं है। स्वतंत्र भारत के लोक प्रतिनिधियों ने स्वतंत्रता से, स्वेच्छापूर्वक एवं सर्वसम्मति से हमारी संविधान सभा में यह घोषणा की है। राष्ट्र कल्याणार्थ, यह पश्चात्तप्त स्पृश्य हिंदुओं द्वारा लिया हुआ स्वयंस्फूर्त प्रायश्चित्त है।

जिस संविधान सभा ने यह घोषणा की है उसमें बहुमत स्पृश्य हिंदू प्रतिनिधियों का है, वे यदि विरोध करते तो यह घोषणा सर्वसम्मत क्या सम्मत भी न होती। अस्पृश्यता का जन्म कब हुआ, इतिहास की किस प्राचीन जीवन कलह की विकट परिस्थिति में एक अपरिहार्य उपाय के रूप में इसे स्वीकार किया गया, उस समय वह दोष किसका था या कहें कि सबका था या किसी का नहीं, परिस्थिति का ही वह दुष्ट विपाक था इन सब प्रश्नों की चर्चा अब अप्रस्तुत होने से इतना कहना काफी है कि कम-से-कम नौ-दस शतकों से यह जन्मजात अस्पृश्यता की रूढ़ि अन्याय्य होते हुए भी, अधर्म्य होते हुए भी, राष्ट्रघातक होते हुए भी उसे न्याय्य, धर्माचरण मानकर उसका पालन करते हुए चातुर्वर्णीय 'स्पृश्यों' के हाथ से एक राष्ट्रघातक पाप हो रहा है ऐसी कुछ तीखी अनुभूति इस संविधान सभा के लाखों लोगों द्वारा चुनकर भेजे स्पृश्य प्रतिनिधियों को थी। उस घटित पाप के लिए उन्हें हृदय से पश्चात्ताप था और इसके आगे यह राष्ट्रीय पाप नहीं होना चाहिए, ऐसा उनका दृढ़ संकल्प हो गया था, इसलिए बहुसंख्य स्पृश्य प्रतिनिधियों ने अपने चिरकालीन विशिष्ट हितों से जुड़े वर्ण एवं जाति अहंकार को राष्ट्रहित में स्वयं ही तिलांजलि दी। और इस तरह उस पाप का स्वेच्छा से प्रायश्चित्त किया तथा सर्वसम्मत घोषणा की कि इसके बाद भारतीय राज्य में जन्मजात अस्पृश्यता का किसी भी रूप में पालन एक दंडनीय अपराध माना जाएगा।

संविधान सभा में स्पृश्य हिंदुओं के इन प्रतिनिधियों में चारों वर्णों के, भिन्न-भिन्न उपजातियों और सब प्रांतों के प्रतिनिधि थे यह दूसरी बात भी ध्यान में लानी होगी। तीसरी महत्त्व की बात यह भी कि अस्पृश्यता का अंत करनेवाली घोषणा के प्रश्न पर उन तथाकथित स्पृश्य प्रतिनिधियों को प्रबुद्ध, प्रमुख एवं प्रतिष्ठित ऐसे लाखों स्पृश्य जनता की भारतव्यापी सहमति थी। इसका अप्रतिम विधेय साक्ष्य यही कि एकाध अपवाद छोड़कर देश के सारे अखिल भारतीय संगठनों और संस्थाओं ने इस सुधार की सक्रिय माँग अनेक वर्षों से की थी और इस घोषणा का रत्ती भर भी विरोध नहीं किया गया। अखिल भारतीय संस्थाओं में से जिस संस्था के लाखों स्पृश्य हिंदू सदस्य हैं, उस कांग्रेस जैसी प्रमुख संस्था ने जन्मजात अस्पृश्यता के उच्चाटन के लिए अनेक वर्षों से दृढ़ प्रतिज्ञा और अखंड प्रयास किए हुए हैं। संविधान सभा के प्रतिनिधियों में कांग्रेस का ही बहुमत था यह

कहने की आवश्यकता नहीं। अखिल भारतीय हिंदू महासभा के तो मूलभूत उद्देश्यों में अस्पृश्यता निवारण का उद्देश्य प्रमुखता से ग्रथित है। रत्नागिरि हिंदूसभा जैसी उसकी शाखा ने और उसके अध्यक्ष पद पर बैठे अनेक नेताओं ने जन्मजात अस्पृश्यता का ही नहीं अपितु जन्मजात जातिभेद के उच्चाटन के लिए सहभोजों का भारतव्यापी आंदोलन किया। कुछ सनातनी संस्थाओं का ही अस्पृश्यता निवारण के प्रतिकूल स्वर है। अपवाद छोड़ दें तो अन्य हिंदुत्वनिष्ठ संस्थाओं यथा—आर्य समाज, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ आदि अखिल भारतीय संस्थाओं में अस्पृश्यता को कभी महत्त्व नहीं दिया गया। प्रगतिशील पक्ष, प्रार्थना समाज, ब्रह्म समाज आदि पुरानी संस्थाएँ भी अस्पृश्यता को मिटाने के लिए पूरी तरह कटिबद्ध थीं। मुख्यत: आर्थिक प्रश्नों के पीछे पड़ी सोशलिस्ट एवं कम्युनिस्ट संस्थाओं के अखिल भारतीय संगठनों में जो सहस्राधिक 'स्पृश्य हिंदू' हैं वे भी उन संस्थाओं के अपने सिद्धांत के अनुसार ही जन्मजात अस्पृश्यता उन्मूलन के काम में बाल बराबर भी पीछे रहनेवाले नहीं हैं। यह भी ध्यान में रहे कि आज की इस घोषणा के बीस-पच्चीस वर्ष पहले से कितने ही छोटे-बड़े हिंदू राजाओं के राज्यों में जन्मजात अस्पृश्यता नष्ट करनेवाली ऐसी ही विधिक घोषणा उनकी स्पृश्य हिंदू बहुमत की विधान सभाओं की सहमति से की गई थी और उनको व्यवहार में उतारा भी गया था। इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि स्पृश्य हिंदुओं की प्रचंड संख्या में जो विचारशील, मुखर, कर्ता और महत्त्व के लोग हैं उनकी इस घोषणा के साथ भारतव्यापी सहमति पहले से ही थी। या यह कहें कि यदि लाखों स्पृश्य हिंदुओं के मन में यह विचारक्रांति पहले से ही जनमी न होती और अस्पृश्यता का नाश करने का संकल्प उन्होंने न किया होता तो यह घोषणा करना दुष्कर हुआ होता। और यदि स्पृश्यों के मत को महत्त्व न देते हुए इतना भूकंपीय परिवर्तन हिंदू समाज-रचना में करने का साहस कोई करता तो उसकी अमेरिका जैसी गत बने बिना न रहती।

अमेरिका में गुलामी का अंत और हिंदुस्थान में अस्पृश्यता का अंत

मुसलमानी धर्मशास्त्र में दासप्रथा, गुलामगिरी सम्मत है। इतना ही नहीं अपितु युद्ध में हारे हुए 'काफिरों' को गुलाम बनाओ ऐसा आदेशित है। ईसाई धर्म में दासप्रथा आदेशित नहीं है तथापि अनुमत है। 'स्लेव्स, ओबे योर मास्टर्स' ऐसा ईसाइयों का शास्त्रवचन प्रसिद्ध है। मुसलमानों ने गुलामगिरी समाप्त करने की घोषणा कभी की ही नहीं। परंतु ईसाई राष्ट्रों में से अमेरिका ने वह साहस किया। अमेरिकी कांग्रेस ने 'स्लेवरी इज एबालिश्ड' मानवता की दृष्टि से ऐसी महान्

घोषणा की। गुलामी और अस्पृश्यता इन दोनों दूषित रूढ़ियों में अधिक दूषित रूढ़ि कौन सी है इसकी चर्चा यहाँ अप्रस्तुत होने से इतना ही कहना काफी होगा कि हमारे भारतीय संविधान द्वारा की गई घोषणा—'अनटचेबिलिटी इज एबालिश्ड' की महानता से तुलना की जा सके ऐसी ही अमेरिकी कांग्रेस की घोषणा—'स्लेवरी इज एब्रालिश्ड' थी। परंतु गुलामी चालू रखने में ही विशिष्ट हित संबंध, वर्ण अहंकार, जन्मजन्य श्रेष्ठता की भावना आदि जो-जो बातें गुलामी से जुड़ी हुई थीं, उन सबको स्वयं ही तिलांजलि देने की बात अमेरिकी जनता के लिए इतनी असह्य थी कि गुलामी नष्ट किए जाने का आदेश प्रसारित करनेवाली कांग्रेस के शासन के विरुद्ध लाखों अमेरिकी लड़ाई ठान बैठे। गृहयुद्ध शुरू हुआ और सारा अमेरिका भातृ रक्त में सन गया। कितनी ही लड़ाइयाँ लड़ने के बाद कांग्रेस की उत्तर अमेरिकी सेना पूर्ण विजयी हुई। दक्षिण अमेरिका हार गया, शरणागत हुआ और तब कहीं जाकर उन शरण आए लोगों पर गुलामी नष्ट करने की प्रथा लादी जा सकी। न्याय-देवता का आदेश रणदेवता की सहायता से ही पूरा किया जा सका। परंतु आज के भारत में? अस्पृश्यता का पालन एक कर्तव्य है, यही नहीं वह तो धर्माचार है ऐसी विकृत परंतु प्रामाणिक भावना जिन करोड़ों स्पृश्यों के हाड़-मांस में शतकों से व्याप्त है उन्हें अस्पृश्यता का पालन एक दंडनीय अपराध माना जाएगा—ऐसा डाँटकर कहनेवाली वह घोषणा होने के बाद भी स्पृश्यों द्वारा उसे उलटने के लिए अमेरिका जैसे भातृ हत्याएँ, रक्तपात, सशस्त्र गृहयुद्ध किए जाने की रत्ती भर आशंका नहीं है। उलटे उपर्युक्त अनेक अखिल भारतीय संस्थाओं ने, जिनके लाखों स्पृश्य सदस्य हैं, संविधान द्वारा घोषित अस्पृश्यता समाप्ति की घोषणा का आसेतुहिमालय सहर्ष स्वागत किया है। इस संतोषजनक परिस्थिति का मुख्य कारण यह है कि संपूर्ण भारत के 'स्पृश्य' हिंदुओं में से जो विचारशील, न्यायप्रिय और मुखर हैं उन लाखों स्पृश्यों को अस्पृश्यता का पालन करने में अपने हाथों हो रहे पाप का अंतरमन से पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने स्वयं आगे बढ़कर वह दूषित रूढ़ि उखाड़ दी तथा उस पाप का यह राष्ट्रीय प्रायश्चित्त स्वेच्छापूर्वक किया।

ऐसे राष्ट्रीय प्रायश्चित्त में अपने हाथ से गत काल में घटित पाप की अनुभूति अनुस्यूत होती है इस कारण वे प्रायश्चित्त अपमानकारी भी नहीं लगते। उलटे, भूतकाल के अन्याय को लोक कल्याण के लिए अपने संकुचित अहंकार एवं स्वार्थ की बलि देकर स्वेच्छा से उसका परिमार्जन करने में जो महान् नीति और धैर्य प्रकट किया जाता है उस कारण ये प्रायश्चित्त उस राष्ट्र के गौरवप्रद अलंकार ही साबित होते हैं।

स्पृश्य हिंदुओं की तरह ही 'अस्पृश्य' हिंदुओं ने भी अपने पापों का स्वयंस्फूर्ति से प्रायश्चित्त किया

उपर्युक्त उपशीर्षक पढ़कर बहुतों को एकाएक ऐसा आश्चर्य होगा कि यह क्या? अन्य हिंदुओं पर चातुर्वर्णीय स्पृश्यों ने अस्पृश्यता लादी यह स्पृश्यों का पाप है, पर जिनपर यह दूषित हीनता लादी गई उन बेचारे अस्पृश्यों ने इस संबंध में क्या पाप किया? वह पाप यह कि चातुर्वर्णीय स्पृश्य जिन जातियों को 'अस्पृश्य' मानते आए उन अस्पृश्यों में से कितनी ही जातियाँ स्वयं को उच्च समझकर अपने से निचली जातियों को 'अस्पृश्य' मानती रहीं। महार, चमार, मांग, ढोर, भंगी ये अपने-अपने मंदिरों में अपने से नीची अस्पृश्य जातियों को प्रवेश नहीं देते, भोजन में साथ नहीं लेते, पाठशाला में महार लड़के भंगी लड़कों के साथ मिल-जुलकर नहीं बैठते। उन्हें उनकी छूत लगती है। ऐसे कितने ही मामले हमने सुलझाए हैं। कश्मीर से त्रावणकोर तक जाति उन्मूलन के लिए हुए हमारे दौरों में हिंदुस्थान के सारे प्रांतों में अस्पृश्यों-अस्पृश्यों में भी अस्पृश्यता मानी जाती है यह हमारा स्वयं का अनुभव है। चातुर्वर्णीय स्पृश्य चेरुमा जाति को अस्पृश्य मानते हैं। अपने पर स्पृश्यों के द्वारा होते इस अन्याय के लिए स्पृश्यों को गालियाँ देनेवाले चेरुमा अस्पृश्य स्वयं वही अन्याय पुलादी, परिया आदि निचली जाति पर कर उन्हें 'अस्पृश्य' मानते हैं। जो निंदा कोई अस्पृश्य स्वयं पर लादी गई अस्पृश्यता के लिए करता है उस निंदा का आधा हिस्सा उस अस्पृश्य के हिस्से में भी जाता है, क्योंकि वह अस्पृश्य अपने से नीची जाति पर वही अस्पृश्यता लादता है। यह बहुत ही सामान्य बात है। दस-बारह वर्ष पहले त्रावणकोर के क्षत्रिय महाराज ने उनके सचिवोत्तम रामस्वामी अय्यर, जो उनके ब्राह्मण प्रधान थे, की सलाह पर अपने सारे राजमंदिर तथाकथित 'अस्पृश्यों' के लिए खोलने की अभिनंदनीय घोषणा की तब उधर के अस्पृश्यों में एझुवा जाति के 'उच्च अस्पृश्यों' ने 'पालुवा' जाति के उनसे नीच समझे जानेवाले अस्पृश्यों के मंदिर प्रवेश का विरोध किया। अस्पृश्य भी अस्पृश्यता के पाप के हिस्सेदार हैं यह जानकारी बहुतों को नहीं होती। यह दूषित रूढ़ि अस्पृश्य वर्ग भी कट्टरता से मानता आया है; इतना ही नहीं, समता का डंका पीटनेवाले मुसलिमों और ईसाइयों में भी अस्पृश्यता और जातिभेद कैसा फैला हुआ है यह सविस्तार जिसे जानना हो वे मेरे जाति उन्मूलन विषय पर लिखे मद्रास प्रदेश की कुछ अस्पृश्य जातियाँ, महार बंधुओं से खुली चर्चा, मुसलमानी पंथ, उपपंथों का परिचय एवं मुसलमानी धर्म में समानता का झूठ आदि लेखों का अनुशीलन करें।

परंतु अस्पृश्यता नष्ट किए जाने की घोषणा हमारे भारतीय संविधान द्वारा किए जाने की बात जब निश्चित हो रही थी तब केवल चातुर्वर्णीय स्पृश्यों द्वारा अस्पृश्यों पर लादी जानेवाली अस्पृश्यता पर रोक लगनेवाली नहीं थी, वह रोक तो तथाकथित उच्च अस्पृश्यों द्वारा अपने से नीच माने जानेवाले अस्पृश्यों पर भी लगाई जानी थी।

अस्पृश्यों में स्वयं को उच्च माननेवाले हिंदुओं की जन्मजात ऊँच-नीच का पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा अहंकार, नस-नस में घुसे भ्रामक धर्माचार और उससे उपजे विशिष्ट हित-लाभ भी उस घोषणा से नष्ट होनेवाले थे। परंतु इसी के लिए इस-उस जाति के जो प्रतिनिधि संविधान सभा में थे, उन्होंने अस्पृश्यता को हर प्रकार से नष्ट करनेवाली उस घोषणा का विरोध नहीं किया था। खुशी और अभिमान की बात यह है कि वैसा कुछ भी न करके अस्पृश्य हिंदुओं के प्रतिनिधियों ने भी इस विषय में अपने-अपने जातीय अहंकार एवं विशिष्ट अधिकारों को स्वेच्छा से छोड़कर, अस्पृश्य हिंदू समाज परस्पर जिस अस्पृश्यता को आज तक मान रहा था उस पाप का राष्ट्र कल्याण के लिए प्रायश्चित्त लिया और उस घोषणा को सब तरह से स्वीकारा। अस्पृश्य हिंदुओं की अखिल भारतीय संस्थाओं ने भी अपने प्रतिनिधियों के इस सत्कार्य को उठा लिया।

स्पृश्य क्या? अस्पृश्य क्या? इस जन्मजात अस्पृश्यता के पाप का भागीदार पूरा-का-पूरा हिंदू है, न्यूनाधिक दोष सबके माथे है। और आज हम सब, स्पृश्य-अस्पृश्य हिंदुओं के प्रतिनिधियों ने एकत्रित होकर उस सामाजिक पाप का सामूहिक परिमार्जन करने के लिए अपने भारतीय महाराज्य के संविधान में जो विधिक प्रतिज्ञा की है कि आज से किसी भी नागरिक को जन्मजात अस्पृश्य मानकर कोई भी हीनता या अक्षमता लादना दंडनीय अपराध माना जाएगा, यह प्रतिज्ञा या घोषणा अखिल हिंदू राष्ट्र के लिए जितनी हितकर है उतनी ही वह गौरवपूर्ण भी है।

यह घोषणा हिंदू राष्ट्र के लिए कितनी गौरवपूर्ण है, इसे स्पष्ट करनेवाली एक और बात उल्लेखनीय है। जिस संविधान में यह अस्पृश्यता नष्ट करनेवाला अनुच्छेद समाहित किया गया उस संविधान का निर्माता कौन था? इस नई स्मृति का स्मृतिकार, रचयिता कौन था? इसका निर्माता, वह स्मृतिकार था एक जन्मजात अस्पृश्य। विद्वानों में विद्वान्, स्मृतिशास्त्र पारंगत, विधिवेत्ता, विधि पंडित डॉ. अंबेडकर। एक महाराष्ट्र कुलभूषण महार! और एक बात विशेष कि डॉ. अंबेडकर को संविधान निर्माण का यह दायित्व अस्पृश्यों के द्वारा किए गए किसी विद्रोह के कारण, स्पृश्यों की छाती पर बंदूक की या तलवार की नोक टिकाकर नहीं मिला था। इस हिंदू राष्ट्र की जाति-पाँति, प्रांत-भाषा की सीमाएँ लाँघकर शांत सभा में

एकत्रित प्रतिनिधियों द्वारा स्वेच्छा से किए गए मतदान से उन्हें संविधान निर्माण का काम सौंपा गया, दूसरे यह भी कि जिस संविधान निर्मात्री सभा द्वारा उस जन्मजात अस्पृश्य को मतदान कर यह कार्य सौंपा गया उसमें अस्पृश्यों का बहुमत भी नहीं था। उसमें तो स्पृश्यों का ही बहुमत था।

प्रतिकूल परिस्थिति को पछाड़कर कायापलट करने की हिंदू राष्ट्र की क्षमता

उपर्युक्त सारी फुटकर चर्चा से एक अत्यंत आश्वासक निश्चितता हमें प्राप्त होती है और वह यह कि प्रतिकूल परिस्थितियों से टक्कर लेने के लिए जो आवश्यक होती है वह क्षमता हिंदू राष्ट्र के राष्ट्र शरीर में गहराई से व्याप्त है। कभी समय पर, कभी विलंब से परंतु हमेशा समय निकल जाने से पूर्व प्रतिकूल परिस्थितियों को टक्कर देकर उसपर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यक काया-पलट अपनी समाज-रचना में तथा आचार-विचार में घटित करने की उज्जीवक शक्ति हिंदू राष्ट्र ने प्राचीन काल से समय-समय पर प्रकट की है। हमारी अनेक स्मृतियों में, धर्म-कर्म के विधि निषेध में जो विरोध दिखता है, एक स्मृति में एक आचरण या रूढ़ि धर्म्य या विहित कर्म कही जाती है तो दूसरी स्मृति में या कभी-कभी तो उसी स्मृति के दूसरे भाग में अधर्म्य और निषिद्ध कहनेवाले वचन मिलते हैं। ऐसे वचनों से व्यक्त होनेवाला विरोध ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर अधिकतर विरोधाभास ही होता है। नई-नई प्रतिकूल परिस्थितियों से या संकटों से सफलता के साथ द्वंद्व करने के लिए उस काल विशेष में अहितकर साबित हुए पुराने आचारों का निषेध कर या हितकारी नए आचार, नए साधनों, नए ध्येय एवं नए निर्बंधों को स्वीकार एवं आदेशित कर राष्ट्ररक्षण करने का कर्तव्य भिन्न-भिन्न काल में रची गई स्मृतियों में अपने विरोधी दिखनेवाले वचनों द्वारा अविरोधता से सदियों से किया जाता रहा है। कलिवर्ज्य, युगन्हास, आपद्धर्म आदि अनेक स्मार्त संकेतों (लीगल मेक्जिम्स) का उद्भव कर हमारे स्मृतिकारों ने हिंदू राष्ट्र के स्वत्व, एकात्मता एवं वर्धन क्षमता को धक्का न लगाते हुए समाज-रचना का कालोचित कायापलट किया हुआ है। जैसे सर्प समय आने पर पुरानी केंचुली उतारकर फिर से एक बार नए तेज से चमकने लगता है वैसा ही ये हमारा हिंदू राष्ट्र जीर्ण-शीर्ण आचार-विचारों की केंचुली उतारकर सौ संकटों से सौ बार गुजरकर जयिष्णु और वर्धिष्णु तेज से दमकता रहा है। उसमें अंतर्निहित यह उज्जीवन शक्ति आज भी धधक रही है। जन्मजात अस्पृश्यता की यह दूषित रूढ़ि एक झटके में नष्ट करनेवाली यह उदात्त घोषणा भी उसी का एक अखंडनीय एवं आश्वासक प्रत्युत्तर है।

आज तीस करोड़ के हिंदू राष्ट्र में विधितः जन्मजात अस्पृश्य कोई भी नहीं रहा है। 'अग्निहोत्रं गवालम्भं नियोगः पलपैतृकम्। देवराच्च सुतोत्पत्तिः' आदि कल की अनेक रूढ़ियों की तरह आज की स्मृति में जन्मजात अस्पृश्यता लेखनी की एक फटकार 'कलिवर्ज्य' में ढकेल दी गई। अब उसका पालन ही पाप है। स्पृश्य, अस्पृश्य आदि शब्द और कुछ समय तक वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण करने तक के लिए उपयोग में लाए जाएँगे। बिलबिलाते रहेंगे, पर डंकविहीन बिच्छू की तरह उन शब्दों से जुड़े हीनार्थ का दंश होने का डर अब किसी को न रहेगा। अस्पृश्यता की रूढ़ि का जन्म कब हुआ, कैसे हुआ, किसने प्रारंभ किया, क्यों टिकी रही आदि-आदि सारे प्रश्नों की चर्चा अब केवल ऐतिहासिक संशोधन का, पंडिताई चर्चा का या निष्फल चर्चा का विषय रह गया है। वह बीते कल की कथा है, आज से उसका कोई संबंध नहीं। क्योंकि जन्मजात अस्पृश्यता आज मर गई। आज हिंदुस्थान के हर हिंदू को स्पृश्य नागरिकत्व के समान अधिकार एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। अब कोई किसी को नीचा दिखाने 'जन्मजात अस्पृश्य' कहे तो वह भी विधि अधीन दंडनीय अपराध होगा। इसके बाद किसी भी मोहम्मद अली को मुसलमानों, ईसाइयों में भी जन्मजात अस्पृश्यता का पालन होता है यह बात छिपाकर कांग्रेस के भरे अधिवेशन में अध्यक्ष पद से ऐसी भोंदूपन की माँग करने का साहस नहीं हो सकता कि हिंदू-मुसलमानों में एकता बनाए रखने के लिए आठ करोड़ अस्पृश्यों को आधा-आधा बाँट लें। क्योंकि आधे बँटवारे के लिए हिंदुओं के आठ करोड़ अस्पृश्यों में से अब तो एक भी अस्पृश्य नहीं बचा। अब तो मुसलमानों और ईसाइयों में जो अस्पृश्य हैं वे ही चाहें तो हिंदू हो जाएँ। क्योंकि अब जो भी जन्मजात अस्पृश्य हिंदू धर्म स्वीकार करेगा उसके पैरों में पड़ी अस्पृश्यता की बेड़ियाँ टूटकर बिखर जाएँगी।

पहले एक बार 'जब तक हिंदू हैं तब तक अस्पृश्यता के चंगुल से छूट नहीं पाएँगे।' ऐसा हारा हुआ भविष्य कथन कर अस्पृश्यों के एक गुट ने 'हम मुसलमान होंगे' ऐसी घोषणा की थी। तब अर्थात् १९३६ के आस-पास हमने 'महार बंधुओं से खुली चर्चा' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी थी। उसमें हमने हमारे महार बंधुओं को तर्कों के आधार पर निश्चयपूर्वक यह आश्वासन दिया था कि यदि वर्तमान वेग से हिंदू संगठन का आंदोलन हम सब बढ़ाते रहे, अस्पृश्यता की जड़ पर ऐसे ही कुल्हाड़ी चलाते रहे और धर्मांतरण का निष्फल एवं आत्मघाती आततायी निर्णय न किया जाए तो दस-बीस वर्षों के अंदर अस्पृश्यता का विषवृक्ष उखड़कर गिर जाएगा। आज वह आश्वासन अधिकतर सत्य होनेवाला है। अब हिंदू धर्म या समाज में अस्पृश्यता है, इसलिए हम यह धर्म छोड़कर जा रहे हैं ऐसा गुस्से से या खाली धौंस से कहना भी संभव नहीं है। उसका डंक ही टूट

गया है। इसके बाद भी जिन मुट्ठी भर लोगों को इस या उस कारण धर्मांतरण करना ही है वे चाहें तो सुख से करें, हमें अब उसकी कोई चिंता नहीं है, न उससे कोई बड़ी हानि होने वाली है।

कुल मिलाकर मानवता की दृष्टि से कहें या हमारे हिंदू राष्ट्र की दृष्टि से कहें, जो हुआ वह अच्छा ही हुआ। स्वतंत्र भारत के विशाल राज्य की संविधान सभा द्वारा की गई वह घोषणा गौरवपूर्ण है, उदात्त है, उदार है। शस्त्र की धार की जरा सी भी खरोंच न लगते केवल मानवीय मूल्य के शास्त्र आधार से ही प्राप्त हिंदू राष्ट्र की सद्प्रवृत्ति की यह राष्ट्रीय विजय है।

इसीलिए ऐसा एक दुष्कर, सामाजिक दृष्टि से क्रांतिकारी सुधार घटित कर लेने का शुभ वर्तमान हमारी लेखनी को रक्ताश्रुओं के स्थान पर आनंदाश्रु में घोषित करने का महाभाग्य मिल रहा है कि 'जन्मजात अस्पृश्यता का अंत हो गया! हमारे करोड़ों बंधुओं की उस कठोर शाप से मुक्ति हो गई। स्वतंत्रता प्राप्त होते ही भारतीय राष्ट्र-देवी ने उन्हें केवल नैतिक नहीं अपितु विधिक समानता एवं सम्मान का वरदान दिया।'

इसीलिए 'अस्पृश्यता का खात्मा करो! जन्मजात जातिभेद को नष्ट करो!' ऐसा प्रचार विगत पच्चीस वर्ष से करती और घिसकर टूटने के कगार पर आई हमारी लेखनी को घिसकर टूट जाने के पहले ही जन्मजात अस्पृश्यता का मृत्युलेख लिखने का सुयोग प्राप्त हुआ—यह देखकर मन प्रसन्नता से भरा जा रहा है।

पंद्रह वर्ष पूर्व रत्नागिरि के जाति उन्मूलन आंदोलन के द्वारा आयोजित स्पृश्य-अस्पृश्य छात्र एक साथ बैठाने के कार्यक्रम से लेकर खुले सहभोज तक के प्रत्यक्ष व्यवहार में से जन्मजात अस्पृश्यता को नष्ट कर दिया गया था। अस्पृश्यों को पूर्वास्पृश्य कर दिया गया था। तब उस स्थानीय कार्यसिद्धि की कृतार्थता जिस गीत द्वारा व्यक्त की गई थी वही गीत आज अपने भारतीय महाराज्य से अस्पृश्यता नष्ट हो जाने के बाद, जो कृतार्थता मन में भरी है उसे अखिल भारतीय स्तर तक भी व्यक्त कर सकता है—

'युग-युग का सूतक छूटा
विधि लिखित छूत भी टूटा
जन्म का झगड़ा मिटा
शत्रु का जाल जला
ग्राम से बहिष्कृत जो थे पहले
उन्हें अंदर ले जाइए।'

पर अस्पृश्यता का किसी भी रूप में पालन विधि अधीन निषिद्ध हो जाने के बाद भी व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन और पल-पल के व्यवहार में उस प्रतिबंध की कार्यवाही अभी होनी है। विधि स्वीकृत हुआ, पर अभी उसे कृतकार्य होना है। अस्पृश्यता मर गई, पर अभी पिंडदान बाकी है। वह कैसे हो? इसकी चर्चा इस लेख के उत्तरार्ध में होगी।

उत्तरार्ध

भारतीय गणराज्य की संविधान समिति एवं लोकसभा ने अस्पृश्यता को दंडनीय अपराध मानने की जो घोषणा की एवं जो विधि बनाई उसका महत्त्व मापन हमने इस लेख के पूर्वार्ध में किया। अब दैनिक व्यवहार में विधि अधीन प्रत्यक्ष कार्य कैसे संपन्न हो, इसकी चर्चा करें।

शतकों से समाज के ऊपरी स्तर से निम्न स्तर तक धर्माचार के रूप में रोम-रोम में रची-बसी अस्पृश्यता की रूढ़ि को अकस्मात् दंडनीय अपराध माननेवाली विधि जब तक केवल विधि संहिता में ही अंकित रहेगी तब तक वह चाहे कितनी ही उदात्त हो, व्यवहार में निष्फल ही रहेगी। उसकी पूर्ण सफलता उसके ऊँचे सिद्धांतों में नहीं, उसके व्यावहारिक प्रयोग में है। अस्पृश्यता का पालन दंडनीय है केवल इस समाचार से किसी यक्षिणी की छड़ी फिर जाने से पूरे राष्ट्र के दैनिक व्यवहार से अस्पृश्यता अपने-आप झटपट हट जाएगी—ऐसा समझनेवाला नादान भी कोई होगा, ऐसा नहीं लगता। हम यह न भूलें कि ऐसे विधि के प्रश्न पर लोकमत कितना प्रतिकूल या अनुकूल है इसकी खरी कसौटी उस विधि को सैद्धांतिक मान्यता देते समय परखी नहीं जा सकती। उसकी खरी कसौटी उस विधि का जब फुटकर और व्यक्तिगत व्यवहार होता है तब ही परखी जा सकती है। हमने पूर्वार्ध में यह कहा ही था कि स्पृश्यों में और अस्पृश्यों में भी जो सुधारक, राष्ट्रहितैषी, सुविज्ञ एवं मुखर ऐसा भाग है उसकी सहानुभूति के बल पर ही अस्पृश्यता उच्चाटन की यह विधि पारित हो सकी है। परंतु इस विशाल हिंदू समाज का करोड़ों की संख्या का जो मौन भाग है और जो भाग उस रूढ़ि को धर्माचार मानते हुए कट्टरता से गले लगाए बैठा है उसका मत इस विधि के कितना अनुकूल या प्रतिकूल है यह तो इस विधि को प्रत्यक्ष व्यवहार में लाने पर ही ठीक से परखा जा सकेगा। उसमें भी उस विधि को प्रत्यक्ष लागू करते समय उस अविज्ञ रूढ़िग्रस्त एवं मौन भाग को ही अधिक आँच का सामना करना पड़ेगा; क्योंकि अस्पृश्यों को

स्पृश्यों के सारे अधिकार समानता से देने हेतु इस विधि को कड़ाई से लागू करते ही कुएँ, पनघट, घाट, मार्ग पर, मंदिर, दुकानों में एक ओर पूर्वास्पृश्य उन्हें मिले समानता के अधिकारों का उपभोग करना चाहेंगे तो दूसरी ओर स्पृश्यों के वर्ण अहंकार और रूढ़िसिद्ध अधिकारों को प्रत्यक्ष और पग-पग पर जो धक्के लगेंगे उससे भी भावनाएँ भड़केंगी ही। इस कारण कुछ समय और कुछ स्थानों पर संघर्ष होने की आशंका प्रबल है। केवल स्पृश्य और अस्पृश्यों में ही नहीं अपितु तथाकथित उच्च अस्पृश्यों और हीन जाति के अस्पृश्यों में भी बैर होना संभव है। गुजराती भंगी और काठियावाड़ी थेड इन दो जातियों को एक भवन के अलग-अलग कमरों में रहने के लिए कहना छोटी-मोटी नगरपालिकाओं क्या मुंबई की महानगरपालिका (निगम) को भी कठिन है।

इसके विपरीत, इस विधि से उपर्युक्त तरह के संघर्ष की आशंका होते हुए भी अस्पृश्यता निवारण के कार्य में लोगों की मन-बुद्धि को अनुकूल कर लेने के प्रयास भी पहले की तुलना में अधिक सफल होनेवाले हैं। इस विधि के पारित होने के पूर्व अस्पृश्यता निवारण के लिए केवल नैतिक बल का ही उपयोग हो सकता था। अस्पृश्यता का पालन दूषणीय है, इतना कहने से जो मत परिवर्तन हो जाए सो हो जाए ऐसा उस समय था, पर अब अस्पृश्यता निवारक आंदोलन को केवल नैतिक ही नहीं अपितु विधि-प्रदत्त शक्ति भी मिली हुई है। अब अस्पृश्यता का पालन केवल दूषणीय ही नहीं, दंडनीय भी है। यह सुधारक लोगों, प्रचारकों द्वारा जोर देकर कहा जा सकता है।

अस्पृश्यता का पालन न किया जाए यह नैतिक उपदेश किसी को स्वीकार हो जाता तो भी वह आज तक डरता था कि कहीं उसने अस्पृश्यता का पालन न किया तो उसके भाईबंद और जाति उसका बहिष्कार करेंगे, जाति पंचायत भी दंडित करेगी। इसका अच्छा उदाहरण नाइयों, धोबियों का है। इन जातियों के बहुतेरे लोग व्यक्तिगत रूप से अस्पृश्यों के बाल बनाने, कपड़े धोने के लिए तैयार होते हुए भी आज तक अपनी ही भाईबंदी के डर के कारण ऐसा नहीं कर पाए। परंतु अब बात विधिक हो जाने से बहिष्कार या पंचायत दंड का कोई भय नहीं रहा, क्योंकि बहिष्कार या दंड देनेवाले को स्वयं ही दंडित होने का डर होने से किसी व्यक्ति या संस्था द्वारा स्वभावतः ही नाई-धोबी को अस्पृश्यता का पालन न करने पर रोका नहीं जाएगा और वह निर्भयता से अस्पृश्यता विरोधी कार्य कर सकेगा। केवल उपदेश देकर अस्पृश्यता निवारण का कार्य इस विधि के अस्तित्व में आ जाने से बिना उसकी दंड शक्ति का उपयोग किए भी अधिक सुगमता से हो सकेगा।

प्रतिकूल एवं अनुकूल दोनों पक्षों को ध्यान में रखते हुए इस संबंध की

विधि को लागू करने के कार्यक्रम की रूपरेखा हमें बनानी चाहिए। परंतु कुछ भी हो इस विधि को तत्काल नियम से, दृढ़ता से बिना डर के लागू करना चाहिए। अब इसे प्रत्यक्ष लागू करने में हम टाल-मटोल करें या यदा-कदा होनेवाले संघर्ष की आशंका को टालने के लिए आज की समस्या कल पर ढकेलें तो वह संघर्ष कम नहीं होगा, उलटे बढ़ेगा। शक्ति प्राप्त करेगा। अस्पृश्यता का उन्मूलन किसी भी तरह की भीरुता के कारण दस वर्षों में तो क्या, सौ वर्षों में भी नहीं होगा और अस्पृश्यता आज समाप्त हुई, उसका पालन एक दंडनीय अपराध होगा, यह संविधान की घोषणा केवल थोथी गर्जना होकर रह जाएगी। इस घोषणा की वास्तविक प्रतिष्ठा इसे लागू कराने में है। आनेवाले दस वर्षों में पूरे भारतीय गणराज्य के कोने-कोने से अस्पृश्यता को जड़-मूल से उखाड़ डालना चाहिए तभी घोषणा की प्रतिष्ठा है।

अगले दस वर्षों में अस्पृश्यता को जड़-मूल से उखाड़ फेंकने की प्रतिज्ञा करनेवाले सारे स्वराष्ट्र हितैषी कार्यकर्ता एक कार्यक्रम बनाएँ जिसमें पहले तो यथासंभव शांति से लोगों के मन की मानवीयता का, सद्प्रवृत्ति का एवं राष्ट्रप्रेम का आह्वान करते हुए किसी भी तरह की जन्मजात अस्पृश्यता का पालन न करने की प्रवृत्ति समाज में और व्यक्ति-व्यक्ति में उत्पन्न करें, जगाएँ; परंतु उपर्युक्त प्रयासों के बाद भी लोगों के मन का अन्यायप्रवण दुराग्रह न सुनें अपितु आवश्यक होने पर विधिक शक्ति का उपयोग न्यायालयों की ओर से या राज्य अधिकारियों की ओर से करने से भी न चूकें और इस तरह संवैधानिक व्यवस्था को लागू करने के लिए एक अखिल भारतीय आंदोलन खड़ा होना चाहिए।

ऐसे कार्यक्रम की प्राथमिक रूपरेखा बनाने के पूर्व और वह योग्य रीति से बने इसलिए आज अस्पृश्यता की वस्तुस्थिति क्या है, इसकी सामान्य जाँच कर लेना आवश्यक है। अस्पृश्यता दंडनीय अपराध घोषित हुए आठ-दस माह हो चुके हैं। कितनी ही प्रांतीय सरकारों ने मंदिर प्रवेश आदि खोलने संबंधी निर्णय पहले ही ले लिये थे। इनका उपयोग लोगों ने कितना किया, अस्पृश्यों को आज भी कैसे-कैसे कष्ट हो रहे हैं, विधि व्यवस्था को अमल में लाने के लिए कोई प्रयत्नशील है भी या नहीं, कहीं छोटा या बड़ा संघर्ष हुआ या नहीं—इस तरह इस समस्या के हर संभव पहलू पर प्रकाश डाल सके, ऐसी कुछ प्रतीकात्मक घटनाओं को जो इन आठ-दस महीनों में घटित हुईं, नीचे दे रहा हूँ। उन्हें मैंने खोजकर नहीं निकाला। दैनिक समाचारपत्रों में जो सहज दिखी, लिख लिया। समाचारपत्रों के इन समाचारों में न्यूनोक्ति या अधिकोक्ति हो सकती है। फिर भी कुल मिलाकर अस्पृश्यता के संबंध में आज की जो परिस्थिति है उसपर यथावत् प्रकाश डालने में वे सक्षम हैं।

निम्नलिखित घटनाओं जैसी घटनाएँ देश भर में भी घटित हो रही होंगी, यह भी निश्चित है। घटनाओं का उल्लेख करते समय कुछ स्थानों पर आवश्यक चर्चात्मक स्पष्टीकरण भी दिया जा रहा है। ये घटनाएँ निम्न हैं—

आज की परिस्थिति की उड़ती जाँच

इंदौर में चमार की दाढ़ी बनाने से मना करने पर मध्य भारत के गारोथ गाँव के एक नाई को दंडाधिकारी ने पच्चीस रुपए का जुर्माना किया। ऐसे ही और दो मामले न्यायालय के विचाराधीन हैं।

अक्कल कोट से तीन मील दूर बसे गाँव नणसगोल में स्पृश्यों और अस्पृश्यों के बीच झगड़ा हो गया है। हरिजन बंधुओं को पीने का पानी भी न मिले ऐसा प्रयास स्पृश्य कर रहे हैं। कुछ स्पृश्यों ने अस्पृश्यों को धमकाया कि गाँव छोड़ दो नहीं तो मारे जाओगे। पुलिस इंस्पेक्टर ने तीन हरिजनों को गाय चुराने के आरोप में गिरफ्तार किया है। हरिजन कहते हैं, हमपर झूठा आरोप लगाकर सवर्ण हमें परेशान कर रहे हैं। इस तहसील में दूसरी जगह भी ऐसा ही हुआ है।

ऐसे प्रकरण में केवल स्पृश्य और अस्पृश्य ही दोषी होते हैं, ऐसा नहीं है। फिर भी ऐसे स्थानों पर सरकारी अधिकारियों को तत्काल जाकर जाँच करनी चाहिए। किन्हीं दो गुटों में संघर्ष होना अलग बात है, उसकी व्यवस्था उस दृष्टि से होनी चाहिए। परंतु अस्पृश्यों को स्पृश्य लोग समान अधिकार न दे रहे हों तो अवश्य वे अधिकार और विशेषकर नदी, कुएँ के समान उपभोग के अधिकार अस्पृश्यों को तत्काल दिए जाएँ और उन्हें कुछ दिन संरक्षण भी दिया जाए। उन स्पृश्यों को, जो ऐसे अधिकारों से अस्पृश्यों को वंचित करना चाहते हों, विधि अधीन दंडित किया जाए। कड़ी व्यवस्था करने से ऐसे अन्याय अन्य जगहों पर नहीं होंगे। अस्पृश्य यदि कुछ गलत कार्य कर रहे हों तो उन्हें भी दंडित किया जाए।

उमरखेड़ (नागपुर) के एक मान्यवर कांग्रेसी नेता ने पावसाड़ा गाँव के मथुरा प्रसाद तिवारी के कुएँ से पानी न भरने का आदेश अस्पृश्यों को दिया है। इससे हरिजनों में रोष व्याप्त है। तिवारी ने अपने आदमियों से हरिजनों को पिटवाया। अब पुलिस ने तिवारी को पकड़ा है। अब यह मामला दबाने के प्रयास हो रहे हैं।

कोंकण में कुछ स्थानों पर महार लोगों ने मरे ढोरों की चमड़ी उतारने का अपना पीढ़ीजात व्यवसाय, 'हीन' होने के कारण, न करने का निश्चय किया है। इस पर गाँववालों ने उन्हें खलिहान में आने से रोक दिया है। मामला न्यायालय में जाने की संभावना कही जा रही है।

जो अस्पृश्य अब तक मरे ढोरों की चमड़ी उतारने का काम नहीं करते थे

उन्होंने यह कार्य करने का प्रस्ताव पारित किया है। यह समाचार मुंबई में रह रहे उनके जात-भाइयों को ज्ञात हुआ तो उन्होंने उन्हें, रूढ़ि विरुद्ध धंधा किया तो जाति से निकाल देने की धमकी दी है।

उत्तर प्रदेश के रामपुर में एक हजार भंगियों ने यह माँग की है कि नाई हमारी हजामत बनाएँ, धोबी कपड़े धोएँ और नगरपालिका हमारा वेतन बढ़ाए।

हरिजन दिवस पर हरिजनों ने उपाहार-गृह में प्रवेश करने का प्रयास किया, इसलिए लोगों ने उनका आर्थिक बहिष्कार किया है। हरिजनों ने तहसीलदार से जलूस ले जाकर शिकायत की। तहसीलदार ने प्रकरण वरिष्ठ अधिकारियों को सौंप दिया है। (ऐसे समय में लाल फीते में समय न गँवाते हुए स्थानीय अधिकारी हरिजनों को तत्काल संरक्षण देकर उनको परेशान करनेवालों को दंडित करें।)

लोणंद की ओर के शेरीवाड़ी गाँव में हरिजनों ने जिस बावड़ी पर पानी भरा उसे गाँव ने बहिष्कृत कर दिया है।

अकोला के गुलझापुरा की एक हरिजन महिला नदी पर पानी भरने गई तो उसे अन्य स्पृश्य महिलाओं ने घेरकर मार-मारकर बेहोश कर दिया। अस्पृश्य महिला की शिकायत पर पुलिस जाँच कर रही है। (ऐसे प्रकरणों के समाचार सरकार प्रकाशित कराए। जाँच में किसकी शिकायत सही निकली और उसके लिए किसको क्या दंड दिया गया आदि अधिकृत जानकारी सरकार के द्वारा प्रकाशित किए जाने पर ऐसी ही घटनाएँ दूसरी जगह होना प्रतिबंधित हो जाएगा। साथ ही ऐसे प्रकरण तुरत-फुरत निपटाए जाने चाहिए।)

साकुर्ली (जिला ठाणा) में गत हरिजन दिवस से स्पृश्यों और अस्पृश्यों में अनबन हो गई है और हरिजनों के पशु बाँधे रखना, किसानी काम में बाधा डालना, हरिजन महिलाओं को धमकी देना आदि घटनाएँ हो रही हैं। विधायक महोदय से इसकी शिकायत करने के बाद पुलिस को व्यवस्था बनाए रखने के आदेश हुए हैं।

फलटण में हरिजन दिवस पर वहाँ के कांग्रेसी नेता श्री भगत की अध्यक्षता में आयोजित सभा में हरिजन वक्ताओं ने पूछा कि साल में केवल एक दिन ही हरिजनों की याद क्यों आती है? कांग्रेस अधिवेशन के लिए बाईस हजार रुपया आपने एकत्रित किया, पर सार्वजनिक शौचालय और प्रकाश व्यवस्था के लिए आपके पास पैसा नहीं है, ऐसा कहते हैं। हमारे दुःख-दर्द दूर न करते हुए केवल यह हरिजन दिवस का आयोजन करना हमें ढोंग लगता है।

हरिजन दिवस पर आयोजित होनेवाले समारोहों में अनेक स्थानों पर हरिजनों ने ऐसे ही भाषण दिए। हमें नौकरी दो, आरक्षण दो, अन्य सहूलियतें दो तब हम समझेंगे कि अस्पृश्यता मिट रही है। कुछ स्थानों पर सद्हेतु से आयोजित सहभोजों

का बहिष्कार करने का कार्य कुछ अविचारी अस्पृश्य गुटों ने किया।

इतना ही नहीं अपितु दो-तीन स्थानों पर हरिजन दिवस पर हरिजनों की कुछ टोलियों ने जुलूस निकालकर 'लड़के लेंगे दलित स्थान' ऐसी अर्थशून्य, अविचारी एवं अहितकारी घोषणाएँ भी कीं।

मुंबई में कोंकण मित्रमंडल नामक एक छोटी, पर कार्यप्रवण संस्था है। उसके नवीनतम प्रतिवेदन से यह ज्ञात होता है कि कुछ गाँवों में डाकिया हरिजनों के पत्र उनके घर जाकर नहीं बाँटता। अपने पत्र लेने हरिजनों को ही डाकघर जाना पड़ता है और मनीऑर्डर का भुगतान बिना किसी सवर्ण के साक्ष्य के वे किसी शिक्षित हरिजन को भी नहीं करते। कोंकण मित्रमंडल ऐसे अन्यायों को दूर करने के लिए प्रयत्नशील है।

महाराष्ट्र प्रदेश हरिजन सेवक संघ

यह संस्था प्रारंभ से ही अस्पृश्यता के निवारणार्थ ठोस कार्य कर रही है। इस लेख में यह देखना है कि अस्पृश्यता दंडनीय अपराध घोषित हो जाने के बाद के पाँच-छह महीनों में इस संस्था ने क्या कार्य किए हैं। इस संस्था के वर्तमान अध्यक्ष हैं श्री विनायक राव बर्वे, विधिवेत्ता धुलिया। वे 'दलित सेवक' नामक एक वृत्त-पत्र भी निकालते हैं। अनेक वर्षों से वे मुख्यत: कान्ह देश में अस्पृश्यता निवारण कार्य में अविरत परिश्रम कर रहे हैं। उनकी अध्यक्षता में महाराष्ट्र प्रांतीय हरिजन सेवक संघ अस्पृश्यता को दंडनीय अपराध घोषित करनेवाली विधि को महाराष्ट्र में लागू करने के लिए स्थान-स्थान पर प्रभावी कार्य कर रहा है। यह बड़े संतोष की बात है। यथासंभव हृदय-परिवर्तन कराकर कार्य करने की उनकी नीति है; पर अड़ियल, अन्याय का उच्चाटन करने के लिए आवश्यकतानुसार विधि की सहायता लेकर दंडात्मक कार्यवाही करने से भी वे पीछे नहीं हटते। उनका यह व्यवहार समर्थन करने योग्य है। उनके कार्य की जानकारी दूसरों के लिए मार्गदर्शक होने से उनके संघ के अगस्त १९५० के प्रतिवेदन में उल्लेखित कुछ कार्यों को यहाँ हम उद्धृत कर रहे हैं—

१. गत अगस्त माह में उस संस्था के एक प्रचारक श्री मोरे ने पुणे जिले के फुरसंगी, मुहम्मदवाडी, लोणी, कालभोर, थेवून, वाडे, दापोडी, उंडी, केसनंद, वाघोली, मांजरी, कोलवडी, साष्टे, विवरी, सिरसवाडी, सहजपुर आदि गाँवों में जाकर हरिजन बस्तियों को देखकर उन्हें नई विधि (कानून) की जानकारी दी और बताया कि उन्हें इस विधि द्वारा कौन से अधिकार और सुविधाएँ मिली हैं।

२. थाना जिले के प्रचारक श्री मोईर ने अनेक गाँवों में जाकर ऐसा ही प्रचार किया। पूर्णा के तीनों देवमंदिरों में स्पृश्य-अस्पृश्यों सहित प्रवेश कर दर्शन किया। सरक गाँव, वसई, उमरोली, आंबेल आदि गाँवों में होटलों में हरिजनों का प्रवेश कराया। कांबरा और भिवंडी के हरिजनों की शिकायतें अधिकारियों तक पहुँचाईं।
३. सातारा के जिला प्रचारक श्री शिवदासजी ने शिवघट, वाटे, कामाठीपुरा, कोलवडी, सानके आदि पंद्रह-बीस गाँवों में जाकर हरिजनों को नई विधि व्यवस्था की जानकारी दी। इन सब गाँवों में हरिजनों को होटलों में ले जाकर सबके साथ चाय पी। केशकर्तनालयों में हरिजनों को ले जाकर सवर्णों की तरह ही बिना किसी भेदभाव के उनकी दाढ़ी बनवाई, बाल कटवाए। इन गाँवों में चौदह स्थानों पर हरिजनों के हाथों से सार्वजनिक कुओं पर पानी निकलवाया गया। आठ जगह उन्हें मंदिर में ले जाकर देवदर्शन कराया गया। कान्ह देश जिले में हरिजन सेवक संघ का मुख्यालय होने से वहाँ के हर गाँव में अस्पृश्यता निवारण का कार्य निरंतर चल रहा है। इस तरह के सोचे-समझे तरीके से विधि (कानून) को लागू कराने का जो कार्य महाराष्ट्र प्रदेश हरिजन सेवक संघ की ओर से चल रहा है उसके लिए संस्था का एवं उसके अध्यक्ष श्री बर्वे का हम हार्दिक अभिनंदन करते हैं। बिना भेदभाव के सब नागरिक इस कार्य में उस संघ से यथासंभव सहयोग करें।

अखिल भारतीय डिप्रेस्ड क्लासेस लीग

यह हरिजनों की प्रतिनिधि एवं प्रमुख संस्था है। अनेक प्रांतीय मंत्री और अन्य राज्याधिकारियों का समावेश इसके संचालकों में है, यह विशेष महत्त्व की बात है। इस संस्था के संचालक मंडल की बैठक गत सितंबर में हुई। भारतीय लोकसभा के सदस्य डॉ. धर्मप्रकाश उस बैठक के अध्यक्ष थे। पंजाब के श्रममंत्री श्री पृथ्वीसिंह, उत्तर प्रदेश के मंत्री गिरिधारी लालजी, मध्य प्रदेश के मंत्री अग्निभोज, मद्रास के मंत्री परमेश्वरम्, मुंबई के मंत्री गणपतराव तपासे, नारायणराव काजरोलकर एम.एल.ए., सोनवणे एम.पी. आदि हरिजनों के अखिल भारतीय नेता एवं प्रमुख अधिकारी उपस्थित थे। उस बैठक में पारित प्रस्ताव में कहा गया है कि निश्चय ही सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक उन्नति के क्षेत्र में हरिजनों की प्रगति और जागृति हो रही है, फिर भी नगरों और ग्रामों में उन्हें पाशविक रीति से दबाया जा रहा है। इसकी जाँच करने के लिए सरकार एक समिति नियुक्त करे और संविधान के

अनुसार पिछड़े वर्ग के हित में किसी हरिजन को ही अधिकारी नियुक्त किया जाए। हरिजनों के मन की बात ज्ञात हो इसलिए यह प्रस्ताव हमने यहाँ जान-बूझकर उद्धृत किया है। फिर भी अ.भा.डि. क्लास लीग का सबसे दूरंदेशी, हिंदुत्वनिष्ठ निडर और जोरदार जो प्रस्ताव था वह इस प्रकार है—

"हमारे हरिजन भाई-बहनों से हमारा यह निवेदन है कि वे किसी भी कारण से अपना प्राचीन धर्म न त्यागें। किसी कारण जिन्होंने अपना धर्म छोड़ा हो वे यथासंभव जल्दी अपने प्राचीन स्वधर्म में लौट आएँ।

"इस देश के कुछ हिस्सों में कुछ जमातें अपनी लोक संख्या बढ़ाने के लिए दूसरों का धर्म परिवर्तन कराने का प्रयास करती रहती हैं, यह कार्यकारिणी ऐसी किसी कार्यवाही का तीव्र विरोध करती है।"

अपना धर्म छोड़कर परधर्म में गए लोगों को स्वधर्म में लौटा लाने के लिए हमारे हिंदू बंधु यथासंभव पूरी सहायता करें—ऐसी हमारी समस्त हिंदुओं से विनती है।

हमारे हरिजन बंधुओं की इस करुण विनती के प्रकरण में हम इतना कहे बिना आगे नहीं बढ़ सकते कि धर्मबंधुओ, देशबंधुओ, हिंदुत्व रक्षण के पवित्र कार्य में अन्य हिंदू आपकी सहायता करें, ऐसी विनती क्यों कर रहे हो? आपका यह स्वधर्म प्रेम, बंधुप्रेम एवं शालीनता देखकर हमें लज्जा से नतमस्तक होना पड़ रहा है। विनती नहीं, हिंदू धर्म की रक्षा के कार्य में आपकी सहायता ही नहीं कंधे-से-कंधा मिलाकर संघर्ष करने, सहकार्य की 'आज्ञा' अपने अन्य हिंदू बंधुओं को देने का अधिकार आपको है। और उसका पालन करना उनका कर्तव्य है। साथ में यह भी ध्यान रखें कि अपने जो धर्मबंधु छल या बल से, अनिष्ठा से या भ्रांत इच्छा से पहले परधर्म में चले गए हैं, उन्हें अपने हिंदू धर्म में लौट आने के लिए उनकी इच्छा के सिवाय कोई दूसरी बाधा नहीं है। गत तीन-चार वर्षों में क्रांति के तूफान में अपने हिंदू राष्ट्र को बल देनेवाली जो असाध्य बातें साध्य हुईं, उसमें जैसे जन्मजात अस्पृश्यता दंडनीय घोषित हुई, वैसे ही शुद्धि भी स्वयमेव मंडनीय हुई यह दूसरी बात है।

न किसी शास्त्रवचन के आधार से, न ही किसी पीठ की प्रेरणा से, यह तो स्वयं में तथा हिंदू राष्ट्र के किसी दैवी उन्माद के कारण बीच के कुछ शतकों में बंद किया गया शुद्धि का महाद्वार पूरा खुल गया है। शक-हूणों के काल में एक-एक यज्ञ में परकीय जाति के अनगिनत लोगों को जातिशुद्ध करके स्वधर्म में समा लेने के जो चमत्कार हमने किए उसका वर्णन अपने पुराण-इतिहास में पढ़ते हैं, वैसे ही कुछ चमत्कार गत तीन-चार वर्षों के क्रांतिकाल में घटित हुए हैं। शत्रु द्वारा बलपूर्वक

धर्मांतरित हिंदू स्त्री-पुरुषों की बड़ी-बड़ी टोलियाँ लड़ते-पड़ते शत्रु के हाथ से छूटकर अपने इस पितृभू-पुण्यभू भारत की आज की तात्कालिक सीमाओं के अंदर आते ही अपने-आप शुद्ध होकर हिंदू राष्ट्र में समा गईं। अपनी पुण्य भूमि का स्पर्श ही अनन्य शुद्धि संस्कार माना गया। बल से धर्म परिवर्तित हिंदू स्त्री-पुरुषों की तो बात ही क्या ? जन्मजात ऐसे सहस्राधिक मुसलमानों को भी, 'हम हिंदू होना चाहते हैं' इतना कहने मात्र से राजपूत जाट जैसे कट्टर हिंदुओं ने भी केवल चोटी रखवाकर शुद्ध कर लिया; अपने समाज में समा लिया। ये आँख के सामने घटित उदाहरण हैं। पहले धर्मांतरित हरिजन हिंदू बंधुओं को अपने पूर्वजों द्वारा अर्जित हिंदू धर्म में आने की इच्छा भर हो जाए। अस्पृश्यता की बेड़ियाँ टूट गई हैं अब, शुद्धि का महाद्वार भी पूरा खुल गया है। गंगा माई का जल भी शुद्धि के लिए छिड़कने की आवश्यकता नहीं। बिछुड़े हुए धर्मबंधुओं के अपने घर वापस आने पर जब माँ-बेटों के मिलन जैसे प्रेम और राष्ट्रीय आनंद के आँसू हमारी-आपकी आँखों से बहें तो वह सिंचन ही शुद्धि। वही अकेला संस्कार।

जाति-उन्मूलक हिंदू महामंडल

केरल प्रांत के त्रावणकोर कोचीन की ओर की कुछ बड़ी-बड़ी पच्चीस-तीस स्पृश्य-अस्पृश्य जाति-संस्थाओं ने अपनी-अपनी संस्थाओं का विसर्जन कर एक महामंडल स्थापित किया है। अपनी संस्थाओं की लाखों रुपए की संपत्ति एवं धन महामंडल को सौंप दिया है। इस महामंडल का प्रमुख उद्देश्य जन्मजात जातिभेद का नाश कर जाति-पाँति निर्विशेष हिंदू समाज (कास्टलेस हिंदू सोसाइटी) का निर्माण करना है। विधान सभा के अनेक हिंदू सदस्य इस महामंडल से जुड़ गए हैं और हिंदू पक्ष के नाम पर उन्होंने एक प्रतिष्ठा का चुनाव गत माह ही जीता है। उनका राजनीतिक कार्यक्रम हमारी सीमा से बाहर है; परंतु जन्मजात अस्पृश्यता एवं जातिभेद के उन्मूलन के जो प्रयास इतने बड़े आकार में इस प्रमुख संस्था की ओर से किए जा रहे हैं उनका आज की परिस्थिति में अभिनंदनपूर्वक उल्लेख करना हमारा कर्तव्य है।

उपर्युक्त बड़ी संस्थाओं की तुलना में बहुत छोटी, परंतु जातिभेद के उन्मूलन के लिए अपनी शक्ति भर कार्य प्रत्यक्षत: कर दिखानेवाली एक 'एकमुखी' संस्था का उल्लेख जाते-जाते अवश्य करना चाहता हूँ। उस संस्था का नाम है श्रीयुत् अनंत हरि गद्रे! बीस वर्ष पूर्व उनके झुणकाभाकर सहभोजन संघ ने महाराष्ट्र में बड़ी खलबली मचाई थी। आज उन्होंने अपने कल्पनाशील मस्तिष्क से उतना ही परिणामकारी एक सूत्र सहायताहीनता, साधनहीनता को मात देने के लिए खोज

निकाला है। वह उपाय है 'झुणकाभाकर सत्यनारायण:'। किसी एक बस्ती में जाना, वहाँ एक हरिजन पति-पत्नी के हाथों घोषित रूप से सत्यनारायण की पूजा करवाना और उस पूजा के स्थल पर आमंत्रित सारे स्पृश्य-अस्पृश्यों को एक छोटे से भाकरी के टुकड़े पर झुणका (सूखी सब्जी, बेसन) रखकर वह प्रसाद आस-पास एकत्रित हुए लोगों को साफ बताकर महार, भंगी, चमार आदि हरिजनों से बँटवाना—ऐसा सीधा कार्यक्रम। पर सत्यनारायण की कृपा ऐसी कि बस्ती के सभी स्तरों और जातियों के स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, सुशिक्षित-अशिक्षित सैकड़ों की संख्या में उस पूजास्थान पर इकट्‌ठा होते हैं और हरिजन के हाथ से दिया प्रसाद खड़े-खड़े ही खाकर सत्यनारायण को नमस्कार कर लौटते हैं।

जैसे कीटों को नष्ट करने के लिए औषधि का छिड़काव किया जाता है और उस कीटनाशक छिड़काव से कीट मर जाते हैं वैसे ही झुणकाभाकर का प्रसाद खाने से समाज मानस में जन्मजात जातिभेद के प्रति जमी भ्रांत भावना के कीट भी मर जाते हैं। दस-बीस हजार खर्च करके बुलाए गए सम्मेलन या अधिवेशन की तुलना में दस रुपए खर्च करके बुलाए गए सत्यनारायण का सक्रिय सभारंभ अस्पृश्यता निवारण का ही नहीं अपितु जाति उन्मूलन का कार्य भी अधिक प्रभावी ढंग से कर रहा है—और वह भी सीधे-सरल रास्ते से।

उपर्युक्त कार्य श्री गद्रे अपने स्वयं के दम पर ही कर रहे हैं। वे मान्यवर संपादक हैं, मुंबई प्रांत हिंदूसभा के अध्यक्ष भी रहे हैं। पर ऐसी कुछ भी विशालता या सार्वजनिक मान्यताहीन कोई भी सामान्य, परंतु सद्‌प्रवृत्त एवं दृढ़ इच्छाशक्तिवाला कोई भी नागरिक इस तरह का अस्पृश्यता निवारण का कार्य कैसे कर सकता है—इसका एक उदाहरण देकर हम यह जाँच कार्य समाप्त करेंगे।

अन्य जिलों की तरह ही ठाणे जिले में नाई हरिजनों की हजामत नहीं बनाते थे। स्वयं को अधर्म लगता है या लोक निंदा का डर या जातिवाले जाति से बाहर करेंगे—ऐसे कतिपय कारण इसके पीछे हो सकते हैं। पर संविधान द्वारा अस्पृश्यता हटाए जाने संबंधी विधि लागू हो जाने के आठ माह बाद भी नाई हरिजनों की हजामत नहीं बनाते। यह देखकर ठाणे के अनगाँव के निवासी श्री यशवंतराव लेले ने इसमें विधि व्यवस्था का पालन करवाने के लिए कुछ करने की ठानी। उन्होंने संवैधानिक व्यवस्था की जानकारी नाइयों तथा हरिजनों को देना प्रारंभ किया। कोई किसी को जन्मजात अस्पृश्य मानकर या कहकर उसकी हजामत बनाने से मना करे तो वह दंडनीय अपराध होगा। यह बात वे सार्वजनिक रूप से सबको सुनाते। इसका उचित प्रभाव हुआ और एक शुभ दिन ठाणे के हर नाई ने दो हरिजनों की हजामत एक स्थान पर एकत्रित होकर बनाई तो यह अभूतपूर्व दृश्य देखने के लिए वहाँ एक

बड़ा मेला सा लग गया। श्री लेले ने कम-से-कम दो माह यह कार्यक्रम चलाने की योजना बनाई है।

उपर्युक्त सारी जाँच हाँड़ी के चावलों से दो चावल निकालकर देखने जैसी है। कुल मिलाकर पूरे भारत का परिदृश्य इससे स्पष्ट हो जाएगा। उपर्युक्त तरह के संस्थागत एवं व्यक्तिगत अनेक कार्य हिंदुस्थान में अनेक स्थानों पर हो रहे हैं।

अस्पृश्यता को दंडनीय अपराध घोषित करनेवाली संवैधानिक व्यवस्था को कैसे लागू किया जाए—इसके संबंध में कुछ सूचनाएँ यथाआवश्यक स्थान पर इस जाँच में दी गई हैं। इस एक लेख में विधान की उस धारा को लागू करने के देशव्यापी कार्यक्रम को विस्तार से कहना असंभव एवं अनावश्यक भी है तथापि उस कार्यक्रम की साधारण रूपरेखा और सिद्धांत की मौलिक सूचना यहाँ दी जा रही है।

अस्पृश्यता निवारण कानून लागू करने के कार्यक्रम की रूपरेखा

ऊपर जो जाँच की गई है उससे स्पष्ट है कि अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए जो प्रयास हो रहे हैं वे अपर्याप्त ही हैं। वेदना पहाड़ की और दवाई सीप भर—ऐसी स्थिति है। यदि इस दूषित रूढ़ि को दो-चार वर्षों में जड़मूल से उखाड़ना हो और राष्ट्रीय मानस में पाताल तक गहरी जमी जड़ें खोदकर निकालनी हों तो उस कार्य को करने के लिए देशव्यापी और तूफानी आंदोलन ही खड़ा करना होगा।

अस्पृश्यता निवारक आंदोलन का क्षेत्र

आज तक जिन्हें जन्मजात अस्पृश्य माना गया उन्हें स्पृश्यों की श्रेणी में ले आना, स्पृश्य नागरिकों के जो सामान्य अधिकार, उत्तरदायित्व एवं कर्तव्य हैं उन सबका उन हरिजनों को समान भागीदार बनाना, अस्पृश्य कहकर किसी भी तरह की हीनता उनपर न लादना। संक्षेप में यह कि 'अस्पृश्य' शब्द में से 'अ' को निकाल देना और उन्हें 'स्पृश्य' बनाना, इतना ही अस्पृश्यता निवारक आंदोलन का क्षेत्र है। इसीलिए अस्पृश्यता निवारण और दलितोद्धार या अस्पृश्यता निवारण और जन्मजात जातिभेद उन्मूलन ये दो अलग-अलग कार्य माने जाने चाहिए। ये सभी कार्य सत्कार्य हैं और उन्हें करने के लिए हम कितने ही उत्सुक हों, फिर भी अस्पृश्यता निवारक आंदोलन से उन्हें जोड़ देने पर उलझन और असंतोष बढ़ेगा और दोनों कार्य कठिन हो जाएँगे। पाठशाला में हरिजन छात्रों को स्पृश्यों की तरह ही समानता से प्रवेश मिलने लगते ही उस सीमा तक अस्पृश्यता निवारण का कार्य

समाप्त हो जाता है। फिर उन पूर्व अस्पृश्य बच्चों को शुल्क, कॉपी, किताबें, छात्रवृत्ति आदि मिलती हो या न मिलती हो, क्योंकि यह दूसरा प्रश्न दलित उद्धार एवं शिक्षा प्रसार के क्षेत्र का है। कुछ अस्पृश्य जाति के बच्चे भी आज के कुछ अस्पृश्य बच्चों जैसे ही शिक्षा में पिछड़े एवं विद्यालय का व्यय उठाने में अक्षम हैं। अस्पृश्यता के कारण बच्चे का विद्यालय में प्रवेश रोका नहीं गया और वह 'स्पृश्य' के रूप में ही विद्यालय में लिया गया तो उसे फिर जो सहायता या सहूलियतें मिलेंगी वह उस दलित या कंगाल लड़के को नहीं मिलेंगी, एक स्पृश्य लड़के को मिलेंगी। सार्वजनिक कुएँ पर, पनघट पर कहीं भी, किसी भी नागरिक को 'वह जन्मजात अस्पृश्य है' इस आधार पर पानी लेने से मना नहीं किया गया। पर जब तक उसके हाथ का पानी सब लोग नहीं पीते तब तक अस्पृश्यता नहीं गई। हम ऐसा नहीं मानेंगे। स्पृश्य भी एक-दूसरे के हाथों का पानी जाति की ऊँच-नीच की भावना से नहीं पीते। इसलिए यह प्रश्न जाति उन्मूलन के क्षेत्र का है, अस्पृश्यता निवारण के क्षेत्र का नहीं।

ऐसी ही एक मौलिक त्रुटि संविधान में रह गई है। 'आज से अस्पृश्यता नष्ट की जाती है' ऐसी प्रारंभ में ही घोषणा करने के बाद फिर संविधान में यह जो कहा गया है कि अगले दस वर्षों तक 'अस्पृश्य जातियों' को कुछ एक सुविधा-सहूलियतें दी जाएँगी—यह 'वदतो व्याघात' है अर्थात् जो पहले कहा गया उसे ही काटा जाना है। यदि आज अस्पृश्यता नष्ट हो गई तो कल से 'अस्पृश्य जाति' रहेगी ही कहाँ? दस वर्ष उन अस्पृश्य जातियों को अस्पृश्य मानते हुए पहले दिए गए 'शाप' को उ: शाप क्यों देना? स्पृश्यों में भी वैसी ही पिछड़ी, दरिद्र, अशिक्षित जातियाँ हैं। उन्हें भी सुविधाएँ चाहिए। उनमें ही आज अस्पृश्यता से मुक्त हुई जातियों की गणना कर उन्हें सुविधाएँ दी जाएँ। उन्हें सुविधाएँ अवश्य दें, पर स्पृश्य समझते हुए दें। अस्पृश्य मानकर नहीं। अर्थात् ये सुविधाएँ मिलें या न मिलें आज के अस्पृश्यों को स्पृश्यत्व के अधिकार मिलते ही अस्पृश्यता निवारण का कार्य समाप्त हो जाता है।

सरकारी स्वतंत्र विभाग

अस्पृश्यता निर्मूलक आंदोलन का कार्यक्षेत्र ऊपर दिए अनुसार योजित कर इस संवैधानिक व्यवस्था का कड़ाई से पालन करने के लिए प्रमुख और अधिकृत प्रयास सरकार को ही करना चाहिए। बिहार सरकार ने ऐसी व्यवस्था की है, ऐसा समाचार प्रकाशित हुआ है। उस सरकार ने संविधान की व्यवस्था लागू करने के लिए एक स्वतंत्र अधिकारी की नियुक्ति की है और एक स्वतंत्र विभाग की स्थापना

भी इस कार्य के लिए की है। इस विभाग में सौ प्रचारक सवेतन नियुक्त किए हैं जिन्हें 'सेवक' कहा जाएगा। सामान्य रूप से एक-दो तहसीलों का क्षेत्र हर सेवक को सौंपकर उस क्षेत्र में अस्पृश्यता समाप्ति की संवैधानिक व्यवस्था को प्रत्यक्ष लागू करने का और जहाँ आवश्यक है वहाँ हरिजनों को संरक्षण देने का दायित्व सौंपा गया है। यदि यह समाचार सच हो तो हर प्रादेशिक सरकार को चाहिए कि वह ऐसे ही अस्पृश्यता उन्मूलन की व्यवस्था पर कार्यवाही करनेवाला एक विशेष विभाग तत्काल बनाए। अस्पृश्यों को स्पृश्यों के अधिकार दिलवाने के लिए ये सरकारी प्रचारक स्वयं कार्य करें। उसमें भी उनका विशेष कर्तव्य हो कि अस्पृश्यों में भी जो निचली जातियों के अस्पृश्य हों उन्हें साथ लेकर जो ऊपरी जाति के अस्पृश्य समझे जाते हैं उन महार, चमार बस्ती के होटलों, मंदिरों, विद्यालयों में उनके पनघटों पर ले जाकर उनकी आपस की अस्पृश्यता को भी तोड़ें। जहाँ कहीं इस कारण स्पृश्य-अस्पृश्यों में संघर्ष होने की स्थिति हो वहाँ ये सरकारी प्रचारक स्वयं जाएँ। प्रतिवाद (शिकायत) किसी का हो, स्पृश्यों या अस्पृश्यों का, कानून का उल्लंघन करनेवाले को दंडित किया जाए और न्याय पक्ष को संरक्षण दिया जाए। कुछ भी हो, पर अस्पृश्यों को स्पृश्यों के अधिकारों का उपभोग करने में कोई बाधा नहीं आने देनी चाहिए। हर ज़िले में ऐसे न्याय और कड़ी दंड प्रक्रिया के दो-तीन उदाहरण हो जाएँ तो उस समाचार के कारण यह प्रश्न अपने-आप सुलझने लगेगा। प्रचार विभाग को चाहिए कि वह ऐसे समाचारों को प्रकाशित कराए।

स्पृश्य-अस्पृश्यों की अखिल भारतीय संस्था

कुछ सनातनी भाइयों की एकाध संस्था छोड़ दें तो अन्य सारी बड़ी राजनीतिक या सामाजिक संस्थाएँ अस्पृश्यता का निर्मूलन करना चाहती हैं। अपने राजनीतिक कार्य करते हुए भी उन्हें अस्पृश्यता निवारण संबंधी संवैधानिक व्यवस्था को लागू करवाने का कार्य भी करते रहना सहज है। इतना ही नहीं अपितु सहजता से किया जा सकनेवाला कार्य होते हुए भी यह राष्ट्रीय महत्त्व का एक विधायी कार्य होने के कारण इसके लिए अपनी संस्था द्वारा देशव्यापी आंदोलन चलाना उनका कर्तव्य भी है। कांग्रेस, हिंदू महासभा, रा.स्व. संघ, आर्य समाज, शेडयूल कास्ट्स फेडरेशन, डिप्रेस्ड क्लासेज लीग, समाजवादी पक्ष आदि संस्थाओं की शाखाएँ पूरे हिंदुस्थान में हैं, वे अपनी हर शाखा को आदेशित करें कि शाखा क्षेत्र में अन्य संस्थाओं के सहयोग से नहीं अपितु वे इसके-उसके बूते पर अस्पृश्यों को स्पृश्यता के अधिकार दिलाने के लिए संगठित और सक्रिय प्रयास करें। इसके लिए वे वही कार्यक्रम अपनाएँ जो महाराष्ट्र प्रांतीय हरिजन सेवक संघ ने अपनाया हुआ है। इसी लेख में

प्रारंभ में उसका उल्लेख आ चुका है। उपर्युक्त सारी संस्थाओं की शाखाएँ अपने-अपने क्षेत्रों में उतना और वैसा ही कार्यक्रम केवल एक वर्ष निरंतर उत्साह से गाँव-गाँव चलाएँ तो हिंदुस्थान से अस्पृश्यता जड़मूल से उखड़ जाएगी। उसके लिए कोई नई संस्था या संगठन खड़ा करने में शक्ति और धन का व्यर्थ व्यय करने की आवश्यकता नहीं है। जो संस्थाएँ हैं वही यह कार्य करें। और यह भी ध्यान रखें कि इस काम को करते हुए केवल अस्पृश्यों में बड़ी जातियों को ही साथ न लें। विशेषत: मद्रास प्रदेश की चेरुमा, पालिया आदि जो अस्पृश्य जातियाँ हैं या महाराष्ट्र में जैसे भंगी, डोम आदि जातियाँ हैं—माने हर स्थान पर नीचे-से-नीचे की जो अस्पृश्य जातियाँ हैं, उन्हें हाथ बढ़ाकर ऊपर उठाने, स्पृश्यता के अधिकार जो दिलवाएगा वही सच्चा समदर्शी और सुधारक है।

समाज-हितकारी कोई भी धंधा हीन नहीं, पर यदि उसे छोड़ दिया तो कोई बात नहीं

अस्पृश्यता निवारण के इस कार्य में संघर्ष उत्पन्न होने के जो कारण हैं उनमें से एक कारण यह है कि अस्पृश्य जातियाँ अपना धंधा हीन मानते हुए कभी-कभी अकस्मात् ही छोड़ देती हैं। कहीं-कहीं महार मृत पशुओं को उठाने के कार्य को करने से मना कर देते हैं। गाँववाले इससे चिढ़ जाते हैं और खलिहान से दिया जानेवाला हिस्सा उन्हें देने से मना कर देते हैं। ऐसा होने पर महार गुस्से से भर जाते हैं। ऐसे संघर्ष के स्थान पर नई व्यवस्था के संबंध में समझा देना होगा कि समाज-हितकारी कोई भी धंधा हीन नहीं है। उन धंधों को न छोड़ें तो भी अब कोई अस्पृश्य नहीं है। पर फिर भी यदि किसी को अपना धंधा छोड़ना हो तो उसे वैसी व्यवसाय स्वतंत्रता भी प्राप्त है। यदि महार मृत पशु खींचना नहीं चाहते तो वे उक्त धंधा छोड़ सकते हैं। पर फिर उस कार्य के लिए खलिहान से जो हिस्सा मिलता था गाँव के लोगों द्वारा, वह बंद करने पर गुस्सा होने और लड़ने का कोई कारण नहीं है। रत्नागिरि में महारों द्वारा ऐसी ही हड़ताल किए जाने पर हिंदूसभा के स्वयंसेवकों के साथ जाकर हम स्वयं मृत ढोर को गाँव के बाहर खींचकर ले जाने और उसकी चमड़ी उतारने का कार्य आनंद से करने को तैयार हो गए थे। वही बात भंगियों की। वे भंगी कार्य में किसी तरह की हीनता न मानें। वह कार्य करते हुए भी वे स्पृश्यता के सारे अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं, उन्हें कोई भी अपमानजनक रीति से अस्पृश्य या हीन कहेगा तो वह दंडनीय अपराध होगा। पर यदि भंगी काम छोड़ देते हैं तो समाज वह कार्य स्वयं करे और गुस्सा न करे तो संघर्ष होगा ही नहीं। श्री अप्पाराव पटवर्धन एवं सेनापति वापट जैसे महान् व्यक्तियों ने नगर के रास्ते साफ

करने का, संडास साफ करने का कार्य उसे मनः शुद्धि का एक साधन मानते हुए नित्य नियम से और दृढ़ता से किया। कांग्रेस के गत अधिवेशन में स्पृश्य स्वयंसेवकों ने स्वेच्छा से भंगी का सारा कार्य कर्तव्य समझकर किया था।

अंतिम यह कि व्यक्ति के बुद्धि क्षेत्र से इस अस्पृश्यता की दूषित भावना का निष्कासन हो। यह काम हम सबके हाथ में है। स्वधर्महितार्थ, स्वराष्ट्रहितार्थ, मानवता के लिए हर हिंदू स्त्री-पुरुष, 'मैं अपनी सीमा में जन्मजात अस्पृश्यता का पालन नहीं करूँगा', ऐसा व्रत ले और वही आचारण करे तो यह कार्य हो जाएगा। विधि से जाति संबंधी बहिष्कार का डर नष्ट हो चुका है। इस कारण हर व्यक्ति इस क्षेत्र में काम करने को पर्याप्त स्वतंत्र हो गया है। परसों दादर (मुंबई) महिला समाज की एक सदस्या ने धार्मिक आयोजन में एक हरिजन महिला को घर में बुलाकर उसके साथ भोजन किया। ऐसे व्यक्तिगत कार्यों का दूर तक प्रभाव पड़ता है। हिंदूसभा द्वारा पूरे महाराष्ट्र में प्रचारित अखिल हिंदू गणगौरी समारोह की पद्धति भी इसी तरह बहुत उपयुक्त है।

ऐसी अनेक विधियों से, अनेक बाजुओं से, अनेक संस्थाओं से और अनगिनत व्यक्तियों से मिलकर ऐसा देशव्यापी आंदोलन यदि खड़ा किया गया तो मात्र दो-तीन वर्षों में भारत के कोने-कोने से यह जन्मजात अस्पृश्यता समाप्त हो जाएगी। पर यह पहले करना होगा।

यह सहज साध्य काम इतनी दृढ़ता और वेग से किया जाना चाहिए जिससे हरिजन बंधुओं के मन में आत्मविश्वास की और आत्मोद्धार की प्रचंड स्फूर्ति का संचार हो। इस स्फूर्ति के कारण वे स्वयं कहें कि अनुसूचित जातियों के लिए जो सुविधाएँ, छूटें और विशिष्टाधिकार संविधान द्वारा अगले दस वर्षों के लिए प्रदान किए हैं वे हमें नहीं चाहिए। क्योंकि हम अस्पृश्य हैं ही नहीं। अस्पृश्य मानकर दी जानेवाली हर छूट हमारे हीन होने का प्रमाणपत्र है। अस्पृश्यता के कारण मिलनेवाला हर विशिष्टाधिकार हमारी अस्पृश्यता की दुर्बल भावना हममें निरंतर जीवित रखने को दिया गया एक स्मृति-पत्र है। हमारे आत्मसम्मान को बट्टा लगानेवाला वह विशिष्टाधिकार का तमगा अपने सीने पर लगाने को हम तैयार नहीं हैं। इन बैसाखियों के बिना भी अपने अन्य स्पृश्य बंधुओं की तरह ही हम प्रगति कर सकेंगे। और यह हम गुस्से में नहीं कह रहे, यह राष्ट्रप्रेम है, राष्ट्रहित में है इसलिए कह रहे हैं।

ऐसी धीर और उदार वृत्ति हमारे हरिजन धर्मबंधुओं में से कुछ नेताओं के मन में है, यह हमें ज्ञात है। साक्ष्य भी है। गत इक्कीस सितंबर को विदर्भ दलित वर्ग के नेताओं की एक सभा परतवाडा में आयोजित हुई। विदर्भ ही नहीं अपितु भारत के दलित वर्ग के नेताओं में जिनकी गणना प्रथम श्रेणी में की जाती है, वे श्री गवई

इस सभा के अध्यक्ष थे। संविधान प्रदत्त छूटों के संबंध में दलित वर्ग की नीति क्या हो—इसपर विचार-मंथन हो रहा था। वहाँ अध्यक्ष पद से श्री गवई ने जो भाषण किया उसका एक-एक शब्द लाख-लाख के मूल्य का था। उसी में कहे गए एक वाक्य से इस लेख का समापन करें, उन्होंने कहा—

"मुझे स्वयं आरक्षित स्थान एवं अन्य छूटों को लेकर कोई आनंद नहीं होता। क्योंकि उससे हम लोगों में हीनता की भावना, न्यून भावना का उदय होता है और शेष रहे हिंदू समाज से अलगाव की भावना भी जागती है, जो घातक है। हम अस्पृश्य हैं—यह बात अब हम पूरी तरह भूल जाएँ और छूटों पर भरोसा न करें। फिर भी अपनी शक्ति अन्य सामाजिक एवं राजनीतिक कार्यों में संगठित होकर लगाएँ।"

(किर्लोस्कर, नवंबर-दिसंबर १९५०)

□

प्रकरण—१६

बौद्ध धर्म स्वीकार कर तुम असहाय हो जाओगे

समाचारपत्रों में ऐसा प्रकाशित हुआ है कि डॉ. अंबेडकर आगामी दशहरे के मुहूर्त पर नागपुर में समारोहपूर्वक बौद्ध धर्म की दीक्षा लेनेवाले हैं। यह समाचार सच साबित हो, क्योंकि डॉ. अंबेडकर ने आज तक कई निश्चय बड़े जोर-शोर से घोषित किए हैं, परंतु उनका आज का निश्चय कल के लिए बना रहता है यही देखा गया है। इसलिए यह निश्चय भी बना रहेगा यही—आशा है। डॉक्टर महोदय बौद्ध संप्रदाय के गृहस्थ उपासक की दीक्षा लेनेवाले हैं या बौद्ध भिक्षु की दीक्षा लेकर मुंडन आदि संस्कारों के साथ घर-पत्नी से उकताकर गृहस्थ जीवन त्यागकर बौद्ध मठ में जाकर भिक्षुव्रत का पालन करनेवाले हैं यह अभी स्पष्ट होना बाकी है। खैर, किसी भी तरह क्यों न हो वे बौद्ध धर्म स्वीकार करनेवाले हैं तो अपना निश्चय अवश्य पूरा करें।

हिंदू समाज के द्वेष से हमेशा भड़कते रहनेवाले डॉ. अंबेडकर के हृदय को प्रेममय बौद्ध धर्म के उपदेश से शांति मिले, उन्हें आराम मिले—यही हमारी सदिच्छा है। अत: शुभस्य शीघ्रम्। हिंदू विश्व किसी की व्यक्तिगत बातों को अधिक महत्त्व दे इसका कोई कारण नहीं है। जहाँ स्वयं बुद्ध ने अपनी आयु के चालीस वर्ष तक उपदेश दिया और उसके बाद आज तक ढाई हजार वर्ष बौद्ध धर्म के ग्रंथ जैसे गाथा, जातक, पुराण, पीटिका आदि बौद्धों के जो भी ग्रंथ हैं उनके विशिष्ट मतों का उपदेश बौद्धों के संबंध में कहने को शेष रहा ही क्या है? और उन ढाई हजार वर्ष पुराने वचनों के अर्थ को निचोड़-निचोड़कर निस्सार बचे अक्षरों और वाक्यों को भिक्षु अंबेडकर ने कोल्हू से एक बार और निचोड़ा तो भी कौन सा नया रस निकलेगा? जो कुछ भी अमृत या विष उस बुद्धकाल के वचनों में था वह सारा पहले ही पीकर और पचाकर यह हिंदू धर्म का प्रचंड हिमालय जहाँ-का-तहाँ

विशिष्टता और गरिष्ठता से पाताल तक गहरे अपने पक्के पैरों के बल पर आकाश तक ऊँचे अपने शिखरों का प्रदर्शन करते हुए आज भी खड़ा है।

कभी जहाँ करोड़ों मानव बौद्ध धर्म के अनुयायी के रूप में जाने जाते थे उसी भारत में आज उस बौद्ध धर्म का अता-पता भी नहीं है, वह क्यों? इन कारणों का अध्ययन जब तक डॉ. अंबेडकर ईमानदारी से नहीं करते तब तक 'मैं फिर से पूरे भारत पर बुद्ध का झंडा लहराऊँगा और हिंदू धर्म का नाम भी मिटा दूँगा' जैसी बड़बड़ अंबेडकर करें तो करें उससे किसी भी जानकार हिंदू को रत्ती भर भी डर नहीं लगेगा, उलटे हँसी अवश्य आएगी।

अत: डॉ. अंबेडकर नामक व्यक्ति भिक्षु अंबेडकर हो जाए तो भी किसी हिंदू को किसी तरह का सूतक लगनेवाला नहीं है। न हर्ष, न विमर्ष, जहाँ स्वयं बुद्ध हार गए वहाँ अंबेडकर किस झाड़ की पत्ती हैं।

पर डॉ. अंबेडकर महोदय बुद्ध की तरह गृहस्थी से उचाट होकर या निर्वाण पद का सात्त्विक आकर्षण उत्पन्न होने से बौद्ध धर्म स्वीकार रहे हैं ऐसा बिलकुल नहीं है। ऐसा होता तो वे किसी भी बड़ के वृक्ष के नीचे बैठकर बुद्ध की तरह एकांत चिंतन से निर्वाण पद प्राप्त करने का प्रयास करते। परंतु उन्हें तो हिंदू धर्म का समूल नाश करना है, यह वे गरज-गरजकर स्वयं ही कह रहे हैं।

अपने उपर्युक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए अंबेडकर ने सारे विश्व को आमंत्रित किया है। वे कह रहे हैं—''आप सारे मानव प्राणी मेरे पीछे आओ, बौद्ध बनो।'' यह बात अलग कि सारी मानवजाति को उनका वह आह्वान सुनाई पड़ने की जरा भी संभावना नहीं है। अधिक क्या कहें, उनकी महार जाति की भी सारी-की-सारी उनके पीछे जाने की संभावना नहीं है। फिर भी उस महार जाति के अधिकतम लोग उनके पीछे आएँ और अपने बाबा-दादा द्वारा पूजित हिंदू देवी-देवताओं, संत-महंतों को पाखंड कहकर धिक्कारें और उनके भजन-पूजन में लगे अपने स्वयं के बाप-दादों को मूर्ख मानें और बौद्ध धर्म स्वीकार करें इसके लिए डॉ. अंबेडकर अपने वृत्तपत्रों में और व्याख्यानों में हिंदू धर्म की झूठी और गंदी भाषा में भी निंदा कर रहे हैं और उन महारों को कह रहे हैं कि तुम्हारे बौद्ध बनते ही तुम्हारी अस्पृश्यता नष्ट हो जाएगी। तुम्हारे पैरों में पड़ी जातिभेद की बेड़ियाँ जादू की तरह टूट जाएँगी। तुम आज महार हो जाओ, कल आदमी बन जाओगे, आदमी से भगवान् बन जाओगे। नियति और निर्वाण तुम्हारे सेवक बन जाएँगे। पर यदि तुम हिंदू ही बने रहे तो तुम्हारी अस्पृश्यता कभी नहीं जाएगी। तुम इस लोक और परलोक के नरक में पड़े बिना नहीं रहोगे। उनकी इस गलत, अन्याय्य, असत्य एवं हिंदू-द्वेष की भूल-भुलैया में आज जो हमारे धर्मबंधु हैं उन कुछ महारों की बलि

चढ़ने की आशंका है। इस कारण डॉ. अंबेडकर के इस धर्मांतरण का स्वरूप अब केवल व्यक्तिगत नहीं रह गया है और उसे बहुत कुछ सार्वजनिक स्वरूप प्राप्त हो गया है, इसीलिए आज तक के महार धर्मबंधुओं को इस धर्मांतरण के धोखे से सचेत करने के लिए और यथासंभव उन्हें धर्मांतरण से रोकने के लिए यह 'लेख-चेतावनी' देना 'हिंदू' अपना धर्म-कर्तव्य समझ रहा है।

जन्मजात अस्पृश्यता का और जातिभेद का उन्मूलन करने का ध्येय हमने पहले से भी अपनाया हुआ है। हिंदू संगठन का वह अनिवार्य उपांग है; परंतु हिंदू राष्ट्र का पोषण करनेवाले ये सुधार हिंदू रहते हुए भी संभव हैं और वे उस तरह से हुए तो ही उन सुधारों को सुधार कहा जा सकेगा। आज अस्पृश्यता समाप्ति के कगार पर है, यह हिंदुत्व के अभिमानी सुधारकों के असीम प्रयासों से ही है। नगरों से और सुशिक्षित वर्ग से आज अस्पृश्यता काफी कुछ उखड़ गई है। संवैधानिक रीति से तो वह निषिद्ध है ही। स्वयं को कट्टर हिंदू समझनेवाले हजारों हिंदुत्वनिष्ठ नेता और अनुयायी आज जातिभेद या अस्पृश्यता नहीं मानते। इतना ही नहीं अपितु रोटीबंदी और बेटीबंदी की बेड़ियाँ प्रत्यक्ष आचरण द्वारा भी तोड़ रहे हैं। हिंदू विश्व के आर्य समाज जैसे लाखों अनुयायीवाले अनेक बड़े-बड़े संप्रदाय अस्पृश्यता और जातिभेद को अब मूल से ही नहीं मानते, अर्थात् हिंदू अस्पृश्यता का पालन करनेवाला या जातिभेद माननेवाला ही होगा या हिंदू धर्म का त्याग किए बिना अस्पृश्यता कभी जाएगी ही नहीं—यह जो बड़बड़ डॉ. अंबेडकर आजन्म करते आए हैं वह जितनी झूठी उतनी ही कुटिल है। इसलिए हरिजनों में से चमार, मांग, ढोर आदि किसी जाति का हिंदू धर्म त्यागने के दुष्कर्म में अंबेडकर के साथ नहीं है और जिन कुछ भ्रमित और झाँसे में आए महारों का साथ उन्हें मिल रहा है वह भी उपर्युक्त सत्य पक्केपन से उनके सामने रखने पर ढहे बिना नहीं रहेगा। हमारे महार बंधु यह अच्छी तरह जान लें कि यदि वे हिंदू रहते हैं तभी उनकी अस्पृश्यता आसानी से नष्ट होगी और उन्हें उनके इस हिंदू बंधुओं की सहनशक्ति से विमुख होकर नहीं रहना पड़ेगा। हिंदू राष्ट्र पर आज उनका जन्मसिद्ध अधिकार है। इस कारण उनकी शक्ति राष्ट्रशक्ति के उपांगभूत बल से बढ़ने वाली है। हिंदू धर्म से डॉ. अंबेडकर के पीछे-पीछे जाकर हमारे महार बंधु यदि बुद्ध होकर निकल पड़े तो उनकी महार जाति के टुकड़े हो जाएँगे, जो आज भी मुट्ठी भर है। डॉ. अंबेडकर के कहने पर महारों ने बौद्ध धर्म स्वीकार किया तो भी वे संख्या में कितने होंगे। गिरगिट भागेगा तो मेंड़ तक।

मान लें एक-आध लाख महारों ने धर्म परिवर्तन किया, फिर भी वे बिखरे-बँटे हुए ही रहेंगे क्योंकि गाँव में तो वे आठ-दस ही होंगे! और इस कारण करोड़ों

की संख्या के हिंदू राष्ट्र को किसी तरह की घातक दुर्बलता का सामना नहीं करना पड़ेगा। परंतु इस हिंदू राष्ट्र से जो मुट्ठी भर महार झूठे आश्वासन के भरोसे फूटकर निकलेंगे और बुद्ध हो जाएँगे, वे अवश्य इतने अल्पसंख्यक होंगे कि उनको गाँव तिरस्कृत ही करेगा। यह बात समझने की है कि जब बौद्ध करोड़ों की संख्या में थे तब भी वे अपनी दुर्गति से बच नहीं पाए। पटार के दो पैर टूट जाएँ तो पटार लँगड़ी नहीं हो जाती, पर टूटे हुए पैर अवश्य निर्जीव हो जाते हैं।

'हिंदू बने रहे तो अस्पृश्यता और जातिभेद से कभी मुक्त नहीं होंगे।' अंबेडकर की यह गप ऊपर बताए अनुसार जैसी झूठी है वैसे ही यह कथन भी झूठा है कि बौद्ध होते ही तुम्हारी अस्पृश्यता गाँव-खेड़े से भी नष्ट हो जाएगी, जातिभेद मर जाएगा। उनका कोई भी अनुयायी शांत चित्त से इसपर विचार करे कि आज जिस गाँव में अस्पृश्यता मानी जा रही है उस गाँव में मैं जाऊँ और उन गँवार लोगों की पाठशाला में जाकर कहूँ कि अब मैं बौद्ध हो गया हूँ, मेरे लड़के को अपने बच्चों के बीच बैठने दो, तो क्या वे गाँववाले इसी कारण मेरे बच्चे को अपने लड़कों के बीच बैठने देंगे? मैं गाँव के पनघट पर जाऊँ और कहूँ कि मैं बौद्ध हो गया हूँ, मैं आत्मा नहीं मानता, मैं ईश्वर को नहीं मानता, मैं हिंदू धर्म भी नहीं मानता तो मेरे केवल इतना कहने से वे गाँववाले मुझे पनघट पर चढ़ने, पानी भरने देंगे? वे अवश्य कहेंगे कि तू महार था इसलिए हमारे कुएँ से दूर रह। बहुत सारे महार ईसाई हुए, मुसलमान हुए, उनकी क्या स्थिति बनी? गाँव में उन्हें ईसाई महार, मुसलमान महार ही कहा जाता है, हाँ उन्हें एक और नाम अवश्य मिला। पर हिंदू महारों ने उन्हें बहिष्कृत ही माना। त्रावणकोर जैसी जगह पर ईसाई अस्पृश्यों को अस्पृश्य ही माना जाता है। चर्च में भी उन्हें अलग ही बैठाया जाता है। और अधिक क्या कहूँ, लंका में अपने को बौद्ध माननेवाले अस्पृश्यों को बहिष्कृत ही माना जाता है, स्वयं जाकर देखें।

पर उससे भी विशेष बात यह कि बौद्ध हो जाने के बाद ये धर्म परिवर्तित महार उन जातियों के लोगों को, जिन्हें वे नीच समझते आए हैं और स्वयं उच्च जाति के होने का अहंकार पाले हुए हैं, वे यह अहंकार छोड़ देंगे, क्या वे ऐसा शपथपूर्वक कह सकेंगे? बिलकुल नहीं। ईसाई महार, ईसाई चमार या ईसाई ढोर के घर अपनी बेटी नहीं ब्याहते, न ही उनको स्वीकार करते हैं। केवल धर्मांतरण से, हिंदू से बौद्ध हो जाने से महारों की अस्पृश्यता नहीं जाएगी और न वे महार, मांग, ढोर आदि को समव्यवहार्य समझने लगेंगे। सम्राट् अशोक और हर्ष काल में भी चांडाल आदि प्रत्यक्ष बौद्धों को उन बौद्ध सम्राटों ने गाँव के बाहर कर दिया था। पर उस ऐतिहासिक तथ्य पर हम अधिक चर्चा नहीं कर रहे हैं।

सारांश यही कि आज के डॉ. अंबेडकर या कल के भिक्षु अंबेडकर की जानी-बूझी गप्पों या चतुराई की बातों पर विश्वास कर हमारे महार बंधु अपने हिंदू धर्म का त्याग न करें। अपनी स्वयं की पचास पीढ़ी के पूर्वजों को स्वयं ही पाखंडी, पतित एवं मूर्ख न कहें। समारोहपूर्वक महार से बौद्ध हो जानेवाला कल फिर अपने उसी झोंपड़े में स्वयं को बैठा पाएगा। बुद्ध हो जाने से उसकी आधी रोटी पूरी रोटी नहीं बन जाएगी। तुकाराम आदि साधु-संतों के जो भजन-वचन वे और उनके भाई-बंधु कल तक गा रहे थे उससे अधिक एक भी नीतिवचन उसे बौद्धों के गड़बड़झाले में सीखने को नहीं मिलेगा। या जो हिंदू उसे कल तक अस्पृश्य मानते थे वे उसे स्पृश्य समझनेवाले नहीं हैं। उलटे आज अस्पृश्य होते हुए भी वे अपने हिंदू धर्मबंधु हैं, उन्हें समानता से और स्वधर्म प्रेम के कारण अहिंदुओं की तुलना में पास लेना चाहिए—यह भाव और ऐसा न कर पाने की लज्जा हिंदू संगठनों के और मानवतावादी विचारों के कारण बढ़ रही है। रोटीबंदी टूटने से भी जातिभेद मरने की ओर बढ़ रहा है। वह भावना चोट खाए बिना नहीं रहेगी। महार जब तक हिंदू हैं तब तक उनकी अस्पृश्यता स्पृश्यों के और उनके अपने मन से भी अधिक सुलभता और अधिक वेग से समाप्त होने की प्रबल संभावना है, वह समाप्त हो ही रही है। हिंदू समाज से अस्पृश्यता ही नहीं बल्कि जन्मजात जातिभेद को भी पूर्ण समाप्त करने का संकल्प हम हिंदू संगठनों ने लिया हुआ है। हिंदुत्व के ध्वज की छाया में जब तक हम सब खड़े हैं तब तक धर्मप्रेम की ममता से हम अधिक संगठित हैं, अधिक बलवान् हैं। पर यदि हममें से कोई उस धर्मप्रेम को लात मारकर धर्मांतरण के गड्ढे में कूदे तो वह इस सामूहिक हिंदू राष्ट्रशक्ति से वंचित होकर स्वंय ही लूला-लँगड़ा हुए बिना नहीं रहेगा।

(हिंदू, १.१०.५६)

बौद्ध धर्म में भी कल्पित कथाएँ, अज्ञानता, कदाचार, अनाचार आदि का दलदल है

बौद्ध धर्म सारे विश्व में श्रेष्ठ धर्म है और उसमें किसी तरह के पूर्वजन्म, पुनर्जन्म, देव, ईश्वर, आत्मा आदि ब्रह्मजाल का फैलाव भी कहीं नहीं दिखता और उसमें जो कुछ है वह प्रत्यक्षत: केवल बुद्धिवाद पर ही आधारित है—ऐसी बातें भावी भिक्षु अंबेडकर ने उनके समाचारपत्र, जनता, प्रबुद्ध भारत आदि द्वारा एवं

अपने भाषणों द्वारा बार-बार प्रचारित की हैं। यही प्रयास उनके शिष्यों द्वारा भी किया जा रहा है। उनके द्वारा प्रचारित सारी बातें यदि सच होतीं तो हमें भी उससे आनंद ही होता। क्योंकि किसी भी धर्म के अनुयायियों में धर्मांधता, तर्कशून्यता, गुरुपाखंड, असमानता आदि दोष जहाँ-जहाँ दिखते हैं वहाँ-वहाँ उन दोषों का निषेध करने में, चाहे वह फिर हिंदुओं में ही क्यों न हो, हम आगे-पीछे नहीं देखते। परंतु वास्तविकता यह है कि हम हिंदू धर्मीय ही नहीं, ईसाई धर्मी, मुसलमान धर्मी, बौद्ध धर्मी या उपर्युक्त करोड़ों लोग जिनका अनुसरण कर रहे हैं उन बड़े-बड़े धर्मों के सिवाय भी जो अल्पसंख्य धर्ममत आज विश्व में प्रचलित हैं उनके अनुयायियों में भी उन-उन धर्मों के उदात्त एवं मनुष्यजाति के लिए हितकर तत्त्वों या आचारों के साथ ही अनेक कल्पित और अंधविश्वासी कथाएँ रूढ़ हो गई दिखती हैं। सर्वसामान्य लोग ही नहीं अपितु उन धर्मों के आचार्य भी अनेक तर्कशून्य कथाओं को पक्का साक्ष्य मानकर उनसे चिपके रहते हैं। मुसलिम धर्म जैसे कुछ धर्मों के अनुयायियों में तो अधिकतर प्रसंगों में धर्मांधता ही देखने को मिलती है। यदि इन दोषों का निषेध करना हो तो हमारे भावी भिक्षु अंबेडकर को बौद्ध धर्म सहित सभी धर्मों के धार्मिक अज्ञान, धर्मांधता और कल्पित-कथाओं का सच्चे बुद्धिवाद की दृष्टि से विरोध करना चाहिए था। यदि वे ऐसा कुछ करते तो उनकी वैसी निष्पक्ष टीका का हमने उचित आदर किया होता।

पर हिंदू धर्म-द्वेष से पीड़ित डॉक्टर अंबेडकर आते-जाते केवल हिंदू धर्म पर ही गालियों की वर्षा करते आ रहे हैं। उनके कथनानुसार बौद्ध धर्म ही यदि अन्य सब धर्मों की तुलना में निर्दोष, बुद्धिप्रधान और हर दृष्टि से श्रेष्ठ है तो उन्हें चाहिए था कि वे ईसाई और मुसलमान धर्म के अनुयायियों के बीच प्रचलित अंधश्रद्धा, दुष्टाचार आदि पर वैसा ही जमकर आक्रमण करते। मुसलिम और ईसाई इन दोनों धर्मों में मनुष्य को पशु से भी अधिक हीनतम मानने की क्रूर रीति उन धर्मों के संस्थापकों ने भी अपने धर्मग्रंथ में धर्म्य मानी हुई है। पर इन दोनों, मुसलिम और ईसाई धर्म, को एक शब्द से भी कुछ कहने के लिए उनकी लेखनी या जीभ आगे नहीं बढ़ती। कारण स्पष्ट है—भय! वैसी समर्थनीय निंदा के लिए भी वे समाज अंबेडकर महोदय की बारात निकालने से नहीं चूकते। परंतु हिंदू धर्म के अनुयायियों में जो धार्मिक सहिष्णुता, कभी-कभी तो अति रूप में, दिखती है उसके कारण हिंदू धर्माचार के विरोध में कोई भी, कुछ भी, बक-झक करे तो भी उधर हिंदू ध्यान ही नहीं देते। 'कुत्ता भौंकता है भौंकने दो' इस कहावत के अनुसार उन निर्लज्ज आक्षेपों के प्रति उपेक्षा भाव से देखने की हिंदुओं की साधारण प्रवृत्ति दिखती है। उसका अनुचित लाभ लेते हुए डॉ. अंबेडकर अपने समाचारपत्रों

और व्याख्यानों द्वारा हिंदू धर्म की मनमानी निंदा कर रहे हैं और बौद्ध धर्म में हिंदुओं के पुराणों, आचारों आदि जैसा कुछ भी निंदनीय नहीं मिलता है, इसलिए महार जाति के लोग बौद्ध धर्म स्वीकार करें, पूरी मानवजाति उसका अनुसरण करे ऐसी डोंडी पीटते फिर रहे हैं।

हिंदू धर्म एवं समाज में ही केवल सारा भोंदूपना, मूर्खता और अनाचार व्याप्त है तथा बौद्ध धर्म और समाज उससे मुक्त है—ऐसा असत्य प्रचार अंबेडकर पार्टी निरंतर कर रही है और रामकृष्ण की निंदा गंदी भाषा में करते हुए वे आगा-पीछा नहीं देख रहे हैं, फिर भी इस अपप्रचार का कड़ा विरोध आज निकलनेवाले सैकड़ों हिंदू समाचारपत्रों में करने किसी के भी आगे न आने का कारण यह है कि बहुसंख्य हिंदू समाज सहनशील वृत्ति का है। 'गाली देनेवाले के मुँह लगना असभ्यता और मुंडी झुकाए सब सुनना सभ्यता।' यही अनेक शिष्ट हिंदुओं की मान्यता है। परंतु हमें यह शिष्टता नादानी का पर्याय ही लगती है। हम जिस गुरु के शिष्य हैं उस श्रीकृष्ण के नीतिसूत्र—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' को ही हम न्याय एवं धर्म मानते हैं। 'यथा यक्षस्तया बलि:' के न्याय से अंबेडकर पार्टी की उपर्युक्त शरारती टीकाओं का उत्तर देने एवं उनकी बुद्धि स्तुति में निहित भोंदू तत्त्वों को उजागर करने से हम चूकेंगे नहीं। बौद्ध धर्म केवल बुद्धिवाद पर ही आधारित है। अंबेडकर की इस गप पर विश्वास करनेवाले हमारे हिंदू महार बंधुओं को बौद्ध धर्म की और बौद्ध विश्व की जानकारी नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। अंधों में काने राजा अंबेडकर जैसा बताएँगे वैसा ही अशिक्षित और पिछड़ा समाज बौद्ध धर्म का स्वरूप मान लेगा, इसलिए उनकी जानकारी के लिए विश्व के लाखों बौद्धों की धार्मिक आस्थाएँ, आचार, बुद्ध पुराणों और उनकी पीटिकाओं में वर्णित बुद्धिहीनता के कुछ नमूने नीचे दिए जा रहे हैं। अंबेडकर के पीछे-पीछे बड़े उत्साह से जानेवाले हमारे महार भाई बौद्ध धर्म के इस गंदे पक्ष का भी अध्ययन अवश्य करें। हम भावी बौद्ध अंबेडकर से भी यह पूछते हैं कि जिन बातों के लिए आप हिंदू धर्म की झूठी निंदा निरंतर करते आ रहे हैं उसी तरह की नीचे दी हुई बातों एवं कृत्यों के लिए आप जिस बुद्धिनिष्ठा की शान बघारते हैं, उस बुद्धिनिष्ठा के बल पर उनका कैसा समर्थन करते हैं, देखें—

१. कर्ण कुंती के कान से जनमा—ऐसी दंतकथा कहकर अंबेडकर के प्रचारक हिंदुओं का मजाक उड़ाते हैं। परंतु बुद्ध पुराण में स्वयं बुद्ध के जन्म की जो कथा वर्णित है उसे क्यों ये लोग छिपाते हैं? लाखों बौद्धों की यह श्रद्धा है कि गौतम बुद्ध का जन्म अतिमानुष रीति से हुआ। बुद्ध पुराण कहता है कि बुद्ध की माँ माया देवी को उसके पैंतालीसवें वर्ष

में किसी भी पुरुष से न मिले हुए भी गर्भ स्थापित हुआ। 'विश्व कल्याण के लिए तेरे पेट में यह गर्भ स्थापित हुआ है' ऐसी आकाशवाणी उसने स्वयं सुनी। उसे किसी तरह की प्रसूति वेदना या कष्ट के बिना ही इस दैवी गर्भ से जो पुत्र हुआ वही गौतम है। गौतम के जन्म के समय अनेक चमत्कार हुए। अंधों को दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। गौतम के दर्शन प्राप्त करने जा सकें इसलिए लँगड़ों के पैर ठीक हो गए। एक दिव्य ऋषि ने राजभवन में आकर यह भविष्य कथन किया कि यह बालक एक अलौकिक पुरुष होगा।

बुद्धिनिष्ठा का स्वाँग रचनेवाले अंबेडकर और उनके अनुयायी को इस दंतकथा पर भी विश्वास करना होगा। पर ऐसी कुछ दंतकथाएँ बौद्धों में भी धार्मिक कथाओं के रूप में मानी जाती हैं, इसलिए वे समूचे बौद्ध धर्म को ही एक दंतकथा नहीं कहेंगे।

२. स्वयं डॉ. अंबेडकर बड़े अभिमान से बार-बार कहते हैं और उनके अनुयायी उसे बड़ा गौरव कार्य भी मानते हैं, वह यह कि उन्होंने एक बार हिंदुओं का जो मूल ग्रंथ माना जाता है उस 'मनुस्मृति' को जलाया था। किसी भी धर्मग्रंथ की प्रति को जलाना वास्तव में बर्बरता है। वह अपकृत्य है, गौरव कार्य नहीं। परंतु अंबेडकर उसे गौरव कृत्य मानते हुए उसका उल्लेख बार-बार करते हैं, इसलिए यह उनको बताना आवश्यक है कि मुसलमानों ने बौद्धों का कोई एकाध ग्रंथ नहीं सहस्राधिक ग्रंथ, नालंदा विहार की सारी ग्रंथ संपदा, धम्मपद और त्रिपिटक पैरों तले रौंदते हुए जलाकर राख कर दिए थे। यह कार्य कोई एक बार ही हुआ हो ऐसा नहीं। सिंध-काबुल से लेकर बंगाल तक के सारे बौद्ध विहार इसी तरह जलाए गए। बौद्ध विहार दिखते ही वे उसपर टूट पड़ते और उसे आग लगाते, प्रलय मचाते। अब क्या अंबेडकर मुसलमानों के उन कृत्यों को गौरव कार्य मानेंगे?

बौद्ध ग्रंथ जलाने के मुसलमानी कार्य को हम अत्याचार कहते हैं, गौरव कार्य मानकर उसे पुरस्कृत नहीं करते, इसी आधार पर अंबेडकर ने 'मनुस्मृति' की चाहे एक ही प्रति जलाई हो, हम उसे गौरव कार्य न मानते हुए एक अत्याचार ही मानेंगे।

३. अंबेडकर अपने महार बंधुओं को कहते हैं कि बौद्ध धर्म देवी-देवता, आत्मा, पुनर्जन्म आदि को मान्यता नहीं देता और इसलिए उस धर्म को स्वीकार करें ऐसा उपदेश देते हैं। परंतु मंचूरिया से हिंद-चीन तक का

जो बौद्ध विश्व है और उस धर्म को माननेवाले जो करोड़ों महायान संप्रदायी बौद्ध हैं, वे देव मानते हैं; इतना ही नहीं, उनके लिए तो बुद्ध ही देवाधिदेव भगवान् हैं। हिंदू धर्म में मान्य इंद्र, वरुण, लक्ष्मी, सरस्वती, यक्ष, किन्नर आदि देवताओं को भी वे मानते हैं और गौतम बुद्ध को उन सारे देव-देवताओं का अधीश्वर मानते हुए उसकी पूजा-अर्चा भी करते हैं। यह सत्य अंबेडकर क्यों छिपाते हैं?

४. स्वयं बुद्ध पूर्वजन्म को मानते थे, क्योंकि अपने पूर्वजन्मों में आदमी ही नहीं पशु-पक्षियों का जन्म भी उन्होंने लिया था—ऐसा स्वयं गौतम बुद्ध ही कहते थे और उनके अपने उस योनि के पूर्वजन्म के अनुभव इसापनीति की कथाओं की तरह कहते हैं। बौद्धों के पवित्र धर्मग्रंथों में बुद्ध द्वारा कही गई इन पूर्वजन्म की कथाओं को 'जातक कथा' कहते हैं और उन्हें बहुत मान्यता प्राप्त है। क्या यह सब झूठ है?

बौद्धों की इस कल्पित कथाओं और कर्मकथाओं के कहने के पूर्व इतना कहना चाहता हूँ कि वास्तविक और तर्कशुद्ध व्याख्या के अनुसार कोई हिंदू यदि बौद्ध मत स्वीकार करे तो उसे धर्मांतरण कहना ही मिथ्या है। वह धर्मांतरण नहीं, संप्रदायांतरण होगा। परंतु इस विधान का निरूपण यथास्थान आगे होगा। अभी तो अंबेडकर पक्ष के लोग समाचारपत्रों, भाषणों में जो शब्द प्रयुक्त कर रहे हैं उसी बाजारू शब्द को जो उन्हें सहज समझ में आनेवाला है, हम इन लेखों में प्रयुक्त कर रहे हैं।

५. बुद्ध का सबसे बड़ा पराक्रम जो ये बौद्ध धर्म के पक्षपाती भाट, लोगों को बताते हैं वह यह कि यज्ञों में ब्राह्मण, क्षत्रिय वैदिक धर्मीय जो पशु हत्या कर रहे थे उसे बुद्ध ने बंद किया। ''प्राणी हत्या बंद करें, ईश्वर के नाम पर किए जानेवाले यज्ञों में आप पशु हत्या करते हैं और फिर उस मांस का स्वयं ही भोग लगाते हैं, यह कृत्य निकृष्ट, निर्दय और ढोंग भरा है।'' ऐसा बुद्ध कहते थे। बुद्ध स्वयं और उनके पीठाचार्य यज्ञ में की जानेवाली पशु हत्या का कड़ा विरोध निरंतर करते रहे और उस कारण बुद्ध के बाद बड़े-बड़े यज्ञ होना बंद ही हो गया। पशु हत्या बंद हो गई। बुद्ध के कारण प्राणियों को जीवनदान मिला और इसलिए हिंदू धर्म छोड़कर अहिंसा-प्रधान बौद्ध धर्म स्वीकार करो—ऐसा बौद्ध धर्म-पक्षीय भाट जोर-जोर से चिल्लाकर कह रहे हैं। परंतु इस प्रश्न का जो दूसरा पक्ष है उसका उल्लेख वे भूलकर भी नहीं करते। वर्तमान

काल में यज्ञयाग आचरणीय हैं या नहीं, इसकी चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक है इसलिए उसे छोड़ देते हैं। पर उपर्युक्त पक्षपाती बुद्ध स्तवन के संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यज्ञों में ईश्वर के नाम पर की जानेवाली पशु हत्या तो बंद हो गई, पर भिक्षु संघों में बुद्ध काल से आज तक पेटपूजा के लिए जो लाखों पशु, पक्षी, मत्स्य आदि प्राणियों की हिंसा हो रही है उसके संबंध में अंबेडकर-पक्षीय जो चुप बैठ हैं वह क्यों?

बुद्ध अवतार के पूर्व भी यज्ञयाग, पशु हत्या और मांसाहार का विरोध करनेवाले और ईश्वर को भी न माननेवाले पचास-साठ पंथ भारत में प्रचलित थे—यह बात तो बौद्ध ग्रंथों में भी उल्लेखित है। 'अहिंसा परमो धर्मः' यह ध्येय स्वयं आचरण में लाने का प्रयास जैन संप्रदायियों ने बुद्धपूर्व काल से चलाया हुआ था। वह कितना सफल रहा यह कहने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। मांसाशन के लिए प्राणिहत्या विरोध की दृष्टि से देखें तो जैनियों ने उस व्रत को अपने आचरण में उतारा है यह मानना पड़ता है। उस संबंध में उनके उपदेश और आचरण में सुसंगति थी। परंतु यज्ञ में पशु हत्या करना निंदनीय है—ऐसा कहनेवाले बुद्ध ने पेट के नाम पर पशु, पक्षी, मत्स्य की हत्या किए जाने का अप्रत्यक्ष भी विरोध नहीं किया, यह कितना विसंगत ढोंग है। बुद्ध का उपदेश था कि कोई भी बौद्ध स्वयं प्राणिहिंसा न करे। पर यदि अन्य कोई भी प्राणिहत्या कर उसका भोज्य पदार्थ बनाकर परोसे तो उसे खाने में कोई बुराई नहीं। हजारों भिक्षुओं के साथ स्वयं बुद्ध यत्र-तत्र यात्रा करते थे तब गाँव-गाँव के लोग उनके आहार के लिए अनेक मांसान्न बनाकर उन्हें परोसते ही थे और बुद्ध के साथ चलनेवाले उनके भिक्षु-भिक्षुणी संघ उस मांसाहार का चटकारे लेते हुए सेवन करते थे। प्राणियों की दया से अभिभूत बुद्ध की धर्माज्ञा इतनी ही थी कि प्राणियों को भोजन के लिए मारने का आदेश स्वयं न दिया जाए। किसने मारा है यह मत पूछो। कोई स्वयं मांसान्न परोसे तो बिना संकोच उसे खाने में कोई धर्महानि नहीं है। स्वयं चोरी न करे पर चोरी से लाई हुई वस्तु यह दिखते हुए भी कि वह चोरी से लाई गई है, बिना संकोच ले लेने में कोई हानि नहीं। ऐसा उपदेश कोई दे तो वह जितना आपराधिक होगा उतना ही बुद्ध का मांसाशन संबंधी उपदेश भी अपराधी है। भूतदया के लिए यज्ञ में होनेवाली हिंसा बुद्ध ने बंद

की, इसका ढोल पीटनेवाले बुद्ध-पूजकों को यह सत्य भी कहना चाहिए कि यज्ञांतर्गत पशु हिंसा की निंदा जिस बुद्ध ने की उसी बुद्ध के भिक्षुसंघों के हजारों आश्रित भिक्षुओं के पेट भरने के लिए यज्ञ में मारे जानेवाले प्राणियों से दस गुने अधिक पशु, पक्षी एवं मत्स्य बुद्ध के जीते-जी ही मारे जाते रहे और इन हजारों भिक्षुओं की भीड़ उन पशुओं का ताजा मांस चटकारे लेते हुए खाकर प्राणियों पर दया करती रही। स्वयं भगवान् बुद्ध का अंत किस रोग से हुआ—यह जानना मजेदार है। वे अजीर्ण के रोगी होकर मरे। अति वृद्धावस्था में अपने अनेक भिक्षुओं के साथ एक बड़े शिष्य के यहाँ बुद्ध भोजन के लिए गए थे और वहाँ उन्होंने 'मछन' (सूअर के मांस से बना पकवान), जो उनकी सम्मति से बनाया गया था, का अतिसेवन किया। इससे उन्हें अजीर्ण हुआ। असहनीय वेदनाओं के कारण उनकी मृत्यु हो गई।

ये प्राचीन काल की बातें छोड़ दें तो भी आज प्राणियों पर दया करनेवाले और उस दया के आधार पर यज्ञ संस्था की निंदा करनेवाले चीन, जापान, मंचूरिया से हिंद-चीन तक फैले हुए करोड़ों बौद्ध संप्रदायी, अनुयायी विशेषत: महायानपंथी खुल्लमखुल्ला खटिक की दुकानें लगाकर लाखों पशु-पक्षी एवं मत्स्य स्वयं मारकर घर-घर में वह मांस खा रहे हैं। और इसमें वे बौद्ध धर्म के विरुद्ध कोई आचरण कर रहे हैं इसकी आशंका भी उन्हें नहीं है। वे स्वयं को कट्टर बौद्ध पंथीय ही समझते हैं। आज के इन बौद्ध संप्रदायियों की भूतदया की पकड़ से पशु-पक्षी, मछली तो क्या केकड़े और चूहे भी नहीं छूट रहे हैं। केकड़ों का और चूहों का अचार होटलों में और घर-घर में अन्य स्वादिष्ट पदार्थों की तरह बनता और चटकारे लेकर खाया जाता है। हमारे महार बंधु भी ऐसे बौद्धधर्मी बनकर प्राणियों पर ऐसी ही दया करेंगे क्या?

आज के हमारे हिंदू वारकरी महार बंधु एवं डोम बंधु भी किसी तरह का और दूसरों द्वारा तैयार किया हुआ मांस भक्षण नहीं करते अर्थात् वे अहिंसा के ढोंगी भ्रष्टाचार से इतने अलिप्त हैं। इतना ही नहीं, वे वारकरी मान्यता के अनुसार प्याज और लहसुन भी नहीं खाते। मांसाहार निषेध के संबंध में हमारे इन हिंदू वारकरी महार आदि लोगों का आचरण अहिंसा का ढोल पीटनेवाले बौद्ध भिक्षुओं की तुलना में अधिक संगत, सच्चा और सात्त्विक है।

६. बुद्ध के बाद उनके उपदेशों के प्रभाव के कारण बड़े-बड़े यज्ञ नहीं हुए—यह अंबेडकर पक्ष का कहना भी केवल गप्पबाजी है। यज्ञयाग बंद करने के लिए सम्राट् अशोक ने अपनी पूरी साम्राज्य शक्ति दाँव पर लगाई थी, पर उसके निधन के बाद ही बड़े-बड़े यज्ञयाग शत-शत वर्षों तक भरतखंड पर समारोहपूर्वक होते रहे। अशोक की राजधानी में उसके निधन के बाद ग्रीक लोगों को जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित करनेवाले ब्राह्मण कुलोत्पन्न सम्राट् पुष्यमित्र ने एक नहीं, दो यज्ञ करवाए। कलिंग और आंध्र में राजसूय आदि महायज्ञ होते ही थे। शकों के परकीय आक्रमण से भारत को मुक्त करनेवाले क्षत्रिय कुलोत्सम गुप्त सम्राटों ने अशोक की राजधानी में कई अश्वमेध यज्ञ कराए। सम्राट् चंद्रगुप्त, सम्राट् समुद्रगुप्त, चंद्रगुप्त विक्रमादित्य, हूणों को रोकनेवाला सम्राट् स्कंदगुप्त आदि हर सम्राट् ने पाटलिपुत्र में परकीय शत्रुओं पर प्राप्त विजय को अश्वमेध यज्ञ आयोजित कर ही उद्घोषित किया। हूणों का नाश करनेवाले यशोधर्मन जैसे अनेक क्षत्रिय वीर सातवीं सदी तक अर्थात् बुद्ध के बाद एक हजार वर्ष तक अश्वमेध आदि अनेक महायज्ञ करते रहे—यह इतिहासप्रसिद्ध है। यज्ञयाग की जो प्रथा अब लुप्त हो गई है वह केवल बुद्ध के उपदेश के कारण नहीं अपितु बदलते समय के साथ अनेक राजनीतिक एवं धार्मिक कारणों से हुई है। बुद्धपूर्व काल में वैदिक लोगों में ही यज्ञ संस्था के संबंध में दो मत थे। 'प्लवा: हयेते अदृढा: यज्ञरूपा' यह बुद्धपूर्व के वैदिकों का ही वचन है। प्राचीन काल से भागवत धर्म और भक्तिमार्ग की वैसी ही प्रवृत्ति थी। मुसलमानों के हमलों के बाद का अराजकीय प्रलय भी यज्ञप्रथा लुप्त होने का महत्त्वपूर्ण कारण है। फिर भी यहाँ वह प्रश्न विचारणीय नहीं है इसलिए उसे छोड़ दें। यहाँ इतना ही कहना काफी है कि बुद्ध के बाद महायज्ञ हुए ही नहीं, ऐसा जो अपप्रचार डॉ. अंबेडकर का पक्ष कर रहा है वह बौद्ध धर्म का फालतू बड़प्पन दिखाने के लिए की जानेवाली गप्पबाजी है जैसा वे अन्य विषयों में भी कर रहे हैं और यह उनका एक निंदनीय नमूना है।

ब्राह्मणों ने केवल दान-दक्षिणा प्राप्त करने और भरपेट भोजन करने के लिए अनेक पूजा और व्रतों की पोथियाँ लिखीं इसलिए आप यह पौराणिक हिंदू धर्म छोड़कर बौद्ध धर्म को स्वीकार करें—ऐसी डोंडी अंबेडकर अपने प्रचारकों से पिटवा रहे हैं। उन्हें हमारी चुनौती

है कि ब्राह्मणों ने केवल अपनी पेटपूजा के लिए पोथियाँ लिखीं यह बात मांन भी ली तो भी भोली जनता की लूट बौद्ध धर्म में जाने से कैसे बंद होगी? ब्राह्मणों की दान-दक्षिणा की निंदा करते-करते ही उस ब्राह्मण-दक्षिणा से भी अधिक भारभूत लाखों भिखमंगे भिक्षुओं को खिलाने-पिलाने का जो बोझ बौद्धों ने समाज पर डाला वह दान-दक्षिणा से सौ गुना अधिक था। दक्षिणा फिर भी सस्ती थी, पर भिक्षुओं के टिड्डी दल से तो किसान, व्यापारी, व्यवसायी सभी त्रस्त थे। ये हजारों-लाखों बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणियाँ अपनी-अपनी टोलियाँ लेकर सारे देश में भिक्षा माँगते घूमते थे। भिक्षुओं को दान देना, उन्हें बड़े-बड़े विहार बाँधकर देना, उत्तम वस्त्र देना, उस समय निर्वाण पद-प्राप्ति का एकमात्र रास्ता था। बौद्धों की सारी पोथियों, धर्मग्रंथों और प्रवचनों में यही कहा जाता था। जिन्हें बिना कष्ट किए पेट फूटने तक खाने को चाहिए वे सीधे भिक्षु हो जाते थे। ऐसा तीव्र प्रवाह पूरे राष्ट्र में बह रहा था। ऐसा पूछा जा सकता है कि इस टिड्डी दल में सज्जन और समाजसेवक भिक्षु नहीं थे क्या? तो इस प्रश्न के उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि क्या पूरा ब्राह्मण समाज केवल दान-दक्षिणा के लिए ही समाज को लूट रहा था? पर वास्तविकता यह कि पहला प्रश्न वे उलटी खोपड़ी के और गाली-गलौज पर उतारू बौद्ध भिक्षुओं के नेता किस मुँह से पूछ सकते हैं? स्वयं की आँखों में फुली हो तो दूसरों की आँख के तिल के लिए पूछताछ करने में शर्म कैसे नहीं लगती?

७. वृक्षपूजा के लिए आप हिंदुओं का मजाक उड़ाते हैं, पर बौद्ध धर्म में बोधिवृक्ष को जो बड़प्पन दिया गया उसका? बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध चिंतन के लिए जब बैठे तब तक वृक्ष तले कई पशु भी जुगाली करते बैठे होंगे। उसकी शाखा पर कौए और उल्लू भी बैठे होंगे, पर उन्हें किसी तत्त्वज्ञान का लाभ नहीं हुआ। केवल बुद्ध को ही हुआ। अर्थात् बोधि तत्त्वज्ञान प्राप्त करा देने का कोई विशेष दिव्य गुण उस वृक्ष में नहीं था। वह पेड़ अन्य वटवृक्षों जैसा ही था। पर उसे एक बड़ा नाम देकर वह जब सूखने लगा तब सैकड़ों मटके दूध उसकी जड़ों में तुम बौद्ध उड़ेल रहे हो और उसकी शाखाएँ अन्यान्य देशों में ले जाकर लगा रहे हो, उसे पवित्र मानकर उसकी पूजा कर रहे हो। वह पेड़ कभी का सूख गया, पर उसकी कोई एक शाखा फिर वहीं लगाकर बुद्ध ने तपस्या की, वह वृक्ष यही है ऐसा तुम्हारे पुजारी भिक्षु-यात्रियों

को जो सैकड़ों वर्षों से कहते आ रहे हैं उससे अधिक धर्मभीरुता का उदाहरण विश्व में अन्यत्र नहीं मिलेगा।

८. वही बात पुनर्जन्म आदि निष्ठा की। ऐसा धार्मिक भोंदूपन और तर्क-बाह्य निष्ठा हमारे बौद्ध धर्म में नहीं है—ऐसी गप्पें बेचारे अज्ञानी हिंदू महारों को सुनाते हो, पर बौद्ध धर्म में भी ऐसी निष्ठाओं का दलदल है यह सिद्ध करने के लिए एक ही उदाहरण देना काफी है।

तिब्बत में बौद्ध समाज का जो आद्य धर्मपीठ है उसके धर्मप्रमुख को दलाई लामा कहते हैं। वही तिब्बत का राजप्रमुख भी होता है। उसका चुनाव कैसे होता है यह जानना चाहिए। बौद्ध संप्रदाय का मानना है कि एक दलाई लामा के मरते ही वह तिब्बत में कहीं और तुरंत जन्म लेता है। स्पष्ट ही पुनर्जन्म माना जाता है। वैसा नहीं है, ऐसा जो अंबेडकर पंथी कहते हैं वह या तो अज्ञान है या फिर गप्प है। दलाई लामा के मरते ही तत्काल उसका जन्म कहाँ हुआ? उसे खोजकर उस स्थान पर अपने गुट के लड़के को ही चुना जाए, इसलिए झगड़े भी होते हैं। क्योंकि नए दलाई लामा पद के लिए जो शिशु चुना जाता है उसके दस-बीस वर्ष का होने तक उस धर्म राज्य का संचालन पालक के रूप में भिक्षुओं के संचालक मंडल के हाथों में ही होता है। धर्मगुरु का चयन करने की इससे भोली, अंधी और अव्यावहारिक एवं आडंबरपूर्ण पद्धति और कोई हो ही नहीं सकती। इसलिए हम कहते हैं कि बौद्ध धर्माचार में भी धर्मांधता और धार्मिक भोंदूपन का दलदल है।

(हिंदू, ८ एवं १५ अक्तूबर, १९५६)

□

प्रकरण—१७

सीमा का उल्लंघन किया, परंतु हिंदुत्व के सीमाक्षेत्र में ही

गत विजयादशमी को नागपुर में डॉ. अंबेडकर ने अपने एक लाख अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। बौद्ध धर्म में जाने की तैयारी डॉ. अंबेडकर एवं उनके प्रचारकों की ओर से पिछले सात-आठ वर्षों से विशेषत: महाराष्ट्र की महार बस्तियों में सुनियोजित रीति से चल रही थी। यह सचाई जिन्हें ज्ञात है उन्हें अंबेडकर का एक लाख अनुयायियों के साथ बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने आना विशेष आश्चर्यकारी घटना नहीं लगेगा। इतना ही नहीं, आगामी दो-एक वर्ष में भारत में दस लाख तक लोग बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेंगे, यह मानकर भी चला जा सकता है; क्योंकि इस अभियान में विदेशों से सक्रिय सहायता मिलने के साथ ही आज के भारतीय शासन के सूत्र जिनके हाथ में हैं उन प्रधानमंत्री नेहरू आदि कुछ लोगों से प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष धन आदि सहयोग भी उन्हें मिल रहा है।

चिंतनीय, परंतु चिंताजनक नहीं

कुछ लाख लोगों द्वारा हिंदू धर्म का सनातन या वैदिक संप्रदाय छोड़कर बौद्ध संप्रदाय को स्वीकार करना और वह भी इतने गाजे-बाजे और संगठन के साथ, यह चिंतनीय तो है परंतु उससे हिंदू राष्ट्र पर या समाज पर कोई चिंताजनक प्रलय आनेवाला है—ऐसा भय जो अनेक लोगों को लग रहा है वह निराधार है। डॉ. अंबेडकर कितना ही गरज-तरजकर यह कह रहे हों कि वे सारे भारत से हिंदू धर्म का समूल नाश करके सब धर्मों में श्रेष्ठ बौद्ध धर्म की प्रस्थापना करनेवाले हैं, तो भी उनकी गर्जना को गुस्से में की गई बकवास से अधिक महत्त्व देने का कोई

कारण नहीं है। स्वयं भगवान् बुद्ध अपने धर्म की स्थापना करने के बाद चालीस वर्ष तक स्वयं के द्वारा स्थापित धर्म का अखंड प्रचार करते रहे तब भी वे सनातन धर्म का नाश नहीं कर सके और अशोक जैसे सम्राट् द्वारा राजशक्ति से इस उन्मूलन के लिए सबकुछ दाँव पर लगा देने के बाद भी उसे थककर बैठ जाना पड़ा। स्वयं बुद्ध की तुलना में अंबेडकर की क्या कहें? पर ऐसे आंदोलन के कारण राष्ट्र में जो फूट पड़नी संभव है उसे अवश्य पहले से ही सावधानी के साथ नियंत्रण में रखना आवश्यक है।

अंबेडकर ईसाई या मुसलमान नहीं हुए, हमपर यह कोई उपकार नहीं है

आज डॉ. अंबेडकर अपने समाचारपत्रों एवं भाषणों से यह घोषणा कर रहे हैं कि विश्व के सारे धर्मों में बौद्ध धर्म ही श्रेष्ठ है। परंतु इन्हीं डॉ. महोदय ने एक बार मुसलिम धर्म का भी ऐसा ही गुणगान कर 'मैं ऐसे श्रेष्ठ मुसलिम धर्म को स्वीकार करूँगा' अपना दृढ़ निश्चय प्रकट किया था। एक बार मैं श्रेष्ठ ईसाई धर्म स्वीकार करूँगा—ऐसा भी कहा था। उसके बाद 'मैं सिख धर्म ही स्वीकार करूँगा' ऐसी गप भी उन्होंने उड़ाई थी।

इन सब बातों की घोषणा समय-समय पर करनेवाले अंबेडकर कोई कच्ची बुद्धि के विद्यालय जानेवाले छात्र नहीं थे। तब भी वे डॉक्टर की पदवी धारण किए हुए ही थे। तब क्या उन्हें बौद्ध धर्म विश्व के सब धर्मों में श्रेष्ठ है, यह ज्ञात नहीं था? और ज्ञात नहीं था ऐसा वह यदि कहते हैं तो उनकी वे घोषणाएँ धर्मों के गहरे अध्ययन के बाद हुई न होकर अपरिपक्व बुद्धि की थीं—यह सिद्ध हो जाता है। या फिर वे केवल दिशाभ्रम उत्पन्न करनेवाली घोषणाएँ थीं। मुसलिम या ईसाई धर्म में और उनके व्यवहार में अस्पृश्यता नहीं है ऐसा कहा जाता है। थोड़ी देर के लिए इसे मान भी लें तो भी उन धर्मों की, जिन्हें थोड़ी भी जानकारी है, वे भी जानते हैं कि अस्पृश्यता से भी भयानक ऐसी दासता की, गुलामी की मनुष्य को जन्मतः पशुवत् माननेवाली और पशुवत् व्यवहार करनेवाली प्रथा को उन दोनों धर्मों के संस्थापकों और प्रचारकों ने अधार्मिक नहीं माना। Slaves, Obey your Masters ऐसा बाइबिल कहता है। सच बात यह है कि डॉ. अंबेडकर को उपर्युक्त अहिंदू धर्मों के ये सारे दोष ज्ञात हैं। उन्हें यह भी ज्ञात है कि उनके पहले ही सैकड़ों वर्षों से हजारों अस्पृश्य लोगों को स्वेच्छा से या शक्ति से ईसाई और मुसलिम धर्म में धर्मांतरित किया जा चुका है। केवल महार बंधुओं की ही बात करें तो अनेक महारों को अंबेडकर के जन्म के पूर्व से ईसाई और मुसलिम बनाया जाता रहा है। परंतु पूर्व के

ऐसे अस्पृश्य धर्मांतरित लोगों की अस्पृश्यता, सामुदायिक भाषा में कही जाए तो ईसाई और मुसलिम समाज ने जैसी-की-तैसी ही रखी। त्रावणकोर में ही देखें। सौ-सौ वर्ष पूर्व ईसाई हुए अस्पृश्यों को केवल बस्ती और विद्यालयों में ही नहीं अपितु ईसाई मंदिरों में भी ईसाइयों के बीच बैठने नहीं दिया जाता। उन्हें एक कोने में दूर बैठाया जाता है और प्रार्थना भी उसी अस्पृश्य कोने से ही करनी पड़ती है। महाराष्ट्र में धर्मांतरित महार, चमार, मांग आदि अस्पृश्य ईसाइयों को अस्पृश्य ही माना जाता है। दूसरे ईसाइयों के द्वारा ही नहीं अपितु स्वयं वे भी एक-दूसरे को अस्पृश्य मानते हैं। उनके विवाह भी धर्मांतरित, पर उनकी अपनी जात-बिरादरी में ही होते हैं। मुसलमानों में तो बलपूर्वक धर्मांतरित अस्पृश्यों को इतना दबाया जाता है कि एक बार बंगाल विधानसभा में अस्पृश्य मुसलमानों के नाम से शिकायत की गई थी कि मुसलमानों के लिए आरक्षित पद हम अस्पृश्य मुसलमानों के हिस्से में स्पृश्य मुसलमान आने ही नहीं देते। सिखों में जो अस्पृश्य जाते हैं उन्हें 'मजहबी सिख' नामक वर्ग में अलग ही रखा जाता है। ये सारी बातें अंबेडकर की आँखों के सामने थीं। ऐसी अनेक बाधाओं और अन्य कुछ अंदरूनी कारणों से ईसाई, मुसलिम एवं सिख नेताओं से अंबेडकर का धर्मांतरण संबंधी सौदा पटा नहीं। ये अंदरूनी कारण जिन्हें ज्ञात हैं वे ये भी जानते हैं कि हिंदू समाज की अधिकाधिक हानि एवं मान भंग करने के लिए इसलाम या ईसाई धर्म में जाने की इच्छा होते हुए भी डॉ. अंबेडकर वह दुष्कृत्य कर नहीं सके। परंतु ये तथ्य ज्ञात न होने के कारण कुछ सदिच्छ परंतु सर्वसाधारण हिंदुओं की तरह ही कुछ भोले हिंदू नेताओं को ऐसा लगा कि डॉ. अंबेडकर ने ईसाई या इसलाम धर्म स्वीकार न कर हिंदुओं पर बड़ा उपकार किया। उनके मन में हिंदुओं के लिए कुछ सदिच्छा थी, इसीलिए उन्होंने वैसा किया। पर वैसा कुछ भी नहीं था। डॉ. अंबेडकर को दूसरा काला पहाड़ बनने का अवसर ही नहीं मिला अन्यथा वे सवाई काला पहाड़ बनने से नहीं चूकते।

हिंदुओं द्वारा धर्मांतरितों का सम्मान करना निर्लज्जता होगी

गत दो-तीन वर्षों से डॉ. अंबेडकर ने बौद्ध धर्म का प्रचार करने की ढाल आगे बढ़ाकर अपने समाचारपत्रों एवं भाषणों से, जिसे वे हिंदू धर्म कहते हैं, उस हिंदू धर्म के विरुद्ध और हिंदू समाज के विरुद्ध निरंतर जो गाली-गलौज चला रखी है वही इसका वास्तविक साक्ष्य है। उनके समाचारपत्र हम हेतुत: पढ़ते हैं। उसमें वे और उनके प्रचारक हिंदुओं के वेद, पुराण आदि धर्मग्रंथों पर, श्रीराम, कृष्ण आदि अवतारों पर, हिंदुओं के धार्मिक आचार पर और रूढ़ियों पर इतनी वाहियात,

अन्यायकारी और कहीं-कहीं तो अतिहीन भाषा में वर्षों से टीका करते आ रहे हैं कि सहिष्णुता के रोग से ग्रस्त हिंदू समाज के अतिरिक्त किसी भी अहिंदू समाज ने वैसी टीका सुनी न होती। इसीलिए बौद्ध धर्म को सब धर्मों से अधिक श्रेष्ठ बताते हुए भी ये अंबेडकरवादी प्रचारक इसलाम या ईसाई धर्मग्रंथों के विरुद्ध या रूढ़ियों के विरुद्ध एक शब्द भी उस भाषा में उच्चारण करने का साहस नहीं करते। क्योंकि डॉ. अंबेडकर ने उन धर्मग्रंथों के विरुद्ध एक शब्द भी बका होता तो उस अहिंदू समाज ने अंबेडकर का दूसरा कन्हैयालाल मुंशी बना दिया होता। और वैसे ही हिंदू धर्म और रूढ़ि के दोष दिखाते समय बौद्ध धर्म के वैसे ही दोषों का उल्लेख भी कभी नहीं किया। बुद्ध के दस-पाँच उदात्त वचन, जो बुद्धपूर्व के सनातन ऋषि-मुनियों और साधु-संतों द्वारा उपदेशित संस्कृत वचनों का केवल पाली भाषा में किया गया अनुवाद हैं, उन्हें ये अंबेडकरी प्रचारक बार-बार छापते और घुट्टी की तरह पिलाते हैं और चिल्लाते हैं कि ये देखो बौद्ध धर्म कैसे सब धर्मों में श्रेष्ठ है। उन्हें कभी धमकाना पड़ेगा कि बौद्ध धर्म में, बुद्ध पुराणों में और नाना देश में प्रचलित उनके रूढ़ आचारों में भी भ्रमपूर्ण मत, कपोल कथा, भोंदूपन, कदाचार और अनाचार आदि का अन्य किसी भी वैश्विक धर्म की तरह कीचड़ भरा पड़ा है। परंतु यह ज्ञात होते हुए भी अंबेडकर की हिंदू द्वेष से अंधी हुई आँखों में वे स्थितियाँ गड़ती नहीं। अब वे आग्रह से कहते हैं कि बचपन में ही उन्होंने बुद्धचरित्र पढ़ा था और तभी से उनका बौद्ध धर्म के प्रति खिंचाव हो गया था। पर प्रश्न यह है कि यदि बचपन से ही उन्हें बौद्ध धर्म प्रिय हो गया था तो उन्होंने बीच में बुद्ध को 'काफिर, दि हीदन' माननेवाले इसलाम धर्म और ईसाई धर्म को स्वीकार करने की बातें कैसे कही थीं?

अर्थात् जब बौद्ध धर्म स्वीकार करने के सिवाय कोई रास्ता नहीं बचा तब उन्होंने उसे स्वीकार किया। तो फिर ऐसे आदमी से लगाव हिंदू करें ही क्यों?

परंतु बौद्ध होते ही डॉ. अंबेडकर की भंगड प्रतिज्ञा भंग हो गई

डॉ. अंबेडकर गत बीस-पच्चीस वर्षों से बार-बार गर्जना करते रहे कि हिंदू धर्म में मेरा जन्म हुआ इसमें मेरी कुछ भी भूमिका नहीं थी, पर मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं हिंदू धर्म में मरूँगा नहीं। इस अपनी भंगड प्रतिज्ञा को बार-बार दोहराना छोड़ा नहीं। पर अब वे ऐसे पेंच में फँस गए हैं कि यदि वे फिर से एक और धर्मांतरण नहीं करते और शेष आयु बौद्ध धर्म में ही व्यतीत करते हैं तो उन्हें हिंदू धर्म में ही मरना पड़ेगा। क्योंकि हिंदुस्थान से बाहर जाने के लिए जो कूद उन्होंने

लगाई वह छोटी पड़ गई और वे हिंदुस्थान के सीमा क्षेत्र में ही गिर गए हैं। हिंदुत्व के सीमा क्षेत्र की आज बहुमान्य स्वर्गीय लाला लाजपतराय, स्वामी श्रद्धानंद, रामानंद चटर्जी, भाई परमानंद आदि हिंदू धुरंधरों द्वारा स्वीकार की हुई, हिंदू महासभा जैसी अखिल हिंदू संस्था के संविधान में गत बीस वर्ष से समाविष्ट और ऐतिहासिक दृष्टि से जितनी सत्य उतनी ही प्रत्यक्ष वस्तुस्थिति का सही-सही तौलकर अतिव्याप्ति और अव्याप्ति इन दोनों दोषों से यथासंभव अलिप्त जो अनन्य व्याख्या है वह यह कि जिस-जिसकी पितृभूमि और पुण्यभूमि भरतखंड है वह हिंदू है। डॉ. अंबेडकर यदि भरतखंड के बाहर के परदेश में जन्म पाए व्यक्ति होते और वे बौद्ध हो जाते तो उन्हें इस हिंदुत्व की व्याख्या से भागने के लिए एक सँकरी गली मिल जाती; पर अंबेडकर और नागपुर में बौद्ध हुए सारे महार अनुयायी, जिनकी हजारों वर्षों की परंपरा में पूर्वजों की पीढ़ियाँ जहाँ पली-बढ़ीं, वह पितृभूमि आसिंधुसिंधु भारत की है—यह वे नकार नहीं सकते। उसी तरह उनके द्वारा स्वीकार किए गए बौद्ध धर्म का संस्थापक जो गौतम बुद्ध है, उसकी जन्मभूमि एवं कर्मभूमि भी भरतखंड ही है यह भी नकारा नहीं जा सकता। इसीलिए विश्व के हीनयानी, महायानी या वज्रयानी कोई भी हो, सारे बौद्ध भारतखंड को ही अपनी पुण्यभूमि मानते हैं अर्थात् जब तक अंबेडकर भारतीय बौद्ध हैं तब तक उनकी पितृभूमि और पुण्यभूमि भी अपरिहार्य रूप से आसिंधुसिंधु भारत ही होने से हिंदुत्व के सीमा क्षेत्र में ही उसका समावेश होना अटल है। उस सीमा क्षेत्र का उल्लंघन करना अंबेडकर जब तक बौद्ध हैं तब तक उनके वश का नहीं है। ईश्वर उन्हें लंबी आयु दे। पर हम सब ही मर्त्य हैं इस कारण जब कभी अंबेडकर का अंत काल आएगा तब वे बौद्ध हैं, तब भी उन्हें हिंदू रूप में ही मरना पड़ेगा। मैं हिंदू रूप में नहीं मरूँगा यह उनकी प्रतिज्ञा अंत में एक कल्पित बात ही रह जाएगी। उनके द्वारा बौद्ध धर्म स्वीकारने से इतना ही काया-पलट हुआ कि हिंदुओं के वैदिक पंथ का त्याग कर हिंदुत्व की कक्षा का जो अवैदिक पंथ है, उसे चाहें तो धर्म कहें, उसमें से बौद्ध धर्म उन्होंने स्वीकार किया हुआ है। इस तरह उनके सीमोल्लंघन की कूद छोटी पड़ गई और वे हिंदुत्व के सीमा क्षेत्र में ही गिर गए। 'प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्‌बाहुरिव वामनः' ऐसी उनकी स्थिति हो गई है, यह बात डॉ. अंबेडकर को मन-ही-मन सता रही है इसमें कोई शंका नहीं इसीलिए बौद्ध धर्म की परंपरागत दीक्षाविधि में जो नहीं हैं, वे वाक्य अंबेडकर ने दीक्षाविधि में घुसेड़कर कहा कि 'मैं हिंदू धर्म का त्याग कर रहा हूँ। मैं विष्णु को नहीं मानता, बुद्ध विष्णु का अवतार नहीं है।' यह उन्होंने बार-बार घोटकर कहा। परंतु जिस माँ-बाप के पेट से जन्म हुआ उन्हें गुस्से में या वायु प्रकोप हो जाने पर कोई मूर्ख लड़का, ये मेरे पितर ही नहीं हैं ऐसा कहे तो भी उसके

माँ-बाप बदल नहीं जाते; वैसे ही डॉ. अंबेडकर हिंदू द्वेष के आवेश में 'मैं हिंदू नहीं, मैं हिंदू नहीं' ऐसा बकते रहें तो भी जब तक वे भारतीय बौद्ध हैं तब तक हिंदुत्व के बंधन तोड़ने की बात चाहे वे कहते रहें, पर उसे तोड़ना असंभव है।

उसी तरह केवल बौद्ध हो जाने से अस्पृश्यता की बेड़ी भी टूटनेवाली नहीं। अस्पृश्यता की दूषित रूढ़ि ही नहीं, जन्म से ही माना जानेवाला जातिभेद नष्ट करने के लिए अन्य किसी भी मत के हिंदू तत्त्वचिंतक की तरह हम भी पूरे तन-मन-धन से लगे हुए हैं। हिंदू धर्म के सहस्राधिक तथाकथित स्पृश्य-अस्पृश्य संत-महात्माओं से लेकर सामान्य लोगों तक अस्पृश्यता की रूढ़ि नष्ट करने के लिए आज तक जो प्रयास हुए और जिन प्रयासों में अंबेडकर का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग है, उनके कारण आज अस्पृश्यता व्यवहार में सचमुच मृत्यु की ओर बढ़ रही है। आज के भारतीय शासन ने भी विधि व्यवस्था से जन्मजात अस्पृश्यता का पालन दंडनीय अपराध घोषित किया हुआ है। आज नगरों में जन्मजात जातिभेदीय रूढ़ि का नाश अधिकतर हो चुका है और रोटीबंदी की बेड़ियाँ भी टूट सी गई हैं।

सुदूर गाँव-देहात से, विशेषकर अशिक्षित और गँवार वर्ग से, अस्पृश्यता का सफाया अभी नहीं हुआ है, यह बात सत्य होते हुए भी, जिस रास्ते से उसका सफाया नगरों में होता आ रहा है उसी रास्ते से गाँवों में भी निश्चय ही होगा। पर केवल हमने अब बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया है, अब हम अस्पृश्य नहीं रहे—केवल ऐसी घोषणा की चुटकी बजाते ही गाँव-देहात की अस्पृश्यता नष्ट होना असंभव है। नागपुर में बौद्ध धर्म की दीक्षा समारोहपूर्वक लेनेवाले हमारे महार बंधु जब अपने-अपने गाँवों में फुटकर होकर लौटेंगे और अपनी झोंपड़ियों में दस-दस, पाँच-पाँच की संख्या में रहने लगेंगे और उस समारोह का आवेश उतर जाएगा तब उन्हें ज्ञात हो जाएगा कि उनकी अस्पृश्यता रत्ती भर भी कम नहीं हुई है। सम्राट् हर्ष के काल में भी बौद्ध लोग चांडाल को अस्पृश्य ही मानते रहे। उन्हें गाँव के बाहर रहना पड़ता और गाँव में आना हो तो घुँघरूवाली लाठी बजाते हुए रास्ते के किनारे-किनारे से दूसरों से बचते हुए चलना पड़ता था। लंका जैसे बौद्ध देश में आज भी बौद्ध लोग उसी तरह की अस्पृश्यता का पालन गाँवों में करते हैं। जहाँ बौद्ध धर्मी स्वयं इस तरह का व्यवहार करते हैं वहाँ बहुसंख्य सनातन हिंदू बस्ती के हमारे गाँव-देहात में जब ये नागपुर में बौद्ध हुए महार 'अस्पृश्य' भाई लौटेंगे तब 'वे बौद्ध हो गए' इतनी ही बात पर उन्हें तत्काल स्पृश्य माना जाएगा, यह असंभव है। वैसे ही गाँव में दो-चार बौद्ध महार कुएँ पर जाकर स्पृश्यों को कहें कि अब हम बौद्ध हो गए हैं, हम ईश्वर नहीं मानते, हम हिंदू भी नहीं हैं, इसलिए इस कुएँ पर पानी भरने का तुम्हारे बराबर का अधिकार है, तो इतनी सी बात पर उस गाँव के स्पृश्य

लोग उन्हें पानी भरने देंगे क्या? उलटे हिंदू धर्मबंधुत्व की डोर के कारण जो स्पृश्य गाँववाले उनकी बगल में खड़े हो सकते थे वे भी धर्मबंधुता की वह डोर टूट जाने पर उन मुट्ठी भर बौद्ध महारों को परदेसियों की दृष्टि से देखने लगेंगे। आर्थिक दृष्टि से भी केवल बौद्ध हो जाने से उनकी झोंपड़ियों के बँगले नहीं हो जानेवाले या उनकी थाली की आधी रोटी जादू से रोटियों के ढेर में बदल जाए—ऐसा तत्काल तो नहीं दिखता।

उल्लिखित और अन्य ऐसे ही कारणों से हमारा सब तथाकथित अस्पृश्य धर्मबंधुओं से ऐसा नम्र निवेदन है कि वे धर्मांतरण के इस गड्ढे में न कूदें। इसीलिए 'अस्पृश्यता' के अन्य बड़े नेता अंबेडकरी धर्मांतरण के जाल में फँसना नहीं चाहते। श्री जगजीवनराम, श्री तपासे, श्री काजरोलकर, श्री राजभोज आदि पूर्व के अस्पृश्य नेताओं ने अंबेडकर के इस उलटे कार्य का पहले से ही विरोध किया हुआ है। शेष बची अस्पृश्यता इन नेताओं द्वारा अवलंबित मार्ग पर चलकर ही अधिक तेजी से नष्ट हो जाएगी।

एक सावधानी की सूचना : बौद्ध स्थान और नागराज्य

डॉ. अंबेडकर ने अपने कुछ लाख अनुयायियों के साथ जो संप्रदाय बदल किया या उसे वे चाहें तो धर्मांतरण कहें, बौद्ध धर्म के लिए उनके मन में कोई प्रगाढ़ भक्ति उत्पन्न हुई इसलिए नहीं किया। उनके मन के अँधियारे कूप में एक हिंदू राष्ट्रघाती राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा छिपी बैठी है और वह यह कि उनके स्वयं के पीठाचार्यत्व के अधीन यदि भारत में बौद्धों का संख्याबल उनकी आवश्यकतानुसार हो जाए तो झारखंड जैसी फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों से हाथ मिलाकर एक स्वतंत्र बौद्ध स्थान, एक स्वतंत्र नागराज्य स्थापित कर लें, उनकी इस महत्त्वाकांक्षा की आशंका उनके द्वारा उनके अनुयायियों के बीच दिए गए भाषण 'ही' हैं। ये भाषण उन्होंने स्वयं संपादित कर प्रकाशित भी किए हैं। उनमें व्यक्त विचारों से यह बात निकलती है। इस संबंध में हम इतनी ही चेतावनी अपने हिंदू राष्ट्र को देना चाहते हैं कि अंबेडकर द्वारा किए गए इस धर्मांतरण का अंधा समर्थन कोई न करे। पहले बैरिस्टर जिन्ना को कांग्रेस राष्ट्रीय मुसलमान कहकर गले लगाया करती थी। पाकिस्तान की योजना पहली बार जब सामने आई तब नेहरू ने उसे Fantastic Nonsance कहकर उड़ा दिया था। वही भोलेपन की और अंधेपन की त्रुटियाँ फिर घटित न हों, इसलिए धर्मांतरण की किसी फूट डालनेवाली प्रवृत्ति से पहले से ही असावधान और भ्रमित न रहें। उसे संदेहात्मक संकट मानकर उसका विरोध ही किया जाना चाहिए। उसमें भी जब बुद्ध की अस्थियाँ परदेश से खोदकर लाने,

उनको सिर पर लेकर समारोह करने का कार्य कुछ राज्यधुरंधर कर रहे हैं तब उस बढ़ते बुद्धप्रस्थ की धार्मिक और राष्ट्रीय दृष्टि से शल्यक्रिया आवश्यक है। उनके द्वारा खोले गए बुद्ध काल के इतिहास के पृष्ठ फिर से पढ़ने चाहिए और यह तथ्य ध्यान में लाना चाहिए कि यवन, शक, कुषाण, हूण आदि विदेशी आक्रमणकारियों से लेकर मुसलमानों के हमलों तक कुलनाशी जयचंद जैसे व्यक्ति या व्यक्तिगत स्वार्थ या लोभ के कारण नहीं अपितु समूहश: धार्मिक कर्तव्य मानकर भारतीय बौद्धों ने उन विदेशी म्लेच्छ शक्तियों से हाथ मिलाकर और उनके राज्य भारत में स्थापित करने का हिंदू-राष्ट्रद्रोह फिर से किया हुआ है। उसी पाप से प्रज्वलित भारतीय क्रोध की प्रचंड यज्ञाग्नि में बुद्धप्रस्थ की बलि देकर भारत से बौद्ध धर्म का नाश हुआ था।

आगे-पीछे वैसा कुछ घटित होने की आशंका आज निश्चित अर्थों में तो नहीं दिख रही है, पर हिंदू राष्ट्र के इन हित शत्रुओं की इस बुद्ध लहर के प्रति हम पूरी तरह सावधान रहें, यह उत्तम है। विष पीकर फिर उसकी परीक्षा करने की अपेक्षा उसे बिलकुल न पिएँ यही उत्तम है।

(केसरी, ३०.१०.१९५६)

□

प्रकरण—१८

हिंदू देवालय में अहिंदुओं को प्रवेश नहीं

पंढरपुर में कुछ माह पूर्व आचार्य विनोबाजी भावे के व्यक्तिगत सत्याग्रह के कारण पंढरपुर के पुजारियों ने श्री विट्ठल मंदिर में विनोबाजी के साथ आए मुसलमान, ईसाई आदि कुछ अहिंदू व्यक्तियों को भी प्रवेश दिया; इतना ही नहीं अपितु वे हिंदुओं की तरह ही मूर्ति तक स्वेच्छ संचार और व्यवहार करते रहे, पर उन्हें किसी ने टोका नहीं। समाचारपत्रों में इस घटना के संबंध में उपर्युक्त संक्षिप्त जानकारी के सिवाय अधिक जानकारी हमारे पढ़ने में नहीं आई। हिंदुओं के मंदिर में अहिंदुओं को इस तरह अनधिकृत प्रवेश दिए जाने की घटना के विरुद्ध हिंदू समाज की ओर से सामुदायिक रीति से या व्यक्तिगत विरोध होना चाहिए था, वैसा कोई भी समाचार नहीं आया। अधिकतर समाचारपत्रों एवं हिंदुत्वनिष्ठ संस्थाओं ने भी इस प्रकरण की उपेक्षा ही की—ऐसा लगता है।

हिंदुओं के न्याय्य अधिकारों को यथाशक्ति संरक्षित करने के लिए सजगतापूर्वक जितना हो सके उतना प्रतिकार जो बहुधा करते हैं उन हिंदू राज्य पार्टी के नेता श्री ल.ग. थत्ते ने पंढरपुर जाकर इस घटना का विरोध किया था ऐसा पढ़ने में आया है। उसके बाद यह भी समाचार आया कि पंढरपुर के ही किसी हिंदू सज्जन ने, अहिंदुओं को अनधिकृत रीति से हिंदुओं के पंढरपुर के प्रसिद्ध श्री विट्ठल मंदिर में प्रवेश देकर उसे भ्रष्ट किए जाने के विरुद्ध न्यायालय में मंदिर के पुजारी तथा विनोबा भावे आदि पर अभियोग किया है। इस समाचार में कितना क्या तथ्य है और उसमें आगे क्या हुआ, इसकी भी कोई चर्चा नहीं हुई। फिर भी यदि यह बात सच हो तो पंढरपुर मंदिर में अहिंदुओं के प्रवेश की घटना अब न्याय प्रविष्ट होने के कारण उसके संबंध में कोई चर्चा हम नहीं कर सकते। इस प्रकरण पर न्यायालय का निर्णय होने तक हमने इस संबंध में अपने विचार

प्रस्तुत ही न किए होते!

पर पंढरपुर की इस न्याय प्रविष्ट विशिष्ट घटना का प्रश्न छोड़ दें तो भी हिंदुओं के मंदिर में अहिंदुओं को प्रवेश करने का अधिकार है या नहीं, इस सारे हिंदू विश्व से संबंधित प्रश्न की चर्चा सामान्य रीति से करने में किसी की कोई रोक नहीं हो सकती। उसमें भी यह चर्चा खुली करके इस विषय पर अपने विचार प्रकट करें, इस आग्रह के पत्र अनेक हिंदू कार्यकर्ताओं और हिंदू नेताओं की ओर से मुझे प्राप्त हुए हैं। इतना ही नहीं अपितु कुछ समाचारपत्रों में तथा सभाओं में रत्नागिरि के संपूर्ण भारत में प्रसिद्ध 'श्री पतितपावन मंदिर' और अपना स्पष्ट उल्लेख कर 'उस मंदिर में अहिंदुओं को और उसमें भी विशेषकर मुसलमानों को प्रवेश का अधिकार है' ऐसा प्रतिपादन हम करते रहे हैं और उन्हें प्रवेश देते रहे हैं, ऐसी कुछ आधी-अधूरी किंवदंती भी बिना संकोच कही जाती रही है।

इस तरह जब इस चर्चा में हमारे नाम और मतों का दुरुपयोग होता दिखने लगा तब उस प्रश्न के संबंध में अपने विचार स्पष्टता से फिर एक बार कह डालने की आवश्यकता अनुभव हुई, इसलिए संक्षेप में वे विचार नीचे दिए जा रहे हैं।

श्री पतितपावन मंदिर की परंपरा

रत्नागिरि स्थित विख्यात पतितपावन मंदिर के निर्माण का संकल्प सन् १९२९ के आस-पास हमारे निवेदन पर स्व. दानवीर श्री भागोजी सेठ कीर ने कराया। उस मंदिर निर्माण का विशिष्ट हेतु और नियोजित परंपरा का स्पष्ट उल्लेख उसी समय तैयार किया गया हस्तलिखित है। वे सारे समाचार और हस्तलिखित सामग्री भी 'रत्नागिरि हिंदूसभा के प्रतिवेदन भाग-दो' में प्रकाशित हुई है। उससे यह स्पष्ट हो जाएगा कि पतितपावन मंदिर के निर्माण का मुख्य उद्देश्य था—सभी हिंदू जातियाँ निर्विशेषता से और समानता से वहाँ प्रवेश कर सकें और हिंदू वेदोक्त रीति से पूजा भी कर सकें। इस कारण उसका प्रचलित नाम अखिल हिंदू मंदिर ही पड़ा। वहाँ के आचार के संबंध की प्रत्यक्ष कल्पना देने के लिए एक ही बात कहनी काफी है। अपने पूर्व-अस्पृश्य धर्मबंधुओं—महार, चमार, भंगी बंधुओं के बच्चे चुनकर उन्हें रुद्र का एक अनुवाक् और कुछ अन्य संस्कृत मंत्र ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के बच्चों के साथ ही सिखाकर उन सब बच्चों के हाथों से वेदोक्त मंत्रों के सामुदायिक घोष में पतितपावन की मूर्ति पर 'अखिल हिंदू वेदोक्त अभिषेक' हर उत्सव पर होता था। उस समय अपूर्व लगनेवाले उस उपक्रम को दूर-दूर के समाचारपत्रों में अनुकूल और प्रतिकूल टिप्पणियों के साथ प्रकाशित भी किया जाता था और उससे बड़ी खलबली मच जाती थी। उस समय लाखों रुपए खर्च कर

निर्मित मंदिर में पूर्व अस्पृश्य सहित सारे हिंदुओं को समता से प्रवेश करने का अधिकार था। इतना ही नहीं, वहीं पर बिना जाति-पाँति भेद के सहभोज भी होते थे। सारे भारत में रत्नागिरि का यह पतितपावन मंदिर इस तरह पहला और अकेला था जहाँ जाति-पाँति का कोई भेद नहीं था।

इस ख्याति के कारण अनेक नए और पुराने विचारों के नेता रास्ते से अलग हटकर बसे इस रत्नागिरि नगर को भी दूर-दूर से देखने आते थे। वे पतितपावन मंदिर और वहाँ हिंदूसभा की ओर से समाज-क्रांतिकारक जन्मजात जाति उन्मूलन के लिए चलाए जा रहे अनेक उपक्रम स्वयं देखकर जाते। मुंबई के 'टाइम्स' जैसे समाचारपत्र में भी पतितपावन मंदिर के संबंध में चर्चा और समाचार बीच-बीच में प्रकाशित होने के कारण दूर-दूर से आनेवाले नेताओं में कभी-कभी ईसाई मिशन के नेता भी होते थे। क्योंकि रत्नागिरि के शुद्धि, सहभोज आदि जाति उन्मूलन आंदोलनों के कारण हिंदुओं को ईसाई बनाने के उनके प्रयासों को धक्का लगने का डर ईसाई मिशनरी लोगों को भी लगने लगा था। इसी तरह मुसलमानों के भी कुछ नेता आते थे। अर्थात् ऐसे समय में श्री पतितपावन के अखिल हिंदू मंदिर में अहिंदुओं को प्रवेश का अधिकार है या नहीं, यह प्रश्न प्रमुखता से खड़ा हो जाता था। उस प्रश्न का हल हम कैसे निकालते थे, उसके उत्तर में एक घटना हम यहाँ विस्तार से दे रहे हैं।

दिवंगत यूसुफ मेहर अली ने पतितपावन मंदिर को भेंट दी

उस समय ब्रिटिश शासन के द्वारा हमें रत्नागिरि में स्थानबद्ध रखा गया था। यह भी शर्त थी कि हम राजनीति में हिस्सा नहीं ले सकते। फिर भी ऊपर वर्णित शुद्धि संगठन आदि जो समाज-क्रांति के आंदोलन थे उसमें हम सक्रिय थे। ऐसे समय हमसे मिलने मुंबई कांग्रेस के एक मुसलिम नेता स्व. यूसुफ मेहर अली सन् १९३७ में अर्थात् स्थानबद्धता से मुक्त होने के पूर्व रत्नागिरि में आए थे। मुसलमान होते हुए भी कांग्रेस में होना उन दिनों एक हद तक अलौकिक कार्य समझा जाने से मेहर अली का मुंबई कांग्रेस के हिंदू समाज में बड़ा आदर था। हमसे हुई उनकी भेंट में उनका व्यवहार भी हमारे प्रति आदर व्यक्त करनेवाला और सौजन्य भरा था। राजनीति की चर्चा करने पर प्रतिबंध है यह उन्हें ज्ञात होने से यह विषय तुरंत समाप्त हो गया। फिर हिंदू-मुसलमान एकता के संबंध में उन्होंने हमसे लंबी चर्चा की। उस चर्चा का सविस्तार उल्लेख करने की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ इतना कहना काफी है कि हिंदू-मुसलिम एकता की चर्चा में ही पतितपावन जैसे अखिल

हिंदू मंदिर में मुसलमानों को भी प्रवेश का अधिकार है या नहीं, यह प्रश्न निकला। ''हिंदुओं के मंदिर मुसलमानों के लिए भी खुले किए गए तो हिंदू-मुसलिम एकता में मजबूती आएगी—ऐसा मत हमारे मुंबई कांग्रेस के राष्ट्रीय सोचवाले अनेक हिंदू नेताओं का है।'' ऐसा मेहर अली ने और उनके साथ ही मुंबई से आए उनके कुछ हिंदू मित्रों ने कहा, ''हमें मुंबई में यह समाचार मिला कि यह नया मंदिर आपने अस्पृश्यों के लिए खोला हुआ है, उसी तरह मुसलमानों को भी प्रवेश, प्रार्थना आदि सारे अधिकार दिए हुए हैं; 'हिंदू, मुसलमान सब एक ही परमेश्वर की संतानें हैं' इस उदात्त सिद्धांत पर ही इस पतितपावन मंदिर का निर्माण हुआ है और यह अखिल हिंदू देवालय ही न होकर अखिल भारत देवालय है—ऐसा हम मुंबईवाले समाचारों से प्राप्त जानकारी के कारण समझते हैं। इस कारण हमें हिंदू-मुसलिम एकता का यह प्रयास इतना महत्त्वपूर्ण लगा कि रत्नागिरि आने के लिए आपके दर्शन का हेतु जितना प्रबल था उतनी ही प्रबल इच्छा पतितपावन देवालय स्वयं जाकर देखने की थी। परंतु हम अपने रत्नागिरि के जिस मित्र के यहाँ ठहरे हैं उसने पतितपावन के संबंध में हमारी कल्पना को त्रुटिपूर्ण कहा और हमें आपके यहाँ लाते हुए रास्ते में पड़ते उस पतितपावन मंदिर के सामने ही खड़ा कर दिया। पर एकदम अंदर न जाकर वहाँ के पुजारी को बुलाकर हमारे रत्नागिरिवाले मित्र ने मंदिर के प्रवेश द्वार पर ही उससे पूछा कि मुंबई के कुछ राष्ट्रभक्त मुसलमान यह मंदिर देखने के लिए आए हुए हैं, अत: हमें अंदर ले जाकर मूर्ति तक सारा मंदिर दिखलाएँ, दर्शन करवाएँ। हमारा यह निवेदन सुनते ही उस पुजारी ने कहा कि 'नहीं! नहीं! मैं मुसलमानों को मंदिर में प्रवेश नहीं दे सकता। यह हिंदुओं का मंदिर है, मुसलमानों की मसजिद नहीं।' उसके द्वारा ऐसा सीधा उत्तर दिए जाने के कारण हमने मंदिर में प्रवेश नहीं किया और सीधे आपके पास आ गए हैं।''

हमने कहा, ''आपको जो कष्ट हुआ उसके लिए हमें खेद है। पर आपने जैसा अभी बताया वैसा यह घपला मुंबई के कांग्रेसी लोगों में जो गप चली है उसके कारण हुआ है। यहाँ की स्थिति जैसी उस पुजारी ने कही वही सच है। हिंदुओं के अन्य मंदिरों की तरह ही पतितपावन मंदिर में भी प्रवेश करने का अहिंदुओं को 'अधिकार' नहीं है। विश्व के अन्य धर्मों में भी ऐसी ही रीति होती है। इसलाम, ईसाई या अन्य किसी धर्म के प्रार्थना स्थलों, देवालयों या मंदिरों में उस धर्म विशेष के श्रद्धावंत अनुयायियों के सिवाय उस धर्म पर श्रद्धा न रखनेवाले अन्य धर्मियों को प्रवेश करने का अधिकार नहीं होता। फिर भी इस अखिल हिंदू पतितपावन मंदिर के संबंध में एक अलग विशेषता है और वह यह कि कोई भी अहिंदू सज्जन निरीक्षण, दर्शन, पूजन आदि के लिए 'अधिकार' से नहीं, पर 'अनुमति' से इस

मंदिर में प्रवेश कर सकता है। हमारे शुद्धि, सहभोज आदि अपूर्व से लगनेवाले कार्यक्रम को देखने बीच-बीच में कुछ पारसी, ईसाई, मिशनरी नेता भी अनुमति की छूट पाकर इस मंदिर में आकर गए हैं। व्यवस्थापक के नाते मैं या डॉ. शिंदे स्वयं जाकर मंदिर में उनका यथोचित स्वागत करते हैं। ऐसी ही घटनाओं के कुछ समाचार अखबारों में प्रकाशित होने से उससे अतिशयोक्त बातें दूर तक की जनता में पहुँच जाती हैं। अच्छा, वह अब रहने दें। आप लोगों की इच्छा हो तो पतितपावन मंदिर में आपको ले जाकर सीधे सभामंडप में आपका स्वागत करने को हम तत्पर हैं।'' उनके द्वारा इस हेतु सानंद सहमति दिखाते ही उस दिन संध्या को श्री मेहर अली और उनके मुंबईवाले मित्रों को लेकर मैं पतितपावन मंदिर गया। संध्या समय देव दर्शन के लिए अनेक स्थानीय लोग मंदिर में आ-जा रहे थे। मंदिर में प्रवेश द्वार से अंदर जाते ही एक पटल स्पष्टता से लगा हुआ था, जिसे हमने मेहर अली को भी दिखाया। उस पर लिखा था कि 'व्यवस्थापक की विशेष अनुमति के सिवाय अहिंदुओं को मंदिर में प्रवेश का अधिकार नहीं है।'

उस पटल के संबंध में और कुल मिलाकर हिंदू-मुसलमान एकता के लिए ऐसे सामाजिक मंदिरों या मसजिदों की अप्रतिहार्य आवश्यकता है क्या? और हो भी तो उसकी संभावना है क्या? आदि प्रश्नों पर चर्चा करते हुए हम मंदिर की ओर बढ़े। कोई मुसलमान सज्जन मेरे साथ मंदिर में आनेवाले हैं यह जानकर भी उस समय मंदिर में दर्शनों को आते-जाते लोगों ने उत्सुकता से किसी प्रकार की पूछताछ नहीं की, यह बात मेहर अली के ध्यान में भी आ गई। उसका कारण मैंने उन्हें बताया कि ऐसे अवसर हमेशा आते रहते हैं। यहाँ गोरे अमेरिकी मिशनरियों को भी आते हुए यहाँ की जनता ने देखा है, अत: उन्हें कुछ भी नया न लगना स्वाभाविक है। ''अहिंदुओं के स्पर्श से मंदिर अशुद्ध हो जाता है ऐसा यहाँ की हिंदू जनता को अब नहीं लगता क्या?'' मेहर अली ने बीच में ही कहा। ''नहीं-नहीं।'' मैंने हँसी में कहा, ''हमारे इस पतितपावन मंदिर में आनेवाला 'पतित' ही पावन हो जाता है, उलटे यहाँ के हिंदू ऐसी बड़ाई मारना सीख गए हैं।''

उस मंदिर में आने-जानेवाले व्यक्तियों की ओर निर्देश करते हुए, ब्राह्मण से लेकर भंगी तक किस तरह सब एक-दूसरे में मिल गए हैं, यह धीमी आवाज में हम मेहर अली को कहते जा रहे थे। अब इस लेख में उपर्युक्त चर्चा या सभामंडप में पान-सुपारी देकर मेहर अली का स्वागत करते हुए दिए गए छोटे-मोटे भाषणों का उल्लेख करने की कोई जरूरत न होने से वह सब हम यहाँ छोड़ रहे हैं। ऊपर दिया हुआ सारा कुछ, विशेषकर स्मरण से दिया होने से, संवाद के शब्दों में थोड़ा इधर-उधर होने की संभावना है। फिर भी उसका आशय एकदम यथावत् है इसमें कोई

शंका नहीं। और रत्नागिरि या मुंबई के उस समय प्रकाशित समाचार की कतरनों का साक्ष्य भी जिन्हें चाहिए, वह उन्हें उपलब्ध हो सकता है।

उपर्युक्त वृत्त से यह स्पष्ट हो जाएगा कि पतितपावन के अखिल हिंदू मंदिर में अहिंदुओं को भी प्रवेश का 'अधिकार' हमने दिया था, अनेक लोगों को ज्ञात यह जानकारी अतथ्य एवं निराधार है। उसी तरह पतितपावन मंदिर जिस विशेष हेतु से और परिस्थिति में निर्मित हुआ उसे ध्यान में रखते हुए व्यवस्थापक की अनुमति से अहिंदुओं को उस हिंदू मंदिर में ले जाने की जो विशेष छूट वहाँ रखी गई है, वह हिंदूहित की दृष्टि से उपयुक्त ही थी। परंतु इस छूट का संबंध भी केवल उस एक स्थानीय मंदिर से ही था। उस एक मंदिर के नए विधान में ही वह छूट दी गई थी। पूरे हिंदुस्थान में जो हमारे हिंदुओं के हजारों मंदिर शताधिक वर्षों से अपनी-अपनी प्राचीन एवं भिन्न-भिन्न श्रद्धाओं और परंपराओं के सहारे चल रहे हैं उनकी उस प्राचीन परंपरा को इस श्री पतितपावन के एक स्थानीय और नवीन मंदिर की परंपरा आज की परिस्थिति में हमारे हिंदू राष्ट्र के संगठन के लिए कितनी ही आवश्यक हो तो भी किसी भी तरह बंधनकारी नहीं हो सकती।

पंढरपुर के मंदिर में आचार्य विनोबा के साथ अहिंदुओं के जाने से गत कई माह से चली चर्चा में समाचारपत्रों के माध्यम से और व्यक्तिगत पत्रों से अनेक लोगों ने वास्तविक जिज्ञासा से निवेदन किया है कि इस संबंध में हमारा स्वयं का आज का मत क्या है, यह फिर एक बार विस्तार से कहें। परंतु इस मंदिर प्रवेश का ही नहीं अपितु कुल मिलाकर हिंदू और अहिंदू के संघर्ष के प्रश्न पर हिंदू संगठनों की दृष्टि से हमने गत तीस-चालीस वर्षों में इतना-कुछ लिखा है कि अब फिर से उन्हीं-उन्हीं प्रश्नों पर वही-वही बातें सविस्तार अर्थात् साधक-बाधक चर्चा करते हुए कहने की हमारी कतई इच्छा नहीं है। उसमें भी हमारे अनेक ग्रंथों में मेरे वे मत समाविष्ट हो जाने से जिज्ञासु उन्हें उसमें से ही पढ़ें, यही इष्टतर है। फिर भी हमारा 'आज का' मत क्या है ऐसा जो जिज्ञासु बंधु 'आज का' पर जोर देकर पूछते हैं उन्हें थोड़ा उत्तर देना आवश्यक है। क्योंकि उनके प्रश्न में नवीनता है। उन्हें हम एक बार फिर से अंतिम रूप से कहते हैं कि इस संबंध में हम कल तक जो मत सविस्तार कहते आए हैं वही हमारा मत आज भी हमें उचित लगता है, वह यह कि—

हिंदुओं के देवालय और देव स्थल में अहिंदुओं को प्रवेश का रत्ती भर भी अधिकार नहीं होना चाहिए

ईसाई, यहूदी, इसलाम आदि जो अहिंदू धर्म हैं उनपर उनके करोड़ों अनुयायियों की श्रद्धा बनी रहे; वे उन्हें प्रिय और आदरणीय हों; हिंदुओं को इसमें किसी तरह

का खेद करने का कोई कारण नहीं है। परंतु वे ईसाई, यहूदी या मुसलिम संप्रदायी अपने पूजा स्थल में जिस श्रद्धा से प्रार्थना, पूजा, अर्चना करेंगे उसी श्रद्धा से हिंदू देवालयों में (उन अहिंदुओं को बिना शर्त प्रवेश का अधिकार दिया जाए तो) होनेवाली पूजा-प्रार्थना आदि धर्म-कृत्यों का न तो कभी सम्मान कर सकेंगे और न वे उसे सहन ही कर सकेंगे। इतना ही नहीं अपितु सर्वोदय पंथी या जय जगत् पंथी या ऐसे ही प्यारे नाम धरे हुए लोग हिंदुओं को ही निरंतर कहते और सताते रहते हैं कि तुम अपने मंदिरों में समस्त अहिंदुओं को मुक्त प्रवेश का अधिकार दो। यह हिंदू मंदिर या मुसलमानों की मसजिद ऐसा भिन्न भाव मन में लाना अविद्या का लक्षण है। 'तमोपहत' दानवीपन का द्योतक है। सारी मानवजाति का ईश्वर अकेला एक है। ऐसे मानवतावादी धर्म का विकास करने के लिए सब धर्मों के पूजा स्थल सब मानवों के लिए खुले किए जाएँ। कम-से-कम ऐसा प्रारंभ करने के लिए हिंदुओं को अपने सारे मंदिरों में हिंदू या अहिंदू सब मानवों को प्रवेश, पूजा संचार, आचार आदि के समान और मुक्त अधिकार दिए जाएँ। फिर अन्य मुसलिम आदि अहिंदू अपने पूजा स्थल सब मानवों के लिए खुले करें या न करें। उन जय जगत् के लोगों के इस सिरफिरे वेदांत को स्वीकार कर यदि हिंदुओं ने अपने बड़े-बड़े देवस्थान अहिंदुओं, विशेषकर मुसलमानों के लिए खोल दिए तो प्रवेश का अधिकार मिलते ही जो सैकड़ों मुसलिम उन हिंदू देवालयों में घुसेंगे, वे मानव रूप में नहीं, मुसलिम रूप में ही घुसेंगे। उस देवालय की मूर्ति को हाथ जोड़ने के लिए नहीं, उसे हथौड़े से फोड़ने का अवसर कब मिलता है वह अवसर खोजने के लिए। हिंदुओं के देवालय की मूर्ति देखते ही मुसलिम समाज, अपना पहला धर्म कर्तव्य कौन सा समझता है वह मुसलिमों ने हिंदुओं से छिपाकर नहीं रखा है।

स्मरण कर लें, जब मुसलिम फौजें पहली बार पंजाब पार करके सौराष्ट्र में घुसी थीं तब यानी एक हजार वर्ष पूर्व ही सुलतान मोहम्मद गजनवी नामक मुसलिम सेनापति ने, श्री सोमनाथ की मूर्ति फोड़ते ही सदियों तक प्रतिध्वनित होता रहे इतने ऊँचे स्वर में राक्षसी गर्जना की थी कि मैं मूर्तिपूजक नहीं, मूर्तिभंजक (बुतशिकन) कहलाने में ही अपने को धन्य मानता हूँ। इन काफिरों की बुद्ध बुतपरस्ती (मूर्तिपूजा) उखाड़ फेंकने की प्रतिज्ञा करके ही मैं इस इसलामिक तख्त पर चढ़ा हूँ। उस दिन से वैसी ही उन्मादी प्रतिज्ञा करते हुए एक सुलतान के बाद दूसरा ऐसे कई सुलतान राक्षस रामेश्वर तक युद्ध का उन्माद फैलाते हुए गए। हिंदुओं की हजारों मूर्तियों को तोड़-फोड़कर उन्होंने चकनाचूर कर दिया। देवस्थान मिट्टी में मिला दिए। ऐसा लगता था कि हिंदू मंदिरों में अहिंदुओं को प्रवेश का अधिकार दिया जाए, ऐसा आतुर निवेदन भविष्य में जन्म लेनेवाला कोई मानवतावादी अब नहीं कर पाएगा।

क्योंकि हिंदू मंदिर क्या होता है, इसका प्रमाण मुसलिम घनों के आघात के बाद शेष रहना संभव ही नहीं था! लेकिन!

परंतु भविष्य में उदय पानेवाले सर्वोदय पंथी मानवतावादियों के दुर्भाग्य से युद्धकाल के बीच में ही मराठों ने इसलाम का वह हाथ अकस्मात् पकड़ लिया और उखाड़ डाला। स्वयं औरंगजेब को ही महाराष्ट्र की भूमि में गाड़ दिया और उसके हाथ से वह बुतशिकन घन छीनकर उसी के प्रत्याघात से सुलतानों का तख्त फोड़कर चूर्ण-चूर्ण कर दिया।

परिणामस्वरूप गत हजार वर्ष पूर्व हिंदू और अहिंदू के बीच, विशेषत: मुसलिमों के बीच धार्मिक सिद्धांतों और धर्माचरणों के संबंध में जो बैर था वह आज भी वैसा ही सुलग रहा है। विनोबा के अत्याग्रह से पंढरपुर के हिंदुओं ने अहिंदुओं को मंदिर में आने दिया, यह समाचार सुनते ही मुसलमानों से वैसा ही आग्रह करने कोई विनोबा आए तो उसे कोई लाभ नहीं होगा। यह भलीभाँति समझाने के लिए उन्हीं हफ्ते-दो हफ्तों में कोल्हापुर की हर मसजिद पर यह लिखा गया कि 'जो नमाज पढ़ते हैं उन्हें ही मसजिद में प्रवेश मिल सकता है।' यह मुसलिम धौंस उन जय जगत् वालों ने तत्काल निगल ली। बिना किसी अरुचि के। इतना ही नहीं, उसी माह जब विनोबा रास्ते में पड़नेवाली एक दरगाह में घुसने लगे तब वहाँ के मुसलमान प्रमुख ने डाँटकर कहा कि 'इस दरगाह में कोई महिला नहीं जा सकती, अपनी टोली की महिलाओं को यहीं रोक दो।' यह मुसलमानी धौंस थी। अत: वहाँ समता या मानवतावाद का एक अक्षर भी न बोलकर विनोबा ने अपनी टोली की महिलाओं को वहीं छोड़ दिया और दरगाह में जाकर स्वयं को पावन कर लिया।

अभी-अभी पाकिस्तान में हजारों हिंदू मंदिरों का कितना विध्वंस और अपमान हुआ। अर्थात् जब तक मूर्ति भंजन इसलाम का एक अपरिहार्य कर्तव्य है उनकी यह अटल निष्ठा है, दोनों के मध्य धर्म-शत्रुत्व की सक्रिय भावना सुलगी हुई है, तब तक हजार वर्षों के मूर्तिभंजक अत्याचार की स्मृतियाँ भुलाकर हिंदू अपने देवालयों में उन्हीं मुसलमानों को मुक्त प्रवेश, संचार और आचार का अधिकार दें ऐसा कोई हिंदुओं को कैसे कह सकता है।

अब विनोबा पाकिस्तान में पद-यात्रा करने क्यों नहीं जाते?

ये सर्वोदयी मानवतावादी लोग अपने अहिंसक मानवतावादी धर्म का उपदेश विशेषत: हिंदुओं को इतने वर्षों से देते आ रहे हैं कि उनका जितना उपकार माना

जाए, कम ही होगा। फिर भी हिंदुओं ने अपने सारे मंदिर अहिंदुओं को बिना शर्त अभी भी नहीं खोले। उनके मूल कारण जो ऊपर दिए हुए हैं उन्हें समाप्त करने के लिए अब मुसलमानों पर भी अपनी अमृतवाणी बरसाने तथा उन्हें भी विभाजन के समय हिंदू मंदिरों के विध्वंस और अपमान के लिए पश्चात्ताप हो, ऐसा उपक्रम करने के लिए पाकिस्तान में सत्याग्रह का अटल व्रत लेकर एक पद-यात्रा आयोजित करनी चाहिए। यह उपदेश समता की दृष्टि से भी अत्यंत आवश्यक है। विनोबाजी का सत्याग्रह पर, आत्मिक बल पर, हृदय परिवर्तन पर पूरा विश्वास है। मुसलमानों पर तो उनका स्वबांधवों से भी अधिक प्रेम है। परंतु अभी तक उन्होंने हिंदुओं की आत्मिक उन्नति करने के लिए ही गत तीस-चालीस वर्षों से अथक परिश्रम किए हैं। पाकिस्तान के मुसलिम बंधुओं की आत्मिक उन्नति के लिए वे मात्र एक वर्ष चलनेवाली पद-यात्रा भी नहीं कर पाए। इस प्रकार मुसलमानों की पक्षपातपूर्ण उपेक्षा उनके हाथों हुई है। अतः सारे जय-जगत् वादी यदि पाकिस्तान में एक पद-यात्रा तत्काल आयोजित करें और अयूब खान तथा सिकंदर मिर्जा का हृदय परिवर्तन कर, विभाजन के समय तोड़े-फोड़े गए बड़े हिंदू देवालयों का पुनरुद्धार भी यदि करवा लें और उसमें हिंदुओं को निर्विघ्न मूर्तिपूजा आदि धार्मिक कार्य करने का सुभीता जुटा सकें तो उसकी अनुकूल प्रतिक्रिया हिंदुस्थान में भी होगी।

पाकिस्तान की मसजिदों में हिंदू बंधुओं के लिए रक्षित किसी एक विभाग में उन्हें अपनी मूर्तियों की पूजा आदि करना सुलभ हो जाए और हिंदुस्थान में हिंदू मंदिरों में अहिंदुओं को मुक्त प्रवेश मिल पाए और वे वहाँ नमाज आदि अता कर सकें। ईसाई भी ऐसा ही करें तो मानव धर्म की कितनी विजय होगी! हम भी जय जगत् की घोषणा करते हुए विनोबाजी का अभिनंदन कर सकेंगे। इसलिए विनोबाजी एक बार अवश्य पाकिस्तान की पद-यात्रा कर आएँ। यह साहस उन्हें अब करना ही चाहिए; परंतु वर्तमान में विनोबाजी पाकिस्तान की पद-यात्रा करने का साहेब करेंगे ऐसा नहीं दिखता। और तब तक हिंदुओं के मंदिर केवल हिंदुओं के पूजा स्थल रहेंगे और मुसलमानों की मसजिदें मुसलमानों के प्रार्थना स्थल बनी रहेंगी। हमें लगता है, इस परिस्थिति में सारी मानवजाति को किसी भी तरह का आपसी अपमानकारी विभेद न मानते हुए केवल मानव मानकर समानता से पूजा-प्रार्थना करनेवालों के लिए अलग और स्वतंत्र पूजागृह निर्मित हों, यही एक रास्ता है। ऐसे पूजा केंद्रों से हमारा विरोध नहीं होगा।

जय जगत्!

(नवाकाल, दीवाली अंक, १९५८)

□

प्रकरण—१९

हिंदू नाग लोग ईसाई क्यों हुए?

इसका कारण है आत्मघाती सनातन दुराग्रह

असम के आस-पास की पहाड़ियों में नाग जाति के लाखों लोग रहते हैं। महाभारत का अर्जुन बारह वर्ष के ब्रह्मचर्य व्रत का संकल्प लेकर तीर्थयात्रा करते हुए जिस नाग राजा की उलूपी नामक राजकन्या से विवाह करता है ये वही नाग जाति के लोग हैं, यह बात सनातनी हिंदू भी मानते हैं।

क्षत्रिय कुल पुरुष अर्जुन ने हमारी राजकन्या उलूपी से स्वयंवर किया था यह अपने नाग कुल की गौरव कथा नाग लोग शिशु अवस्था से ही सीखते, सुनते और गाते रहते हैं। यह सुंदर कथा 'महाभारत' के आदि पर्व के २१४वें अध्याय में वर्णित है, जो संक्षेप में निम्न है—

उस अभिजात पुरुष अर्जुन को देखकर राजकन्या उलूपी अपने मुग्ध भावों से उसकी हार्दिक पूजा करने लगी। तब अर्जुन ने ही पहले उससे प्रश्न किए—

"हे सुभगे, यह देश किसका है? तुम कौन हो? किसकी कन्या हो?"

उलूपी के किंचित् मुग्ध अंतःकरण से शब्द मुखरित हुए—"ऐरावत कुल में कौरव्य नाम के जो पन्नग हैं, मैं उन्हीं की कन्या हूँ—उलूपी। हे पुरुषसिंह, अभिषेकार्थ तुझे अवतीर्ण हुआ देखकर मैं काम मूर्च्छित हो रही हूँ। इसलिए आज तू मुझे आत्मभोग देकर शांतरोग कर।"

भावमुग्धा उलूपी के उस राजसवृत्ति के अति लंपट शब्दों पर अर्जुन ने कहा, "हे कल्याणी! मैं कभी भी कोई भी असत्य वचन नहीं बोलता। मैंने बारह वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत लिया हुआ है। धर्मराज ने मुझे वैसा आदेश दिया है। मैं स्वतंत्र नहीं हूँ।"

तब उलूपी ने कहा, "द्रौपदी से सहवास हेतु तुम लोगों ने जो पारस्परिक संधि की थी उसकी वनवास जाने की शर्त का तुमने पालन किया। उस संधि का जो हेतु है वह तुम्हारे वनवास से पूर्ण हो गया है। अब धर्म का ढोंग कर तुम्हें अधर्म प्रवृत्त नहीं होना चाहिए। तुमने मुझे स्वीकार न किया तो मेरे प्राण निकल जाएँगे। आर्त का परित्राण करना तेरा कर्तव्य है और उसे पूरा करना चाहिए। इस कर्तव्य आचरण से कोई धर्म बाधित नहीं होता।"

उलूपी की भावनाओं का तात्त्विक अर्थ समझ-बूझकर अर्जुन ने धर्म कारण से वह रात नाग प्रासाद में उलूपी के साथ व्यतीत की। प्रातः उठकर वे दोनों फिर गंगाद्वार आ गए। साध्वी उलूपी उसे वहाँ छोड़कर फिर से अपने मंदिर की ओर निकल गई। 'परित्यज्य गता साध्वी चोलुपी निजमन्दिरम्।'

महाभारत के इस उल्लेख से और इन लोगों की परंपरागत दंतकथा से ये लोग प्राचीन काल से आज तक भारत में रहते आए हैं, यह सिद्ध होता है। पर आज इन लोगों को वहाँ के हिंदुओं द्वारा एक अस्पृश्य जाति माना जाता है। इस नाग जाति की राजकन्या उलूपी से क्षत्रिय कुलश्रेष्ठ अर्जुन के स्वयंवर करने पर अर्जुन को बहिष्कृत किए जाने का उल्लेख महाभारत में नहीं है। कदाचित् श्रीकृष्ण काल में हमारे पूर्वज हम आज के हिंदुओं जैसे सनातन धर्माभिमानी नहीं थे। आर्य कुल और नाग कुल में उस काल में ऐसे विवाह संबंध होते रहे; पर आज उस समस्त नाग जाति को सनातन हिंदू अस्पृश्य मानते हैं।

किसी भी आचार में स्वयंसिद्ध और त्रिकाल बाधित धार्मिकता नहीं होती। जिस परिस्थिति में कोई नियम समाज के लिए हितकारी होता है तो उस परिस्थिति में वह नियम सदाचार, धार्मिक आचार माना जानेवाला इष्ट है। परंतु जब वह नियम समाज हितघाती होने लगे तो वह त्याज्य हो जाता है। यदि आचार स्वयंसिद्ध सदाचार होता तो समस्त मनुष्यजाति को ही वह समान लोकहितकारी होता। पर वैसा होता नहीं, यह बात अनेक जातियों में सदाचार की परस्पर विरुद्ध कल्पनाओं से और रूढ़ि से जैसे सिद्ध होती है वैसे ही वह इन नाग लोगों के रीति-रिवाज से भी होती है। इन नागों की कन्याएँ प्रौढ़ होने तक विवाह नहीं करतीं। विवाह होने तक सारे कुमार और कुमारियाँ इकट्ठे रहते हैं। इस कौमार्यावस्था में उनके संबंध हो भी जाएँ तो उनपर विचार नहीं किया जाता। कन्याएँ प्रौढ़ावस्था में जब विवाह करने की इच्छा करती हैं तब वे उलूपी की तरह स्वयंवर करती हैं। विवाह बंधन दृढ़ होते हैं। फिर भी विवाहविच्छेद और पुनर्विवाह का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनों को समान होता है। यह जाति वीर लड़ाका है। इनपर अधिकार करने के लिए ब्रिटिशों को भी सौ से भी अधिक छोटी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। वे आपस में भी

भयंकर लड़ाइयाँ लड़ते थे और शत्रु मुंडों को गाँव की सीमा पर पेड़ों पर लटकाकर रखते थे। संधि होने पर मुंड एक-दूसरे को लौटाए भी जाते थे। वे धनुष-बाण लेकर आखेट करते हैं।

नाग लोगों का रंग ताँबे जैसा, मुद्रा प्रसन्न, भाल विशाल और कद-काठी ऊँची रहती है। नाग लोग उल्लिंग (नंगे) रहते हैं। उनकी राजधानी कोहिमा है। उस राजधानी में भी बाजार, घर, दुकान में नाग-नागिन पुरुष और महिलाएँ निस्संकोच पूरे नंगे घूमते रहते हैं। उन्हें सूत कातना और बुनना आता है। वे कपड़ा बनाकर बेचते भी हैं। फिर भी नंगा रहना वे अपना जातीय धर्म समझते हैं। अपने इधर कोई नंगा नाचने लगे तो वह निर्लज्जता की हद समझी जाएगी। वहाँ नृत्य में नग्न न होना निर्लज्जता की सीमा में आता है। बिना लाज के कोई कुछ छिपाता नहीं है। पापहीनता जब तक न लगे, लाज नहीं आती। नागों के मन में, शरीर की प्राकृतिक रचना में कुछ पाप है ऐसी अनुभूति न होने से उसमें कुछ छिपाने लायक है, उन्हें ऐसा नहीं लगता और इसीलिए मिल्टन का वह Honour dishonourable उनमें अभी घुसा नहीं है।

यह बात हम कुछ वर्ष पहले ऐसी पूर्ण निर्भयता से प्रकाशित करने में कदाचित् हिचकिचाते। यूरोप में हमेशा कड़ाके का जाड़ा होने से कपड़ों की कफनी में देह लपेटकर रखना उनकी अनिवार्यता है और यूरोप में जो करना पड़ता है वही करना, सभ्यता, सुधार की व्याख्या हो गई है। इस कारण हिंदुस्थान जैसे उष्ण प्रदेश में भी शरीर को यूरोप की तरह कपड़ों में जकड़कर रखने की सभ्यता छोड़कर नाग लोग नंगे नृत्य करते हैं, ऐसा कहते ही कोई मिस मेयो हमारे भारतीय लोगों को जंगली अवस्था का साक्ष्य मानकर कुछ और थोड़ी बकझक कर जाती; पर नाग लोग एकदम नंगे रहने को ही सदाचार मानते हैं—यह प्रकट करने में अब हमें जंगली कहे जाने का बहुत अधिक डर नहीं रहा। क्योंकि पहले ईसाई लोगों में भी नंगे रहने को ही धर्माचार समझनेवाला और ऐसा आचरण करनेवाला एक पंथ था। यह बात छोड़ भी दें तो आज भी जर्मनी, फ्रांस आदि यूरोप के देशों में उल्लिग रहने को सदाचारी जीवन माननेवाले सुशिक्षित लोगों की छोटी-छोटी बस्तियाँ ही स्थापित होती जा रही हैं। माँ, पत्नी, बच्चे, मेहमान सब एकदम नंगे रहनेवाले परिवार वहाँ हैं और इंग्लैंड में तो ऐसा एक संघ अभी-अभी स्थापित हुआ है। अतः इन नाग लोगों का नंगा नृत्य अब जंगलीपन नहीं माना जाएगा। क्योंकि यूरोप में नंगे नृत्य होते हैं और जो यूरोप में होता है वह जंगली नहीं होता—यह तो त्रिकाल बाधित सिद्धांत है ही।

सनातनी हिंदुओं की तरह ही ये नाग लोग भी वर्षा, विद्युत्, भूमि आदि को

देवता मानते हैं। पुनर्जन्म पर भी इनका विश्वास है। इतना ही नहीं अपितु शुभ-अशुभ कार्यों के अनुसार मनुष्य को मृत्यु के बाद क्या गति मिलती है इसका भी अनुसंधान उन्होंने किया है और वह यह कि पुण्यवान् पुरुष मरने के बाद तारा बन जाता है और पापी मधुमक्खी बन जाता है। मरने के बाद की स्थिति का, श्मशान पार के उन अनजाने प्रदेश का वर्णन बहुत से पारलौकिक भूगोलवेत्ताओं ने आज तक इतनी परस्पर विरोधी भाषा में किया है कि लंदन से आए चार व्यक्तियों में से एक ने उसे नगर कहा, दूसरे ने उसे सरोवर कहा, तीसरे ने उसे वृक्ष कहा तो चौथे ने कुछ भी नहीं है, यह कहा और फिर भी हरएक ने 'वह लंदन मैंने स्वयं देखा' ऐसी शपथ भी ली। फिर भी कोई आश्चर्य लगने की आवश्यकता अनुभूत न हो, परंतु उन सबमें नाग लोगों का अनुसंधान ही यदि सच हो और यदि मृत्यु के बाद पुण्यवान् नक्षत्र ही बनता हो और पापी मधुमक्खी तो हम पुण्य से पाप को ही अच्छा मानेंगे। क्योंकि नक्षत्र होकर स्वयं ही अपने में जलते रहने की अपेक्षा मधुमक्खी होकर सुंदर-सुंदर फूलों के बीच गुंजन करते भटकना और भरपेट मधु पीना ही अधिक उत्तम है। फिर भी जब तक मधु पीकर मस्त हुई मधुमक्खी स्वयं आकर यह न कहे कि गत जन्म के पापों के कारण मुझे यह जन्म प्राप्त हुआ, तब तक केवल नाग लोगों की किंवदंतियों पर विश्वास कर कोई आज से ही पाप करना चालू न कर दे। मैं खोज कर रहा हूँ और कोई प्रत्यक्ष साक्ष्य मिलते ही तुरंत सूचित करूँगा, तब तक धैर्य रखें।

इन नाग लोगों के रूप-रंग आदि से अमेरिका के रेड इंडियन लोगों के रूप, रंग, वर्ण इतने मिलते हैं कि ये लोग मूल में एक ही जाति के होंगे—ऐसा अनुमान लगाने का मोह किसी को भी हो जाए। दोनों ही मृगयाशील, रंग से ताँबे जैसे, शरीर से मजबूत, मुद्रा समसमान। पुराणों के अनुसार नाग लोग पाताल में रहते हैं और जल से ऊपर आते हैं ऐसा वर्णन बार-बार आता है। अमेरिका के उत्तरी छोर से और दक्षिण अमेरिका से एशिया के लोगों की आवा-जाही पुराने समय से चालू थी यह तथ्य भी अब सर्वमान्य है। ये नाग लोग समुद्री रास्ते से भारत से पाताल तक और पाताल से भारत तक आते-जाते रहे। ये अमेरिका तक फैले हुए थे और इनकी टोलियाँ भारत में भी प्राचीन काल से निवास करती रहीं, ऐसा अनुमान है। इस दिशा में आगे अनुसंधान की आवश्यकता है।

ये नाग लोग स्वयं को हिंदू वंशी मानते हैं। हिंदुओं के आख्यान, पुराण, इतिहास सुनने को लालायित रहते हैं। इतना ही नहीं अपितु यदि कोई अहिंदू उनके बीच जाकर उन्हें अहिंदू धर्म के संबंध में उपदेश देने लगे तो अभी भी वे उसका विरोध करते हैं। पर स्वयं को हिंदू माननेवाले इन शूर, साहसी, सच्चे, उद्योगी लाखों

नाग लोगों को हमारे सनातनी हिंदू क्या मानते हैं ? तो अस्पृश्य ! नाग लोगों की एक स्वतंत्र भाषा है। बाजार में वे टूटी-फूटी हिंदी बोलते हैं। इधर उन्हें विद्या सीखने की उमंग उठ आई है। उनकी स्वयं की लिपि नहीं है इसलिए वे अपने बच्चों को हिंदुओं की लिपि पढ़ाने के लिए उत्सुक हैं। पर उन्हें वह लिपि सिखाकर उनकी वह ज्ञान पिपासा और धर्म लिप्सा पूरी करने के स्थान पर हमारे पंडित या शंकराचार्य क्या कर रहे हैं ? वे नाग लोग अपने बच्चे इनके द्वार तक ले आएँ तो कहते हैं—'दूर हो जा, तेरी छाया पड़ जाएगी' और उन्हें भगा देते हैं।

कदाचित् कोई हिंदू संगठनाभिमानी उनके बीच जा बैठे और उनके बच्चों को पढ़ाने लगे तो ये सनातनी हिंदू उस हिंदू का बहिष्कार करते हैं।

गत वर्ष हिंदूसभा के स्वामी दर्शनानंदजी नामक एक कार्यकर्ता से कुछ नाग लोगों ने स्वयं निवेदन किया था कि ईसाई मिशनरियों के आक्रमण से उन्हें बचाने के लिए, नाग बच्चों को हिंदू धर्मीय परंपरा की शिक्षा देने के लिए एक छात्रावास की स्थापना की जाए। पर उस कार्य में हमारे ये सनातनी, हमारे ये शंकराचार्यजी, मध्वाचार्यजी आदि सनातन हिंदुओं ने द्रव्य सहायता न देते हुए अस्पृश्यों को देवनागरी लिपि, संस्कृत के पूजा-पाठ, पौराणिक श्लोक आदि सिखाने की इस पाखंड योजना (तथाकथित) का कड़ा विरोध किया। नाग लोगों के लिए कोई पाठशाला नहीं खोलता, कोई कथा नहीं कहता, पुराण नहीं सुनाता। वे हिंदू हैं, हम हिंदू हैं ऐसा हमारा जो नाता है, उस नाते का ममत्व इन सनातनी हिंदुओं के मन को स्पर्श नहीं करता। आज दस-बारह शंकराचार्य आपस में झगड़ने में लगे हुए हैं, पर उनमें से अधिक को न इसकी चिंता है, न जानकारी। पर फिर भी नाग लोगों के लिए अब सैकड़ों पाठशालाएँ खुल रही हैं, उनमें भजन गाए जा रहे हैं, पुराण सुनाए जा रहे हैं; पर किसके ?

किसी सनातनी शंकराचार्य के ? किसी महंत मठपति के ? नहीं, नहीं ! ईसाई मिशनरियों के। नाग लोगों को अस्पृश्य मानकर जो हमने नहीं किया वह करना उन्होंने प्रारंभ कर दिया। नाग भाषा की अनेक पुस्तकें रोमन लिपि में लिखकर वह रोमन लिपि उन्होंने नाग लोगों को दी। ये कार्य सनातन धर्म के विरुद्ध न होने से किसी भी सनातनी को उसका विषाद होने का कोई कारण ही नहीं था। पादरी लोग नाग पुरुष-महिलाओं की धर्म शिक्षा के लिए पुरस्कार, दवाइयाँ आदि के लिए लाखों रुपए व्यय कर रहे हैं और उनके इन निरंतर प्रयासों एवं आकर्षक प्रवचनों के कारण, पहले मिशनरियों को देखते ही उन्हें शत्रु समझकर जो चिढ़ते थे, वे ही नाग अब उनके जाल में स्वयं कूद रहे हैं। अभी तक दस हजार नाग ईसाई हो गए हैं। इतना ही नहीं, कोई बात एक बार स्वीकार कर लेने पर प्राण जाने पर भी न छोड़ने

की उनकी जातीय प्रवृत्ति के अनुसार वे ईसाई धर्म के कट्टर अभिमानी हो रहे हैं और अब धर्मांतरित लोगों का विलासी जीवन देखकर उन धर्मांतरितों के प्रयासों से शेष रहे लोगों के और अधिक तेजी से ईसाई धर्म स्वीकार करने की संभावना है।

पूरे भारत में, झगड़ते हुए कम-से-कम पंद्रह-बीस शंकराचार्य, हमारे धर्म प्रचारक पोप महाराज जीवित हैं। परंतु नाग जैसी एक वीर, प्रामाणिक, पुरातन और स्वयं को अत्यंत अभिमान से आज तक हिंदू माननेवाले लाखों लोगों की यह जाति, अपने हिंदू राष्ट्र से हमारे ही शैतानी दुराग्रह के कारण बिछुड़कर मिशनरियों का शिकार बनती जा रही है। इसकी अपने कितने शंकराचार्यों को जानकारी है? उनके किसी मठ में मिशनरी और मुल्ला लोग हिंदुस्थान के किस भाग में हिंदुओं की किस जाति में, किस कारण से धर्मांतरण का प्रलय मचा रहे हैं इसके आँकड़े या टिप्पणी भी हैं क्या? एक बीघे का पाँचवाँ हिस्सा प्राप्त करने के लिए उच्च न्यायालय तक जानेवाले किन्हीं भाई-बंधुओं की तरह ये आचार्य, मठाधीश अपने आपसी झगड़ों में पूरी तरह उलझे हुए हैं। कहाँ यूरोप, अमेरिका से यहाँ आकर अपना लाखों का धन पानी की तरह बहाकर असम की दुर्गम पहाड़ियों में धूप-छाँव में रात-दिन उन कट्टर नागवंशियों को माया-मोह से आदमी बनाकर ईसाई धर्म में लानेवाले ये ईसाई प्रचारक! और कहाँ हमारे ये मुसलमान या ईसाई लोगों में हिंदू धर्म का प्रचार करते हुए उन्हें हिंदू बनाने का प्रयास करना तो दूर, लाखों की संख्या में 'हम हिंदू हैं, हम हिंदू हैं, हमें स्वीकार करो' यह कहते हुए पैर पड़नेवाले नाग या सत्पथी लोगों को लातें मारकर 'तुम हिंदू नहीं हो' कहते हुए उन्हें दूर करनेवाले हिंदू धर्म प्रचारक शंकराचार्य, वल्लभाचार्य आदि संत, महंत, मठपति!

(श्रद्धानंद, ९.८.१९३१)

□

सामाजिक भाषण

स्वातंत्र्य वीर सावरकर के सामाजिक भाषण

६ जनवरी, १९२४ को वीर सावरकर आजन्म कारावास से मुक्त हुए और उन्हें रत्नागिरि (महाराष्ट्र) में स्थानबद्ध रखा गया। परंतु रत्नागिरि में गाँठ का बुखार (प्लेग) फैलने से शासन ने सावरकर को नासिक जाकर कुछ दिन रहने की अनुमति दी। इस तरह वे जुलाई १९२४ में नासिक गए। वहाँ उनका स्थान-स्थान पर सम्मान किया गया। उस समय उन समारोहों में उनके जो व्याख्यान हुए, उसका महत्त्वपूर्ण अंश निम्न है—

जीभ को बंदीरोग है

नासिक के व्याख्यान में वीर सावरकर ने कहा, ''आपको ज्ञात है कि मेरी जीभ अभी बंदीरोग से पीड़ित है और मेरे हृदय पर अत्यंत तीव्र घाव हुए हैं। लड़ाई में घायल सैनिक आपके सामने खड़ा है। पूर्व में जब यहाँ (नासिक में) था तब आपने मेरे व्याख्यान सुने हैं। तब मैंने जो कुछ उचित या अनुचित देशकार्य किए थे वह आप जानते ही हैं। उस समय मेरे साथ जो कार्य कर रहे थे उनमें से सैकड़ों लोग यहाँ उपस्थित होंगे। सौ-एक लोग तो हैं ही। उनमें से कम-से-कम दस-एक चेहरे मुझे आज भी पहचाने दिख रहे हैं। आप सब मुझसे सदैव के लिए बिछुड़ गए—यह मैं कारागृह की कोठरी में जागते हुए सोचता था। पर परमेश्वर कृपा से कहें या काल की सत्ता से कहें या सत्ता के काल से कहें, आज मुझे आपके दर्शन हो रहे हैं। मैं उस समय का आपके साथ काम करनेवाला सैनिक हूँ। मैं घायल हूँ। मेरी जीभ और पैर बंधन में हैं। फिर भी हिंदू संगठन, शास्त्रीय एवं साहित्य क्षेत्र आदि विभागों में अनेक काम किए जा सकते हैं। उनमें मैं बहुत देशसेवा कर सकता हूँ। पर यदि उन क्षेत्रों में मैं कुछ भी कार्य नहीं कर सकता तो उसमें से जो युवा मातृभूमि की सेवा करते हुए हारे-थके लौट आएँगे उनके पैर दबाने का काम मैं अवश्य करता रहूँगा। चौदह वर्ष बाद कारा से छूटकर आए हुए

इस सावरकर का आपने जो यह शानदार सम्मान किया, उसके लिए मैं आपका बहुत आभारी हूँ।''

सब घर मेरे ही लगते हैं

१३ अगस्त को 'भगूर' में हुए सम्मान में सावरकर ने कहा, ''मैं जब नासिक से आपके इस गाँव को, अपनी जन्मभूमि को आने के लिए निकला तब मेरे एक घनिष्ठ मित्र ने मुझे साग्रह कहा, 'देखो, तुम्हारा पहले का वह घर, जिसमें तुम रहते थे, अवश्य देख आना, भूलना नहीं।' परंतु आप द्वारा किया हुआ यह सम्मान देखकर मैं ऐसे विभ्रम में पड़ गया हूँ कि अब मैं वह अपना घर कैसे पहचान पाऊँगा? क्योंकि मैं रास्ते का जो-जो घर देख रहा हूँ वह मेरा ही घर दिखता है। मेरे घर के दरवाजे पर जो प्रेम, जो भक्ति मुझे मेरे स्वागत में खड़ी दिखती, न दिखती, वही प्रेम, भक्ति दरवाजे-दरवाजे पर खड़ी हो मुझे आलिंगन दे रही है। अत: अब मुझे वह अपना पहले का घर मिलेगा ही नहीं, मिले भी नहीं। अपने इस घर से बिछुड़कर यदि मुझे ये इतने सारे घर मिल रहे हों तो यह कोई घाटे का व्यापार नहीं है। यह आपके बीच बैठे हुए चतुर व्यापारी भी कहेंगे। मुझे मेरे कुछ हितचिंतक हमेशा कोंचते हैं कि अरे! बीच में तुमने जो अनास्था दिखाई उससे तुमने अपने पुरखों का घर, जागीर आदि खोई। पर मुझे अब ऐसा लगता है कि वह मैंने ठीक ही किया। क्योंकि मेरे दादा, पिता जब इस गाँव में घूमते होंगे तब लोग उन्हें गाँव का जागीरदार कहते होंगे। पर मेरी अनास्था से गाँव की वह जागीर चाहे चली गई तो भी आपके प्रेम की, भक्ति की जो जागीर मुझे मिली है, उसे देखकर मेरे पूर्वजों को भी बड़ी खुशी होगी, यह बात पक्की है। मेरे किसान भाइयो, मेरे पिता के आप जब देनदार लगते थे तब संत्रस्त भाव से आप उन्हें साहूकार कहते होंगे। आज वह सारी देनदारी डूब गई है। पर आज आप स्वयं मेरे प्रेम का ऋण अपने सिर लेकर मेरे देनदार हो रहे हैं।''

मेरे शव को सबका कंधा लगे

दूसरे दिन भगूर गाँव की ही अस्पृश्य बस्ती के पास बने वाचनालय परिसर में व्याख्यान में सावरकर ने कहा, ''हम अपने में चाहे जितना झगड़ा करें, पर हमारे देवता एवं धर्म एक ही हैं। आज राखी पूर्णिमा है। यह त्योहार सबको एक होने का संदेश दे रहा है। छुआछूत का अपराध अनेक जातियों का अपराध है। महार-मेहतर को नहीं छूता, मेहतर डोम को नहीं छूता। यह सब भूलकर हम सारे हिंदू एक हैं—यह भावना मजबूत की जानी चाहिए।'' ऐसा कहकर उन्होंने स्वयं

अस्पृश्य बंधु श्री काशीनाथ भिकाजी जाधव ओजरकर के हाथ में राखी बाँधी। वह दृश्य देखकर लोगों ने तालियों की गड़गड़ाहट की। अनेक की आँखों में आनंद के आँसू छलछला आए।

सावरकर ने आगे कहा कि "हम अपना समाज इतना बलशाली बनाएँ कि विश्व में कोई भी उसकी ओर टेढ़ी दृष्टि से देखने की हिम्मत न कर सके।" व्याख्यान के अंत में उन्होंने कहा कि "मेरे मरने पर मेरे शव को समस्त हिंदुओं के प्रतिनिधि अठारहों तरह की जातियाँ कंधा दें।"

देश का अभियोग हाथ में लिया है

२८ अगस्त, १९२४ को नासिक में स्वतंत्रता सेनानी सावरकर का विशाल सम्मान कर उन्हें ग्यारह हजार एक सौ साठ रुपयों की थैली भेंट दी गई। इस समारोह में बोलते हुए सावरकर ने कहा, "इस अवसर पर मैं क्या बोलूँ, यह समझ में नहीं आता। मुझे चौदह वर्ष पूर्व के एक अवसर का स्मरण होता है। उस समय मुझे दंडित किया गया था और आगे-पीछे घुड़सवार लगे एक बंद गाड़ी से हथकड़ी पहनाकर मुझे ले जाया जा रहा था। बाहर से आवाज आ रही थी, पर किसकी है? यह समझ में नहीं आ रहा था। बाहर का कुछ दिख नहीं रहा था। ऐसी परिस्थिति में मेरे पड़ोस में बैठा पुलिस अधिकारी उस रास्ते के किनारे के बँगलों की ओर संकेत करते हुए कह रहा था—यह अलाने बैरिस्टर की कोठी है, वह फलाने बैरिस्टर की कोठी है। आपने यदि अपनी बुद्धि का उपयोग उनकी तरह किया होता तो ऐसी ही आपकी भी कोठी होती और आप आराम से उसमें रहते। पर आपको भी क्या सूझी और संकट में पड़ गए। फिर से उसने एक बार मुझे यही कहा, तब मैंने कहा, 'खान साब, मैंने जो अभियोग हाथ में लिया है वह किसी एक व्यक्ति का न होकर आप जैसे अनेक भाइयों का है। पर वह अभियोग कौन सा है, यह आपको ज्ञात न होने से आपने मेरे हाथ में हथकड़ियाँ पहनाई हैं।' उसके बाद आज चौदह वर्ष बाद वह अभियोग लोगों को ज्ञात हुआ है। मेरी बैरिस्टरी समझ में आई है। चौदह वर्ष मैंने बैरिस्टरी की होती तो निश्चित ही इतनी आय मुझे हुई होती। आज आप मेरा सम्मान कर रहे हैं, पर मुझे उससे खुशी न होकर दुःख का एक बोझा ही लग रहा है। बंदीवास के समय मुझे यह दिन कब दिखेगा, हथकड़ियों की मालाएँ हो जाएँगी—ऐसा स्वप्न में भी कभी नहीं लगा। यीशू मसीह की तरह सूली अपने हिस्से में आएगी—ऐसा मन में रखकर, थैलियों की, सम्मान की आशा न रखते हुए जीवन का जो ध्येय निश्चित किया है उस ध्येय रास्ते पर चलते-चलते, कर्तव्य करते-करते मृत्यु प्राप्त करने तैयार रहो। Sparta has worthiest sons

than he—स्पार्टा में इससे भी अधिक योग्य सुपुत्र हैं—ऐसा अपनी कब्र पर लिखने को स्पार्टा के एक वीर ने कहा था—वैसे ही मैं कहता हूँ कि आज के तरुण केवल मेरे गुण गाते हुए न बैठें, मुझसे अधिक पराक्रम कर मुझसे भी अधिक नामवर बनें। आपके अतुल पराक्रम के कारण मेरा नाम पीछे पड़ जाए। आपके द्वारा आज मुझे दिया गया धन आपसे बिना पूछे पहले किए हुए कार्य का फल न होकर आगे मैं अधिक देशसेवा करूँ, इसलिए उत्तेजनार्थ दिया गया अग्रिम धन है—ऐसा मानकर मैं उसे स्वीकार करता हूँ। अभी मैं धार्मिक, सामाजिक आंदोलन कर ही रहा हूँ, पर राजनीतिक कार्य पर लगी रोक हटी तो मैं उस क्षेत्र में भी कार्य करने को तैयार हूँ। राम का रामराज्य और श्रीकृष्ण का राज्य स्थापित होने तक और उसके आगे भी मैं निरंतर कार्यरत रहूँ इसके लिए आपने यह थैली मुझे दी है—ऐसा मानकर मैं उसे स्वीकार कर रहा हूँ।''

(श्री बालाराव सावरकर द्वारा लिखित स्वतंत्रता सेनानी सावरकर का विस्तृत चरित्र, रत्नागिरि पर्व, पृष्ठ ६३-६४)

अस्पृश्यों में अस्पृश्यता

अस्पृश्यों के राम मंदिर में बोलते हुए सावरकर ने कहा, ''आपको अस्पृश्य न कहते हुए मैं महार, मांग, ढोर ऐसे जातिवाचक नाम लेता हूँ, क्योंकि हम सब स्पृश्य हैं। अभी एक महार ने कहा—मैं भंगी नहीं हूँ तो उसका हेतु मैं भंगी से श्रेष्ठ हूँ ऐसा दिखाने का था। भगूर गाँव में एक महार के यहाँ मैं गया, उसने मुझे दूध दिया तो मैं उसे पी गया। पर मेरे साथ आए भंगी को भी दूध दे, मेरे ऐसा कहते ही वह महार पीछे हट गया। ऐसा ऊँच-नीच का भाव हम सबमें हैं, उसे छोड़ देना चाहिए।''

कुरान का द्वेषपोषक आदेश

समाज संघ में 'हिंदू धर्म पर आघात' विषय पर बोलते हुए उन्होंने कहा, ''मैंने कुरान का अच्छा अध्ययन करते हुए कुछ आयतों का विशेष अध्ययन भी किया है। काफिरों का धर्म परिवर्तन करो या मार डालो—ऐसा कुरान में जगह-जगह लिखा है। अमुसलमानी राज्य मुसलमानी बनाना उनके लिए धार्मिक आदेश है। बंदीकाल में जिन सामान्य मुसलमानों से और मौलवियों से मेरा संपर्क हुआ उनकी बातों से और व्यवहार के आधार पर मैं आपसे कहता हूँ कि यदि हिंदुस्थान का किसी भी मुसलमानी राज्य से कभी युद्ध हुआ तो यहाँ के मुसलमान उस इसलामी सत्ता की ओर से लड़ेंगे। इलाहाबाद में भाषण करते हुए इसलाम के कारण

हम अफगानिस्तान के हमले का विरोध नहीं करेंगे। ऐसा मौ. मोहम्मद अली ने कहा था। इसकी स्मृति एकता की तरंगों पर तैरनेवालों को रही नहीं। मलाबार में मुसलमानों ने जो अत्याचार किए उसपर डॉ. मुंजे द्वारा लिखित प्रतिवेदन आप पढ़ें। सिंध, बंगाल, पंजाब में हिंदुओं का धर्म परिवर्तित करने के प्रयास हो रहे हैं। बंगाल के तिहत्तर प्रतिशत अभियोगों में मुसलमानों द्वारा हिंदू लड़के व लड़कियाँ भगा ले जाने की बात सिद्ध हुई है। इस अभियोग के अभियुक्तों ने, 'ऐसा कृत्य करना हमारा धर्म है', ऐसा कहा। नागपुर, गुलबर्गा में कुछ दिन पूर्व ही हुए दंगे देखें और यह अनर्थ परंपरा बंद करने के लिए, शत्रु से भी सबल होने के लिए हिंदू संगठन बनाएँ। केवल पुस्तकों की बातें न करें।''

वनिताओ, विदुला बनो

महिलाओं की सभा में बोलते हुए सावरकर ने कहा, ''आज की स्त्रियों में मुख्य कमी धीरज की है। देशकार्य के लिए घर के बाहर निकलनेवाला पुरुष जब दरवाजे के पीछे खड़ी अपनी पत्नी को रोता हुआ देखता है तो उसका धीरज भी पस्त हो जाता है, इसलिए महिलाओं को चाहिए कि वे माता विदुला की तरह अपने लड़कों को भागकर न आते हुए लड़ने को प्रोत्साहित करें। राम ने सीता को वन के अनेक डर दिखाए फिर भी वह उनके साथ वन में गईं। ऐसा धैर्य चाहिए। झाँसी की रानी का पराक्रम हमारा आदर्श होना चाहिए। हममें सामान्य धारणा यह है कि लड़का चाहिए, लड़की नहीं। लड़की की ओर माता कम ही ध्यान देती है। पर यह गलत है। लड़की का अच्छा लालन-पालन करना चाहिए। क्योंकि वह लड़की ही अगली पीढ़ी की जननी है। भावी पीढ़ी तेजस्वी और सामर्थ्यसंपन्न पैदा हो और वह देश को परतंत्रता से मुक्त करे—ऐसी आपकी इच्छा हो तो लड़कियों के पालन में भी यथायोग्य सावधानी बरतनी चाहिए। उचित आयु होने तक उसका विवाह नहीं करना चाहिए। लड़कियाँ एक ऐसी समझ पाल लेती हैं कि दुर्बलता माने कोमलता, अत: वह एक अच्छा गुण है। पर यह समझ ठीक नहीं है। सशक्तता ही खरी सुंदरता होती है। ईश्वर निर्मित सुंदरता किसी के हाथ में नहीं है, पर यह सुंदरता अपने हाथ में है। विदेशी महिलाएँ पुरुषों जितनी ही बलवान् होती हैं। हमारे यहाँ वे दुर्बल हो रही हैं, उसका बुरा प्रभाव अगली पीढ़ी पर होगा। वैसा न हो, उसका हमें ध्यान रखना चाहिए। पहले जैसे हमें ईश्वर के भजन सिखाए जाते थे वैसे उन्हें अब देशगीत सिखाए जाने चाहिए। आपको आज के समाचारपत्र पढ़कर देश की आज की स्थिति समझ लेनी चाहिए।'' इस सभा में वीर सावरकर की पत्नी सौ. यमुनाजी भी उपस्थित थीं।

मुझसे भी अधिक पराक्रमी बनो

१५ नवंबर, १९२४ के दिन मुंबई में आयोजित सम्मान समारोह का उत्तर देते हुए सावरकर ने कहा, "आज यहाँ बैरिस्टर जयकर और गुरुवत् श्री खाडिलकर से मिलने का सुयोग आया है। खाडिलकर के 'केसरी' में प्रकाशित होनेवाले लेखों को पढ़कर मेरे मन में बहुत-कुछ प्रभाव पड़ा—ऐसा कहना चाहिए। तानाजी जैसे शूरवीर को जहाँ लोग भूल गए वहाँ मेरा पराक्रम क्या? यह विचार मन में आने से यह सम्मान ग्रहण करते हुए मन में संकोच होता है। मेरी यह मन से इच्छा है कि मुझसे भी अधिक पराक्रमी व्यक्ति इस महाराष्ट्र में पैदा हो। मैं जब इंग्लैंड में था तब १८५७ साल के एक सेनानायक की कब्र पर उकेरा गया एक भाषण पढ़ा था, जो उसने अपने सैनिकों के लिए दिया था। उसने कहा था—'अल्प हो तब भी आपको अपना कर्तव्य करना चाहिए। वह करते हुए कदाचित् आप मर जाएँगे, कदाचित् आपका नाम भी इंग्लैंड नहीं पहुँच पाएगा, पर इंग्लैंड आपको भूलेगा नहीं। इंग्लैंड कृतज्ञ है। वह राज्य केवल अंतिम जय प्राप्त करनेवाले सेनापति को उतना वास्तविक यश नहीं देता अपितु जिन्होंने प्रारंभ में अपनी देह अर्पित की और अपनी देह पर से अंतिम विजय के लिए रास्ता बनाया उन्हें ही वास्तव में यश देता है—यह ध्यान में रहे।' महाराष्ट्र भी वैसा ही कृतज्ञ है। यह इस समारोह से प्रकट होता है। मेरे संबंध में अनुकूल विचारवाले लोग ही यहाँ इकट्ठे हुए हैं, पर प्रतिकूल विचारवाले लोग भी किसी ने इकट्ठा किए तो मुझे खुशी ही होगी। क्योंकि अपने संबंध में उलटे-पुलटे सारे विचार ज्ञात रहना आवश्यक है।"

कांग्रेसी हिंदू भी हिंदुओं को संगठित करें

उसी दिन रात को दादर के गोरेगाँव चाली में एक सार्वजनिक सम्मान समारोह आयोजित हुआ। उस अवसर पर सावरकर ने कहा, "राजनीति मेरी सीमा के बाहर होते हुए भी हिंदू धर्म संगठन और अस्पृश्योन्नति, ये केवल सामाजिक विषय होने से और इस क्षेत्र में कांग्रेस भी कार्य कर रही होने से मैंने यह निमंत्रण स्वीकार किया है। कांग्रेस में रहते हुए भी मुसलमान यदि खिलाफत, उलेमा परिषद् आदि में भाग ले सकते हैं और इसके लिए हिंदू उन्हें जरा भी दोष नहीं देते तो कांग्रेस से संबंधित हिंदुओं को भी हिंदू संगठन करने का पूरा अधिकार है।

"मुसलमान अस्पृश्यों का धर्म परिवर्तन कर इसलाम की संख्या बढ़ाने का प्रयास कर रहा है। हमें अस्पृश्यता निवारण एवं शुद्धिकार्य के रास्ते से हिंदुओं का संख्याबल भी बढ़ाना चाहिए। राष्ट्र की उन्नति के लिए राजनीति जितना ही हिंदू धर्म संगठन अत्यावश्यक है।"

युवा डॉक्टरो, युद्ध कला भी सीखो

दिनांक १७ को (१७.११.१९२४) सावरकर का नेशनल मेडिकल कॉलेज के छात्रों के सामने एक व्याख्यान हुआ। वहाँ उन्होंने कहा, ''आज की आपकी आयु, जिसे साहस कहा जाता है, वैसे कार्य करने की है। इस आयु में कुछ विशेष कर दिखाने का निश्चय आपको करना चाहिए। विश्व की प्रगति असाधारण बुद्धि एवं कर्तृत्ववाले पुरुषों ने नए शोधकार्य करके, महत कार्य संपन्न करके की है। राजनीतिक, सामाजिक, शास्त्रीय आदि सारे क्षेत्रों में ऐसा ही हुआ है। ऐसे श्रेष्ठ पुरुष जनमे बिना आज की दुर्गति से देश उबरनेवाला नहीं है। उस दृष्टि से आप यह कार्य करें। उसके लिए शरीर मजबूत बनाएँ। आप पर युद्ध में सैनिक के रूप में लड़ने की बारी कब आएगी, वह कोई भी कह नहीं सकता। इस दृष्टि से कॉलेज के संचालकों को मेरी सूचना है कि वे छात्रों को कम-से-कम लाठी चलाने का और संचलन करने का प्रशिक्षण अवश्य प्रारंभ करें।'' वीर सावरकर का यह व्याख्यान अंग्रेजी में हुआ था। उस समय के समाचारपत्रों ने 'वह भाषण बहुत ओजस्वी था' ऐसा लिखा था।

अहिंदुओं का हिंदूकरण (शुद्धि)

नासिक में रहने की अवधि समाप्त हो जाने से सावरकर को रत्नागिरि लौट जाना पड़ा। परंतु रत्नागिरि में रहना तब भी धोखे का होने से सावरकर वहाँ से दो मील पर बसे शिरगाँव में श्री दामले के घर रहने चले गए। वहाँ महाशिवरात्रि के दिन फरवरी १९२५ में हिंदू संगठन और शुद्धि विषय पर उनका पहला व्याख्यान हुआ। उस छोटे से गाँव में भी उनका व्याख्यान सुनने पाँच सौ लोग उपस्थित थे। उस भाषण में सावरकर ने कहा, ''विलायत में ऐसे उत्सव होते हैं, पर वे मनोरंजन के लिए। हमारे यहाँ ईश्वर का नाम लेते-लेते मनोरंजन करने की पद्धति है। अपने राष्ट्र का गत दो हजार वर्षों का इतिहास देखें तो अपने देश को भयानक कीड़ा लगा हुआ दिखाई देता है। पहले सारे एशिया में हिंदुओं की जनसंख्या साठ करोड़ थी, वह आज पच्चीस करोड़ हो गई है। गत जनगणना के आँकड़ों को देखें तो हिंदुओं की जनसंख्या बीस-पच्चीस लाख घट ही गई है। उसका कारण है हममें घुसी अनास्था और परधर्मियों द्वारा धर्मांतरित कर अपने धर्म में लिये बंधुओं को वापस स्वधर्म में न लेने की प्रवृत्ति। खिलाफत आंदोलन में हिंदुओं ने अपनी गरदन मुसलमानों के कंधे पर रखी और मुसलमानों ने मलाबार के मोपला विद्रोह में वह गरदन साफ उड़ा दी। सिंध, सीमा प्रदेश में उन्होंने सैकड़ों हिंदुओं को बलपूर्वक धर्मांतरित किया और यह सब तब घटित हुआ जब महात्माजी के नाम पर हिंदू-

मुसलिम एकता का डंका बज रहा था। हिंदुओं पर यह जो भयानक अत्याचार हुए वे अपने पर ही हुए हैं—ऐसा मानें और उन्हें भूलें नहीं। यह सारी स्थिति समझें और अस्पृश्यता को नष्ट करें तथा शुद्धि की ओर बढ़ें। यह सबका कर्तव्य है। अर्थात् अस्पृश्यों को भी चाहिए कि वे हिंदू धर्म त्यागने की धमकियाँ न दें। वे जाएँगे तो भी पाँच हजार वर्ष से जीवित हिंदू धर्म नष्ट नहीं होगा। अतः वे धर्मांतरण की धमकियाँ न देते हुए कर्तव्य समझ हिंदू बने रहें और इस धर्म की दूषित रूढ़ियाँ नष्ट करने का प्रयास करें।''

तुम सियार नहीं, शेर बनो!

शिरगाँव में आयोजित होली उत्सव में भाषण करते हुए सावरकर ने कहा, ''श्रीमंतों में शौर्य नहीं है, गरीबों में जान नहीं है। श्रीमंतों को सद्बुद्धि नहीं और बुद्धिमानों को काम नहीं मिलता। ऐसी हमारी स्थिति है। इसे बदलना चाहिए।''

जेधे शकावली के अनुसार प्रमाणित शिवाजी महाराज का जन्मदिन फाल्गुन बदी तृतीया को आयोजित समारोह में भाषण करते हुए सावरकर ने कहा, ''डेढ़ सौ वर्ष पूर्व के तेजस्वी और शूर हिंदू समाज के आज के वंशज सियारों के झुंड में पले-बढ़े शेर बच्चे जैसे मूढ़ और डरपोक बन गए हैं। शिवाजी महाराज का उत्सव आयोजित कर इस समाज में उनके वास्तविक रक्त की और पराक्रमी पूर्वजों की स्मृति जगानी चाहिए। शिवाजी महाराज का जिन्हें थोड़ा भी अभिमान हो वे इस एक वर्ष में १. लाठी, तलवार आदि विषयों का प्रशिक्षण देने को एक अखाड़े की स्थापना करें। २. सार्वजनिक व्यवहार में अस्पृश्यता न मानने का निश्चय करें। ३. यथासंभव स्वदेशी वस्तुएँ ही उपयोग में लाने का निश्चय करें।''

अस्पृश्यों के साथ मंदिर प्रवेश

उपर्युक्त भाषण से प्रभावित होकर श्री गुख ने, अपने द्वारा स्थापित हनुमान मंदिर का उद्घाटन करने के लिए सावरकर को आमंत्रित किया। तब सावरकर ने शर्त रखी कि यदि आप इस समारोह में अस्पृश्यों को भी बुलाकर सबको एक-साथ भजन में बैठाकर मंदिर के अंदर ले रहे हों तो मैं उस मंदिर का उद्घाटन करूँगा। श्री गुख ने कहा कि आपकी बात मुझे मान्य है; पर जाति, गाँव क्या कहेगा? आप उनकी स्वीकृति ले लें जिससे त्रास नहीं होगा। सावरकर ने वह मान्य किया। उन्होंने गाँव की सभा में वे विचार रखे—गाँव ने भी उन्हें मान्य किया। इस तरह हनुमान जयंती शक संवत् १८४७ दिनांक ९.४.१९२५ को उस मंदिर का उद्घाटन हुआ। उस अवसर पर बोलते हुए सावरकर ने कहा, ''अस्पृश्य समझे जानेवाले हिंदुओं

को ईश्वर पूजा का अन्य हिंदुओं की तरह ही प्राकृतिक अधिकार है। उसका उपभोग उसे करने देना ही सच्चा धर्म है। त्र्यंबकेश्वर या काशी विश्वेश्वर के मंदिर एवं संस्थान बहुत विशाल और धनी हैं। वहाँ परिक्रमा के रास्ते पर कुत्ते, बिल्ली, गधे घूमते रहते हैं, सारे व्यवहार करते रहते हैं। पर आदमी जैसे प्राणी, जो अपने ही धर्मबंधुओं और एक ही ईश्वर के पूजक महार, मांग, भंगी हैं, उनको उस परिक्रमा के रास्ते पर जाने की रोक है। इस कारण उन विशाल और धनी मंदिरों से भी अधिक सारे हिंदू जहाँ परिक्रमा लगा सकते हैं वह यह छोटा सा मंदिर मुझे अधिक महान् लगता है। इसके भी आगे एक कदम चलकर परिक्रमा के ही नहीं अपितु मूर्ति के पैरों पर जब चाहे जो हिंदू सिर रखने का अधिकार पा लेगा तब ही उसे अपने धर्म, समाज के संबंध में अपनापन लगेगा। ईश्वर की मूर्तियाँ स्थापित करना जैसे एक कर्तव्य है, वैसे ही उसका संरक्षण करना भी अधिक आवश्यक कर्तव्य है। उसके लिए हमें अखाड़े स्थापित कर बलवान् होना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रियों जैसे ही महार, मांग को और मांग डोम को अस्पृश्य मानना छोड़ दें। हम सबको ही यह भ्रांतिपूर्ण और जन्मजात ऊँच-नीच की रीत छोड़ देनी चाहिए।''

(रत्नागिरि में सावरकर ने इस मंदिर में सबसे पहले अस्पृश्यों के साथ प्रवेश किया। इसी मंदिर में अब वीर सावरकर बालवाड़ी है।)

हमारी लिपि सर्वश्रेष्ठ; शुद्धि एवं लिपिशुद्धि

१२ अगस्त, १९२७ को कद्रेकर नामक एक भंडारी व्यक्ति को हिंदू बना लिया गया। यह व्यक्ति पागल अवस्था में मुसलमान हो गया था। इस शुद्धिकार्य के समय मांडवी की भंडारीवाड़ी में भाषण करते हुए सावरकर ने कहा, ''वास्तव में अहिंदू के हाथ का अन्न खाने से हिंदू का धर्म चला जाता है, यह कल्पना ही गलत है। क्योंकि अन्न केवल पेट में जाता है और धर्म का स्थान पेट न होकर हृदय है। अत: जब तक कोई मन से परधर्म को स्वीकार नहीं करता तब तक उसे धर्मच्युत या अहिंदू हो गया, ऐसा नहीं मानें। पर आज का हिंदू समाज ऐसा मानता है इसलिए ऐसे धर्मच्युतों को कुछ-एक संस्कार कर शुद्ध कर लेना आवश्यक है। दूसरा यह कि आज तक अपने देश के अहिंदू हुए लोग यह समझते आए हैं कि जो एक बार अहिंदू हुआ वह फिर से कभी हिंदू हो नहीं सकता। उनकी यह धारणा दूर करने और उन्हें समझाने कि अहिंदू फिर से हिंदू हो सकते हैं, के लिए ऐसे शुद्धि समारोह प्रकट रूप से करना आवश्यक है। ऐसे शुद्धि समारोह होने लगें, धर्मच्युत हुए हिंदू फिर से हिंदू होने लगें तो मिशनरी और मौलवियों के, हिंदुस्थान को ख्रिस्तस्थान या इसलामी स्थान बनाने के, स्वप्न धूल में मिल जाएँगे।''

इसके बाद लिपि सुधार की अपनी योजना स्पष्ट करते हुए सावरकर ने कहा, ''देवनागरी लिपि आज के विश्व की लिपियों में अधिक शुद्ध है। उसकी वर्णाक्षर रचना कंठ्य, मूर्धन्य, तालव्य, दंत्य, औष्ठ्य ऐसी पद्धति से है। एक अक्षर का एक ही उच्चार होता है, रोमन लिपि में 'अे' का उच्चार अ, आ, अॅ, ऑ ऐसा होता है तो 'बी' का उच्चार ब होता है। वैसे ही अऱबी अलिफ, बे, पे आदि वर्णों का है। पर देवनागरी में 'क' का उच्चार 'क' ही होता है। अपनी लिपि ऐसी शास्त्रशुद्ध है; पर इधर लिखते समय और विशेष रूप से संयुक्त वर्ण लिखते समय उसमें कुछ दोष उत्पन्न हो गए हैं। इस कारण अब यह लिपि यंत्रगत होने में कठिन हो रही है। उसके ये दोष दूर करने के लिए (हमने) लिपि सुधार आंदोलन चलाया हुआ है। लिपि सुधार के मुख्य हेतु तीन हैं—१. शिक्षा में सुलभता २. शास्त्रशुद्धता ३. मुद्रण सुलभता।'' इसके लिए उन्होंने तीन सुधार सुझाए हैं—

१. 'अ' की बारहखड़ी : माने अ, आ, इ, ई, उ, ऊ ऐसा न लिखकर क, ख की बारहखड़ी के अनुसार अ, आ, अि, अी, अु, अू, ऐसा लिखना। इस सुधार के कारण छह कुंजियाँ कम होंगी। बच्चों को ये छह अक्षर अलग से सीखने नहीं पड़ेंगे। ये उच्चार बारहखड़ी जैसे होने से शास्त्रशुद्धता भी बनी रहती है।
२. क, फ, र, ल ये वर्ण डंडीयुक्त बनाना। क, फ, ट, ल ऐसे लिखना। इससे इनके अधिवर्ण बनाने केवल डंडी हटाने से क, फ, ल का काम बन जाएगा। ग, ध, त, थ, व, प ये वर्ण जैसे डंडीयुक्त हैं वैसे ही क, फ, त, ल कर दिए जाएँ। चोटीवाले द, ढ, ड आदि वर्णों को 'श' की तरह डंडी देना या अन्य कोई उपाय करना (मूल में डंडी लगाई जाए यह सूचना थी, बाद में उसका आग्रह सावरकर ने छोड़ दिया और अन्य कोई उपाय किए जाने के अधीन इनके आधे अक्षर बनाते समय इनकी टाँग तोड़ी जाए, ऐसी सूचना की।)
३. अनियमित संयुक्त वर्णों को निकालकर उन्हें उच्चार के अनुसार लिखना जैसे 'क्त' का पुराना रूप छोड़कर 'क्त' लिखा जाए। इन सबसे अनियमित वर्णों की पचास-एक कुंजियाँ अब ढालने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी।

अप्रिय भी बोलना चाहिए

देवरुख में दिए भाषण में सावरकर ने कहा, ''अस्पृश्यता निवारण, हिंदू संगठन आदि अप्रिय विषयों पर व्याख्यान देकर अपनी लोकप्रियता कम नहीं करानी चाहिए—ऐसा मेरे कुछ हितचिंतक मुझे कहते हैं। पर लोगों को अप्रिय

लगनेवाले आंदोलनों का पुरस्कार भी लोगों को प्रिय आंदोलनों जैसे ही करना मेरा कर्तव्य है, ऐसा मुझे लगता है। क्योंकि जिसे वास्तविक राष्ट्रसेवा करनी है वह लोगों को प्रिय हो या अप्रिय, परंतु जो लोकहित है उसी का समर्थन करना चाहिए। लोग जुलूस निकालेंगे या जनाजा, राष्ट्रहित के लिए आवश्यक, अपरिहार्य तत्त्व व नीति को जो यह दृष्टि रखकर लागू करने या छोड़ने का कार्य करता है वह लोगों का एकनिष्ठ सेवक नहीं हो सकता।''

वही सच्चा पतितपावन

पतितपावन मंदिर की आधारशिला रखने के समारोह के समय दिनांक १० मार्च, १९२९ (माघ) फाल्गुन कृष्ण १४, १८५० (शक) महाशिवरात्रि के दिन भाषण करते हुए समाज सुधारक सावरकर ने कहा, ''मेरे मन में यह कल्पना बहुत दिनों से थी। वास्तव में काशी विश्वेश्वर, जगन्नाथपुरी, द्वारका, रामेश्वर आदि सब मंदिर सब हिंदुओं को एक जैसे नियमों से दर्शन के लिए मुक्त होने चाहिए। जन्मजात जातिभेद के कारण किसी भी हिंदू को मंदिर में प्रवेश करने से रोकना नहीं चाहिए। परंतु यह तत्त्व जब तक समाज को मान्य नहीं होता तब तक सारे हिंदुओं के लिए मुक्तद्वार हो सके ऐसा एक मंदिर निर्माण करना चाहिए। ऐसी एक कल्पना मेरे मन में थी। गत वर्ष श्रीमान भागोजी सेठ कीर से उनके द्वारा निर्मित नए मंदिर में भेंट हुई, तब सेठजी ने मुझसे कहा कि पुराने भागेश्वर मंदिर में जाकर मैं भंडारी जाति का होने से अपने हाथ से ईश्वर की पूजा-अर्चना नहीं कर सकता था। मुझे उसका बड़ा दु:ख होता। मैंने तब से यह निश्चय किया कि जहाँ जाकर स्वयं पूजा-अर्चना कर सकूँ—ऐसा मंदिर बनाऊँगा और मैंने यह मंदिर बनवाया, अब यहाँ स्वयं के हाथों से पूजा करते बड़ा संतोष होता है।'

''मैंने सेठजी से कहा, 'जो स्थिति आपकी पहले थी उससे भी बुरी स्थिति हमारे अस्पृश्य बंधुओं की है। वे तो दूर से भी ईश्वर का दर्शन नहीं कर सकते। आप धनवान् थे, समर्थ थे इसलिए मंदिर बनवाया। पर वे बेचारे क्या करें? उनके लिए भी एक मंदिर का निर्माण करना क्या आवश्यक नहीं है?' मेरा यह प्रश्न भागोजी के मन को अखरा और उन्होंने ऐसे मंदिर निर्माण हेतु सहायता देना स्वीकार किया। उससे यह काम हलका हो गया।

''अब इस मंदिर में साधु-संरक्षक और दुष्टों के निर्दालक शंख, चक्र, गदाधारी भगवान् विष्णु की मूर्ति लक्ष्मी सहित स्थापित की जाएगी। स्नान करके, स्वच्छ वस्त्र पहनकर आनेवाले किसी भी हिंदू को इस मूर्ति की पूजा का अधिकार होगा। गर्भगृह के बाहर एक शिवलिंग और खड़ाऊँ रखी जाएँगी। उनकी पूजा कोई भी हिंदू स्नान

न करते हुए भी कर सकेगा। इस मंदिर में जो पुजारी रखा जाएगा वह जनम से ब्राह्मण ही हो, ऐसा नियम नहीं होगा। परंतु उस पुजारी को पूजा के सारे काम का ज्ञान होना चाहिए। मंदिर का एक न्यास बनाया जाएगा। उसके न्यासियों में एक ब्राह्मण, एक क्षत्रिय, एक वैश्य, एक अस्पृश्य समाज का और एक भागोजी सेठ कीर का प्रतिनिधि होगा। इस मंदिर में समस्त हिंदुओं को पूजा, प्रार्थना का समान अधिकार रहेगा। यही इस मंदिर की विशेषता है। ऐसी कोई विशेषता न हो तो नया मंदिर बनवाने की आवश्यकता ही नहीं थी। अपने मंदिर का संरक्षण करने की शक्ति जिस जाति में नहीं है उसे नए मंदिर निर्माण का अधिकार ही नहीं रहता। यह शक्ति निर्माण करना ही इस मंदिर का उद्देश्य है। आज केवल महार, चमार या अस्पृश्य समाज ही पतित नहीं है, परतंत्र बना सारा हिंदू समाज ही पतित है। इस सारे पतित हिंदू राष्ट्र का जो उद्धार करेगा, उसे ही मैं सच्चा पतितपावन कहूँगा। हम हिंदुओं ने जो कुछ भी गँवाया है, वह सारा जो लौटा लाएगा, उसे ही मैं पतितपावन कहूँगा।''

सत्यनारायण पोथी में नया अध्याय जोड़ें

रत्नागिरि में गाड़ी-अड्डे पर व्यापारी लोगों की एक सार्वजनिक सत्यनारायण पूजा का आयोजन किया गया। उस अवसर पर हुए बुद्धिवादी सावरकर का व्याख्यान ही आगे घटित हुई गोमांतक शुद्धि की महान् घटना के कारण विशेष स्मरणीय रहा। दिसंबर १९२६ में आयोजित सत्यनारायण पूजा के अवसर पर वीर सावरकर ने छोटा परंतु महत्त्वपूर्ण भाषण दिया। उन्होंने कहा, ''सत्यनारायण की पोथी में वर्णित सारी मनोकामनाएँ व्यक्तिगत हैं। उन्हें भी ईश्वर ने पूरा किया। किसी को पुत्र नहीं था, किसी का जलयान समुद्र में डूबने लगा आदि हर संकट सत्यनारायण ने दूर किया। परंतु अब हम इस पोथी में एक राष्ट्रीय मनोकामना जोड़ें। राष्ट्रीय कार्य में ईश्वर को अपने प्रयासों में सहायता करने को बाध्य करें। इसके लिए उस पोथी में एक नया अध्याय जोड़ें। एक व्यक्ति नहीं, यहाँ तो हिंदुओं की पूरी जाति ही निस्संतान होने को है। एक जलयान ही नहीं, इस राष्ट्र का पूरा नौसाधन, पूरी नौसेना ही डूब रही है। एक राजा नहीं, पूरा राष्ट्र, उसकी सत्ता और संपत्ति धूल में मिल रही है। उसका उद्धार करने के लिए हमें सत्यनारायण से प्रार्थना करना सीखना चाहिए। और अपने प्रयास से ईश्वर को वे सफल करने ही पड़ें। यह आश्चर्यकारी अध्याय इस सत्यनारायण माहात्म्य की पोथी में जोड़ना चाहिए। अपनी इस रत्नागिरि हिंदू सभा की ओर से उसकी शक्तिनुसार इस दिशा में एक छोट से प्रयास के रूप में मैं अपने भक्तिबल पर नहीं अपितु तुम हजारों हिंदुओं के बल पर आज ही यहाँ एक छोटी सी राष्ट्रीय कामना करता हूँ कि रत्नागिरि नगर में जहाँ तक अहिंदुओं का प्रवेश होता है वहाँ तक अस्पृश्यों

को प्रवेश देनेवाले पचास घर भी हो जाएँ, गोवा तथा वसई में तीन-चार वर्षों में तीन हजार ईसाई हिंदू हो जाएँ तो हे सत्यनारायण देवता! हम एक सत्यनारायण पूजा आयोजित करेंगे। एक छोटी, परंतु कठिन स्थानीय कामना और एक दुर्घट राष्ट्रीय कामना मैं ईश्वर से अभी कर रहा हूँ। सत्यनारायण उसे पूरा करें।''

धर्म का स्थान (हृदय) पेट नहीं!

अगस्त १९२७ में रत्नागिरि हिंदू सभा ने एक भंडारी व्यक्ति को, जो अंग्रेजी कक्षा सात तक पढ़ा हुआ था, कुछ विक्षिप्तावस्था और कुछ अंशों में भूख के कारण दो-तीन माह तक मुसलमान के घर, अन्न, जल ग्रहण करते रहने से जो मुसलमान हो गया था, शुद्ध कर लिया। संस्कार के समय शुद्धि के अगुआ वीर सावरकर ने कहा, ''वास्तव में देखा जाए तो कोई हिंदू किसी मुसलमान या ईसाई का अन्न खाकर या पानी पीकर धर्मच्युत हो जाता है, यह कल्पना ही गलत है। क्योंकि धर्म का स्थान पेट नहीं, हृदय है। इस व्यक्ति की भाँति जिस किसी मनुष्य के हृदय में हिंदू धर्मभक्ति विलुप्त नहीं हुई है वह मुसलमान के घर एक बार तो क्या एक हजार बार भोजन करे तब भी वह धर्मच्युत नहीं होगा। मुसलमान आदि लोग हिंदुओं का अन्न गलती से नहीं, छीनकर भी खाते हैं और फिर भी मुसलमान-के-मुसलमान बने रहते हैं। या यह कहें कि हिंदुओं के अन्न पर जीवन-यापन करते हुए भी समय आने पर उसी हिंदू को काफिर कहना उनका एक कुलाचार होता जा रहा है। फिर मुसलमान के अन्न से हिंदू धर्मच्युत हो जाए, उसकी पाचनशक्ति इतनी क्षीण क्यों हुई? अब वह पाचनशक्ति हमें अगस्त्य ऋषि जैसी सारा विश्व ही पचा लेने योग्य तेजस्वी और प्रदीप्त करनी चाहिए। इस दृष्टि से देखें तो केवल अन्न-जल के कारण ही धर्मच्युत माने गए व्यक्ति को शुद्ध करने का कोई एक कारण नहीं। परंतु आज यह बात हमें मामूली सी लग रही है और वैसी वह लगनी चाहिए। यही अपनी बढ़ती शक्ति का निदर्शक है—जब तक समाज के हजारों-हजार लोगों के मन से इस गलत कल्पना का बीज नहीं उखड़ जाता तब तक कुछ दिनों ये शुद्धि समारोह किए जाने चाहिए। इस कारण भी समारोह किए जाने चाहिए, इतना ही नहीं, उसे अच्छी तरह प्रचारित भी करते रहना चाहिए। क्योंकि आज तक हिंदू मानते हैं कि किसी का एक बूँद पानी मुँह में जाए तो मनुष्य आजन्म नहीं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए धर्मच्युत हो जाता है, वैसे ही मुसलमानादि अहिंदू समाज में भी उलटी एक भावना दृढ़तर हो गई है कि किसी भी हिंदू को पागलपन में या भुखमरी में पकड़कर उसे दो कौर अन्न मुसलमान के हाथों से खिला देने पर वह आदमी आप ही मुसलमान हो गया, ऐसा समझकर उसे

हिंदू लोग मुसलमानी या ईसाई समाज के हाथों सौंप देते हैं।

यदि पाँच वर्ष पूर्व यह व्यक्ति दो-तीन माह मुसलमान के यहाँ खाता-पीता रहता तो उसे अपने हिंदू समाज ने सच में ही आजन्म और पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए मुसलमान के घर धक्के मार-मारकर भेज दिया होता। अब हमें अन्न-जल के व्यवहार का कुछ महत्त्व नहीं लगता। यह इस विषय में हुई समाज हितकारक विचार क्रांति का संकेत है। इसीलिए अन्न-व्यवहार से धर्मच्युत होता है—यह भावना गलत है। यह बतानेवाली विचार क्रांति मुसलमानों सहित सारे अहिंदुओं में घोषित करने के लिए ही कुछ दिन तक शुद्धिकरण के संस्कार चालू करने चाहिए। इस शुद्धिकरण से मुसलमानों आदि को जल्दी ही यह समझ में आ जाएगा कि वे हिंदुओं को धर्मच्युत करने के लिए जो अन्न बाँटते हैं वह अब बेकार जाएगा। उनका अन्न खाकर, उसे पचाने लायक अब हिंदुओं की जठराग्नि प्रदीप्त हो गई है। ऐसा अनुभव दो-तीन वर्षों तक उस अहिंदू समाज को आता गया तो वे फिर से कठिन समय, भुखमरी, पागलपन जैसी आपत्ति में उन्हें धर्मच्युत करने के दूषित हेतु से उन्हें पोसने का विफल श्रम अपने-आप ही बंद कर देंगे। अब वे दिन हवा हो गए जब हिंदू को एक दिन दो टुकड़े देते ही वह और उसकी संतति मुसलमान हो जाती थी। अब हिंदू को इतने कम मूल्य पर मोल लेना संभव नहीं। यह सब एक बार मुसलमानों की समझ में पूरी तरह आ जाने के बाद मिशनरियों के धंधे का भी उतार शुरू हो जाएगा—यह बात जान लें। अमेरिका आदि के लोग फिर ऐसे विफल साधन पर करोड़ों रुपए खर्च नहीं करेंगे। आज हिंदू को खिलाया-पिलाया, दस वर्ष तक भी खिलाया-पिलाया तो भी मौका मिलते ही वह एक तुलसी-पत्र खाकर फिर से हिंदू-का-हिंदू हो जाता है—ऐसा पक्की तरह से मालूम हो जाए तो वे पादरी और पीर अपनी भ्रष्टाचार की दुकानें हटाने की जल्दी करेंगे। हम तो हर हिंदू को खुलेआम कह रहे हैं कि निरुपाय हो तो मुसलमान के यहाँ डटकर भोजन करो, पानी पियो; अंग्रेज के घर खाओ, पानी पियो। पूरे विश्व में किसी के यहाँ खाओ, पानी पियो और मुख शुद्ध करने ही नहीं अपितु आत्मशुद्धि के लिए ही तुलसी का पत्ता मुँह में डालो, जिससे मुखशुद्धि के साथ ही आत्मशुद्धि भी होगी और पूरी तरह पाचन करके तुम हिंदू-के-हिंदू बने रहोगे। क्योंकि हिंदू धर्म का स्थान तुम्हारे पेट में नहीं, रक्त में है, बीज में है, हृदय में है, आत्मा में है और वह हिंदू हृदय, रक्त, बीज और आत्मा मुसलमानों के एक पात्र भर पानी में तो क्या भरे समुद्र में भी डूबना असंभव है। जिस रामनाम के आधार से भवसागर पर शिलाएँ तैर गईं उस रामनाम के उच्चार के साथ यदि वह उच्चार पश्चात्ताप भरे हृदय का हो तो महत्पाप भी भस्म हो जाएँगे। वहाँ मुसलमान के यहाँ के भात के एक कौर की क्या कहें ?''

अहिंदू धर्मसत्ता भी समाप्त करो

मुंबई के ग्यारह ईसाई परिवारों को हिंदू बना लेने का एक समारोह आषाढ़ शुक्ल पंचमी शालिवाहन शक १८६३ दिनांक २१ जून, १९४१ को भागेश्वर ज्ञान मंदिर (दत्त मंदिर के पास) माहीम में संपन्न हुआ। उस समय शुद्धिकृतों का स्वागत करते हुए हिंदू राष्ट्रपति वीर सावरकर ने कहा—

''शुद्धि को पचाना कठिन है, यह कहने के पहले पिछले अवसर की बात कहना आवश्यक है। कुएँ में डबलरोटी डालकर लोगों को धर्मच्युत किया गया यह बात सच, पर पुर्तगाली राजसत्ता ने तलवार की ताकत से पवित्र पलटनें खड़ी कर गाँव-के-गाँव धर्मच्युत किए, यह भुलाया नहीं जा सकता। पवित्र पलटन के सैनिक गाँव में घुसते, किसी को सोचने का समय न देकर जो धर्मच्युत होने को तैयार नहीं होते उन्हें गाँव के चौक पर वधस्तंभ पर ले जाकर शिरच्छेद किया जाता। सुंदर-सुंदर कन्याओं को वे अफ्रीका, स्पेन, फ्रांस में ले गए और वहाँ उन्हें बेचा। ऐसी कठिन स्थिति आ जाने से उन शुद्धिकृतों के पूर्वजों ने धर्मच्युत होने का ढोंग किया। चिमाजी अप्पा ने बलपूर्वक धर्मांतरण बंद करवाया। अपनी भूमि मुक्त की। सत्ता के टुकड़े किए। पर धार्मिक सत्ता के टुकड़े नहीं हो सके। वह कार्य आज यहाँ प्रकट रूप से तथा सामुदायिक रीति से हो रहा है, इसलिए हमें अपने को चिमाजी अप्पा के वंशज कहलाने पर गर्व हो रहा है।

इस शुद्धि का महत्त्व केवल धार्मिक नहीं है। अधिक स्नान-उपासना होगी, यात्रा होगी, यज्ञ में अधिक समिधा पड़ेगी, इतना ही इस समारोह का महत्त्व नहीं है। वह भी है, पर आत्मिक प्रदेश वापस मिले यही इसका महत्त्व है। शुद्धि का आंदोलन तब भी ब्रह्मवृंदों ने किया। पावन तालाब निर्मित किए, उनमें जो स्नान करेगा वह पापशुद्ध हो जाएगा—ऐसे पुराण भी लिखे। इस शुद्धि के समय शत्रुओं ने यज्ञाग्नि बुझाने के लिए घुड़सवार भेजे, पर यज्ञादि चेते रहे यह बात आज के इस समारोह से दिखती है। सह्याद्रि के भूगर्भ की अग्नि सुलग गई है। आज तीन सौ वर्षों से वह प्रज्वलित है। यज्ञाग्नि बुझाने आए घुड़सवारों को वह जला डालती है। इस होम में वे घुड़सवार खाक हो जाते हैं। होंगे। इतना ही नहीं अपितु इस होमकुंड में जो हिंदुस्थान भर में दंगे करते हैं, हिंदुओं की राजनीतिक शक्ति, हिंदुओं की लोक-संख्या कम करना चाहते हैं उनकी होली जलेगी। हम आक्रमण करेंगे यह नहीं, पर संरक्षण अवश्य ही करेंगे—मैं ऐसी घोषणा करता हूँ (तालियाँ)। हिंदुओं की लोकसंख्या बढ़ रही है। मुंबई मुंबई ही बनी रही, वह अहमदाबाद नहीं हुई। वैसे ही पाकिस्तान की समिधा भी इस होम में गिरेगी। यज्ञ सुलगाए रखो। प्राणवायु छोड़ते रहो। दस वर्ष में पाकिस्तान के टुकड़े हो जाएँगे।''

उठो, हिंदू राष्ट्र उठ रहा है!

उठो, हिंदू राष्ट्र उठ रहा है, सामने दिख रहा होम तो उसकी एक झलक भर है। 'जो हिंदू हितार्थ वही धर्म-कर्म' ऐसा पक्का निश्चय करो। इन धर्मनिष्ठ कोलियों को इतने दिन दूसरे गुट में रहना पड़ा यह हमारा दोष है। राय बहादुर बोले के तिहत्तरवें जन्मदिन पर यह समारोह हो रहा है; यह उनका वास्तविक सम्मान है। वैसा ही सम्मान श्रीमान भागोजी कीर का भी, उन्होंने भी जो कभी परान्न नहीं लेते, इस समारोह की तन-मन-धन से सहायता की। सारे शुद्धिकृतों को वस्त्र दिए, साड़ियाँ दीं, महिलाओं को चूड़ियाँ दीं। इतना ही नहीं, सहभोज की व्यवस्था भी उन्होंने ही की। रोटीबंदी तोड़ी जाएगी तभी शुद्धि पचेगी। ऐसे अवसर पर हिंदू धर्म की त्रिवार जय-जयकार करें।

(२९ जून, १९४१)

रत्नागिरि जिला-सोमवंशीय महार परिषद्

दिनांक २९ अप्रैल, १९३१ को रत्नागिरि जिले के महार समाज की एक विशाल परिषद् पतितपावन मंदिर में वीर सावरकर की अध्यक्षता में आयोजित हुई। डॉ. अंबेडकर से प्रभावित कुछ महार लोगों ने निमंत्रण-पत्र पर छपे 'हिंदू धर्म की जय' पर भी आपत्ति की तथा धर्मांतरण की धमकियों की बातें करने पर विषय समिति में सावरकर ने उन्हें समझाते हुए कहा—

"यदि हिंदू धर्म—हिंदुत्व—ही किसी को मान्य नहीं हो तो फिर वह हमारा कौन और हम उसके कौन? तुम-हम एक-दूसरे के सहयोगी किस नाते से? इसी एक हिंदुत्व धर्मबंधुत्व के नाते यदि कोई हिंदू न हो तो वह हमारा धर्मशत्रु भी हो सकता है। उससे हमारे क्या संबध? अत: इस परिषद् की पहली प्रतिज्ञा, पहला प्रस्ताव हिंदू धर्म का ही, अर्थात् हिंदू राष्ट्र की जय-जयकार का हो, एकनिष्ठा का हो।"

खुले भाषण का समापन करते हुए वीर सावरकर ने कहा, "महार भाइयो, यदि आपकी किसी कारण बहुत हानि हुई है तो वह इस कारण नहीं कि आप आदमी हैं, यह अन्य लोग भूल गए। हम आदमी हैं यह आप स्वयं भूल गए, इसलिए हुई है। महार आदमी है—यह दूसरों को सीखना ही होगा। परंतु वह उन्हें सीखने को बाध्य करना हो तो महार आदमी है यह स्वयं पहले आपको सीखना होगा। आपके हिंदुत्व के अधिकार, मानवता के अधिकार आपको छीनकर लेना सीखना चाहिए। सड़क पर यदि कोई आपको यह कहे कि 'नीच! दूर हो जा, छाया पड़ेगी!' तो ऐसा कहते ही उसे तत्काल उत्तर दें—'सड़क किसी एक के बाप की नहीं है। चाहिए तो तू दूर हो जा।' हिंदू सभा की ओर से महार-चमार लड़कों को

पाठशाला में संग-संग बैठाने के लिए हम प्रयास कर रहे हैं। उसमें अनेक स्थानों पर स्पृश्य मान जाते हैं, पर आपके बच्चे, आप लोग घर-घर जाने के बाद भी भेजने से मना करते हैं; पैसा दो तो भेजेंगे—ऐसा कहते हैं। यह निर्लज्जता आपको छोड़नी होगी। स्वयं होकर किसी की शिकायत न करें, पर कुत्ते जैसा यह जीना छोड़ दें। अस्पृश्यता दूर करनी है तो स्पृश्यों से स्पर्धा में टिकना पड़ेगा। स्वयं के बलबूते से उसे दूर करना होगा। समय पर मारपीट करने और सहने की तैयारी चाहिए। बच्चा चाहिए तो प्रसव वेदना सहनी पड़ेगी। रत्नागिरि में महारों की जितनी संख्या है उतनी ही मुसलमानों की है। पर उनकी धौंस पट्टी कितनी? उसे देखें और अपनी दुर्दशा कितनी है यह देखें! क्योंकि वे अपने अधिकार छीनकर लेते हैं। दुर्बल दिखे तो उसके साथ दुष्टता करने से भी नहीं चूकते। पर जब हम आपके अधिकार के लिए झगड़ रहे हैं तो हमें साथ देने का काम भी आप नहीं कर रहे। ब्राह्मण, मराठा आपके साथ खाते नहीं, बेटियाँ नहीं देते इसलिए आपके वे दूसरे नेता जब केवल स्पृश्यों को गालियाँ देते रहते हैं तब यह भी तो न भूलें कि जब तक आप महार स्वयं अपने में निम्न उपजातियाँ मानकर एक-दूसरे से रोटी-बेटी व्यवहार नहीं करते तब तक किस मुँह से ब्राह्मण, क्षत्रियों को गालियाँ देंगे? अपनी ही उपजाति 'ढोर' को न छूनेवाला महार मराठा को कहता है तू मुझे छू, कुछ मानवता रख!

"तो आपको स्वयं को भी सुधारना होगा। दूसरा जो आपका स्पृश्य धर्मबंधु है वह तो दोषी है ही, पर आप अपने दोष झाड़कर स्वयं जाति-पाँति तोड़कर, स्वयं पढ़कर, घुसकर झगड़कर अपने अधिकार प्राप्त करने में सशक्त और सुयोग्य हुए तो ही अस्पृश्यता जाएगी। केवल स्पृश्य आपको छूने लगे तो क्या होगा? वे कुत्तों को भी छूते हैं। पर उनके छूने से कुत्ता सिंह नहीं बन जाता। सिंह अपने गुणों से सिंह होता है। इसमें सबकुछ आ गया।"

एक ही धर्म-पुस्तक नहीं, यह अच्छा है!

दिनांक ७ जुलाई, १९३७ को पुणे में नए पुल के पास के शिवाजी अखाड़े में स्वा. वीर सावरकर का 'हिंदू संगठन' विषय पर व्याख्यान था। प्रस्तुत है उसका महत्त्वपूर्ण अंश—

"आज स्वास्थ्य ठीक न होते हुए भी मैं बातें करने खड़ा हूँ। क्योंकि पाँच-छह बजे से आप यहाँ बड़ी संख्या में उपस्थित हैं यह मुझे कहा जाता रहा। मनुष्य की प्रवृत्ति प्रकृति ने ही असंतुष्ट बनाई है। अत्रे जैसा भरपूर भोजनकर्ता भी असंतुष्ट रहता है। अंदमान में मुझे साल भर में एक पत्र मिलता था इसलिए असंतोष था और अब पत्रों की बरसात होती है तो लगता है क्यों ये लोग डाकघर को बिना कारण

पैसा देते हैं? इसलिए असंतोष है। अंदमान में मुझे लगता कि दस जनों में बोलने-बैठने जैसा सुख नहीं है। एकांतवास जैसा दुःख नहीं। वहाँ दिन में एक बार आनेवाला भंगी जल्दी चला जाएगा इसका दुःख होता, पर अब ये निरंतर आते आदमी देखकर त्रास होता है। पर आज का यह असंतोष स्वीकार है। शरीर में ज्वर है तब भी आपको देखकर अच्छा लगता है। अपने में बहुत पक्ष-विपक्ष हैं। मेरा भी हिंदू संगठन एक पक्ष है। वह अपने हित का है ऐसा मुझे लगता है, इसलिए आप क्रोधित हुए तब भी उसकी चिंता न करते हुए मैं अपने विचार स्पष्ट कहूँगा। कुछ लोग कहते हैं, एक धर्म-पुस्तक होती तो संगठन अच्छा होता। परंतु उससे संगठन का प्रश्न हल नहीं होता। बाइबिल ईसाइयों का और कुरान मुसलमानों का एक-एक धर्मग्रंथ है। पर उनके मतभेद कहाँ समाप्त हुए? शिया और सुन्नी के दंगे देखें। इससे तो अच्छा है जो अपने यहाँ एक धर्म-पुस्तक नहीं है, क्योंकि इससे अपना धर्म-विकास रुका नहीं। हमारा धर्मत्तत्व किसी एक पुस्तक के दो गत्तों में नहीं समा सकता। इस विश्व के दो गत्तों में जितना सत्य और ज्ञान विस्तार है उतना ही हमारा धर्मग्रंथ भी विशाल होगा। संक्षेप में यह कि जिसे जो तत्त्वज्ञान भाए उसे वह माने। कोई एक धर्मग्रंथ लें तो भी उसके भाष्यकारों में मतभेद होता है। उससे पक्ष निर्माण होते हैं। 'गीता' पर ही कितनी टीकाएँ हुई हैं यह हम देखते हैं।

"अब हमें राष्ट्रीयत्व की दृष्टि से धर्म पर विचार करना चाहिए। धर्म के दो अंग हैं। एक पारलौकिक, दूसरा आधिभौतिक। इस दृष्टिकोण से विचार करना चाहिए। हमारे समाजवादी मित्रों को जर्मन संस्कृति, इंगलिश संस्कृति, फ्रेंच संस्कृति समझ में आती है। फिर वे हिंदू संस्कृति क्यों नहीं समझते? वे जैसे राष्ट्र हैं उसी तरह सिंधु से सागर तक फैला हुआ यह हिंदुस्थान एक हिंदू राष्ट्र है। हमारा एक देश है। हमारी भाषाएँ संस्कृतोत्पन्न हैं। हमारी आकांक्षा एक है। आचार-विचार में साम्य है। इंग्लैंड का बहुत हुआ तो एक हजार वर्ष का इतिहास होगा। पर हमारा इतिहास बहुत प्राचीन है। उसका प्रारंभ कब हुआ, वह भी आज के विद्वान् निश्चित नहीं कर पा रहे। इस दृष्टि से हम एकराष्ट्र हैं। आज यहूदी विश्व भर में फैले हैं। उनका आज कोई देश भी नहीं है। फिर भी वे एक पुस्तक से एक हो रहे हैं। फिर हम अपनी भाषा, संस्कृति, धर्म, इतिहास और एक देशवासी होते हुए भी हिंदुत्व की भावना से क्यों एक नहीं हो सकते? हिंदुस्थान के लिए हिंदू जितना जूझेगा उतना कोई नहीं जूझ सकता। गत सौ वर्ष का ही इतिहास ले लें। राष्ट्रीय सभा किसने चलाई? वे चलानेवाले कौन थे? राष्ट्रीय सभा के लिए आज भी स्वार्थ-त्याग कौन कर रहा है? हिंदू ही कर रहा है। इस देश के मूलाधार रहे हिंदुओं को संगठित करने से स्वतंत्रता प्राप्त होगी।"

खामगाँव का हिंदू संगठन महायज्ञ

खामगाँव में संत पाचलेगाँवकर की प्रेरणा से दिनांक १८, १९ एवं २० फरवरी, १९४२ को एक महान् हिंदू संगठन महायज्ञ आयोजित किया गया। उस अवसर पर भाषण करते हुए धर्मसुधारक वीर सावरकर ने कहा—

"यहाँ जितनी संख्या में आप इकट्ठा हुए हैं उससे यह लगता है कि हिंदू जागृति की लहर गाँव-गाँव पहुँच रही है। हिंदू संस्कृति में यज्ञ संस्था का कार्य महत्त्वपूर्ण है। साम्राज्य स्थापित करने के बाद अश्वमेध यज्ञ और शांतिकाल में राजसूय यज्ञ का वर्णन आपने सुना ही होगा। ग्रीकों का पराभव करनेवाले चंद्रगुप्त, हूण विजेता विक्रमादित्य आदि ने भी दिग्विजय यज्ञ किए थे। यज्ञ की ज्वाला अपने हृदय के दहकते स्वाभिमान का प्रतीक होने से उस अग्नि में भस्म होती समिधाओं में हिंदू राष्ट्र की आज की परिस्थिति में ऐसी कुछ समिधाओं का होम करना आवश्यक है। अकेला हिंदू स्वराज प्राप्त नहीं कर सकता, यह स्वयं पर अविश्वास की पहली समिधा है। यह भीरुता हम इस यज्ञ में पहले भस्म करें। दूसरी समिधा है अस्पृश्य शब्द का 'अ'। तीसरी समिधा विधर्मियों को शुद्ध कर अपना संख्याबल बढ़ाना है। चौथी समिधा है परतंत्रता। इतना होम किए बिना हमारा सम्मान, हमारा राष्ट्र शक्तिशाली और संपन्न होना संभव नहीं। उसके लिए स्वयं के और शत्रु के शिरकमल की आहुति स्वतंत्रता यज्ञ में अर्पित करनी पड़ेगी। उसका भय हिंदू राष्ट्र को न कभी हुआ, न कभी होगा। अब मोहनिद्रा छोड़कर ये चार समिधाएँ इस यज्ञ में डालकर उसे प्रज्वलित करें।

"बै. जिन्ना कहते हैं, पाकिस्तान न हुआ तो मुसलमान विशाल आंदोलन करेंगे। उनका आंदोलन माने दंगे। पर अब जाग्रत् और वीर हिंदू वह शस्त्र उलटे मुसलमानों पर ही चला रहे हैं, इसलिए वे और उनके संरक्षक बेसिर-पैर की बातें न करें। ऐसी ऊटपटाँग आशा यदि उन्होंने की तो 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' करने के लिए भी हिंदू संगठन यज्ञ की ज्वाला प्रदीप्त हो गई है।"

गोरक्षण चाहिए, केवल गोपूजन नहीं!

मैं गाय का शत्रु नहीं हूँ। मेरे कुछ लेखों के कारण फैली भ्रांतियाँ आज मैं दूर कर सकता हूँ यह संतोष की बात है। गोधन भारत का विशाल आर्थिक धन है। माँ के बाद गाय का दूध ही मानव के लिए स्वास्थ्यप्रद है यह वैद्यकशास्त्र कहता है। कुछ भोली कल्पनाएँ भी साधार कारणों से ही पनपती हैं। गोरक्षण उत्तम रीति से हो। उस पर का छिलका हटाकर उसमें का उत्तम सत ही रहे, इस हेतु से मैंने गोपूजन की दुष्प्रवृत्ति पर टीका की थी। संरक्षण करने को पूजनीय भावना आवश्यक

होती है, पर पूजा करते-करते संरक्षण का कर्तव्य भूल जाना उचित नहीं, केवल पूजा न करें। केवल शब्द महत्त्व का है। पहले संरक्षण, बाद में चाहे तो पूजा करें। अब रोना बंद करें, कृति करें। हमारी गायें मारते हैं, लड़कियाँ भगाते हैं, भाषा भ्रष्ट करते हैं—ऐसा रोना-गाना छोड़ ऐसे अत्याचारों का प्रतिकार करें। एक-एक व्यक्ति एक-एक प्रश्न हाथ में ले और उसे किनारे लगाए। उधर दिल्ली में शिव मंदिर लड़ाया जा रहा है। इधर भागानगर जूझ रहा है। अगले वर्ष भोपाल पर मोर्चा खोलेंगे। श्रम विभाग के सिद्धांत पर हम मथुरा में लड़ें। गोधन को बढ़ाने के लिए सशस्त्र प्रयास तो चालू रखें ही, साथ में कसाईखानों के विरोध में प्रचंड आंदोलन खड़ा करें। ये कसाईखाने हमारा अपमान करने के लिए, हमारी नाक काटने के लिए चलाए जा रहे हैं। मथुरा के कसाईखाने में गाय का ही मांस काटा जाता है ऐसा नहीं है, वहाँ तो हिंदू हृदय का मांस भी नोचा जाता है। वहाँ के गोमांस भक्षकों को वह सुख से नहीं पचने देना है। उनके पीछे झमेले खड़े करें। केवल गाय की पूजा करते रहेंगे तो आप भी गाय बन जाएँगे। आप सिंह बनें, वह गाय है यह ध्यान में रहे। चौड़े महाराज ने उसके लिए पूरा जीवन झोंक दिया है। हिंदू संगठन का एक काम वे कर रहे हैं। मथुरा के कसाईखाने की हर ईंट उखाड़ने के कार्य में वे खेत भी रहे तो रर्णांगण में उन्हें मुक्ति मिलेगी। मैं गाय को रक्षणीय मानता हूँ, आप पूजनीय मानते हैं। आप पूजा भावना से ही इस काम में लग जाएँ तो भक्ति भी उपयुक्त है। यह मानकर वैसा लेख लिखूँगा।

सावरकर और मौ. शौकत अली के बीच विचार युद्ध

(हिंदू संगठन के संबंध में मुसलमान नेताओं के मन में क्या विचार चल रहे थे यह इसपर प्रखर प्रकाश ज्योति डालनेवाली सावरकर और शौकत अली के बीच नवंबर १९२४ में मुंबई में हुई भेंट व चर्चा से ज्ञात होता है। इस चर्चा और भेंट का वृत्तांत सावरकर के शब्दों में नीचे दिया जाता है। यह प्रकरण भाषण नहीं संभाषण है। तब भी उसका विषय अत्यंत महत्त्व का होने से उसका इस पुस्तक में समावेश किया गया है।

—बाल सावरकर (संपादक)

मौलाना शौकत अली दिल्ली की एकता परिषद् में मुसलमानों के नेता के रूप में चमक रहे थे—उन्होंने मुझसे मिलने आने की कृपा की। मैं उनकी एकता (प्रयासों) के विरुद्ध जा रहा हूँ ऐसा समझकर उस रास्ते से मुझे परावृत्त करने की सदिच्छा से की गई चर्चा थी।

मु. नेता : आपको मेरा डॉ. के हाथों भेजा हुआ संदेश मिल ही गया होगा।

मैं : हाँ और आपके संदेश के अनुसार मैंने हिंदू-मुसलमानों की राष्ट्र एकता के लिए आपको विघातक लगनेवाले हिंदू संगठन के कार्य से अलग होने का निश्चय किया है।

मु. नेता : अति उत्तम। देखिए, हम ये कैसा हिंदू-मुसलमान लिये बैठे हैं। हिंदू और मुसलमानों की एकता हमने बड़े कठिन प्रयासों के बाद की। परंतु इस हिंदू संगठन के आंदोलन से उसका चुटकी बजाते नाश होना संभव है। आपने हिंदुओं का संगठन किया कि मुसलमान हमें सिर ऊँचा नहीं करने देते। वे कहते हैं, हम भी संगठन करेंगे। अत: स्वराज की प्राप्ति के लिए और इस अभागी हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए सारे हिंदू केवल भारतीय बने रहें और सारे भेदभाव छोड़ दें। आपके जैसा कर्तृत्वशाली हुतात्मा, जिसने हिंदुस्थान की स्वतंत्रता के लिए पहली लड़ाई लड़ी, वह इस हिंदू संगठन में फँस जाए यह मुझे बड़ा बुरा लगता है। आप रत्नागिरि में थे तब आपने सिंधी हिंदुओं में हिंदू संगठन का बीज बोकर वहाँ फूट डाली—ऐसा मैं सुनता था। अब आपने वह कार्य छोड़ने का निश्चय किया यह बहुत अच्छा किया।

मैं : आप कह रहे हैं वह बिलकुल ठीक है, केवल एक बात का स्पष्टीकरण पाने के लिए मैंने अभी तक अपने हिंदू संगठन त्याग के निश्चय की घोषणा नहीं की है। उतनी बात आपके कहते ही मैं हिंदू संगठन कार्य छोड़ने की घोषणा करूँगा।

मु. नेता : वह कौन सी?

मैं : आप खिलाफत आंदोलन और ऑल उलेमा सभा का कार्य कब छोड़ रहे हैं? वह ज्ञात होते ही मैं हिंदू संगठन छोड़नेवाला हूँ।

मु. नेता : *(गुस्से से)* क्या करें? अजी, देश में तीसरा विदेशी शत्रु आकर बैठा हुआ है। वह दोनों की रोटी पर का मक्खन खा रहा है। वह दोनों के ही संगठनों को बिगाड़ने में लगा हुआ। ऐसे समय सब इकट्ठा होकर उसका सामना करें, वह छोड़कर आप हिंदुओं ने संगठन का काम खड़ा किया, यह कितने दु:ख की बात है। अजी, आप हिंदुओं ने अपने इतिहास में मुसलमानों से लगातार मार ही खाई है। *(उस सज्जन की भाषा में कहें तो 'जूती खाई है'।)* आपकी और मुसलमानों की बात बहुत अलग है। आप मुसलमानों से मिलकर रहेंगे तभी आपका आज की इस परतंत्रता से सिर

ऊँचा उठेगा। आदि, आदि।

मैं : *(उनका पुराण समाप्त न होते देख बलपूर्वक रोककर)* सुनिए! यहाँ मैं आपसे राजनीति पर चर्चा नहीं कर सकता, पर मैं इतना ही कहूँगा कि परतंत्रता, तीसरा शत्रु, स्वतंत्रता, राष्ट्र एकता आदि बातें राजनीति में आपका जब कुछ भी दखल नहीं था और सरकारी नौकरी में गोलगप्पे खाते हुए जब आप पड़े थे, तब मैं और मेरे साथी सीख गए थे, सिखा रहे थे। अर्थात् वे हमारे ही बनाए पाठ हम स्वयं भूल गए हैं ऐसा आप मानकर न चलें। इस चर्चा में समय केवल व्यर्थ जा रहा है। दूसरी जो इतिहास के संबंध की बात कही उसमें दो त्रुटियाँ हैं। पहली तो यह कि हम हिंदुओं का इतिहास गत हजार वर्ष से प्रारंभ हुआ है ऐसा नहीं है। अरेबिया का होगा। और दूसरा यह कि उस हजार वर्ष में भी जब-जब मार खाई उतनी उलटकर मुसलमानों को मारकर उसकी भरपाई हमने ब्याज सहित कर दी है—यह भी उतना ही सच है। अटक से लेकर रामेश्वर तक मराठों ने आप मुसलमानों को जहाँ मिले वहीं पीटा है। और दिल्ली की मुसलमानी बादशाही को मन में आते ही हाथ पकड़कर या तो ऊपर चढ़ाया या मन से उतरते ही दाढ़ी पकड़कर नीचे खींचा है, इसलिए इतिहास की बातें जाने दें। मुख्य प्रश्न जो मैंने किया है वह यह कि खिलाफत और उलेमा तानजिन *(मुसलमानी संगठन)* के आंदोलन कब छोड़ रहे हैं? उसका उत्तर आपने अभी तक नहीं दिया। वह पहले दें।

मु. नेता : देखिए, खिलाफत आंदोलन में हमने कुछ छिपाकर नहीं रखा है। हिंदुओं को खिलाफत का कोई डर नहीं है। क्योंकि खिलाफत आंदोलन एक हिंदू के नेतृत्व में चल रहा है।

मैं : होगा। खिलाफत आंदोलन एक हिंदू के नेतृत्व में चल रहा है, इसलिए वह यदि घातक नहीं हो सकता तो हिंदू संगठन भी हिंदू के ही नेतृत्व में होने से वह घातक क्यों लगता है? आप ऐसा कहेंगे कि खिलाफत को हिंदू नेता मिला इसलिए हिंदुओं ने उस पर विश्वास किया, परंतु हिंदू संगठन को मुसलमान नेता नहीं मिला इसलिए उसपर मुसलमानों का विश्वास नहीं होगा—तो मैं आपसे पूछता हूँ कि आपके खिलाफत आंदोलन की आपत्ति को भी एकता के लिए सहन करनेवाले हजारों हिंदू हो गए, पर हिंदू

संगठन को उसी एकता के लिए सहयोग करनेवाला एक भी मुसलमान नेता अभी तक नहीं मिला यह आपके पक्षपात करने का कितना ठोस साक्ष्य हुआ? वास्तव में हिंदुओं ने जो खिलाफत के लिए सहानुभूति दरशाई उसकी भरपाई करने आपको संगठन के प्रति सहानुभूति दिखानी चाहिए थी और खिलाफत में कुछ भी छिपाया हुआ नहीं है ऐसा कह रहे हैं तो हिंदू संगठन में भी क्या छिपाया हुआ है? संगठन के लिए हमने गुप्त संस्था बिलकुल स्थापित नहीं की है। आगाखानी मिशन तथा हसन निजामी मिशन एवं अन्य मुसलमानी संस्थाओं में ही गुप्त और प्रकट ऐसा कार्यभेद है यह प्रसिद्ध है। परंतु उन्हें उपदेश करना छोड़ आप हिंदू संगठन के लोगों को उपदेश देने की इतनी कृपा क्यों करते हैं? मलाबार, गुलबर्गा, कोहट।

मु. नेता : *(बीच में ही)* कोहट को क्या हुआ? कोहट को क्या हुआ? हिंदुओं ने शिकायत की—गांधी से पूछिए।

मैं : बस! गांधी का नाम न लें। वे हिंदू हैं परंतु मैं भी हिंदू हूँ। हिंदुत्व का हित-अहित या समाचार का सत्य-असत्य उनकी तरह मैं भी कुछ समझता हूँ। अत: व्यक्ति का नाम एक तरफ रखकर सिद्धांत की चर्चा ही यथासंभव करना अच्छा है। गांधी का क्या? मलाबार में एक ही हिंदू धर्मच्युत हुआ, ऐसा उन्होंने कहा। इसलिए ऐसे फालतू कथनों पर मैं अपना समय बिगाड़ूँ क्या? अब समय बहुत हो गया है। आप खिलाफत, उलेमा आदि सभा और हिंदुओं को धर्मच्युत कराने स्थापित मुसलमानी मिशन बंद कर रहे हैं क्या? यदि राष्ट्रीय एकता और राजनीतिक आंदोलन के लिए आप मुसलमानी धर्म से जुड़े संगठन और संस्था बंद कर रहे हों तो हम हिंदू संगठन छोड़ते हैं—वैसे छोड़ना नहीं चाहिए। पर राजनीतिक एकता के लिए छोड़ते हैं।

मु. नेता : पर हिंदुओं को मुसलमान धर्म की दीक्षा देना हमारा धर्म ही है। आज सुबह एक हिंदू लड़का मेरे पास आया और उसने कहा कि मुझे कल स्वप्न में ईश्वर दिखा और उसने कहा कि तू मुसलमान हो जा। मैंने उससे कहा चलो फिर, वह सामने मसजिद है। वहाँ जाओ और मुसलमान बनो। हमारे आंदोलन में यह बलात्कार है ही नहीं।

मैं : अच्छा ठीक है, यह बलात्कार नहीं है, आपकी बात ही मैं कह रहा हूँ कि हिंदू संगठनों द्वारा शुद्धि में भी हम यही करते हैं। कल सुबह यदि कोई मुसलमान लड़का मेरे पास आता है और कहता है कि स्वप्न में मुझे ईश्वर ने कहा कि तू हिंदू हो जा, तो मैं कहूँगा चल जल्दी वह सामने मंदिर है। बन जा हिंदू। इसे ही शुद्धि कहते हैं। पर उससे एकता को कहाँ खतरा होता है? मैंने स्वयं ऐसे सैकड़ों लोग हिंदू कर लिये हैं।

मु. नेता : *(भड़ककर)* ठीक है। आप शुद्धि करें, हम धर्मच्युत कराते रहेंगे। देखें, कौन जीतता है? अजी हम मुसलमान सारे एक हैं। हममें अस्पृश्यता नहीं है। हममें प्रांतीय भेदभाव कभी नहीं थे, नहीं हैं।

मैं : प्रांतिक भेदभाव नहीं था ऐसा न कहें। दुर्रानी मुसलमान और मुगल मुसलमान, दक्षिणी मुसलमान और उत्तरी मुसलमान, शेख मुसलमान और सय्यद मुसलमान इनके आपसी झगड़ों का लाभ लेकर ही तो मुगल पादशाही मराठों ने उलटी ओर गिराई। शिया और सुन्नी के दंगे, वैष्णव एवं शैव के दंगों से हजार गुना भयंकर और बार-बार होते रहते हैं। सुन्नियों ने काबुल में पत्थरों से एक अहमदी मुसलमान को मार डाला। बहावी मुसलमानों को तो अन्य सारे मुसलमान फाँसी देने या जहन्नुम के ही योग्य समझते हैं। अस्पृश्यों के बारे में पूछो तो व्यवहार में भंगी-मुसलमानों में पानी को छूने न देनेवाले और मसजिद में प्रार्थना में भी साथ न लेनेवाले मुसलमान मुझे ज्ञात हैं। त्रावणकोर में स्पृश्य ईसाई और अस्पृश्य ईसाई इनमें छुआछूत को लेकर अभी बड़ा दंगा हुआ था। मौलाना साहेब, घर-घर मिट्टी के ही चूल्हे हैं। मैं कुछ थोड़ा मुसलमानी साहित्य एवं धर्मग्रंथों से परिचित हूँ। और जो मैं कह रहा हूँ वह सच नहीं है क्या? सात करोड़ मुसलमान आप कह रहे हैं, इतने संगठित और एक होते तो हम हिंदू मुसलमानी बादशाही को कैसे डुबो सकते थे? आज यहाँ अंग्रेज कैसे आते?

मु. नेता : आप मराठों में यही प्रांतीय अभिमान अधिक होने से हिंदुस्थान का राष्ट्रीय प्रश्न आपको समझाना मुझे बहुत कठिन हो रहा है। हिंदुस्थान एक राष्ट्र है ऐसा प्रेम आप में है ही नहीं। इसीलिए हिंदुस्थान के लाभ के लिए हिंदू संगठन छोड़ देना चाहिए, ऐसा अन्य प्रांतों की तरह आपको लगता ही नहीं। और हमारी बात आपको पटती नहीं।

पर मैं आपको फिर से कहता हूँ कि वर्तमान में मुसलमानों में एकता है और हमारे खिलाफत, उलेमा और तानजिन के आंदोलन एकसूत्री होने से मैं और मेरे दो-तीन सहयोगी जो कहेंगे, मुसलमान वही कर रहे हैं। अत: मैं आपको आश्वासन देता हूँ कि हम खिलाफत, तानजिन में हिंदुओं के लिए हानिकर कुछ भी होने नहीं देंगे। हमपर विश्वास रखकर, आप हिंदू संगठन क्यों नहीं छोड़ रहे? उससे मुसलमान भड़कते हैं।

मैं : पहले तो आप मराठी लोगों पर फालतू दोष मढ़ रहे हैं। शिवाजी महाराज ने जो स्वतंत्रता युद्ध किया वह केवल महाराष्ट्र के तीर्थ क्षेत्रों को मुक्त करने के लिए ही नहीं किया अपितु पूरे भरतखंड के तीर्थों को मुक्त करने के लिए किया। और देखिए हमने बीस वर्ष पहले से जो झंडा खड़ा किया वह भी केवल महाराष्ट्र के लिए न होकर हिंदुस्थान का था, यह क्या आपको ज्ञात नहीं? रानडे, गोखले, लोकमान्य तिलक आदि ने कौन सा आंदोलन केवल महाराष्ट्र के लिए किया? कौन सा राष्ट्रीय आंदोलन नहीं किया? गत पचास वर्षों में महाराष्ट्र में जो भी बड़े-बड़े आंदोलन हुए उसमें एक भी प्रांतीय नहीं था। यह आपको ज्ञात है। बंगाल का विभाजन हुआ, महाराष्ट्र भी बंगाल जितना ही उसके विरोध में लड़ा। जलियाँवाला बाग हत्याकांड हुआ। आज जिस समिति के *(काम)* लिए आप यहाँ आए वह बंगाल का आर्डिनेंस। अन्य प्रांतों पर हुए हर आघात का, उस प्रांत के कंधे-से-कंधा मिलाकर प्रतिकार करते ही महाराष्ट्र के गत बीस वर्ष बीते हैं। महाराष्ट्र में हिंदू संगठन एवं शक्ति पहले की ही कुछ थोड़ी शेष है। महाराष्ट्र ने यह कोई किसी प्रांत पर उपकार नहीं किए हैं। हम दो भिन्न हैं—ऐसा हमें लगता ही नहीं। उसका दु:ख हमें अपना ही लगता है। पर फिर भी हिंदुस्थान के एकराष्ट्रीयत्व की कल्पना का प्रभाव और पोषण जिस महाराष्ट्र में विशेष रूप से हुआ उसी महाराष्ट्र को राष्ट्रीय एकता का शत्रु कहना और वह भी आज तक राष्ट्रीय सभा जैसी संस्था का विद्वेष करनेवाले और जातिवार प्रतिनिधित्व के लिए अभी भी तत्पर मुसलमानों द्वारा कहा जाना कृतघ्नता है। दूसरे, आपने कहा कि आप सब मुसलमानों के नेता हैं और आपके कहे-बाहर वे कभी गए नहीं। जाते नहीं। तो फिर मुझे कहें

कि मलाबार का दंगा, गुलबर्गा का दंगा, कोहट का दंगा, स्वयं दिल्ली का दंगा और हिंदुओं के मंदिरों पर व महिलाओं पर किए गए बलात्कार ये सब आपकी सहमति से हुए थे क्या? होंगे तो एकता के लिए दिखाया जानेवाला प्यार हिंदू संगठनों को मारने के लिए आई पूतना ही है। यदि ये दंगे आपके आदेश से नहीं हुए हैं तो इतने बड़े-बड़े अत्याचार हिंदुओं पर जो समाज आपके आदेश के बिना करता है वह समाज आपका आदेश मानता है, यह कहना बेकार हो जाता है और इसीलिए उस समाज के व्यवहार के लिए आपके शब्दों पर भरोसा करना संभव नहीं है।

मु. नेता : पर तब हमें जेल में डालने से मुसलमान समाज बिखर गया और अत्याचार शुरू हुए।

मैं : यही तो। एक तो गुलबर्गा, कोहट एवं प्रत्यक्ष दिल्ली के समय आप जेल में नहीं थे और दूसरा यह कि होते तो भी आपको क्षण भर के लिए दूर देखते ही हिंदुओं पर ऐसे भयंकर अत्याचार करने की प्रवृत्ति मुसलमान समाज के जिन लाखों लोगों के मन में है, उस समाज की मित्रता पर आपकी व्यक्तिगत जमानत लेकर, वह जमानत सत्य होने पर भी हिंदू विश्वास कैसे करें? कल आप या मैं मर जाएँ, तो फिर उसी मुसलमानी समाज का इस हिंदू समाज से सामना होगा न? नहीं, नहीं, यह समाज का प्रश्न है और इसीलिए हिंदुओं की सुरक्षा और शक्तिवर्धन का उत्तम मार्ग किसी व्यक्ति की जमानत या समाज की दया की अपेक्षा उनका प्रचंड सामाजिक संगठन ही है। हिंदू संगठन *(जब तक)* अन्यायमूलक आक्रमण के लिए नहीं है, क्योंकि वैसा होना एकता के विरुद्ध कहा जाएगा। जब तक वह स्वयं संरक्षण के लिए और आक्रमण निवारण के लिए ही है तब तक किसी भी समाज की न्याय आकांक्षा में बाधा नहीं होगी। जब तक हसन निजामी, आगाखानी, खिलाफती और मुसलमानों के अन्य धार्मिक आंदोलन चल रहे हैं उनके आक्रमण, कार्यक्रम भी मुसलमान समाज बंद नहीं करता, हजारों हिंदुओं को हर वर्ष जोर-शोर से और गुप्त रूप से धर्मच्युत किया जा रहा है, करोड़ों हिंदुओं को दस-पाँच वर्ष में धर्मच्युत कर लेने की प्रतिज्ञाएँ उर्दू पत्रों में धड़ाधड़ की जा रही हैं और बलात्कार से भी हजारों हिंदुओं को इसलाम धर्म में खींचा जा रहा है; तब तक उनके द्वारा

मुसलमानी संगठन बंद करने का उपदेश उन्हें देना छोड़कर, हिंदुओं को प्रत्याघात के लिए भी संगठन न करो, उससे राष्ट्रीय एकता बिगड़ेगी, ऐसा उपदेश देना पक्षपात और ढोंग की परिसीमा है। यदि किसी हिंदू को ऐसा लगा तो वह क्षमा योग्य नहीं है क्या? अतः मुसलमानों के धर्मच्युति के संगठन बंद करें तो हिंदुओं के शुद्धि संगठन भी अपने-आप ही ढीले पड़ जाएँगे।

मु. नेता : पर आप संगठन के आंदोलन से मुसलमानों के मन अब अधिक कलुषित करते हैं। मुसलमान हिंदुओं को पहले से ही धर्मच्युत करते चले आ रहे हैं, पर आपने शुद्धि नए सिरे से क्यों शुरू की? अर्थात् वह मुसलमानों के विरुद्ध है यह सिद्ध नहीं होता क्या?

मैं : पर यह दोष किसका है? आज तक दूसरे धर्म के किसी भी व्यक्ति को धर्मच्युत होने के लिए प्रवृत्त न किया जाए इतना ही नहीं अपितु किसी स्वधर्मी को अपने में से जबरन खींचकर ले जाने पर भी उसको भुला दिया जाए इतनी सहनशीलता जिस हिंदू समाज ने प्रदर्शित की उसे ही आज यह शुद्धि हाथ में लेनी पड़ रही है, यह दोष किसका है? आज तक विश्वास से हम अपना घर खुला रखते आए, पर अन्य लोगों ने जब उस उदारता का अनुचित लाभ लेकर हमारे घर पर दिन-दहाड़े डकैती डालने का काम शुरू किया तब हमने अपने घर में ताला लगाने का निश्चय किया। अब वे चोर आकर कह रहे हैं—अजी चोरी तो हम पहले से करते आए हैं, पर आपने यह ताला क्यों नया लगाया? यह हमारा विरोधी है, इससे एकता बिगड़ेगी। तो हम उसे यही उत्तर देंगे कि ऐसी घातक एकता सुख से भंग हो। तेरा भी मेरा, और मेरा तो मेरा है ही, ऐसी एकता जितनी जल्दी भंग हो उतना अच्छा। दूसरा यह कि ईसाई, पारसी, यहूदी एवं अन्य अनेक धर्मीय लोग हैं वे भी अपने संगठन बनाते हैं। परंतु उनमें से किसी की आँख में हिंदू संगठन इतना चुभता नहीं है। फिर वह मुसलमानों को ही इतना क्यों चुभता है? यह इसलिए कि इससे मुसलमानों की कुछ राजनीतिक, धार्मिक दुराकांक्षाओं का धंधा डूबता है, इसलिए उनसे यह देखा नहीं जाता। इसीलिए मैंने आपसे बार-बार पूछा कि आप अपने मुसलमानी संगठन छोड़ते हैं क्या? पर आप इस प्रश्न का उत्तर देने में टाल-मटोल कर रहे हैं।

मु. नेता : *(गुस्से से)* हम मुसलमानी संगठन नहीं छोड़ेंगे। उसमें हिंदुओं के विरुद्ध कुछ भी नहीं है।

मैं : तो फिर हम भी हिंदू संगठन नहीं छोड़ेंगे। उसमें मुसलमानों का ही क्यों ईसाई, पारसी, यहूदी आदि हमारे किसी भी अन्य धर्मबंधु के विरुद्ध कुछ भी हेतु नहीं है। मैं आपको संक्षेप में कहता हूँ। हिंदू संगठन यह मानता है कि आपको भी संगठन करने का अधिकार है। केवल आप आक्रामक उद्देश्य न रखें। हम भी नहीं रखते। ईसाई, मुसलमान तथा विश्व के अन्य सारे धर्म उन्हें सत्य लगनेवाले विचारों का जैसे प्रचार करते हैं वैसे ही हमें जो सत्य धर्म लगता है उसका हम भी प्रचार करें, अन्य धर्मीय वह प्रचार समय पर लाठी के माध्यम से भी करते हैं। फिर भी उस तरह प्रचार न करके केवल उपदेश से ही वह प्रचार करना और केवल स्वयं की सुरक्षा के लिए स्वयं सैनिक दल बनाकर अपने समाज और राष्ट्र की रक्षा एवं सेवा करना और इस तरह अपने हिंदू समाज की हर तरह से उन्नति कर उसके सारे मनुष्यों की उन्नति हेतु प्रयास करना ही हिंदू संगठन का उद्देश्य है। धर्म, देश, राष्ट्र आदि किसी भी तरह की विशेषता को न मानकर मानव मात्र के हाथ में हाथ डालकर एक परमेश्वर, एक मंदिर, एक भाषा, एक ही प्रार्थना कर एक ही सत्य की जय के लिए अखिल मानुष प्रयास करे—यही हिंदू संगठन का एकमात्र ध्येय है।

अच्छा बहुत समय हो गया। हमने यथासंभव परस्पर चर्चा की। अब उठने की अनुमति दें। राम-राम-सलाम। ऐसा कहते हमने एक-दूसरे से विदा ली।

हिंदुओं के शक्ति केंद्र

हिंदू राष्ट्रीय निधि के लिए दिनांक १ फरवरी, १९४२ को गिरगाँव के त्र्यंबक वैद्यवाड़ी में धर्मवीर अनंतराव गद्रे की अध्यक्षता में हिंदू राष्ट्रपति वीर सावरकर का एक भाषण हुआ। विषय था—'हिंदुओं के शक्ति केंद्र'। इस भाषण में उन्होंने कहा, ''कांग्रेस माने राष्ट्रीय सभा—ऐसी कभी मान्यता थी।''

उस समय स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने कहा, ''हिंदू संगठन का कार्य इतनी प्रतिकूल परिस्थिति में हाथ में लेना पड़ा है कि मुझे भी उसकी कल्पना नहीं थी। राष्ट्रीय संस्था माने कांग्रेस यही विश्वास उस समय था। वह उस समय सही भी था। इसी कारण सबने कांग्रेस की सहायता की। कांग्रेस के विरुद्ध बोलना माने राष्ट्र के

विरुद्ध बोलना ऐसी उस समय मान्यता थी। उसमें से सबसे पहले जो बाहर निकले वे थे मुसलमान। वास्तव में वे कांग्रेस में थे ही नहीं। पर जो थे उसका कारण यह था कि बाहर रहकर उनका जो कार्य होता था उससे अधिक मुसलिम समाज का कार्य कांग्रेस में होने लगा। अलीबंधु की माँ भी कांग्रेस की अध्यक्ष हो सकीं। पर आगे मुसलिम बाहर हो गए। हिंदू कांग्रेस में रहे। हिंदू समाज के मृत्यु केंद्र गिनने की परिस्थिति बदल गई है।

"मेरे कारावास से छूटने के पूर्व हिंदुओं को अपने पैर पर खड़ा रहना भारी था। इन पाँच वर्षों में इतनी जो जागृति हुई वह हिंदुओं के चीमड़पन के गुण का प्रतीक है। हिंदुओं का आंदोलन हो या न हो, यह अब प्रश्न नहीं है। पहले हिंदू जिएँ या नहीं यह प्रश्न नहीं था, मृत्यु विचार ही चालू था। पुणे में भगवा ध्वज लेकर जुलूस निकालना संभव नहीं था। तब ऐसा लगता कि हम अबीसीनिया में आए हैं। उस समय हिंदू समाज के मृत्यु केंद्र ही गिने जाते थे। वह परिस्थिति अब बदल गई है। हिंदुओं के ही ध्वज के नीचे हिंदुओं के अधिकार प्राप्त करने के विचार का संकल्पित समूह हिंदुस्थान भर में निर्मित हो गया है।

"अब इसके आगे शक्ति केंद्र कौन से हैं इसका विचार करना होगा। दुर्बलता के केंद्र भी मैंने उतनी ही निडरता से बखान किए हैं। जिसे अपने दोष निकाल सकने की हिम्मत नहीं होती वह अपनी दुर्बलता छिपाता है। जो दुर्बलताएँ हैं उन्हें केवल जान लें तो भी वह दूर हो जाएँगी यह मुझे आशा है। दोनों ही स्थितियाँ मैं आपकी आँखों के सामने रखता हूँ। इतने दिनों तक दुर्बलता की बात की जाती थी, प्रांतभेद, जातिभेद, बंधु बैर आदि दोष कहे जाते थे। अब शक्ति केंद्रों की ओर ध्यान दें।"

पहला शक्ति केंद्र—नेपाल

मुसलमान आएँ या न आएँ, हमारी राजनीति में इतनी शक्ति है कि हिंदुस्थान हिंदुओं का ही रहेगा इसलिए अपने शक्ति केंद्रों को जान लें। पहला शक्ति केंद्र नेपाल है। मुसलमानों को हैदराबाद, ईरान, अफगानिस्तान, ये शक्ति केंद्र लगते हैं। नेपाल को शक्ति केंद्र कहने पर आश्चर्य होता है। नेपाल हिंदुस्थान का भाग क्यों नहीं है, क्योंकि अंग्रेजों का उसपर शासन नहीं है इसलिए। मानो हिंदू वह जिसपर अंग्रेजी शासन है। नेपाल के आज के राजा क्षत्रिय वंश के हैं और वे स्वतंत्र हैं। नागरी लिपि, संस्कृत भाषा आदि समानताएँ वहाँ हैं। महाराष्ट्र का बेटी-व्यवहार नेपाल से अभी भी चालू है। ऑस्ट्रिया के जर्मनों ने जर्मनी को दूर नहीं किया। हिंदुस्थान-हिंदुओं की बात वास्तविक अर्थ में नेपाल में है। वास्तविक राजाधिराज

नेपाल का राजा है। ब्रिटिश राजा के बराबर वह बैठ सकता है। गौरव की शक्ति तो वह है ही, पर हमारे भविष्य पर प्रभाव डाले ऐसा वह केंद्र है। नेपाल में पंद्रह लाख तैयार सेना है। गुरखा नाम ही लड़ाकों का है। नेपालेश्वर आज ब्रिटिशों की सहायता कर रहे हैं। वह आज की परिस्थिति में उचित ही है। शिवाज़ी महाराज ने भी समय की बलिहारी जान एक बार औरंगजेब से तो एक बार बीजापुर के शाह से संधि की थी। ब्रिटिशों से हमारा युद्ध शुरू हुआ तो गोरों के आदेश नहीं मानेंगे—ऐसा उल्लेख गुरखों की शपथ में होता है। आज के सूत्र केवल शाब्दिक नहीं हैं। शिवाजी महाराज ने भी छत्रपति हो जाने के बाद दिल्ली में दस हजार सैनिक रखकर कुछ थोड़ी अधीनता स्वीकार की थी। शूर और स्वाभिमानी ब्रिटेन ने भी अमेरिका की फौज अपने घर में रखी हुई है। मान-अपमान परिणाम के आधार पर जानना पड़ता है। जर्मनी ने अपने सैनिक इटली में भेजे, तो इटली के सैनिक एशिया की सीमा पर हैं। मुसलिम सैनिक ईरान में नहीं गए। वहाँ हिंदू सैनिक हैं। जिस मुसलिम सत्ता की शक्ति पर जिन्ना पाकिस्तान निर्माण करना चाहता है उसकी एक कील निकल गई, इस कारण संतोष है (तालियाँ)। नेपाल के गुरखों की सैनिक शक्ति है। महाराष्ट्र और बंगाल में वाचिक शाब्दिक शक्ति है। उसके प्रति हमें अपनी सहानुभूति प्रदर्शित करनी चाहिए। नेपाल के महाराज, मैं बीमार हूँ, यह जानते ही कलकत्ता में ससैन्य आए थे।

नेपाल और मेरे संबंध इस तरह के हैं—वे हिंदू हैं, हिंदुत्व के लिए नेपाल हमेशा खड़ा है। युद्ध शुरू हुआ तब मैंने उन्हें सूचित किया था कि सरहद से आक्रमण हो तो आपको अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए। उन्होंने जो उत्तर भेजा, वह प्रकाशित हो चुका है। उन्होंने यह सूचित किया है कि हिंदुत्व के लिए नेपाल हमेशा खड़ा है। हिंदुस्थान में हिंदुत्व का क्षय हुआ तो नेपाल का क्षय होगा और हिंदुत्व की वृद्धि हुई तो नेपाल की वृद्धि होगी यह वे जानते हैं। हिंदुस्थान कल क्या होगा वह कहा नहीं जा सकता। अराजक होने की आशंका है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संगठन का महामंत्र इसी के लिए जपना चाहिए। उसी के लिए भागलपुर में संघर्ष किया। नेपाल और बिहार की सीमा पर का भागलपुर चुना। हम जो बातें करें वे पत्नी को सुनाई न दें, पर ब्रिटिश सरकार के सी.आइ.डी. को सुनाई देती हैं, इसलिए बिहार सरकार ने दक्षिण बिहार में अधिवेशन करने की बात सुनाई थी। पर उस अधिवेशन से यह बात नेपाल की सीमा तक पहुँचा दी। मूल बात यह कि कल की परिस्थिति में ब्रिटिश सेना सहायता न कर सकी तो नेपाल, ग्वालियर, इंदौर के सैनिक हिंदू विरोधियों को खासी मार लगाएँगे—यह ध्यान में रहे।

संख्याबल दूसरा शक्ति केंद्र है

दूसरा शक्ति केंद्र संख्याबल है। एक चीन को छोड़ दें तो इतना संख्याबल हिंदुस्थान के पास है। अराजक हुआ तो संभवत: न हो इसलिए हिंदुत्व की दृष्टि से स्वयं को बचाने हेतु लड़ाई के केंद्र जान लेने चाहिए। देश का लाभ न हो तो उनकी सेना में भरती न हो। पर आज लाभ दिखता है तो किसी भी रास्ते से उसमें जाना चाहिए। स्थानीय संरक्षण के संबंध में भी उदासीनता नहीं दिखाना चाहिए। संभव हो तो अपने स्वयंसेवक दल बनाओ। उसके लिए अनुशासन, संख्याबल और द्रव्यबल की आवश्यकता नहीं है। पर सावरकर की संस्थाएँ अपने पैसे पर चलती हैं फिर वहाँ क्यों न जाएँ? मुक्के को मुक्का देना है, पर प्रतिपक्ष ने यदि हाथ आगे किया तो अपने मुँह पर ही मार लेने का अर्थ प्रतिसहकार नहीं होता। एस.आर.पी. में जाना अपने संरक्षण के लिए जाना है। युद्ध करनेवाले पक्षों में योग्य कौन, अयोग्य कौन इसका विचार करने की अपेक्षा बम गिरने पर हानि किसकी होगी यह महत्त्वपूर्ण है? इसलिए संरक्षण प्रमुख है। ए.आर.पी. हो या बी.आर.पी. हो, उसमें हम घुस जाएँ तो वह स्वदेशी हो जाती है। उसमें स्थान बनाए रहें। देशहित होता है तो वहाँ अवश्य जाएँ। यह एक शक्ति केंद्र का उपांग है।

स्त्री-शिक्षा के उद्‌देश्य

दिनांक २७ जून, १९४३ को दादर के ज.ए.ई. की कन्या पाठशाला के शिक्षक वर्ग तथा छात्राओं द्वारा स्वा. वीर सावरकर को चाँदी का लोटा-गिलास देकर सम्मान किया गया। उसके बाद ऐसे सम्मान समारोह में भाषण देने की अपेक्षा जो कुछ दिया गया उसे जेब में डालकर जाना उन्हें अच्छा लगता है—ऐसी प्रस्तावना करते हुए वीर सावरकर ने कहा—

''कन्याओं की पाठशाला की पहली स्थिति और अबकी स्थिति में बहुत बड़ा अंतर है। पहले पाठशाला के लिए कन्याएँ मिलती नहीं थीं, पर अब लड़कियों के लिए पाठशालाएँ कम पड़ने लगी हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि आज तक लड़कियों को बुद्धि नहीं थी और अब वह अकस्मात् मिल गई है। अपनी लड़की पाठशाला जाए ऐसा हर परिवार को लगने लगा है। लड़कियों में भी शिक्षा के प्रति रुचि जागी है। और यह कि विवाह के बाजार में भी शिक्षा का भाव बढ़ा। कन्या गोरी है या काली है, उसे नाक है या नहीं आदि बातों के साथ ही वह कितनी पढ़ी-लिखी है यह भी देखा जाता है। अन्य प्रश्नों के साथ ही तुम्हारी क्या शिक्षा हुई है? यह प्रश्न भी पूछा जाता है।

राष्ट्र के उद्धार के लिए जिस प्रकार स्त्री-शिक्षा आवश्यक है वैसे ही उस

शिक्षा की दिशा कौन सी हो? इसका विचार भी आवश्यक है। महिला और पुरुष की शिक्षा में भिन्नता चाहिए। एक ही प्रकार की पुस्तकें पढ़कर लड़की और लड़का मैट्रिक उत्तीर्ण हो जाने पर राष्ट्रोद्धार की दृष्टि से दोनों का स्तर समान हो गया—ऐसा नहीं है। हमारे यहाँ स्त्री-शिक्षा में कुछ जल्दी हुई है। गणित में उत्तम गुणांक प्राप्त कर कोई छात्रा मैट्रिक उत्तीर्ण हो जाए तो वह अपवाद ही कहा जाएगा। गणित शास्त्र में पारंगत होने की अपेक्षा स्त्री दयामय हो, वक्तृत्व में प्रवीण होने का उसमें वात्सल्य जाग्रत् होना चाहिए। स्त्रियों को गृहशिक्षा मिलनी चाहिए। पाठशाला से आते ही बस्ता फेंककर लड़का बाहर जाता है, पर लड़की को घर के काम करने होते हैं। लड़का बाहर चला जाए तो कोई कुछ नहीं कहता, पर पाठशाला से आने पर लड़की बाहर जाए तो अवश्य घर में भुनभुन होती है।

अगली संतति हमारी पीढ़ी से अधिक बलवान्, सुंदर और देशाभिमानी हो ऐसी शिक्षा स्त्री को मिलनी चाहिए। स्त्री-शिक्षा का ध्येय यही होना चाहिए। स्वतंत्रता, समता आदि घोषणा करते सड़कों पर दंगा करने का कर्तव्य महिलाओं का नहीं है और स्त्री की स्वतंत्रता का भी क्या अर्थ है? वीणा या वायलिन लेकर भरे चौक में बैठने की स्वतंत्रता यदि तुम्हें दी तो, वहाँ से वाहन से गुजरनेवाले व्यक्ति को तुम्हें कुचलने की स्वतंत्रता भी देनी होगी। पुरुष चोटी गूँथे, महिला बाल कटवाए—समानता का यह अर्थ हास्यास्पद है।

स्त्री और पुरुष में प्राकृतिक भेद है। स्त्री कितनी भी बलवान् हो जाए तब भी वह कोमल ही होगी और पुरुष कितना भी सुंदर हो जाए तब भी वह कठोर ही होगा। स्त्री-पुरुष के शरीर में जैसा भेद प्रकृति ने किया है वैसा वह उसके कार्यक्षेत्र में भी किया हुआ है। दोनों के कार्य प्राकृतिक रूप से ही भिन्न हैं और उसी अनुसार दोनों की शिक्षा भी अलग तरह की होनी चाहिए। एशिया में स्त्री-पुरुष समान हैं ऐसा हम पढ़ते हैं। पर यह केवल समाचार है। उसके पीछे का अर्थ भी हमें समझना चाहिए। स्त्री-पुरुष समान होने से क्या एशिया में अपनी पत्नी के स्थान पर स्टालिन प्रसव करता है। स्त्री-पुरुष समानता का अर्थ हम विवेक से लें। स्त्री-शिक्षा में कुछ चूक हो रही है। उनका शिक्षाक्रम भिन्न हो ऐसा लगने लगा है। कुछ पाठशालाओं में गृहशिक्षा दी जाने लगी है। कर्वे ने अलग विश्वविद्यालय स्थापित किया। आज नया विधि (कानून) बनाना पाठशालाओं को संभव न हो तब भी जो है उस विधि की सीमा में रहकर वे स्त्रियों को ऊपर दरशाए अनुसार शिक्षा देने का प्रयास करें।''

उसके कुछ अवधि बाद पाठशाला द्वारा की गई प्रगति का उल्लेख करते हुए स्वा. वीर सावरकर ने कहा, ''मैं अब दूसरी बात की ओर मुड़ता हूँ। अपनी पाठशाला में सब लड़कियाँ हिंदू हैं। आप किसी भी विश्वविद्यालय का परीक्षा

परिणाम देखें, उसमें प्रथम आया हुआ छात्र हिंदू ही होता है यह दिखाई देगा। सारी दृष्टि से हिंदुस्थान में हिंदू ही श्रेष्ठ होते हुए भी हमें सम्मान से जीना मानो चोरी करना हो गया है। अपना राष्ट्रगीत भी हम गा नहीं सकते। हमारे देश में हिंदू हैं, पारसी हैं, ईसाई हैं। हमारे देश में ऐसी खिचड़ी है यह क्या हमारा राष्ट्रगीत हो सकता है? हमारे देश में जापानी हैं, अंग्रेज हैं, चीनी हैं क्या ऐसा जापान का राष्ट्रगीत है। इंग्लैंड समुद्र का स्वामी है। ब्रिटिश कभी गुलाम नहीं होगा ऐसे भाव का राष्ट्रगीत इंग्लैंड का है। फिर हिंदुस्थान की ऐसी शोचनीय स्थिति क्यों हो? इस देश की संस्कृति किसकी है? यह देश किसका है? गंगा, जमुना, भागीरथी, हिमालय, विंध्य आदि नाम किसने दिए? इस देश की पत्तियों कों, फूलों को, फलों को किसने नाम दिए? हिंदुओं ने। यह देश हिंदुओं का है। अन्य जब तक अपनी-अपनी मर्यादा सँभाले हैं तब तक वे यहाँ सुख से रहें। पर वे मर्यादा का उल्लंघन करेंगे तो उन्हें भारी पड़ेगा। घर में चोर घुसें तो धनी ही आगे आता है। हिंदुस्थान के धनी हिंदू हैं। मुसलमानों को हमने सात सौ वर्ष रहने दिया, इसलिए हिंदुस्थान सबका है ऐसा राष्ट्रगीत हमको गाना पड़ रहा है और अब वे हिंदुस्थान का टुकड़ा तोड़कर माँग रहे हैं। इस माँग की कमर ही हमको तोड़ डालनी चाहिए। इस संबंध में मुझे मुसलमानों का डर नहीं लगता। अंग्रेजों का भी नहीं लगता। मुझे डर लगता है हिंदुओं का। उनके हीन बोध का। वह हमें निकाल फेंकना चाहिए। हिंदू के रूप में हमें अभिमान से जीना सीखना चाहिए।''

स्त्री-जीवन का ध्येय

सावरकर सशस्त्र क्रांति के अगुआ थे और क्रांतिकारी माने स्त्रियों से दूर रहनेवाला, स्त्रियों को शत्रु माननेवाला—ऐसी भावना कुछ लोगों की होती है; पर सावरकर वैसे नहीं थे। आयु के उन्नीसवें वर्ष में सन् १९०२ में बाल-विधवा दु:स्थिति विषय पर आयोजित काव्य स्पर्धा में दो सौ आठ पंक्तियों की कविता लिखकर उन्होंने प्रथम पुरस्कार आधा जीता था। उन्होंने अपने काव्य, नाटक और लेखों में त्यागी, जुझारू, निष्ठावान, मातृवत्सल महिलाओं का चित्रण किया है। 'मनुस्मृति' की महिला, प्राचीन यहूदी योषिता, रशिया की महिला, विवाह बंधन, संतति नियमन आदि पर उन्होंने लेख लिखे हैं। अनेक महिला संस्थाओं में उन्होंने भाषण दिए हैं और उन्हें संगठित एवं कर्तव्यपरायण करने का प्रयास किया है। दादर के भगिनी समाज में अक्तूबर १९५० में अपने भाषण में वीर सावरकर ने कहा—

''बहनो, अनेक वर्षों के सतत आग्रह को अनेक बार नकारने के बाद अब आपका आग्रह टालना असंभव होने पर मैं यहाँ आया।

भारत स्वतंत्र हो जाने पर वास्तव में संविधान में स्त्रियों को समान अधिकार दिए गए हैं। स्त्रियाँ घर में रहें या बाहर जाएँ यह चर्चा भी अब पुरानी पड़ चुकी है।

'स्त्री-जीवन का ध्येय' यह विषय मुझे दिया गया है। जिस समय इस प्रश्न का विचार मन में आता है तब पहला प्रश्न यह उपस्थित होता है कि स्त्री और पुरुष जीवन के ध्येय भिन्न हैं क्या? ऐसा हो तो संविधान ने जो समानता दी उसका क्या होगा? स्त्री और पुरुष एक-दूसरे का अनुकरण करें, ऐसा इसका अर्थ नहीं है। आजकल कुछ पुरुष हर बात में स्त्रियों का अनुकरण करते हैं, केवल साड़ी ही पहनने की जिद नहीं करते। यह कोई समानता नहीं है। समान अधिकार मिले तो समान दुःख भी मिले। किसी पुरुष ने किसी महिला का वध किया इसलिए उसे जो दंड हो उतना ही कोई तगड़ी महिला पुरुष को मार डाले तो उसे भी दिया जाए इतना ही उसका अर्थ है। ऐसी स्थिति में ऐसी कौन सी विषमता है कि जिसके कारण स्त्री और पुरुष का जीवन-ध्येय अलग हो जाता है, उसे भी समझ लेना आवश्यक है।''

सामाजिक विषमता का उल्लेख करते हुए वीर सावरकर ने कहा, ''हमारी स्मृतियों में 'न स्त्री स्वातंत्र्य मर्हति' ऐसा वचन है। इस वचन को आधार मानकर स्त्रियाँ ही नहीं, पुरुष भी ऐसा हल्ला करते हैं कि इससे स्त्रियों पर अन्याय हुआ है। परंतु स्मृतिकारों का यह वचन जिस श्लोक में है वह पूरा श्लोक पढ़ें तो उसका अर्थ अच्छी तरह समझ में आ जाता है। स्मृतिकार कहते हैं—

'पिता रक्षति कौमार्ये, भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्र रक्षति वार्धक्ये, न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति॥'

पुत्री की रक्षा पिता करे, पत्नी की रक्षा पति करे वैसे ही वृद्धावस्था में उसे उसका पुत्र आश्रय दे—ऐसा कहकर दायित्व स्त्री का नहीं, पुरुष का है यह सुझाया गया है। अर्थात् संरक्षण के लिए स्त्री जाति को स्वतंत्रता नहीं है ऐसा इस वचन का अर्थ होता है।

इसमें महिलाओं पर अन्याय कहाँ है? यह वचन तो स्त्रियों के पक्ष में है। अन्याय यदि है तो स्त्रियों का दायित्व जिनपर लादा गया है उन पुरुषों पर। संविधान ने सबको समान नागरिकता के अधिकार दिए। पर छोटे बालकों को नहीं दिए। उसी तरह स्मृतिकारों ने संरक्षण के हेतु से स्त्रियों को समानता नहीं दी। जिससे राष्ट्रहित हो, वह समानता प्रत्येक को दी जाए—यह है समानता की वास्तविक मर्यादा। इस दृष्टि से देखें तो स्त्री-पुरुषों का ध्येय समान है क्या? भोजन या आहार, निद्रा आदि कार्य ही कोई जीवन का कार्य नहीं हो सकता। अन्यथा पशु और मानव के बीच अंतर ही क्या रह जाए?

इसके लिए 'ध्येय' शब्द का क्या अर्थ है? इस ओर देखना आवश्यक है। स्वयं का हित नकारकर समाज या राष्ट्र के हित की इच्छा करना यह मनुष्य का ध्येय है। परोपकार या यों कहें स्वाभाविक जीवन की बलि देकर दूसरों के लिए त्याग करना ही उसका ध्येय है। इस दृष्टि से देखें तो जिस मानवजाति में हम जनमे हैं उस मानवजाति की सेवा करना मानव का ध्येय है। इसी का नाम मानवता है। यह सर्वोच्च ध्येय है। पर शिखर तक पहुँचने के लिए सौ सीढ़ियाँ चढ़नी पड़ती हैं। एक सीढ़ी चढ़ने के बाद ही दूसरी सीढ़ी तक पहुँचा जा सकता है। अत: मानवता सर्वोच्च ध्येय होते हुए भी उसे प्राप्त करने के लिए राष्ट्रहित से ही प्रारंभ करना चाहिए। भारत की स्त्रियों को अफ्रीका की बुशिटी स्त्रियों से लड़ाना अव्यावहारिक है। अपने घर में चोर घुसे हों तो दूसरे के घर में ताला लगाने की दक्षता रखने जैसी बात होगी वह। इसे ध्येय नहीं कह सकते। मूर्खता कहना होगा इसे।

स्त्रियों की उन्नति की बात सोचने के पहले उनकी उन्नति की प्राकृतिक सीमाएँ क्या हैं, इसे समझ लेना होगा। जन्मत: गूँगा आदमी कितनी ही पुस्तकें पढ़े और ज्ञान प्राप्त करे तो भी वह उत्तम तो छोड़ ही दें सामान्य या निकृष्ट वक्ता भी नहीं हो सकता। इसी तरह कुछ बातें ऐसी होती हैं जिसकी मर्यादा प्रकृति ही निश्चित कर देती है। इस दृष्टि से विचार करें तो स्त्री और पुरुष की प्राकृतिक रचना में प्रकृति ने कौन सी विषमता निर्मित की है—यह स्पष्ट हो जाता है। अत: प्राकृतिक रचना को पहला मुख्य लक्षण मानकर विचार करें तो स्त्री-जीवन का ध्येय प्रकृति ने ही निश्चित कर रखा है। (यह समझ में आ जाता है।) स्त्री की बढ़त, विकास, परिणति आदि बातों पर विचार करें तो उसका ध्येय संतान पोषण ही है। यह तथ्य हिंदुस्थान में ही नहीं अपितु पूरे विश्व में निश्चित हो गया है।

मेरे ऐसा कहते ही आपको ऐसा लगेगा कि आ गए ये चूल्हे-बच्चे पर। पर स्वहित के लिए वह आवश्यक होने से वह सब आएगा ही। उसके सिवाय कोई जीकर तो दिखाए? यह मेरा आह्वान भी है। जब मैं चूल्हे और बच्चे का उल्लेख कर रहा हूँ तब मैं चूल्हा ही या बच्चा ही ऐसा नहीं कह रहा। प्रकृति को ही मैं आपकी सुविधा के लिए परमेश्वर कहता हूँ—उस परमेश्वर ने प्रजनन का कार्य पुरुष को न सौंपकर स्त्रियों को सौंप दिया है। उसी दृष्टि से स्त्री के मन की, भावना की, शरीर की रचना होती रहती है। राष्ट्रहित के लिए स्वयं दु:ख उठाकर प्रयास करना—यह ध्येय मैंने कहा। इस तरह राष्ट्रसेवा का ध्येय निश्चित हुआ। पर उस ध्येय को जानने के लिए 'राष्ट्र' का अर्थ समझ लेना आवश्यक है।

राष्ट्र पर्वत, नदियाँ, पहाड़ियाँ आदि नहीं है। सह्याद्रि, हिमालय, गंगा को राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। विश्व में जल, मिट्टी, पहाड़, नदियाँ सब जगह हैं।

इंग्लैंड की मिट्टी और यहाँ की मिट्टी में गुणों की दृष्टि से यहाँ की मिट्टी श्रेष्ठ है ऐसा नहीं है। पर इंग्लैंड की मिट्टी की अपेक्षा यहाँ की मिट्टी ही हमें प्रिय और पवित्र लगती है। क्योंकि यहाँ की मिट्टी हमारे उपयोग की मिट्टी है। यहाँ की मिट्टी पर हमारे पूर्वज जीवित रहे, हम जी रहे हैं और हमारे पुत्र-पौत्र जीवित रहनेवाले हैं—यह हमारी भावना है। इसीलिए यहाँ की मिट्टी हमें पवित्र लगती है।

नाती का रूमाल पड़ा मिले तो दादी उसे उठाकर रखती है। यह मेरे नाती का रूमाल है यह बात उसे रूमाल की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है। हमें अपने घर से ऐसे ही स्नेह होता है। अपने से अच्छे अनेक दूसरे घर होते हैं, पर अपना अपना है, पर केवल घर, पर्वत, मिट्टी ये वस्तुएँ राष्ट्र नहीं हैं। हम सबकी संतति, भूत, भविष्य और वर्तमान की संतति का नाम राष्ट्र है। जो हो गए वे पुरखे (पूर्वज) और आगे आनेवाली संतति-वंशज, इनसे परंपरा से, प्रेम से, धर्म से, इतिहास से, बँधा हुआ जो समुदाय है उसका नाम राष्ट्र है। इस राष्ट्र की सेवा ही राष्ट्रसेवा है। कुछ महिलाओं को राष्ट्रसेवा के लिए 'चूल्हा और बच्चा' बाधा लगती है। पर यह ठीक नहीं। राष्ट्र माने सबके बाल-बच्चे। जो स्त्री राष्ट्र की अर्थात् सबके बाल-बच्चों की सेवा करे वह अपने बच्चे की सेवा क्यों नहीं कर सकती? लोग तालियाँ बजाते हैं इसलिए? पर तालियाँ प्राप्त करना कोई ध्येय नहीं हो सकता।

संतति उत्पादन एवं संवर्धन के लिए आवश्यक स्त्री-पुरुष के व्यवहार, ईश्वर ने यानी प्रकृति ने निर्मित किए हैं। स्त्री-पुरुषों की बढ़त भी उसी दृष्टि से होती है। उनकी भावनाएँ भी उसी के अनुकूल बनती जाती हैं। इसमें अपवाद भी हैं। पर कुल मिलाकर परिस्थिति ऐसी ही है। स्त्री जैसे-जैसे युवती होती जाती है वैसे-वैसे उसके शरीर का विकास संतति पोषणक्षम होता जाता है। कोमलता, मृदुता आदि आवश्यक गुणों से युक्त उसके मन का और शरीर का विकास होता जाता है। इसके विपरीत कुटुंब की रक्षा करने का दायित्व वहन करने के लिए पुरुष का शरीर कठोर, अधिक बलवान्, अधिक संरक्षणक्षम बनता जाता है। स्त्री-पुरुष की प्राकृतिक बढ़त और ध्येय इस तरह विषय बनते जाते हैं। बच्चा होने पर उसकी माँ को कष्ट से बचाने के लिए कोई पुरुष उसे स्तनपान नहीं करा सकता। बहुत हुआ तो कोई धाय रख लेगा। पर धाय भी तो स्त्री ही होगी। उसे भी अन्याय नहीं चाहिए।

अर्थात् संतति को राष्ट्र मान लेने पर उसके जनन और संवर्धन का दायित्व राष्ट्रकार्य है। या आप ही अंतिम पीढ़ी बनना चाहते हैं? फिर राष्ट्र के लिए दायित्व निभाना पड़ेगा। 'मुझे यह करना है, मुझे वह करना है, पर बच्चा है न?' ऐसी विफलता की भावना न हो। राष्ट्रकार्य की भावना से यह होता है इसलिए वह अच्छा होते हुए भी उचित नहीं है। संतति ही राष्ट्र हो तो प्रथम राष्ट्रसेवा अपने घर में ही

होती है। राष्ट्र की पहली रसोई अपने घर ही बनती है। राष्ट्र का प्रथम शिवाजी अपने घर ही जनमा। अपनी कोख से शिवाजी जन्म लेगा ऐसा जीजाबाई को कोई स्वप्न नहीं आया था। वैसा उसे किसी ने ताम्रपट लिखकर नहीं दिया था। वैसा ही आपकी कोख से जन्म लेनेवाला बच्चा असाधारण नहीं होगा, यह कैसे कहा जा सकता है? और जन्म लेनेवाला हर बच्चा असाधारण होना ही चाहिए, ऐसा भी नहीं है। तानाजी ने सिंहगढ़ जीता इसलिए उनका नाम अजर-अमर हो गया। उनका नाम ज्ञात था इसलिए इतिहास तक आया। पर सिंहगढ़ अकेले तानाजी ने ही नहीं जीता। उन्हें सहायता करनेवाले हजारों मावला सैनिकों को भी उसका उतना ही श्रेय जाता है। इतिहास को उनके नाम ज्ञात नहीं इसलिए उनका मूल्य कम नहीं होता। अत: आपकी गोद में जन्म लेनेवाला बच्चा शिवाजी, तानाजी जैसा कदाचित् असामान्य नहीं होगा, पर वे वैसे न हुए तो भी मावला सैनिकों की तरह उस समय के असामान्य पुरुष के अनुयायी तो हो ही सकते हैं। यह भी कुछ कम नहीं है। सैकड़ों छोटी सीढ़ियों पर ही शिखर का निर्माण होता है। शिखर का न सही, नींव का पत्थर बनने का भाग्य भी उसे नहीं मिलेगा—यह कैसे कहा जा सकता है?''

संतति नियोजन का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा, ''उत्कृष्ट संतति निर्माण करने के लिए संतति नियमन करने में आपत्ति नहीं है। मैं संतति नियोजन के विरुद्ध नहीं हूँ। यदि कोई स्त्री दुर्बल हो, उसकी संतान उसकी मृत्यु का कारण हो सकती हो या संतान विकृत होने की आशंका हो तो संतति नियोजन अवश्य करना चाहिए। किंतु संतति नियोजन के कारण विकृति उत्पन्न होती हो तो वह वरदान न होकर शाप ही होगा। संतति नियोजन उत्कृष्ट संतति निर्माण करने का साधन है, ध्येय नहीं, यह ध्यान में रखना चाहिए।

लड़के-लड़कियों के खेल भी वैसे ही स्वभाव से अलग होते हैं। लड़की बारह वर्ष तक गुड्डे-गुड्डियों का खेल खेलती है। बाद के दो-चार वर्ष में उसको बच्चा हो जाता है। अर्थात् लड़की की अंतिम गुड्डी और पहला बच्चा ये सगे-संबंधी ही होते हैं। खेल की तरह ही पुरुष और महिलाओं के व्यायाम भी अलग होने चाहिए। लड़कियों के खेल से उनमें माया, ममता, भाइयों की सेवा करने की वृत्ति आदि गुणों का विकास होता है।

अब स्त्री जाति पर से प्रजोत्पादन का अन्याय दूर करने के लिए परखनली शिशु यानी यांत्रिक बच्चे निर्माण करने के प्रयोग वैज्ञानिकों ने चलाए हैं। इन प्रयोगों को थोड़ी-बहुत सफलता मिल भी गई हो तो भी अभी और कुछ वर्षों तक यह प्रयोग अच्छा सफल होना संभव नहीं है और मानो यह प्रयोग सफल हो भी गया तो भी उस लड़के के प्रति माया, ममता, वात्सल्य किसे उमड़ेगा और विश्व से यदि

माया, दया और प्रेम आदि बातें नष्ट हो गईं तो विश्व का नाश होने में कितना समय लगेगा? अर्थात् इससे लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होने की आशंका है। कोई कहता है, हिंदुस्थान के बाहर की महिलाओं का ध्येय अलग है, पर वह सच नहीं है। कुछ देशों को छोड़ दें, मैंने भी सारे देश देखे हैं; वहाँ की स्त्रियाँ भी यहाँ के जैसा ही बच्चों को जन्म देती हैं और लालन-पालन करती हैं।

स्त्रियों के दु:ख कम हों इसके लिए सब जगह प्रयास किए जा रहे हैं। इसके लिए रूस की बात आपके सामने रखूँ। जन्म होने के बाद उसके लालन-पालन का कष्ट स्त्रियों को न हो इसलिए स्टालिन ने बच्चा होते ही उसे राष्ट्रीय लालन केंद्र में भेजने का नियम बनाया। पर वहाँ पलनेवाले बच्चों को माँ का वात्सल्य और माँ का दूध नहीं मिलता, इसलिए उनका विकास अवरुद्ध हो जाता है। बाल मृत्यु का स्तर भी इतना बढ़ गया कि पाँच वर्ष के अंदर ही स्टालिन ने इस प्रकार के राष्ट्रीय मातृ केंद्र बंद कर दिए। इतना भी करके वह रुका नहीं। विशेष वय में लड़के-लड़कियों की बढ़त विशेष तरह से होती है, इसपर उसका ध्यान गया और उसने प्राथमिक शिक्षा के बाद रूस में सहशिक्षा बंद कर दी। मैं इस विषय में स्टालिन से अधिक उदार हूँ। मुझे लगता है कि महाविद्यालय तक सहशिक्षा चलनी चाहिए।

रूस में स्त्रियों को सब तरफ सम्मान प्राप्त है, परंतु इस कारण सेना की पलटनें स्त्रियों की थीं या हैं ऐसा नहीं है। जर्मनी के साथ लड़ते समय स्त्रियों की पलटनें भी थीं। परंतु उन्हें मोरचे पर न भेजकर पिछला काम करने के लिए कहा गया था। पिछला काम का अर्थ ही गृहणी कार्य होता है अर्थात् प्राकृतिक रचना के कारण जो हिस्से में आया है वह करना, यही स्त्रियों का कर्तव्य है। यह करते हुए जो कुछ सीखा जा सके, वह वे सीखें। पर संतति के जनन और संवर्धन के लिए जो उपयोगी है उसे वे पहले सीखें। उसके बाद गणित, भूमिती या अन्य कुछ भी सीखा तो भी कुछ बिगड़नेवाला नहीं है। पुराने जमाने में घर-घर में दादी का बटुआ रहता था। हर स्त्री को जितना आवश्यक था उतना वैद्यकशास्त्र वह जानती थी। प्रसव घर में होते थे, उसके कारण दाई कार्य भी ज्ञात रहता था। अब भी महिलाओं को अन्य ज्ञान के साथ थोड़ा सा वैद्यक, शुश्रूषा आदि बातें सीख लेनी चाहिए। उसी तरह उसे स्वयं एवं बच्चों के मानसशास्त्र का ज्ञान होना चाहिए।

अभिमन्यु की कथा आपको ज्ञात ही है। गर्भ में होते हुए ही चक्रव्यूह भेदकर कैसे निकला जाता है—यह ज्ञान उसे नहीं था इसलिए वह चक्रव्यूह भेदकर बाहर नहीं निकल सका। इस कथा की अतिशयोक्ति छोड़ दें तो भी मानसशास्त्रीय सिद्धांत झूठा नहीं पड़ता। सिद्धांत यह है कि गर्भवती स्त्री के विचार और विकार के प्रभाव गर्भ पर होते रहते हैं। एक महिला को बच्चा हुआ तो उसके गाल पर पाँच अंगुलियाँ

अस्पष्ट सी दिख रही थीं। अंगुली के निशान कैसे उभरे इसका उत्तर किसी को नहीं मिल रहा था। बाद में ज्ञात हुआ कि उस महिला की गर्भावस्था में उसके पति ने उसे चाटा मारा था। सारांश यह कि बच्चे के जन्म (गर्भ) से स्त्री का मानसशास्त्र शुरू हो जाता है और वह बच्चे से संलग्न रहता है। पुरुष का मानसशास्त्र बच्चे के जन्म के बाद शुरू होता है। इसलिए हर स्त्री को शरीरशास्त्र, मानसशास्त्र आदि का अध्ययन राष्ट्र को सुखी और बलशाली बनाने के लिए करना आवश्यक है।

इसे मैंने कहा लेकिन कुछ अपवाद भी हैं। कुछ लोगों का जन्मते ही विकास हुआ दिखता है। जैसे भास्कराचार्य की कन्या लीलावती, जो अतिश्रेष्ठ गणितज्ञ हुई। वैसे ही इंग्लैंड की शकुंतला, जो गुणा-भाग या वर्गमूल आदि मुँह-जबानी करके उत्तर कहती है। संवाददाताओं द्वारा यह पूछने पर कि आप यह कैसे कर लेती हैं, उसने बताया, 'यह कैसे होता है बता नहीं सकती, पर मुझे सूझता है।' जिन्हें जन्मत: इतनी बुद्धि प्राप्त है उन्हें बच्चा हुआ या नहीं हुआ, इसकी अपेक्षा उन्होंने गणितशास्त्र में क्या प्रगति की और मानवजाति पर क्या उपकार किए, यह अधिक महत्त्व का है।

कोई गवैया हो तो वह संगीत में प्रगति करे। पर पालना झुलाते हुए दो गीत गाने में कोई हर्ज नहीं। कोई जन्मत: कवयित्री हो तो वह अवश्य काव्य निर्माण करे। पर यह जो कवयित्री है उसे बच्चा अवश्य होना चाहिए। यह मेरा आग्रह है। अन्यथा वह मातृप्रेम पर उत्कृष्ट काव्य नहीं लिख सकेगी। मातृप्रेम विषय उधार लेकर समझ में आनेवाला नहीं है। अत: कुलीन कवयित्री अनुभव लेकर मातृप्रेम पर कविता लिखे तो वह एक उत्तम काव्य होगा।

स्त्रियों को गर्भधारण के बाद मितली-वमन जैसे कष्ट होते हैं। उस समय झुँझलाकर वे कहती हैं—नहीं चाहिए बच्चा। पर ऐसा कहना ठीक नहीं। ये ध्येय के शब्द नहीं, स्वार्थ के शब्द हैं। ध्येय कहते ही त्याग आ जाता है और त्याग कहें तो दु:ख होगा ही। संतान के लिए दु:ख तो भोगना ही होगा। गर्भावस्था में स्त्रियों से भारी काम नहीं होते ऐसा कहा जाता है। जिन्हें तब विश्रांति मिलना संभव हो तो वे अवश्य उसे लें। पर शरीर को जैसी आदत डालो वैसी पड़ जाती है। वनवासी महिलाएँ वन में ही प्रसूत हो जाती हैं, बाद में वही बच्चा पीठ पर रहता है। काम करते-करते वह भी हिलता-डुलता है, वहीं उसका पालन होता है। आप भी ऐसा करें, ऐसा मैं नहीं कह रहा। गर्भावस्था में शांति मिले, आराम मिले तो वह अच्छा ही है।

कोई नौकरी करनेवाली स्त्री गर्भवती हो जाए तो उसे कष्ट होने लगता है। सास हो तो ऐसा उसे अच्छा लगता है। भोजन तो मिल जाता है। न हो तो चूल्हा

देखना। विश्रांति के लिए चार-पाँच माह घर में ही बीत जाते हैं। प्रसव के बाद तीन माह विश्राम चाहिए ही। इस प्रकार एक वर्ष उसी में बीत जाता है। फिर बच्चा छोटा। उसे लेकर काम पर जाया नहीं जा सकता। अर्थात् बच्चा होने पर नौकरी की इतिश्री।

आज की लड़कियों को विवाह-पूर्व शिक्षा का भार और बाद में गृहस्थी का भार सहन करना पड़ता है। यह देखकर मुझे दु:ख होता है। उसमें नौकरी कर ली तो पूछो ही नहीं। अत: कुछ भी तो एक करें—ऐसा मेरा उनसे निवेदन है। प्राचीन समय में आर्य 'कृण्वन्तो विश्वं आर्यम्' की ध्वजा लेकर प्रचार को निकले थे। उस समय उनको संतति की आवश्यकता थी। उस समय स्त्रियों को 'अष्टपुत्रा, सौभाग्यवती भव' ऐसा आशीर्वाद देने की प्रथा शुरू हुई। आज हर स्त्री आठ पुत्रों की माता हो यह कहना उचित नहीं है। फिर भी आप हर जनगणना के समय यह निश्चित करें कि राष्ट्र को कितनी संतति की आवश्यकता है और उस दृष्टि से योजना बनाएँ।

जर्मनी ने फ्रांस को हराया तब फ्रांस के तत्कालीन प्रधानमंत्री मार्शल पेताँ ने राष्ट्र के नाम एक संदेश प्रसारित किया। उसमें उन्होंने बताया कि फ्रांस की हार के मुख्यत: तीन कारण हैं—१. कम युद्ध सामग्री, २. कम बच्चे, ३. बहुत चैन-सुख। आप मेरे नाम से चिल्लाएँ नहीं, आपकी चैनपसंदगी ही अपनी हार का कारण है।''

वही वास्तव में श्रेष्ठ स्त्री

''मुझे बालक ही होना चाहिए यह जिद अच्छी नहीं। विश्व में यदि सबसे पिछड़ा शास्त्र कोई है तो वह गर्भशास्त्र है। इसलिए कम-से-कम बच्चा होने तक स्त्रियों को संतति नियोजन नहीं करना चाहिए। जिन्हें स्वस्थ और सुंदर बच्चे होते हैं वे स्त्रियाँ तो कभी भी संतति नियोजन न करें। जो स्त्री उत्तम संतति को जन्म देती है वही उत्तम स्त्री है।

''कोई सोलह-सत्रह वर्ष की सुंदर तरुणी दिख जाए तो किसी को भी आनंद होता है। पर उसकी अपेक्षा सत्ताईस-अट्ठाईस वर्ष की प्रौढ़ स्त्री, जिसकी गोद में एक बच्चा और पाँच-एक वर्ष का स्वस्थ बच्चा अंगुली पकड़कर चलता हुआ दिख जाए तो मुझे अधिक संतोष होता है। मैं उस स्त्री को अधिक भाग्यवान मानूँगा।

''स्त्री जीवन में सुख असंभव है—ऐसी विफलता की भावना मन में नहीं होनी चाहिए। दु:ख में भी सुख निर्माण होने की सुविधा सृष्टिकर्ता ने कर रखी है। अपने स्वयं के रक्त का दूध बच्चे को पिलाना रक्तदान करने के बराबर सुख की बात है। वर्तमान में राष्ट्र के लिए रक्तदान करना पवित्र कर्म मानते हैं। स्त्रियों को

यह कितना बड़ा सुख मिलता रहता है। तुम्हारा ध्येय और तुम्हारा सुख इस तरह एकरूप हो गया है। सुंदर, स्वस्थ और बुद्धिमान् संतान को जन्म देने पर तुम्हें कर्तव्य व सुख दोनों की प्राप्ति का आनंद मिलता है। पुरुषों को वह भाग्य प्राप्त नहीं है। इस दृष्टि से गृहिणी पद, मातृपद स्त्रियों के लिए शाप नहीं, वरदान है।

कारावास में पत्थर की दीवारों के पीछे सड़ते समय भी हमारी ध्येय-पूजा अमूर्त थी। पर नए बच्चे को जन्म देते ही तुम्हें माँ-बाप का मूर्तिरूप प्रतीक निर्माण करने का सुख मिलता है। हमारा ध्येय पत्थर था। उसमें तन्मयता का और एकात्मता का आनंद नहीं था। परमेश्वर ने तुम्हें वह दिया है। इसलिए जीवन की ओर भव्यता से देखो। उसमें अपने को अर्पित कर दो। अच्छी संतति को जन्म दो और उसे अच्छी शिक्षा देकर यह राष्ट्र समर्थ और समृद्ध करने का यश प्राप्त करो।''

स्वा. वीर सावरकर का दक्षिण दौरा

दिनांक १९ मई, १९४० के दिन दादर की एक खुली सभा में इस दक्षिण दौरे की जानकारी देते हुए सावरकर ने कहा—

''मेरे वहाँ के दौरे के एक सप्ताह पूर्व मद्रास के कांग्रेसी नेता श्री सत्यमूर्ति वहाँ गए थे। उन्होंने हिंदू सभा के विरुद्ध भरपूर प्रचार कर लोगों को मेरे स्वागत का बहिष्कार करने को कहा था। इतना ही नहीं अपितु जो मेरे स्वागत में भाग लेंगे उनके विरुद्ध अनुशासन भंग की कार्यवाही करने की धमकी भी दी थी। इन सब बातों की मुझे जानकारी होने से वहाँ प्लेटफॉर्म पर जमा हजारों लोगों को देखकर मुझे लगा कि ये सारे लोग मेरा बहिष्कार करने के लिए ही जमा हुए होंगे। पर जो सुना, वह था—हिंदू धर्म की, हिंदू सभा की जय-जयकार!

''अस्पृश्यों के मंदिर प्रवेश-सत्याग्रह के कारण मदुरै के हिंदुओं में भी अनेक मतभेद उत्पन्न हुए थे। पर मैं हिंदुओं का पक्षधर था इसलिए वहाँ के पुजारी सोले (रेशमी वस्त्र) पहनकर मेरे स्वागत को आए। मैं जाति-पाँति न माननेवाला और वहाँ के वे पुजारी विजयनगर साम्राज्य के समय से पीढ़ीजात ब्राह्मण। स्वागत कर वे मुझे मंदिर में ले गए। वहाँ स्थित उच्चासन पर बैठाया। समंत्रक जलसिंचन आदि विधि-विधान किए। उनके द्वारा किए गए ऐसे सम्मान से मैं अभिभूत हो गया। मंदिर के द्वार पर मेरे स्वागत में खड़े दो हाथियों ने सूँड़ मिलाकर मेहराब बनाई। यह सम्मान केवल आचार्यों को ही दिया जाता है। मेरे पीछे-पीछे हजारों लोग उस मंदिर में आ गए। वह मंदिर अब अस्पृश्यों के लिए भी खुला है। वह मंदिर विशाल है। दक्षिण में ऐसे विशाल मंदिर बने रहे, क्योंकि तीन शताब्दी पूर्व मराठों ने अपने मजबूत सीने की दीवार बना मूर्तिभंजक मुसलमानों के आक्रमण

रोके थे इसलिए। नहीं तो सोरटी सोमनाथ और काशी विश्वनाथ जैसी स्थिति होती।

"त्रावणकोर की ओर भी परशुराम की कथा कही जाती है। उसमें कहा जाता है कि यह भाग समुद्र को पीछे हटाकर निर्माण किया गया। आज भी समुद्र हटाकर भूमि निर्मित की जाती है। वही परशुराम ने किया होगा। त्रावणकोर की सुंदरता कोंकण जैसी ही है। पर वह स्वकीयों के हाथ में है इसलिए टिका हुआ है। कोंकण परतंत्र है और उचक्कों ने उसे विकल कर डाला है। मैं त्रावणकोर गया तब वर्षा ऋतु शुरू ही हुई थी। वहाँ के मनोरम दृश्य देखकर हिंदुस्थान में पहले कालिदास कैसे निर्मित हुआ यह प्रश्न हल हो गया।

"क्विलॉन पहुँचा तो वहाँ के रक्षक दल ने मानवंदन कर मेरा स्वागत किया। मैं राज अतिथि के रूप में वहाँ रहूँ ऐसी महाराज की इच्छा है, यह मुझे एक अधिकारी ने कहा। तब डॉ. नायडू ने व्यंग्य से कहा, 'देखो, कितना सम्मान हो रहा है।' मैंने उनसे कहा, 'अजी इसमें क्या है? ऐसा आतिथ्य मेरे लिए नया नहीं है। स्वयं ब्रिटिश सम्राट् का आतिथ्य मैंने चौबीस वर्ष भोगा है। पहले मेरे हाथ-पैर में बेड़ियाँ थीं। आज पुष्पगुच्छ और पुष्पमाला है, इतना ही तो अंतर है।' इस दौरे में मुझे विशेष गौरव की बात यह दिखी कि ये सारे महाराष्ट्र की ओर आँख लगाए हुए हैं। उन्होंने कहा कि शिवाजी महाराज और लोकमान्य तिलक जिस महाराष्ट्र में हुए वहाँ से आप आए हैं। वहाँ के हिंदू समाज में स्त्री-प्रधान व्यवस्था है। कन्या मुख्य वारिस। वहाँ राजा की माँ ही राज्य की मुखिया समझी जाती है। बाद में उसकी सत्ता कन्या को प्राप्त होती है। राज्य पर कन्या का पुत्र बैठता है और उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन चलाता है। उधर स्त्रियाँ विवाह-विच्छेद कर लेती हैं या दूसरा पति चुनती हैं। त्रावणकोर के दीवान हिंदुत्वनिष्ठ हैं। हिंदुस्थान की साक्षरता का प्रतिशत दस है तो यहाँ का पचहत्तर प्रतिशत है। यहाँ ईसाइयों की बस्ती चालीस प्रतिशत है। तत्कालीन महाराज और दीवान हिंदुत्वनिष्ठ न होते तो वह राज्य ईसाई हो जाता। वहाँ के ईसाइयों ने मेरा सम्मान किया। उनका कहना है कि वहाँ के हिंदू उन लोगों को पीस डालेंगे, इसलिए उन्होंने महाराज के विरुद्ध आंदोलन किया। मैंने उनसे पूछा, 'आप क्या कह रहे हैं? आप क्या विजेता के रूप में बाहर से यहाँ आए? नहीं। आप सीरियन ईसाई हैं, वहाँ के लोगों ने आपके पूर्वजों को मारना-लूटना शुरू किया तब वे यहाँ आए। शरणार्थी थे। यहाँ के महाराज ने उदारता से उन्हें आश्रय दिया। प्रार्थना के लिए चर्च बाँध दिया। ग्राम पंचायत में स्थान दिया। ताम्रपट लिखकर दिया। इतने वर्ष जिन्होंने आपको आश्रय दिया अब वे क्या आपको बिना कारण भगा देंगे?'

"इसपर एक ईसाई नेता ने कहा, 'आप हिंदुओं को भड़काते हैं, इसलिए

हमें डर लगता है।' बाद में मैंने उससे स्पष्टतः पूछा, 'सत्ताईस करोड़ हिंदुओं का आप बीस लाख ईसाई विरोध करेंगे क्या? आपको उसमें क्या मिलेगा? उससे अच्छा है दोस्ती करना। हम मसल सकते हैं इस डर से ही सीधे रास्ते चलें। आप कम-से-कम कृतज्ञता तो दिखाएँ। साँप को दूध पिलाने जैसा न होने दें।' इसी संदर्भ में मैंने वहाँ की हिंदू परिषद् में हिंदुओं को कहा कि 'आप ईसाइयों को यह देता हूँ, वह देता हूँ—ऐसा कहकर उनसे विनती न किया करें।'

''रियासत के 'एझुवा' नामक अस्पृश्य समाज के लिए महाराज ने बहुत सुविधाएँ दी हैं। रियासत के मंदिर उनके लिए खोल दिए हैं। उसके बाद वे एझुवा नेता कहने लगे, 'मंदिर प्रवेश का अधिकार मिल गया, अब हमें मंदिरों की आवश्यकता नहीं है। अब हमें आर्थिक परिस्थिति सुधारने के लिए राजनीतिक अधिकार चाहिए।'

''मैंने उन्हें स्पष्ट कहा, 'अस्पृश्यता और निर्धनता दोनों अलग प्रश्न हैं। अस्पृश्य ही केवल निर्धन नहीं है। अनेक स्पृश्य जातियाँ, इतना ही नहीं ब्राह्मण भी, निर्धन हैं। वहाँ के कुछ अस्पृश्य उच्च शिक्षित हैं और संपन्न भी हैं।' हमें यह दें, वह दें, नहीं तो हम ईसाई हो जाएँगे—ऐसी धौंस कुछ अस्पृश्य नेता गत पाँच-सात वर्षों से दे रहे हैं। तब मैंने उनसे कहा, 'परधर्म में नहीं जाना' ऐसी विनती करने का कोई कारण नहीं। क्योंकि उन्हें दे-देकर रोकने की कोई सीमा नहीं है। शुद्धि के दरवाजे केवल खुले रहें। धर्मांतरण की धमकियाँ देनेवाले परधर्म में जाकर वहाँ के कड़ुवे अनुभव लेकर फिर से हिंदू हो जाएँगे तब वे वास्तविक हिंदू होंगे। क्योंकि ये अस्पृश्य ईसाई होकर भी क्या प्राप्त करेंगे? वहाँ के चर्च में भी अस्पृश्य के लिए बैठने की अलग व्यवस्था होती है। कुछ अस्पृश्य जब स्पृश्यों के स्थान पर बैठे तब रक्तपात भी हुआ है। और ये ईसाई स्वतंत्र राज्य माँग रहे हैं? उनके घर दूर-दूर, उनका वह राज्य अछूतस्थान ही होगा और भविष्य में हिटलर के हमले के कारण जो छोटे नार्वे की स्थिति हुई वैसे ही उनके ये स्थान कब्रिस्तान ही बन जाएँगे। ऐसी वास्तविकता ईसाई होने की धमकी देनेवाले अस्पृश्यों के सामने रखी कि वे होश में आते हैं और कहते हैं हम हिंदू ही बने रहेंगे। त्रावणकोर में अस्पृश्यता विधितः बंद है। जो कर्णावती या नासिक में नहीं हो सका वह वहाँ किसने किया? राजा ने किया। एक रियासतदार ने किया। जिन्हें कांग्रेस दरिद्र समझती है, ऐसी एक रियासत ने किया। हिंदू रियासत एक शक्ति है। वे विस्फोटकों के भंडार हैं। चिनगारी पड़ने पर वहाँ बड़ा काम हो सकता है। वहाँ शुद्धिकार्य भी चल रहा है। परधर्म में गए पचास हजार एझुवाओं को फिर से हिंदू बना लिया गया है। वहाँ के हिंदू मिशन को शासन की ओर से हर वर्ष बीस हजार का अनुदान मिलता था।

उन्होंने यह काम किया है। यह अनुदान दीवान सर सी.पी. रामास्वामी ने दिया। उनपर बहुत टीका हुई, पर वे हटे नहीं।

"त्रावणकोर में मुसलमान केवल दो प्रतिशत हैं। इसलिए वे कष्ट नहीं देते। पर नीचे मलाबार में उनकी समस्या गंभीर है। वे समझते हैं, मलाबार अरबस्तान का भाग है। वैसा हो तो हम अरबस्तान को भी भारत का भाग बनाएँगे। पर उसके लिए हिंदू को जाग्रत्, संगठित और शक्तिशाली होना चाहिए। मैंने हिंदुओं को कहा, मुसलमान पहले केवल पाँव रखने को भूमि माँगेंगे। फिर मसजिद के लिए जगह माँगेंगे। फिर कहेंगे एक मिनट बाजा बजाना बंद करें। फिर चौबीस घंटा वाद्यबंदी के लिए जिद करेंगे। जनसंख्या बढ़ने पर आरक्षित स्थान माँगेंगे। उनकी यह प्रवृत्ति ध्यान में रखकर ही उनसे आप व्यवहार करें। कुछ वर्ष पूर्व सर मोहम्मद हबीबुल्ला त्रावणकोर के दीवान थे। तब उन्होंने मुसलमानों को आरक्षित स्थान दिए। सर रामास्वामी के दीवान बनते ही उन्होंने उसे बंद कर दिया और एक व्यक्ति एक मत की पद्धति प्रारंभ की। त्रावणकोर और महाराष्ट्र के संबंध पुराने हैं। वहाँ टीपू ने हमला किया तब वहाँ के ब्राह्मण हिंदू राज्यरक्षा के लिए पुणे आए थे। मराठों ने उनकी सहायता कर टीपू को हराया था। यह इतिहास मैंने उन्हें बताया।

"अनेक शताब्दियों से हिंदुओं को नामशेष करने के प्रयास चल रहे हैं पर फिर भी हम जीवित हैं। क्योंकि हममें वह शक्ति है। दिल्ली में सैकड़ों वर्ष मुसलमानों ने राज्य किया फिर भी वहाँ पचहत्तर प्रतिशत हिंदू हैं। इसका क्या कारण है? आज मुसलमान चाहे जो माँग कर रहे हैं। इंग्लैंड में भी वे अल्पसंख्य हैं। पर फिर भी वे वहाँ माँग करें कि इंग्लैंड के झंडे पर एक चाँद बनाए या वहाँ की आकाशवाणी से कुछ देर के लिए उर्दू कार्यक्रम होने चाहिए तो वहाँ उनकी क्या स्थिति हो जाएगी, इसका विचार करें। पर यहाँ वे चाहे जो माँग रहे हैं। वे यह न भूलें कि हिंदू बहुसंख्य होने से यह उन्हीं का राष्ट्र है। अन्य अल्पसंख्य जातीय गुट हैं। यह देश हिंदुओं का है। और उसका भविष्य हिंदुओं के ही हाथ में है और रहेगा। फिर कोई कितना ही हल्ला-गुल्ला करे।"

राष्ट्रभाषा और भाषाशुद्धि

कलकत्ता में आयोजित हिंदू महासभा का अधिवेशन समाप्त होने पर सावरकर मुंबई लौट आए और उधर बंगाल में हिंदू-मुसलमानों के दंगे शुरू हो गए। पश्चिम बंगाल से मुसलमान भागने लगे। तब पाकिस्तान के प्रधानमंत्री लियाकत अली ने भारत के प्रधानमंत्री नेहरू को विरोध-पत्र भेजा और उनसे भेंट करने की माँग की। अप्रैल १९५० में दिल्ली में लियाकत अली नेहरू से मिलने आएँगे, यह निश्चित

हुआ। इस भेंट के समय हिंदू महासभावाले कोई उपद्रव न करें इसलिए हिंदू महासभा के नेता स्वा. वीर सावरकर, धर्मवीर भोपटकर, प्रा. रामसिंह आदि को दिनांक ४ अप्रैल, १९५० को गिरफ्तार कर लिया गया। डॉ. खरे को दिल्ली में रहने से मना किया गया। सावरकर को दूर हिंडलगा कारावास में रखा गया और अफवाह उड़ाई गई कि नेहरू-लियाकत की हत्या का षड्यंत्र रचा गया था इसलिए यह सावधानी बरती गई है। इस गिरफ्तारी के विरुद्ध वीर सावरकर की ओर से न्यायालय में 'बंदी प्रत्यक्षीकरण' (हैबियस कार्पस) आवेदन प्रस्तुत किया गया। उस समय न्यायाधीश, अधिवक्ता और प्रतिबंधक निर्बंध की सीमाओं को ध्यान में रखकर एक वर्ष तक (उसके पूर्व युद्ध अथवा चुनाव न हुए तो) राजनीति में हिस्सा न लेने की शर्त पर स्वा. वीर सावरकर ने सौ दिन बाद अर्थात् १३ जुलाई, १९५० को अपने को कारावास से मुक्त करा लिया और उसके डेढ़ माह बाद दिनांक २७ अगस्त, १९५० को उन्होंने राष्ट्रीय स्वाध्याय मंडल नामक संस्था की ओर से राष्ट्रभाषा और भाषाशुद्धि विषय पर भाषण दिया। उस समय भाषण में राजनीति प्रतिबंधित होने से पाकिस्तान प्रेमी मुसलमानों को यहाँ से भगाना चाहिए, ऐसा सीधा न कहते हुए भाषा में घुसे हुए फारसी आदि परकीय शब्दों का बहिष्कार करना चाहिए—ऐसी पद्धति से सावरकर कहते थे कि उसके माध्यम से श्रोता सावरकर को क्या कहना है अच्छी तरह समझ जाता। उस भाषा का संक्षिप्त निम्न है—

(बाल सावरकर— संपादक)

''आज मैं यहाँ आपके सामने व्याख्यान देने के लिए नहीं आया, मैं तो आपका परिचय प्राप्त करने आया हूँ। आज यहाँ एकत्रित लोगों में सुशिक्षित युवा, प्राध्यापक, शिक्षक और अन्य स्वतंत्र व्यवसायों से जुड़े लोग और बहुत प्रौढ़ विद्यार्थी दिख रहे हैं। हम अब पुरानी पीढ़ी के हो गए हैं। आप हमारा गौरव भी करते हैं। परंतु मुझे आपसे कहना है कि पुरानी पीढ़ी ने जो-जो बातें कीं उन्हें करते हुए जो त्रुटियाँ उनके हाथों से हुईं उन्हें सुधारने का दायित्व अब युवा पीढ़ी पर है। पुरानी पीढ़ी के दोष निकालना, उसपर टीका करना बहुत ही सरल काम होता है। पर उतना ही कर युवा पीढ़ी शांति से न बैठ जाए। शिवाजी महाराज ने क्या त्रुटियाँ कीं, यह इतिहास पढ़नेवाला स्कूली छात्र भी बता देगा। पूर्वज पानीपत में हारे होंगे तो नई पीढ़ी को उसे जीतकर दिखाना चाहिए। पुरानी पीढ़ी को उसे जीतकर दिखाना चाहिए। पुरानी पीढ़ी की अच्छी बातों को ग्रहण करना चाहिए और उस पीढ़ी की बुरी बातें निकालकर कुछ अच्छी बातों की भरपाई युवाओं को करनी चाहिए।

''सन् १८५७ के बाद की जो पीढ़ियाँ हुई हैं, उनकी दृष्टि से देखें तो आज अपने इतिहास में एक नया स्वर्ण पृष्ठ लिखा गया है, यह तुरंत दिख जाता है।

चंद्रगुप्त मौर्य के समय और उसके बाद की पीढ़ी को उस समय की कुल परिस्थिति का जितना अभिमान हो रहा था, छत्रपति शिवाजी के समय और उसके बाद महाराष्ट्र में जनमी पीढ़ी को अपने लोगों के संबंध में जितना अभिमान होता था, हम इस समय जन्म लिये हैं यह अपना भाग्य ही है ऐसा उस समय की युवा पीढ़ी जिस अभिमान से कहती थी उसी तरह का अभिमान आज भी तरुण पीढ़ी को लगे सौभाग्य से आज—ऐसी परिस्थिति निर्मित हुई है। परंतु इस स्थिति की अनुभूति जितनी होनी चाहिए उतनी अभी तक लोग मानते नहीं। आज की परिस्थिति क्या है यह अनेक लोग हृदयंगम नहीं कर रहे। या यह स्थिति जान लेने की इच्छा भी नहीं रखते। आज की परिस्थिति क्या है यह समझने के लिए १८५७ एवं १९५० ये दो वर्ष अपनी आँखों के सामने ले आएँ तो पहले की अपेक्षा हमने कितनी प्रगति की है यह समझ में आ जाएगा। केवल राजनीतिक क्षेत्र में ही क्रांति हुई है ऐसा नहीं है। गाड़ी के साथ बैल जैसे खींचता चला आता है उसी तरह एक क्रांति के साथ अन्य क्रांतियाँ भी आती हैं और इस कालावधि में औद्योगिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक आदि विषयों में भी अपना देश बहुत आगे पहुँचा हुआ है। इनमें से भाषाशुद्धि और राष्ट्रभाषा के संबंध में आज मैं थोड़ी सी बात करनेवाला हूँ। अन्य किसी भी क्षेत्र में न सही, पर इस क्षेत्र में कार्य करने में आपको कोई बाधा न होगी। आपमें से अनेक लोग नौकरी करते होंगे और कोई लड़ाई अगर आप नहीं लड़ रहे होंगे, और ऐसी लड़ाइयाँ यदि आप नहीं लड़ रहे हों तो इस काम को करने में आपको कोई संकोच न होगा।

"मैंने भाषाशुद्धि का प्रयास सन् १९२४ से अर्थात् कारावास से छूटने के बाद से प्रारंभ किया। प्रारंभ में मराठी तक ही सीमित यह आंदोलन एक दिन अखिल भारतीय स्वरूप का हो जाएगा, यह मैंने दूरदर्शिता से पहले ही जान लिया था। वह आंदोलन था मराठी भाषा में आए अंग्रेजी, फ्रेंच, पुर्तगीज, उर्दू आदि अन्यान्य प्रकार के शब्द निकाल डालने का। अपने देश पर किसी भी देश का, किसी भी तरह का अधिकार न हो इस मूल कल्पना से वह आंदोलन जनमा था। विदेशों का राजनीतिक प्रभुत्व जैसा हमको नहीं चाहिए वैसे ही विदेशी भाषा की गुलामी भी नहीं चाहिए। फारसी, अरबी, तुर्की इन भाषाओं की खिचड़ी बनाकर जो भाषा बनाई गई वह भाषा उर्दू है। और इस उर्दू भाषा के बहुत से शब्द आज मराठी में घुस गए हैं। उनका उन्मूलन होना चाहिए। भाषा में नए लिये जानेवाले शब्द या तो संस्कृतोत्पन्न हों या संस्कृतनिष्ठ हों। यह हमारी सामान्य नीति होनी चाहिए। संस्कृतोत्पन्न भाषाओं के संबंध में और संस्कृत के संबंध में बात करने की आवश्यकता ही नहीं है। पर संस्कृतनिष्ठ भाषाओं के संबंध में थोड़ा बोलना पड़ेगा। तमिल,

तेलुगु, कन्नड़ भाषाएँ संस्कृतोत्पन्न नहीं हैं, पर संस्कृतनिष्ठ हैं। वेद, शास्त्र, पुराण का आधार लेते समय कम-से-कम वे संस्कृत को सम्मान देते हैं। पश्तो भाषा में भी कुछ संस्कृत शब्द मिलते हैं। पर उसे बोलनेवालों को अपनी भाषा में कुछ संस्कृत के शब्द हैं यह कहने में लज्जा आती है। अपने माँ-बाप अरबी में दिखा सकें तो अच्छा, ऐसा उन्हें लगता है। इसलिए वे भाषाएँ जैसी संस्कृतोद्भव नहीं हैं वैसी संस्कृतनिष्ठ भी नहीं हैं। और इसीलिए उन भाषाओं के शब्दों का हमें बहिष्कार करना है।

''भाषाशुद्धि का आंदोलन जब प्रारंभ किया गया तब अनेक ने अनेक प्रकार की आपत्तियाँ उठाईं। समाचारपत्रों में, सभाओं में इसको लेकर बहुत वाद-विवाद हुए। अपनी भाषा में आए सभी विदेशी शब्द आप कैसे हटाएँगे, ऐसा भी कुछ लोगों ने प्रश्न किया। अंग्रेजी और अन्य भाषाएँ भी विदेशी शब्द को लेकर अपने शब्द भंडार को समृद्ध बनाती हैं। फिर हमें भी वैसा करने में क्या आपत्ति है ऐसी भी आपत्ति अनेक लोगों ने की। अंग्रेजी भाषा में ऐसे शब्द लेते समय लैटिन, ग्रीक आदि भाषाओं का आधार लिया जाता है, यह अवश्य बहुत से लोग भूल जाते हैं। उसी तरह हमें हमारी भाषा की समृद्धि के लिए संस्कृत से शब्द लेने चाहिए।

''संस्कृतोद्भव हिंदी ही राष्ट्रभाषा होनी चाहिए ऐसा हम पहले ही से कहते रहे हैं। आज भारत के संविधान में इस बात को मान्यता दी गई है। परंतु महामहोपाध्याय द.वा. पोतदार जैसे विद्वान् भी हिंदी का अर्थ व्यवहार में 'हिंदुस्थानी' ही होगा, ऐसा बड़े अभिमान से कहते हैं। मुसलमानों को हिंदुस्थानी माने उर्दू यह पूरी तरह ज्ञात होते हुए भी वे जो बातें खुली कहने में डरते हैं, वे बातें ये विद्वान् और भाषा-प्रभु ठोंककर कहते हैं।

''पंडित नेहरू की शिक्षा विलायत में अंग्रेजी माध्यम से हुई थी, इसलिए वे हिंदुस्थानी के अर्थात् उर्दू के पूरे हिमायती हैं। जिन्हें संस्कृत नहीं आती उन्हें अंग्रेजी और हिंदुस्थानी पास की लगती हैं। इसीलिए पंद्रह वर्षों तक अंग्रेजी बनाए रखने और बाद में उसका स्थान हिंदुस्थानी (उर्दू) को देने की योजना दिखती है।

''हमारे राष्ट्रपति डॉ. राजेंद्र प्रसाद की शिक्षा हिंदी माध्यम से हुई है। वे एक जगह इस भाषा के संबंध में बोले कि भाषा में कठिन शब्दों का उपयोग न हो। बाजार में जो बोली जाती है उसे राष्ट्रभाषा कहा जाए। यह भाषा सबको समझनी चाहिए, ऐसा जब वे कहते हैं तब इस देश के ईसाई, यहूदी या अन्य धर्मियों को यह भाषा समझ में आएगी या नहीं यह बात बिलकुल भी विचार में नहीं लेते। मुसलमानों को समझ में आए तो हो गया। उत्तर प्रदेश के बाजार का मुख्य नगर लखनऊ है। वहाँ बोली जानेवाली भाषा सबको साधारणतः समझ में

आती है इसलिए उसे राष्ट्रभाषा कहा जाए—ऐसा इन लोगों का आग्रह दिखता है। पर लखनऊ उर्दू भाषा की राजधानी है। यहाँ के बाजार में जो भाषा बोली जाती है उसमें उर्दू शब्दों की संख्या अधिक है। अर्थात् ऐसी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकारना क्या उचित होगा?

" 'बैंगन का भाव क्या है?' मैंने सब्जीवाले से बाजार में जाकर पूछा तो उसे वह समझ में आ जाएगा। पर मुझे यदि सांख्य दर्शन पर चर्चा करनी हो तो? या चित्तवृत्ति निरोध पर चर्चा करनी हो तो वह 'बाजारू' भाषा में कैसे किया जा सकेगा? और वह सब्जीवाले को भी समझ में कैसे आएगा? राष्ट्रभाषा में केवल बाजार में बोले जानेवाले या काम में आनेवाले शब्दों का भंडार रहने से काम नहीं बनेगा। राष्ट्र के उत्तमोत्तम, प्रतिभावान, विद्वान् लोगों द्वारा उस भाषा में नई तरह के शब्द-भंडार की वृद्धि की जानी चाहिए। मराठी जैसी भाषा के पीछे संस्कृत का कुबेर भंडार भरा हुआ है।

"संस्कृत भाषा देववाणी है। इस भाषा में जैसा शब्द सौष्ठव है, जैसी सृजनशक्ति है, जैसी सामर्थ्य है—वैसा आज विश्व की किसी भी भाषा में नहीं है और इसीलिए वह भंडार भरा होते हुए यह कामधेनु अपने दरवाजे बँधी होते हुए हाथ में नरोटी लेकर घर-घर भीख माँगने की आवश्यकता नहीं है।

"भाषा के कौन से विदेशी शब्द टालने चाहिए और कौन से रहने देने चाहिए इसके संबंध में कुछ नियम होना आवश्यक है। भाषाशुद्धि का मजाक और मसखरी करनेवाले लोग स्टेशन का 'अग्निरथ विश्रामधाम' शब्द सुझाते हैं, वह शब्द हमने नहीं सुझाया है। हमने स्टेशन के लिए 'स्थानक' जैसा सरल और श्रुतिमधुर शब्द सुझाया था और स्थानक शब्द आज प्रचलित हो ही गया है—कि नहीं?

१. जो वस्तु, जो विचार अपनी भाषा में उपलब्ध हैं या जहाँ सुलभता से प्रतिशब्द निर्माण करना संभव है वहाँ विदेशी भाषा का शब्द लेने की कोई आवश्यकता नहीं है।
२. वैसे ही जो शब्द, जो विचार अपनी भाषा में थे ही नहीं और जिनके लिए अपना शब्द सुझाना संभव नहीं, केवल वही विदेशी भाषा के शब्द लेने में कोई आपत्ति नहीं है।

"दूसरे सिद्धांत का थोड़ा स्पष्टीकरण करता हूँ। हम जिसे पहनते हैं उस कोट को ही लें। कोट को सदरी, बंडी ऐसा कोई नाम नहीं दिया जा सकता। वैसे ही बूट को चप्पल, खड़ाऊँ नहीं कहा जा सकता। गुलाब का अच्छा प्रतिशब्द हमें नहीं सूझता। अपनी भाषा में अन्य फूलों के जैसे प्रतिशब्द हैं वैसे गुलाब के नहीं हैं इसलिए गुलाब ही उचित शब्द है। जलेबी नाम के पकवान को लें। हमें जलेबी

मीठी लगती है। संस्कृत नाटकों में विदूषकों के मुँह में अनेक पकवानों के नाम हैं, परंतु उनमें 'जलेबी' शब्द नहीं है। अत: (उस पदार्थ को) जलेबी कहकर खाने में हमें कुछ भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। ये सब बातें अगर आप अच्छी तरह समझ लें तो भाषाशुद्धिवाले लोग किसी अतिरेक को कोई स्थान नहीं देते, यह बात सबकी समझ में आ जाएगी।

''यहाँ अंग्रेजों का राज हो जाने के बाद से और छोटे-छोटे बालक पाठशाला में जाने लगने से विदेशी शब्द अपनी भाषा में अधिक घुसने लगे हैं। पहले भी अपना राज-शासन विदेशी शब्दों की सहायता बिना चलता था। पर आज कितने ही तरुण अपनी पत्नी को 'पत्नी' न कह वाइफ कहने में गर्व मानने लगे हैं। घरवालियाँ भी पहले की तरह न कहते हुए हमें मिस्टर कहने लगी हैं। बालक पहले खेल प्रारंभ होने के पहले 'सावधान' कहा करते थे। अंदमान से आने के बाद से मैं उनके मुँह से 'रेडी' शब्द सुन रहा हूँ। प्राध्यापक लोग तो अंग्रेजी भाषा से ज्ञान प्राप्त करते हैं और वही ज्ञान अनुवाद करने का कष्ट किए बिना वैसा-का-वैसा विद्यार्थियों को देते हैं। नाम और विशेषण सारे अंग्रेजी के ही काम में लाना; केवल क्रिया मराठी (हिंदी) की लगाना ऐसी उनकी पद्धति दिखती है।

''भाषाशुद्धि के प्रयास आज भी अलग-अलग तरह से हो रहे हैं। मध्य प्रदेश के डॉ. रघुवीर जैसे विद्वान् आज भी उस तरह के प्रयास कर रहे हैं। उन्होंने एक प्रशासनिक कोष तैयार किया है। उसमें राज व्यवस्था में उपयोग में आनेवाले सारे शब्दों के हिंदी पर्याय दिए हुए हैं। इस कोशकार्य में अनेक विशेषज्ञ भी सहायता कर रहे हैं और उन्हें सरकारी सहायता भी मिल रही है। डॉ. रघुवीर जैसा योग्य व्यक्ति इस कार्य को मिला वह बहुत ही अच्छा हुआ। वैसे ऐसे ही प्रयास सरकार की ओर से पहले भी हुए हैं। बहुत पहले जब हम पर ग्रीक भाषा का आक्रमण होनेवाला था—तब उससे बचने अपने पूर्वजों ने 'न वदेत यावनी भाषाम्' ऐसा नियम ही बनाया था, उपर्युक्त वचन में प्रयुक्त 'यावनी' शब्द मुसलमानी भाषा के लिए प्रयुक्त न होकर ग्रीक भाषा के लिए प्रयोग में लाया गया है। छत्रपति शिवाजी महाराज ने जब महाराष्ट्र में स्वराज्य की स्थापना की तब उन्होंने भी रघुनाथ पंडित को राज्य व्यवहार कोश तैयार करने का काम सौंपा था। और स्वयं को राज्याभिषेक कर लेने के बाद उन्होंने जो अष्टप्रधान मंडल नियुक्त किया; उनके प्रधान, आमात्य आदि सारे नाम संस्कृत से लिये गए थे। उन्होंने सारे विदेशी नाम भुला दिए थे।

''आज जैसे उर्दू का दफ्तर बदलते ही कुछ महामहोपाध्याय घबड़ा जाते हैं उसी तरह शिवाजी महाराज के समय भी कुछ लोग थे। वे इस प्रयास पर हँसे भी।

परंतु रघुनाथ पंडित ने उनको एक सटीक उत्तर दिया। उन्होंने कहा, 'ऊँट को कभी केला पसंद नहीं होता।' यह उनकी बात बहुत चुभनेवाली थी। ऊँट को केला नहीं, काँटे ही अधिक प्रिय होते हैं यह तो अपने उत्तर से दरशाया ही; परंतु ऊँट का उदाहरण देकर अरबस्तान की ओर देखनेवाले—यह भी कह दिया। आज भी अनेक लोगों को 'लोग' क्या कहेंगे इसकी अपेक्षा 'ऊँट' क्या कहेगा इसकी ही अधिक चिंता लगी रहती है।

''पहले ऐसे प्रयासों का उपयोग हुआ था और आज भी हो रहा है। छत्रपति शिवाजी महाराज द्वारा तैयार कराए गए कोश के कारण बाद के मराठों के पत्राचार में विदेशी शब्दों का प्रमाण अल्प मात्रा में दिखता है। इतिहासाचार्य राजवाडे भी यही मानते हैं।

''मराठी भाषा में आनेवाले अंग्रेजी शब्दों को प्रतिबंधित करने का बहुत सा कार्य निबंध मालाकार स्व. विष्णु शास्त्री चिपलूणकर ने भी किया। तब से होते आए प्रयासों के कारण ही हिंदी, पंजाबी या अन्य देशी भाषाओं की तुलना में मराठी में विदेशी शब्द कम अनुपात में आ सके। अब तो विभिन्न समाचारपत्रों में प्रकाशनार्थ भेजे जानेवाले पत्रों में भी अंग्रेजी शब्दों के प्रतिशब्द सुझाएँ ऐसी माँग प्रकाशित होती रहती है। दूरध्वनि से बात करते समय हम 'हैलो' कहते हैं, उसके लिए प्रतिशब्द क्या हो? अब इसकी भी चर्चा चल रही है।

''पर भाषाशुद्धि करनेवालों को मैं यह संकेत दे दूँ कि आपने जैसे अंग्रेजी शब्द देशी भाषा से निकालने की मुहिम चलाई है वैसी ही उर्दू शब्दों को भी निकाल-बाहर करने का काम शुरू करना चाहिए। बिहार जैसे प्रदेश में राष्ट्रभाषा सिखाने के प्रयास हो रहे हैं, पर वहाँ बेगम सीता, बादशाह राम और मौलाना वाल्मीकि ऐसे शब्द प्रयोग होते हैं और वही बच्चों को सिखाए जाते हैं। अब तक उर्दू को हम हिंदुओं ने ही जीवनदान दिया है, अब हम अपनी वह सहमति हटा लें।

''माधवराव पटवर्धन जैसे विद्वानों ने इन (विदेशी) भाषाओं का कोश निर्माण किया है। उस आधार पर ये शब्द कौन से हैं वह देखकर उन्हें हटा देना चाहिए। कभी माधव ज्यूलियन ने 'इंदुप्रकाश' में लेख लिखकर मेरे विचारों पर टीका की थी। पर बाद में उन्हें भी मेरे विचार जँच गए और उन्होंने भी भाषाशुद्धि का आंदोलन बड़े जोश से चलाया। अब मैं कुछ प्रतिशब्द सुझानेवाला हूँ, आपको चाहिए कि उन्हें आप प्रचारित करें। इसके पहले मैंने जो प्रतिशब्द सुझाए थे वे अब रूढ़ हो गए हैं। 'हुतात्मा' शब्द पहले भाषा में नहीं था। अंग्रेजी में MARTYR शब्द है, वही पहले उपयोग में लाया जाता था। शहीद शब्द भी कुछ लोग प्रयोग में लाते हैं। पर हुतात्मा शब्द उससे कहीं अधिक अर्थपूर्ण है। शहीद का अर्थ है कि

किसी सत्य के लिए मरनेवाला मनुष्य। कोई चोर 'मैं चोरी करूँगा ही' यही सत्य मानकर ,उसके लिए प्राण देकर भी शहीद हो सकता है। परंतु हुतात्मा शब्द में 'सत्कर्म के लिए प्राण यज्ञ करनेवाला व्यक्ति' यही अर्थ अभिप्रेत है। 'तारीख' के लिए 'दिनांक' शब्द बेधड़क उपयोग में लाया जा रहा है। नंबर के लिए क्रमांक शब्द अब काम में लाया जा रहा है। रेल के लिए (आगगाड़ी) रेलगाड़ी शब्द हमारे पूर्वजों ने सहज रूढ़ किया। उन्हें इस गाड़ी में आगे आग दिखी पीछे गाड़ी इसलिए उन्होंने आगगाड़ी शब्द बनाया। एकदम सरल-सीधा शब्द रूढ़ हो गया। (हिंदी का रेलगाड़ी भी ऐसा ही सुंदर, सरल, अर्थवाला शब्द है—संपादक) आगबोट (जहाज) नाम रूढ़ करते समय यदि आगनाव शब्द रूढ़ किया जाता तो अच्छा होता। कैलेंडर के लिए कालदर्श या मितीपट, डायरी के लिए दैनिकी, दैनंदिनी, आन्हीकी ऐसे नाम दिए गए हैं। सर्चलाइट के लिए शोधज्योत, अर्जेंट के लिए त्वर्य शब्द काम में लाया जाए। कंपोजीटर को जुकारी, कॉलम को स्तंभ, स्टांप प्रेस को छपते-छपते, टाइपराइटर के लिए टंकमशीन, लायनो टाईप के लिए पंक्ति टंक, मोनो टाईप के लिए एकटंक, टाइपिस्ट के लिए टंकक, टेलीप्रिंटर के लिए दूरटंक, टेलीफोन के लिए दूरध्वनि, सर्क्युलर के लिए परिपत्रक, पोस्टर के लिए भित्तिपत्रक, स्टुडियो के लिए कलामंदिर जैसे पर्याय काम में लाए जा सकते हैं।

''कायदे कौंसिल के' इलेक्शन को खड़े रहे उम्मीदवार 'मैनिफेस्थे' शब्द प्रयोग करते थे। अब विधि मंडल के उम्मीदवार का घोषणापत्र ऐसा शब्द प्रयोग रूढ़ हो गया है। चुनाव में खड़े व्यक्ति के लिए उम्मीदवार शब्द का प्रयोग भी चूक है। क्योंकि उम्मीदवार का अर्थ जिसकी उम्मीद पक्की है ऐसा तरुण व्यक्ति होता है जबकि निर्वाचन में कभी अस्सी वर्ष का वृद्ध भी खड़ा रहता है। प्लेबी साइट के लिए सार्वमत, वॉर के लिए युद्ध पीस को संधि, आर्मीस्टीक के लिए शस्त्रसंधि, अल्टीमेटम के लिए अंतिमोत्तर शब्द प्रयोग में लाए जाने चाहिए।

''मुझे आपसे एक निवेदन और करना चाहिए। वह निवेदन यह कि हमें अपनी भाषा से (कायदा) कानून शब्द मूल में ही निकाल डालना चाहिए। क्योंकि यह तुर्की शब्द है। अंग्रेजों के यहाँ आने पर 'लॉ' शब्द आया। इस शब्द के कारण अनेक भ्रांतियाँ हो सकती हैं। कल मंगल ग्रह से कोई संवाददाता नीचे उतर आए और उसे वह शब्द सुनने को मिले तो वह दृढ़ता से यह घोषित कर देगा कि इस देश में मुसलमानों का राज आने तक कानून नाम की कोई चीज ही यहाँ नहीं थी। पर यह झूठ है। पहले धर्म शब्द ही कानून के अर्थ में उपयोग में लाया जाता था। अब उसके स्थान पर निर्बंध या विधि शब्द काम में लाएँ। कानून शब्द अपनी भाषा में रहना अपना राष्ट्रीय अपमान है।

''किसी भी भाषा में जो शब्द निर्मित होते हैं वे केवल कोश प्रकाशन से नहीं होते। कोश निर्माण करने का प्रयास स्वागतयोग्य होते हुए भी शब्दों को रूढ़ करने का कार्य लेखक का है। अत: लेखक संकल्प करके शुद्ध शब्द काम में लाए। एक बार चलन में आ जाने पर लोग अपने-आप ही उसका उपयोग करने लगते हैं। इस देश से अंग्रेज और मुसलमान शासकों को जैसे हमने देश से निकाल बाहर किया वैसे ही अंग्रेजी और उर्दू या अन्य विदेशी शब्द अपनी भाषा से निकालकर अपनी भाषा शुद्ध करने की सोच हमें रखनी चाहिए। और इस कार्य में जिसे जैसा हो सके सहयोग करना चाहिए। हमारी राष्ट्रभाषा संस्कृतनिष्ठ हिंदी ही रहेगी—ऐसा आग्रह हमें निरंतर करना चाहिए।''

विश्व को एक लिपि चाहिए तो देवनागरी को स्वीकार करें

क्योंकि देवनागरी लिपि एक शास्त्रशुद्ध लिपि है। विश्व की एक ही लिपि हो—ऐसा प्रयास जो-जो करते हैं वे ध्यान में रखें कि विज्ञान की दृष्टि से यही लिपि शास्त्रशुद्ध होने से यही विश्व की लिपि होनी चाहिए, ऐसी माँग करें। इस कार्य के लिए यह लिपि लिखने की पद्धति में घुसे हुए दोष निकालकर उसे अधिक शास्त्रशुद्ध, शिक्षा सुलभ और मुद्रण सुलभ करने के लिए सावरकर द्वारा अनेक प्रयास निरंतर किए गए, लेख लिखे, भाषण दिए। 'लिपि सुधार का आंदोलन' पुस्तक में इसमें से अनेक लेख एकत्र करके प्रकाशित किए गए हैं। इस संबंध में ११.९.१९५० को सावरकर द्वारा खालसा महाविद्यालय, मुंबई में दिए गए भाषण का सारांश निम्न है—

भाषाशुद्धि विषय पर पौने दो घंटे भाषण करने के बाद लिपि सुधार विषय की ओर आते हुए सावरकर ने कहा, ''हमारी देवनागरी लिपि किसी भी सुधार के लिए अनुकूल लिपि है। पहले जब यंत्र ही नहीं थे और सारा लेखन हाथ से चलता था उस समय की लिपि अब यांत्रिक सुधार की दृष्टि से बननी चाहिए। मुद्रण सुलभता और उसके साथ ही आर्थिक दृष्टि से भी सुधार होना आवश्यक है।''

वर्ण संख्या घटनी चाहिए

इसके बाद उन्होंने, अंग्रेजी टाईप मशीन में कुंजियों की संख्या कम होने से काम तेजी से होता है यह कहते हुए हमारी लिपि में बहुत वर्ण होने से उनको कुंजियों में बदलना कितना कठिन हो गया, इसकी चर्चा की। इसके लिए वर्ण संख्या कम करनी होगी, जिससे छपाई के काम में सफाई और तेजी आएगी।

'अ' की बारहखड़ी

वर्ण कम करने का उपाय सुझाते हुए उन्होंने कहा, ''सबसे पहले 'अ' की बारहखड़ी उपयोग में लाई जानी चाहिए, इससे अ, अी, अु, अू, अे, अै आदि वर्णों का परिवार छोटा हो जाएगा। मैंने १९२४ के बाद से इस दृष्टि से प्रयास किए और 'सह्याद्रि', 'ज्ञानप्रकाश' आदि समाचारपत्रों ने उसपर तत्काल अमल भी किया।

संयुक्ताक्षर फोड़कर लिखें

''संयुक्त अक्षर अलग से लिखने या रखने की आवश्यकता न रहेगी। क्ष के लिए 'क्ष' लिखना सरल है। इससे शास्त्रीय दृष्टि से भी सुधार होगा। या संयुक्ताक्षर से पहले किस वर्ण का उच्चार करें यह भ्रांति बड़ों व बच्चों को न होगी।

''मराठी में पहले टाईप की संख्या पाँच सौ थी। काफी सुधारों के बाद भी यह संख्या अभी ढाई सौ है। मैं कहता हूँ, उस तरह से सुधार करने पर यह संख्या साठ रह सकती है। इससे लिपि सुलभ और सुकर भी होगी। सस्ती और वेग से छपाई होने से छापाखाने का काम सरल होगा। पंक्ति टंकण जैसा सुधार होने पर गंदे टाईप काम में नहीं लाने पड़ेंगे।''

विक्षिप्त संयुक्ताक्षर

मराठी में कुछ विक्षिप्त संयुक्ताक्षर हैं, ऐसा कहते हुए उन्होंने कहा कि ''पहले उन्हें फेंक देना होगा। जैसे ट्ट या ठ्ठ—इनमें एक वर्ण दूसरे के सिर पर बैठा है इसके कारण इसके लिए अलग कुंजी रखनी पड़ती है, पर ये संयुक्ताक्षर ट्‌ट, ठ्‌ठ लिखे जाएँ तो स्वतंत्र कुंजी की आवश्यकता न रहेगी।''

रेफ का प्रश्न

''रेफ ने भी बड़ा घोटाला किया हुआ है। जैसे 'सर्व' शब्द लें। इसमें रेफ 'व' के ऊपर या अंत में है, पर उसे व के पहले पढ़ना पड़ता है। क्रम से पढ़ें तो उसे 'सवर' पढ़ना चाहिए, पर रूढ़ि से उसे सरव ही पढ़ा जाता है। संयुक्ताक्षर पर रेफ आने पर यह घोटाला अधिक ही होता है, जैसे संस्कृत का 'कांर्स्य' शब्द लें। अब इसमें 'र' कहाँ पढ़ा जाए—अंत में, पहले या मध्य में—यह समझ में नहीं आता। अत: यदि उसे अलग-अलग लिखा जाए तो तुरंत ही पढ़ा जा सके।''

काना (खड़ी पाई) युक्त वर्ण

''क, र जैसे वर्ण खड़ी पाई युक्त लिखे जाएँ—ऐसा प्रचार मैं रत्नागिरि से

कर रहा हूँ। मेरी कन्या ने मैं जैसा कहता हूँ वैसा लिखा, इसलिए कक्षा में उसे छड़ी खानी पड़ी। अब वैसी परिस्थिति नहीं रही है। मोरोपंत-तुकाराम के प्राचीन साहित्य में 'र' को 'ॖ' इस तरह लिखा गया है। बाद में वह लुप्त हो गया। इस 'र' ने बहुत घोटाला किया हुआ है। र, ॖ, ह्र, ट्र, र्व, प्र ऐसे अनेक प्रकार से वह लिखा जाता है। मैंने ये सुधार सुझाए, इसलिए लोग उसे सावरकर लिपि कहते हैं; पर मैं उसे शुद्ध लिपि ही कहता रहा। अगली पीढ़ी तक यह सुधार प्रचार में लाना अब आपके हाथ में है।''

अस्पृश्यता का संवैधानिक निर्मूलन-एक बड़ी विजय

ब्राह्मण सभा, गिरगाँव के श्री गणेश उत्सव में दिनांक १८ सितंबर, १९५० को 'अस्पृश्यता पर अंतिम आक्रमण' विषय पर भाषण देते हुए हिंदू समाज सुधारक वीर सावरकर ने कहा, ''अपने भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को अपराध मानने की धारा जोड़ी गई है। मुझे लगता है—यह घटना अशोक स्तंभ जैसे अमर स्मारक में खोदकर रखने लायक है। चार करोड़ अस्पृश्य और पच्चीस करोड़ स्पृश्यों के बीच बनी दीवार टूट गई है। विधित: अब अस्पृश्यता नहीं है। जिस सुधार के लिए हमारे कंठ बोल-बोलकर सूख गए और लिखते-लिखते लेखनी घिस गई वह अस्पृश्यता निवारण का सुधार अब हो गया, यह बहुत आनंद की बात हुई है। हम सारे (हिंदू) अब स्पृश्य हो गए हैं।

इस धारा में अस्पृश्यता में एक विशेषण जोड़ना विधि हित में आवश्यक था। वह यह कि (Untouchability bared on birht) जन्मजात अस्पृश्यता नष्ट की जा रही है—यह कहा जाना आवश्यक था।

इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि मानी हुई अस्पृश्यता निषिद्ध है। वैद्यकीय कारणों के लिए पाली जानेवाली अस्पृश्यता कदाचित् आवश्यक हो। खैर! जन्मत: जातिभेद की हीनता चली गई। जन्मजात जातिभेद पर श्रेष्ठता (कनिष्ठता) विगत हो गई है यह स्पष्ट है। अपने संविधान में अन्यत्र इसका स्पष्ट उल्लेख है।

मैं यह नहीं कहता कि गत तीन-चार वर्षों में घटित सारी ही बातें बुरी हैं। गत दो-तीन पीढ़ियों ने जो काम किए उसमें पचहत्तर प्रतिशत सफलता हमको मिली है। इसे हम समझ लें। मैं प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ कि हमने बहुत प्राप्त किया है। अत: उदासीन रहने की आवश्यकता नहीं। जो पूँजी मिली है उसपर ही अगला व्यवसाय करें। इन सारी उपलब्धियों में जातिभेद को मिटा देना बड़ी विजय है।

अर्थात् गुणात्मक भेद समाज में रहेंगे ही, क्योंकि कुछ जन्मत: बुद्धिमान् आदमी रहते हैं तो कुछ बेचारे बुद्धिहीन होते हैं। जन्म से प्राप्त गुण सूर्य-प्रकाश

जैसे होते हैं। पर अब जो जातिभेद समाप्त हो गया। भारतीय नागरिक विधि से एक है। यह विधिक समता हमने प्राप्त कर ली है। इतने दिन तक हममें मूर्खों जैसे भेद थे। हम यह मानते थे कि किसी एक जाति में जन्म लिया माने उस जाति के गुण उसमें आ ही जाएँगे। दाभड़े नामक एक हिंदू सेनापति थे। वे निस्संतान मर गए, इसके कारण उनके नन्हे दत्तक पुत्र को घोड़े से बाँधकर उसे हिंदू राष्ट्र का सेनापति पद दिए जाने का उदाहरण हमारे इतिहास में है। यह सेनापतित्व जन्मजात था, गुण-आधारित नहीं। अब ऐसा नहीं होगा। अब इसके आगे पात्रता का विचार किया जाएगा।''

स्पृश्यों द्वारा किया गया कार्य

''यह कार्य किसने किया? मुझे इसकी खुशी है कि अंग्रेजों के राज्य में यह मानी हुई अस्पृश्यता नहीं गई। वह अपने राज्य में विदा की गई। इसमें स्पृश्यों के विवेक-बुद्धि का गौरव है। स्पृश्यों को ही अस्पृश्यता की कल्पना असहनीय हो गई इसलिए स्वयं आगे बढ़कर उस दूषित रूढ़ि को नष्ट किया। संविधान सभा के अधिकतम स्पृश्य सदस्यों ने उसे मान्यता दी। अस्पृश्यों के विद्रोह के कारण यह नहीं हुआ; तो शरीर का जो भी भाग रोगी हो गया है उसे काटकर फेंक देना ही उस शरीर के लाभ का होता है, यह जानकर हमने उस अहंकार का त्याग किया यह अधिक गौरवास्पद है। जो समाज ऐसे सुधार समय-समय पर कर सकता है, वही समाज जीवंत कहा जाएगा। समाज जिलाना सनातन धर्म है। उसे जो रोग हो गया उसे सनातन करना धर्म नहीं है। मेरी दृष्टि से यह भी एक त्याग ही है। अनेक हुतात्मा अपने राष्ट्र के लिए बलिदान हुए। उनका बलिदान जितना महत्त्व का था उतना ही वर्ण अहंकार का त्याग भी महत्त्व का है। हमने वह किया है। राष्ट्र की प्रगति के बीच आया पत्थर हमने रास्ते से हटाया है। मानव की दृष्टि से होनेवाला पाप स्वयं होकर धोया है।

''अस्पृश्यता कहाँ से आई? यह प्रश्न अब बेमानी है। वह कोई षड्यंत्र नहीं था। कदाचित् उस समय वह उपयोगी लगा होगा। प्राचीन वाङ्मय में दोनों तरह के लेख हैं। पर राष्ट्ररक्षण सनातन धर्म होने से हमने इसे अलग तरह से सुलझाया है।

हमने यह किस बल पर किया? इसके लिए सबका नैतिक समर्थन था। हिंदू राष्ट्र के अंतरमन में मन:परिवर्तन हो गया था। देश के सारे राजनीतिक या अखिल भारतीय स्तर की संस्थाओं ने इसके लिए प्रयास किए। उसमें कांग्रेस, हिंदूसभा, प्रार्थना समाज, रा.स्व. संघ, आर्य समाज, समाजवादी, कम्युनिस्ट सब सहभागी हुए

थे। प्रबुद्ध एवं मुखर समाज इस घोषणा को मान्यता देनेवाला था। केवल लोकसभा के प्रतिनिधियों ने ही नहीं अपितु करोड़ों देशबंधुओं ने इसको मान्यता देकर अपने पूर्वकृत पापों का प्रायश्चित्त किया है। कारण, जातिभेद ऐतिहासिक परिस्थिति का विपाक है।''

अस्पृश्यों का भी पाप धुल गया

अस्पृश्य बंधुओं ने इस पाप का प्रायश्चित्त कर लिया। अस्पृश्य लोगों ने एक-दूसरे पर ऊँच-नीच भेद पर आधारित अस्पृश्यता लादी थी। इसलिए अस्पृश्य भी पाप के भागीदार हैं। त्रावणकोर में जब श्री रामस्वामी सचिवोत्तम थे तब उन्होंने अर्थात् दस वर्ष पूर्व ही अस्पृश्यों के लिए मंदिर खोल दिए थे। तब एझुआ नामक स्वयं को उच्च जाति के अस्पृश्य माननेवालों ने हमें ही केवल प्रवेश दिया जाए, अन्य चेणुरादि हीन अस्पृश्य लोगों को मंदिर प्रवेश न दिया जाए—यह माँग की थी। यह अस्पृश्यों के ऊँच-नीच भेद का अनुपम उदाहरण है।

डॉ. अंबेडकर का सम्मान

संविधान सभा का और संविधान निर्माण करने का काम स्वयं महार जाति में जनमे एक विधि पंडित ने किया। यह कितना अच्छा संजोग है! सड़ा हुआ कहे जानेवाले समाज ने यह कार्य अपनी खुशी से किया, इसी से यह सिद्ध होता है कि उचित समय पर समाज का कायाकल्प करने का कार्य इस समाज ने समय-समय पर धैर्य से किया है। स्मृतियों में जो अलग-अलग आदेश मिलते हैं इसका कारण भी परिवर्तन की लालसा ही है। 'मनुस्मृति' ने शौरसेन—आर्य सेना का आधिपत्य करने की व्यवस्था दी थी। फिर भी मराठों ने और अनेक ने यह व्यवस्था बदल दी। कलिवर्ज, आपद्धर्म जैसे विधि संकेत का निर्माण कर अविरोध से राष्ट्र का रक्षण किया। हमने हिंदू रहते हुए अस्पृश्यता से मुक्ति पाई है। अब धर्मांतरण चाहनेवाले लोगों से डरने की कोई जरूरत नहीं है। उन्हें सुख से जाने दो। शुद्धि का दरवाजा उनके लिए हमेशा खुला है। मिशनरी और मुसलमान दोनों हमारे जातिभेद की ओर अंगुली दिखाते थे। अब वे वैसा नहीं कर पाएँगे।

अब फिर क्या रहा? बहुत सा काम हो चुका है। केवल व्यक्तिगत जीवन में यह घोषणा आत्मसात् होनी है और यह बिना धन और समय के भी की जा सकती है। उसके लिए 'मैं अस्पृश्यता नष्ट करूँगा और अन्यों से भी कराऊँगा' ऐसी प्रतिज्ञा सबको करनी चाहिए। स्वयं अस्पृश्यता नहीं मानूँगा, स्वयं के परिवार में नहीं मानूँगा ऐसा तय करना चाहिए। इसके लिए मन परिवर्तन होना चाहिए। यह गंदगी निकाल

देने के लिए सब लोगों को प्रयास करने चाहिए। रूढ़ियाँ शेष हैं। उनका विनाश होना चाहिए। सरकार को चाहिए कि वह इसके लिए स्वतंत्र विभाग खोलकर स्पृश्य एवं अस्पृश्यों के संबंध सुधार के लिए प्रयास करे। सारे प्रदेशों में यह होना चाहिए। समस्त अखिल भारतीय संस्थाओं को चाहिए कि वे अपनी शाखाओं के माध्यम से यह कार्य करें।

यह दस वर्ष में हो जाना चाहिए। क्योंकि हमारे संविधान ने इन लोगों को विशिष्टाधिकार दिए हैं। उसे चालू रखने का प्रयास होगा। इसलिए दस वर्ष में यह कार्य हो जाना चाहिए। वह नहीं हुआ तो जाति का अहंकार बना रहेगा।

अस्पृश्यता निवारण का शेष कार्य पूर्ण करें

कुछ दिनों पूर्व मैंने ब्राह्मण सभा में 'अस्पृश्यता पर अंतिम आक्रमण' विषय पर व्याख्यान दिया था। उस व्याख्यान में जो उपस्थित नहीं थे उन्होंने उस व्याख्यान का प्रतिवृत्त पढ़ा ही होगा। उसी व्याख्यान का उत्तरार्ध आज मैं यहाँ कहनेवाला हूँ। संसद् ने अब अस्पृश्यता को दंडनीय और निषिद्ध माना है। अब अस्पृश्यता मानना एक अपराध माना जाएगा। विधित: अब अस्पृश्यता का कोई अस्तित्व नहीं है। पर व्यवहार में से अस्पृश्यता अभी पूरी तरह समाप्त नहीं हुई है। उसे नष्ट करने का कार्य अब हमें पूरा करना है।

अभी कुछ दिनों तक अस्पृश्यों को पूर्वास्पृश्य कहकर पहचानना पड़ेगा। वास्तव में ऐसा कहना कोई अच्छी बात नहीं है, पर यह वास्तविकता है, अत: कुछ किया नहीं जा सकता। हमने अस्पृश्यता को हटाकर एक रक्तहीन सामाजिक क्रांति की है। अस्पृश्यता पहले हममें थी। पर आज हमने उसे निकाल बाहर कर दिया है। यह सामाजिक क्रांति अन्य देशों की ओर देखें तो बहुत बड़ी है। उसके लिए गृहयुद्ध नहीं हुआ। रक्त भी नहीं बहा। अमेरिका जैसे प्रगतिशील राष्ट्र में गुलामी प्रथा समाप्त करने के लिए गृहयुद्ध हुआ। उत्तर अमेरिका को दक्षिण अमेरिका के विरुद्ध शस्त्र हाथ में लेना पड़ा। परंतु उत्तर अमेरिका को मिली विजय उनके पास शस्त्रास्त्र अधिक थे इसलिए प्राप्त हुई। दक्षिण अमेरिका के नीग्रो लोगों के मन पर वे उस समय विजय प्राप्त नहीं कर सके थे।

अस्पृश्यों ने विद्रोह नहीं किया था

अस्पृश्यता की रूढ़ि अब तक हममें थी। बच्चों पर बचपन से उस संबंध के संस्कार होते थे मानो उनके रक्त में ही वे संस्कार घुल-मिल जाते थे और वैसा होते हुए भी हमने वे संस्कार अब नष्ट किए हैं। यह रूढ़ि नष्ट करने के लिए अस्पृश्यों

ने सेना बनाकर हमपर आक्रमण किया हो ऐसा भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी संसद् ने एक दिन अस्पृश्यता का हिंदू धर्म पर लगा हुआ यह कलंक पोंछ डाला और हजारों समाज सुधारकों की तपस्या का, संतों के आशीर्वाद का और महात्माओं के प्रयासों का फल हमें मिला। अस्पृश्यता के जाने के विरोध में किसी ने आवाज नहीं उठाई। इसके आगे भी कोई वैसी आवाज उठाएगा ऐसा नहीं लगता, पर वैसी आवाज कोई नहीं उठाए इसके लिए हमें प्रयास करना चाहिए। अस्पृश्यता की यह बुराई अब हमने भगा दी है।

विधित: अस्पृश्यता मरी होते हुए भी वह हर व्यक्ति के मन:क्षेत्र से भी हमेशा के लिए दूर हो जानी चाहिए। कोई दुष्ट मनुष्य मर जाए और उसके दस दिन यदि ढंग से नहीं किए, उसका शव विधिपूर्वक जलाया या गाड़ा नहीं गया तो वह भूत बनकर छाती पर बैठता है। उसी तरह भारतीय संविधान से अस्पृश्यता निकाल देने के बाद भी अस्पृश्यों को अपनी उन्नति कर लेने के लिए आरक्षण के कुछ अधिकार मिले हुए हैं और वे उचित भी हैं। परंतु ये आरक्षण के अधिकार आगे कुछ वर्षों के लिए बढ़ा लेने का लालच अस्पृश्यों को न हो, ऐसा व्यवहार हमें करना चाहिए। अत: संविधान के ये दस वर्ष दस दिन मानकर हम क्रिया यथामाँग करें।

अस्पृश्य आज पिछड़े हैं, उन्हें ऊपर उठाना है। उन्हें शिक्षा और अन्य सुविधाएँ मिल भी जाएँ तो उसका विरोध करने का कोई कारण नहीं। पर उन्हें जो सुविधाएँ देनी हैं वे एक विशिष्ट जाति का होने के कारण न दी जाएँ। महार जाति के लड़के को वह महार जाति का है इसलिए सुविधा नहीं मिलनी चाहिए। वह महार का लड़का गरीब है इसलिए सुविधा मिलनी चाहिए। अस्पृश्यों में कोई बुद्धिमान् है तो उसे अधिकार देने में आपत्ति नहीं। पर वह अस्पृश्य है इसलिए उसे अधिकार दिया जाए ऐसा न होना चाहिए। क्योंकि ऐसा हुआ तो अस्पृश्यों के अपने अधिकार दस वर्षों की अवधि समाप्त होने के बाद भी बने रहें ऐसी इच्छा होगी और हमारा कार्य बीच में ही रुक जाएगा। संविधान की एक धारा से अस्पृश्यता का समूल नाश किया गया है, पर दूसरी एक धारा द्वारा दस वर्ष के बाद राष्ट्रपति एक आयोग नियुक्त कर जाँच करवाए और उस आयोग की सिफारिश पर आरक्षण के अधिकार वापस ले, ऐसी व्यवस्था की गई है। यह आयोग दस वर्ष बाद आरक्षण के सारे अधिकार वापस लेने की सिफारिश करे—हमें ऐसे प्रयास करने चाहिए।

मरी माता के मंदिर में भंगी को भी जाना चाहिए

अस्पृश्यता केवल स्पृश्य और अस्पृश्यों के ही बीच सीमित है यह नहीं माना जाना चाहिए। अस्पृश्यों में भी अस्पृश्य हैं। स्पृश्य मानव के राम मंदिर में

अस्पृश्य घुस जाए तो उसे लाठियों से मारा जाता है। वही स्थिति अस्पृश्य महारों के मरी माता के मंदिर में भंगी जाए तो हो सकता है। अस्पृश्यों के बिलकुल निचले स्तर की मानी गई जाति में भी लोगों को पूछा जाए तो वे बताते हैं कि उनसे भी निम्न जातियाँ हैं। उनमें स्थित इस जातीयता का अंत होना चाहिए और सारे हिंदुओं को किसी भी तरह के भेदभाव को न मानते हुए अपना काम करना चाहिए। यह करने के लिए पैसा लगनेवाला नहीं है। इसमें तो केवल मन की उदारता की ही आवश्यकता है और उतना दिखाकर इस राष्ट्रीय पाप का परिमार्जन हमें पूर्णता से करना चाहिए। अस्पृश्यता आज समाप्त हो गई है इसका अर्थ स्वर्ग की गंगा पृथ्वी पर अवतरित हुई है इतना ही लिया जाना चाहिए। इस गंगा को समुद्र में जाकर मिलाने का, उसकी महत्ता घटाने का, उसके पानी को जन कल्याण के लिए उपयोग में लाने का काम करनेवाले भगीरथों की आज जरूरत है। उसके लिए सबको प्रयास करना चाहिए।

कुछ लोग प्रश्न करते हैं अब अस्पृश्यता है कहाँ? उन्हें मुझे कुछ बातें कहनी हैं। पहले के जमाने में किसी भी बात को सच मानने का आधार पोथी हुआ करती थी। आज समाचारपत्रों की बातें हम सौ टका सही मानते हैं। समाचारपत्रों के समाचार सौ प्रतिशत सच ही होते हैं यह मैं नहीं मानता। पर वे सब झूठ होते हैं ऐसा भी नहीं है। कुछ समाचारपत्रों की कतरनें अब मैं पढ़कर सुनाता हूँ। इन कतरनों में दी गई सारी बातें सच हैं या झूठ हैं इसका साक्ष्य मैं नहीं दे सकता। पर फिर भी उन्हें झूठ मानने का कोई कारण नहीं है। एक गाँव में हरिजनों को पानी भरने से रोका गया। अस्पृश्य पर बैल चुराने का आरोप लादा गया और आप गाँव छोड़ें, नहीं तो खून किया जाएगा ऐसा भी कहा गया। ऐसा एक समाचार है। उसमें कहे अनुसार स्पृश्य ही केवल अपराधी हैं यह मैं नहीं मानूँगा। पर अपराधी कौन है इसकी जाँच होनी चाहिए। महारों की बस्ती में डाकिया नहीं जाता था। अस्पृश्यों को मनीऑर्डर, पत्र आदि मिलना कठिन था। ऐसी कितनी ही घटनाएँ होती थीं। गाँव में कहीं चोरी हुई, किसी घर को आग लगी तो जैसा समाचार बनता है उसी तरह अस्पृश्यों पर कहीं भी अत्याचार होने की बात ज्ञात होते ही उसका समाचार सरकार को दिया जाना चाहिए। अन्याय हुआ हो तो दूर होना चाहिए। यह कार्य करते हुए मैं कांग्रेसवाला हूँ, मैं हिंदू महासभावाला हूँ, मैं समाजवादी हूँ इस तरह भेदाभेद कोई भी मन में न लाए। अपनी जेब के पैसे का जैसे हम जतन करते हैं उसी तरह अस्पृश्यों पर कहीं भी अन्याय हो रहा है क्या? यह हम देखें। अस्पृश्य बंधु भी अस्पृश्यों पर ही अन्याय तो नहीं कर रहे हैं यह भी देखना चाहिए।

हमारा राष्ट्र अब स्वतंत्र हो गया है। यह स्वतंत्रता प्राप्त करने हेतु हजारों

वीरों का रक्त बहा है। स्वतंत्रता प्राप्त करना जितना कठिन था उससे कहीं अधिक उसकी सुरक्षा करना कठिन है। इस नवोदित स्वतंत्रता की सुरक्षा हर व्यक्ति करे। अंग्रेजों का राज्य यहाँ से समाप्त हो गया है। हमारे राष्ट्र पर आई एक महान् आपत्ति दूर हुई है और यह बात ध्यान में न लाते हुए हम अपने पर आनेवाले छुटपुट संकटों का हौवा कर रहे हैं इसका मुझे बड़ा आश्चर्य लगता है। आप जैसे युवा रक्त के लोग काम की अपार भीड़ लगी होने पर भी आलस में पड़े रहते हैं, निराश हो रहे हैं, आ रहे संकटों के वर्णन करने उसपर लेख लिखने में और किसी-न-किसी पर उसका दोष लादने में आपका सारा उत्साह व्यय किस कारण हो? चंद्रगुप्त मौर्य का आधिपत्य भारत में प्रस्थापित होने पर तरुण वर्ग को जो सुअवसर प्राप्त हुआ था वही आज के तरुणों को भी हुतात्माओं के बलिदान से और उनके भाग्य से प्राप्त हुआ है, उन्हें इसका उपयोग कर लेना चाहिए।

हिंदू धर्म न मरा है, न मरेगा

भारत की स्वतंत्रता किसी भी पार्टी के कारण प्राप्त हुई हो, इस देश के अस्सी प्रतिशत लोगों के हिंदू होने से बहुसंख्य हिंदुओं ने ही यह स्वतंत्रता प्राप्त की है—यह मैं मानता हूँ। हिंदू धर्म मरणासन्न है, यह किसी को समझने की जरूरत नहीं है। अब तक वह नहीं मरा—आगे भी उसे हम मरने नहीं देंगे। कुछ लोग धर्मांतरण करने की बात करते हैं। जिन्हें हिंदू धर्म से धर्मांतरण कर जाना है वे आनंद से जाएँ। हम उनका रास्ता नहीं रोकेंगे या जैसा अन्य धर्म करते हैं वैसे हम उनकी खुशामद भी नहीं करेंगे—या उन्हें धन का लालच भी नहीं दिखाएँगे। जिन्हें पैसा या अन्य कुछ चाहिए वे आनंद से इस धर्म को छोड़कर चलते बनें। इनके जाने से हिंदूधर्म मरनेवाला नहीं। उसकी विशेषताएँ वैसी ही बनी रहेंगी। आज तक शक गए, हूण गए, ग्रीक गए, पर हिंदू शेष रहे हैं। क्योंकि जैसी परिस्थिति आई उसके अनुरूप वे बदलते गए। अपने विचार और आचार वे बदलते रहे। सैकड़ों वर्षों की रूढ़ि के बंधन भी उन्होंने अनेक बार तोड़े हैं। कभी हिंदुओं को अस्पृश्यता की रूढ़ि उचित लगी होगी या अस्पृश्यता निर्माण करने में उन्होंने भूल भी की होगी, पर वह भूल अब हमने ठीक कर दी है। सूर्य और पृथ्वी का जैसे एक आकर्षण होता है वैसा ही आकर्षण हिंदू धर्म के लिए अनेक को लगता है। हिंदू के नाम के संबंध में किसी के मन में कैसी भी शंका उत्पन्न हो, कोई हिंदुत्व को माने या न माने, पाकिस्तान के लाखों निर्वासित, ब्रह्मदेश, चीन और इंग्लैंड में न जाते हुए भारत में ही आए। वे हिंदू नाम के कारण ही, उस धर्म के प्रेम के कारण ही—इसे कोई भी नकार नहीं सकता।

सारांश यह है कि तरुण भारतवासी आलस त्यागकर, विफलता की भावना

छोड़कर काम में लगें और अस्पृश्यता के सूतक के दस दिन यथाविधि कर इस राष्ट्रीय पाप का संपूर्ण क्षालन करें।

वेदामृत सबको पीने दो, मिशनरी लोगों का प्रचार बंद करो

पुणे के नारद मंदिर में दिनांक ११.१२.१९४३ के दिन हिंदू संगठक सावरकर ने जो भाषण दिया, उसका महत्त्वपूर्ण अंश—

कथावाचकों को समाज में हमेशा ही बड़ा सम्मान दिया जाता है। यह कथावाचकों की संस्था धर्म के मूल की रक्षा करे। केवल शाखा या पत्तियों की ऊपर-ऊपर से सुरक्षा करने से बात नहीं बनेगी। आज ईसाई मिशनरियों का हमारे धर्म पर खुला आक्रमण है। कथावाचकों को चाहिए कि गाँव-गाँव में जाकर ईसाई मिशनरियों के हथकंडों को रोकें। धर्मांतरण के पीछे-पीछे राष्ट्रांतरण होता है यह बात पाकिस्तान के निर्माण से सिद्ध हो गई है। राजनीति के लोग इन ईसाई मिशनरियों की उचित व्यवस्था करेंगे ही, परंतु पहले कथावाचक यह काम हाथ में लें। इस कार्य के लिए समाज में उनकी जो प्रतिष्ठा है उसका उपयोग करें। शंकराचार्यों को भी चाहिए कि वे जाग्रत् होकर मिशनरियों के विरुद्ध आंदोलन खड़ा कर उनका कार्य बंद करवाएँ।

मैं यहाँ आया तब ब्रह्मवृंदों ने पवित्र वेदघोष से प्रार्थना की। उसे सुनकर मैं आनंदित हुआ। इस प्रार्थना में अपना राष्ट्रगीत समाया हुआ है। मैं कोई कर्मठ वैदिक नहीं हूँ; तथापि पाँच हजार वर्षों से हम वेद विद्या का अध्ययन करते आ रहे हैं। वही स्वर, वही शब्द, वही ध्वनि अभी भी स्थिर है। अब यह अमृत कलश हम सब में वितरित कर देने का समय आ गया है। वेद शुद्ध रहें इसलिए किसी समय कुछ लोगों को वेद विद्या का ज्ञान लेने पर रोक लगाई गई होगी, पर वह समय अब नहीं रहा। यह अमृत अब सबको बाँट देने का समय आ गया है ऐसा मुझे लगता है। हम उदारता से यह विद्या राष्ट्र को सौंप दें और उसका आनंद सबको प्रसन्नता से लेने दें। वेदमंत्रों में जो ओजस्विता है, उसमें जो गंभीर अर्थ है वह ज्ञात होने पर वेद विद्या जीवित रखनी या नहीं, यह प्रश्न ही उद्भूत होता नहीं। वेद विद्या का मर जाना हिंदुत्व का मर जाना है। वेद विद्या विश्व की सब बातों का मूल है। बड़ का वृक्ष छोटा होता है फिर भी वृक्ष प्रचंड होता है। उसी तरह वेदों में औद्योगिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक संक्षेप में संपूर्ण जीवन के (दि होल लाइफ ॲबसच) तत्त्वज्ञान है।

जो मंत्र कहे गए हैं वे राष्ट्रीय गीत हैं। आर्यों के प्रथम राष्ट्रगीत वे ही हैं। लाखों वर्ष पहले उषाकाल में वे रचे गए। उसी पर राष्ट्र का निर्माण हुआ। उन गीतों

को लिखनेवाला एक महान् उद्गाता था। वास्तविक कवि था। आज का कवि अधिकतम पंद्रह-बीस वर्ष जाना जाता है। कोई कालिदास दो हजार वर्ष रहता है। उस हिसाब से इन मंत्रों का जीवन देखकर मैं चकित हो जाता हूँ। पर उनकी निरंतरता का कारण उसमें स्र्वव्यापी जीवनधारा का होना है। जीवनधारा का यह अमृत अब तक बंद था, उसे अब राष्ट्र को सौंप दिया जाना चाहिए। वेद शुद्ध रहें इसके लिए उन्हें ब्राह्मणों को सौंपा गया था। अब जो भी परीक्षा में खरा उतरे उसे वह अमृत दिया जाए। वह पूर्वजों का ज्ञान सबके लिए खुला किया जाए। बाद के कथावाचकों को देखें। डॉ. पटवर्धन, श्री दांडेकर, तांबे शास्त्री ऐसे सारे ख्यात कथावाचक अभिनव भारत के शपथबद्ध सदस्य थे। उन कथावाचकों ने क्रांति की परंपरा का रक्षण किया। समाज में आज भी व्याख्यानों की तुलना में, मुझसे भी अधिक, कथावाचकों का समाज में अधिक आदर-सम्मान है। उसका लाभ लेकर समाज में स्फूर्ति उत्पन्न करें।

इसके सिवाय भी धर्मरक्षण आपका कर्तव्य है। पर धर्म की केवल कीर्ति गाकर वह पूरा नहीं होगा। पराक्रम करने से होगा। वसई का उदाहरण अगर लें तो वहाँ दूसरा त्रावणकोर बनेगा, यह आशंका है। जहाँ-जहाँ मिशनरी होंगे, वहाँ-वहाँ कथावाचक जाए और धर्म पढ़ाए। चिमाजी अप्पा ने लड़कर वसई वापस ले ली। (यह पेशवा काल का संदर्भ है। चिमाजी अप्पा—पेशवा वंशी थे) पर ये मिशनरी बिना लड़े ही उसे (वसई को) फिर से हड़पना चाहते हैं। आज भारत में चार शंकराचार्य हैं। पर मिशनरी यदि अकाल में अन्न-छत्र चला रहे हैं तो किसी भी शंकराचार्य ने यही कार्य क्यों नहीं किया? कुछ संतों ने (अवश्य) ऐसा गौरवपूर्ण कार्य किया है। शंकराचार्य और अन्य संतों ने अब तक पेट भरे हैं। अब उन्हें धर्म रक्षण के लिए आगे आने का उनका कर्तव्य है।

अन्य संतों ने जैसे प्रत्यक्ष कार्य करते हुए उपदेश किया, वैसा ही आप करें। अब एक पीठ के शंकराचार्य यहाँ हैं। उनके लिए आदर और पूजनीय भाव रखते हुए भी उन्होंने कर्तव्य नहीं किया, ऐसा हमें कहना पड़ता है।

पादरीस्तान को जड़मूल से खोद डालो, यह नई पूर्व सूचना अच्छी तरह सुनो

(रामबाग, पुणे में दिनांक १२.१२.१९५३ के दिन धर्मांतरण माने राष्ट्रांतरण—इस अपने नए सूत्र का स्पष्टीकरण करनेवाले हिंदू संगठक वीर सावरकर का अत्यंत प्रभावी भाषण हुआ—उसका महत्त्वपूर्ण अंश नीचे दिया जा रहा है।)

आज पुणेवासी जनता का दर्शन कर सका इसके लिए मैं धन्यता मान रहा

हूँ। जिस-जिस गाँव, जिस-जिस नगर में अब जाता हूँ—वहाँ-वहाँ मेरी वह अंतिम भेंट है ऐसा मुझे लगता है। जिनके साथ-संगत में मेरे इस जीवन की शिक्षा से लेकर आज तक के अधिकतम वर्ष गुजरे उस ऐतिहासिक पुणे क्षेत्र के नागरिकों से फिर से भेंट होगी या नहीं, कहा नहीं जा सकता। मुझे जो कुछ कहना है वह मैंने अभिनव भारत के समय मैंने कहा हुआ है।

सशस्त्र क्रांतिकारियों के नाम छोड़कर इतिहास लिखना कृतघ्नता है यह दिखाने के लिए ही अभिनव भारत की डुगडुगी पीटनी पड़ी। यह अब निश्चित हो गया है कि सशस्त्र क्रांति का पर्व छोड़ा नहीं जा सकता है।

सशस्त्र क्रांति की तरह ही निशस्त्र क्रांति का ऋण मैं स्वीकार करता हूँ। अपनी ओर से मैं न्याय का व्यवहार करता हूँ। सन् १९२० के बाद ही राजनीतिक जागृति आई—ऐसा कहने की कृतघ्नता जिसे करनी है वह खुशी से करे।

तालियाँ दीं, मत नहीं दिए

पाकिस्तान बनने की भविष्यवाणी दुर्भाग्य से सच हुई। ऐसा कहते हुए स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने कहा, "भारत के मुसलमानों ने पाकिस्तान को पूरी मान्यता दी। उन्हें एक तिनके भर की सुविधा नहीं दी जाए ऐसा मैं कहता रहा। कश्मीर के हिमशिखर से, असम के वन प्रदेशों के घरों के छपरों पर चढ़-चढ़कर हिंदू समाज को संकेत देते-देते हमारे रक्त का पानी बन गया।

हमारे व्याख्यानों को आपने तालियाँ दीं, पर हमें मत नहीं दिए। और इसीलिए आपने विभाजन का संकट मोल ले लिया। हमारे संकेत ग्रंथाकार प्रकाशित हुए हैं। उसमें का हर वाक्य सच साबित हुआ है। और कांग्रेस के नेताओं के और हिंदू द्रोही नेताओं के हर वाक्य झूठ निकले हैं। गौरव से नहीं अपितु मैं अति दुःख से यह बात कह रहा हूँ। सिंध के बँटवारे से मैं संकेत देता रहा। उस समय 'हमारा सिंध', 'हमारे मुसलमान भाई' कहनेवाले सिंधी आज गाँव-गाँव धक्के खाते फिर रहे हैं। कहाँ है वह सिंध और कहाँ हैं वे भाई? धर्मच्युत मुसलमान भाई?

महाराष्ट्र और सिंध ऐसा भेद तब भी हमने नहीं माना था और आज भी नहीं मान रहे हैं। धर्म के नाते (लिए) यहाँ आए अपने बंधुओं का हम स्वागत करते हैं, पर समय पर बात सुनी होती तो? यह प्रश्न अवश्य सामने आता है।

आप लोगों के सामने भाषण करते-करते हम थक गए। आस-पड़ोस की टेकरियाँ उससे झरने लग सकती हैं, पर मनुष्य नहीं। यह सब मैं क्यों कह रहा हूँ, क्योंकि अभी एक चेतावनी मुझे देनी है। सत्तर-अस्सी-पचासी आयु की यह पीढ़ी है जिसने देश के लिए दुःख सहे। उनके अनुभव के बोल यदि आप सुनें तो भी

बहुत कल्याण हो जाएगा। हम अब चले। हमारा इस भूमि से कितना संबंध बच रहा है कौन कहे? हमारा संबंध प्रदेश से नहीं, गाँवों से नहीं, एकड़ों से नहीं है। आयु-काल रास्ते पर चल रहा है। छह-साढ़े छह फीट भूमि हमें लगेगी। इतना ही हमारा संबंध। आज यह बात मैं युवा पीढ़ी को सावधान करने के लिए कर रहा हूँ।

शत्रु टूट पड़े तो वह एक ओर से ही आएगा ऐसा नहीं है। दसों दिशाओं की ओर संग्राम करना पड़ता है। 'जो है उसको राखो और आगे प्राप्त करो' यह शिवाजी-रामदास का कहना था। उस आदर्श को सम्मुख रख हमें सतर्कता रखनी चाहिए। ऐसे ही एक क्षेत्र की जानकारी मैं दे रहा हूँ। इस क्षेत्र में गोवा-पांडिचेरी जैसी बस्तियों में और देश के विभिन्न स्थानों पर रहनेवाले ईसाई धर्मप्रचारक संगठन भारत विरोधी शत्रु जैसे बलवान् हो रहे हैं। भारत के भविष्य में यह महान् संकट बढ़ रहा है। ये प्लेग के कीड़े हैं इस तरह के संकेतों का अभिलेखीय साक्ष्य सन् '३७ के मेरे भाषणों में मिलेंगे। समय पर सावधान न रहे तो ये कीड़े इसके आगे बलवान् होंगे। नागों की सभा में पंडित नेहरू के व्यक्तिगत अपमान के कारण ही सही, पर विदेशी मिशनरियों के कार्य की घातकता ध्यान में आ गई। अधर्मी व्यक्तियों को भी फिर धर्म का विचार करना पड़ा, यह सुखकर बात है।

जब-जब धर्मांतरण होता है तब-तब वह राष्ट्रांतरण ही होता है—इस एक सिद्धांत हो हर राष्ट्रहितरत देशभक्त अवश्य गाँठ बाँध ले। जिस धर्म को हम तुच्छ मानते हैं उस धर्म से राष्ट्रीय परंपरा बँधी रहती है इसको हम हमेशा ध्यान रखें। धर्म का विश्वास नष्ट होते ही राम, कृष्ण, भरत, शिवाजी आदि की परंपरा से संबंध टूटता है। धर्मांतरण करने का अर्थ है मेरे जो पूर्वज थे वे मेरे पूर्वज ही नहीं ऐसा कहना। धर्मांतरण के कारण राष्ट्रीय इतिहास, राष्ट्रीय आचार बदल जाते हैं। यह परिवर्तन ही खुला राष्ट्रांतरण है। आज का हिंदू जिन्ना कल के पाकिस्तान का निर्माता होता है और कुछ ही दिन पूर्व के हमारे अपने नागा—ईसाई हो जाने के बाद ख्रिस्तीस्तान की माँग करने लगते हैं। ईसाई बहुसंख्य होते ही त्रावणकोर में हिंदू मंदिरों का विध्वंस शुरू हो जाता है। ये सारे राष्ट्रांतरण कराने की प्रवृत्ति के बहुत खुले उदाहरण हैं। पाकिस्तान के बाद पादरीस्तान की माँग उठना भारत पर आया बहुत बड़ा संकट है। आनेवाले पाँच वर्षों में अन्य कोई भी कार्यक्रम हाथ में न लेकर सामुदायिक बहिष्कार, प्रचार, सेवा, अस्पृश्यता निवारण आदि अन्य अनेक उपायों से इस संकट को टालने को ही हम अपना प्रधान कर्तव्य समझें।

सन् १९४१ की जनगणना का बहिष्कार करने का आदेश कांग्रेस ने दिया। उसका वह आदेश कुछ हिंदुओं ने नहीं माना। इस कारण इस जनगणना में हिंदुओं की गणना पूरी नहीं हो पाई। इसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल-पंजाब में हिंदू

अल्पसंख्य हो गए। वनवासी लोगों को हिंदुओं से अलग करने के लिए मिशनरियों ने आदिवासी शब्द रूढ़ किया। हमें चाहिए कि हम वह शब्द काम में न लाएँ और वन्यसमूह, वनवासी—संविधान में प्रयुक्त ये शब्द ही काम में लाएँ। और वे वनवासी हिंदू हैं यह भी जान-बूझकर कहें। उनमें भी वैसी जागृति उत्पन्न करें। वे वनवासी ईसाई हो गए तो उनका इस राष्ट्र के लिए स्नेह भी घट जाएगा, वे भी पादरीस्तान की माँग करने लगेंगे।

धर्म-स्वतंत्रता को भी मर्यादा चाहिए

कार्डिनल ग्रेस का राज्यपाल द्वारा सम्मान किया गया। उन्होंने पंडित नेहरू से कहा था, 'मिशनरियों का कार्य केवल भूत-दयावादी नहीं है।' धर्मप्रचार उनका अविभाज्य कार्य है। मद्रास के आर्क बिशप ने अमेरिकन मिशनरियों की प्रशंसा की। पर दोनों ने ही इसके लिए भारतीय संविधान का आधार भी लिया। स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने इस सबकी विस्तार से चर्चा कर कहा कि भारत में ईसाई धर्म स्थापना का कार्य करने के प्रयास हो रहे हैं—उसकी ओर से आँखें मूँदने से काम नहीं चलेगा। वास्तव में संविधान निर्माण के समय ही इसका ध्यान रखना आवश्यक था।

धार्मिक स्वतंत्रता का अर्थ है तत्त्वज्ञान (सिद्धांत) कहने की स्वतंत्रता, संगठित होकर प्रचार करने की स्वतंत्रता नहीं—यह स्पष्टीकरण आवश्यक था। धार्मिक स्वतंत्रता देश की एकता और ईमानदारी की विरोधी हो ही नहीं सकती।

यह सिद्धांत ध्यान में रखकर समस्त हिंदुत्वनिष्ठ संस्थाओं को चाहिए कि वे अब ईसाई मिशनरियों का बहिष्कार करें। दो वर्ष पूर्व पुणे में वाच टॉवर नामक संस्था ने धर्मप्रचार का प्रयास किया, पर यहाँ के तरुणों ने उसका भारी विरोध किया।। यही वृत्ति बढ़नी चाहिए।

सेना में घुसना उनकी पहली नीति है। भारतीय सेना में मुसलमानों की भरती कम होती है, उसको प्रोत्साहन दिया जाए—यह सरकार का आदेश घर डुबोनेवाला है। मैं उसका धिक्कार करता हूँ। सरकार की सेक्यूलर नीति किस तरह आत्मघाती है इसे यह आदेश स्पष्ट करता है। यही मैं यहाँ स्पष्ट करता हूँ। यदि आप वास्तविक सेक्यूलर हैं तो किसकी संख्या कितनी है इसकी जानकारी ही इकट्ठी न की होती। वह आप करते हैं। अब उसका उपयोग करें और देशहित करनेवाले नागरिकों को ही आप सेना में भरती करें। अन्यों को निकाल बाहर करें। वे युद्ध में ऐन मौके पर घात करनेवाले साबित होंगे। यह सूचना ध्यान में रहे। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश का विभाजन हो जाने पर तो यह धोखे की सूचना ध्यान में रखना अति आवश्यक है। मैं वैसा एक आंदोलन ही चलानेवाला था। पर मैं पकड़ा गया और उसके कारण वह

विषय कुछ पीछे पड़ गया। अत: यह धोखा ध्यान में रखकर युवको, तुम पहले सेना में भरती हो। यह तुम्हारी पहली नीति होनी चाहिए। पर जिन्हें यह करना संभव न हो उनके लिए दूसरी नीति अपनाओ—ईसाई मिशनरियों का बहिष्कार करो। उनके द्वारा चलाया जा रहा हिंदुओं का धर्मांतरण रोको और जो अहिंदू हो गए हैं उनको फिर से हिंदू बना लो।

सागरा प्राण तळमळला

(अणुध्वम का रहस्य खोजो)

सागरा प्राण तळमळला महाकवि स्वातंत्र्य वीर सावरकर की कविता विद्यालयों के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर ली गई है। उसका अर्थ स्वयं कवि ही छात्रों को कहें, ऐसा साग्रह अनुरोध 'ज्ञान मंदिर' नामक संस्था ने किया। उसे स्वीकार करते हुए १४ नवंबर, १९५३ के दिन वीर सावरकर ने डेढ़ घंटे भाषण किया। उसका सारांश निम्न है—

"अपनी कविता पर मैं स्वयं बोलूँ यह बहुत कठिन बात है ऐसा मुझे लगता है। इसमें दो बाधाएँ हैं। एक यह कि मैं स्वयं अपनी ही स्तुति करूँ, यह ठीक नहीं है और यह अन्यों को भी अच्छा नहीं लगेगा। वे कहेंगे, देखो, आप अपनी ही स्तुति कर रहे हैं? अच्छा, मैं यदि अपनी कविता की निंदा करूँ तो लोगों को तो प्रिय हो सकता है, पर मुझे अप्रिय लगेगा। इस तरह दोनों ही ओर से एक बड़ी समस्या है। और ऐसे काम में मैं स्वयं भी बहुत कुछ संकोची हूँ। सार्वजनिक हित के या उस संबंध के नीतिगत प्रश्न हों तो मैं चाहे जितनी बहस कर सकता हूँ, पर स्वयं के लिए वैसी चर्चा करने में मेरी रुचि नहीं रहती।

मैंने यद्यपि थोड़ा-बहुत वाङ्मय लिखा है तब भी हमेशा शासन-द्रोही होने से उसे बंधन में और शासन की ओर से उपेक्षित ही रहना पड़ा है। ब्रिटिशों के राज्य में उनके विरोध में सशस्त्र क्रांति का प्रयास मैंने किया, इसलिए उन्होंने मेरे साहित्य पर बंदी लादी और स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद मेरे हिंदू संगठक होने के कारण अधर्म को महत्त्वपूर्ण धर्म समझनेवाली कांग्रेस ने मेरे वाङ्मय को अँधेरे में रखने का प्रयास किया। कंस ने देवकी के छह-सात पुत्र मारे, फिर भी उनमें से एक कृष्ण छूट गया, उसी तरह इन सारी विपत्तियों में से ही मेरी एक कविता विद्यालयों के परीक्षा प्रांगण में प्रवेश कर सकी है।

इस कविता की पहली विशेषता यह थी कि वह ब्रिटेन—इंग्लैंड—में लिखी हुई पहली मराठी कविता है। उस युग में परदेश में जानेवाले लोगों को स्वभाषा में कविता लिखने में ही बहुत हीनता लगती थी। सागर से ही इसका संबंध होने से

अपने देश के सागरों के संबंध में एक-दो सूचनाएँ देना आवश्यक है। अपने देश के पश्चिम में जो समुद्र है उसे हम अरब सागर कहते हैं। इस सागर को यह नाम किसने दिया? यूरोपवासियों ने। यूरोप से हिंदुस्थान आते समय उनको पहले अरब देश लगता था और बाद में यह सागर। इसलिए उन्होंने इसे अरब सागर कहा। अरब सागर क्या अरबों के बाप का है? वह अपना ही सागर है—हमारे देश के पश्चिम में होने से हम उसे पश्चिम सागर कहें। पूर्व का जो सागर है, वह पूर्वसागर या गंगासागर है, दक्षिण का हिंदू महासागर, हिंद महासागर नहीं। किसी घर में चूहे, छिपकली, मकड़ी आदि प्राणी रहते हों तो वह घर उनका नहीं होता, वह तो घर मालिक का जिस तरह होता है उसी तरह इस देश में कितने ही अन्य लोग रहते हों फिर भी यह देश हिंदुओं का है। हिंदुस्थान है इसलिए हिंदू महासागर है। अपने भूगोल में इस तरह नाम लिखे जाने चाहिए। अंग्रेजों ने इस देश के नगरों और नदियों के जो नाम बदले हैं उन्हें हमें फिर से बदल लेना चाहिए। उसमें कोई हीनता नहीं है। विश्व के अन्य देशों ने भी यही किया है। रूस ने तो क्रांति के बाद अपने सेंट पीटर का नाम बदलकर लेनिनग्राड किया और दूसरे को स्टालिनग्राड किया। हमें भी अपनी भाषा का और देश का अभिमान स्वीकार कर विदेशी नाम बदलकर स्वदेशी करने चाहिए।

मैं इक्कीस-बाईस वर्ष का था जब मुंबई में पढ़ने के लिए आया था। जब मैं चौपाटी पर जाता तो मेरे मन में प्रश्न उठता—इस समुद्र के पार क्या होगा? उस समय भी हमारी अभिनव भारत गुप्त संस्था थी। उसका कार्य भी चल रहा था। और उसी कार्य की पूर्णता के लिए मेरे मन में यह आता कि मुझे विदेश जाना चाहिए। शिवाजी महाराज के समय हिंदुस्थान पर राज करनेवाला विदेशी बादशाह दिल्ली में रहता था। उसकी सारी परिस्थिति देखने, उसका राज-कारोबार समझने, और जो ज्ञान प्राप्त हो उससे उसी के राज्य को ढीला करना सरल होगा, यह जानकर महाराज धोखा स्वीकार करते हुए दिल्ली गए। मुझे भी ऐसा लगता कि आज के जो विदेशी राज्यकर्ता अंग्रेज हैं उनका देश है कैसा? उनकी वहाँ की व्यवस्था कैसी है? उनके शत्रु कौन हैं? मित्र कौन हैं? किससे कैसे मिलकर, किसकी सहायता लेकर हम अंग्रेजों को धूल चटा सकें यह देखें और उसके लिए विदेश जाएँ—ऐसे विचार मेरे मन में समुद्र किनारे बैठे-बैठे आते, वही विचार इस पहली कविता में हैं।

विदेश जाने का हेतु

उस समय विदेश जाने का मेरा दूसरा हेतु हाथबम की विद्या सीखकर उसे भारत लाना था। उस समय समस्त प्रदेशों में अंग्रेजों का राज था। हम लोगों को

बंदूक रखने की अनुमति नहीं थी। और अंग्रेजों का शासन नष्ट करना हो तो शस्त्रास्त्रों के सिवाय अन्य उपाय नहीं था। उस समय रूस में क्रांतिकारी हाथबम काम में लाए जा रहे थे। आज हमें हथगोले कोई विशेष बात नहीं लगती फिर भी उस समय उसका बहुत महत्त्व था। इतना महत्त्व था जितना आज हमें आणविक बम का लगता है। इतने महत्त्व के हाथबम की विद्या सीखने का हेतु विदेश जाते समय मेरे मन में था।

विदेश जाना उस समय एक विशेष बात मानी जाती थी। क्योंकि पहली, समुद्रबंदी की रूढ़ि दूसरे, वहाँ जाने के लिए लगनेवाला दीर्घ समय। उस समय उधर जाने को उत्सुक और उधर गए हुए तरुणों के भी धर्मांतरण कर लेने की बहुत आशंका रहती थी, इसलिए विदेश गमन के लिए लोगों का विरोध रहता। अनेक के मन आशंका से भरे रहते। उन सबको मैं कहता कि विदेश जाना बुरी बात नहीं है। क्लाइव का इतिहास आपने पढ़ा होगा। वह ऊधमी लड़का कहीं तो जाना है इसलिए हिंदुस्थान आया और उसने ब्रिटिश साम्राज्य की नींव रखी। हजारों मील दूर से यदि कोई अंग्रेज यहाँ आकर सैकड़ों लोगों पर शासन कर सकता है तो हम भी उनके ऊपर राज करने में क्यों समर्थ नहीं हो सकते? ऐसे विचारों से मैं अपनी आयु के और दूसरे लोगों को अपने विदेश जाने का हेतु समझाता था और विदेश जाने से होनेवाला विरह सहन करने का अपने मन में धीरज उत्पन्न करता था। बहुतों को लगता था कि मैं बैरिस्टर होकर आऊँगा और सुख से रहने में समर्थ हो सकूँगा। इस परिस्थिति का वर्णन—जगत् अनुभव योगे···येईन त्वरे कथुनी ऐसा किया है। पर दुर्भाग्य से कहें या कैसे भी कहें 'येईन त्वरे' (आऊँगा तुरंत) यह मेरा कहना सच न हो सका। अपने क्रांति के कार्यक्रम में मैं इतना डूब गया, उसमें मैंने स्वयं को इस तरह लगा दिया कि जब मैं लौटकर आया तब क्या था? कुछ भी नहीं था। घर-आँगन सूने पड़े थे—नाते-संबंधी देश में भटक रहे थे। मित्रों का पता नहीं था। ऐसी परिस्थिति थी। यह सारा संकट हमने जान-बूझकर ओढ़ लिया था। इस कारण हमें उसका बहुत बुरा नहीं लगा। हमारे समय के अन्य विद्यार्थी आज बहुत बड़े-बड़े अधिकारी हैं। मैं भी वैसा हो सकता था, पर वह मेरा ध्येय नहीं था। उस समय जो लोग विदेश जाते थे साहेब बनने के लिए। कुछ-कुछ लोग तो आठ वर्ष के अपने लड़कों को हॅरो में रखते थे। हेतु यह कि वे साहेब जैसे बनें। दुर्भाग्य था उनका कि वे जन्म के पहले ही उन्हें साहेब नहीं बना सकते थे। लंदन के भारतीय विद्यार्थियों की परिस्थिति इस प्रकार की थी। परंतु हम क्रांतिकारियों ने उसे पलट दिया।

हमारा कार्य इतना बढ़ा कि हमारा निवास स्थान भारत भवन (इंडिया हाउस) क्रांतिकारियों का अड्डा ही बन गया। गुप्तचरों की आँखों में वह चुभने लगा। इधर

भारत में मेरे बंधु पकड़े गए। भाई भी पकड़ा गया। इंग्लैंड में मदनलाल धींगरा के ब्रिटिश सत्ता के एक सेवक कर्जन वायली को मारने से वहाँ बड़ी खलबली मच गई। उस हत्या के पीछे मेरा हाथ है ऐसा माना जाने से मुझे कहीं भी रहने को निवास स्थान मिलना कठिन हो गया। जिनके यहाँ बाद में रहता था वे पाल बाबू मुझे अपने घर में रखने को तैयार नहीं थे। ऐसी परिस्थिति में मैं घर खोजने का कार्य कर रहा था। मेरे साथ पाल बाबू का लड़का निरंजन पाल भी था। घर खोजते-खोजते कुछ समय के लिए शांति मिले, इसलिए मैं समुद्र किनारे गया था तब वहाँ यह कविता लिखी। ऐसी उस हर ओर से निराश हुए मन को प्रतिबिंबित करती जो पंक्ति लिखी गई वह थी शुक पंजरी वा···। उसमें यह स्पष्ट है कि मैं जो विद्या ग्रहण कर रहा था वह स्वयं के वैयक्तिक उद्धार के लिए नहीं थी—जो गुण मैं अपने में जोड़ रहा था मातृभूमि को उसका उपयोग हो इसलिए जोड़ रहा था। उसी समय मैं अपने देश में लौटकर नहीं जा सकता, यह स्पष्ट होने से उन देशवीरों जैसे तिलक, परांजपे, मेरे ज्येष्ठ बंधु आदि की वह आम्र वृक्ष जैसी वत्सलता आदि का उल्लेख आया है। उसी तरह मेरी भाभी, पत्नी, उनकी सारी सखियाँ आदि नवकुसुम युसा सुलता और मेरा भाई बाल और उसके मित्र वे सारे बाल गुलाब, आदि की स्मृति से उस समय मेरा हृदय भर आया था—उसका वर्णन कविता में है।

अति कठोर हृदय अति कोमल होता है

अनेक लोग ऐसा समझते हैं कि बहादुर पुरुषों को कोमल हृदय होता ही नहीं। पर उनकी वह धारणा पूरी तरह निराधार है। जिनका मन अतिशय कोमल होता है वही समय पर अति कठोर हो सकता है। स्वयं के या अपनी पत्नी, बच्चों के दुःख देखकर जिनके हृदय द्रवित होते हैं वे अधिकतम कोमल हृदय के हो सकते हैं। इस अति कोमलता के कारण वे दूसरों के दुःख समझते हैं और वे दुःख दूर करने के लिए उन्हें अति कठोर बनना पड़ता है। श्री रामचंद्रजी का उदाहरण इस संबंध में दिया जा सकता है। सीता त्याग से वे द्रवित हो गए। वृक्षों, पशु-पक्षियों, अर्थात् जो मिले उससे 'सीता कहाँ है' पूछ-पूछकर बड़ा विलाप किया। वहाँ उनका कोमल हृदय दिखता है। पर जिन्होंने सीता पर अन्याय किया उससे प्रतिशोध लेते समय वे अति कठोर भी हुए। कर्तव्य और सीता एक थी तब तक उनकी वृत्ति देखें, पर कर्तव्य या सीता ऐसा प्रश्न सामने आने पर, सीता के लिए विलाप करनेवाले उन्हीं श्री रामचंद्र को कर्तव्य पूर्ति के लिए सीता त्याग करते समय अति कठोर होना पड़ा। अति कोमल हृदय के लोग ही अति कठोर हो सकते हैं और अति कठोर हृदय के लोग अति कोमल भी हो सकते हैं। हृदय की ऐसी अति कोमल

भावना के समय ही—आम्रवृक्ष वत्सलता···आदि पंक्तियाँ लिखीं।

फिर मन में आया कि हम यह रास्ता छोड़ दें तो? शत्रु पक्ष से ही मिल गए तो? अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में जाऊँ तो बहुत सम्मान मिल सकता है, वह भी मन में आया। आज डॉ. खान खोजे जैसे क्रांतिकारी कृषि विशेषज्ञ के रूप में विदेश में हैं। मुझे भी वैसा कुछ मिल सकता था। पर वह विचार मन को ही नहीं भाता था। इसी विचार को प्रकट किया है—नभी नक्षत्रे बहुत एक··आदि पंक्तियों में।

फिर स्मरण हो आया कि सागर हमें घर नहीं ले जाता। वह तो मेरी ओर देखकर उपहास से हँस रहा है। क्योंकि आंग्ल भूमि का मैं दास अभी बहुत दुर्बल हूँ। इसलिए उसे धौंस दी कि मेरी माता दुर्बल है यह तुम्हारी धारणा भूल है। उसके लिए मैंने उसे स्मरण दिलाया कि मेरी माँ के पुत्र अगस्त्य ने तुझे एक आचमन में ही पी लिया था। आश्चर्य यह कि मेरी वह धौंस आज सच सिद्ध हुई और उसे देखने को मैं जीवित हूँ। जिस अंग्रेज के डर से यह सागर मुझे अपनी पीठ पर से यहाँ लाता नहीं था उस अंग्रेज का राज आज नामशेष हो गया है। मेरा देश आज स्वतंत्र हो गया है। स्वतंत्र देश की रणनौकाएँ उसपर से दौड़ रही हैं। मुझे अब कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि इस स्वतंत्र परिस्थिति में फिर से मैं उसी समुद्र किनारे बैठूँ— और सागर से सब बात कहूँ।

परंतु छात्रो, इसके बाद का उत्तरदायित्व आपका है। इस स्वतंत्रता की रक्षा करने का कार्य आपकी पीढ़ी का है। तीन बटा चार भारत स्वतंत्र है, उसे पूरा स्वतंत्र कर विश्व के तीन बड़े राष्ट्रों जैसा बनाना है। वह आज वैसा क्यों नहीं है? आपके पास क्या कमी है? लोकसंख्या? नहीं, वह तो भरपूर है। क्षेत्रफल बहुत है। तत्त्व ज्ञान बहुत है। क्या नहीं? तो वह है सैनिक बल? बड़े तीनों के पास अणुबम है, वह आपके पास नहीं है। उसके लिए आप परिश्रम करें। रूस, अमेरिका यदि एक दूसरे का आणविक ज्ञान चुरा रहे हैं तो आपके जिन पूर्वज क्रांतिकारियों ने हथगोले बनाने का शास्त्र चुराया वैसे आप उनकी पुत्र या पौत्र पीढ़ी अणुबम का शास्त्र क्यों नहीं पैदा कर सकती? आप जरा इधर ध्यान दें। उसके लिए सैनिक बनें—इस कविता को पढ़ने की सार्थकता उसी में है।

(हिंदू साप्ताहिक, कार्तिक बदी ३, शालीवाहन शक १८७५)

संन्यस्त खड्ग क्यों लिखा?

शिवाजी मंदिर, दादर में दिनांक १९.१.१९५४ को संन्यस्त खड्ग नाटक के तीन प्रवेश नटवर्य चिंतामण राव कोल्हटकर द्वारा अभिनीत किए गए। तब वह नाटक क्यों लिखा? यह कहते हुए सावकर ने कहा—

''बुद्ध का काल ढाई हजार वर्ष पूर्व से मान्य करें तो गत ढाई हजार वर्षों से भारत के इतिहास पर बुद्ध के अति अहिंसा के सिद्धांत का प्रभाव पड़ा हुआ आपको दिखाई देगा। मानव की कलह प्रवृत्ति का नाश करने की सद्बुद्धि से गौतम बुद्ध ने प्रामाणिकता के साथ प्रयास किए—यह मान्य करते हुए भी यह दिखता है कि विश्व से हिंसाचार प्रवृत्ति का नाश नहीं हुआ। बुद्ध का शिष्य कहलानेवाले देश जापान ने और अब चीन ने उन्नत शस्त्रबल को ही अंगीकार किया। भारत ने बुद्ध की विचार पद्धति का आश्रय लिया और शत्रु ने हमारी सामरिक दुर्बलता का लाभ लेकर हमें पराजित किया। इतना सब स्पष्ट होते हुए भी इस देश में मैं जब अंदमान से हिंदुस्थान में लौट आया तब एक नए प्रयोग का प्रारंभ हो चुका था। रत्नागिरि में गौतम बुद्ध के धर्मसूत्रों का वाचन करते समय—शत्रु से विरोध न करें, क्योंकि विरोध से बैर बढ़ता है और मूल झगड़ा समाप्त नहीं होता। इसलिए शत्रु का प्रतिकार न करनेवाले लोग श्रेष्ठ हैं। इसलिए किसी से भी बैर न करते हुए संन्यासी को चाहिए कि वह शांति से सो जाए। इस आशय का वचन मेरे देखने में आया। विश्व कल्याण की दृष्टि रखनेवाला गौतम बुद्ध 'सुख से सोएँ, प्रतिकार न करें' ऐसा उपदेश करे यह मुझे नहीं जँचा। इसलिए इस उपदेश में जो त्रुटि है वह स्पष्ट करने के लिए मैंने यह नाटक लिखा। शत्रु का सशस्त्र प्रतिकार न करें, क्योंकि उससे बैर बढ़ता है—यह उपदेश जब मैं छूटकर रत्नागिरि आया तब सारे देश में गूँज रहा था। इस उपदेश के जनक को चाहिए था कि इंग्लैंड पर हिटलर के बम बरसने शुरू होने पर इंग्लैंड को यह सलाह देते कि युद्ध न करते हुए हिटलर के शरणागत हो जाओ। इंग्लैंड के लोग उसे मान लेते तो हिटलर का पराभव होता क्या? कुछ लोग कहते हैं—इतनी विशाल सिद्धता हिटलर और टोनो ने की, पर उनका भी नाश हुआ ही। नाश हुआ यह मान्य, पर किया किसने? हिटलर से अधिक शक्तिशाली शस्त्रबलवाले अमेरिका और रूस ने ही वह पराभव किया। वह पराभव चरखे से नहीं हुआ। अंत में हिटलर पराजित हुआ तो! ऐसी बात कहनेवाले लोगों के विचार में और भी दोष हैं। विश्व में शाश्वत एक शक्ति है ऐसा वे मानते हैं, पर वास्तव में विश्व में शाश्वत कुछ नहीं है। परिवर्तनशीलता ही विश्व नियम है। हमेशा शस्त्रबल में आगे रहना और अपने से अधिक बलशाली किसी को न होने देना—यही राजनीति की आज तक की दिशा है।

''ध्यान में रहे, हिटलर का पराभव अहिंसा के उपदेश से नहीं हुआ। वह रूस-अमेरिका के संयुक्त और सवाई शस्त्रबल के कारण हुआ। ईसा या बुद्ध के उपदेशों से नहीं।''

(हिंदू—पौष वद्य ६, शक १८७५)

पृथ्वी पर मानव एक कब होगा?

समस्त मानव एक है—यह सब मानें, यह ध्येय उत्तम है। वह मुझे भी प्रिय है। कोई भी अपने दरवाजे में ताला न लगाए यह नियम भी आदर्श है। पर विश्व में चोर हैं यह जानते हुए जैसे हम ताला न लगाने का नियम—दूर रख अपने-अपने घरों को ताला लगाते हैं उसी तरह अन्य धर्मीय एवं अन्य राष्ट्रीय लोग अपने धर्म का और सीमाओं का विस्तार कर रहे हैं तब तक मैं भी हिंदू रूप में जीना और मेरे राष्ट्र को हिंदुत्व की बाड़ लगाना आवश्यक मानता हूँ (है)।

वर्तमान में चंद्र, मंगल आदि ग्रहों के विषय में शोध कार्य पृथ्वी पर का मानव कर रहा है। उसी तरह अन्य ग्रहों की तश्तरियाँ भी पृथ्वी के चारों ओर चक्कर लगा रही हैं। यदि मंगल ग्रह के लोगों ने पृथ्वी पर आक्रमण किया तो पृथ्वी के सारे मानव—पृथ्वी मानव—के रूप में एक हो जाएँगे—इस आशय के विचार दिनांक १२.१२.१९५३ के दिन हिंगणे—स्त्री शिक्षण संस्था में वीर सावरकर ने व्यक्त किए।

अखंड हिंदुस्थान के लिए लड़ने का संकल्प करें

दिनांक ३ अगस्त, १९४७ को प्रात: भगवा ध्वज को वंदन करने पुणे के शनिवारवाड़ा के सामने एकत्रित हजारों लोगों को स्वातंत्र्य वीर सावरकर ने कहा—

''देश का एक और विघटन हुआ है। सारी स्थिति भयानक और हिंदुओं के लिए मारक हो गई है—ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रध्वज कौन सा हो इसकी चर्चा करनेवाला मरा हुआ राष्ट्र यही है—यह मैं देख रहा हूँ। राष्ट्रध्वज की चर्चा ही क्यों की जाए? राजसत्ता जिनके हाथ में है उनका प्रथम कर्तव्य जो उन्हें करना चाहिए वह यह कि निजाम की सीमा पर तोपें खड़ी कर, विदर्भ का प्रश्न हल करने का प्रयास करना चाहिए (तालियाँ)। निजाम से इसी तरह जब निपटा जाएगा तब ही निजाम झुकेगा, अन्यथा नहीं। पंजाब सुलग गया—सिखों का सबकुछ गया। ऐसे समय राष्ट्रध्वज की चर्चा करने की अपेक्षा पंजाब की सरहद पर सेना रखने की सहायता की जानी चाहिए। दुलहन भगा ले गए और शेष विवाह चालू है ऐसी हास्यास्पद स्थिति हो रही है। बिना युद्ध के भारत के तीन प्रदेश हमने पाकिस्तान में ढकेल दिए। यह भूल हमारी है। इतिहास में इस भूल जैसी दूसरी चीज नहीं मिलेगी।

यह स्थिति न आए, इसलिए हमने हर प्रयास से कहा, पर लोगों ने उसे सुना नहीं। पाकिस्तान दुर्बलों द्वारा दिया जाएगा यह भी हमने कहा था। पर सुनता कौन

है? जैसा समाज वैसे नेता! (हँसी और तालियाँ)। वैसा उनका इतिहास (हँसी) ध्वज पर चरखा रहे या चक्र—यह चर्चा है। यह सब व्यर्थ है।

आज जो राष्ट्रध्वज के नाम से प्रस्तुत किया गया है उसके संबंध में मैं थोड़ी बात करूँ। उस राष्ट्रध्वज पर से चरखा जाकर चक्र आया यह मुझे पसंद है। राष्ट्रीय जीवन की भावनाएँ फेंट-फेंटकर निकला अर्क ही राष्ट्रध्वज यानी राष्ट्र की अंतर्भूत कल्पना का प्रतीक और उस दृष्टि से अर्थशून्य चरखे की अपेक्षा विजयशाली, सामर्थ्यसंपन्न और पराक्रम का प्रतीक यह चक्र वास्तव में धर्मचक्र है। यह इन लोगों के ध्यान में नहीं आया (हँसी)। खैर, वह चक्र राष्ट्रध्वज पर है, यह भी कुछ कम प्रगति की बात नहीं है। आज हमें सब ओर दो ध्वज दिख रहे हैं। एक है अखिल हिंदुओं का ध्वज और दूसरा अनेक लोगों को एकत्रित करनेवाला, करना चाहनेवाला। संविधान सभा द्वारा स्वीकृत अशोक धर्मचिह्न चक्रधारी ध्वज। यह जो दूसरा ध्वज है वह इंडियन यूनियन का ध्वज है। यह संविधान सभा हमारी नहीं है। ब्रिटिश संगीनों के बल पर खड़ी और जिसपर हमारा विश्वास नहीं, ऐसी संविधान सभा है। यह देश द्वारा नियुक्त सभा नहीं है—यह ध्यान में रखें। परंतु ऐसा होते हुए भी उसके द्वारा बनाए गए ध्वज पर धर्मचक्र है। वह भगवान् का चक्र है। सम्राट् हर्ष का मानचिह्न है।

सम्राट् चंद्रगुप्त और चाणक्य की सेना अपनी सरहद हिंदूकुश, गांधार तक जब बढ़ाने में सफल हुए थे—उसका यह मानचिह्न है। अर्थात् यह चक्र सम्राट् अशोक का चक्र नहीं है—यह बात इतिहास कहता है। रंग जातिवाचक नहीं है यह हमें कहा जाता है। फिर इन्हीं तीन रंगों से प्रेम क्यों है? सुंदरता की दृष्टि से विचार करना हो तो मुझे कुछ भी नहीं कहना है। इस ध्वज का हमें अपमान नहीं करना है। उसका सम्मान किया जाए तो मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं होगी। परंतु यह इंडियन यूनियन का ध्वज है, यह न भूलें। परंतु पाकिस्तान दे देने पर शेष रहा इंडियन यूनियन यही बात हमें स्वीकार नहीं है तो उसके ध्वज का प्रश्न कहाँ आता है? हमें तो अखंड हिंदुस्थान ही ज्ञात है (तालियाँ)। और उसका राष्ट्रध्वज भगवा ही होना चाहिए। (भगवा ध्वज का जयघोष और तालियाँ) यह तो सिर देकर माँ का धड़ प्राप्त करने जैसी बात है। बहुत खेदजनक है। खैबर की घाटी दे डाली और शेष का संरक्षण करने का प्रयास करनेवाली बात है। यह कितनी लज्जाजनक स्थिति है।''

(भगवा ध्वज की परंपरा और उसके पराक्रमी इतिहास को स्पष्ट करते हुए स्वा. सावरकर इतने आवेश से बोल रहे थे मानो शत्रु पर टूट पड़ रहे हों। श्रोता समुदाय को भगवा ध्वज का इतिहास कथन उन्होंने इतने धारावाही शब्दों में किया

मानो उन्मत्त महासागर की लहर-पर-लहर टकराकर विद्युत् प्रवाह उत्पन्न हो रहा हो। यह भाषण वह विशाल सभा बड़ी तन्मयता से मानो प्रशांत महासागर की तरह आत्मसात् कर रही थी।)

स्वा. वीर सावरकर ने कहा, ''वह ध्वज भूतकाल में, वर्तमान में, और भविष्यकाल में भी हमें पूर्वजों के पराक्रम की स्मृति कराता रहा, कराता है तथा कराता रहेगा। वही हमारा कृपाण कुंडलिनी युक्त भगवा ध्वज और वही ध्वज हमारा राष्ट्रध्वज रहना चाहिए। जिस-जिसको हिंदुस्थान अखंड बनाना है, पाकिस्तान फिर से प्राप्त करना है उस-उसको हिंदू राष्ट्र के ध्वज के रूप में कृपाण कुंडलिनी युक्त भगवा ध्वज को मानना पड़ेगा। (तालियाँ) हिंदू धर्म का यदि कोई ध्वज है तो यही भगवा ध्वज है। कुछ लोग कहते हैं यह ध्वज पेशवाओं का है। (हँसी) पहले पेशवा हुए या शिवाजी महाराज हुए? पहले पेशवा हुए या भगवा ध्वज? जिन्हें ज्ञात नहीं उनके ज्ञान पर मुझे दया आती है। (तालियाँ-हँसी) पर वह कुछ भी हो, पेशवाओं ने इसी ध्वज की स्फूर्ति लेकर दिल्ली का तख्त फोड़ा। सिखों पर होता अन्याय रुकवाया। हिंदुओं की लाज रखी। ऐसा यह पराक्रमशाली भगवा ध्वज पेशवाओं का कोई कहे तब भी कोई बुराई नहीं। पेशवा भी हिंदू के लिए ही तो लड़े। चारों ओर से हमले कर मुसलिमों की दिल्ली में हिंदू बहुसंख्य रहें उसके लिए यही भगवा ध्वज कारण हुआ है। भगवा ध्वज की परंपरा पुराणकाल से है। यह शरीर के चैतन्य का प्रतीक है। अटक पर जो ध्वज लहराया वह पेशवाओं का पराक्रमशाली ध्वज ही क्यों न हो, उसे ही हम मान्य करेंगे। भगवा ध्वज की परंपरा पूछनेवालों से मैं पूछूँगा कि तुम्हारे ध्वज की क्या परंपरा है? सत्ताईस वर्ष की प्रचंड परंपरा ही तो है? (हँसी एवं तालियाँ) आप हमारे ध्वज का सम्मान करेंगे तो हम आपके ध्वज का अवश्य रखेंगे। शत्रु के हरे ध्वज का प्रतिकार होगा तो इस भगवा ध्वज से ही। (तालियाँ) हरे ध्वज की चिंदियाँ भगवा ध्वज ने ही की हैं, आपके इंडियन यूनियन के ध्वज ने नहीं।

भगवा ध्वज के लिए मरो, फाँसी चढ़ो, पूरी पीढ़ी मरने दो। कल यह भी होना संभव है कि संविधान सभा द्वारा निश्चित किए गए इंडियन यूनियन के ध्वज को जो राष्ट्रध्वज मानेगा उसे राजद्रोही समझा जाएगा। पर ध्यान में रहे—वैसी स्थिति आई तो भगवा ध्वज के सम्मान के लिए, स्फुलिंग के लिए, उसके सम्मान की रक्षा के लिए कारावास में जाओ, मरो, मारो, फाँसी चढ़ो। यह सामने बैठी पीढ़ी-की-पीढ़ी नष्ट हो जाए तो भी अगले समय में विजयी होगी। भगवा ध्वज को ही हिंदू राष्ट्र के ध्वज के रूप में बनाए रखो।''

(हिंदू राष्ट्र और दै. काल, दिनांक ४.८.१९४७)

शुद्धि यज्ञ प्रज्वलित करें, उसी में से खरा हिंदू राष्ट्र निर्मित होगा

२३ अगस्त, १९५५ को मुंबई में आयोजित शुद्धि समारोह के अवसर पर व्याख्यान देते हुए हिंदू संगठक वीर सावरकर ने कहा, ''आज के इस समारोह में मैं उपस्थित हूँ इसका कारण यह कि मुझे शुद्धिकार्य की महत्ता सबसे अधिक लगती है। इसका अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि पाँच-दस लोग हिंदू धर्म में आएँ। हिंदू समाज के बेसुध रहने से अपने अज्ञान से एवं भ्रमपूर्ण रीतियों के कारण असंख्य लोग परधर्म में चले गए। उस बेसुध अवस्था से हम अब उबर रहे हैं। यह अपने समाज की और राष्ट्र की शुद्धि है। शुद्धि में इतना बड़ा अर्थ छिपा होने से मैं मर जाने के बाद भी जीवित होकर ऐसे समारोह में उपस्थित रहूँगा।

''आज यह बेसुधी कम हो रही है यह बात सच है। पर समय पर ही हम चेत गए होते और शुद्धि चलाते तो कश्मीर का या गोवा का प्रश्न उत्पन्न ही न हुआ होता। कश्मीर में धर्मच्युत होकर मुसलमान हुए पूर्व हिंदू—हमें फिर से हिंदू बना लो—ऐसा महाराजा हरीसिंह को निवेदन करते रहे। महाराज अनुकूल थे, पर हिंदू समाज ने अपने दरवाजे बंद कर लिये और वहाँ मुसलमानों का नया प्रश्न उपस्थित हो गया।

''गोवा में भी हमारी दुर्बलताएँ ही लोगों को ईसाई बनाए रहीं, और आज वहाँ के पुर्तगाली शासक ईसाई राष्ट्र की बातें कह रहे हैं। आज गोवा में सारे हिंदू ही होते तो सालाजार वहाँ शासन कर ही नहीं सकता था। शुद्धि का प्रश्न इस तरह राष्ट्र के जीवन से जुड़ा है।

''विदेशी मिशनरी अपने देश में जितना धन उड़ेलते हैं उतना धन यदि हम हिंदू लोग शुद्धिकार्य के लिए एकत्रित कर सकें तो चार-पाँच वर्षों में अपना हिंदू राष्ट्र यथार्थ रूप से हिंदू राष्ट्र हो जाएगा। प्रचलित सरकार की इस संबंध में कुछ भी रीति-नीति हो, हमारे विचारों की भी सरकार कभी-कभी आएगी ही। इसलिए शुद्धिकार्य को चलाए रखना चाहिए। आज यहाँ एकत्रित पुराने कार्यकर्ता विभिन्न राजनीतिक दलों के हैं—कुछ कम्युनिस्ट भी हैं। पर केवल इस शुद्धिकार्य के प्रति निष्ठा के कारण वे बिन बुलाए आए हैं।

''आप आज हिंदू हो गए इसलिए किसी विदेशी के दरवाजे आ गए हैं, ऐसा कभी भी नहीं सोचना है। क्योंकि वास्तव में आप अपने पूर्वजों के घर आए हैं। अब रोटी-बेटी व्यवहार का प्रश्न नहीं रहा है। हिंदू समाज में परजात में विवाह संबंध काफी संख्या में होने लगे हैं और उनको मेरा आशीर्वाद है।''

(प्रबोध, धुलिया, दिनांक २८.५.१९५५)

हिंदू महासभा केवल चुनावों की ओर न देखे

हिंदू सभा कार्यकर्ताओं की सभा में भाषण करते हुए सावरकर ने कहा, "कुछ हिंदू सभावालों में जो विफलता आई हुई दिखती है इसका कारण वे ऐसा समझते हैं कि चुनाव ही अपना एकमेव कार्य है। इसीलिए उसमें खड़े रहकर हारने के बाद वे निराश हो जाते हैं। आप सब लोगों को मेरा कहना है कि हिंदू महासभा के अनेक कार्यों में से चुनाव भी एक कार्य है। जब तक मतदाता अज्ञानी हैं तब तक आपका कार्यक्रम कितना भी सही हो, वे आपको अपना मत नहीं देंगे। परंतु रास्ता दिखाने का अपना कर्तव्य करने की दृष्टि से जय-अपजय की चिंता न करते हुए आप चुनाव में एक कार्य के रूप में हिस्सा लें। उसमें अपयश आए तो भी धीरज न खोते हुए शेष रहते समय में अपना-अपना विधायक कार्य, शुद्धि, अस्पृश्यता निवारण, आर्थिक कार्यक्रम, सैनिकीकरण, अनाथाश्रम और समय-समय पर उग आनेवाले प्रश्नों के निदान आदि कार्य करते रहें।"

स्वतंत्रता की सुरक्षा की चाणक्य नीति

पुणे के फर्ग्यूसन महाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त करते हुए सन् १९०५ में सावरकर ने विदेशी कपड़ों की होली जलाई थी। उसके लिए उनपर दस रुपए का दंड लगाया गया और छात्रावास से भी निकाला गया था। उसी महाविद्यालय में दिनांक १३ दिसंबर, १९५३ को सावरकर का सम्मान किया गया। इस कार्यक्रम में लगभग पंद्रह हजार श्रोता रहे होंगे। तीन स्तरीय सभागृह तो पूरा भरा ही था—पर बाहर भी अनेक श्रोता खड़े-खड़े या पेड़ों पर बैठकर उनका भाषण सुन रहे थे। इस दिन वे केवल पाँच मिनट ही बोलेंगे यह निर्धारित था। पर श्रोताओं का प्रचंड उत्साह, आग्रह और आतुरता देखकर सावरकर एक घंटा बोले। उस व्याख्यान का मुख्य भाग निम्न था—

"अपने शत्रु का शत्रु वह अपना मित्र—यह चाणक्य सूत्र है। अभी पापस्तान ने अमेरिका से संधि की है। पापस्तान का और हिंदुस्थान का शत्रुत्व आपमें से बहुसंख्यक न भी मानें तो भी पापस्तान मान ही रहा है—इस कारण अमेरिका को अपना शत्रु मानना ही पड़ेगा। इसके सिवाय फ्रांस, इंग्लैंड, पुर्तगाल आदि अपने सारे पुराने शत्रु अमेरिकी गुट के ही हैं। अत: इस सारे गुट के जो प्रबल शत्रु हैं—रूस और चीन उनका और अपना स्नेह होना अब बिलकुल संभव है। रूस वैसी बातचीत हमसे करेगा और उसे मान लेने में कोई प्रत्यवाय नहीं होना चाहिए ऐसा मेरा स्पष्ट मत है। कम्युनिस्ट नेता और रूस को मैं १९०८ से जानता हूँ। मैं इंग्लैंड में भारतीय स्वतंत्रता के लिए जब प्रयास कर रहा था तब लेनिन, स्टालिन वहीं थे।

अनुभवों से उन्हें भी कम्युनिज्म की त्रुटियाँ ज्ञात हुई हैं और अब कम्युनिस्ट बहुत व्यावहारिक हो गया है।

''स्वतंत्रता प्राप्त कर हम कृतार्थ हुए हैं। पिछली पीढ़ी ने पराक्रम से जो स्वतंत्रता प्राप्त की वह स्वतंत्रता चाहे जिस तरह मजबूत करें। कांग्रेसवाले हैं तो विधर्मी रीति से, समाजवादी हैं तो औद्योगिक रीति से, और आप कम्युनिस्ट हैं तो भी चलेगा। देश की सुरक्षा का उत्तरदायित्व आप पर भी है।

''तरुणों को चाहिए कि वे यह न मानें कि स्वतंत्रता मिलते ही आकाश से सोने की वर्षा होगी। बंदी की बंदीगृह से मुक्ति ही स्वतंत्रता का अर्थ है। आपके शस्त्र निकाल लिये गए हैं। अर्थ शोषण किया गया है। और समाज रचना अस्त-व्यस्त हो गई है। तहस-नहस हुई सारी बातें फिर से एकत्रित कर ठीक-ठाक लगाना ही आपका कर्तव्य है। स्वतंत्रता का उपभोग आप पराक्रम से कर सकें। इसलिए विफलता की भावना छोड़, मेरे युवा मित्र, अब अपने-अपने देवता के सामने ऐसी प्रतिज्ञा कीजिए कि मेरे राष्ट्र पर यदि विदेशी आक्रमण हुआ तो मैं लड़ते-लड़ते मरूँगा, उपवास करके नहीं। और इस प्रतिज्ञापूर्ति के लिए आपको हमारी इस पीढ़ी की तुलना में तीन गुना (अधिक) त्याग करना पड़ेगा।

''सत्ता बनाए रखने के लिए ही सही, अहिंसा के सिद्धांतों पर खड़े राजकर्ताओं को सेना की आवश्यकता होती है और सेना सब तरह से सुसज्ज हो यह भी उन्हें लगता है। पर यह सेना आए कहाँ से? पुणे में अब सैनिक अकादमी की स्थापना की जा रही है। वह केंद्र मुझे महाराष्ट्रीय तरुणों से भरा-पूरा देखने दो। आपके पूर्वजों ने अटक तक तलवार भाँजी है। पंजाब प्रदेश का आक्रमण उन्होंने लौटाया है। हमें अब भारतीय साम्राज्य स्थापित करना है। महाराष्ट्र की स्वतंत्रता इसी में निहित है।

''जनगणना की दृष्टि से इस देश में अस्सी प्रतिशत हिंदू हैं। अस्सी प्रतिशत का बहुमतवाला यह राष्ट्र हिंदू राष्ट्र ही है ऐसा हम कहते हैं और वैसा कहने का पूरा अधिकार जनतंत्र की दृष्टि से भी हमें है। खाना, पीना और मर जाना मनुष्य का जीवन नहीं है। मनुष्य को उच्च आकांक्षा होना ईश्वरदत्त उपहार है। इस सुप्त भावना को चेताएँ। उथली बातों के पीछे न पड़ें। राष्ट्र की अंतिम सीमाओं की सुरक्षा करने के लिए आपको आगे बढ़ना चाहिए। शत्रु का संशय होते ही आक्रमण करें यह चाणक्य की राजनीति भूलनी नहीं चाहिए। राष्ट्र जीवन समृद्ध करने के लिए सर्वस्व दाँव पर लगाना ही जीवन का मूल अर्थ है।''

''महाराष्ट्र सैनिकीकरण मंडल में भाषण करते हुए सावरकर ने कहा, ''ब्रिटिशों के राज में ऐसी संस्थाओं को प्रोत्साहन नहीं मिलता था। वे उस समय

कहते थे कि हम आपका संरक्षण करने के लिए जब तत्पर हैं तब आपको यह सैनिक शिक्षा लेकर क्या करना है? आज की हमारी सरकार भी प्रारंभ में ऐसी संस्थाओं को प्रोत्साहन नहीं देती थी। पर अब देने लगी है ऐसा कहा जाता है और वह अपरिहार्य ही है। उन्हें जीवित रहना है तो उन्हें वह बात करनी ही होगी। भविष्य में ऐसी संस्थाओं को केवल नैतिक सहायता देना ही पर्याप्त नहीं होगा— उन्हें आर्थिक सहायता भी देनी होगी।

''देश में क्रांति होते ही इधर-उधर सर्वत्र सुख-समृद्धि हो जाएगी—यह कल्पना करना भूल है। जिन देशों में अब तक क्रांतियाँ हुई हैं—उन देशों में क्रांति के बाद गृहयुद्ध हुए। रूस में भी वही हुआ। अर्थात् रूस की क्रांति भारत की तुलना में क्षुद्र थी। अव्वल तो वह क्रांति थी ही नहीं, वह सत्तांतरण था। हमारा देश स्वतंत्र हुआ है, परंतु वास्तविक स्वतंत्रता अभी पालने में है। वर्तमान काल ब्रिटिश साम्राज्य की उत्तरक्रिया का काल है।

''इसके आगे स्वतंत्रता की रक्षा हमें अपने-आप करनी पड़ेगी और वह करने के लिए क्रांतिकारियों की तरह आजकल के युवकों को स्वतंत्रता की रक्षा प्राणपण से करने की प्रतिज्ञा लेने आगे आना चाहिए। हर गृहस्थ अपने बेटों में से एक बेटा सेना में भेजे। ऐसा हुआ तो दस वर्ष में अपना देश ऊपर उठा हुआ अवश्य दिखेगा। भविष्य में हमें तोपों के मंत्र सीखने चाहिए और अणुबम का शास्त्र क्या है यह जानने का प्रयास करना चाहिए।

(हिंदू साप्ताहिक, मार्गशीर्ष शक संवत् १८७५)

□

ॐ
विज्ञाननिष्ठ निबंध

मानव का देव और विश्व का देव

सरिता के प्रवाह पर लाठी पटकने पर उस सरिता की अखंड धारा क्षण भर दो भागों में बँटी हुई प्रतीत होती है। संध्या के समय अखंड आकाश के बीच कोई तारिका चमकने लगते ही उस अखंड आकाश को एक गणन बिंदु प्राप्त हो जाता है और उसके चारों ओर चार दिशाएँ तुरंत अलग-अलग भासित होने लगती हैं।

इस पदार्थ-जगत् में भी जब मानव के ज्ञान का सितारा चमकने लगता है उसके दो भाग हो जाते हैं। संपूर्ण विश्व, अनंत के एक छोर से दूसरे छोर तक एकदम विभाजित हो जाता है। इस ज्ञान-सितारे को समस्त विश्व का केंद्र या मध्य बिंदु मानते ही सुंदर और कुरूप, सुगंध और दुर्गंध, मंजुल और कर्कश, मृदुल और कठोर, प्रिय तथा अप्रिय, अच्छे और बुरे, दैवी और आसुरी इन सभी द्वंद्वों का उद्भव मानो हो जाता है। मानव को एक हिस्सा सुखद तथा अन्य दुःखद लगता है। पहला अच्छा, दूसरा बुरा।

विश्व के मानव के लिए सुखद और अच्छा हिस्सा जिसने निर्मित किया वह देव और मानव को दुःख देनेवाला बुरा भाग जिसने बनाया वह राक्षस।

मानव की ही लंबाई-चौड़ाई की नाप से विश्व की उपयुक्तता, अच्छाई-बुराई यदि नापी जाए तो उपर्युक्त निष्कर्ष अधिक गलत है—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

विश्व की उपयुक्तता को इसी प्रकार अपने हिसाब से नापना मनुष्य के लिए अनिवार्य हो गया था। मानव उपलब्ध पंच ज्ञानेंद्रियों से ही विश्व का रूप, रस, गंध, स्पर्शादि समस्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है। विश्व के समस्त पदार्थों की एक-एक कर गिनती कर उनका पृथक्करण कर, बार-बार गिन, अमर्याद क्रियाओं की पुनः-पुनः सूची बना, विश्व के असीम महाकोष के पदार्थों की गिनती करना असंभव है, यह जानकर हमारे प्राचीन तत्त्वज्ञों ने अपने पंच ज्ञानेंद्रियों से इस विश्व के संबंध में जो ज्ञात हुआ उसका पंचीकरण करना ही वर्गीकरण का उत्कृष्ट मार्ग समझा। यह बात स्वाभाविक ही थी। यह उनकी अप्रतिम बुद्धि की उस समय की आश्चर्यजनक

विजय थी। ज्ञानेंद्रिय केवल पाँच ही होने के कारण विश्व के समस्त पदार्थ उन पाँचों में से किसी एक या अनेक गुणों के होंगे। अर्थात् उन पाँच गुणों के तत्त्वों से पंचमहाभूतों ने ही उनका निर्माण किया होगा। इस विश्वदेव का हमसे जो कुछ संवाद होना संभव है वह उसके पाँच मुखों से ही होगा। अत: यह विश्वदेव, महादेव पंचमुखी है।

अपनी ज्ञानेंद्रियों से विश्व के गुणधर्मों का आकलन करने का मानव का यह प्रयत्न जितना अपरिहार्य और सहज है उतना ही स्वयं के अंत:करण से उस विश्व निर्माता देव के अंत:करण की कल्पना करने का मनुष्य का प्रयत्न भी सहज और स्वाभाविक था। मानव को सुख प्रदान करने के लिए ही किसी दयालु देवता ने इस सृष्टि का निर्माण किया होगा, इस मानवी निष्ठा का प्रबल समर्थन कदम-कदम पर प्रतिक्षण, जब चाहे तब यह सृष्टि देवी करती रही और आज भी कर रही है।

सचमुच, मनुष्य की सुख-सुविधाओं के लिए उस दयालु देव ने इस सृष्टि की रचना कितनी ममता से की है। यह सूर्य, ये समुद्र, कितने प्रचंड हैं ये महाभूत! परंतु मनुष्य की सेवा के लिए भगवान् ने उन्हें भी प्रस्तुत किया। देर तक खेलने के बाद बच्चे दोपहर में प्यास से परेशान होकर आएँगे, यह जानकर और उस समय उन्हें शीतल और मीठा जल प्राप्त हो इस हेतु से सुबह ही उनकी माताएँ कुएँ से पानी निकालकर मिट्टी के बरतनों में रखती हैं, ठीक उसी प्रकार ग्रीष्म काल में नदियों का पानी सूख जाता है इसलिए पहले ही सूर्य भगवान् समुद्र का पानी अपनी किरण रूपी रस्सियों से खींचकर मेघों में संगृहीत करता है और समुद्र का खारा पानी मीठा बनाकर पृथ्वी पर भेजता है, जिससे देवता भी ईर्ष्या करने लगते हैं। सूर्यदेव समुद्र का खारा जल मीठा बनाते समय इतनी सावधानी अवश्य रखता है कि समुद्र का संपूर्ण जल ही मीठा न हो जाए! केवल एक वर्ष के लिए आवश्यक जल ही मीठा बनाकर रखने की शक्ति सूर्य रश्मियों में होती तथा संगृहीत करने की शक्ति मेघों में होती है, नहीं तो समस्त समुद्र का जल मीठा बन जाता और मनुष्य को नमक ही नहीं मिलता जिससे उसका गृहस्थाश्रम ही फीका हो जाता।

देखिए इन पशुओं को, जो मनुष्य की सेवा और सुख के लिए आवश्यक समझकर निर्माण किए गए हैं। पशु विविध तथा आवश्यकतानुसार बुद्धिमान् होते हैं। मरुस्थल में मनुष्य के लिए जहाज समान, पेड़ों के काँटे खाकर और बिना पानी के कई माह तक चलते रहने की कला जिसे सिखाई गई, ऐसा ऊँट देखिए। वह घोड़ा कितना चपल! उसपर सवारी करनेवाले मनुष्य को रण-मैदान में भी सँभालकर ले जाने और मनुष्य के साथ अत्यंत प्रामाणिकता से रहने की बुद्धि उसे भगवान् ने दी है। परंतु मनुष्य के ऊपर की सवारी करने की बुद्धि उसे नहीं दी। अब गाय

देखिए, उसके सामने एक तरफ सूखी घास खाने के लिए डाली जाए और दूसरी ओर उसी घास से बना हुआ ताजा और जीवनप्रद दूध बरतन भर-भरकर लिया जाए। ऐसा यह आश्चर्यकारक रासायनिक यंत्र जिस भगवान् ने बनाया है वह भगवान् सचमुच कितना दयालु होगा! और वह पुराना यंत्र टूटने पर नया यंत्र बनाने का श्रम भी मनुष्य को न करना पड़े, अतएव उसमें ही व्यवस्था की गई है। पहले यंत्र में दूध देते-देते वैसे ही नए अजब यंत्र तैयार करने की व्यवस्था भी की है।

गेहूँ का केवल एक दाना बोने पर उसके सौ दाने तैयार होते हैं। आम रस, स्वाद, सत्त्व से भरपूर देवफल। आम इतना उपजाऊ कि एक बीज बोते ही उसका वृक्ष बनकर प्रतिवर्ष हजारों आम्रफल देता है। यह क्रम वर्षानुवर्ष से चल रहा है। एक आम से उत्पन्न लाखों फल खाने के उपरांत भी मनुष्य को आम्रफल का अभाव न हो, अत: आम्रवृक्ष की डालियों की कलमें लगाकर उनकी अमराइयाँ बनाई जाने का प्रबंध इस दुनिया में भगवान् ने ही कर छोड़ा है। एक कण से मन भर चावल, बाजरा, ज्वार आदि नाना प्रकार की सत्त्वपूर्ण फसलें, एक बीज डालकर एक-एक पीढ़ी को सहस्राधिक फल उपलब्ध करानेवाले ये वृक्ष जैसे कटहल, अनन्नास, अंगूर, अनार आदि और घास के समान तुरंत उगनेवाली रुचिकर, बहुगुणी, विविध रसों से पूर्ण शाक-सब्जी, फल-सब्जी जगत् में उपलब्ध हैं। गन्ना जो संपूर्ण मीठा है, शक्कर के पाक से भरा हुआ और इतना उपलब्ध होता है कि मनुष्य की अपनी आवश्यकता समाप्त होने पर वह उसे बैलों को खिला देता है। जगत् में इस प्रकार हर चीज की निर्मिति करके भगवान् ने मानव पर असीम कृपा की है। उस संबंध में मनुष्य भगवान् का उऋण कैसे होगा?

वैसे ही मनुष्य की देह की यह रचना। पाँव के तलुवों से लेकर मस्तिष्क के मज्जातंतु के सूक्ष्मातिसूक्ष्म पिंडों तक इस शरीर की रचना मनुष्य को सुखद होगी, इस प्रकार सृष्टि करते समय भगवान् ने जो एक-एक बाल की चिंता रखी है उसकी बात कहाँ तक सुनाऊँ? मनुष्य की आँख की बात लें, उसे कितने युगों से, कितने प्रयोगों के बाद, कितने निरंतर प्रयास करके आज जो आँख है वैसी तू बना पाया है। प्रथम प्रकाश के किंचित् संवादी ऐसा एक त्वग् बिंदु; प्रकाश को नहीं अपितु केवल उसकी छाया को जाननेवाला, अँधेरा और प्रकाश इतना ही जाननेवाला वह त्वग् बिंदु, उसमें प्रयोग करके, बार-बार परिवर्तन करके आज की यह सुंदर आँख, महत्त्वाकांक्षी आँख भगवान् तूने बनाई। मनुष्य की इसी महत्त्वाकांक्षी आँख से उसकी दूरदृष्टि टपक रही है, इसलिए हे भगवन्, तेरी कला द्वारा तुझे पराजित करने के लिए दूरबीन के प्रतिनेत्र निर्माण करके वह तुम्हारे आकाश की प्रयोगशाला का ही अंतरंग देखना चाहता है। इतना ही नहीं अपितु तुम्हें भी उस दूरबीन में पकड़

कहीं प्रत्यक्ष देखने का प्रयोग कर रहा है। और उस मानव की आँखों को प्रसन्न करने हेतु सुंदरता का और विविध रंगों का जो महोत्सव भगवान्, तूने त्रिभुवन में शुरू किया है उसकी झाँकी का क्या वर्णन करें? यह पारिजात का सुकोमल फूल, वह सोनचंपा का सुगंधमत्त सुमन! यह मयूर, एक-एक मोरपंख की बनावट, उसके रंग, उसमें चमक और उसका नटना! आदि कलावंत! अनेक मोरपंखों का पुच्छ फैलाकर जब आनंद से उन्मत्त होकर मोर नाचता है, तब हे भगवान्, तेरी ललितकला कुशलता देख मैं कृतकृत्य हो जाता हूँ। वाह! धन्य देव, धन्य तेरी, वाह! ऐसे उद्‌गार करते हुए मेरा हृदय भी नाचने लगता है। और ऐसी पुच्छ मनुष्य को क्यों नहीं दी, यह सोचकर मन नाराज भी होने लगता है। इस प्रकार नयनाह्लादक रंग और श्रवणाह्लादक मधुर सुर निकालनेवाले शताधिक पक्षी इस दुनिया में आनंदविभोर होकर मंजुल ध्वनि कर रहे हैं। गुलाब, चमेली, बकुल, जाईजुई, चंपा, चंदन, केतक, केवड़ा के वन में फूलों की वर्षा हो रही है। और सुगंध से सारा आसमान सुवासित हुआ है। मानवों में ये प्रीतिरति और मानस सरोवर में कमलिनी, कुमुदिनी प्रफुल्लित हो रही हैं। जिस दुनिया में रात्रि में तारिकाएँ हैं, उषाकाल गुलाबी है। तारुण्य प्रफुल्लित है, निद्रा गहरी आती है, भोगों में रुचि है, योग में समाधि है, इस प्रकार हे भगवान्, यह जग तूने हमारे लिए सुखमय बनने दिया, बनने दे रहा है, इसलिए तूने हमारे सुख हेतु ही ऐसा होने दिया—ऐसा हम क्यों न सोचें? हमें जैसी हमारे संतान के प्रति ममता है इसलिए हम उसके सुख की चिंता करते हैं उसी तरह तू भी हमारे सुख के लिए इतना चिंतित रहता है, तब निश्चय ही तुमको हम मनुष्यों से ममता होनी ही चाहिए। भगवान्, हम मानव तेरी संतानें हैं। तुम हमारी सच्ची माता हो! माँ को भी दूध आता है तेरी कृपा से! हम मनुष्य तेरे भक्त हैं और भगवान्, तुम हम मनुष्यों के देव हो।

इतना ही नहीं अपितु तू हम मानवों का देव है और हमारा तेरे सिवाय दूसरा देव नहीं। यह सारा जगत् तूने हमारी सुख-सुविधा के लिए ही बनाया है।

मनुष्य की इच्छा से मिलती-जुलती यह विचारधारा सत्य से मिलती हुई रह सकती थी, यदि इस दुनिया की प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक स्थिति मनुष्य के लिए उपकारक और सुखदायी होती! परंतु दुर्भाग्य से इस सारी दुनिया की बात तो रहने दो, मनुष्य प्रारंभ में जिस पृथ्वी को स्वाभाविक रूप से 'संपूर्ण जगत्' संबोधित करता था, जिस पृथ्वी को विश्वंभरा, भूतधात्री ऐसे नामों से अभी भी गौरवान्वित करता है, उस पृथ्वी पर भी वस्तुजात या वस्तुस्थिति मनुष्य को संपूर्णतः अनुकूल नहीं; इतना ही नहीं अपितु इसके विपरीत अनेक प्रसंगों में मारक ही है।

जिस सूर्य और समुद्र के उपकार का स्मरण करते हुए उनके स्तोत्र गाए गए वह सूर्य और वह समुद्र ही देखो! धूप से तप्त होकर चक्कर खानेवाले पथिक पर,

लाठी के दो-चार वार लगते ही अर्धमृत होने पर, हम जैसे अंतिम चोट करके साँप को नष्ट कर देते हैं वैसे ही यह सूर्य अपनी प्रखर किरणों से अंतिम चोट लगाकर मनुष्य को उसी जगह पर मार देना नहीं भूलता। जिस भारत में लाखों ब्राह्मण उस सूर्य को सुबह-शाम अर्घ्य देने के लिए खड़े होते थे, उसी भारत में धार्मिक काल में भी दुर्गा देवी के दुर्भिक्ष को बार-बार उत्पन्न कर सूर्य अपनी प्रखर आँखों से लाखों जीवों को जीते-जी जला देता है। कुरान के तौलिद में भक्त पैगंबर ने प्रशंसा की है कि 'मनुष्य के लिए हे भगवन्, तूने कितनी असंख्य मछलियाँ, कितना रुचिकर यह अखंड अन्नसंग्रह इस समुद्र के पेट में रखा है। परंतु वही समुद्र मनुष्य को निगलनेवाले अजस्र मगरों को और प्रचंड हिंस्र मछलियों को भी बिना पक्षपात के पाल रहा है। मानवों की नौकाएँ अपनी पीठ पर ले जाते-जाते समुद्र अचानक उन्हें अपनी पीठ पर से ढकेलकर अपने जबड़े में पकड़ता है और तुरंत निगल लेता है। हजारों मानवों से ठसाठस भरी हुई नौकाएँ या प्रचंड टाइटेनिक जहाज भी नष्ट कर देता है, ठीक वैसे ही जैसे मानव समूह के साथ यात्रा करनेवाले लुटेरे पथदर्शक का स्वाँग रचकर चलते हैं और गहन वन में पहुँचते ही उन्हीं स्त्री-पुरुषों पर हमला कर उन्हें लूटते हैं और उनकी गरदन काटते हैं। कोई राक्षस-स्त्री क्रोधित होने पर एकाध बच्चे की गरदन नदी के पानी में दबाकर उसका प्राण निकलने तक अंदर ही पकड़कर रखती है। कोई हिंस्र मगर, दो-तीन सुंदर कुमारियों को, जब वे नदी जल में उतरकर सकुचाते हुए स्नान कर रही हों, उनके ककड़ी के समान कोमल पैरों को अपनी दाँतों से पकड़कर झटके दे-देकर तुरंत निगल जाएगा। परंतु यह गंगामाई, जमनाजी, देव नदी जार्डन, यह फादर टेम्स हजारों कुमारियों की, उनके बाल-बच्चों की गरदन जैसे एक ही गरदन हो, अपने जल के अंदर तब तक दबाकर रखेगा जब तक उनके प्राण-पखेरू न उड़ जाएँ। ये नदियाँ नगर-के-नगर उनका आधार उखाड़कर निगल जाएँगी।

इंजिल, कुरानादि ग्रंथों में बड़े भोले भक्तिभाव से लिखा है कि बकरा, मुरगी, खरगोश, बकरी, हिरण—ये नानाविध प्राणी इसलिए बनाए गए हैं ताकि मनुष्य को विपुल मात्रा में मांस उपलब्ध हो। हे दयालु भगवान्, तुम्हारे उन भक्तों को इस बात का क्यों विस्मरण हो जाता है कि उपर्युक्त प्राणियों का रुचिपूर्ण मांस खानेवाले इन मानवों का भी भक्षण करनेवाले सिंह, बाघ, चीता, उल्लू जैसे प्राणी उसी भगवान् ने बनाए हैं। ये हिंस्र पशु बड़ी कृतज्ञता से ईश्वर से कहें कि तूने छोटे-छोटे कोमल बालक, मनुष्य को फाड़कर खाने के बाद हमारी मुखशुद्धि हेतु प्राप्त हों इसलिए बनाए हैं, इस प्रकार मनुष्य को चीर-फाड़कर खाने के बाद उनकी हड्डियों पर बैठकर सिंह और भेड़ियों के रक्तरंजित मुख से प्रशंसा भरी कृतज्ञता

निकलती जो उसी भगवान् को प्राप्त होती। एशिया और अफ्रीका खंडों को जोड़नेवाले भूखंड जिस दिन महासागर में, उस खंड पर खड़ी वरमालाएँ हाथों में ली हुई लाखों कुमारियाँ, दूध पीते बच्चों के साथ माताएँ, अर्धमुक्त प्राणिजन, भगवान् को पुष्पांजलि अर्पित करनेवाले भक्तों के साथ, उन देवताओं की जहाँ स्तुति हो रही है ऐसे देवालयों के साथ, इस प्रकार डुबो दिए जैसे गणेश मूर्तियाँ पानी में विसर्जित की जाती हैं। उसके दूसरे दिन वेदों ने जिसका गान किया है ऐसी उष्मा मधुर हास्य करती हुई उस सन्नाटा छाए हुए दृश्य को देख रही थी। कुरान के अनुसार चंद्र की निर्मिति भगवान् ने इसलिए की है कि मानव को नमाज पढ़ने के समय का ज्ञान हो, परंतु जो-जो नमाज पढ़ रहे थे उन मुसलमानों का, मुल्ला-मौलवियों का कत्ल करके और खलीफा के घराने को मिट्टी में मिलाकर, उन लाखों लोगों के कटे हुए नरमुंडों पर बैठकर नमाज का कट्टर शत्रु चंगेज खाँ जिस दिन शांति से बैठा, उस रात को उस बगदाद नगरी में यही चंद्रमा चंगेज खाँ को भी उसका समय क्षण-क्षण गिनकर ऐसे ही बिना गलती के शांति से दिखाते हुए अपनी कौमुदी के साथ विचरण कर रहा था।

ये सुगंधित पुष्प, ये सुस्वर पक्षी, मनोहर पुच्छ फैलाकर नृत्य करनेवाले सुंदर मयूरों के झुंड, जंगल-के-जंगल अकस्मात् आग में जलाकर, चूल्हे में बैंगन भूनते हैं वैसे फड़फड़ करते-न-करते उतने में ही जलाकर राख बना देता है—वह कौन है? गाय जिसने हमें दी, वह दयालु? जिस गाय का दूध पिया उसी गाय के गोशाले में बिल (छेद) बनाकर रहनेवाला वह विषैला साँप उस गाय का दूध भगवान् के भोग के लिए दूहने आई व्रतस्थ साध्वी स्त्री को काट उसके प्राण लेनेवाला साँप, उसका जिसने निर्माण किया वह कौन है? हर एक भोग के पीछे रोग लगे रहते हैं। हर बाल के पीछे दर्द देनेवाले फोड़े, नाखूनों की बीमारियाँ, दाँतों के रोग, वह कराह, वे वेदनाएँ, वह दर्द, वह छूत और महामारियाँ, वह प्लेग, वह अतिवृष्टि, वह अनावृष्टि, वे उल्कापात! जिसकी गोद में विश्वास से अपनी गरदन रख दी वह धरती, अचानक उलटकर मनुष्य से भरे प्रांत-के-प्रांत पाताल लोक में ढकेलनेवाले और गायब करनेवाले वे भूकंप? और कपास के ढेर पर जलती हुई मशाल गिर जाए वैसे ही इस पृथ्वी के बदन पर गिरकर एकाध घास के ढेर के समान फटाफट जलानेवाले घातक धूमकेतु का निर्माण किसने किया?

यदि इस विश्व की संपूर्ण वस्तु जाति के मूल में उन्हें धारण करनेवाली, चालना देनेवाली या जिसके क्रम विकास के परिणाम हो रहे हैं ऐसी जो शक्ति है उसे देव कहना हो तो उस देव ने यह सारा विश्व मनुष्य को उसका मध्य बिंदु मानकर केवल मनुष्य की सुख-सुविधाओं के लिए बनाया है, यह भावना एकदम

भोली, अज्ञानी और झूठी है—ऐसा समझने के सिवाय उपर्युक्त विसंगति का अर्थ नहीं लगता।

किस हेतु से या निर्हेतुकता से यह प्रचंड विश्व प्रेरित हुआ? इसका तर्क मनुष्य को करना संभव नहीं। जो जाना जा सकता है वह इतना ही कि कुछ भी हुआ तो मनुष्य इस विश्व के देव की गिनती में भी नहीं। जैसे कीड़े, चींटियाँ, मक्खियाँ वैसे ही इस अनादि-अनंत काल की असंख्य गतिविधियों से यह मानव भी एक अत्यंत अस्थायी और तुच्छ परिणाम है। उसे खाने के लिए मिलना चाहिए इस हेतु से अनाज नहीं उगता, फल नहीं पकते, धनिया सुगंधित नहीं हुआ। अनाज होता है इसलिए वह उसे खा सकता है। बस इतना ही! उसे जल मिलना चाहिए इसलिए नदियाँ नहीं बहतीं। नदियाँ बहती हैं, अत: उसे पानी मिलता है, इतना ही! धरती पर जब केवल मगर ही थे तब भी सरिताएँ बहती थीं, पेड़ों पर फूल खिलते थे। लताएँ खिलती थीं। मनुष्य के बिना भी नहीं अपितु यह सूर्य, पृथ्वी नहीं थी तब भी ऐसा ही आकाश में घूमने के लिए डरता नहीं था। यह सूर्य भी अपने सभी ग्रहोपग्रह के साथ खो गया तो भी, एक जुगनू मर गया तो धरती को जैसा अभाव मालूम हो जाएगा उतना भी इस सुविशाल विश्व को अभाव मालूम नहीं पड़ेगा। इस विश्व के भगवान् को ऐसे सौ सूर्य भी किसी छूत की बीमारी मारने लगे तो भी एक पल का भी सूतक (अशौच) नहीं होगा।

फिर भी जिस किसी हेतु से या हेतु रहित विश्व की यह जगत्-व्याप्त गतिविधि चल रही है उसमें एक अत्यंत तात्कालिक और अत्यंत तुच्छ परिणाम की दृष्टि से मनुष्य को, उसकी लंबाई-चौड़ाई के गज से नाप सके इसलिए, उसकी संख्या में गिन सके इस प्रकार इतना सुख और इतनी सुविधाएँ मनुष्य भोग सकता है यह और इतना ही केवल इस विश्व के देव का मानव पर किया हुआ उपकार है। मनुष्य को इस जगत् में जो सुख मिल सकता है इतना भी उसे न मिले, ऐसी ही यह विश्व रचना इस विश्व के भगवान् ने की होती तो उसका हाथ कौन पकड़ता? यह सुगंध, ये सुस्वर, ये मुख स्पर्श, यह सौंदर्य, ये सुख, ये रुचियाँ, ये सुविधाएँ हैं और वे भी पर्याप्त मात्रा में हैं। जिस योगायोग के कारण मनुष्य को ये सब मिल रहे हैं उस योगायोग को शतश: धन्यवाद हैं। जिन विश्व-शक्तियों ने जाने-अनजाने ऐसा योगायोग उत्पन्न किया उन्हें उस हिस्से के लिए मनुष्य का देव कहने का समाधान हम उपभोग कर सकेंगे। इस प्रकार उपकृत भक्ति का, फूल चढ़ाकर उसकी पूजा कर सकेंगे।

परंतु इससे अधिक इस विश्व के भगवान् से, मार्ग के भिखारी का सम्राट् से संबंध जोड़ने जैसा बादरायण संबंध जोड़ने का लोभ मनुष्य को पूर्ण रूप से छोड़

देना ही उचित होगा। क्योंकि वही सत्य है। अपना भला भगवान् करेगा, और भगवान् भला करेगा तो मैं सत्यनारायण की पूजा करूँगा, यह आशा या अवलंब एकदम नासमसझी है। क्योंकि वह बिलकुल असत्य है। संकटों से भगवान् ने छुड़ाया इसलिए हम सत्यनारायण की पूजा करते हैं, परंतु उन संकटों में पहले आपको ढकेलता कौन है ? वही सत्यनारायण, वही देव ! जो पहले गरदन काटता है और बाद में उसे मलहम लगाता है। मलहम लगाने के लिए उसकी पूजा करनी हो तो पहले गरदन क्यों काटी ऐसा उससे पूछना नहीं चाहिए क्या ? विश्व के अंग में ये दोनों भावनाएँ बिना कारण और असमंजस की हैं।

वह विश्व की आदिशक्ति जिन निर्धारित नियमों के अनुसार व्यवहार करती है उसके वे नियम जो समझ में आएँ तो समझकर, उसमें भी अपनी मनुष्यजाति के हित में और सुख को पोषक होगी—इस प्रकार उसका जितना हो सके, उपयोग कर लेना चाहिए, इतना ही मनुष्य के हाथ में है। मनुष्यजाति के सुख को अनुकूल वह अच्छा और प्रतिकूल वह बुरा ऐसी नीति-अनीति की स्पष्ट मानवी व्याख्या की जानी चाहिए। भगवान् को प्रिय वह अच्छा और मनुष्य के लिए सुखदायी वह भगवान् को प्रिय लगता है—ये दोनों समझ उचित नहीं, क्योंकि वे असत्य हैं। विश्व में हम हैं, परंतु विश्व अपना नहीं। बहुत कम अंश में वह हमें अनुकूल है या बहुत अधिक अंश में वह हमें प्रतिकूल है। ऐसा जो है उसे ठीक तरह से, निर्भयता से, समझकर उसका बेधड़क मुकाबला करना, यही सच्ची भद्रता है, और विश्व के देव की सही-सही पूजा है।

□

ईश्वर का अधिष्ठान यानी क्या?

'सामर्थ्य आहे चळवळीचे। जो जो करील तयाचे।
परंतु तेथे भगवंताचे। अधिष्ठान पाहिजे॥'

—श्री रामदास स्वामी

अर्थात्—सामर्थ्य है आंदोलन का। जो जो करेगा उसका। परंतु वहाँ भगवान् का अधिष्ठान चाहिए।

शिवकालीन महाराष्ट्र में असाधारण क्रांतिकारी नेताओं में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त समर्थ रामदास स्वामी की यह ओवी यानी बिजली की एक ज्योत है। इतनी तेजस्वी! शिवकालीन महाराष्ट्र की प्रचंड कर्तृत्व-शक्ति की और हिंदू स्वतंत्रता-समर की केवल रण-घोषणा है।

उसके अंतिम दो चरणों में जो बताया है कि 'परंतु वहाँ भगवान् का, अधिष्ठान चाहिए' इन शब्दों से समर्थ रामदास के मन में कौन सा अर्थ व्यक्त करना उद्दिष्ट था, वह अब ठीक बताना यद्यपि कठिन है तथापि उसका अर्थ कुछ भी हो तो भी वह ओवी अपना तेजस्वी कार्य कर गई। उस परिस्थिति में इसलाम धर्म के उन्माद को कुचलने के लिए आवश्यक चैतन्य का संचार महाराष्ट्र में उसी ओवी के कारण हुआ—यह सर्वमान्य है। इसलिए आज उसका जो एक अर्थ सामान्यत: समझा जाता है और जिस अर्थ के कारण राष्ट्र में आज एक अनर्थकारी प्रवृत्ति उत्पन्न हो रही है उस अर्थ का निषेध करने पर उस ओवी का या उसके तेजस्वी, कर्मयोगी निर्माता का अल्प भी अनादर होने का दोष संभव नहीं। उस ओवी का मूल अर्थ क्या था, यह प्रश्न इस लेख में हमारे सम्मुख नहीं, परंतु उसका आज किया जानेवाला अर्थ, आज की स्थिति में कितना अनर्थकारक है और उसमें जो तत्त्व समाविष्ट है ऐसा सामान्यत: समझा जाता है, वह ऐतिहासिक और तात्त्विक दृष्टि से कितना तथ्यहीन है—यही हम इस लेख में दरशाना चाहते हैं।

आंदोलन अर्थात् मानवी प्रयत्नों का सामर्थ्य कितना ही क्यों न बढ़ाया जाए,

परंतु जिस आंदोलन को भगवान् का समर्थन न मिले, वह आंदोलन अयशस्वी होना ही चाहिए, इस तत्त्व का अर्थ निश्चित करते समय भगवान् का समर्थन यानी क्या, यह ईश्वर का अधिष्ठान यानी क्या इसका पहले निर्णय होना चाहिए। यदि भगवान् के अधिष्ठान का इतना ही अर्थ होगा कि ऐहिक और मानवी उपायों के हाथों में यश की चाबी न होते हुए मनुष्य के ज्ञान के और शक्ति के उस पार जो अनेक अज्ञात, अज्ञेय, प्रचंड अमानुषिक विश्व-शक्तियाँ हैं उनके आघात-प्रत्याघात के संघर्ष में भी यश या अपयश की संभावना हो सकती है, तो यह अर्थ सही है। अत्यंत क्षुद्र घास के तिनके के हिलने से लेकर भूकंप के, सूर्यमालाओं के भयंकर उत्पातों तक जो विश्व-शक्ति की गतिविधियाँ और संघर्ष चल रहे हैं उन सभी बलाबल के उस सीमा तक के फलित (Resultant) को घटना कह सकते हैं। इस तात्त्विक अर्थ में किसी भी आंदोलन का यशापयश भी एक परिणाम ही होने के कारण मानवी उपायों के ऊपर उस अमानुषिक शक्तियों का व्यापार ही उसका महाकारण है। उसे यदि ईश्वर का अधिष्ठान कहना हो तो मानवी उपाय और साधन जैसे प्रत्यक्ष कारण ही, किसी भी यश को अशेष करना नहीं अपितु वह अमानुषिक विश्व-शक्तियों की जटिलता, वह 'दैवं चैवात्र पञ्चमम्' योगायोग, यह उसका महाकारण भी अनुकूल होना चाहिए यह कहना यथार्थ है। मानवी आंदोलन कितना ही सामर्थ्यसंपन्न हो और वह कितना भी सफल हो तो भी उस यश का श्रेय मनुष्यकृत प्रयत्नों में न होकर अतिमानुषिक शक्तियों का व्यापार भी उसे अनुकूल होता गया, भाग्य का पासा भी वही दान देनेवाला रहा और उस भाग्य को ईश्वरेच्छा कहाँ तो देव का, ईश्वर का अधिष्ठान उसे मिला इसलिए सफल हुआ, इस ज्ञान को स्पष्ट करने का ही यदि इस ओवी का उपदेश होगा तो उसका वह तत्त्व एकदम यथार्थ है, यह निःसंशय! इतना ही नहीं अपितु जिसे हम अपनी मानवी समझ के लिए यत्न या मानवी उपाय कहते हैं, वे भी वास्तविक रूप से देखने पर उस अतिमानवी शक्ति का ही एक प्रादुर्भाव है।

परंतु इस ओवी का अर्थ ऐसे तात्त्विक अर्थ में क्वचित् कोई लेता होगा। सामान्यतः उसका अर्थ ऐसा ही किया जाता है कि मनुष्य जिसे अपने हिसाब से नीति या अनीति कहता है, दैवी संपत् या आसुरी संपत् कहता है, धर्म या अधर्म कहता है, न्याय या अन्याय कहता है, उसमें से प्रथम सत्य और दूसरा असत्य होकर जो आंदोलन उस मानवी सत्य के आधार पर खड़ा किया जाता है, उस मानवी न्याय का पोषक होता है, उस मानवी धर्म का प्रण लेकर घूमता है वही आंदोलन सफल होता है। ईश्वर उसपर ही कृपा करता है, इस अर्थ में ईश्वर का अधिष्ठान जिसे प्राप्त नहीं होता, वह आंदोलन कितना ही प्रबल हो—यशस्वी नहीं होता। इसलिए

आंदोलनकारियों को प्रथमतः वह भगवान् का अधिष्ठान प्राप्त करना चाहिए, ईश्वर कृपा का अर्जन करना चाहिए और ईश्वर की कृपा प्राप्त करने का मार्ग कौन सा है ? तो पंचांग्नि साधन, जल में खड़े रहकर द्वादशवार्षिक नामजप, योगसाधना, उपवास, एक सौ आठ सत्यनारायण, एक करोड़ रामनाम जप, निरंतर जलधारा के अनुष्ठान, भैंसे या बकरे की बलि देनेवाली मनौतियाँ, हजार दीप जलाना, लाखों दूब चढ़ाना, ब्राह्मण भोजन यज्ञयाग, दक्षिणा-दान आदि जो सैकड़ों उपाय श्रुति से शनि माहात्म्य तक भगवान् को संतुष्ट करने हेतु बताए गए हैं उनका पालन करना है। इस अर्थ में जिसे तपस्या कहते हैं वह पहले करना चाहिए और बाद में मानवी आंदोलन!

उपर्युक्त विचार सही या झूठ है यह देखने के पूर्व इतना हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि उपर्युक्त जप-तपादि साधनों की आत्मशुद्धि एवं पारलौकिक मोक्ष आदि जो फल है उनकी चर्चा हम इस लेख में नहीं कर रहे हैं। परंतु जो उनके फल प्रत्यक्ष अनुभव में कभी भी निश्चितता से मिले नहीं वे उनके फल नहीं। इतना ही यहाँ कहना है। उन साधनों के संबंध में या उनके आध्यात्मिक, पारलौकिक परिणामों के संबंध में जिसको जैसा आदर और निष्ठा हो, वैसा वह सुख से आचरण करे। उससे प्राप्त होनेवाला आत्मप्रसाद यह किसी भी आनंद भौतिक की अपेक्षा निरूपम आंतरिक सुख का साथ जिसे दे सकता है, वह उसका सुख से आस्वाद ले। परंतु वैसे अर्थ के ईश्वरीय अधिष्ठान पर, उपर्युक्त पंक्तियों में जिन राष्ट्रीय उत्थान आदि भौतिक आंदोलनों की ऐहिक सफलता का उल्लेख किया गया है, वह सफलता एवं अपयश बहुत करके बिलकुल निर्भर नहीं होता। प्रमुखता से उसके भौतिक सामर्थ्य पर अधिष्ठित होता है इतना ही यहाँ दरशाना है।

महाराष्ट्र के इतिहास के एक पृष्ठ के दो पार्श्व

मुसलमानों के कब्जे से हिंदुस्थान को मुक्त करने के लिए हिंदू पदपादशाही का जो प्रचंड स्वतंत्रता युद्ध हम हिंदुओं ने किया और जीत लिया, उसी के प्रमाण से उस समय में रचित उपर्युक्त ओवी के अर्थ पर यह भाष्य सदा करने में आता है कि वह प्रचंड राष्ट्रव्यापी उठाव, वह आंदोलन सफल होने का मुख्य कारण उसके मूल में ईश्वरीय अधिष्ठान का होना है। नाना साधु-संत जो हरिनाम का अखंड जाप महाराष्ट्र में करते रहे, ज्ञानेश्वर जैसे महापुरुषों ने यौगिक सिद्धि प्राप्त की, अलौकिक चमत्कार करनेवाले सहस्रावाही पुण्य पुरुष जो जप-तप, अनुष्ठान, व्रत, वैकल्यादि प्रकार से ईश्वरीय कृपा प्राप्त करने हेतु तपस्या करते थे, उसके कारण भगवान् प्रसन्न हो गए। वह उस प्रकार ईश्वरीय अधिष्ठान मिला अतएव वह आंदोलन समर्थ और यशस्वी हो गया। इस प्रकार के युक्तिपाद से हिंदू पदपादशाही को

स्थापित करने हम हिंदू वीरों ने लड़कर जो जय प्राप्त की, उस जय का और उस लड़ाई का प्रमाण जिस कारण, ईश्वरीय अधिष्ठान के सिद्धांत को दिया जाता है उस अर्थ में उसी काल के इतिहास की छानबीन करके हम वह प्रमाण कितना लँगड़ा है—यह दिखाना चाहते हैं। इतना ही नहीं अपितु हिंदू पदपादशाही उन साधनों से या उस प्रकार के ईश्वरीय अधिष्ठान से जीती नहीं गई, बल्कि वह भौतिक विजय, ऐसे स्वातंत्र्य युद्ध को जो भौतिक साधन संपादन कर सकते हैं वैसे भौतिक साधनों से ही हम प्राप्त कर सकते हैं यह सिद्ध करने के लिए उस काल के समान उचित उदाहरण मिलना दुर्लभ होने के कारण उसी को ही हम अपनी ओर से प्रमाण के रूप में चुनते हैं।

सामान्यत: सन् १३०० से १६०० तक के काल को महाराष्ट्र के इतिहास के, भारत के इतिहास का ही कहिए, एक पृष्ठ मानें तो उसमें इस ईश्वरीय अधिष्ठान की दृष्टि से कितना आश्चर्य दिखता है। प्रथम दर्शन में ही ज्ञानेश्वर जैसे महायोगी का दर्शन होता है। यदि कभी तपस्या से, योग से, पुण्य से किसी मनुष्य में भगवान् का अधिष्ठान सुव्यक्त हुआ हो तो इस अलौकिक पुरुष में ही। भैंसे से वेद कहलाए, दीवार को चलाया, हरिनाम के घोष से महाराष्ट्र को भर दिया ऐसे ज्ञानेश्वर, निवृत्ति, सोपान, मुक्ताबाई अपनी अलौकिक दैवी शक्ति की महाराष्ट्र में केवल लूट कराते थे। जिधर देखो उधर दैवी चमत्कार! उसी क्रम में संत नामदेव, जनाबाई, गोरा कुम्हार, दामाजी पंत, साँवला माली, रोहिदास चमार, चोखा महार ये सब जीवन्मुक्त थे और इन सबसे प्रत्यक्ष पांडुरंग मिलते रहते थे। उनके उपरांत एकनाथ, तुकाराम, ब्राह्मण बाडे से महार बाडे तक महाराष्ट्र में घर-घर में साधु-संत, सिद्ध-योगी, घर-घर भगवान् का आना-जाना, प्रतिदिन प्रात:काल में किसी अलौकिक चमत्कार की नई वार्त्ता! आज क्या भैंसे ने वेद पढ़ा, कल दामाजी पंत के लिए प्रत्यक्ष भगवान् ने विठू महार के वेष में बादशाह के दरबार में उपस्थित होकर दंड स्वरूप धन की राशि दे दी। तुरंत इसकी खबर आई कि उस धन को बादशाह स्पर्श करने गया तो वह फूलों के ढेर में बदल गया। कभी भगवान् रैदास के घर जूते सिला रहे हैं तो कभी एकनाथ के घर में पानी भर रहे हैं, कभी जनाबाई के घर चक्की चल रही है तो कभी नामदेव के साथ भोजन कर रहे हैं, तो कभी पंढरी का मंदिर वेग से घूम रहा है। आज चोखा महार की पंक्ति में बैठकर पांडुरंग प्रेम भाव से भोजन कर रहे हैं तो कल दुष्ट लोगों द्वारा चोखा को गाड़ी से बाँधकर खींचकर मार डालने की सजा सुनाने पर स्वयं श्रीकृष्ण जाकर गाड़ी को रोकते हैं। किसी के द्वार पर भगवान् दत्तात्रेय अपने श्वानों को लेकर खड़े हैं तो किसी के हाथ में ग्रंथ लेखन हेतु विठोबा कलम दे रहे हैं। मृत व्यक्ति

जीवित हो रहे हैं तो जीवित स्वयं को समाधिस्थ कर रहे हैं। मनुष्यों के साथ भगवान् बोल रहे हैं, हँस रहे हैं, खाना खा रहे हैं। स्वयं रामचंद्र कथा सुन रहे हैं, प्रत्यक्ष हनुमानजी संत के पीछे खड़े रहकर कथा का साथ दे रहे हैं! उस समय के संत चरित्र ऩी ये घटनाएँ पढ़ते समय ऐसा लगता है कि यह महाराष्ट्र भूमि उस काल में मानवों की नहीं, देवों की भूमि हो गई थी। उस समय में देवों का निवासस्थान महाराष्ट्र था—वैकुंठ नहीं था।

परंतु पुण्यशील, जप-तप, योगयाग से पवित्र अलौकिक चमत्कारों का जो युग, मानो भगवान् की कृपा की छाया ही, जो ईश्वर का मूर्तिमंत अधिष्ठान इस प्रकार के महाराष्ट्र के इतिहास के इस पृष्ठ के इस ओर सुवर्णाक्षरों में लिखा हुआ पढ़ने के बाद जब हम उस पृष्ठ को पलटकर दूसरी तरफ देखते हैं तो क्या होता है? भगवंत का अधिष्ठान यदि उपर्युक्त अर्थ में होगा तो वह उस पुण्यतम काल में महाराष्ट्र में था ही और यदि भगवान् के इस प्रकार के अधिष्ठान के कारण राष्ट्र की भौतिक सामर्थ्य, राज्य, स्वातंत्र्य ये सफल होते तो उस अवधि के महाराष्ट्र की स्वतंत्रता की और राज्य की प्रबलता अद्वितीय, दुर्धर्ष ही होनी चाहिए थी। परंतु सुवर्णाक्षर से लिखित इस पृष्ठ की यह देवाधिष्ठित बाजू पलटते ही दूसरी बाजू जो दिखती है वह देवों की भौतिक विजय की नहीं अपितु राक्षसों की विजय की है। इस प्रकार देव के अधिष्ठान से सुसंपन्न काल में ही महाराष्ट्र की स्वतंत्रता और राज्य धूल में मिलकर उस देव के अधिष्ठान पर राक्षसों के राज्य का भव्य भवन खड़ा हो गया—ऐसा दिखाई देता है। उन पापी परंतु प्रबल मुसलमानी अत्याचारों को पुण्यशील और देवों के लाड़ले लोगों पर विजय मिली।

हाय! हाय! देखो, नया दुष्ट योगायोग है यह। परमयोगी ज्ञानेश्वर महाराज ने 'ज्ञानेश्वरी' लिखकर अपनी कलम नीचे रखी ही कि इतने में ही अलाउद्दीन खिलजी अपने दस-पंद्रह हजार लोगों की सेना लेकर करोड़ों हिंदू के दक्षिण भारत में बकरियों के झुंड में जैसा शेर घुसता है वैसा घुसा। ज्ञानेश्वर के भगवान् के अधिष्ठान का पूरा समर्थन उनके आश्रयदाता रामदेव राव को था। परंतु अलाउद्दीन विंध्याद्रि पर्वत पार करके आया, यह समाचार भी पूरे तौर से उसे ज्ञात नहीं हुआ तो ही उसने सीधे देवगिरी पर चढ़ाई कर दी और रामदेव राव की हरिभक्त विशाल हिंदू सेना का उस हरिद्वेष्टा ने नाश कर दिया। उसका हिंदू राज्य समाप्त किया। उसकी पुनः स्थापना करने हेतु निकले हुए परमशूर शंकर देव को जीते-जी पकड़कर उसके अंग की चमड़ी उधेड़ दी गई और उसे मार डाला गया। ज्ञानेश्वर, निवृत्ति, सोपान, मुक्ता, नामदेव, गोरा कुम्हार आदि संत-महंत घर-घर देव के साथ हँसते हुए, खाना खाते हुए, बोलते हुए, भगवान् का अधिष्ठान ही

नहीं अपितु प्रत्यक्ष राजधानी हुई ऐसा महाराष्ट्र और उधर बिहार-बंगाल-अयोध्या-काशी में हिंदू राज्यश्री मुसलमानों के घोड़ों की टापों के नीचे कुचली जा रही थी। राजपूत वीरों के समूह-के-समूह रणांगण में मारे जा रहे थे। आज या कल इतना ही प्रश्न था। परंतु विंध्याद्रि उतरकर वह मुसलमानी प्रलय दक्षिण पर टूट पड़ेगा—यह स्पष्ट हो गया था। ज्ञानेश्वर के सामने ऋद्धि-सिद्धि हाथ जोड़कर खड़ी थी इसलिए भैंसे के मुख से वे वेद कहला सके, परंतु 'रामदेव राजा', अलाउद्दीन तुझपर हमला करने वाला है' यह सामान्य सूचना, जो डाकिया भी दे सकता है, वह न तो ज्ञानेश्वरजी ने स्वयं और न ही भैंसे के मुख से रामदेव राय को दी। ज्ञानेश्वरजी एक निर्जीव दीवार को चला सके, परंतु सजीव मानव अपने मंत्रबल से विंध्याद्रि के मार्ग पर खड़े करके अलाउद्दीन का मार्ग नहीं रोक सके। सन् १२९४ में अलाउद्दीन ने दक्षिण में पहला कदम रखा और बड़े जोश से मुसलमानों ने हिंदुओं की पिटाई की। उनकी राजधानियाँ भी नष्ट कर दीं। हिंदुओं के राज्य, सेनाएँ, देव-देवताओं को ध्वस्त कर द्रुत गति से आगे बढ़ते गए। सन् १३१० तक उन्होंने रामेश्वर तक के समस्त हिंदू राज्य नष्ट करके हिंदूविहीन राज्य बनाकर रामेश्वर में मसजिद बनवाई। इधर विठोबा की नगरी पंढरपुर में संत की टोलियाँ भगवान् के नामघोष में मग्न थीं तथा कुछ टोलियाँ गाँव-गाँव घूम रही थीं। उनके घरों में प्रत्यक्ष रूप से भगवान् अवतरित होकर कहीं जूते गाँठते थे तो कहीं मिट्टी से मटके बनाते थे। कहीं साथ में पीसने लगते थे तो कहीं बादशाह द्वारा माँगने पर दंड की राशि जमा करते थे। इतना ही नहीं अपितु जप-जाप्य, व्रत-कैवल्य, योगायोग, नाम सप्ताह, स्नान-संध्या मानो पर्व काल चल रहा था। उधर मुसलमानों की एक नहीं, पाँच राज-सत्ताएँ हिंदुओं की छाती पर तांडव करने लगीं। हिंदुओं के घर से 'देव-देवी' धर्म भ्रष्ट करते थे, परंतु हर देवता को दो से अधिक हाथ होते हुए भी उनमें से किसी ने अलाउद्दीन का या मलिक अंबर का हाथ नहीं पकड़ा। बादशाह की खंडणी हमने दी, परंतु 'मेरे हरिभक्तों से खंडणी माँगनेवाले तुम कौन हो?' ऐसा प्रश्न गर्जना से पूछते हुए दाढ़ी खींचते हिंदू-सिंहासनों से उन्हें नीचे नहीं उतारा। जनाबाई के साथ पीसने का कार्य करनेवाले दयालु भगवान् ने, उस पिसाई से करोड़ों गुना अधिक महत्त्व हिंदू समाज के लिए जिस पिसाई का था उसके लिए आगे बढ़कर अपनी क्रोध की चक्की में पीसकर उन्हें नष्ट नहीं किया। पुण्य-पुरुष एकनाथजी भगवान् के अधिष्ठान से संपन्न; परंतु उनके मुख पर बार-बार पापी यवन थूकते थे। हजारों हिंदू युवक-युवतियाँ गुलाम बनाई जा रही थीं और राजकन्याएँ दिल्ली के महलों में मुसलमानों की दासियाँ बना दी गई थीं; परंतु संत रैदास के घर जूते बनानेवाले भगवान् को उनकी करुणा नहीं

आई। काशी से रामेश्वर तक के मंदिरों को मुसलमानों ने गिराया और मूर्तियों को मसजिद की सीढ़ियों में लगाया; परंतु हिंदुओं के भगवान् को इन मुसलिम अत्याचारों से क्रोध नहीं आया। एरवाद हिंदू मनौती का नारियल चढ़ाने के लिए भूल जाए तो, या हिंदू गाँव बहिरोबा को वार्षिक बकरा चढ़ाने में भूल जाए तो भगवान् को अवश्य क्रोध आता था, जिसके कारण उस हिंदू व्यक्ति का कुलक्षय होता और उस गाँव की हिंदू जनता पर महामारी रूपी गधे का हल चलता था।

राजा रामदेव राय, गो-ब्राह्मण प्रतिपालक और न्यायी था। उसके पक्ष में सत्य था। भगवान् का अधिष्ठान उसके राज्य को प्राप्त था। परंतु उसके राज्य का नाश किया गया। किसने किया ? जो अन्यायी था, जिसका पक्ष असत्य का था, जो केवल गो-ब्राह्मण विध्वंसक, यज्ञनिंदक, मूर्तिभंजक था। भगवान् का अधिष्ठान माननेवाले हम जिन्हें ब्रह्मात्यादि पंचमहापातक मानते हैं वे ही जिनके महापुण्य हैं उन भगवान् द्वेषी, मुसलमानी अत्याचारों ने उस भगवान् के अधिष्ठान पर स्थित सदाचारी, स्नान-संध्याशील हिंदू समाज का ठोकर मारकर नाश किया।

जो बात मुसलमानों की वही बात ख्रिस्ती पुर्तगीजों की। हम जिसको भगवान् का अधिष्ठान कहते हैं वह उनके आंदोलन में कैसे होगा ? इसके विपरीत हमारे देवताओं का द्वेष ही उनके आंदोलन का अधिष्ठान होगा। परंतु यश उन्हें मिला। कहाँ पुर्तगाल! वहाँ से मुट्ठी भर लोग आते हैं, गोमांतक में घुसते हैं, घोड़े पर बैठकर प्रदेश की परिक्रमा करते हैं और उस देश पर नगरों में उनके ध्वज लगाए जाते हैं। मारो-पीटो, जलाओ-भूनो, ख्रिस्ती बनाओ, जो नहीं बनेंगे उनकी हत्या करो, इस प्रकार उन चांडालों ने हिंदुओं पर अत्याचार किए। सैकड़ों दूध-पीते नन्हे बच्चों, तरुण कन्याओं को दास बनाकर उन्हें यूरोप-अफ्रीका के बाजारों में सब्जी की तरह बेचा। यज्ञोपवीत, शादियाँ, पूजा ये समस्त हिंदू संस्कार दंडनीय घोषित हो गए। अपने प्राणों की रक्षा हेतु लोग भाग गए, परंतु श्रीमंगेश, शांतादुर्गा जैसे देवता भी अपनी मूर्तियों का भंजन न हो जाएँ इस हेतु पलायन कर गए। ये देवता अपने भक्तों की सुरक्षा करने की बजाय उनके ही कंधों पर रखी हुई पालकियों में बैठकर भाग गए।

मुसलिम और ख्रिस्तों का प्रलाप

उपर्युक्त वर्णन पढ़कर प्रत्येक मौलवी और मिशनरी कहेगा कि हिंदुओं का भगवा झूठ सिद्ध हुआ। जप-जाप आदि हिंदू-पुराणों के साधनों से देव प्रसन्न नहीं होता, इससे पुराण की पराजय ही सिद्ध होती है। कुरान-बाइबिल की विजय स्पष्ट करती है कि भगवान् का अधिष्ठान मूर्तिभंजक धर्म को ही प्राप्त होता है। कुरान-

बाइबिल में बताए गए नमाज, रोजा, क्रॉस, ख्रिस्त मासादि साधनों से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं। भगवान् के अधिष्ठान के ऐसे प्रलाप पीर-पादरी ने भी हजारों बार किए थे। उनके इतिहास ने उन्हें भी झुठलाया। देखिए किस प्रकार—

मुसलिम धर्म के उदय के साथ अरब लोगों को एक के बाद एक आश्चर्यकारक विजय प्राप्त हो गई थी। विजय प्राप्त हुई उनके आंदोलन की सामर्थ्य से; परंतु वे समझते थे कि यह कुरान के मूर्तिभंजक धर्म का ही परिणाम है। अल्लाह मुसलमानों की सहायतार्थ गुप्त रीति से देवदूतों की सेनाएँ भेजता है। इसलिए उनके सामने काफिर या ख्रिस्ती लोग टिक नहीं सकते। इस भावना से वे युक्त थे। पुर्तगाल से पेकिंग तक वे बड़ी तेजी से पहुँचे, परंतु जब उनसे अधिक साधनों का अनुशासन, सीसे की गोलियाँ, तलवार की तेज धार की सहायता से सुसज्ज होकर गैर-मुसलमान उठ खड़े हुए तब कुरान को झूठा कहनेवाले लोगों को स्पेनिश ख्रिस्तों की विजय हुई। मुसलमानों को भी उनके कुरान के भगवान् का अधिष्ठान नहीं के बराबर हुआ। नमाज पढ़नेवाले लोगों को नमाज पाखंड है कहनेवाले काफिरों ने काटा। ख्रिस्ती भौतिक सामर्थ्य में जब कमजोर थे तब मुसलमानों ने भी ख्रिस्तियों को जीता। अपनी आपस की फूट, अज्ञान, भय इनसे कमजोर होते ही उन्हें ख्रिस्तियों ने जीत लिया। इस प्रकार कुरान के शास्त्र को ख्रिस्ती लोगों ने झुठलाया। ख्रिस्तों के बाइबिल को कुरान ने झुठलाया। इतना ही नहीं अपितु मेरा ही जेहोवा सब पर विजय पाता है—ऐसी गर्जना करनेवाले ज्यू लोगों को मुसलिम तथा ख्रिस्ती लोगों ने पराजित किया। 'मूर्तिपूजकों को कभी विजय नहीं मिलेगी' ऐसा कहनेवाले ख्रिस्ती और मुसलमानों की मराठों ने वही स्थिति कर दी। क्योंकि सन् १६०० तक हिंदुओं को बरबाद करनेवाले पुर्तगीज तथा मुसलमानों के राज्यों की अपेक्षा सन् १६०० के बाद हिंदुओं ने अपने संगठन, अनुशासन अधिक अच्छा करने से, आंदोलन हेतु आवश्यक सामर्थ्य प्राप्त करने से, प्रत्यक्ष सृष्टि में जो भौतिक साधन सफलता देते हैं उन्हें उचित तरीके से प्राप्त करने से, भंडारों में सूखी बारूद भरने से, हाथ की तलवार तीक्ष्ण, भाले का टोक अच्छा, बाघनख ढकी हुई भौतिक तैयारी मुसलमानों से अधिक अच्छी करने से सन् १६०० से १८०० तक महाराष्ट्र के हिंदुओं ने अहिंदुओं को पीटा। उसी मूर्तिपूजक हिंदू ने कुरान और बाइबिल से 'मूर्तिभंजक को जय मिलती है' कहनेवाले शास्त्रों को झुठलाया। इतना ही नहीं अपितु मूर्तिभंजक ख्रिस्ती या मुसलमान जहाँ मिला वहीं उसको पीटा। पुराण को पूर्व में कुरान ने झुठलाया, अब पुराण ने कुरान को झुठलाया। केवल आंदोलन की भौतिक सामर्थ्य से खड़ी की हुई महाराष्ट्रीय हिंदू पदपादशाही पर अहिंदुओं की—

'इराणापासूनि फिरंगणापर्यंत शत्रूची उठे फळी।
सिंधुपासूनि सेतुबंधपर्यंत रणांगणभू झाली॥
तीन खंडिच्या पुंडांची त्या परंतु सेना बुडवीली।
सिंधुपासूनि सेतुबंधपर्यंत समरभू लढवीली॥'

अर्थात्—ईरान से इंग्लैंड तक शत्रु की सेना खड़ी हुई और उन्होंने सिंधु नदी से रामेश्वर के सेतुबंध तक रण-मैदान बनाया। परंतु इन आक्रमणों की अल्प सेना को सिंधु से लेकर सेतुबंध तक हिंदुओं ने लड़कर समाप्त किया।

और आश्चर्य की बात तो यह है कि ज्यों-ज्यों स्नान-संध्याशील देवों का अधिष्ठान कम होता गया, महाराष्ट्र में संत-महंतों की फसल कम होने लगी, धार्मिक उपायों की अपेक्षा भौतिक साधनों पर अधिक जोर बढ़ने लगा और देवों का अधिष्ठान कम होने लगा, त्यों-त्यों महाराष्ट्र की झोली सफलता से भरती गई।

सारांश यह कि जिस महाराष्ट्रीय इतिहास का उल्लेख करते हुए यह सामर्थ्य की ओवी लिखी गई है, उसी हिंदू-मुसलमानों के महायुद्ध का साक्ष्य यह दरशाता है कि 'सामर्थ्य है आंदोलन की, जो-जो करेगा उसका' और इतना ही सही है। जिस आंदोलन को ऐहिक यश की अपेक्षा हो उसे ऐहिक, भौतिक, प्रत्यक्ष सृष्टि में उपयोगी जो साधन होंगे समस्त प्राप्त कर विपक्ष को सामर्थ्य में मात देनी चाहिए तो वह आंदोलन बहुधा सफल होता है। फिर उस आंदोलन को अपनी-अपनी पोथियों में लिखित कल्पना समान न्याय का, पुण्य का, स्नान-संध्याशील उपायों से प्राप्त भगवान् के आध्यात्मिक अधिष्ठान का समर्थन हो या न हो। यही बात दुनिया के पारसी, ख्रिस्ती, मुसलमान, यहूदी आदि की, उनके धर्मग्रंथों के वचनों की तथा उनके इतिहास की है। इनमें प्रत्येक ग्रंथ को ये संबंधित लोग ईश्वरदत्त मानते हैं। उनमें से एक का देव दूसरे का राक्षस होते हुए भी, वह प्रत्येक देव अपने ग्रंथ द्वारा बार-बार गर्जना करता था कि मैं अपने भक्तों को 'काफिर' या 'पाखंडी' को जो मेरे ग्रंथ में कथित कर्मकांड का अनुसरण न करता हो, पर विजय देता रहूँगा। इस अपने भगवान् के अधिष्ठान की सहायता अपने उद्धार के लिए मिले इसके लिए उन लोगों ने उन ग्रंथों के बहुधा परस्पर विरोधी धार्मिक कृत्य किए। किसी ने गोवध करके भगवान् का अधिष्ठान पूरा किया तो किसी ने गाय को और उसके गोमय, गोमूत्र को भी पवित्र मानकर! परंतु ऐहिक यश उनमें से किसी को भी भगवान् के इस अधिष्ठान से मिल नहीं सका। जिनके आंदोलनों में अन्य लोगों से अधिक भौतिक सामर्थ्य थी, वे उस आंदोलन के लिए ऐहिक विजय प्राप्त कर पाए। वह भौतिक सामर्थ्य लुप्त होते ही उनके देवताओं के साथ वे नष्ट हो गए। मानवों ने अपनी-अपनी इच्छानुसार जो धर्माधर्म की, न्यायान्याय की, पाप-पुण्य की अच्छी-

बुरी कल्पनाएँ कीं उसका भगवान् को किसी प्रकार पक्षपाती अहंकार भी नहीं दिखाई देता। तब जिन-जिनको अपने आंदोलन को यश चाहिए, उसने हमारे पक्ष को न्याय है, हमारे पक्ष को देव है, सत्य है अतएव हमारा पक्ष विजयी होगा ही—ऐसा प्रलाप करना छोड़कर और अंधश्रद्धा से निश्चित रहने की बजाय धार्मिक अर्थ से भगवान् के अधिष्ठान के पीछे न पड़ते हुए 'सामर्थ्य है आंदोलन की, जो-जो करेगा उसका।' इतना ही उन्हें सही मानना चाहिए और वैज्ञानिक सामर्थ्यशाली, प्रत्यक्षनिष्ठ ऐसे ऐहिक साधनों से विपक्ष पर भारी पड़ने का प्रयास करना चाहिए। ऐहिक विजय का मार्ग यही है। अन्यायी, परोपद्रवी होना चाहिए ऐसा नहीं, अपितु न्याय होने पर भी वह समर्थ न होगा तो व्यर्थ है—समर्थ अन्याय उसपर भारी हुए बिना नहीं रहेगा। दुर्बल पुण्य पंगु होता है यह नहीं भूलना चाहिए। केवल एक सौ आठ ही नहीं अपितु ग्यारह सौ आठ सत्यनारायण की पूजा करने पर भी ऐहिक यश प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि वह निर्भर रहता है आंदोलन की भौतिक सामर्थ्य पर। असत्यनारायण के पूजक ही इस दुनिया में बार-बार सफल होते हैं। सारी दुनिया को नास्तिक बनाने निकला रूस आज ऐहिक दृष्टि से परम बलिष्ठ, अतएव यशस्वी हुआ है या नहीं? निर्देव करके उसका वैभव कायम नहीं रहेगा ऐसा कहेंगे तो सदैव ऐसे किसी का भी कायम नहीं रहा। श्रीकृष्ण की द्वारिका समुद्र में डूब गई, मदीना की मशीद तो अश्वशाला बनी, जेहोवा का स्वर्ण मंदिर टूटा, जीसस को रोम में फाँसी पर चढ़ाया, उसे क्रूसीफाय किया! अस्पृश्यता का त्याग कर रहे हैं, अतः बिहार में भूकंप आ गया—ऐसा कहनेवाले सनातनी समाज के लोग और अस्पृश्यता का पालन करते हो, अतः भूकंप आ गया ऐसा कहनेवाले सुधारकों का पाखंड जितना अज्ञान है उतनी ही रामनाम का करोड़ों का जप करके या नमाज पढ़कर राष्ट्र पर आए हुए संकट का निवारण करना भी अज्ञानता है। राम को हराम समझनेवाले भी ऐहिक सामर्थ्य प्राप्त करके वैज्ञानिक बल से जो ऐहिक बल प्राप्त कर सकते हैं वह ऐहिक बल चाहते हैं तो अद्यावत् वैज्ञानिक सामर्थ्य प्राप्त करनी चाहिए। यदि आंदोलन में वह सामर्थ्य हो तो भगवान् के अधिष्ठान के बिना कोई काम रुकेगा नहीं। परंतु वह सामर्थ्य न होगी तो भगवान् के अधिष्ठान के लिए करोड़ों-करोड़ों का जप किया तो भी ऐहिक सफलता नहीं मिलेगी—यही सिद्धांत है।

(किर्लोस्कर, दिसंबर १९३४)

☐

सत्य सनातन धर्म कौन सा?

वर्तमान में चल रहे सामाजिक तथा धार्मिक आंदोलनों के दंगल में, सुधारक अर्थात् जो सनातन धर्म का उच्छेद करना चाहता है वह, इस प्रकार की परिभाषा 'सनातनी' कहनेवालों के पक्ष ने निश्चित कर दी है ऐसा लगता है। लोगों को भी बचपन से सनातन यानी रूढ़ि के विरोध में एक शब्द भी न बोलते हुए उसे शिरसावंद्य मानना ही धार्मिक कर्तव्य है और ऐसी आज्ञा या रूढ़ि है ऐसा समझने की आदत है। कोई रूढ़ि व्यवहार में स्पष्ट रूप से हानिकारक दिखती हो फिर भी वह सनातन है ऐसा कहते ही उसको भंग करना उन्हें उचित नहीं लगता और जो सुधारक उस रूढ़ि को भंग करने निकला है वह कुछ अपवित्र, धर्मविरोधी, अकर्म करने निकला है ऐसा उनका पूर्वग्रह हो जाता है। लोक समाज का यह पूर्वग्रह दूर करने के लिए और हमारे सनातनी बंधुओं की वह व्याख्या कितनी उचित या अनुचित है यह बात दोनों के ध्यान में स्पष्ट रूप से लाने के लिए इस वादग्रस्त प्रकरण के 'सनातन और धर्म' इन दो मुख्य शब्दों का अर्थ ही पहले निर्धारित करना आवश्यक है। केवल यह सनातनी और वह 'सुधारक' ऐसा चिल्लाते रहने का कोई अर्थ नहीं। हम अपने को सनातन धर्म के अभिमानी समझते हैं। और कितने ही सनातनी अपने व्यवहार से बहुत सी सुधार की बातों को समर्थन देते दिखाई देते हैं। ऐसी गड़बड़ी में सनातन धर्म की निश्चित परिभाषा हम अपने लिए निश्चित कर लें तो भी बहुत से मतभेद नष्ट होने का और जो मतभेद रहेंगे वे क्यों, किस अर्थ में बचते हैं आदि बातें स्पष्टता से ध्यान में आने की बहुत संभावना है। इसलिए इस लेख में हम 'सनातन धर्म' इन शब्दों को किस अर्थ में लेते हैं और किस अर्थ में हमें धर्म 'सनातन' इस उपाधि के लिए उचित लगता है, वह संक्षेप में स्पष्टता से कहनेवाले हैं।

जिन अर्थों में उन शब्दों का उपयोग किया जाता है वे अर्थ इतने विविध, विसंगत और परस्पर विरोधी होते हैं कि वे जैसे हैं, उन्हें वैसे ही स्वीकारना एकदम

अनुचित होगा। श्रुति-स्मृति से लेकर शनि माहात्म्य तक सभी पोथियाँ और वेदों की अपौरुषेयता से बैंगन के अभक्षता तक के सभी सिद्धांत इस एक सनातन धर्म की उपाधि तक पहुँचे हैं। उपनिषद् के परब्रह्म स्वरूप के अति उदार विचार भी सनातन धर्म हैं और आग की ओर पाँव करके सेंकना नहीं चाहिए, कोमल धूप में बैठना नहीं चाहिए, लोहे का विक्रय करनेवाले का अन्न कदापि नहीं खाना चाहिए; रोग चिकित्सक वैद्यभूषण का अन्न तो घाव के पीप जैसा होता है, साहूकारी करनेवाले ब्याज-बट्टा लेनेवाले गृहस्थों का अन्न विष्ठा के समान होने के कारण उनके साथ या उनके घर पर कभी भोजन नहीं करना चाहिए। (मनु. ४-२२०) गोरस का मावा, चावल की खीर, बड़े आदि खाना भी निषिद्ध होता है। लहसुन, प्याज और गाजर खाने से द्विज तत्काल पतित होता है। (पतेद्द्विजः! मनु. ५-१९) परंतु श्राद्ध के निमित्त बनाया हुआ मांस जो कोई हठ से खाता नहीं, वह अभागा इक्कीस जन्म पशुयोनि पाता है। (मनु. ५-३५) 'नियुक्तस्तु यथान्ययं यो मांसं नात्ति मानवः। सप्रेत्या पशुतां याति संभवानेकविंशतिन्!!' वे सारे सनातन धर्म हैं। श्राद्ध में ब्राह्मण को चावल की बजाय वराह का या भैंस का मांस खिलाना उत्तम, कारण पितर उस मांस-भोजन से दस माह तक तृप्त रहते हैं। बाघिन या बकरे का मांस ब्राह्मणों ने खाया तो पूरे बारह वर्षों तक पितरों का पेट भरा हुआ रहता है। व्याघ्रीणस्य मांसेन तृप्तिर्द्वादशवार्षिकी (मनु. ३, ३-७१) यह भी सनातन धर्म है। और किसी भी प्रकार का मांस भक्षण नहीं करना चाहिए, 'निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्!' मासाशनास्तव प्राणिवध को केवल अनुमति देनेवाला भी 'घातक' या महापापी है। (मनु. ५, ४९-५१) यह भी सनातन धर्म। मुख से अग्नि को फूँकना नहीं चाहिए, इंद्रधनुष देखना नहीं चाहिए, 'नाश्नीयाद् भार्यया साधम्' स्त्री के साथ भोजन नहीं करना चाहिए, उसको भोजन करते वक्त देखना भी नहीं, दिन में मल-मूत्रोत्सर्ग उत्तराभिमुख ही करो, परंतु रात में दक्षिणाभिमुख (मनु. ४-४३) आदि समस्त विधि निषेध उतने ही मननीय सनातन धर्म हैं कि जितने 'संतोषे परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्, संतोषमूल हि सुखं दुःख मूलं विपर्ययः।' (मनु. ४-१२) आदि उदात्त उपदेश भी मननीय सनातन धर्म हैं।

इस प्रकार अनेक प्रसंगों में बिलकुल परस्पर विरोधी विधि निषेधों को तथा सिद्धांतों को सनातन धर्म—यह शब्द केवल साधारण तुंगे-सुंगे भोले-भाले लोग ही लगाते, ऐसा नहीं अपितु अपने सारे स्मृति-पुराणों के धर्मग्रंथों की भी यही परंपरा चल रही है। उपर्युक्त सभी बडया, छोटया, व्यापक, विक्षिप्त, शतावधानी, क्षणिक आचार-विचारों के अनुष्टुप के अंत में पूर्णतः स्पष्ट रूप से एक ही राजमुद्रा लगाई जाती है कि 'एष धर्मस्सनातनः।'

अपने धर्मग्रंथों में ही इस प्रकार की खिचड़ी पकी ऐसा नहीं अपितु जगत् के अन्य सभी अपौरुषेय कहनेवाले प्राचीन और अर्वाचीन धर्मग्रंथों की भी यही स्थिति है। हजारों वर्ष पूर्व के मोसेस पैगंबर से आजकल के अमेरिका के मोर्मन पैगंबर तक सभी ने मानव के उठने-बैठने से लेकर दाढ़ी-मूँछों-चोटी की लंबाई-चौड़ाई, वारिस-दत्तक, शादी के निर्बंधों से देव के स्वरूप तक अपने सारे विधानों पर 'एष धर्मस्सनातनः' यही राजमुद्रा और वह भी देव के नाम से लगाई है। ये सारे विधि निषेध भगवान् ने समस्त मानवों के लिए अपरिवर्तनीय धर्म बताए हैं। उनके अनुसार सभी मनुष्यों की सुनता करनी ही चाहिए यह भी सनातन धर्म और त्रैवर्णिकों को वैसा ऊटपटाँग कुछ न कर जनेऊ पहनाना चाहिए यह भी सनातन धर्म! लाक्षणिक अर्थ से नहीं अपितु अक्षरशः इन सभी अपौरुषेय, ईश्वरीय धर्मग्रंथों में एक का मुख पूर्व को तो दूसरे का पश्चिम की ओर झुका हुआ। वह भी प्रार्थना के प्रथम कदम पर ही। सुबह ही पूर्व की ओर मुख करके प्रार्थना करना सनातन धर्म और सुबह भी प्रार्थना करनी हो तो पश्चिम की ओर मुख करके करनी चाहिए यह भी मनुष्य मात्र का सनातन धर्म। एक ही ईश्वर ने मनु को वह प्रथम आज्ञा दी और मोहम्मद को यह दूसरी। ईश्वर की यह विचित्र लीला है और क्या कहें! हिंदू-मुसलमानों के दंगे कराकर अपना अंग बचाकर दूर से मजा देखने का आरोप शौकत अली पर बिना कारण किया जाता है। यह खेल चालू करने का प्रथम मान उनका नहीं, वह मान तो बिलकुल परस्पर विरोधी प्रकार के अपरिवर्तनीय सनातन धर्म उन दोनों को बताकर उनकी लड़ाई लगानेवाले हँसोड़ स्वभाव के ईश्वर का ही है। यह उसी की लीला है और उसकी न होगी तो उसके नाम पर यह ग्रंथ जबरदस्ती लादनेवाले मनुष्य की मूर्ख श्रद्धा की।

समस्त रोम जब जल रहा था तब सारंगी बजाने का आनंद लूटनेवाले नीरो का नाम भगवान् को लगाने की बजाय मानवी मूर्खता पर ही उपर्युक्त विसंगति का दोष लादना हमें अधिक युक्तियुक्त लगता है। इन सब विसंगत और परस्पर विरोधी बातों को 'सनातन धर्म' नामक एक ही उपाधि देने में मानवी बुद्धि ही चूक गई है। सनातन धर्म शब्द का यह रूढ़ार्थ ही इस विसंवाद के कारण हुआ है और उस शब्द के मूल अर्थ की छानबीन करके उसे संवादी बातों को ही वह शब्द लगाने से इन विविध विचारों के संघर्ष में सही सनातन धर्म कौन सा है यह निश्चयपूर्वक और बहुतांश में स्पष्टता से कहा जा सकता है यह हमारी धारणा है। उन शब्दों के अर्थ की छानबीन इस प्रकार होगी—

सनातन धर्म का मुख्य अर्थ शाश्वत, अबाधित, अखंडनीय, अपरिवर्तनीय है। 'धर्म' शब्द अंग्रेजी 'लॉ' शब्द के समान और वैसा ही मानसिक प्रक्रिया के

कारण बहुत अर्थांतर करता हुआ आया है।

१. प्रथमत: उसका, मूल का व्यापक अर्थ नियम है। किसी भी वस्तु के अस्तित्व और व्यवहार को जो धारण करता है, नियमन करता है वह उस वस्तु का धर्म, सृष्टि का धर्म, पानी का धर्म, अग्नि का धर्म आदि उनके उपयोग इस व्यापक अर्थ में होते हैं। सृष्टि नियम में 'लॉ' शब्द भी लगाते हैं जैसे 'लॉ ऑफ ग्रेविटेशन'।

२. इसी व्यापक अर्थ के कारण पारलौकिक और पारमार्थिक पदार्थों के नियमों को भी 'धर्म' कहने लगे। फिर वे नियम प्रत्यक्ष रूप से हों या उनका भास मात्र हो। स्वर्ग, नरक, पूर्वजन्म, ईश्वर, जीव, जगत् इनके परस्पर संबंध, इन सबका अंतर्भाव 'धर्म' शब्द में ही किया गया। इतना ही नहीं अपितु धीरे-धीरे वह 'धर्म' शब्द उसके पारलौकिक विभागार्थ ही विशेष करके आरक्षित हुआ। आज धर्म शब्द का विशेष अर्थ ऐसा ही होता है और इस अर्थ में धर्म 'रिलिजन' हो जाता है।

३. मनुष्य के जो ऐहिक व्यवहार उपर्युक्त पारलौकिक जगत् में उसे उपकारक भासते हैं, उस पारलौकिक जीवन में उसका धारण करना 'धर्म' माना गया। अंग्रेजी में मोसेस, अब्राहम, मोहम्मद आदि पैगंबरों द्वारा रचित स्मृतिग्रंथों में ठूँस-ठूँसकर भरे सारे कर्मकांडों को 'लॉ' कहा है। इस अर्थ में धर्म यानी आचार।

४. अंत में उपर्युक्त आचार छोड़कर मानव-मानव के बीच जो केवल ऐहिक व्यवहार होते हैं उस व्यक्ति के या राष्ट्र के व्यवहार-नियमों को भी पूर्व में 'धर्म' कहते थे। स्मृति में युद्धनीति, राजधर्म, व्यवहार धर्म आदि प्रकरणों में यह बात मिलती है। परंतु आज इसमें से बहुत सा अंश स्मृतिनिष्ठ अपरिवर्तनीय धर्मसत्ता से निकलकर अपने इधर भी परिवर्तनीय मनुष्यकृत नियमों की कक्षा में शास्त्री-पंडितों को भी निषिद्ध न लगे, इतने निर्विवाद रूप से समाविष्ट हुआ है। जैसे गाड़ी चलाने के निर्बंध, गालियाँ, चोरी आदि के दंडविधान संबंधी निर्बंध शासन का (कानून, शासन का) क्षेत्र है। हम 'धर्म' शब्द को आज जैसा 'रिलिजन' विशेषार्थ में आरक्षित करते हैं वैसे ही अंग्रेजी में 'लॉ' शब्द विशेषार्थी निर्बंध शासन को अर्पित किया गया है। इस प्रकरण में 'धर्म' यानी विधि (कायदा, 'लॉ')।

इस लेख में यथासंभव 'सनातन' और 'धर्म' इन दोनों शब्दों का अर्थ स्पष्ट करने के उपरांत उपर्युक्त विभागों में से अब 'धर्म' शब्द के किस अर्थ को 'सनातन' शब्द यथार्थता से लगाया जा सकता है, यह तय करना अधिक कठिन नहीं है। हमने

सनातन धर्म का अपने लिए उपर्युक्त जो अर्थ निश्चित किया है वह है शाश्वत नियम, अपरिवर्तनीय, जो बदलना नहीं चाहिए। इतना ही नहीं अपितु जिन्हें बदलना मनुष्य की शक्ति के बाहर की बात है, ऐसे अबाधित जो 'धर्म' होंगे, नियम होंगे, उन्हें ही 'सनातन धर्म' ही उपाधि यथार्थता से दे सकेंगे। यह लक्षण ऊपर जो धर्म का पहला विभाग हमने किया है उस सृष्टि नियमों पर संपूर्णतः लागू होता है। प्रत्यक्ष अनुमान और उसके विरोध में न जानेवाला यथार्थ वाक्य इन प्रमाणों के आधार पर सिद्ध हो सकनेवाले और जिसके संबंध में किसी ने भी यथाशास्त्र प्रयोग किया होता, उन कार्यकारण भाव की कसौटी पर कभी भी सही ठहर सकते हैं, ऐसे मनुष्य के ज्ञान के अंतर्गत जो-जो सृष्टि नियम और जो वैज्ञानिक सत्य आज प्रमाणित हैं उन्हें ही हम सनातन धर्म समझते हैं। केवल गिनती हेतु नहीं अपितु दिग्दर्शन के लिए निम्नलिखित नामोल्लेख पर्याप्त हैं। प्रकाश, उष्णता, गति, गणित, गणितज्योतिष्य, ध्वनि, विद्युत्, चुंबक, रेडियम, भूगर्भ, शरीर, वैद्यक, यंत्र, शिल्प, वानस्पत्य आदि तत्सम जो प्रयोगक्षम शास्त्र (साइंसेस) हैं, उनके जो प्रत्यक्षनिष्ठ और प्रयोगसिद्ध नियम आज मानवजाति को ज्ञात हुए हैं वे ही हमारे सनातन धर्म हैं। ये नियम आर्यों के लिए, मुसलमानों के लिए या काफिरों के लिए भी, या इजराइलियों के लिए अवतीर्ण नहीं हुए हैं अपितु समस्त मनुष्य मात्र पर निःपक्षपाती समानता से लागू हैं। यह सही सनातन धर्म है। इतना ही नहीं अपितु यही सच्चा मानवधर्म है। इसलिए उसे सनातन विशेषण निर्विवाद लागू करना पड़ता है। सूर्य, चंद्र, ताप, तेज, वायु, अग्नि, भूमि, समुद्र आदि पदार्थ किसी के इच्छानुसार प्रसन्न या रुष्ट होनेवाले देवता नहीं अपितु ये सब हमारे सनातन धर्म के नियमों से पूर्णतः बद्ध वस्तुएँ हैं। वे नियम यदि और जिस प्रमाण से मनुष्य प्राप्त कर सकेगा उस प्रमाण में इन सब सृष्टि शक्तियों के साथ उसे ठोंक-बजाकर और बिनचूक व्यवहार करना आना चाहिए— करना आता है। एकदम गहरे महासागर में जिसके तल में छेद है ऐसी नाव छोड़ दें फिर वह डूबनी नहीं चाहिए इसलिए उस समुद्र को प्रसन्न करने हेतु नारियल के ढेर उसमें फेंक दिए और शुद्ध वैदिक मंत्रों का जोर-शोर से उद्‌गार किया कि 'तस्मा अरं गमाव वो यस्य क्षमाय जिन्वथ। आपो जनयथा चनः।' तो भी वह समुद्र मानवों के साथ उस नाव को हजार में नौ सौ निन्यानबे प्रकरणों में डुबाए बिना नहीं रहता। और यदि उस नाव को वैज्ञानिक नियमों के अनुसार ठीक-ठाक करके, फौलादी पत्रों से मढ़कर बेडर बनाकर जल में छोड़ दिया तब उसपर वेदों की होली कर सकनेवाले और पंचमहापुण्य समझकर शराब पीते हुए, गोमांस खाते हुए, मस्त हुए रावण के राक्षस भी बैठे हों तो भी उस 'बेडर' नाव को हजार में नौ सौ निन्यानबे प्रसंगों में समुद्र डुबाएगा नहीं, डुबा नहीं सकता। उसको चाहे जो उस स्वर्णभूमि पर

लोगों की जोरदार मार करने के लिए सुख से ले जाएगा। जो बात समुद्र की वही महद्भूतों की। उन्हें अपने काबू में रखने का महामंत्र शब्दनिष्ठ वेद में, अवेस्ता में, कुरान में या पुराण में भी मिलनेवाले नहीं, प्रत्यक्षनिष्ठ विज्ञान (साइंस) में मिलनेवाला है। यह सनातन धर्म इतना पक्का सनातन, इतना स्वयंसिद्ध और सर्वस्वी अपरिवर्तनीय है कि वह डूबना नहीं चाहिए, परिवर्तन न हो इसलिए कोई भी सनातन धर्म संरक्षक संघ स्थापना के कष्ट कलियुग में भी लेने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस वैज्ञानिक सनातन धर्म को बदलने की सामर्थ्य मनुष्य में किसी को भी और कभी भी आना संभव नहीं।

यह बात हम जानते हैं कि यह सनातन धर्म, ये सृष्टि नियम संपूर्णत: मनुष्य को आज अवगत नहीं। बहुधा कभी भी उन्हें ज्ञात नहीं होंगे। जो आज ज्ञात है ऐसा लगता है वह ज्ञान भी विज्ञान के विकास से आगे चलकर थोड़ा गलत हो गया— ऐसा भी लगेगा। और अनेक नए-नए नियमों का ज्ञान हमें होगा। जब-जब ऐसा होगा या उसमें सुधार करना होगा तब-तब हम, हमारे वैज्ञानिक स्मृतिग्रंथों में न लजाते, न छुपते या आज के श्लोकों के अर्थ की अप्रामाणिक खींचतान न करते हुए नया श्लोक प्रकटता से जोड़कर वह सुधार करा लेंगे। और इसके विपरीत मनुष्य के ज्ञान में वृद्धि हुई इसलिए उस सुधार को गौरवास्पद ही मानेंगे।

हम 'स्मृतिग्रंथों' को सनातन, अपरिवर्तनीय नहीं समझते अपितु सत्य को सनातन समझते हैं। स्मृतिग्रंथ बदलना पड़ेगा इसलिए सत्य को नकारना वैसा ही होगा जैसे घर बड़ा न करना पड़े, इसलिए आदमी के बच्चों की हत्या कर दो; वह पागलपन होगा।

'धर्म' शब्द के पहले विभाग में आनेवाले सृष्टि-धर्म पर सनातन विशेषण पूर्ण यथार्थता से लागू हो सकता है यह मैंने ऊपर कहा। अब उस 'धर्म' शब्द को जो दूसरा विभाग हमने ऊपर दरशाया है उस पारलौकिक और पारमार्थिक नियमों का विचार करें। इस विभाग को ही आज सनातन धर्म, यह शब्द विशेष रूप से लगाया जाता है। ईश्वर, जीव, जगत् इनके स्वरूप का और परस्पर संबंध के अस्ति-रूप या नास्ति-रूप के कुछ त्रिकालाबाधित नियम होने ही चाहिए। उसी प्रकार जन्म-मृत्यु, स्वर्ग-नरक इनके संबंध में जो कोई यथास्थिति बनेगी वह निश्चितता बतानेवाला ज्ञान भी त्रिकालाबाधित कहने के लिए पात्र होगा। इसलिए इस पारलौकिक विभाग का सिद्धांत भी सनातन धर्म यानी शाश्वत, अपरिवर्तनीय धर्म है इसमें कोई शंका नहीं।

परंतु इस विभाग में जो जानकारी और नियम मनुष्यजाति के हाथों में आज उपलब्ध सभी धर्मग्रंथों में दिए हुए मिलते हैं, उनमें से किसी को भी सनातन धर्म

या अपरिवर्तनीय निश्चित सिद्धांत नहीं कहा जा सकता। निर्धारित वैज्ञानिक नियमों के अनुसार धर्मग्रंथों में लिखा यह पारलौकिक वस्तुस्थिति का वर्णन प्रत्यक्षनिष्ठ प्रयोगों की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। उसका सारा आधार कहने के लिए शब्द प्रामाण्य पर, आप्तवाक्य पर, विशिष्ट व्यक्तियों के आंतर अनुभूति पर निर्भर रहता है। उसमें भी कुछ बिगड़ता नहीं। कारण, कुछ मर्यादा तक प्रत्यक्षानुमानिक प्रमाण है। परंतु इस प्रमाण की कसौटी पर भी इन धर्मग्रंथों का पारलौकिक विधान किंचित् भी खरा नहीं उतरता। प्रथम यह देखें कि आप्त कौन हैं? तो हमारे धर्मग्रंथ ही कहते हैं कि चित्तशुद्धि से सत्त्वोदय हुए ज्ञानी भक्त और समाधिसिद्ध योगियों को आप्त मान सकते हैं। अब इन पूर्णप्रज्ञ आप्तों में शंकराचार्य, रामानुज, माध्व वल्लभ आदि सम्मिलित तो करना ही चाहिए न? महाज्ञानी कपिल मुनि, योगसूत्रकार पतंजलि इन्हें भी छोड़ना असंभव। उदाहरण के लिए इतने आप्त काफी हुए। आप्तवाक्य शब्द प्रमाण होगा तो उनका उस विशिष्ट वस्तुस्थिति का अनुभव एक ही होना चाहिए। परंतु पारलौकिक और पारमार्थिक सत्य का जो स्वरूप और जो नियम वे सब बताते हैं वे सभी भिन्न ही नहीं अपितु बहुधा परस्पर विरोधी भी होते हैं। कपिल मुनी कहेंगे, 'पुरुष और प्रकृति ये दो सत्य हैं। ईश्वर-विश्वर हम कुछ नहीं जानते।' समाधिसिद्ध पतंजलि कहते हैं, ''तंत्र पुरुषविशेषो ईश्वर।'' शंकराचार्य के अनुसार, ''पुरुष पुरुषोत्तम, ईश्वर मायोपाधिक और मायाबाधित होकर ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मोवनापर:'' अद्वैत ही सत्य है। रामानुज कहते हैं, ''यह प्रच्छन्न बौद्धवाद गलत है। विशिष्टाद्वैत सत्य है और माध्व वल्लभाचार्य कहते हैं, ''जीव और शिव, भक्त और देव, जड़ और चेतन को एक किस प्रकार कह सकते हैं? द्वैत ही सत्य है!'' इस प्रकार इन महान् साझीदारों के स्वानुभूत शब्दों के साथ भ्रमित होकर यदि बुद्धि इस प्रकार कहती है—

'पाहियले प्रत्यक्षची! कथितो पाहियले त्याला।
वदति सारे! आप्तचि सारे! मानू कवणाला?

अर्थात्—हमने प्रत्यक्ष देखा है। जो देखा है उसके संबंध में हम कह रहे हैं ऐसा सब लोग बोलते हैं। ये सब आप्तजन हैं। अब मैं किसकी बात को मानूँ?

तो इसमें भ्रमित बुद्धि का क्या दोष है? तो भी इन योगसिद्धों के साक्ष्य में उस परम योगसिद्ध का उस तथागत बुद्ध के साक्ष्य का वर्णन हमने नहीं किया। ईश्वर संबंध के संपूर्ण विधानों को बुद्ध ने अपने समाधिस्थ स्वानुभूति में ब्रह्मजाल मान त्याज्य माना। समाधिमय ज्ञान, स्वानुभूति आदि इस पारलौकिक वस्तुस्थिति का अबाधित और विश्वसनीय प्रमाण किस प्रकार नहीं हो सकता या अभी तक तो नहीं

हुआ ऐसा देखने पर इतना ही कहना शेष रहता है कि शब्दप्रामाण्य की यह स्थिति उपर्युक्त आप्त प्रमाण के समान ही है। अपौरुषेय वेद जिन कारणों से अपौरुषेय मानने चाहिए उन्हीं कारणों के लिए तौलिद, एंजिल, बाइबिल, कुरान, अवेस्ता, स्वर्णग्रंथ एक नहीं दो हैं। दुनिया में आज भी ईश्वर प्रदत्त ग्रंथों की संख्या लगभग पचास है। उन सबको अपौरुषेय मानना अनिवार्य हो जाता है। इन ग्रंथों में से हरेक में भगवान् ने तदितर अपौरुषेय धर्मग्रंथ के पारलौकिक वस्तुस्थिति के संबंध में दी हुई जानकारी से भिन्न, विसंगत और विरुद्ध ज्ञान दिया है। वेद कहते हैं, ''स्वर्ग का इंद्र राजा है।'' परंतु बाइबिल में वर्णित स्वर्ग में इंद्र का पता डाकियों को भी ज्ञात नहीं। देवपुत्र यीशू की कमर में समस्त स्वर्ग की चाभियाँ हैं। देव और देवपुत्र दोनों एक ही हैं। Trinity in Unity, Unity in Trinity. कुरान के स्वर्ग में 'ला अल्ला इलिल्ला और मोहम्मद रसूलल्ला' इससे अधिक तीसरी बात नहीं कही गई। रेड इंडियनों के स्वर्ग में सूअर-ही-सूअर हैं और घने जंगल हैं। परंतु मुसलिम पाक स्वर्ग में ऐसी 'नापाक चीज' दवाई के लिए भी नहीं मिलेगी। और इन सबका कहना है कि वे कहते हैं वही असली स्वर्ग है। प्रत्यक्ष भगवान् ने यह बताया, इतना ही नहीं अपितु मोहम्मद आदि पैगंबर ऊपर जाकर, रहकर, स्वयं देखकर लौट आए हैं और उन्होंने भी यही बातें कही हैं। यही स्थिति नरक की। पुराण में मूर्तिपूजक और याज्ञिक तो क्या, परंतु यज्ञ में मारे हुए बकरे भी स्वर्ग में जाते हैं ऐसा उनका मृत्यु के बाद का पक्का पता दिया हुआ है। किंतु कुरान शपथ लेकर कहता है कि नरक में स्थान, कितनी ही भीड़ हो जाए यदि किसी के लिए आरक्षित किए गए हों तो मूर्तिपूजक, अग्निपूजक सज्जनों के लिए। मृत्यु के बाद उनका पक्का पता नरक। शब्दों-शब्दों में व्याप्त इस प्रकार की विसंगतियाँ कितनी दरशाएँ? ये सारे धर्मग्रंथ अपौरुषेय हैं, अतः वे यथार्थ हैं ऐसा समझें तो उनमें वर्णित पारलौकिक वस्तुस्थिति, शब्दप्रमाण से भी सिद्धांतभूत सिद्ध नहीं होती। अन्योन्यव्याघातात्! ये सब बातें मनुष्य द्वारा कल्पित हैं इसलिए झूठी मान लीं तो वे फिर सिद्धांतभूत ठहरती नहीं—वदतोव्याघात। और यदि झूठ मानते हैं तो वह वैसा और यह ऐसा क्यों, यह तय करने के लिए उनके स्वयं के शब्दों के अलावा दूसरा प्रमाण ही न होने के कारण वे सिद्धांत सिद्ध नहीं होते—स्वातंत्र्यप्रमाणाभावात्!

अतः प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द इनमें से किसी भी प्रमाण से पारलौकिक वस्तुस्थिति का आज उपलब्ध होनेवाला वर्णन सिद्ध नहीं होता, इसलिए उसे सनातन धर्म, त्रिकालाबाधित और अपरिवर्तनीय सत्य, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वैसे किसी भी विधेयक को वैसा सिद्धांत स्वरूप आते ही उसे भी हमारे सनातन धर्म में समाविष्ट किया जाएगा। आज यह विषय प्रयोगावस्था में है और आप्तों के या

अपौरुषेय ग्रंथों के भी, तद्विषयक विधान सिद्धांत न होकर, उसके संबंध में यथासंभव कलृप्ति (हायपोथेसिस) हैं। परिकल्पना या अनुमान है। उसे सत्याभास कह सकते हैं, सत्य नहीं। उसे जानने का प्रयत्न इसके बाद भी होना चाहिए, तथापि उसके संबंध में यथासंभव परिकल्पनाएँ कर वह स्वर्गीय ऋतु और अनृत (असत्य) प्राप्त करने के लिए इतना अतिमानुषिक प्रयत्न करके भी किसी भी दिशा में पता नहीं लग रहा यह सिद्ध किए बिना और अपने देवतुल्य अवतारों ने अखिल मानवजाति की कोख धन्य की, इसलिए नचिकेता से लेकर नानक तक—इन पुण्य श्लोकों के और प्रेषितों के या श्रुति के और स्मृति के हम मानवों पर जो विभिन्न प्रकार से उपकार हुए हैं उन्हें कभी लौटाया नहीं जा सकता। इतनी कृतज्ञता व्यक्त किए बिना हमें आगे के अक्षर लिखना संभव नहीं।

अंत में रह गए धर्म के अंतिम दो अर्थ—आचार और विधि। इन दोनों अर्थों में 'धर्म' शब्द के साथ सनातन विशेषण नहीं लगाया जा सकता। मनुष्य के जो ऐहिक व्यवहार उसके पारलौकिक जीवन को उपकारक हैं ऐसा समझा जाता था, उसे हम 'आचार' कहते हैं। अर्थात् उपरिनिर्दिष्ट पारलौकिक जीवन के संबंध में अस्ति पक्षी या नास्ति पक्षी अभी कोई भी सिद्धांत मनुष्य को ज्ञात न होने के कारण उसे कौन सा ऐहिक आचार उपकारक होगा यह कहना संभव नहीं। हिंदू के ही नहीं अपितु मुसलिम, क्रिश्चियन, पारसी, यहूदी आदि सभी धर्मग्रंथों में कर्मकांड का आधार ऐसा रेत का ढेर है। 'क्ष' भू यह द्वीप या गाँव, वीरान या बंजर, पूर्व में या उत्तर में, है या नहीं यह बात भी जहाँ निश्चित नहीं वहाँ उस 'क्ष' भूमि में सुख से रह सके, इसलिए किस मार्ग से जाएँ और कौन सा खाना-पीना वहाँ उपयुक्त होगा इसके बारीक नियम भी अपरिवर्तनीय निश्चित करना कठिन काम है। अतः किस ऐहिक आचार से परलोक में कौन सा उपयोग होता है ऐसा बतानेवाला कोई भी नियम आज सनातन धर्म, शाश्वत अपरिवर्तनीय और अबाधित नियम ऐसा नहीं कहा जा सकता। प्रश्न है विधि (कानून) का और मानव-मानव के बीच शिष्ट व्यवहार का। इसको स्मृति में यद्यपि 'एष धर्मस्सनातनः' कहा है तो भी वह सर्वथैव परिवर्तनीय था और होना चाहिए था। स्मृतिग्रंथों से भी सत्यादि युग के सनातन धर्म की कुछ बातें कलिवर्ज्य मानकर त्यागी गईं। उसी प्रकार 'एष धर्मस्सनातनः' को अगले अध्याय से आपद्धर्म के नाम पर निकाल दिया जाता है। यानी क्या कहें? मतलब यह कि आपद् या संपद् के प्रसंग में अथवा युगभेद के कारण परिस्थिति भेद होने के कारण विधि बदलना ही उचित होता है। इसलिए वे अपरिवर्तनीय सनातन नहीं, परंतु अपरिवर्तनीय ही हैं। मनु ने राजधर्म में युद्ध नीति के जो सनातन धर्म बताए हैं उनमें चतुरंग दल का सविस्तार उल्लेख है, परंतु तोपखाने का या

वैमानिक दल का नामनिर्देश भी नहीं। और सैन्य के अग्रभाग में शौरसेनी लोग होने चाहिए ऐसा कहा है जो मनु के समय में हितावह था इसलिए कहा गया है; फिर भी इन नियमों को अपरिवर्तनीय सनातन धर्म समझकर यदि हमारे सनातन धर्म संघ आज भी केवल धनुर्धरों को आगे रखकर और आठ घोड़ों का रथ सजाकर किसी यूरोप के अर्वाचीन महाभारत के शत्रु को डराने हेतु श्रीकृष्ण भगवान् का 'पांचजन्य' शंख बजाते हुए जाएँ तो केवल पांचजन्य करते हुए यानी चिल्लाते हुए उन्हें लौटना पड़ेगा। यह क्या कहने की बात है ? हिंदू सेना के अग्रभाग में मनुनिर्दिष्ट शौरसेनीय आदि सैनिक होते थे जब तक मुसलमान हिंदुओं को धूल चटाते हुए आगे बढ़ते थे। परंतु 'मनुस्मृति' में जिनका नामोल्लेख भी नहीं ऐसे मराठे, सिख, गुरखे जब हिंदू सेना के अग्रभाग को सँभाले रहे तब उन्हीं मुसलमानों को धूल चटाई। रूढ़ि, निर्बंध, आचार ये सब मानव मात्र के बीच व्यावहारिक नियम हैं जिन्हें परिस्थिति के अनुसार बदलना पड़ता है। जिस स्थिति में जो आचार या निर्बंध मानवों की धारणा हेतु या उद्धार के लिए आवश्यक होगा, हितप्रद होगा, वह उसका उस स्थिति का धर्म, आचार, निर्बंध आदि होगा। 'नहि सर्वहितः कश्चिदाचारः सम्प्रवर्तते। तेनेवान्यः प्रभवति सोऽपरो बाधते पुनः ॥'

(म.भा. शांतिपर्व)

सारांश

१. जो सृष्टि नियम विज्ञान को प्रत्यक्षनिष्ठ प्रयोग के अंत में संपूर्ण अबाधित, शाश्वत सनातन दिखाई दिए, वे ही सच्चे सनातन धर्म हैं।

२. पारलौकिक वस्तुस्थिति का ऐसा प्रयोगसिद्ध ज्ञान हमें बिलकुल नहीं हुआ है। अतः यह विषय अभी भी प्रयोगावस्था में है ऐसा मानकर उसके संबंध में अस्ति-रूप या नास्ति-रूप कुछ भी 'मत' कर लेना अनुचित है। उस पारलौकिक प्रकरण में नाना युक्तियाँ बतानेवाले कोई भी धर्मग्रंथ अपौरुषेय या ईश्वरदत्त न होकर मनुष्यकृत या मनुष्यस्फूर्त हैं। उनकी युक्तियाँ प्रमाणहीन होने से उन्हें सनातन धर्म शाश्वत सत्य नहीं कह सकते।

३. मनुष्य के समस्त ऐहिक व्यवहार, नीति, रीति, निर्बंध ये उसके लिए इस जगत् में हितप्रद हैं या नहीं, इस प्रत्यक्षनिष्ठ कसौटी से ही तय करने चाहिए। उनको व्यवहार में लाना चाहिए, बदल करना चाहिए। 'परिवर्तिनि संसारे' ये मानवी व्यवहार धर्म सनातन होना संभव नहीं। इष्ट नहीं। 'महाभारत' में उचित ही कहा है कि 'अतः प्रत्यक्षमार्गेण व्यवहारविधि नयेत्।'

□

यज्ञ की कुलकथा (वृत्तांत)

जब मनुष्य को चाहे जितना और चाहे जब कृत्रिमता से अग्नि उत्पन्न करना आया तब उसने प्रकृति पर एक महत्त्वपूर्ण विजय उसने प्राप्त की। वाष्प, विद्युत् या रेडियम की खोज से मनुष्य की संस्कृति में जैसे एक-एक नया युग आया, वैसा अग्नि की खोज से भी मनुष्य की प्राथमिक अवस्था में प्रगति का एक मन्वंतर हो गया। अर्वाचीन इतिहास काल में वाष्प, विद्युत् या रेडियम की खोज जितनी अलौकिक थी उतनी ही इस प्राचीन पौराणिक काल में अग्नि की खोज भी अलौकिक आश्चर्यजनक की थी।

अतएव उस अग्नि की खोज जिन-जिन बुद्धिमान् पुरुषों ने की उन्हें उन प्राचीन लोगों में महर्षि पद का या देवत्व का सम्मान मिला। अपने वैदिक आर्यों में कुछ ऋषियों को अग्नि के खोजकर्ता के रूप में वैदिक शक्तिशाली मंत्रद्रष्टा के समान गौरवान्वित किया जाता है। प्राचीन पारसी लोगों में तथा प्राचीन चीनी लोगों में अग्नि के शोधक, अग्नि की युक्ति ढूँढ़नेवाले, अग्नि को प्रकट करनेवाले किसी-न-किसी पुरुष को उनके अपने धर्मग्रंथों में देवकल्प स्थान प्राप्त हुआ है। धर्मग्रंथों में समाविष्ट कहानियों से भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अग्नि की 'युक्ति' मनुष्यों में से ही किसी ने खोजकर निकाली है।

मनुष्य को अति प्राचीन काल में 'अग्नि की युक्ति' जानने के दो मार्ग संभवनीय रहे होंगे। विस्तार से फैले हुए जिन वनों में से वह मनुष्य अपनी पशुता की अवस्था में घूमता होगा तब बातों-बातों में ही पेड़-पर-पेड़ घिसकर प्रचंड आग लग जाती थी। उसका सूक्ष्मता से अवलोकन करते समय आग लगने का कारण 'घर्षण' होगा—यह मनुष्य के ध्यान में धीरे-धीरे आया और उन लकड़ियों पर विशिष्ट लकड़ियाँ घिसने से चिनगारी निकले बिना नहीं रहती, यह नियम उसे ज्ञात हुआ होगा। आज अति तुच्छ और उपेक्षणीय लगनेवाला वह दृश्य जब मनुष्य ने देखा तब उस प्राथमिक बुद्धि के युग में उसे कितना आश्चर्य हुआ होगा? जिस

काष्ठ को आग लगते ही वह जलकर भस्म हो जाती है, वही अग्नि इस काष्ठ के पेट में ही शांति से रहती है। यह कितना बड़ा आश्चर्य था! मनुष्य की पीठ पर थप्पड़ मारते ही वह तत्क्षण शेर बन जाए और वह मनुष्य को खाने लगे, ऐसा कुछ होते ही आज जैसा आश्चर्य लगेगा, उतना ही आश्चर्य उस समय हुआ होगा। दूसरी संभावना यह थी कि चकमक पर चकमक पटकते ही अग्नि की चिनगारी निकलती है और धरती पर पड़े हुए सूखे पत्तों के ढेर जलना शुरू हो जाते हैं। जब बार-बार ऐसा होने लगा तो अग्नि की उत्पत्ति का वह नियम उनके ध्यान में आया होगा। हाँ, यही बात है। वन्यावस्था में मनुष्य को इन दोनों में से किसी एक नियम का पता लगकर अग्नि की 'खोज', अग्नि की 'युक्ति' मिल गई होगी और जिसने प्रथम वह ढूँढ़ ली या जिन्हें जानकारी नहीं थी ऐसे लोगों में सर्वप्रथम जिसने प्रचार किया वह मनुष्य, आज हमें वाष्प शक्ति का या बेतार का शोधकर्ता लगता है, उससे कितने ही अधिक गुना उस युग के वन्य और अप्रबुद्ध मनुष्य को अलौकिक लगा होगा।

गत वन्य युग में अति अग्रसर, परंतु आज के वैज्ञानिक युग की दृष्टि से अति पिछड़ी ऐसी जंगली जातियाँ आज भी मिलती हैं और उनमें आग उत्पन्न करने की 'युक्ति' यानी उपर्युक्त दोनों में से कोई एक या दोनों पद्धतियाँ मिलती हैं। तीसरी युक्ति उन्हें ज्ञात होगी ऐसा नहीं लगता। इस सबूत से भी उपर्युक्त तर्क को मजबूती मिलती है।

इतना ही नहीं अपितु वैदिक आर्यों के वेदकाल पूर्व की परिस्थिति में जब-जब अग्नि की 'युक्ति' प्राप्त हुई तब-तब वह ज्वलनशील काष्ठों के घर्षण की ही होनी चाहिए यह तर्क अपनी यज्ञ संस्था में 'अग्नि' उत्पन्न करने की जो क्रिया अत्यंत धर्म्य मानी जाती है उस आधार पर भी समर्थित हो जाती है।

धर्म संस्कार में जो-जो क्रियाएँ धार्मिक रूप में चिरस्थायी होती हैं, वे बहुधा उस काल का इतिहास होती हैं। भूगर्भित स्तर में जैसे विशेष काल की सृष्टि स्थिति और समाज स्थिति को (चिम चिरेबंद) की जाती है वैसे ही धार्मिक संस्कारों में से उस समय का ज्ञान और अज्ञान अस्थि-स्थिर (Fossilized) चिरेबंद और चिरंतन कर रखा होता है। उदाहरण के लिए विवाह के समय महाराष्ट्रीय कन्याएँ हमेशा के समान कच्छ न पहनते हुए उस धार्मिक विधि के लिए बिना कच्छ के वस्त्र पहनती हैं। कारण यह हो सकता है कि जिस समय विवाह-विधि की रचना हुई उस समय शायद आर्य कुमारियों में कच्छ की पद्धति नहीं होगी। उत्तर प्रदेश की ओर मूल 'आर्यावर्त' में उच्च वर्ग की महिलाओं में आज भी कच्छ की पद्धति नहीं है। विवाहादि कार्यों में ठीक शुभ मुहूर्त साधने हेतु ठीक समय दरशानेवाली घड़ी महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, कोई भी उपाध्याय घटिका-पात्र पूजन में उसे नहीं रखेगा,

वह स्थान नहीं देगा। इस घड़ी का स्थान एक छेद किए हुए घटिका-पात्र को ही मिलेगा जो जल भरे ताँबे के नाद में डाला जाता है; क्योंकि जब विवाह-विधि की रचना हुई, जो बाद में रूढ़ि बनी तब लोगों की अति आधुनिक घड़ी घटिका-पात्र ही थी। उसपर धर्म की छाप बैठते ही वह जो 'अस्थि-स्थिर' होकर बैठ गई सो बैठ ही गई। वही बात बिजली के दीप की या गैस के आज के प्रकाश की। मंदिर में या घर में इस देदीप्यमान दीप को देवता का, पवित्रता का मान नहीं मिलेगा। उन्हें शाम के समय कोई भी 'दीपज्योतिर्नमोऽस्तुते' करके नमस्कार नहीं करेगा। वह दीप देवता का सम्मान मिलेगा उस मिट्टी के दीये को या समई को। क्योंकि अपने पूजादि धार्मिक नियमों की जब रचना हुई तब उस समय का सबसे अधिक आधुनिक दीया मिट्टी का दीप या समई था। धर्म की उसपर छाप लगी और उसकी पवित्रता 'अस्थि-स्थिर' हो गई। उस सनातन दीपक का, धर्म के दीपक का, मंद और धुँधला प्रकाश धुआँ अधिक। परंतु विज्ञान का विद्युत् का दीया! अद्यतन!!

प्राचीन समाज स्थिति का ढाँचा प्राचीन धर्म संस्कारों के तंत्र में ही गड़ा हुआ मिलता है। इस नियम के अनुसंधान से अग्नि की युक्ति वैदिक आर्य के अति प्राचीन पूर्वजों को कैसे मिली उसका पता उनके अग्नि प्रज्वलित करने के पुरातन धार्मिक तंत्र में यानी यज्ञ विधि में मिलना अधिक संभव है और जिस अर्थ में यज्ञ की पवित्र अग्नि मानने पर उसे काष्ठ पर काष्ठ घिसकर ही उत्पन्न करना पड़ता है, उस अर्थ में उस यज्ञीय तंत्र रचना करनेवाले प्राचीन युग में अग्नि जलाने की उत्कृष्ट युक्ति काष्ठ पर काष्ठ घिसकर अग्नि-कण गिराना ही होनी चाहिए। अब जिसमें अनेक गुना सुधार हुआ है ऐसी आगडब्बी या बिजली का बटन ढूँढ़ निकाला गया है, तो भी धार्मिक अग्नि, समंत्रक वैदिक अग्नि जलाने का मान इस सद्यतन साधन को कभी भी नहीं मिलेगा। वह सम्मान पाँच हजार वर्ष पूर्व के, यानी पाँच हजार वर्षों से पिछड़े हुए, काष्ठ पर काष्ठ को घिसने की पद्धति को ही मिलेगा। किसी का भी अज्ञान या निकृष्ट पद्धति उसपर धार्मिक छाप पड़ते ही किस प्रकार 'सनातन' हो जाती है, पवित्र हो जाती है इसके ये उदाहरण हैं। वास्तविक दृष्टि से सोचने पर अद्यतन माचिस से जलाई हुई अग्नि भी तो अग्नि ही है, फिर भी उसे कभी भी यज्ञीय पूजनीयता प्राप्त नहीं होगी। यज्ञीय पूजनीयता का पात्र अग्नि यानी पुरातन जंगली पद्धति से, काष्ठ पर काष्ठ घिसकर प्रज्वलित की हुई अग्नि ही है।

अग्नि जलाने की यह युक्ति जब मनुष्य को ज्ञात हुई तब उसके जीवन पर उसका कितना महान् क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा होगा। उसका खाना, पीना, रहना, गतिस्थिति इन सभी प्रकरणों में प्रगति पर कितना मन्वंतर हुआ होगा वह कल्पना से हमें ज्ञात हो सकता है। काली भयानक रात्रि में मानो एक प्रतिसूर्य, 'उगने' को

कहते ही उगने की सामर्थ्य मानव में आ गई। जन्मांध अँधेरे को मानो आँख मिल गई—दिखने लगा। उस अग्नि की कृपा से जो पचाया नहीं जा सकता था वह अन्न मनुष्य पचाने लगा। जिसका द्रव रूप नहीं कर सकते थे ऐसी धातुओं को वह पिघलाने लगा। अँधेरे के भयंकर भय को यानी भूतों को तीव्र प्रकाश की तीक्ष्ण तलवार से काटकर नष्ट करने लगा। इस प्रकार उस तेजस्वी होकर भी किसी सुहृद के समान पुकारते ही प्रकट होनेवाले महासल संबंध में मनुष्य को कृतज्ञ होना या उस 'चमकनेवाली' अग्नि को देवों में अत्यंत प्रिय और पूज्य मानना एकदम स्वाभाविक था।

अग्नि जलाने की यह युक्ति प्राप्त हो गई, परंतु यह अधिक सुविधाजनक नहीं थी। गहरी रात्रि में कभी तुरंत दीया जलाना हो तो काष्ठ पर काष्ठ घिसकर, स्फुल्लिंग पकड़कर आग जलाना एक दीर्घ कार्य था। यह कठिनाई चकमक की युक्ति में भी थी। अर्थात् एक बार फुरसत के समय प्रज्वलित की हुई अग्नि को बनाए रखने हेतु, जैसे अनाज का संग्रह करने की रीत थी वैसे ही अनाज को पकानेवाली इस अग्नि को भी स्थिर संग्रह के रूप में घर में सतत तैयार रखना भी उचित था। उस समय में मिट्टी के तेल जैसी ज्वालाग्राही और दियासलाई के समान शीघ्रचेतन साधन मनुष्य के पास नहीं था। इसलिए तब घर में अग्नि सतत जलते रखना कितना सुविधाजनक और आवश्यक था यह बात अभी-अभी तीस-चालीस वर्ष पूर्व की अत्यंत आधुनिक काल की गृहिणी भी बता सकेगी। क्योंकि इस प्रौढ़ पीढ़ी की बाल अवस्था तक घर में चूल्हे कई माह तक जलते ही रखने पड़ते थे। दिन में भोजन तैयार हो गया कि राख के ढेर के नीचे गोबर के कंडे रखकर जलते रखे जाते थे और आवश्यकता पड़ने पर उसी से अग्नि तैयार करते थे। रात को खाना बन जाने पर पुनः राख में गोबर के कंडे जलते हुए रात भर रखे जाते थे, सुबह फिर से उसे जलाकर चूल्हे पर भोजन बनाना शुरू होता था। ऐसा नियम घर-घर चलता था इस कारण अधिकतर घरों में चार-चार माह पूर्व जलाई हुई अग्नि न बुझने देते हुए रखी जाती थी। यह स्थिति अभी-अभी तीस वर्ष पूर्व तक की है। फिर तीन-चार हजार वर्षों पूर्व अग्नि सतत जलती रखना कितना सुविधाजनक और आवश्यक लगता होगा—यह बात सहज ध्यान में आती है।

अग्नि की इस अति उपयुक्तता के कारण ही वह दैवी तेज देवों में अत्यंत प्रिय और पूज्य देव बना। उसी प्रकार अग्नि सतत जलती रखने की, उस देव का अस्तित्व और उपस्थिति अपने-अपने घरों में सतत कायम रखने की यह क्रिया भी उसकी अत्यंत उपयुक्तता के कारण किसी दैविक, धार्मिक, पवित्र क्रिया के समान कर्तव्य हो बैठी, संस्कार हो गई, अग्निहोत्र का पद उसे मिला। पारसी लोगों में पूजा

की अग्नि पीढ़ी-दर-पीढ़ी बुझने नहीं दी जाती थी। परदादा ने काष्ठ पर काष्ठ घिसकर या चकमक के द्वारा एक बार जो चिनगारी निकाली उसकी अव्याहत वंश परंपरा; वह अग्नि कभी भी न बूझते हुए चार-चार तो क्या चौदह-चौदह पीढ़ियों तक सतत जीवित रखी जाती थी। हमारे अग्निहोत्र संस्था की उपपत्ति भी यही होगी।

चूल्हा या चिलम जलानेवाले व्यावहारिक आग का देवीकरण यानी अग्नि देव, यज्ञेय यग्नि! और चूल्हे में सतत आग जलते रखने के लिए जो व्यावहारिक सरल क्रिया उसका देवीकरण यानी अगियारी, अग्न्यागार या अग्निहोत्र। एक प्राकृत, घरेलू, ऐहिक व्यवहार का शब्द, दूसरा संस्कृत, मंदिर का, पारलौकिक धर्म का शब्द इतना ही उन दो शब्दों में भेद है, वह छोड़ दिया तो सदैव जलनेवाला चूल्हा ही अग्निहोत्र तथा अग्यारी की जननी है।

वैसे ही घर या झोंपड़ी के पास निरंतर भट्ठी जलती रहने की आवश्यकता शीत प्रदेश में रहनेवाले लोगों में अधिक होगी। आज भी इंग्लैंड, जर्मनी, रूस जैसे देशों में, बैठक में, बँगले में, सभागृह में, मंदिर में, नाट्यगृह में जहाँ बैठोगे वहाँ पुरानी सिगडी या अद्यतन पद्धति का स्टोव या गरम पानी का नल आदि साधनों से कृत्रिम गरमी हमेशा रखनी पड़ती है। साठ-सत्तर वर्षों पूर्व सिगडी और आग सर्वत्र जलाकर रखी जाती थी। शीत प्रदेशों में हमेशा जलते हुए अग्निहोत्र का या अग्यारी का सर्वकालीन सान्निध्य धार्मिक कर्तव्य मानकर नहीं अपितु ऐहिक आवश्यकता की दृष्टि से भी सुखप्रद लगता था। उष्ण देशों में भी अत्यंत उपयुक्त अग्नि निरंतर प्रज्वलित रखना उस वन्य और अर्धसंस्कृत स्थिति में आवश्यक था। किंतु उष्ण प्रदेशों की वह आवश्यकता थी तो शीत प्रदेशों में सतत प्रज्वलित अग्नि का साहचर्य जैसे आवश्यकता थी वैसे पसंद भी थी, इसलिए उष्ण प्रदेशों की अपेक्षा शीत प्रदेशों में अग्नि का अधिक महत्त्व होता था। हिम प्रदेशों में तो अग्नि-उष्णता यानी जीवन। जिह्वा मुख से बाहर निकालते ही सिकुड़ जाती, चखने के पदार्थों से ही चिपक जाती थी। इस प्रकार के भयंकर रक्त जम जानेवाले शीत में, हिममय प्रदेश में अग्नि के बड़े-बड़े कुंड बस्ती के नाके-नाके पर भी रहते तो भी उसकी आवश्यकता होती थी। परंतु गरम प्रदेशों में, जहाँ गरमी के कारण शरीर से पसीने की धाराएँ फूटती हैं, बड़ी-बड़ी होली और सिगडियाँ घर में अपनी पसंद से कौन जलाएगा? इससे यह अनुमान सहज निकाला जा सकता है कि अग्निपूजा, अग्निहोत्र, अग्यागारे और माह-के-माह चलनेवाले बड़े-बड़े यज्ञ ये सब धार्मिक संस्थाएँ किसी हिम प्रदेश में या शीत प्रदेश में ही सर्वप्रथम अत्यंत प्रिय और पूज्य मानी गई होंगी। 'धर्म' होकर बैठ गई होंगी। सर्वप्रथम आवश्यकता, फिर पसंद और अंत में देवीकरण, धर्मीकरण ऐसी परंपरा से अग्निपूजा 'यज्ञ' की यह संस्था हिम प्रदेश में

ही उत्पन्न हुई होगी इसकी संभावना अधिक है। अग्निपूजा को एक बार दैवी, धार्मिक, पारलौकिक स्वरूप मिलने के कारण वह प्रथा जहाँ-जहाँ हिम या शीत प्रदेश के निवासी गए और दूसरे देशों में स्थायी हुए वहाँ-वहाँ यद्यपि यज्ञादि अग्नि पूजा की आवश्यकता का सुखद साहचर्य जिस स्थान पर, जिस समय में शेष नहीं था वहाँ भी उन्हीं संस्थाओं को धर्म संस्था के रूप में स्थापित करने लगे। अंध श्रद्धा के कारण उष्ण प्रदेश में भी अनुपयोगी होने पर भी उससे वे चिपककर रहे।

हमारे इस तर्क को आज उपलब्ध प्राचीन संस्कृति का इतिहास मजबूत करता है। उष्ण प्रदेशों में ज्ञात काल में एकदम आरंभ काल से ही रहनेवाले राक्षस (निग्रो आदि) लोगों में यज्ञ संस्था ने जन्म नहीं लिया। इतना ही नहीं अपितु जब उन्हें वह ज्ञात हुई तब भी वह उन्हें पसंद नहीं आई। हिम प्रदेश में विकसित संस्कृति के पारसी और भारतीय अनुयायियों में वह अग्निपूजा प्रमुख रूप से जटिल कर्मकांड का धार्मिक केंद्र होकर रह गई। हिम या शीत प्रदेश में आर्य लोग थे तब अग्नि का साहचर्य अपरिहार्य ही नहीं अपितु सुखद लगना स्वाभाविक था। बड़ी-बड़ी होलियाँ इंग्लैंड में भी कुछ धार्मिक त्योहारों में जलाई जाती हैं और असहनीय शीत ऋतु में गाँव-गाँव में वे सुखकर ही होती हैं। इन आर्य जातियों का उष्ण प्रदेश में आगमन होने के बाद भी अग्निपूजा और यज्ञ संस्था सुखद न लगने पर भी वे नहीं छोड़ पाए। यह उसके दैवीकरण या धार्मिककरण का परिणाम है।

सद्यःकालीन यज्ञ के व्यावहारिक लाभ

यज्ञ संस्था की कुलकथा से यदि कोई बात स्पष्ट होती तो यह कि जिस आवश्यकता के कारण वह अग्निपूजा या यज्ञ संस्था निर्मित हुई और व्यावहारिक दृष्टि से उपयुक्त रही, उनमें से एक भी आवश्यकता आज बची नहीं है। इसलिए अपने हिंदुस्थान जैसे उष्ण प्रदेश में तो वह बिलकुल अनावश्यक, अपायकारक, अतएव ऐतिहासिक दृष्टि से त्याज्य हो गई है। अर्थात् उसकी आज आवश्यकता नहीं है, परंतु मनुष्यजाति को कभी उसकी आवश्यकता थी इसे भूलना नहीं चाहिए। और उन संस्थाओं का उनकी पूर्व सेवाओं के लिए कृतज्ञ ही रहना चाहिए। जिन प्राचीन पूर्वजों को वह अत्यावश्यक और अतिप्रिय लगी, उनकी उस स्थिति में वैसा लगना स्वाभाविक था, इसलिए उसको बनाए रखने से वे हास्यास्पद नहीं होते हैं। परंतु वह स्थिति पूर्णतः बदलने पर, उस काल का सृष्ट पदार्थों के संबंध में अज्ञान आज अधिकतर नष्ट होने पर भी, आज भी उस अज्ञान को ही धर्म समझकर उसकी पूजा करते रहना हमारी मूर्खता है। हास्यास्पद हम हो रहे। उपर्युक्त यज्ञ की कुलकथा में स्पष्ट हुए उसके उपयोग आज केवल अनावश्यक ही नहीं अपितु किस प्रकार

त्याज्य हो गए हैं यह देखिए—

१. जिन महान् और बुद्धिमान् शोधकर्ताओं ने उस बिलकुल अज्ञानी युग में कृत्रिम अग्नि खोज निकाली, मानवजाति पर उनके अनन्य उपकार हैं। उनसे उऋण होने के लिए इतना ही करना होगा कि चकमक में से अग्नि निकालनेवाले उन शोधकर्ताओं से लेकर आज के दूरदर्शक (Television) यंत्र तक बड़े-बड़े शोधों में, उन अग्निशोधकों में पुरातन ग्रंथों में उल्लिखित प्रसिद्ध अग्निशोधक ऋषियों की गणना करके उनकी स्मृति को कृतज्ञता से अक्षुण्ण रखना चाहिए। परंतु अग्नि जलाने की युक्ति उन्हें उस अज्ञानी युग में ज्ञात हुई इस बात का सही महत्त्व होते हुए भी आज उसका महत्त्व इतना बढ़ाना कि उसके सम्मुख आज की समस्त अग्नि विषयक युक्तियाँ, यंत्रशोध और शास्त्र निरुपयोगी माने जाएँ; केवल 'मानवी' समझे जाएँ और आज एकदम जंगली ठहरनेवाली वह पद्धति लकड़ी पर लकड़ी घिसने की और अग्नि उत्पन्न करने की एकदम दैवी मानी जाए; वेदों के पवित्र मंत्रों के बिना जो आचरण करेंगे वह पाप होगा, ऐसा धार्मिक संस्कार मानना, यह केवल भोलापन नहीं है क्या?

वास्तविक रूप से काष्ठ पर काष्ठ और चकमक पर चकमक घिसकर अग्निकण पैदा करना अग्नि विद्या का बिना कक्षा का पाठ है। कहाँ वह अग्निकण की युक्ति और कहाँ यह आज की कृष्ण रात्रि में प्रतिसूर्य के समान ठीक दोपहर जैसा चमकीला प्रकाश देनेवाली शोध ज्योति (Search Light) की यह युक्ति! उसे हम 'मानवी' समझें और चकमक घिसने को 'दैवी' पवित्रता समझें, शोध ज्योति के प्रकाश को अमंगल, अशुद्ध और चिलम जलाने के लिए ग्रामीण जो अग्निकण प्राप्त करता है उसे पवित्र मानें, शोध ज्योति का अन्वेषक सामान्य मानव, काष्ठ पर काष्ठ घिसकर अग्निकण बनानेवाले 'ऋषि' को देव मानें यानी बिना कक्षा के शिक्षक को भास्कराचार्य से भी अधिक श्रेष्ठ गणितशास्त्र पारंगत की उपाधि देना, क्योंकि उसने प्रथम पाठ सिखाया इसलिए मुझे दो का पहाड़ा मुखाग्र है उसे ही ईश्वरीय गणित मानना। भास्कराचार्य का सारा गणित शास्त्र केवल मानवी तुच्छ गणित। पूर्व में सनकाड़ी से दीया जलाते थे, बाद में माचिस निकाली। इसलिए भगवान् का दीया जलाना हो तो सनकाड़ी से ही जलाना, उसके लिए माचिस अपवित्र। वास्तविकता यह है कि जिस माचिस से हमने अग्नि को

अपना दास बनाकर रखा है उसी से ही यज्ञ के लिए अग्नि प्रज्वलित करनी चाहिए। यज्ञ में जिस लकड़ी को घिसकर अग्नि तैयार करते हैं उसकी स्तुति करनेवाले मंत्र हैं। परंतु फूलों की एक पँखुड़ी भी कोई माचिस पर नहीं चढ़ाता। इसका यही कारण हो सकता है कि यज्ञ की प्रथा निकली तब उस 'त्रिकालदर्शी' मंत्रद्रष्टा को सादी माचिस की यह 'युक्ति' नहीं दिख पाई। यदि उस समय दियासलाई की डिब्बी की खोज हुई होती तो उस पर निश्चित रूप से दो-चार ऋचाएँ रची जातीं। घंटा, कलश की और शंख की भी जहाँ पूजा होती है वहाँ माचिस की भी पूजा अवश्य होती। वह कला (युक्ति) उस काल में ज्ञात नहीं थी। अर्थात् यह उनका दोष नहीं। परंतु आज वह कला ज्ञात है। फिर भी पवित्र अग्नि काष्ठ पर काष्ठ घिसने की जंगली पद्धति से ही प्राप्त करनी चाहिए यह मान्यता कायम रखना हमारा जंगली अज्ञान है और इस पद्धति को ही पवित्र ज्ञान मानना मूर्खता है।

२. जो स्थिति चकमक से आग जलाने की, सनकाड़ी की वही स्थिति आगे चलकर दियासलाई की भी थी। माचिस की खोज हो गई तो वह खोज अपूर्व, उपयुक्त और महँगी थी। इसलिए इंग्लैंड में कई वर्षों तक बीस-पच्चीस रुपयों में केवल एक दर्जन माचिस मिलती थी। आगे चलकर उससे भी अधिक सुविधाजनक चीजें बनीं और आज यात्री व्यक्ति के हाथ में माचिस नहीं हाथ-बैटरी (Hand battery) होगी। आजकल घर-घर में बिजली का बटन चमक रहा है और दियासलाई डेढ़-दमड़ी की चीज हो गई है। अब दियासलाई के आविष्कारकर्ता का सम्मान करके यदि कोई अर्वाचीन धर्मपंथ हाथ-बैटरी या बिजली के बटन को अपवित्र वस्तु मानने लगे और दैवी अग्नि या मंदिर का दीया माचिस से ही जलाना चाहिए ऐसा कहने लगे तो वह दियासलाई-पूजक धर्मग्रंथ जैसा अज्ञानी माना जाएगा वैसा ही प्राचीन चकमक या काष्ठ घिसनेवाले अग्निपूजक पंथ को भी आज अज्ञानी ही मानना चाहिए और उसे छोड़ देना चाहिए।

३. अग्नि जब चाहिए तब प्रज्वलित करना कठिन था तब वह घर में या गाँव में निरंतर प्रज्वलित रखना आवश्यक था। यही अग्निहोत्र का व्यावहारिक उपयोग और उपाय था जो अब पिछड़ा, पुराना अंक (Back Number) हो गया है। क्योंकि अब अग्नि माचिस की लकड़ी से जब चाहे तब जलाई जा सकती है। फूँक मारकर बुझाई भी जा

सकती है। न मंत्र चाहिए और न तंत्र। वह सारा अग्निहोत्र आज एक छोटी माचिस-डिब्बी में बंद कर जेब में या किसी कोने में रख सकते हैं। लगातार ईंधन जलाकर अग्नि पालने की बिलकुल आवश्यकता नहीं। कुंड में या चूल्हे में अग्निहोत्र को लगातार जलाए रखने में उसी अग्निनारायण द्वारा भड़ककर घर या यजमान के ही जलने की दुर्घटना होने की जो आशंका थी वह दियासलाई में बहुत कम है। और दियासलाई से जो डर था वह सुरक्षित माचिस (Safety Matches) निकली तब से बिलकुल नहीं रहा। वैसे भी अब अग्नि का व्यावहारिक महत्त्व गैस और बिजली के कारण भी कम हुआ है। अग्निहोत्र प्रथम दियासलाई में अदृश्य हो गया। बाद में माचिस बिजली के बटन में अदृश्य हो गई। स्टोव का राज प्रारंभ होते ही धूमिल चूल्हे के सनकी ससुराल के कष्ट नष्ट हो गए और आजकल तो धुआँ और गरमी के कष्ट समाप्त करनेवाले 'प्रकाश चूल्हे' सूर्य किरणों के द्वारा चलानेवाले स्टोव निकल रहे हैं। शीघ्र ही सूर्य किरणें और प्रकाश किरणों के केंद्रीकरण से रात को या दिन को तुरंत जलनेवाला और बुझनेवाला स्टोव निकलनेवाला है। उसे न तेल चाहिए, न गैस, न अग्नि तो फिर धुआँ निकलने की बात बहुत दूर होगी। उस प्रकाश चूल्हे पर चाहे जितना खाना बना लो। किरणों को विशिष्ट पद्धति से केंद्रित करने के लिए काँच ऐसे बैठाए जाते हैं कि सूर्यप्रकाश हो या न हो वह जलता है और खाना बनता है।

आज तक मनुष्य का खाना बनाने का कार्य अग्नि करती थी अब यह कार्य सूर्य करने लगेगा। जिस सूर्य की कृपा के लिए मंत्र कहते थे, गायत्री जपते थे या अर्घ्य देते थे उस सूर्य नारायण की आराधना करने से नहीं अपितु किसी जड़ पदार्थ के समान सृष्टि नियमानुसार उसका उपयोग करने से ही होगा। वेद की अपेक्षा विज्ञान से सूर्य, अग्नि, प्रकाश, विद्युत्, मरुत, सोम कैसे तत्काल बिना चूक और जबरदस्ती पाले जाते हैं। रसोई बनानेवाली महिलाओं पर इस प्रकाश चूल्हे से, सौ-सौ अग्निहोत्रों से प्रसन्न न होने वाली अग्नि अब कृपा करेगी। जो नहीं हो सकती थी ऐसी सुविधा होने वाली है। उस हमारे प्राचीन चूल्हे से या अग्निहोत्र से साड़ी जलानेवाला या घर जलानेवाला धोखा, आँखों को धुएँ से लाल होने के कष्ट, बार-बार फूँकना, लकड़ी ठूँसना आदि सब परेशानियाँ दूर होंगी।

रसोई हेतु स्टोव और प्रकाश चूल्हा, प्रकाश हेतु बिना धोखे

की दियासलाई, विद्युत् बटन, हाथ-बैटरी, गैस और शोध ज्योति (Search Light) गति के लिए पेट्रोल तथा बिजली, गरमी के लिए गरम जल की या पूरे घर में बिज़ली फैलानेवाली नलिकाएँ, इतना ही नहीं अपितु अति शीतकाल में अंग की गरमी नाप सके ऐसा आगतार धागे से बुने हुए वस्त्र मिलना संभव। ये सारी बातें जिस विज्ञान युग में मनुष्य की सेवा के लिए हाथ जोड़कर दास के समान उसके सम्मुख खड़ी हो रही हैं ऐसे विज्ञान युग में अग्नि का वह प्राचीन वैदिक युग का महत्त्व समाप्त हो गया है। अब अग्नि का युग समाप्त हुआ। विद्युत् रेडियम का युग चल रहा है। अग्निपूजा से प्राचीन काल में होनेवाले व्यावहारिक लाभ अब बिलकुल होनेवाले नहीं हैं, और उसकी गणना निर्जीव, भावनाशून्य और नियमबद्ध जड़ द्रव्य में होने के कारण उसका देवत्व और राक्षसत्व भी नष्ट हो गया है। अब उस अग्नि की पूजा क्या? प्रार्थना क्या? और चिंता क्यों?

४. अग्नि की उपयुक्तता से अग्निपूजा निकली और अग्निपूजा से यज्ञ संस्था, यह बात उपर्युक्त कुलकथा से स्पष्ट होती है। अग्नि का जो विशेष स्थान, उपयोग और दुर्लभता वैदिक युग में थी वह अब नहीं रही। क्योंकि मनुष्य की प्रगति अब विज्ञान के कारण हो रही है। हिम प्रदेश में या शीत भू-भाग में अग्नि का जो साहचर्य सुखदायी लगता है वह आज के हिंदुस्थान के भू-भाग में अत्यंत असहनीय हो गया है। घर में आवश्यक होने से घंटा-आध घंटा जलाई गई चूल्हे की गरमी जहाँ सहन नहीं होती है, केवल बैठने-उठने की हलचल से शरीर से पसीने की धाराएँ निकलती हैं, क्योंकि मौसम अति उष्ण होता है और यहाँ सूर्य की किरणों का ताप सहन न होकर मनुष्य मरते हैं ऐसे इस देश में और ऋतु में रुचि से अग्निहोत्र की होलियाँ घर-घर जलाकर रखना या सार्वजनिक यज्ञ की ज्वालाएँ कितने ही माहों तक मैदान में जलाते रहना केवल असह्य और तामस धर्माचार है। ऐसा 'धर्ममप्यसुखोदर्कं लोकविकृष्टमेवच' अधर्म के समान त्याज्य है। केवल जिस व्यावहारिक दृष्टि से हम इस अग्नि की ओर देख रहे हैं, उस व्यावहारिक दृष्टि से तो उष्ण प्रदेशों में यह अत्यंत कष्टप्रद पद्धति है। पूर्व में हिम प्रदेशों में सुखदायक होती थी इसलिए केवल पाली जा रही है। यह तो ऐसा ही हुआ जैसे बचपन में लकड़ी के घोड़े पर बैठते थे इसलिए बड़े होने पर भी सच्चे घोड़े पर न बैठते हुए लकड़ी के

घोड़े पर बैठने का प्रयास करें।

५. यज्ञ संस्था ने भूतकाल में हमारे भारतीय आर्यों पर इतना प्रभाव डाला था उसका एक यह भी कारण था कि यज्ञ उस समय में प्रत्यक्ष फलदायी लगते थे, जो कुछ प्रमाण में सही भी था। इस यज्ञ संस्था ने अपने वैदिक काल के आर्य राष्ट्र के संगठन को, संस्कृति को और दिग्विजय को बहुत बड़ी सहायता दी थी। मरुत-वरुण-सूर्य आदि सृष्टि शक्ति के समान अग्नि भी एक भावनाशील सजीव परम शक्तिमान् देवता है ऐसी उनकी प्रामाणिक निष्ठा थी। उस काल के मानवी ज्ञानानुसार जो निष्ठा वही सिद्धांत लगना स्वाभाविक था। इस निष्ठा से बद्ध, उत्स्फूर्त हुए आर्यों के पुरोहित, योद्धा, राजा, प्रजा—संपूर्ण राष्ट्र उस यज्ञ संस्था के पास इकट्ठा होते थे, वह यज्ञानिका हममें तेज का संचार करती थी इसलिए उसकी प्रार्थना होती थी और उस देवता के भावनामय आशीर्वाद को मस्तक पर धरकर शत्रुओं पर टूट पड़ते थे। उन्हें अनार्यादि अयाज्ञिक राष्ट्रों पर विजय प्राप्त होती थी। अग्नि जैसे आगे-आगे बढ़ती थी, वैसे उसके पीछे-पीछे आर्यों के वीर, पराक्रम, राज्य, संस्कृति आगे-आगे बढ़ते थे, नए-नए देश पादाक्रांत करते थे। विदेशों में जहाँ-जहाँ अग्नि आगे बढ़ी वहाँ-वहाँ आर्यों का प्रभाव भी बढ़ता गया, ऐसे जो यशोवाक्य अपने प्राचीन मंत्रों में कहे गए हैं यह केवल एक बार हुई घटना नहीं अपितु सौ बार वैसी घटनाएँ हुई थीं। बड़े-बड़े यज्ञों के आयोजनों में शास्त्रों की चर्चाएँ होती थीं, तत्त्वज्ञान की सभाएँ होती थीं, दूर तक फैले आर्य राष्ट्र वहाँ प्रतिनिधित्व करते हुए राष्ट्रीय एकता की भावना से पुनः-पुनः संगठित होते थे, आर्य संस्कृति में एकसूत्रता और एकजीवता, एकरूपता और एक प्राण पुनः-पुनः फूँका जाता था। आर्यों के ज्ञान का, पराक्रम का, वाणिज्य का, राज्य का, आर्य राष्ट्र का और राष्ट्र संघ का यह यज्ञ संस्था प्रत्यक्ष हृदय ही बन चुकी होती थी। पराजित राष्ट्र अयज्ञिय, विजेता आर्य राष्ट्र यज्ञिय! इस साहचर्य से कार्य-कारण भाव सहज ही समझ में आया कि जहाँ यज्ञ वहाँ जय, जिधर अग्नि उधर विजय! अर्थात् आर्यों को जो विजय अवश्य मिल जाती थी वह अग्नि देवता की कृपा है, यज्ञ का प्रताप है ऐसी भावना प्रबल हो गई। जहाँ यज्ञ वहाँ जय, जहाँ अग्नि वहाँ विजय—यह साहचर्य उस वैदिक काल में भारतीय आर्यों के लिए तो सही था, परंतु उस समय के धार्मिक भावनामय युग के अनुभव के

अभाव में यह बात उनके ध्यान में नहीं आई कि जहाँ यज्ञ वहाँ जय यह केवल साहचर्य था, कार्य-कारण भाव नहीं।

अग्निपूजक यज्ञप्रस्थ भारतीय आर्यों को वैदिक काल में कुल मिलाकर उनके शत्रुओं पर विजय के बाद विजय मिलती थी यह बात सही है। परंतु यह विजय उन्हें अग्निपूजा के कारण नहीं मिलती थी अपितु उस काल के उनके शत्रुओं से वे आर्य अधिक संगठित, सुसंस्कृत और वीर होते थे इसलिए विजय मिलती थी। वे ऐहिक शस्त्रास्त्र विद्या आदि भौतिक साधनों से संपन्न थे इसलिए। अनार्यों से वे उस समय के राष्ट्र, शासन, शास्त्र आदि विज्ञान में जिस प्रमाण में श्रेष्ठ थे उस मान से वरिष्ठ और गरिष्ठ भी थे। विज्ञान ने, आज अग्नि देवता न होकर केवल भावनाशून्य और जड़ सृष्ट पदार्थों में से एक पदार्थ है, यह जैसा सिद्ध किया है वैसा ही इतिहास ने यह भी निर्विवाद सिद्ध किया है कि यज्ञ और यश, अग्निपूजा और पराक्रम इनका कुछ भी कार्य-कारण संबंध नहीं, ऐहिक विजय ऐहिक साधनों से ही मिलती है और जब कभी उन साधनों के साथ यह इच्छा यानी हम मानवों को अभी तक अज्ञात और अपने काबू में नहीं ऐसे कारणों के कार्य खड़े होते हैं तब-तब वह योगायोग अग्निपूजा की ओर से होता है ऐसा बिलकुल नहीं। आर्य अनार्यों पर वैदिक काल में जो विजय प्राप्त करते थे वह यदि अग्निपूजा का फल होता, आर्य साग्नि, उनके शत्रु निरग्नि इसलिए आर्यों को अग्नि सफल बनाती थी, आर्य यशस्वी होते थे—कारण वे यज्ञपूजक थे और उनके शत्रुओं को अपयश प्राप्त होता था, क्योंकि वे यज्ञ विध्वंसक होते थे, ऐसा ही यदि होता तो वैदिक, यज्ञीय और आर्य पुरु राजा को उस अवैदिक म्लेच्छ ने कैसे जीत लिया था? रणांगण में यहच्छया दैव आदि हो जाता है, उस योगायोग को यदि भगवान् का अधिष्ठान, अग्नि की कृपा कहना हो तो अलेक्जेंडर के अलौकिक चरित्र में यह दैव उसी को इतनी बार अनुकूल हुआ कि आर्यों में एक कहावत बनी, 'उसका दैव ही सिकंदर!' सिकंदर का शस्त्रबल और भारतीयों में फूट पुरु के नाश का प्रत्यक्ष कारण था। उस प्रकार की फूट न पड़ने देते हुए सिकंदर से अधिक अच्छा शस्त्रबल भारतीयों द्वारा जुटाते ही चंद्रगुप्त ने उसी म्लेच्छ को पराभूत किया। पुरु की अपेक्षा चंद्रगुप्त यज्ञ का अधिक एकनिष्ठ भक्त थोड़े ही था। इसके विपरीत वह यज्ञत्यागी, निरग्नि जैन मत का अनुयायी हो गया था ऐसा लगता है। अत्यंत विस्तृत, प्रबल और स्मरणीय अशोक का, आर्यों का ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य था—एक व्यक्त यज्ञ, निरग्नि, वेदबाह्य बुद्धवीर का। ये तो केवल व्यक्त यज्ञ थे, परंतु यज्ञ विध्वंसक हूणों ने और मुसलमानों ने भारतादि आर्यों पर जो एक के बाद एक विजय प्राप्त कीं वह कैसे? जो अग्निपूजक थे वे बूझ गए और जो यज्ञ ध्वंसक तम

के पूजक थे वे चमकने लगे, कैसे? पराक्रम से, ऐहिक साधन से। दैव यानी यदि भगवान् का अधिष्ठान होगा तो फिर भगवान् यज्ञ ध्वंसकों का सहायक कैसे बना? रामदेव का पराभव हुआ, कहते हैं वह भगवान् का अधिष्ठान नहीं था। ऐसा 'ज्ञानमंदिर' में एक लेखक ने लिखा है। उसमें भी यज्ञ का, अग्नि का, वेद का, आर्य धर्म जिसे 'भगवान्' कहा जाता है उसका रामदेव, यह मुसलमानों की अपेक्षा अधिक अभिमानी और पूजक नहीं था क्या? बेचारा रामदेव राजा! युद्ध पर जाने के पूर्व देव को, अग्नि को, गाय को, ब्राह्मण को कितने आदर से पूजता था और करुणा से प्रार्थना करता था कि इस धर्मराज्य की रक्षा करो! इस प्रकार प्रार्थना कर रामदेव राय मुसलमानों से लड़ने गया था। उसका हृदयस्पर्शी वर्णन उपर्युक्त लेखक को पुराने बखर से एक बार पढ़ना चाहिए। यदि उस भक्ति से भी भगवान् का अधिष्ठान उसे नहीं मिला, इसलिए अपयश मिला; यदि रण-मैदान का यश भगवान् के अधिष्ठान पर निर्भर होता है, तो अलाउद्दीन को यश प्राप्त हुआ उसका कारण भगवान् का अधिष्ठान उसे मिला था ऐसा मानना ही चाहिए। तो क्या अलाउद्दीन रामदेव की अपेक्षा अधिक यज्ञभक्त था, अग्निपूजक था? वेद-ब्राह्मणों का भक्त था? क्या वह करोड़ों रामनाम का जप और त्रिकाल स्नान करता था? क्या वह अग्निहोत्री था? इसलिए क्या अपना अधिष्ठान भगवान् ने रामदेव के बदले अलाउद्दीन को दे दिया? जो गोभक्षक, यज्ञ-ध्वंसक, ब्रह्महत्यारा, देवशत्रु, भगवद्द्रोही था उसे यश प्राप्त हुआ। यह यदि भगवान् के अधिष्ठान के कारण हुआ तो ऐसे भगवान् को प्रसन्न करने का सही मार्ग यह मूर्तिपूजक हिंदू धर्म और यज्ञ पूजा नहीं है अपितु मूर्तिभंजक, यज्ञध्वंसक इसलाम धर्म ही है ऐसा कहना होगा। ऐसी बड़बड़ नहीं करनी हो तो ऐहिक यशापयश और राष्ट्रीय बलाबल ऐहिक साधनों के ही बलाबल पर और योगायोग पर निर्भर होता है और वे ऐहिक या भौतिक प्रत्यक्ष साधन, वह अप्रत्यक्ष यहच्छा, योगायोग, अग्निपूजा, अग्नि-निंदा, पुराणों के मंत्र-तंत्र, कुरान की गालियाँ, शाप इसपर निर्भर नहीं होते हैं यह निश्चित रूप से मानना होगा।

जड़ अग्नि की पूजा जिस प्रकार धर्म नहीं, अज्ञान है, वैसे ही जड़ अग्नि की निंदा, यज्ञ का विध्वंस, इन्हें ही देवप्रिय धर्म समझना भी धर्म नहीं, दुष्टता है। अग्निपूजा से जैसे भगवान् प्रसन्न नहीं होता वैसे अग्नि-निंदा से भी प्रसन्न नहीं होता। अग्नि-निंदक, यज्ञ-ध्वंसी और कुराणानुयायी मुसलमान को भी पहले बाजीराव की तलवार रूपी हँसिया कुरान के समान फटाफट काटती गई, इसलिए नहीं कि वह अग्निहोत्रादि की पूजा करता था अपितु वह तलवार की धार चलाता था। अब अंतिम बाजीराव को देखिए, पहले बाजीराव की अपेक्षा पंचमहायज्ञ के कितने ही

अभिमानी वे थे, परंतु तलवार चलाने में ढीले थे। परिणामस्वरूप उन्होंने अपना राज्य ही गँवा दिया।

आज तो कुछ कहना ही नहीं। अग्नि के कट्टर उपासक पारसी लोक और दो-तीन यज्ञ और सैकड़ों अग्निहोत्रपूजक हम भारतीय, दोनों ही दुनिया की दृष्टि से, युगानुयुग में सिगरेट के बिना दूसरी समिधा जिन्होंने कभी जलाई नहीं, वैसे ही स्वार्थ के कुंड की जठराग्नि के बिना अन्य किसी भी आवाहनीय अग्नि में आहुति कभी दी ही नहीं उनकी समस्त प्रजा दुनिया में अब राज्य पदाधिष्ठित है।

तब अग्निपूजा से यश मिलता है, यज्ञ से संतति, संपत्ति, राज्य, साम्राज्य आदि ऐहिक लाभ होते हैं यह बात इतिहास के अन्वयी और व्यतिरेकी प्रमाण से साफ झूठी सिद्ध हो रही है। विज्ञान से स्पष्ट हो रहा है कि अग्नि कोई देवता नहीं बल्कि एक जड़ सृष्ट पदार्थ है। ऐसा लगता है, प्राचीन काल में अग्निपूजा से हो रहे लाभ, आज बिलकुल नहीं हो रहे हैं। होंगे भी नहीं। वैज्ञानिक और व्यावहारिक दृष्टि से वे यज्ञ के अज्ञानी प्रपंच अब निरर्थक सिद्ध हो रहे हैं। अनावश्यक हैं। इतना ही नहीं अपितु यह अज्ञान की पूजा सिद्ध हो रही है। यह हो गया ऐहिक व्यावहारिक दृष्टि का वर्णन, परंतु पारलौकिक दृष्टि से, श्रद्धा की दृष्टि से, यज्ञ से कुछ भी लाभ नहीं होते क्या? उसका वर्णन और इस विषय का समापन अब करेंगे।

ऐतिहासिक दृष्टि से यज्ञ की कुलकथा बताकर हमने ऐसा दरशाया है कि जिन कारणों के लिए और लाभों के लिए अत्यंत प्राचीन काल में मनुष्य के अनेक राष्ट्रों में यज्ञ, अग्निहोत्र आदि अग्नि के प्रकार अति लोकप्रिय हो रहे थे, उन कारणों से और लाभों में से एक भी आज की परिस्थिति में उचित या उपयोगी नहीं है। इसलिए रोम, ग्रीस, बौद्ध आदि राष्ट्रों में और पंथों में अग्निपूजा केवल नाम के लिए रह गई है और उससे उन्हें अभाव का भास नहीं होता। हम भारतीय वैदिक हिंदुओं को भी यह अभाव भासित होने का कोई कारण नहीं। उसका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. अग्नि की युक्ति खोजनेवाले व्यक्ति की संशोधक या प्रकल्पक वर्ग में गणना करके उसका सम्मान करके ऋणमुक्त होना चाहिए। उसे देव या देवता समझना व्यर्थ है। उससे भी अधिक आश्चर्यकारक ऐसे वाष्प, विद्युत्, रेडियम आदि शक्ति की और युक्ति की खोज प्रतिदिन हो रही है, परंतु उन शोधकर्ताओं को अतिमानुष वर्ग में गिनने का भोलापन या उस युक्ति को दैवी कृपा का चमत्कार समझने का पागलपन हम नहीं कर रहे हैं। अग्नि और उसे स्वेच्छानुसार प्रकट करने की युक्ति का संशोधक—इनके संबंध में अपनी दृष्टि वैज्ञानिक कसौटी की ही होनी चाहिए।

२. मानवी व्यवहार में अग्नि से जो आश्चर्यकारक उपयोग पूर्व में हो गए, उससे भी अधिक प्रमाण में और सुविधाजनक उपयोग वाष्प, विद्युत्, रेडियम आदि शक्ति की व्यावहारिकता से आज मनुष्य को गति, प्रकाश, ऊर्जा आदि लाभ हो रहे हैं। इस अनुभव के कारण अति प्राचीन समय में अग्नि में जो अपूर्णता या अद्वितीयता भासित हुई अब वैसी लगने का कारण नहीं। अग्नि का महत्त्व भी अब उस काल की अपेक्षा प्रत्यक्ष व्यवहार में बहुत कम हो गया है। वाष्प, विद्युत्, रेडियम आदि अनेक शक्तियाँ जिस प्रकार देवता नहीं हैं और निश्चित नियमों से कार्य करनेवाले जड़, हृदयशून्य, भावनाहीन सृष्ट पदार्थ हैं यह विज्ञान ने पक्का तय किया है, वैसे ही अग्नि भी एक पदार्थ है यह भी अनुभव-सिद्ध हो गया है। उसको ताजा घी की धारा या ओदन-मोहन भोग के ढेर अर्पण किए क्या अथवा शुष्क कोयले खिलाए क्या? वह अग्नि जलती है उतनी ही और वैसी ही जलती है। जिसे जलाना हो उसी को जलाती है। वह संस्कृत भाषा जानती ही नहीं, अतः वेद या अवेस्ता जो आत्मीयता से गौरवपूर्ण स्तुति करते हैं उसपर वह मोहित नहीं होती। यजमान के हितार्थ अग्नि में समंत्रक बकरा डालने से जैसा जलता वैसा ही बकरे के हितार्थ यजमान को यदि उसमें डाला जाए तो वह यज्ञाग्नि उस यजमान को भी राख करने से नहीं चूकेगी। उसे अरबी या हिब्रू भी नहीं आती, इसलिए कुरान के या तौलिदीय अग्नि-निंदा की गालियाँ देनेवाले मंत्र कहने पर भी वह अग्नि नहीं छोड़ेगी अनेक मुल्लाओं की और पारसियों की दाढ़ियाँ उसने जलाई हैं। खलीफाओं की राजधानियों की उसने घास के ढेर के समान होली जलाई है। सारांश, अग्निपूजक वेद-अवेस्ता के यज्ञप्रस्थों की स्तुति या अग्नि- निंदक कुरान, बाइबिल, तौलिद आदि में वर्णित यज्ञों की निंदा ये धार्मिक पागलपन, व्यावहारिक दृष्टि से आज पूर्ण गलत, भोलेपन पर आधारित धर्मोन्माद सिद्ध हुए हैं। उनके पालन करने से अग्नि के व्यावहारिक परिणाम किंचित् भी बदले हुए नहीं मिलते। अग्नि के जो निर्धारित वैज्ञानिक सृष्टि नियम हैं, उसके अनुसार उसका मनुष्य-हित में जो उपयोग किया जा सकता है, वह कर लेना ही इस वैज्ञानिक युग में सही और प्रत्यक्ष फलदायी अग्निविद्या है। उसके उपयोग के लिए उस जड़, मानवी भावनारहित, विज्ञप्तिहीन सृष्ट पदार्थों की कृतज्ञता या उपकार मानने का भी कोई कारण नहीं। रेलगाड़ी के इंजन के

आभार मानने का जैसा कारण नहीं, कारखाने के बंबे की पूजा जैसे पागलपन है वैसे ही यज्ञकुंड की या अग्यारी की।

३. जैसे मानवी स्तुति-निंदा से अग्नि के कार्य में कोई अंतर नहीं होता उसी प्रकार यज्ञ संस्था से भी आज के युग में, पूर्व का एक भी राष्ट्रीय लाभ नहीं होता। पूर्व में अग्नि जलाना कठिन काम था इसलिए काष्ठ घर्षण से बड़ी मेहनत से जलाई गई 'अग्नि' को सतत कायम रखना उपयोगी होता था। इसी क्रिया का धार्मिकीकरण यानी अग्निहोत्र! परंतु आजकल माचिस, विद्युत् का बटन आदि साधनों से अग्नि तुरंत प्रज्वलित की जा सकती है, इसलिए अग्नि को जलता हुआ रखने का कोई कारण नहीं। अब अग्निहोत्र का माचिसीकरण ही उचित है। वैसे ही वह सतत प्रज्वलित अग्यारी, वे यज्ञाग्नि से महीनों से जलनेवाले यज्ञकुंड, वह होली ये सब अग्निपूजा के प्रकार हिम या शीत प्रदेशों में सुखदायी थे। परंतु आज के भारतीय उष्ण मौसम में असह्य गरमी पैदा करनेवाली ये प्रथाएँ अति तापदायक होती हैं। हिम प्रदेश में भी ठंड के लिए आवश्यक विद्युत् आदि साधन और युक्तियाँ होली से भी अधिक सुविधाजनक निकली हैं। इससे अधिक भी सुविधाएँ हो सकती हैं। ऐसी स्थिति में काष्ठ का घर्षण करके आग भड़काने की और उसमें घी की नदियाँ, नाना प्रकार के मंत्र-तंत्र कहते हुए पसीना बहाने में क्या अर्थ है?

४. 'वेदों में है, अतः हम यज्ञ करेंगे' फिर उसका उपयोग हो या न हो— ऐसा कहनेवालों की 'वचनाप्रवृत्ति' का अर्थ जितना सरल और सुसंगत लगता है, उतना भी यह यज्ञादि धार्मिक पंथों का समर्थन आज भी उपयुक्त है, इसलिए आज भी व्यवहार्य है इस प्रकार का आधे-अधूरे सुधारकों का कथन सुसंगत नहीं दिखता। यज्ञ क्यों करना चाहिए? तो कहते हैं कि उसमें चंदनादि पदार्थ जलाने से वायु सुगंधित होती है और घी जलाने से वातावरण स्निग्ध होता है। यह कार्य तो घर-घर में एक धूम्रपात्र और घी का पात्र रखकर भी किया जा सकता है। मसजिद में, चर्च में, बौद्ध विहार में वातावरण क्या सुगंधित नहीं होता? यूरोपादि विकसित देशों में क्या याज्ञीय आर्यावर्त से सौ गुना अधिक आरोग्य बल, तेज, ओज, आज नहीं है? यह वायु स्निग्ध करने का कार्य धूप और घी जलाने का समर्थन करता है; परंतु यज्ञों के मंत्र-तंत्र जटिल अगड़धत्ता का समर्थन नहीं करता।

५. भले-भले आचार्य ही नहीं अपितु आजकल के कुछ व्याख्याता भी यज्ञ का समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः।' बड़े-बड़े यज्ञों से उत्पन्न होनेवाले ताप के कारण वातावरण में मेघ इकट्ठा होते हैं ऐसी युक्ति और कभी-कभी काकतालीय न्याय से आया हुआ अनुभव, इसके कारण प्राचीन काल में मनुष्य को ऐसा लगना स्वाभाविक था कि यज्ञ से पर्जन्य होता है यह भौतिक दृष्टि से भी एक सृष्टि नियम है। परंतु वास्तविक रूप से भगवद्गीता जैसे विचार परिप्लुत ग्रंथ में उल्लिखित मान्यता का मूल कारण धार्मिक निष्ठा है। इंद्र 'पर्जन्य' का, 'जलका' विमोचक, उससे ही वर्षा होती है और यज्ञ से वह सोमप्रिय इंद्र प्रसन्न होता है। ये दोनों निष्ठाएँ वेदों के मंत्रों से व्यक्त होती थीं और इन धार्मिक निष्ठाओं में ही 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' इस नियम का मूल है। यह मूल की एक निर्मल, प्रत्यक्ष सबूत की अपेक्षा न रखनेवाली, पोथीजात मान्यता है।

पूर्व में वैदिक पोथी पर अंधविश्वास न रखनेवाले बुद्ध आदि अवैदिक लोगों के और अभी के भौतिक विज्ञानवादी लोगों को समझाने के लिए और वह धार्मिक मान्यता सृष्टि विज्ञान की प्रत्यक्ष कसौटी पर भी सही उतरती है यह सिद्ध करने के मोह से उसपर यह वैज्ञानिक रंग भी चढ़ाया गया कि 'इंद्र यज्ञ से प्रसन्न होकर वर्षा करता है यह हमारी केवल शब्दनिष्ठ कल्पना नहीं अपितु वह अनुभवजन्य एक वैज्ञानिक नियम भी है।' हमारा 'धर्म' विज्ञान की दृष्टि से भी सत्य है। यज्ञ से वातावरण में उष्णता बढ़ती है, उसके कारण मेघीभवन होकर वर्षा होती है यह सृष्टि विज्ञान का तत्त्व हमारे महर्षियों को ज्ञात था। ऐसा समर्थन भी होने लगा और आज भी बेधड़क बड़े-बड़े विद्वानों के मुख से जो वाक्य पहले निकलता था वह आदतन आज भी निकलता है।

परंतु यह मान्यता केवल पोथी में ही है और मनुष्य के अनुभव ने उसे साफ झूठ सिद्ध किया है। प्रत्यक्ष भारत देश में यज्ञ भगवान् और दुर्गा देवी के अकाल हाथ में हाथ डालकर युग-युग से साथ निवास कर रहे हैं। यज्ञ संस्था के समर्थक समुद्रगुप्त आदि सम्राट् भी राज्य के दुर्भिक्ष निवारण हेतु बड़ी-बड़ी नहरें बनवाते थे, केवल बड़े-बड़े यज्ञ जगह-जगह कर शांति से बैठते नहीं थे। यदि यज्ञ से वर्षा सृष्टि नियम की निश्चितता से होती तो दुनिया से यज्ञ संस्था लुप्त होने का जो भय शास्त्री लोगों को लगता हैं वह न लगता। आज दुनिया से अकाल ही

लुप्त हुआ होता। जिन देशों में युगों-युगों में कभी अग्निपूजा नहीं हुई, इतना ही नहीं अपितु 'अग्निपूजा करेगा वह नरक में जाएगा' ऐसा कहनेवाले 'धर्म' आज भी प्रचलित हैं, दक्षिण अमेरिका से दक्षिण अफ्रीका तक पृथ्वी पर अकाल का प्रमाण लगातार घट रहा है। वैज्ञानिक साधनों के प्रभाव से। और द्वादश वार्षिक यज्ञ सत्र से तो दो वर्ष पूर्व हुए कुरुंदवाड के यज्ञ तक, जिस भारत में यज्ञकुंड हमेशा जलते रहते हैं, उस भारत में अकाल की खाई भी जल रही है। आज यूरोप में या अमेरिका में, उन यज्ञध्वंसी राष्ट्रों में अकाल के नाम का अकाल पड़ रहा है, तब केवल अकाल का ही प्रमाण नहीं अपितु अकाल की लाखों की मृत्यु संख्या का प्रमाण किसी भू-भाग में अधिक होगा तो वह केवल यज्ञीय भारत में ही। बड़ी-बड़ी नदियों से नहरें निकालकर दुर्भिक्ष को भगाया जा सकता है। उपजाऊ प्रदेश से अनाज लाकर दुर्भिक्ष के प्रदेश के मानवों के प्राण जैसे निश्चित रूप से बचाए जा सकते हैं वैसे, जब तक प्रत्यक्ष रूप से, नियमितता से और निश्चितता से यज्ञ करते ही, कम-से-कम वह यज्ञकुंड बुझाने के लिए पानी आकाश से गिरता नहीं, तब तक इस पोथीजात और काल्पनिक 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' को 'प्रातःकाले शिवं दृष्ट्वा, निशिपापं विनश्यति। आजन्मकृत मध्यान्हे सायान्हे सप्तजन्मनि' इस स्मृति आदेश की अपेक्षा या 'पानी में देखने पर दाँत गिरते हैं' इस प्रकार बालक को पढ़ाए जानेवाले दादी माँ के उपदेश की अपेक्षा सृष्टिज्ञान की दृष्टि से एक दमड़ी से अधिक मूल्य नहीं दिया जा सकता। यज्ञ से वर्षा होकर अकाल हटता हो या नहीं, पर पास का अनाज और घी अग्नि में जला देने से अकाल उस प्रमाण में अधिक बढ़ता जाता है यह मनुष्य ने अवश्य देखा।

जहाँ सतत यज्ञ होते हैं ऐसे राष्ट्र में बारह वर्षों का अकाल होता है—पानी का भी अभाव होता है और जहाँ बिलकुल यज्ञ नहीं होते वहाँ बारह माह में यथावत् वर्षा होती है। इस अन्वयव्यतिरेकी उभयविध अनुभव से 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' वचन साफ झूठा होता है। उसमें भी यज्ञ से वातावरण तप्त होकर मेघीभवन होता है ऐसा समर्थन क्षणैक कुछ अंशों में गृहीत मान लिया तो भी पर्जन्य का कारण उत्ताप सिद्ध होगा, पर्जन्य का कारण यज्ञ है यह सिद्ध नहीं होगा। उत्ताप यज्ञ से ही कुछ नहीं होता। बड़े-बड़े युद्धों में तोप आदि

अग्न्यास्त्र के धूम-धड़ाके से वातावरण उत्तप्त, निक्षुब्ध होकर भी वर्षा होती है ऐसा दिखाई देता है। इसलिए जिन मानवों को जीवित रखने हेतु वर्षा चाहिए उन्हीं लाखों मानवों को युद्ध में नष्ट कर क्या वर्षा करानी है? उत्ताप जिस प्रकार सैकड़ों यज्ञ जलाकर होता है उसी प्रकार प्लेग के समय में चिताओं को भडाग्नि देते हैं तब भी होता है। तो क्या चिताग्नि से वर्षा होती है। ऐसा सिद्धांत करना चाहिए? उत्ताप से वर्षा यदि होती है तो वह समर्थन अन्य किसी भी उत्ताप-उत्पादक साधन का होगा। इतनी ही ईंटें लगाइए, यहाँ से उठो, यहाँ झुको, यहाँ यह मंत्र, वहाँ वह मंत्र, यहाँ बकरा बाँध दो, बकरे को काटो, उसे खा लो इस प्रकार के जटिल यज्ञ का समर्थन नहीं हो सकता।

दूरध्वनि द्वारा किसी भी व्यक्ति की आवाज चाहे जितनी दूरी पर बिना बाधा के भेजी सकती है उस प्रकार की निश्चितता से 'हो जा वर्षा' करते ही वर्षा होनी ही चाहिए ऐसी वैज्ञानिक युक्ति रूस आदि देशों में प्रयोग से संपन्न हो रही है। उसे हम पर्जन्य का वैज्ञानिक सूत्र कह सकते हैं। अर्थात् पूर्व के सही लगनेवाले पोथीजात सूत्र को अनुभव के बाद झूठा घोषित कर। पूर्व के लोगों की वैसी मान्यता होना उस समय के ज्ञान की दृष्टि से स्वाभाविक था। उन्होंने इस उत्पत्ति को और प्रयोग को करके देखा। इसलिए आज हम उसे निश्चित रूप से गलत है ऐसा कह सकते हैं और सही कारण की ओर मुड़ सकते हैं।

इस संबंध में उस प्राचीन प्रयोग के प्रति कृतज्ञता व्यक्त कर 'यज्ञात् भवति पर्जन्यो' इस सूत्र के स्थान पर अब हमें 'विज्ञानदेव पर्जन्यो' यह सूत्र स्थापित करना चाहिए।

६. उपर्युक्त कारणों से प्राचीन समय में यज्ञ से होनेवाले या होने का आभास होनेवाले प्रत्यक्ष लाभ अप्राप्त हैं यह बात जिनकी समझ में आई है, ऐसे आधुनिक गृहस्थों में भी कुछ को यज्ञ बीच-बीच में होते रहने चाहिए ऐसा लगता है। क्योंकि यज्ञ संस्था अपनी प्राचीन संस्कृति का केंद्र और स्मृति-चिह्न है इसलिए उसे सुरक्षित रखना उन्हें उचित लगता है। उनके इस सदिच्छापूर्ण युक्तिवाद में मुख्य हेत्वाभास यह है कि प्राचीन संस्कृति की सभी बातें आज संस्कृत नहीं समझ सकतीं। प्राचीन संस्कृति की यज्ञ संस्था को भी देखे तो उसमें नृयज्ञ एक प्रकार होता है। फिर उसकी पहचान भूल न जाए इसलिए आज भी बीच-

बीच में नरमेध भी करते रहना है क्या? पूर्व में शास्त्र में लिखा है कि ब्राह्मणों को वराह का मांस खिलाते थे। कितने प्रकार के मांस, मछली, पक्षी श्राद्ध के लिए उपयुक्त थे इसकी सूची 'मनुस्मृति' में देकर 'नियुक्तस्तु यथाशास्त्रं यो मांस नात्ति मानवः। सप्रेत्य पशुतां याति संभवानेक विंशतिम्।' श्राद्ध में मांस न खानेवाला ब्राह्मण पतित होता है, उसे इक्कीस जन्म तक पशु-योनि मिलती है, ऐसा भयंकर शाप भी दिया है। फिर आज उस प्राचीन 'संस्कृति रक्षणार्थ' वैसे श्राद्ध में क्या सूअर का मांस, मछलियाँ ब्राह्मणों को खाना चाहिए? प्राचीन समय में नियोग था। द्यूत खेलकर पूरा राज्य भी शर्त में लगा देते थे। राजपत्नी को हारकर दासी बनाना धर्मराज भी क्षत्रियों का धर्म मानते थे। फिर आज भी कुछ नियोग सार्वजनिक रूप से आयोजित करें। कुछ राजा या कुछ धर्माभिमानी सज्जनों द्वारा साल में दो-तीन बार द्यूत खेलकर अंत में स्वभार्या की भी शर्त लगानी चाहिए—क्या सनातन संस्कृत ग्रंथों को लुप्त होने से बचाने के लिए?

संस्कृति रक्षण का सही अर्थ

संस्कृति की सुरक्षा का सही अर्थ यह नहीं कि प्राचीन काल में समय-समय पर जो उलटी-सीधी प्रथाएँ, उस समय के ज्ञानाज्ञान के अनुसार 'संस्कृत' लगती थीं उन सबकी जैसी-की-तैसी पुनरावृत्ति करें, जो रूढ़ियाँ आज व्यर्थ, विक्षिप्त, विघातक सिद्ध होती हैं उन्हें भी चालू रखें। वेदकाल की जो रूढ़ि या आचारात्मक धर्म आज विज्ञान के दिव्यतर प्रकाश में समाज-विघातक, रोग-जंतुओं से लिप्त दिखता है वह रूढ़ि या आचार आज की संस्कृति में नहीं, दुष्कृति में गिनना चाहिए। फिर वह प्राचीन काल में लोगों को भाता था या नहीं, यह 'संस्कृत' लगा हो या नहीं, आज गर्व से जिसकी रक्षा करनी है, वह प्राचीन काल का था, किंतु आज भी 'संस्कृत' है, मनुष्य के हित का है, उसे ही हमें जीवित रखना है।

प्राचीन का जो आज भी उत्तम, उदात्त, अपेक्षणीय, प्रगत और प्रबुद्ध ठहरता है, वह आज का 'संस्कृत' और उसकी सुरक्षा करना ही सही-सही संस्कृति रक्षण है। प्राचीन संस्कृति का संरक्षण आज का कर्तव्य है, प्राचीन दुष्कृति रक्षण नहीं।

उस संस्कृति रक्षण के कर्तव्य से आगे का कर्तव्य है संस्कृति विकसन। प्राचीन में से जो आज के विज्ञान में भी संस्कृत लगता है उसकी केवल रक्षा करके ही नहीं चलेगा अपितु उसमें नए सत्य और तथ्य जोड़कर संस्कृति वर्धन करना चाहिए। वही मुख्य कर्तव्य है। उसमें जो बाधक हो, उस परख पर जो न उतरे,

उसको त्यागना ही संस्कृति रक्षण, संस्कृति विकसन है।

यज्ञ संस्था इस कसौटी पर आज अनुपयुक्त सिद्ध होती है। जिस राष्ट्र में मंडुए का आटा भी खाने को न मिलने के कारण लाखों लोग मर रहे हैं, उस राष्ट्र में प्रत्यक्ष लाभ की दृष्टि से अनुपयोगी यज्ञ संस्था को संस्कृति मान आग की लपटें उठाकर उसमें मनों अन्न के ढेर और मनों घी के हौज समंत्रक, समारोहपूर्वक जलाते बैठना संस्कृति रक्षण नहीं, दिल जलाना है।

फिर भी यज्ञ के कर्मकांड जिस प्रकार होते थे उसका विस्मरण ऐतिहासिक दृष्टि से न हो इसलिए ऐतिहासिक संग्रहालय में इससे संबंधित ब्राह्मण और मीमांसा आदि ग्रंथ सुरक्षित रख देना ही उचित होगा। उससे भी अधिक प्रत्यक्ष यज्ञ की ज्वालाएँ हमेशा जलती रहें और मंत्रघोष पीढ़ी-दर-पीढ़ी होता रहे इसकी उत्कृष्ट सुविधा आज विज्ञान ने उपलब्ध कर दी है। यज्ञ का एक-एक चलचित्र एक बार बना लिया जाए तो घी का एक बूँद भी न गँवाते हुए जब चाहे तब यज्ञ की प्रक्रिया देख सकते हैं।

यज्ञ का पारलौकिक लाभ

ऐहिक दृष्टि से यज्ञ संस्था से जो-जो लाभ इस लोक में प्राप्त हुए ऐसी कल्पना की गई या जो प्राचीन समय में कुछ अंशों में हो गए, उनकी छानबीन अभी तक हमने की। यज्ञ संस्था की छानबीन करते समय इतने समय तक हमने केवल ऐतिहासिक एवं ऐहिक कसौटी का ही उपयोग किया।

परंतु हमारे जिन हिंदू बांधवों की श्रद्धा यज्ञ के पारलौकिक फलों पर भी होगी, वे उपर्युक्त तर्क सही लगने के बाद भी पूछेंगे कि यज्ञ से आज के वैज्ञानिक युग में, वैदिक काल में अपने राष्ट्र को जो लाभ होते थे या हो रहे थे ऐसा लगता था, फिर भी पारलौकिक लाभ तो होते ही थे, इसके लिए तो यज्ञ संस्था रक्षणीय ही है।

इन हमारे श्रद्धाशील धर्मबंधुओं को उनकी श्रद्धामय कसौटी की दृष्टि से हम प्रथमत: ऐसा निवेदन करना चाहते हैं कि यज्ञ की प्रक्रिया यथावत् पूरी करने पर ही वे पारलौकिक लाभ हमारी झोली में पड़नेवाले होने से और वह प्रक्रिया ठीक क्या है इस संबंध में अति शब्दनिष्ठ सज्जनों में भी तीव्र भेद होने के कारण वे पारलौकिक लाभ प्राप्त कर लेने का यज्ञ अति संदेहास्पद और अनुमान धक्के का मार्ग हो रहा है। यज्ञ से ऐहिक लाभ तो अब निश्चयपूर्वक मिलते नहीं और पारलौकिक लाभ वचन की प्रवृत्ति की कसौटी से भी संपूर्णत: अनिश्चित है, किस प्रकार यह होता है इसका उदाहरण एक पशुहनन-प्रक्रिया के प्रश्न पर ही देखें।

पुष्ट पशु या पिष्ट पशु?

पशु-यज्ञ में पशु मारना पड़ता है इसलिए यज्ञ गर्ह्य (गलत) है ऐसा हम बिलकुल नहीं मानते। यदि पशुहनन से मनुष्यजाति का ऐहिक या पारलौकिक यथाप्रमाण लाभ होता हो तो एक ही नहीं, एक हजार पशु यज्ञ में मारने पड़ें तो भी मारने चाहिए। उसमें भी मनुष्य के पेट के लिए सहस्राधिक पशु नित्य ही कसाईखाने में मारे जाते समय जिन्हें दु:ख नहीं होता उन्हें यज्ञ के लिए दस-पाँच बकरे मारे तो उसके लिए नाहक शोरगुल करने का क्या अधिकार है? पीढ़ी-दर-पीढ़ी के मांसभक्षक बकरे का मांस खानेवाले अपने मुख से, कुछ ब्राह्मणों ने कभी बकरा मारकर खाया इसलिए भूतदया की बातें कहें, माने पक्का चोर अस्तेय पर भाषण दे और चोरी करता रहे जैसी निडरता है। सौ-सौ गायों के समूह को जुलूस निकालकर खुलेआम कत्ल करवाने में प्रसन्न होनेवाले देव जिस मनुष्य जाति में अभी पूजे जाते हैं, उससे अहिंसा की बात करनी हो तो एक बकरे के चढ़ाने से संतोष होनेवाले देव का चरणामृत लेना ही चाहिए। पशु को आत्मा नहीं होती ऐसी प्रतिज्ञा करनेवाले ईसाई को या नित्य ही पशु के मांस पर जीनेवाले और अल्लाह के सामने कुरबानी की छुरी से पशुओं के खून की नहर बहानेवाले मुसलमानों को, 'यज्ञ में मारे हुए पशु की आत्मा उत्तम गति प्राप्त करती है।' ऐसा कहनेवाले श्रुतिस्मृति के श्लोकों को स्वयं ही लज्जित होना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु, पशुहनन पर लिखित एक-एक श्लोक का खंडन करने के लिए 'मा हिंसात् सर्वभूतानि' ऐसा कहकर गर्जना करनेवाले और प्रत्यक्ष व्यवहार में मनुष्य को यथासंभव अहिंसा का अवलंबन कराने के लिए कारण बने सैकड़ों वचन हिंदुओं के श्रुति-स्मृति शास्त्र में मिलते हैं, उनके कारण भगवान् को देवप्रिय बनानेवाले और भूतदया के ध्येय से यावत्शक्य इस हिंसामय सृष्टि में भी व्यवहार्य बनाने का प्रयत्न करनेवाली हिंदू धर्म की सदिच्छा के आगे जगत् को अपना मस्तक झुकाना ही चाहिए।

इतने प्रयत्नों से भी यदि कुछ-न-कुछ हिंसा का व्यवहार किया जाना अपरिहार्य ही होगा तो वह बौद्ध, जैन, वैष्णव आदि हिंदू राष्ट्र के अनेक पंथों की दयालु सदिच्छा का या प्रयासों की पराकाष्ठा का दोष नहीं, परंतु जिसने सृष्टि मूलत: 'जीवो जीवस्य जीवनम्' इस मुख्य सूत्र के आधार पर रची है, उस आदिशक्ति का या शक्ति का दोष है।

इसलिए भूतदया की व्याप्ति से भी मनुष्य को मनुष्यजाति के बहुत बाहर ले जाना संभव नहीं, इष्ट भी नहीं। 'चलनामचला भक्ष्या दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिण:। सहस्तानामहस्ता शूराणां चैव भीरव:' यह जो सूत्र मनु भगवान् ने बताया है वह त्रिकाल सत्य है। मनुष्य हित को अनुकूल उतनी ही भूतदया और उतनी ही अहिंसा श्रेयस्कर,

इष्ट, उचित, मानव नीति वह इतनी ही।

इस दृष्टि से मनुष्य का ऐहिक और पारलौकिक हित यदि यज्ञ में पशुहनन से यथार्थतः साध्य होता है तो, यथाप्रमाण आवश्यक उतने पशु यज्ञ में बलि देना ही हित प्राप्त, अतएव धर्म्य ठहरता है। पशुहिंसा के कारण ही यज्ञ संस्था अग्राह्य हो गई ऐसा नहीं।

परंतु यज्ञ का पारलौकिक फल मिलता है ऐसा मानने पर भी उसकी प्रक्रिया निस्संदेह ज्ञात होने पर ही फल मिलता है यह शास्त्रसिद्ध है। और कठिनाई भी यहीं है। पशुहनन का प्रश्न ही लें तो वेदों के उन वाक्यों का अर्थ बड़े-बड़े आचार्य अनेक प्रकार से कर रहे हैं। पशुओं का हनन कैसे करें? वपा, नसा, भेजा, मज्जा, रस, रक्त आदि अंगोपांगों के छेदन, अर्पण, दहन, भक्षण आदि प्रक्रिया कुछ वेद भागों में इतनी स्पष्ट है कि प्रत्यक्ष पशु मारना उन वेदमंत्रों में विहित है, इसमें शंका नहीं रहती है। किंतु अन्य वेद भागों में या बीच-बीच में ऐसे उलट अर्थ के मंत्र और प्रक्रिया आती है कि पशुहनन की वह निंदा ही है, यह भी स्पष्ट दिखता है। फिर प्रश्न मन में उठता है समन्वय का! इसी कारण फिर मतभेद बढ़ते हैं। योग से अतींद्रिय ज्ञान प्राप्त हुआ। उनका साक्षात्कार होने का जिन्हें विश्वास है, वैसे महान् आचार्यों का, स्मृतिकारों का नहीं, प्रत्यक्ष मंत्र-दृष्टया ऋषियों का वह मतभेद! वह किन्हीं सामान्य व्यक्तियों का मतभेद तो नहीं! कुछ लोग कहेंगे कि पशु मारने का कोई कारण नहीं, केवल भगवान् को चढ़ाकर उसे छोड़ देना चाहिए। परंतु अन्य मंत्रों में परिस्फुटता से वर्णित देवों को वह पशु केवल पशुशाला में बाँधकर रखने के लिए नहीं अपितु खाने के लिए चाहिए। उन्हें पशु के मांस के विभिन्न भागांश खाने की लालसा रहने के कारण यज्ञ में केवल पशु दिखाकर उसे छोड़ देंगे तो देवों को कितनी निराशा होगी? और उनके मन में कितना क्रोध उमड़ आएगा। बूँदी-जलेबी का लालच दिखाकर भूखे ब्राह्मणों को या मेहमानों को भोजन हेतु बुलाया जाए और उन्हें और उनके सम्मुख केवल घी का कुप्पा और शक्कर, मसाला, आटे की बोरियाँ दिखाकर, हाथ जोड़कर कहें कि इस सबमें आप कल्पना कीजिए बूँदी-जिलेबी की। और जिस व्यापारी के घर से वह सामग्री लाई थी वह तुरंत उसे लौटा दी जाए। नहीं तो 'उस मेहमान' के निमित्त गाँव के अन्य लोगों में बाँट दी जाए। इस प्रकार का 'आमंत्रण' यानी उन आमंत्रितों को बलपूर्वक कराया गया लंघन ही नहीं अपितु उन आमंत्रितों पर किया गया एक प्रकार का अपमान और अत्याचार होगा। इसी प्रकार से भगवान् को 'पशु का रुधिर मांस दे रहा हूँ, आओ' इन वेदमंत्रों के आधार पर बुलाया जाए, और मांस के मसालेदार व्यंजन खाने की अपेक्षा से जिनके मुँह को पानी आया है ऐसे उन देवों के आते ही, उन्हें केवल पशु दिखाकर छोड़

देना और कहना कि 'आइए, इसी आलभन को भोजन कहते हैं' तो यह केवल उनका परिहास होगा।

पिष्ट पशु का विकल्प तो उससे भी बड़ा परिहास है। पशु छोड़ देना यह परिहास तो पिष्ट पशु केवल वंचना। पशु के पाँव का, कलेजे का, मज्जा का, पीठ का, इस प्रकार विविध रुचियों के मांस की लालसा को संतुष्ट करने का वेद मंत्रपूर्वक गंभीर वचन देकर आमंत्रित देवताओं के सम्मुख यदि आटे के गोले रखकर कहा जाए कि 'इसे ही पशु समझकर खाइए' तो केवल 'पशु' शब्द कहने से उन दोनों पदार्थों की समानता मसालेदार मांस के साथ या नमक-मिर्च के बिना बनाए उस आटे के गोले के पशु के साथ कैसे हो सकती है? कदापि नहीं। क्योंकि देव 'पशु' शब्द को खाने के लिए आए होते हैं। फिर पुष्ट पशु के स्थान पर पिष्ट पशु देने से उनकी वंचना ही होगी। नहीं क्या? दूध की लालसा करनेवाले द्रोणाचार्य के बच्चे को दूध देता हूँ, ऐसा कहकर आटे में पानी मिलाकर दिया, तब छोटा बच्चा होने से वह धोखा खा गया और उसने बड़ी रुचि से उस पेय को ग्रहण किया। परंतु रुचिसंपन्न मांस को सैकड़ों ऋतुओं में चाव से खाए हुए देव कैसे धोखा खा सकते हैं? छोटे बच्चों से अधिक चतुरता देव में होती है यह मानकर चलना उचित नहीं है क्या?

उपर्युक्त आपत्तियाँ टालने के लिए लोग यह कहते हैं कि 'वेदों में पशुहनन बिलकुल बताया ही नहीं गया है। मांस यानी मांष—दाल की एक जाति। ये पशुहनन प्रकरण में केवल रूपक हैं। इस प्रकार का अर्थ करनेवाले आचार्यों का मत यदि प्रमाण समझा जाए तो उनके ही जैसे अन्य महान् आचार्यों का मत अप्रमाण क्यों माना जाए? इसका निर्णय लेने के लिए कोई स्वतंत्र साधन भी नहीं। प्रत्यक्ष सृष्टि के संबंध में दो महापुरुषों का मतभेद होने पर समक्ष सबूतों से उसका निवारण किया जा सकता है।' 'लंदन एक नगर है।', 'लंदन केवल एक तालाब है।' ऐसे भिन्न मत दो अतींद्रिय ज्ञानी समयोग्य आचार्यों ने किए तो तुरंत लंदन पहुँचकर, दस लोगों के समक्ष, प्रत्यक्ष आँखों से देखकर निर्णय लिया जा सकता है कि वह नगर ही है। परंतु मृत्यु के कारण आँखें बंद होने पर जो दिखता है और जो वैसा देखता है या नहीं, यह कहने के लिए वहाँ से लौटकर आने की कोई व्यवस्था नहीं। फिर उस स्वर्गादि प्रकरणों के संबंध में समज्ञानी आचार्यों के मतभेद किस प्रकार मिटेंगे? अन्य प्रकरणों के मतभेद शब्दनिष्ठ श्रद्धा मान ली जाए तो भी, वेदवचन मिटेगा। परंतु वेदवचन क्या कहता है इस प्रकरण का मतभेद मिटाने के लिए श्रद्धा को भी, उसकी शब्दनिष्ठ प्रतिज्ञा के अनुसार बुद्धि के सिवाय अन्य साधन नहीं।

वेदों का स्फुरण करनेवाले ईश्वर ने जब तक यह प्रबंध नहीं किया है कि

वेद के शब्द ही एक और उनका मनुष्य बुद्धि में प्रतीत होनेवाला अर्थ भी एक ही, अन्य अर्थ बुद्धि में विदित होना असंभव, तब तक वेद वचनों के संबंध में होनेवाला इतना संपूर्ण परस्पर विरोधी मतभेद, और सर्वकाल ज्ञानी कहनेवाले साक्षात्कारी अधिकार के आचार्यों में मतभेद, कभी भी मिटनेवाला नहीं। समन्वय भी हमेशा संशयास्पद रहेगा, क्योंकि समन्वय के संबंध में ही शास्त्रकारों में तीव्रतर मतभेद होते आए हैं।

तब सपशुहनन, पशु विसर्जन, पिष्ट पशुहनन, या अपशुहनन इनमें से कौन सी प्रक्रिया सही है यह संशयास्पद होने से यज्ञ कभी भी निःसंशयता से यथाविधि पूरा करना कठिन होगा। अर्थात् उसके यथाविधि समापन पर निर्भर पारलौकिक फल भी हमेशा संशयास्पद होगा। इतना ही नहीं अपितु इन चारों में से किन्हीं तीन वेदों के विरुद्ध गलतियाँ होनेवाली रहने के कारण वेदविधि एक अक्षर से भी अयथावत् होने पर 'इंद्रशत्रु' न्याय के घोर परिणाम केवल गरीब यजमान आदि यज्ञकर्ताओं को भुगतने पड़ने की आशंका तीन गुना अधिक। स्वर्गादि फल प्राप्ति की अकेली संभावना भी उनके लिए संशयास्पद होती है।

पुनः यह साग्निस्थूल यज्ञ को हीन बतानेवाले और यज्ञ की इससे भिन्न निरग्नि सात्त्विकतर नाना रूप और प्रकार बतानेवाले वेदवचन बहुत मिलते हैं। वे क्या कारण के बिना होते हैं? वे भी वेदवचन हैं। जपयज्ञ है, तपयज्ञ है, ज्ञानयज्ञ है, द्रव्ययज्ञ है, इतना ही नहीं अपितु कामयज्ञ भी है। कामाग्नि ही अग्नि, योनि यज्ञकुंड ऐसा वर्णन करते-करते शृंगार गीत में भी नहीं बता सकते ऐसी बातें इतनी स्पष्टता से काम-संभोग की प्रक्रिया पर यज्ञ-प्रक्रिया के रूपक का वर्णन करते कामयज्ञ के प्रशंसक मंत्र हैं। भोजन ही यज्ञ, जीवन ही यज्ञ, जठराग्नि, कामाग्नि, संयमाग्नि आदि नाना प्रकार की अग्नि का वर्णन किया गया है। किसको चुनेंगे उनमें से? और चयन यदि वेदविहित है तो उसे किस कसौटी पर कसा जाए?

सभी धर्मों की 'धारणात् धर्मम् इति आहुः धर्मो धारयती प्रजाः। तस्मात् धारण संयुक्तं तं धर्म वेद तत्त्वतः' इस कसौटी से परीक्षा करनी चाहिए। यही शास्त्र कथन होने के कारण इन नाना प्रकार के यज्ञों में चयन करने की भी वही कसौटी शब्दनिष्ठ श्रद्धा की दृष्टि से भी कम-से-कम अधिक निरपवाद माननी चाहिए।

इस कसौटी के आधार पर जिस अग्निपूजा से प्रत्यक्ष कुछ भी ऐहिक हित इस वैज्ञानिक युग में साध्य नहीं, इसके विपरीत समाज की भोली प्रवृत्ति की रक्षा करते रहने से बुद्धिहत्या करने का दोष लगता है और द्रव्य का, काल का और कष्टों का अपव्यय होकर प्राचीन अज्ञानता को चिरंतन करने की हानि होती है; पारलौकिक दृष्टि से जिनके फल प्राप्त करना सांग प्रक्रिया के लिए, वेदमंत्र का निश्चितार्थ तय

करना, मानवी बुद्धि को संभव न होने के कारण सर्वदा और सर्वथा संदेहास्पद होता है, वह यज्ञाग्नि पूजा अब 'कलिवर्ज्य' में धकेलकर वह सारा यज्ञसाहित्य उस अग्निसह यज्ञ संस्था ने प्राचीन समय में अपने राष्ट्र पर किए हुए उपकार मानते हुए ममतापूर्ण कृतज्ञता से बार-बार संस्मरण कर, भगवान् बुद्ध के समान गंगा में विसर्जित करना—यह सब राष्ट्रहित की दृष्टि से श्रेयस्कर है।

उसमें भी स्वर्ग, संतति, संपत्ति आदि ऐहिक, पारलौकिक काम्य फल जो साग्नि यज्ञ से प्राप्त होते हैं वही यज्ञ से क्वचित् इष्टतर फल, जपतनृसेवाज्ञान आदि स्वरूप के निरग्नियज्ञ और अन्य साधन इनसे भी मिलता है ऐसा वचन निःसंदेहता से श्रुतिस्मृति शास्त्र दे ही रहे हैं। स्वर्गादि पारलौकिक फलप्राप्ति का साग्नि यज्ञ ही एक साधन न होकर भक्ति, त्याग, सेवा, दया, ज्ञान जनहित आदि अनेक साधन वेदों में और शास्त्रों में भरपूर दिए हुए हैं। यज्ञ के कारण जो स्वर्ग में पहुँचे ऐसी जिनकी कीर्ति है, उनसे सौ गुना अधिक संख्या में साधक एवं सिद्धों ने इन यज्ञ के अतिरिक्त साधनों से भी क्षमाशील स्वर्ग पद प्राप्त किया है। इतना ही नहीं अपितु अक्षय मोक्षपद भी पाया है, यह नामावली सहित उसी वेदशास्त्र पुराणों और अर्वाचीन संतकथाओं में हमें प्रशंसित दिखाई देता है।

यज्ञदानतपोभक्ति आदि नाना साधनों ने श्रद्धा के शास्त्र के समान, जो कुछ पारलौकिक लाभ मिलते हैं, वे इन साधनों से वह 'यज्ञतपसाम' भोक्ता और इन फलाफलों का नियंता जो भगवान् नारायण, वही संतुष्ट होकर, देता नहीं है क्या? और यज्ञ, ज्ञान-तप को भी जिसके योग से धर्म्यता प्राप्त होती है उस लोकधारण व्रत की अपेक्षा, नारायण की यानी अत्यंत उत्कृष्ट व्यक्ति जो नर, उस मनुष्य जाति के उद्धार के हित में खपाने के अलावा नारायण भगवान् को संतुष्ट करने का दूसरा कौन सा यज्ञ, कौन सा व्रत, कौन सा तप हो सकता है? यज्ञ से होनेवाले जो कोई पारलौकिक लाभ हैं, वे श्रद्धा के और शास्त्र की दृष्टि से, जिस कारण परोपकारी जनसेवा से निःसंशय होनेवाले होते हैं और जिस कारण यज्ञ से वे लाभ अब बिलकुल नहीं होते, वे ऐहिक लाभ तो मनुष्य को इस परोपकारी जनसेवाव्रत के द्वारा ठोक-बजाकर यहीं पर मिल सकते हैं, उस कारण नरों की सेवा ही नारायण की सेवा समझकर उस सेवायज्ञ को छोड़कर अन्य साग्नि यज्ञों का हमेशा के लिए विसर्जन करना ही सही धर्म है, सही कर्तव्य है।

आज की हिंदू राष्ट्र की स्थिति में एक-एक अनाथालय एक-एक अश्वमेध यज्ञ के समान पुण्यप्रद है। यज्ञ करनेवाला, सहस्राधिक सत्यनारायण की पूजा करनेवाला और उसके लिए लाखों रुपए व्यय करनेवाला जो वर्ग आज भारत में या महाराष्ट्र में है वह भी धर्मात्मा और हिंदू राष्ट्र का अभिमानी वर्ग है। लेख के अंत

में उनसे हमारी विनती है कि आज हिंदू राष्ट्र के अस्तित्व पर जो धार्मिक भ्रष्टता का आक्रमण हो रहा है वह धर्म दृष्टि से अत्यंत भयंकर विघातक होने के कारण उन्हें उसका निवारण करने का व्रत लेना चाहिए। शुद्धीकरण का कार्य जो-जो हिंदू सभाएँ कर रही हैं उन सबका यही अनुभव है कि आज भारत में या महाराष्ट्र में भी आर्थिक सुदृढ़ता के आधार पर खड़ा ऐसा कोई हिंदू अनाथालय नहीं है। अत: यदि म्लेच्छों के कब्जे से मुक्त करने का अवसर मिलने पर भी हजारों हिंदू शिशुओं को आश्रय देना असंभव होगा तथा ये शिशु मुसलमानों के कब्जे में जाने से, अहिंदू धर्म के हो जाने से हिंदू राष्ट्र के शत्रुओं की संख्या और बल इन भगाए गए शिशुओं द्वारा बढ़ाया जा रहा है। हमें यह सब आँखें मूँदकर देखना पड़ रहा है। अन्य सब कर्तव्य छोड़ो, धर्म्य विषय से जिसका अत्यंत निकट का संबंध है वह एक कर्तव्य भी, उन सज्जनों ने ज़िस तत्परता से हजारों की संख्या में सत्यनारायण कथा यहाँ कराई, उसी तत्परता से पूरा करना चाहिए।

हम इस विषय को देखते हुए ऐसी विनती करते हैं कि इनमें से प्रत्येक को एक-एक हिंदू अनाथालय, विशेषत: अहिंदुओं के हाथों से हिंदू सभा द्वारा मुक्त किए हुए शिशुओं के पालन-पोषण, शिक्षा इस प्रकार हिंदू राष्ट्र के सैनिक बनानेवाला उद्धारालय तत्काल संकल्प करके स्थापित करना चाहिए। यज्ञ में या सत्यनारायण कथा में जो अन्न पर व्यय केवल दस-पाँच दिनों में हो जाता है, गत दो वर्षों में जो लाखों रुपयों का व्यय इंदौर, कुरूंदवाड, केड़गाव, मोर्शी आदि स्थानों पर व्यय हुआ उसी धन में प्रत्येक स्थान पर एक-एक अनाथालय स्थापित किया जा सकता था, तो उन्हें सौ साल टिकनेवाली एक पंजीकृत संस्था निकालने का पुण्य प्राप्त होता। इस प्रकार हिंदू धर्म और हिंदू राष्ट्र के अस्तित्व को आज अत्यंत आवश्यक हिंदू अनाथालय पारलौकिक दृष्टि से भी, एक यज्ञ से या एक हजार सत्यनारायण पूजा से भगवान् को संतुष्ट किया जा सकता है; उससे भी अधिक नर-मानवों के उद्धार का धर्मकार्य अधिक संतोष देगा यह हमारी श्रद्धा भी नकार नहीं सकती। हिंदू राष्ट्र के अभिमान को जगानेवाले और पालनेवाले सभी ऐहिक लाभ तो यज्ञादि की अपेक्षा इस धर्मकृत्य से इसी जगत् में तत्काल प्राप्त किए जा सकते हैं।

मसूरकर महाराज ने गोवा में दस हजार ओघव, जो अहिंदुओं के सांस्कृतिक बंदी में आज तीन शतकों से थे, उन्हें मुक्त किया और हिंदू समाज में वापस लाया। उन्हें हिंदू धर्माभिमानी बनाया। इस प्रकार आज की स्थिति में हिंदू राष्ट्र धर्म का एक सही कार्य पूरा करना एक यज्ञ नहीं है क्या? सत्यनारायण की पूजा दस हजार घरों में फिर शुरू हुई। हिंदू राष्ट्र का जो कोई भी अभिमानी देव होगा वह इस प्रकार के कार्य से अधिक संतुष्ट होगा और यज्ञ करके जो पारलौकिक प्राप्ति होगी वह तो

अवश्य प्राप्त होगी। जितने धन में ये दस हजार लोग अहिंदुओं की बंदी से मुक्त कराए, म्लेच्छों की तीन शतकों की कार्रवाई विफल कर दी, उनसे बदला लिया, उतने ही धन को अब कुरूंदवाड में एक बकरा मारने के काम में लगाया जाए, यह क्या देशकालपात्र विवेक हो गया? या हिंदू धर्म-रक्षण? इसका विचार शांत चित्त से हमारे हिंदू बांधवों को करना चाहिए।

जिस परिस्थिति में हिंदू राष्ट्र की धारणा और उद्धार हेतु जो कृत्य प्रत्यक्ष रूप से लाभदायक और आवश्यक होगा उसको प्राप्त करना ही उस स्थिति में यज्ञ, हिंदू धर्म है! मनुष्य जाति को जो हितप्रद—वह मनुष्य धर्म है!

□

गोपालन हो, गोपूजन नहीं!

गाय, यह पशु हिंदुस्थान जैसे कृषि-प्रधान देश को अत्यंत उपयुक्त होने के कारण वैदिक काल से ही हम हिंदू लोगों को प्रिय लगता है, यह स्वाभाविक है। गाय के समान वत्सल, पालतू, गरीब, सुंदर, दुधारू पशु किसको प्रिय नहीं लगेगा? माँ के दूध के बाद गाय का ही दूध हमारे देश के बच्चों को पचता है, प्रिय लगता है। मृगया युग को समाप्त करके जितना सुधार होते ही प्राचीन काल से ही जो गाय मनुष्य की सखी बन गई और कृषि के उपरांत जिसके दूध, दही, मक्खन, घी पर मनुष्य का पिंड आज भी पाला-पोसा जा रहा है, उस अति-उपयुक्त पशु के प्रति हम मनुष्यों को अपने परिवारजन के समान ममता रखना बिलकुल मनुष्यता की बात है। ऐसी गाय की रक्षा करना, पालन करना अपना वैयक्तिक और पारिवारिक ही नहीं, अपने हिंदुस्थान के लिए तो एक राष्ट्रीय कर्तव्य है।

इतना ही नहीं अपितु जो प्राणी हमारे लिए इतना उपयुक्त है उसके संबंध में मन में एक प्रकार की कृतज्ञता की भावना उत्पन्न होना, विशेषतः अपने हिंदुओं के भूतदयाशील स्वभाव के लिए, शोभादायक है।

गाय एक उपयोगी पशु है इसलिए हमें प्रिय लगती है यह बात निर्विवाद है, किंतु जो गोभक्त उसे कृतज्ञता से देवी मानकर पूजते हैं उन्हें भी वह पूजा योग्य है क्या? ऐसा पूछते ही वे उस पूजा के समर्थन में, गाय देवता है, यह कारण बताने के पूर्व वह गाय हमें कितनी उपयुक्त है यही बताने लगते हैं। उसके दूध से लेकर गोबर तक सभी पदार्थों का मनुष्य को कितने विभिन्न प्रकार से ऐहिक उपयोग होता है, यही बताने लगते हैं। अर्थात् वे उस गाय को देवता मानते हैं, उसका कारण वह गाय मनुष्य को इहलोक में भी उपयुक्त है और इसलिए वह देवी है। मनुष्य को यदि वह गाय सिंह के समान खाने लगती, दूध देकर पोषण करने के स्थान पर साँप के समान विष से मार डालती, तो गाय को हमने देवी नहीं माना होता। पूजा भी करते तो कृतज्ञता से नहीं अपितु जैसे मरी माँ को पूजते हैं वैसे कष्ट के डर से, इस सत्य

को वे गोपूजक गोभक्त भी जाने-अनजाने, परंतु अपरिहार्यता से मान लेते हैं।

तब गाय, यह पशु मनुष्य को इस दुनिया में उपयुक्त है, अतः पालने योग्य है ऐसा कहनेवाले और गाय मनुष्य को इहलोक में भी इतनी उपयुक्त है, कि वह एक पूजनीय देवी है ऐसा कहनेवाले दोनों पक्षों के लोगों को गाय से इस जगत् में बहुत लाभ होते हैं, इसलिए उसका पालन करना चाहिए यह विधान निर्विवाद मान्यता प्राप्त है।

फिर उभयपक्ष निर्विवाद रूप से मान्य हुए मुद्दों का अनुसरण करके उसी सत्य को, अधिकाधिक पूर्वता हो, इस हेतु से निम्न सूत्र में कथन किया है कि मनुष्य को गाय का जिससे अधिकाधिक ऐहिक उपयोग हो, ऐसी रीति से गाय का पालन और पूजन किया जाना चाहिए। इसके विपरीत जिस कारण गाय से मनुष्य के हित को लाभ तो होता ही नहीं, परंतु हानि होती है, मनुष्यता में न्यूनता आती है, ऐसे गोरक्षण के मुख्य हेतु को विफल करनेवाला गोरक्षण का अतिरेक त्याज्य है, तो यह सूत्र यथावत् गोरक्षण कार्यकर्ताओं को मान्य होने में क्या आपत्ति हो सकती है? कम-से-कम इतना तो निर्विवादं है कि मनुष्य को गाय का जिस कारण अधिकाधिक उपयोग ऐहिक दृष्टि से भी हो, ऐसा ही अपने राष्ट्र का गोविषयक लक्ष्य और व्यवहार होना चाहिए। यह सूत्र किसी को पसंद नहीं आया तो भी उसे नकारना संभव नहीं। क्योंकि गोपूजन से ही नहीं अपितु गोपालन का ही समर्थन, गोभक्त भी, गाय मनुष्य के लिए इस जगत् में अत्यंत उपयुक्त है, इस कोटिक्रम (तर्क) पर मुख्य जोर देकर, करते हैं।

अब गाय के संबंध में अपने सब व्यवहार और भावनाओं की जाँच करने पर प्रथमतः ध्यान में आता है कि मनुष्य को गाय का अधिकाधिक प्रत्यक्ष उपयोग यदि करना है तो उसे देवी समझकर गोपूजन की भावना पूर्णतः त्याज्य है, यह हमें मानना होगा। उसके कुछ कारण—

१. देव कोटि मनुष्य कोटि से उच्चतर वास्तविक या कल्पित भावनाओं की होती है; मनुष्य से अधिक सद्‌गुणों का, सत् शक्ति का, सत् भावनाओं का विकास जिसमें प्रकर्ष से होता है वह देव या देवता, परंतु पशु मनुष्य-से-अधिक हीनतर वर्ग का अतिमानुष देवता है, देव है। अपमानुष पशु, कीट है। गाय तो प्रत्यक्ष पशु! मनुष्यों में निर्बुद्धों जितनी बुद्धि भी जिसमें नहीं होती ऐसे किसी पशु को देवता मानना मनुष्यता का ही अपमान करना है। मनुष्य की तुलना में सद्‌गुणों में और सद्‌भावना में जो उच्चतर हो ऐसे प्रतीक को एक बार देव कहा जा सकता है; परंतु नोकदार सिंग, गुच्छदार पूँछ इनके अलावा जिस

पशु में मनुष्य से अधिक भिन्न बताने योग्य कोई आधिक्य नहीं, मनुष्य को उपयुक्त करके जिसका गौरव और ममता मनुष्य को लगती है ऐसी गाय को या किसी पशु को देवता मानना मनुष्यता को ही नहीं अपितु देवत्व को भी पशु की अपेक्षा हीन मानना है।

गोशाला में खड़े-खड़े घास, चारा खानेवाले, खाते समय ही नि:संकोचता से मल-मूत्र करनेवाले, थकान आते ही जुगाली करते हुए उसी मल-मूत्र में बैठनेवाले, पूँछ के द्वारा वह कीचड़ अपने ही बदन पर उछालनेवाले, रस्सी छूट गई तो उतने ही समय में कहीं जाकर गंदगी में मुँह डालनेवाले और वैसे ही फिर गोशाला में बँधनेवाले उस पशु को, शुद्ध और निर्मल वस्त्र पहने हुए ब्राह्मण या महिला द्वारा हाथों में पूजापात्र लेकर गोस्थान में पहुँचकर उसकी पूँछ का स्पर्श करते हुए अपनी पवित्रता को बाधा न आने देते हुए उसका गोबर और गोमूत्र चाँदी के पात्र में घोलकर पीने में अपना जीवन निर्मल हो गया—ऐसा मानना कहाँ तक उचित है? वह पवित्रता, जो अंबेडकर के समान महान् स्वधर्म बंधु की छाया पड़ते ही बाधित होती है, वह ब्राह्म-क्षात्र जीवन, जो तुकाराम के समान संत के साथ पंगत में बैठकर दही-भात खाने पर भ्रष्ट होता है, वह पवित्रता और वह ब्राह्म-क्षात्र जीवन गोस्थान के अमंगल खानेवाली गाय के मलमूत्र से लिप्त पूँछ को स्पर्श कर पवित्र होती है और गोमय, गोमूत्र भी सबको पवित्र करता है। पशु को देव कहते हैं और देव के समान मनुष्य को वे पशु कहते हैं। ये दोनों रूढ़ियाँ धर्म और सदाचार के रूप में एक ही समय में, एकत्र गौरव करनेवाली यथार्थ स्थिति से, धर्म की छाप लगते ही, केवल विसंगत मूर्खता भी, सुसंगत विद्वत्ता और सत्शील पवित्रता लगने लगती है। मनुष्य की कैसी बुद्धिहत्या होती है, इसका दूसरा उचित उदाहरण कौन सा दें?

२. किंतु पशु को देवता मानने से मनुष्यता को ही हीनता आती है, वह केवल तात्त्विक या लाक्षणिक होता तो भी इस अतिरेक को अनुष्टुप छंद में कहते हुए स्वराष्ट्र हत्या उससे भी सहस्र गुना अधिक बड़ा पाप है, प्रत्यक्ष इहलोक में पापी मनुष्य को पचानेवाला महानरक है यह विधान वे कभी गलती से भी नहीं करते।

गाय को देवता मानने के यःकश्चित् भाविक प्रवृत्ति के परिणाम इतने भयावह और राष्ट्रहननकारक होते हैं यह केवल अतिशयोक्ति का वर्णन है—ऐसा

स्वाभाविक रूप से माननेवाले पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि गाय मनुष्य के लिए नहीं, परंतु मनुष्य गाय के लिए है। यह भोली भावना गोपूजन का, गाय का देवीकरण करने का अवश्यंभावी परिणाम है। यह केवल तर्क नहीं, अपने इतिहास में अनेक समय में वैसे परिणाम हुए हैं। गाय के लिए हिंदू राष्ट्र के चरणों में परतंत्रता की बेड़ियाँ डालने में हाथ बँटाने में यह भोली भावना अज्ञानवश पीछे नहीं हटी। मुसलमानों के इतिहास में भी हिंदुओं के इस भोलेपन का उल्लेख मिलता है। अपने इतिहासकारों ने भी उन घटनाओं का उल्लेख किया है। जब मुसलमानों के आक्रमण प्रबल वेग से हिंदुस्थान पर शुरू हुए, उस समय के हिंदुओं की अत्यंत भाविक काल में, प्राण गया तो भी हिंदू लोग गाय पर हाथ नहीं डालेंगे यह बात ज्ञात होते ही कुछ प्रसंगों में मुसलमानी सेना स्वयं की व्यूह रचना के आगे बहुत सी गायों को गोल बनाकर ले चलते थे और उन्हें आगे रखकर वे हिंदू सेना पर हमला करते थे। गायों को देखते ही शस्त्र-अस्त्र से सुसज्ज हिंदू सेना अकस्मात् एक भी बाण छोड़ने की या एक भी हथियार चलाने की हिम्मत नहीं करती थी। क्योंकि मुसलमानों पर वैसा बाण छोड़ते ही या हथियार चलाते ही प्रथमत: शत्रु के आगे की गायें कट मरने की आशंका अधिक होने से उन्हें गोहत्या का महापाप होने का भय लगता था। कोई भी हिंदू गोहत्या के पाप का अधिकारी होना नहीं चाहता था। रण-मैदान पर मुसलमानों से संघर्ष करने के लिए दल-बल के साथ आई हुई हिंदू सेना रूपी सिंह का पंजा अकस्मात् कमजोर होते ही सिंह जैसा गाय बनता है वैसे गाय बनकर रणांगण से पीछे-पीछे हटने लगते थे। लड़ाई न लड़ते हुए मुसलमान जीत जाते थे और अपना विजय उत्सव वे समस्त गाय काटकर उनके मांस पर हाथ मारकर संपन्न करते थे। जो गाय की बात है वही मंदिरों की। मुलतानियों पर हिंदुओं की एक प्रबल सेना ने आक्रमण किया तो मुसलमानों ने धमकी दी कि 'मुलतान का पवित्र सूर्यमंदिर गिरा देंगे यदि एक कदम आगे बढ़ाओगे तो!' इस पाप से डरकर मुलतान को मुसलमानों के कब्जे से छुड़ाने का अत्यंत महत्त्व का कार्य और उस प्रसंग में हिंदू सेना को कठिन नहीं था ऐसा राष्ट्रकार्य, वैसा ही छोड़कर हिंदू लौट आए। 'श्री' को मुक्त करो (काशी स्वतंत्र करो) यह वाक्य, यह लगन पहले बाजीराव से नाना-महादजी तक सबको समान थी इसका उल्लेख पत्रों में है। परंतु मल्हारराव होलकर द्वारा काशी पर अचानक छापा डालकर हिंदू पदपादशाही का मुकुटमणि हस्तगत करने का प्रयास करते ही मुसलमानों ने फिर धमकी दी कि 'मंदिर गिराएँगे, ब्राह्मणों को मार डालेंगे, तीर्थस्थान भ्रष्ट किए जाएँगे।' इस बात का बदला लेकर मुसलमानों के दाँत उखाड़ने की बजाय काशी के हिंदू नागरिकों ने मल्हारराव के सम्मुख ही दाँत दिखाए, धरना दिया, शपथ डाली कि काशी मुसलमानों के पास ही

रहने दी जाए, नहीं तो वे तीर्थक्षेत्र भ्रष्ट करेंगे और इस प्रकार हिंदू धर्म को कलंक लगानेवाले इस महापाप का दोष मल्हारराव पर आएगा। अंत में काशी के हिंदू नागरिक मुसलमानों के पक्ष का समर्थन करने लगे—यह देखकर हमले का विचार कठिन समझकर मराठों को लौटना पड़ा।

दस मंदिर, मुट्ठी भर ब्राह्मण और पाँच-दस गायें मारने का पाप टालने के लिए राष्ट्र को मरने दिया गया। गोहत्या का पाप टालने हेतु राष्ट्रहत्या होने दी। राष्ट्र से भी बढ़कर राष्ट्र का एक पशु माना गया। राष्ट्र की स्वतंत्रता नष्ट हो गई उसकी चिंता नहीं, परंतु एक मंदिर नष्ट हो जाने की चिंता की गई। इतिहास में यदि ऐसा एक भी प्रसंग हो जाता तो 'धर्म' के भोलेपन को अधर्म से भी नरकगामी कहा जाता। फिर यहाँ ऐसे प्रसंग मुहम्मद गजनवी के समय से दूसरे बाजीराव के समय तक किसी-न-किसी रूप से बार-बार घटित हुए हैं। इसलिए पोथीनिष्ठ, विवेकशून्य, राष्ट्रघातक 'धर्मभीरुता' से हमें घृणा हो तो इसमें किसका दोष है? हम उपयुक्ततावादियों का या राष्ट्र डुबानेवाली धर्मभीरुता से अभी भी चिपककर रहने के इच्छुक हमारे भाविक पोथीवादियों का?

यह पाप, यह पुण्य, बस! पोथी की इतनी ही आत्मघाती आज्ञा होती है। वह पाप क्यों? पुण्य क्यों? उनका हेतु क्या था? किस परिस्थिति में, किस कालावधि में, यह प्रश्न भी न पूछने देती है, न बनाती है। गोहत्या का पाप, गोपूजन का पुण्य, बस! गोहत्या ही पाप क्यों? भैंस हत्या या गधे की हत्या पाप क्यों नहीं? राष्ट्रहत्या या गोहत्या का विकल्प खड़ा होते ही उनके विवेक भाव की कसौटी क्या? यह पोथी नहीं बतलाएगी! और पूछने भी नहीं देगी। इसलिए जिस मूल हेतु के लिए गोहत्या पाप मानी गई उस हेतु की ही हत्या उस गोहत्या को टालने के लिए कैसी बार-बार होती गई यह बात पोथीनिष्ठों के प्रकरणों में अपरिहार्य हो बैठती है। परंतु विज्ञान केवल यह 'पुण्य', यह 'पाप' ऐसी आज्ञा न करते हुए, उसका हेतु क्या था, विवेक कौन सा, कसौटी कौन सी यह प्रत्येक बात स्पष्ट रूप से ऐहिक सबूतों के साथ बताता है। जैसे मनुष्य के लिए गाय एक उपयुक्त पशु है इसलिए उसकी हत्या नहीं होनी चाहिए। इसके विपरीत यह पशु उपयुक्त न होते हुए हानिकारक होगा, उस स्थिति में गोहत्या भी आवश्यक, ऐसा खड़ा जवाब विज्ञान देता है। अतएव किसी भी प्रसंग में विज्ञाननिष्ठा मनुष्य को अपना कर्तव्य पोथीनिष्ठ मनुष्य की अपेक्षा अधिक उचित तरीके से तय करना सिखलाती है।

उपर्युक्त ऐतिहासिक प्रसंग में यदि यह वैज्ञानिक उपयुक्तता की कसौटी लगाई जा सकती तो उस हिंदू सैनिक को और सेनापति को अपना कर्तव्य दिन के प्रकाश के समान स्पष्ट दिखने लगता। जो लोग हिंदू धर्म का उच्छेद करने के लिए

आए थे, हिंदुओं के राज्य समाप्त करने निकले थे, उन दैत्यों के सामने चल रहे गायों के समूह को हिंदू सेना ने यदि फटाफट काट दिया होता और प्रत्येक गाय की हत्या का प्रायश्चित्त करने हेतु उन समूहों के पीछे छुपे हुए सैकड़ों म्लेच्छों के रक्त में अपने हाथों को धोना चाहिए था। क्योंकि उस युद्ध के समय मुट्ठी भर गायों को बचाने के लिए हमने मुसलमानों की मुट्ठी में अपनी हिंदू स्वतंत्रता की गरदन देने से ऐसी एक गाय, एक मंदिर, एक तीर्थ बचाने के लिए एक-एक लड़ाई मुसलमानों को जीतने देने से, एक-एक हिंदू राज्य नष्ट करने देने से, एक-एक मुसलमानी बादशाही अपनी छाती पर चढ़ा लेने से, अंत में समस्त हिंदुस्थान में सभी मंदिरों की मसजिदें होंगी, सभी तीर्थ भ्रष्ट होंगे, दस-दस हजार गायों का कत्ल करने के लिए कसाईखाने सैकड़ों वर्ष इसी हिंदुस्थान में, जिसमें खाने के लिए गाय काटना असंभव था, उसी हिंदुस्थान में कसाईखाने खोले जाएँगे और अंत में 'देव मात्र उच्छेदिला। जित्यापरिस मृत्यु भला।' 'देवों का उच्छेदन कर दिया। अब जीने से मरना ही बेहतर है।' ऐसी समस्त हिंदू-पृथ्वी आंदोलित हो जाएगी यह अपने भाषण का परिणाम उस समय के हिंदू सेनापतियों को और हिंदू जनता को स्पष्टता से दिखने में एक क्षण का भी विलंब न होता। मुलतान का एक सूर्यमंदिर गिराने की धमकी पाक मुसलमानों द्वारा देते ही पोथी का अंधभक्त हिंदू न होता तो वह तुरंत प्रतिकार करते हुए कहता, 'मंदिर को गिराओ तो सही, फिर समझ लो कि अब यह हिंदू सेना लौटेगी नहीं, परंतु मुलतान को मुक्त कराकर काबुल तक जितनी मसजिदें दिखेंगी उनपर गधों द्वारा हल चलाए बिना नहीं रहेगी। इतना ही नहीं अपितु उस काबुल की शाही मसजिद की शिलाओं के आधार पर मुलतान का सूर्य-मंदिर फिर से खड़ा किया जाएगा।' मल्हारराव होलकर आगे बढ़े तो काशी का एक भी तीर्थ, मंदिर, ब्राह्मण बचने नहीं देंगे ऐसी अयोध्या के नवाब ने जब धमकी दी थी तब काशी के हिंदू आदि कहते कि, 'ऐ नवाब, गिरा दो वह मंदिर जिसका आधा भाग पूर्व में औरंगजेब ने गिराया है, उस विश्वनाथ मंदिर का शेष भाग तुम गिरा दो। हमारे इन ब्राह्मणों के मुट्ठी भर मस्तकों की क्या गिनती! परंतु ध्यान में रखो कि दिल्ली को हिलानेवाले मराठों से तुम्हारा संघर्ष होगा और उधर पूना में ब्राह्मणों का राज्य प्रबल है, लाखों घुड़सवार सिपाही हरदम तैयार रहते हैं। वे इस काशी के एक मंदिर के बदले में महाराष्ट्र में एक भी मसजिद बचने नहीं देंगे। रास्ते साफ करके मसजिदें और बाजों की समस्या ही आनेवाली पीढ़ी के लिए नहीं छोड़ेंगे। राजनीतिक संघर्ष में धर्मस्थानों की अवमानना न करना हिंदुओं की रीत है। शनिवारवाडे में भी एक पीर सुरक्षित रखा गया है। परंतु तुम म्लेच्छों ने यदि इस रीति को तोड़ा तो हिंदू भी उसे ठुकरा देंगे, क्योंकि आज तो सिंधु से लेकर सेतुबंध तक मराठों का शस्त्र ही

शास्त्र है। महाराष्ट्र में तुम्हारी मसजिदें अपने पैरों पर नहीं, खड़ी रहीं तो हमारी कृपा पर!' पोथी के कारण अंध न बने हुए होते तो काशी के हिंदू नवाब को इस प्रकार धमका सकते थे और उस समय यह धमकी सही करके दिखाने की शक्ति भी हिंदू-खड्ग में थी। परंतु अंधी पोथीनिष्ठा के लिए मुट्‍ठी भर गाय मारने का 'पाप' न हो इसलिए उन्होंने राष्ट्र को ही नष्ट कर लाखों गाय अनेक शतकों तक मारने के लिए कसाईखाने के ताम्रपट ही म्लेच्छों को दे दिए। देवों का एक मंदिर तोड़ना नहीं चाहिए, लेकिन देवों का राज्य ही नष्ट करने दिया। भैंस, घोड़ा, कुत्ता, इतना ही नहीं अपितु गधा भी अपने हिसाब से गाय के समान मनुष्य के लिए उपयुक्त है।

उपर्युक्त आलोचना से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य के लिए अधिकाधिक उपयोग जिस प्रकार से होगा उसी प्रकार से गाय का पालन भी किया जाएगा। इस हेतु को प्राप्त करने के लिए गोपालन सूत्र राष्ट्र के सामने राष्ट्र का कर्तव्य के रूप में रखना चाहिए। गोरक्षण धर्म है, वह ऐहिक और पारलौकिक पुण्य है, गाय देवता है, इतना ही नहीं अपितु, उसमें एक नहीं, तीस करोड़ देवता वास करते हैं। इस प्रकार की कल्पनाओं पर अनुष्टुप छंद में रचना करके गोपूजन ही हिंदू धर्म है यह सूत्र राष्ट्र के सम्मुख रखने से गाय का रक्षण तो जैसा चाहिए वैसा होता ही नहीं, परंतु भोलेपन की प्रवृत्ति राष्ट्र के सामने रखने से गोभक्ति के कारण राष्ट्रभक्ति ही नष्ट होती है। हिंदू के हित की ही बलि गाय के सामने देने पर गोरक्षा के मूल हेतु को ही धक्का पहुँचता है। कितना भी उपयुक्त हो गाय एक पशु है, उसे देवता मानने से सामान्य लोक उसका पालन उत्कटता से करेंगे, इसलिए उसे देवता मानेंगे, गोपूजन को धर्म मानना चाहिए यह समझ मूर्खता की है, समाज की बुद्धिहत्या की कारण होती है।

उपयुक्तता की दृष्टि से भी गाय का इतना महत्त्व बढ़ाना गलत है। गाय के भी पूर्व से या गाय के बराबर ही मनुष्य के अत्यंत निष्ठावान् सेवक घोड़ा और कुत्ता प्राचीन काल से ही थे। कृषि युग और गोपालन युग के पूर्व मृगया युग में मनुष्य जब भ्रमण करता था तब भी गाय की अपेक्षा कुत्ता और घोड़ा उसके साथ प्राण देनेवाले मित्र थे। मृगया (शिकार) में पशु को पकड़ते समय अपने मालिक के प्राणों के लिए हिंस्र पशु पर भी हमला करनेवाला, घरबार की रात-दिन चोर-उचक्कों से रक्षा करनेवाला, मालिक के सोने पर स्वयं जागकर मध्यरात्रि को भी कड़ा पहरा देनेवाला तथा जिस गाय को हम देवता कहते हैं उसे भी उसके साथियों के साथ अनेक प्रसंगों में अपनी उपस्थिति से चरने में सहायक होनेवाला पशु कुत्ता रहा है। आज तक जो प्राणी पुलिस के सुबुद्ध कर्तव्य भी यूरोप जैसे देश में करके मनुष्य समाज की सेवा कर रहा है उस कुत्ते का उपयोग क्या मनुष्य को बहुत अल्प सा हुआ है?

गाय ने दूध दिया है तो कुत्ते ने अनेक प्रसंगों में मनुष्य को जीवनदान दिया है। बच्चों का मित्र, मृगया की बंदूक, घर का ताला, बैठता है दरवाजे के पास, खाता है रोटी के टुकड़े, सब भगाते हैं उसे, केवल यू, यू कहा कि तुरंत पाँव चाटने लगता है इतना नम्र, संकटों में प्राण देनेवाला कृतज्ञ, और किसान से लेकर शाहू-सम्राट् तक सबका एकनिष्ठ सेवक। इस कुत्ते को सम्मान कौन सा? वेतन क्या? तो उसका नाम एक गाली, जाति अस्पृश्य; उपयुक्तता में घोड़े की योग्यता भी वैसे ही निस्सीम! पूरे राष्ट्र का जीवन या मरण अनेक प्रसंगों में, उसके अश्वदल की ताकत पर और सज्जता पर निर्भर रहता आया है। मराठों के पास—भीमथड्डी के टट्टू थे। इसलिए हिंदू पदपादशाही को कितनी सहायता मिली। हिंदू धर्म की रक्षा का वह कितना मजबूत साधन सिद्ध हुआ। हिंदू धर्म के शत्रुओं को अटक तक भगाने का कार्य मराठों ने गायों के समूह के बल पर नहीं, अपितु अश्वदल के बल पर ही किया। गाय तो उपयुक्त है ही, परंतु गाय के दूध की कमी को पूरा करने के लिए भैंस भी तो होती है न? परंतु रण-मैदान के प्राणसंकट में राष्ट्र का रक्षण करनेवाला, प्रतापसिंह के जैसे राष्ट्रवीर के प्राण हलदी घाटी के संग्राम में बचानेवाला, झाँसी की रानी को अहिंदू अंग्रजों की बंदूकसम पीछा करके भड़कती आग में से काल्पी तक एकदम पहुँचाकर, स्वतंत्रता समर की देवी के प्राण बचाने का महान् कार्य पूरा होते ही स्वयं प्राण त्याग करनेवाला घोड़ा, उसकी कमी, अन्य कौन सा पशु पूरी कर सकता है? घोड़े के समान कुछ देशों में गधा भी मनुष्य के लिए गाय के समान ही उपयुक्त सिद्ध हुआ है। कुछ लोग गधे को मनुष्य का इतना एकनिष्ठ सेवक समझते थे कि उसका नाम ही उपयुक्तता का उपमान हो बैठा है। यीशू ख्रिस्त जब ईशप्रेषित रूप से जेरूसलम में अपनी प्रथम विजय प्राप्त करने गया था तब उसने अपने धर्म और दैवी कार्य के लिए गधे की योजना की थी। "ऐसी विजय यात्रा का पवित्र वाहन गधा! तो जाओ और एक सफेद स्वच्छ गधा ले आओ!" यह आज्ञा अपने शिष्यों को दी। उस शुभ गर्दभ पर बैठकर वह देवदूत ख्रिस्त जेरूसलम में प्रवेश कर गया। अनेक देशों में यह प्रतिदिन बूढ़े, बच्चों की सवारी का वाहन आज भी है। सिंध देश में अपने हिंदू बांधव भी गधे का उपयोग इतने निस्संकोच होकर करते हैं कि ब्राह्मणों की लड़कियाँ ससुराल या पीहर जाने-आने के लिए गधे पर बैठकर वैसी ही हिलती-डुलती हैं जैसी बैलगाड़ी में जा रही हो। कितनी ही जातियों की उपजीविका गधे पर ही चलती है। उनका मुख्य धन गोधन नहीं, गधे हैं। घर के किसी सदस्य के समान गधा बेचारा घर-मालिक के कष्ट हरता है, बोझा ढोता है और होता भी है सस्ता! उसका वेतन गाँव का कचरा फूँककर जितना पेट भर सकेगा वही है। गाय के दूध से कुछ रोग ठीक नहीं होते, पवित्र पंचगव्य से भी लाभ नहीं

होता, ऐसी बीमारियों में ब्राह्मण संतानों को भी गधी का दूध उपयोगी होता है। परंतु गधा इतना उपयुक्त और इतना प्रामाणिक, इतना सहनशील कि उसको पशु न मानकर देवता मानना चाहिए था। क्या किसी ने कभी गधा गीता लिखकर गधा पूजन का संप्रदाय निकाला है?

कुम्हार भी गधे को पालना इतना ही अपना कर्तव्य समझता है, गधा पूजन नहीं। घोड़ा अत्यंत उपयुक्त राष्ट्रीय पशु है। उसे घोड़देव मानकर उसके संबंध में अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए चातुर्मास में मनुष्य घोड़े पर न बैठते हुए उसे ही मनुष्य पर समारोहपूर्वक सवारी करने दे ऐसा कोई व्रत किसी ने चलाया है क्या? कुत्ता अति उपयुक्त, प्रत्यक्ष दत्तात्रेय भगवान् का प्यारा; इसलिए कुत्ते को ही देवता समझ लो, श्वानहत्या को 'पाप' मानें और किसी म्लेच्छ शत्रु का जहाज यदि भारत पर आक्रमण करे तो उसपर जो कुत्ते होंगे वे मरेंगे, श्वानहत्या का पाप होगा इस आशंका से हिंदू सेना उस जहाज पर गोलीबारी करने को नकारे और उसे हिंद भूमि पर सुरक्षित उतरने दे, फिर लाखों हिंदू स्त्री-पुरुषों का कत्ल हो तो फिर वह कृत्यकृतज्ञता का स्तुत्य प्रदर्शन समझा जाएगा या केवल पागलपन?

गाय एक पशु है इसलिए उसे देवता समझकर हम यह पागलपन जो गाय के संबंध में करते हैं वह सब भी केवल मूर्खता ही नहीं है क्या? घोड़ा, कुत्ता, गधा इन उपयुक्त पशुओं में वे गुण नहीं होंगे जो वांछनीय हैं, परंतु उनमें मनुष्य के उपयोग के लिए जो आवश्यक गुण हैं वे गाय में नहीं हैं। देवता की कल्पना कर उसकी पूजा नहीं की इसलिए क्या उनके पालन में कमी आती है?

वे उपयुक्त पशु हैं, अतः भैंस, घोड़ा, कुत्ता का उचित पालन-पोषण होता है वैसा ही गाय का भी पालन-पोषण होगा, भले ही हम उसे देवता मानें, या न मानें। उसकी उपयुक्तता की शक्ति के कारण उसको पाला जाएगा। उसे देवता बनाने की बजाय एक पशु की रुचि के अनुसार उसका प्रबंध होने पर गोपूजन के कारण होनेवाली राष्ट्र की बुद्धिहत्या का पाप टलेगा। परंतु गोपालन कर्तव्य न होकर, गोपूजन ही हिंदुओं का धर्म बन गया है, वह केवल ऐहिक नहीं अपितु पारलौकिक 'पुण्य' भी है, इस प्रकार की भोली भावना के कारण हम गाय को भी नापसंद हो जाएँ इतना उसका ढोंग हमने मचा रखा है।

गोग्रास

कुछ भी कहें तो भी गाय बेचारी एक पशु है। उसे हरी-हरी घास खाने में ही अच्छा आनंद मिलता है। और मनुष्य के व्यंजनों में से उसे कौन सा व्यंजन अधिक पसंद होगा, तो एक बड़े घमेले में, भोजन की पंक्ति से निकलता हुआ

झूठन इकट्ठा कर उसके सामने रखना। वह उसकी पसंद का गोग्रास। परंतु उसको देवता मानने की गलत कल्पना के कारण उसे जो नहीं देना चाहिए, उसके नसीब से, वही उसे देंगे। शुचिर्भूत ब्राह्मण के सम्मुख रखते हैं वैसा एक केला का पत्ता काटकर उसपर एक तरफ बड़ी, चटनी, दूसरी ओर नींबू, नमक-खीर, चावल, दाल, लड्डू अच्छी तरह से परसकर, घर के बच्चे-बूढ़े भोजन करने के पहले वह केला का पत्ता गोमाता के सम्मुख रखना। इतना अच्छा हुआ कि पूरा परोसा हुआ केले का पत्ता ही गोमाता के सम्मुख रखने के लिए पोथी कहती है। किसी भक्त ने पाँच-दस संस्कृत श्लोक उसमें घुसेड़कर यदि ऐसा कहा होता कि गाय को प्रसादी चढ़ाते समय गोठे में न बाँधते हुए देवघर में बाँधना चाहिए। एक चंदन का पटिया डालकर दस-पाँच आदमियों को गाय को उठाकर इस पटिये पर खड़ा करना चाहिए। उसे साड़ी, चोली पहनाकर अपने हाथों से खिलाना चाहिए। परंतु पोथी में यह सब न होने के कारण हम केवल केले का पत्ता अन्न से सजाकर गोस्थान में ले जाकर रखते हैं। उसे सब कुछ अर्पित करते हैं। परंतु उसका उस गाय को कोई ज्ञान नहीं होता। उलटा वह तो उसे अपने पशु धर्म का अपमान समझती है। देवता के समान खाने हेतु सर्वप्रथम खीर खानी चाहिए, फिर घी मिलाया चावल, दाल आदि पत्ते को न हिलाते हुए खाना चाहिए। परंतु वह तो जहाँ उसकी जिह्वा स्पर्श करे वहीं से खाना शुरू कर देती है। वह तो नमक, खीर, भिंडी की सब्जी, बड़ा, रायता, लड्डू, दाल सबकुछ जिह्वा से इकट्ठा करते हुए खा जाती है। कभी-कभी इसे केले के पत्ते का ही मोह होता है और वह पत्ते पर रखे हुए व्यंजनों को जमीन पर गिराकर हरा-हरा पत्ता ही खा जाती है। उस पत्ते पर रखे हुए व्यंजन कढ़ी, दाल, घी सब भूमि पर गिराती है जो गोबर में भी मिल जाते हैं।

इससे तो मनुष्य योग्य सुग्रास अन्न मनुष्य को ही देकर और पशु को प्रिय ऐसा पंक्ति में बचा हुआ झूठा, बासी अन्न किसी घमेले में रखकर गाय के आगे रखना चाहिए, ताकि वह अपनी जिह्वा की तृप्ति कर सके। व्यर्थ जानेवाला जूठन भी काम आ जाएगा, इसका संतोष मनुष्य को भी रहेगा। नहीं क्या? पशु के इतना और पशु के समान चाकरी करने से गोपालन अधिक अच्छा किस प्रकार होगा इसका यह एक उदाहरण ही काफी है।

किंतु अन्य उदाहरण चाहते हों तो गाय की स्थिति और प्रगति अमेरिका में कितनी उत्कृष्ट रीति से होती है, यह देखिए। अमेरिका के कुछ कृषि-प्रधान भागों में हिंदुस्थान जितनी ही गोधन की आवश्यकता है। परंतु गाय की ओर वे 'मनुष्य के लिए उपयुक्त एक पशु' इसी दृष्टि से देखते हैं इस कारण गोपालन इतना ही कर्तव्य मान लिया जाता है। गोपूजन का भोलापन मानवता को हीनता लानेवाला है यह ज्ञान

होने के कारण वह पशु मनुष्य के लिए अधिकाधिक उपयोगी जिस मार्ग से होगा उसी मार्ग से या उपायों से गाय को पाला-पोसा जाता है। उसके दूध में जो विशेष गुण होते हैं वे कैसे विकसित होंगे, इसके वैज्ञानिक प्रयोग करके दूध अधिक मात्रा में प्राप्त करने के लिए उचित खान-पान दिया जाता है। उसके रहने का स्थान पशु के स्वास्थ्य की दृष्टि से अनुकूल हो इसके लिए वहाँ प्रकाश, सफाई, कीटनाशक पदार्थों का प्रयोग किया जाता है। गोस्थान उनके रहने के लिए उपयुक्त बनाए जाते हैं। गाय किस जाति की है, उत्तम पैदाइश हेतु उत्कृष्ट वृषभ कौन से, ऋतु कौन से अच्छे आदि जानकारी वैज्ञानिक प्रयोगों से प्राप्त की जाती है। गायों का वंश आगे की पीढ़ी में अधिक सुंदर, दूध अधिक देनेवाली, पुष्ट हो—इसकी तैयारी की जाती है। 'भागवत' में गोकुल का जो वर्णन किया जाता है वास्तव में वैसा गोकुल आज अमेरिका में है। उनकी गायों को चराने हेतु विस्तृत हरे-भरे जंगल होते हैं। वहाँ एक से बढ़कर एक सुंदर, ऊँची, सुश्लिष्ट, एक भी कीटक बदन पर न हो ऐसी, विशाल नेत्रोंवाली, बहुत दूध देनेवाली गाय समूह में प्रदर्शनियों में उत्तम गायों की लगी हुई स्पर्धाएँ और मदोन्मत्त गर्जना करते हुए जानेवाले मजबूत वृषभों की टकराहटें; दही, दूध, मक्खन के विशुद्ध, सत्त्वस्थ क्षीरसागरोपम हौज-के-हौज भरे हुए होते हैं। सही माने में आज यदि कहीं पृथ्वी पर गोकुल होगा तो वह गोमांसभक्षक अमेरिका में है जहाँ गाय को एक पशु मानकर पाला जाता है। गाय को देवता समझकर पालन करनेवाले देश में, उसका मलमूत्र पीने में भी पुण्य की भावना रखनेवाले भारत देश में कौन सी और कितनी गो-संस्थाएँ हैं? मुख्य रूप से पिंजरापोल और कसाईखाने।

अत: सभी गोरक्षक संस्थाओं से हमारी प्रार्थना है कि उन्हें गोपालक बनना चाहिए। वैज्ञानिक साधनों से मनुष्य को उस पशु का अधिकाधिक उपयोग किस प्रकार हो सकेगा इस दृष्टि से अमेरिका के समान सशक्त और सुंदर जाति को विकसित कर, उनके दूध की मात्रा बढ़ाकर, उनका स्वास्थ्य अच्छा करके पालन करना चाहिए, गोरक्षण करना चाहिए और राष्ट्र के गोधन में वृद्धि करनी चाहिए। परंतु यह करते समय भोलेपन से पशु को देवता समझकर पूजा करने की मूर्खता नहीं करनी चाहिए। गाय का कौतुक करने हेतु उसके गले में घंटा बाँधिए, परंतु भावना वही होनी चाहिए जो कुत्ते के गले में पट्टा बाँधते समय रहती है। भगवान् के गले में हार डालते हैं उस भावना से नहीं। इस प्रकार से जो धार्मिक छाप की सैकड़ों भोली धारणाएँ हमारे लोगों की बुद्धिहत्या कर रही हैं उन निरर्थक प्रवृत्तियों की हैं। उसका एक उपलक्षण करके हमने केवल गाय की बात उठाई है।

'गाय' पर हमारे लेख को पढ़कर जिन गोभक्तों को क्रोध हुआ होगा, वे शांति से विचार करें कि हमारी हिंदू संस्कृति का उपहास यदि कोई कागज करता हो

तो वह हमारे लेख का कागज नहीं, किंतु वह चित्र का कागज है जिसपर तैंतीस करोड़ देवता चित्रित किए जाते हैं।

पंढरपुर की यात्रा के भीड़-भड़क्के में रेलगाड़ी के तीसरे दरजे के डिब्बे में पंढरपुर के वारकरी को जिस प्रकार घुसाया जाता है, उसी प्रकार इस गाय के शरीर में देवों की रगड़ा-रगड़ी होती है और श्वास लेना भी मुश्किल हो जाता है। विष्णु, ब्रह्मा, चंद्र, सूर्य, यम कोई कंठ में, कोई दाँतों पर, कोई नाक में, जहाँ जमेगा वहाँ वह लटकता है। गाय के पृष्ठ भाग में तो इतनी भीड़ हो जाती है कि कोई सनातनी भी क्रोध से जब किसी आवारा गाय की पीठ पर, वैसे ही दूहते समय गाय के लात मारते ही उसे डंडे से पीटता है तो दस-पाँच देव तो स्वर्गवासी होते ही हैं। नाक-मुख के आस्वाद्य रस में लिपटे हुए देवों की तो करुणाजनक स्थिति होती है। परंतु उसमें भी बुरी स्थिति मरुत् और वरुण की होती है। स्थान प्राप्ति की गड़बड़ी में अंत में, 'अपाने तू मरुदेवो योनौ च वरुणास्थिती:॥' और मूत्रे गंगा! यह क्या चित्र है कि यह विचित्र है? अपनी हिंदू संस्कृति की विडंबना आज के विज्ञान युग में यदि कोई करता हो तो हमारा उपर्युक्त लेख नहीं अपितु देवों को पशुओं से भी बदतर स्थिति देनेवाले संस्कृत के अनुष्टुप श्लोक हैं। और हमारे आचार की विडंबना है वह पंचगव्य!

गाय को एक बार गोमाता कहो, लाक्षणिक अर्थ में वह कुछ समय के लिए चल जाएगा, परंतु उसे पूर्ण रूप से सही नहीं मानना चाहिए। इतना ही नहीं, माता के लिए भी जो पदार्थ असेव्य मानते हैं वे भी गाय के लिए सेव्य मानकर, पवित्र मानकर, उसका गोबर और गोमूत्र समारोहपूर्वक पीना इसे आचार कहें या अत्याचार? क्या कहते हैं कि गोमूत्र से फलाँ-फलाँ बीमारियाँ हटती हैं और गोबर उत्तम खाद है। इतना ही होगा तो उन रोगों से पीड़ित रोगी को वह गोमूत्र पीने दो। घोड़े का मूत्र, गधी का दूध, मुरगी की विष्ठा ये भी उपयुक्त ओषधि हैं। मनुष्य-मूत्र में भी कुछ गुण हैं। आवश्यक उस बीमारी पर उपर्युक्त दवाइयाँ ली जाती हैं। वैसे गोमूत्र भी लीजिए। परंतु मुरगी की विष्ठा सर्पदंश पर उतारे का कार्य करती है। इसलिए श्राद्ध के दिन भी चटनी के समान थोड़ी-थोड़ी सेवन करनी चाहिए क्या? गोबर खाद है तो खेत में डालो। पेट में क्यों? गोबर खाद है तो विष्ठा भी खाद है। मृत चूहे गुलाब के पेड़ के लिए उत्तम खाद हैं। इसलिए मृत चूहे ही गुलाब के समान नाक से सूँघना चाहिए क्या? तब गाय के गोबर और मूत्र में कितने ही गुण गोभक्तों ने दरशा दिए तो भी सिर्फ उस रोग से संबंधित उपयोग के लिए ही उनका सेवन करना चाहिए। परंतु गोमूत्र पीने और गोबर खाने से पुण्य कैसे होगा? आत्मशुद्धि का संस्कार करके? पवित्र करके, जो पंचगव्य सेवन किया जाता है उसका समर्थन कैसे होगा?

सही बात मूल रूप से ऐसी है कि जिस भोलेपन की प्रवृत्ति के कारण गाय के समान एक साधारण पशु को एक देवी बना दी उसी धर्म-भोली प्रवृत्ति से उसका गोबर रंगोली द्वारा द्वार के सम्मुख निकालना शुभ मानना, उसकी पूँछ आँखों पर से घुमाना कल्याणकारक मानना, उसकी पूजा करना धर्म मानना और अंत में पागलपन की हद होकर उसका गोबर और मूत्र भी पवित्र मानना, उसे खाने या पीने से आत्मशुद्धि होती है, पापक्षालन होता है, इह और परलोक में भी पुण्य होता है, इतना भोलापन चरम पर पहुँच गया।

अपनी महान् हिंदू संस्कृति की यदि कोई अवमानना कर रहा हो तो पुण्य गोबर खानेवाली और गोमूत्र पीनेवाली भोली प्रथाएँ हैं। इस पोथीनिष्ठ मूर्खता का निषेध, हमारे सनातनी बंधुओं को, इस प्रकार का उपहास न चाहते हों तो, करना चाहिए। निषेध हमारे उन लेखों का नहीं करना चाहिए जिनके द्वारा हमने मूर्खता का परिचय लोगों को करवाया है।

चलते-चलते पंचगव्य की उपपत्ति संबंधी एक बात कहना चाहते हैं। वह बात कहीं दिखाई नहीं देती। हम भी सिद्धांत रूप में नहीं अपितु एक सूचना रूप में बताते हैं। हमें ऐसा लगता है कि गाय का गोबर खाना और गोमूत्र पीना कभी किसी समय एक उपमर्दकारक निंदाव्यंजक सजा दी जाती होगी। पापी की मूँछ उड़ाना, गधे पर बैठाना आदि सार्वजनिक बदनामी के समान उसे सजा मान गाय का गोबर और मूत्र सेवन करना पड़ता होगा। प्रायश्चित्त में भी गोमय, गोमूत्र की स्पष्टता यही दरशाती है। आगे चलकर उस सजा का संस्कार ही धर्मीकरण हो गया होगा और जिसके कारण पापनिवृत्ति होती है वह पुण्यकारक इस सहज भावानुक्रम से गाय का गोबर खाना और गोमूत्र पीना यह स्वयमेव पुण्यकारक है, ऐसे धर्मभीरु मत की एकदम सहज समझ हो चुकी है। क्योंकि केवल गोमय, गोमूत्र पवित्र मान आचमन करने का प्रश्न छोड़ दिया जाए तो भी आज भी व्यवहार में 'गोबर खाना, मूत्र पीना' गाली है, संस्कार नहीं।

□

साधु-संतों के चित्रपट किस प्रकार देखें?

महाराष्ट्र में साधु-संतों के चित्रपटों की ऋतु सदैव फली-फूली रहती है। उन चित्रपटों को देखने हजारों स्त्री-पुरुषों का समाज उपस्थित रहता है यह स्वाभाविक है।

ये चित्रपट देखने पर उनसे होनेवाले लाभ और मनोरंजन प्राप्त करके भी, यदि असंगत दृष्टि से उन्हें देखें तो समाज की जो अपरिमित हानि होनेवाली है, उसे यथासंभव किस प्रकार टाला जा सकता है, उसके संबंध में कुछ सूचनाएँ दिग्दर्शनार्थ दे रहा हूँ।

साधु-संतों के चित्रपट आज कैसे देखने चाहिए यह सूचित करते समय साधु संचित चरित्र ही कैसे पढ़ने चाहिए, कैसे मनन करना चाहिए—यह बताना होगा।

संतों के चित्रपट देखते समय प्रमुख बात जो ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि वे चरित्र ऐतिहासिक नहीं हैं अपितु दोनों अर्थ से 'चामत्कारिक' हैं। संतों के जो चरित्र आज उपलब्ध हैं, वे जैसे हैं वैसे यदि बने रहे हैं तो, और आज तक जीवित रखे हैं यह महिपति के समान संतचरित्रकार के उपकार ही हैं।

उस समय के समाज की भाव-भावनाएँ कैसी थीं यह सामाजिक इतिहास का ही एक भाग है, उसे भी उन्होंने प्रयास से जीवित रखा है। परंतु उसके पीछे उस चरित्र में ऐतिहासिक सत्य क्या है यह निश्चित रूप से बताना बहुत कठिन हुआ है। इतना ही नहीं अपितु आज उपलब्ध चरित्रों के संबंध में यदि कुछ निश्चित बताया जा सकता है तो यह कि वे चरित्र भोली कथाओं से और अनैतिहासिक प्रमादों से पूरी तरह भरे हुए हैं। पुनः बात यह है कि पुराने ऐहिक बखरी का वृत्त जाँचने के अन्य साधन भी संत विजय, भक्ति विजय आदि दैविक ग्रंथों को कसौटी पर परखने के लिए सर्वथा अपर्याप्त पड़ते हैं। संत अधिकतर स्वभावतः व्यवहार-विमुख होते हैं, अनेक ऐसे कि उनके द्वारा लिखी किसी घटना की या पत्राचार की एक अँगुली

भर चिट्ठी भी कभी भेजी नहीं गई हो।

दूसरे साधन का विदेशी इतिहास में उल्लेख होता है। हमारे राजनीतिज्ञों के संबंध में विदेशी लेखन में भरपूर उल्लेख मिलते हैं, फिर भी ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकारामादि संतों के संबंध में तो क्या, किंतु रामदास, ब्रह्मेंद्र के संबंध में, जो उल्लेख उनके चरित्र खोजने हेतु उपयुक्त हो सकते हैं ऐसे उल्लेख मिलना भी संभव नहीं होता। मुसलमान बादशाहों को परेशान करने के 'चमत्कार' उन संतों के चरित्र में कई बार आते हैं। परंतु उनका अता-पता भी मुसलमानी, अंग्रेज, डच, फ्रेंच इनके समकालीन लेखन में नहीं मिलता। मुसलमान अथवा यूरोपियनों को हमारे संतों द्वारा किए हुए पराभव कदाचित् लज्जास्पद लगते, इसलिए उनके लेखों में उन घटनाओं का उल्लेख नहीं है ऐसा कहें तो हिंदू वीरों ने मुसलमानों को संग्राम में कई बार पराजित किया, उसके उल्लेख विदेशी इतिहास में भरपूर मिलते हैं। तुकाराम के कीर्तन प्रसंग में शिवाजी राजे उपस्थित थे। उन्हें पकड़ने के लिए उस कीर्तन समूह को ही घेर लिया गया। तुकारामजी ने अपनी भक्ति से चमत्कार दिखाया और मुसलमानों को सर्वत्र शिवाजी-ही-शिवाजी दिखने लगे। इस गड़बड़ी में शिवाजी राजे वहाँ से निकल चुके थे। यह तुकाराम का चमत्कार मुसलमानों ने अपमानजनक मानकर अपने इतिहास में नहीं लिखा ऐसा मान लिया जाए तो शिवाजी राजे औरंगजेब को चकमा देकर आगरा के लाल किले से भागे—यह प्रसंग मुसलमानों के पराभव का होते हुए भी उनके इतिहास में लिखा है।

संतों के चमत्कार संताजी के चमत्कार के समान विदेशियों को सत्य नहीं लगे या सही नहीं थे। उन्हें वे तुच्छ लगे। इसलिए विदेशियों ने संतों के चमत्कार का ही नहीं उनके अस्तित्व का भी महत्त्वपूर्ण उल्लेख कहीं अधिक नहीं किया। ऐसा कहिए या न कहिए, परंतु उल्लेख नहीं है इस बात को नकारा नहीं जा सकता। इसलिए संतों के चरित्र को खोजने का वह साधन भी बिलकुल उपलब्ध नहीं है।

संतों के स्वयं के ऐहिक पत्र व्यवहार या लेख, स्वयं के संबंध में परकीय शत्रु-मित्रों के उल्लेख ये दोनों ऐतिहासिक साधन नहीं के बराबर होने की कठिनाई होते हुए तीसरी महत्त्वपूर्ण कठिनाई यानी उनके संबंध में इतिहास संशोधकों को महिपति आदि चरित्रकारों द्वारा लिखित सुसंगत या विसंगत जानकारी है। अन्य पुरुषों की ऐहिक दृष्टि से लिखित बहुत सी बातें उनके वर्णन की विसंगति से कभी-कभी तत्काल सच-झूठ तय हो जाती हैं। मान लें, किसी बखर में ऐसा वर्णन आया कि चिमाजी अप्पा के वसई पर कब्जा करते ही बड़े शिवाजी महाराज ने उन्हें रायगढ़ पर बुलाया और उनका गौरव किया कि 'पुर्तगीजों का बदला लेकर तूने परशुराम क्षेत्र में धर्म की रक्षा की।' इतना ही नहीं अपितु उन्होंने श्रीपतराव का

प्रधान पद छीनकर चिमाजी अप्पा को दिया। तो इस वाक्य की विसंगति स्थल, काल, पात्र की दृष्टि से तुरंत सिद्ध की जा सकती है। शिवाजी महाराज यानी शाहू महाराज होने चाहिए, ऐसी कुछ गलती निकालकर और उसे सुधारकर उस विसंगति में भी सबूत के रूप में सत्य चुन लिया जा सकता है। क्योंकि ये चरित्र साधारणत: ऐहिक बुद्धिवाद के मानुषीय तर्क के विषय होते हैं यह सबने माना है। परंतु संतचरित्र का मूल गृहीत (aximotic assumption) आध्यात्मिक, दैविक, अतिमानुषीय होता है। जो घटना जितनी अधिक विसंगत, उतनी ही वह अधिक संग्राह्य। 'चमत्कार' न हो तो वह संतचरित्र कथन करने योग्य नहीं। इसलिए चरित्र की घटनाएँ दैविक एवं आध्यात्मिक भाषा में तर्कातीत यानी ऐहिक एवं बौद्धिक भाषा में तर्कशून्य होगी। ये संतचरित्र यानी साधारणत: असंभव अलंकारों के उदाहरण होते हैं। मान लीजिए उपर्युक्त उल्लेखानुसार शिवाजी महाराज चिमाजी अप्पा से मिले या श्रीपतराव का प्रधान पद चिमाजी अप्पा को दिया गया जैसी अस्त-व्यस्त बातें यदि संतचरित्र में हो कि श्रीधरस्वामी को ज्ञानेश्वर महाराज मिले और उनका पांडव प्रताप ग्रंथ ज्ञानेश्वर पढ़ने बैठे या महिपति के अध्याय नामदेव ने लिखे तो ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्टत: ऐसे विसंगत विधान गलत हैं, ऐसा भक्ति पंथियों का समझाना भी असंभव है। क्योंकि स्थल-काल, संभवासंभव आदि उपर्युक्त मानुषीय तर्कों की कसौटी उन्हें बिलकुल लागू होती ही नहीं। यह तो उस संतचरित्रकार की आशा और अशंकनीय गृहीत (Axiom) है। वे कहेंगे, 'ज्ञानेश्वर की योगसिद्धि ही वैसी थी या विट्ठल को असंभव क्या हो सकता है?' विट्ठल ने नामदेव का मिलन श्रीधर से, या नामदेव का मिलन महिपति से करा दिया। इस प्रकार के बहुत से अनैतिहासिक उदाहरण उन संतचरित्रों में दिखाई देते हैं। 'अलौकिक सिद्धि', 'नाम प्रताप', 'ईश्वर कार्य' इस प्रकार तर्कातीत यानी ऐतिहासिक भाषा में तर्कशून्य मान्यताओं के कारण संतचरित्र संबंध की इतिहासात्मकता स्पष्ट रूप से निकालना और पटाना, इतिहास संशोधन का जो आंतरिक सबूत का तीसरा मान्य साधन, उसकी सहायता से भी कठिन होता है। केवल हिंदू का ही नहीं अपितु जो-जो संत वाङ्मय क्रिश्चियन, मुसलिम, यहूदी आदि धर्मछाप का है उन सब पर यह बात लागू होती है।

अनेक 'चमत्कार', लाक्षणिक भाषा को ही सत्य मानने के कारण चमत्कार बनकर सबकी चर्चा का विषय बनते हैं। किसी भी परंपरागत संशोधन के साधन से परीक्षा न कर सकने से आज उपलब्ध समस्त संतचरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से कभी भी जैसे-के-तैसे सही नहीं माने जा सकते। यह बात और एक उदाहरण से सिद्ध हो सकती है। इन चमत्कारों में अनेक 'चमत्कार' केवल लाक्षणिक वर्णन से शब्दश:

सही समझनेवाली भक्त मंडली की कल्पनाओं का प्रपंच होते हैं। संत की भावना होती है कि सबकुछ भगवान् करते हैं। उनकी वृत्ति निरहंकारी। जो स्वयं किया उसे भी स्वयं का न बताना, भगवान् ने किया ऐसी भाषा, उस भावना का लाक्षणिक अर्थ लगाना, उनकी रीति होती है। श्रीधरस्वामी रामविजयादि ग्रंथ लिखते समय या महिपति भक्तिविजय लिखते समय बार-बार कहते हैं, "मैं मंदमति हूँ, ग्रंथ रचना कैसे करूँगा? परंतु पांडुरंग ने कलम हाथ में दी और कहा, लिखो। इस प्रकार उसने जैसा कहा वैसा लिखा।"

संतों के अभंगों में, ओवी में, ग्रंथों में यह भाषा उपर्युक्त लाक्षणिक अर्थ में आती थी, परंतु उनके बाद के भक्तगण उस भाषा को शब्दशः वस्तुस्थिति समझकर प्रत्यक्ष पांडुरंग भगवान् का अवतार हुआ, कलम उठाकर उन्होंने संत के हाथ में दी और संत जैसा कहते थे वैसा पांडुरंग लिखते थे। उसी प्रकार पांडुरंग स्वयं कहते थे और संत लिखते थे आदि। संत कीर्तन करते थे तो हनुमान उनके पीछे खड़े होकर साथ देते थे मानो हनुमानजी स्वयं ही प्रत्यक्ष रूप से खड़े होते थे। इस प्रकार के वर्णनों की संतचरित्रों में अधिकता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी विभिन्न कीर्तनकार उस वर्णन को अधिकाधिक आकर्षक बनाते हैं। परिणामस्वरूप लाखों भक्तजन उस 'चमत्कार' को अक्षरशः प्रामाणिक मानने लगे। संतजन ऐसा भी कहते थे कि सोना और मिट्टी दोनों हमें समान हैं। या वे कहते थे कि वैराग्य का पारस पत्थर उनके हाथ लगा है अब लोहे को वे सोना बना सकते हैं। और सोना भी पत्थर हो सकता है। रामकृष्ण परमहंस की एक साधना इस प्रकार थी कि वे एक हाथ में सोना और दूसरे हाथ में मिट्टी लेते थे। उन चीजों को एक-दूसरे हाथ में इतनी गति से बदल लेते थे और कहते जाते थे कि 'सोना-माटी-माटी सोना'। तब तक वे यह कहते जाते थे जब तक उनके यह ध्यान में भी नहीं आता था कि किस हाथ में सोना है और किस हाथ में मिट्टी! सोना को मिट्टी और मिट्टी को सोना कह देते थे! परंतु इस प्रकार के प्रखर वैराग्य के लाक्षणिक शब्दों को संत जो कुछ कहते थे उसे ही बाद में संत चरित्रकार, भक्तगण, कीर्तनकार शब्दशः सत्य मानकर और उस हिसाब से रंग देकर अनेक चमत्कार करके बताते थे। जैसे सही-सही मिट्टी का फलाने संत ने सही सोना बना दिया; संत नामदेव ने अपने हाथों से जो पत्थर उठाए वे पारस बन गए; पारस जिन्होंने स्वार्थ से अपनाए वे पुनः पत्थर हो गए आदि प्रकार के चमत्कार इस श्रेणी के थे।

विपरीत स्थिति में, लाक्षणिक अर्थ में कही गई घटना भी चमत्कार बनती है। यह है दूसरी श्रेणी। संत तुकाराम की मोटे पुट्ठों की अभंगवाणी की चौपड़ियाँ सरिता के जल में डुबोने पर फूलकर ऊपर आ गईं यह एक साधारण बात है। इस

बात को लेकर संत तुकाराम जैसे निरहंकारी श्रद्धालु भक्त ने स्वाभाविक रूप से कहा कि 'विट्ठल ने मेरी अभंगों की चोपड़ी लौटा दी।' बस, यही भावना प्रबल होकर, लाक्षणिक अर्थ में रँगकर बताने के बाद आज उसकी एक अद्भुत कथा हो गई है। एक सरल घटना दैवी चमत्कार बन गई। दामाजी पंत के कथानक की भी ऐसी ही बात थी। कागज-पत्रों के आधार पर इतिहासाचार्य राजवाडे ने यह सिद्ध किया है। दामाजी पंत के दंड की राशि किसी बिठू हरिजन ने जमा कर दी और दामाजी पंत को बंदीगृह से मुक्त कराया। यह सत्य सरल बात है, परंतु इस हरिजन का नाम बिठू था और दामाजी पंत तो थे संत। इसलिए भाविक लोगों ने बिठू को चलने-बोलनेवाला विट्ठल बना दिया। और यह बात ही बाद में चमत्कार बन गई।

सही नाम पर श्लेष करके उस आधार पर अद्भुत चमत्कारों की रचना करना, केवल काल्पनिक कथाएँ बताना—यह चमत्कारों का तीसरा प्रकार है।

जाट एक जाति का सही नाम है, उसपर श्लेष करके एक अद्भुत कथा रची गई कि महादेव की जटा से उत्पन्न हो गए इसलिए नाम जाट पड़ा। नाई का नाम नाभिक ऐसी कल्पना करते ही उसपर तर्क किया गया कि वे ब्रह्मदेव की नाभि से जनमे थे। ब्राह्मण मुख से और क्षत्रिय बाहू से जनमे। इस सुंदर रूपक को शब्दशः सही मानने की मूर्खता इतना ही नाई-नापिक-नाभिक ये ब्रह्मदेव की नाभि से प्रकट हुए, यह विश्वास भी मूर्खता का है। कर्ण के नाम पर श्लेष हुआ और तुरंत इसका एक चमत्कार बन गया कि कर्ण कुंती देवी के कर्ण (कान) से जनमे थे इसलिए उसका नाम 'कर्ण' रखा गया था। जैसे अलौकिक पुरुषों का जन्म भी अलौकिकता से हुआ तो ही शोभा देता है, इस भोले आदर के कारण अनेक महापुरुषों को ईशसंभव या अयोनिसंभव की कल्पना करने की ओर सामान्य जनों का अधिक झुकाव दुनिया में सर्वत्र दिखाई देता है। जीसस बढ़ई का लड़का नहीं, वह कुमारी मेरी के ईश्वरीय गर्भ से हुआ, यह ख्रिस्त कथा देखिए! वही बात नामदेव की! श्रीनामदेव अलौकिक संत, इसलिए उनका जन्म भी अलौकिक होना चाहिए। यह खोज करने का कोई साधन? हाँ, वे दरजी थे न? अर्थात् मराठी में शिंपी यानी सीप या सीपी। पुराण कथाओं के समान यहाँ भी शिंपी का अर्थ सीप में या सीप से उत्पन्न ऐसा लगाया गया और नामदेव की जन्मकथा भी गढ़ दी गई। नामदेव के माता-पिता को एक दैवी सीप मिली। घर पर लाकर देखते हैं तो उसमें एक अद्भुत बालक। इसलिए नामदेव को 'शिंपी' (सीपी) कहते हैं।

चमत्कारों का एक चौथा प्रकार है। उसे नकल कह सकते हैं। सब एक जैसा कार्य। एक संत के शिष्य ने उसका एक चमत्कार बताया कि दूसरे संत के शिष्य ने वही चमत्कार अपने गुरु के चरित्र में जैसा-का-तैसा ही लिख दिया।

नामदेव ने मंदिर घुमाया, वैसी ही कथा गुरु नानक को मशीद से निकालकर बाहर भगाया तब मसजिद घूमने की कथा है। इसी प्रकार अन्य संतों की कहानियाँ बनती हैं। जनाबाई के पास पांडुरंग की दुशाला मिली, इसलिए पंडों ने उसपर चोरी का आरोप लगाया, उसे सूली पर चढ़ाने की सजा सुनाई गई। ऐसा ही संत चोखामेला के संबंध में हुआ है। उसके पास भी पांडुरंग का हार मिला, पंडों ने चोरी का आरोप लगाया, उसे बैलगाड़ी से बाँधकर मार डालने की सजा हुई। दोनों प्रकरणों में पांडुरंग दौड़ते हुए आए, उन्होंने भक्तों को छुड़ाया; परंतु पांडुरंग भक्तों पर इस जीव को बेचैन करनेवाला और उनके रिश्तेदारों को उनके मृत्युदंड की सजा सुनकर भयंकर दुःख देनेवाला संकट क्यों लाता है? इस प्रकार जान लेनेवाली विचित्र लीलाएँ करने की बुरी आदत पांडुरंग को लगी हुई है। यह वर्णन करते समय हम भगवान् को कितना उपद्रवी और निर्दयी बना रहे हैं, यह बात यह अद्भुत कथा बार-बार कहनेवाले भक्तजनों के और संतचरित्रकारों के ध्यान में नहीं आती।

उपर्युक्त नमूने के लिए सूचित सभी कारणों से, आज उपलब्ध संतचरित्र शब्दानुसार यथार्थ, ऐतिहासिक सत्य नहीं हैं। अधिक-से-अधिक इसे हम एक ऐतिहासिक काव्य समझकर पढ़ सकते हैं। उनके (चित्रपट) तो एक केवल चामत्कारिक नाटक होते हैं और उन्हें इस एक ही भाव से देखना चाहिए।

संतचरित्र जैसे हैं वैसे ही पढ़ना चाहिए, चित्र सजाने चाहिए

आज उपलब्ध संतचरित्र ऐतिहासिक दृष्टि से, और वे पूर्ण रूप से सत्य हैं ऐसी अंधश्रद्धा से उन्हें देखना या पढ़ना टाल सकें तो फिर वे जैसे हैं वैसे चित्रित करने में कोई विशेष धोखा नहीं। हम तो ऐसा कहेंगे कि उन संतचरित्रों में जोड़-तोड़ करके, उनमें जो चमत्कार हैं उन्हें छोड़कर, उन भोले और साधुशील महात्माओं के यथार्थ स्वरूप को छिपाकर, उनके पुरानी भक्ति विजय और संतलीलामृत के नए संशोधित संस्करण निकालना एकदम गलत होगा, लुच्चेगिरी का और अरसिकता का द्योतक भी होगा। उनके उस भोले भाव के अद्भुत चमत्कारों के, झाँझ-करताल के वातावरण में ही यह हमारी संतमंडली शोभा देती है। उन्हें आधुनिक बनाना उसका असहनीय उपहास (विडंबना) होगा। नामदेव-तुकाराम की वंदनीय और मोहक मूर्तियाँ उन पगड़ियों में, नामघोष में, तुलसी माला में, काला बुक्के में, उस अँगरखे में शोभा देती हैं। नामदेव को आज साइकिल पर बैठाना या तुकोबा को सूट-बूट पहनाना बुद्धि का पागलपन है। क्योंकि महिपति चरित्र में उस समय का जो वातावरण और भावनाएँ जिस प्रकार व्यक्त की गई हैं, वैसी व्यक्त नहीं हो

सकेंगी और हम उसमें से कुछ छोड़ेंगे, कुछ रखेंगे। उस समय का समाज-दर्शन यथावत् कराना भी इतिहास का एक कर्तव्य है। महिपति आदि कवियों का काव्य भी इस अर्थ में एक इतिहास है।

दूसरी बात यह है कि संतों के इन चित्रपटों से या चरित्र से उस चमत्कारादि के वातावरण से अद्भुत रस का उत्कृष्ट सम्यक् पोषण हो सकता है। अद्भुत रस अत्यंत आस्वाद्य रस है। इसके लिए जिस दृष्टि से हम उपन्यास या हजार रातों की कहानियाँ पढ़ते हैं केवल उसी दृष्टि से उन चमत्कारों को देखना चाहिए।

तीसरी बात यह है कि संतचरित्र के बहुत से चमत्कार यद्यपि लाक्षणिक, अविश्वसनीय या बनावटी लगते हैं तो भी उनके कारण इन साधु पुरुषों की सही महानता को बाधा नहीं आती। क्योंकि संतों की सही महानता इन चमत्कारों में नहीं, उनकी पवित्र वाणी में, ग्रंथों में और परोपकारी एवं उदात्त चरित्र में ही समाविष्ट है।

जब तक ज्ञानेश्वरी, तुकाराम, अभंग, एकनाथ, नामदेव आदि के अत्युदार चरित्र हमारी आँखों के सम्मुख हैं तब तक उनके संबंध में लगनेवाला आदर और पूजनीयता कम होने का डर नहीं। परंतु यदि वह आदर और पूजनीयता बुद्धिपूर्वक और यथाप्रमाण अनुभव करनी हो, तो उनके वे पुराने चरित्र जैसे थे वैसे ही रहने देना आवश्यक है।

इन सब कारणों से वर्तमान चित्रपटों में संतचरित्र जैसे हैं वैसे ही और उनके समय के अच्छे-बुरे, परंतु सही-सही वातावरण में चित्रित करने चाहिए।

किंतु संत कहते ही वह सर्वज्ञ या शक्तिमान या ईश्वर जिनके वचनों में हो, ऐसा होना चाहिए यह मान्यता केवल झूठी और पागलपन की है। यह बात पाठकों को या भक्तों को कभी भूलनी नहीं चाहिए। भक्ति का आनंद आध्यात्मिक होता है। उसके कारण कोई विशेष व्यावहारिक योग्यता या सृष्टि नियम का ज्ञान या राष्ट्र के ऐहिक उत्कर्ष के लिए उपयोगी कोई बात, विशेष रूप से शक्ति या युक्ति संतों के, योगियों के, भक्तों के शरीर को प्राप्त नहीं होती। कितने ही संत एकदम निरक्षर थे। नाम की महिमा से उन्हें बाराखड़ी भी स्वयं होकर ज्ञात नहीं हुई। फिर सर्वज्ञता का नाम ही मत लें। कितने ही एकदम भोले, जग तो क्या परंतु देश का भी भूगोल, इतिहास या राजनीति भी उन्हें ज्ञात नहीं थी। उनके प्रत्येक संकट में भगवान् प्रसन्न होते थे यह बात तो उनके चरित्रों को झुठलाती है। चोखा संत को, सनातनी लोगों ने जब हल को जोता था, तब पांडुरंग ने उनके प्राण बचाए। परंतु जब उस संत चोखा को मुसलमान बादशाह पकड़कर ले गया और उसने उससे बेगार करवाई, तब पांडुरंग उस तरफ गए भी नहीं। सीमा की दीवार बनाते-बनाते गिर गई जिसके नीचे दबकर संत चोखामेला मर गया। यह बात

संतचरित्रों में लिखी है। फिर उस समय पांडुरंग प्रसन्न क्यों नहीं हुए? नामदेव, तुकारामादि के घर महिलाएँ और बच्चे भूख से मर गए। तुकाराम लिखते हैं, ''स्त्री एकी अन्नान्न करून मेली!'' (अर्थात् एक स्त्री अन्न-अन्न करते हुए मर गई) 'नामाचा महिमा' एक प्रकार का आध्यात्मिक आनंद उस व्यक्ति को दे सका तो भी उस व्यक्ति के या राष्ट्र के जीवन में 'नाम की महिमा' की कुछ भी साख नहीं होती, यह स्पष्टता से ध्यान में रखना चाहिए।

संत अपने अन्य गुणों के कारण ही महान् होते हैं। उनका या भक्तिपंथ का बेकार गुणगान करने से उनके चरित्रों की दुर्गति हुई है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए उदाहरणस्वरूप एक सामान्य भक्त द्वारा गाया हुआ और संत नामदेव के नाम पर चलाया हुआ यह चमत्कार देखें।

पुराने संत महिपति ने नहीं अपितु आज के आजगाँवकर के समान लेखक ने श्रद्धापूर्वक 'निर्भीड' नामक मासिक पत्र के फरवरी अंक में ऐसा वर्णन किया है कि 'एक ब्राह्मण ने नामदेव को बेदर जाने का आग्रह किया। नामदेव जाने को तैयार नहीं थे। पांडुरंग ने उन्हें जाने की आज्ञा दी (सरल बात यह है कि नामदेव की भी जाने की इच्छा हो गई। परंतु कर्ता भगवान्! इस तात्त्विक भाषा के ढाँचे में वह बात बताते ही वही अक्षरशः सत्य मानकर चमत्कार हुआ। प्रत्यक्ष पांडुरंग ने कहा, 'जाओ'।) उसके बाद ब्राह्मणों का एक बड़ा समूह लेकर भजन एवं नामघोष करते हुए नामदेव बेदर नगर में प्रवेश करने लगे। उस समय बेदर का सुलतान महल की छत पर बैठा था। उसने वाद्यों की आवाज सुनी और पताकाओं के साथ समूह को देखा तब अपने प्रधान काशीपंत से पूछा, ''यह किसकी सेना है, जो अपनी राजधानी पर आक्रमण कर रही है?'' काशीपंत ने सेनापति को बुलाकर कहा कि 'यह सेना किसकी है? कहाँ जा रही है? इधर आने का उद्‌देश्य क्या है? आदि बातों का पता लगाओ!'

तब बहुत से पठान सैनिकों को लेकर सेनापति सीमा पर गए और उन्होंने तुरंत नामदेव की भजन मंडली को घेर लिया। ब्राह्मण भयग्रस्त होकर पांडुरंग को पुकारने लगे। नामदेव ने आगे बढ़कर सेनापति से कहा, ''मैं त्रैलोक्यनाथ पंढरपुर के पांडुरंग का सेवक हूँ। ये ब्राह्मण भी उत्सवार्थ यहाँ पर आए हैं। (आश्चर्य है कि यह उन्मत्त बादशाह, तीर्थयात्री और सेना में जो अंतर है वह भी नहीं जान पाया) आप लोग यह घेरा उठा लें और हमें मार्ग दें।'' सेनापति ने तुरंत सैनिकों का घेरा उठा लिया। देखा यह वर्णन। एकदम अरेबियन नाइट्स की शैली। बादशाह छत पर से देखता है तब तक उसे बड़ी सेना के आगमन की सूचना नहीं थी। इतनी सुलतानी राज्य व्यवस्था ढीली-ढाली नहीं होती थी। नामदेव के साथ अधिक-से-अधिक

दो-तीन सौ ब्राह्मणादि की मंडली थी। कथा में यह लिखा है। पंचा-पगड़ी-पताका-धारी वह मुट्ठी भर समाज बादशाह ने देखा। परंतु खड्ग, बंदूक, तोप आदि कुछ न होते हुए भी उसे वह बड़ी सेना लगी। काशीपंत प्रधान को भी कुछ पता नहीं था। ऐसे प्रकरण में पूछताछ करने के लिए कोतवाल को बुलाना चाहिए, सेनापति को नहीं। सेनापति इतना भोला-भाला था कि जब तक बादशाह ने नहीं देखा तब तक बड़ी सेना आने की सूचना उसको नहीं मिली थी। लगता है, सेनापति कभी छत पर बैठता ही नहीं था। आश्चर्य की बात तो यह है कि सेनापति पठानों की दूसरी बड़ी सेना लेकर गया। सामने के समूह के पास खड्ग, बंदूक, तोप आदि आयुध नहीं हैं और वे केवल पंचा, पगड़ी और पताकाधारी भजनी लोग हैं, यह देखते हुए भी उसे वह बड़ी सेना लगी। लगता है, सेनापति आँखों पर तथा कानों पर पट्टी बाँधकर गया था। बाद में वह घेरा डालता है तो ब्राह्मणादि वारकरी भय से काँपने लगे। पांडुरंग, त्रैलोक्यनाथ के ये सेवक! ऐसा नामदेव ने कहा यह यदि सही है तो उस त्रैलोक्यनाथ ने पहले उस उन्मत्त बादशाह का कान पकड़कर उसे छत पर ही क्यों नहीं बताया कि ये वारकरी हैं, सैनिक नहीं। बेचारे वारकरियों को भयग्रस्त होने तक पांडुरंग ने उपद्रव क्यों होने दिया? नामदेव के 'घेरा उठाओ' कहते ही सेनापति ने घेरा उठाया। कितने भोलेपन की कथा है यह! सेनापति तो बादशाह का गुलाम था। बादशाह की आज्ञा होने तक तो रुकता। नामदेव की आज्ञानुसार उसने सेना का सशस्त्र घेरा कैसे उठाया?

सेनापति ने बादशाह के पास आकर समस्त वृत्तांत कथन किया। बादशाह को क्रोध आया। नामदेव को उनके वारकरी मंडली सहित पकड़कर लाया गया। वह सारी ब्राह्मण मंडली दो सौ की थी। उन्हें गारदियों के हाथों से मारते-पीटते बेदर के बाजार में घुमाया। हिंदू लोग दुःखी हो गए, परंतु बादशाह के जुल्म को रोकने की सामर्थ्य उनमें कहाँ थी? (यह प्रश्न पूछनेवाले आजगाँवकर स्वयं से यह प्रश्न क्यों नहीं पूछते कि 'उस नामदेव के धनी' त्रैलोक्यनाथ उन गरीब सैकड़ों भक्तों की मार-पीट और अपमान देखते रहे, इतने कठोर और अनाथ वे कैसे हो गए? पांडुरंग ने ही नामदेव को उन ब्राह्मणों के साथ जाने के लिए कहा था। फिर उसी समय पांडुरंग ने बादशाह को बाँधकर उस दिन के लिए जेल में बंद क्यों नहीं रखा? एक तो बेदर के बादशाह की अपेक्षा यह अपना पांडुरंग दुर्बल है या समर्थ होते हुए भी अपने भक्तों का अपमान और छल निष्कारण चलने देना इतना खटनट है। इस प्रकार की व्यर्थ कथाएँ अपने देवताओं का ही अपमान करती हैं। यह बात हमारे भक्तों के ध्यान में भी नहीं आती। भोली तारतम्यशून्यता से आजगाँवकर जो लिखते हैं उसका सारांश ऐसा है।) उन सब भक्तों को बादशाह के सम्मुख भेड़ों के

समान खड़ा किया गया, बादशाह ने एक गाय लाकर उसका वध करवाया, तब नामदेव ने भगवान् की आराधना की, गाय जीवित हो उठी। बादशाह ने नामदेव को साष्टांग प्रणाम किया। भगवान् ने भक्त की पुकार सुनकर हिंदू धर्म की लज्जा रख ली। (लाज रखी या लाज ली? यह नाम की महिमा या कलंक। जब भगवान् आए थे तो हिंदुओं को इतना छलनेवाले उस उन्मत्त बादशाह को खटिक के हाथ में देकर उन्होंने उसे मरवा क्यों नहीं डाला? एक गाय जीवित करके पुनः-पुनः शताधिक गायों को मारकर खानेवाले और हिंदू को छलनेवाले उस मुसलमान बादशाह को जीवित रखना? यही बादशाह थोड़े दिन के बाद विजयनगर के रामराय का सिर काटेगा, सहस्राधिक हिंदुओं का तालिकोट में कत्ल, हिंदू राजकन्याओं पर बलात्कार करवाएगा, मंदिरों पर हल चलाएगा, यह न समझनेवाला त्रैलोक्यनाथ सर्वज्ञानी पांडुरंग राजनीति का अनाड़ी था क्या? फिर एक गाय जीवित करके उन्होंने हिंदू धर्म की लाज किस प्रकार रख ली? परंतु भक्त जितने कमजोर हैं उतने ही उनके देव भी। भक्त जितने राजनीति में भयग्रस्त या भोले उतने ही उनके देव भी। गाय जीवित कर दी इस घटना के लिए ऐतिहासिक साक्ष्य भी नहीं। यदि इसको सत्य भी मानें तो भी नाम की महिमा या संत की सामर्थ्य अद्‌भुत नहीं ठहरती। यदि मृत को जीवित करने की सामर्थ्य गलती से भी नामदेव में या नाम की महिमा में होती तो एक ही गाय जीवित करने की बजाय उस पीढ़ी में किसी सज्जन को मरने नहीं देना चाहिए था। संत चोखोबा सीमा की दीवार के नीचे दबकर मर गए, नामदेव ने दुःख प्रकट किया। उनका प्रेत ढूँढ़ते समय ढेर सारी हड्डियाँ नामदेव ने ही निकालीं। परंतु वहाँ पुनः नाम का गजर करके उन्हें चोखा को जीवित करना संभव नहीं हुआ। उस गाय की अपेक्षा वह संत चोखा नामदेव को सहस्रगुना प्रिय था। उसकी मृत्यु के कारण वे अति दुःखी हो गए थे। फिर उसे क्यों जीवित नहीं किया?

रामदास ने चिता पर जानेवाले एक शव को जीवित उठाया ऐसा चमत्कार लिखा है। चिता पर से अनेक प्रसंगों में मृत शरीर जीवन शक्ति का यंत्र पुनः शुरू होने से उठ बैठे हैं। व्यवहार में ऐसी बात कभी-कभी हो जाती है। परंतु रामदासजी का आशीर्वाद देना और मृत शरीर जीवित होना यह घटना एक ही समय में हो गई और वह 'चमत्कार' माना गया। यदि समर्थ को संजीवनी शक्ति की सामर्थ्य होती तो बाजी देशपांडे पावनखिंडी में या तानाजी सिंहगढ़ में युद्ध में गिर पड़े तब शिवाजी राज़ा को शोकाकुल देखकर रामदास के आशीर्वाद से हिंदू राष्ट्र के इन नेताओं को जीवित नहीं किया गया होता? प्रत्यक्ष शिवाजी राजे 'गुड़घी' रोग से आसन्नमरण हैं यह बात रामदास को पता चली, समर्थ को दुःख हुआ, तब कम-से-कम शिवाजी को तो जीवित रखना था। शिवाजी की मृत्यु की समर्थ को खुशी

नहीं थी। इसके विपरीत भय था। राजे शिवाजी हमें छोड़कर चले गए। अतः समर्थ इतने दुःखी हुए कि उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया। एक यःकश्चित् स्त्री के लिए, उसके पति को 'जीवित हो' कहते ही जीवित करने की सामर्थ्य समर्थ में थी फिर भी बाजी, तानाजी, शिवाजी की पत्नियों को और प्रत्यक्ष महाराष्ट्र राज्यलक्ष्मी को वैधव्य में डालते इतने समर्थ क्या भोले थे? नामदेव दुष्ट थे ऐसा कहिए या रामदास के या नामदेव के यह साधारण कार्य गाय या मनुष्य को जीवित करने के नाम महिमा के 'चमत्कार' बेकार हैं, वह बोलने-होने की संयोग की बात है या इसे संशयास्पद योगायोग कह सकते हैं। अन्य कुछ भी हुआ तो नाम महिमा से दुनिया में कुछ भी किया जा सकता है या संतों के ईश्वरीय अधिष्ठान के बिना कुछ एक यश भौतिक राजनीति में नहीं आएगा ऐसी दुर्बल, भोली और पागलपन की भाषा तो छोड़ देनी चाहिए। हम समझें कि हिंदुओं का छल करनेवाले इस बादशाह का हाथ काटने के लिए मना कर देने के लिए वह देव कुछ सहनशील या मंदबुद्धि नहीं है। ऐसी शंका भी नहीं की जा सकती। कारण आजगाँवकर ने आगे ठोक-बजाकर कहा है—

नामदेवादि संतों के छल का प्रायश्चित्त बेदर के बादशाह को तुरंत भयंकर रीति से भुगतना पड़ा था। उसकी प्रजा को भी भुगतना पड़ा, क्योंकि थोड़े ही दिनों में सुलतान के बाड़े में और नगर के घर-घर में असंख्य साँप निकले और सैकड़ों लोगों को डस लिया। सर्प दंशितों को खाटों पर डालकर सैकड़ों लोग राजभवन आए।

'काळे, पिवळे, आरक्त वर्ण। गुजगव्हाळे लंबायमान॥
भरोनी निघाले घर आंगण। सर्पे रोधिली अवधी धरित्री॥
पाय ठेवावा कोठेतरी। हत्ती घोड़े राव लष्कर॥
सर्पे रोघिले अवधे अंबर॥'

अर्थात्—काले, पीले, लाल वर्ण के, छोटे-बड़े लंबे सर्प निकले। उन्होंने घर, आँगन और संपूर्ण धरती घेर ली। कहीं पाँव रखने के लिए भी जगह खाली नहीं थी। हाथी, घोड़े, लाव-लश्कर और आकाश को भी सर्पों ने घेर लिया था।

यह स्पष्ट रूप से कवि कल्पना है। सत्य का जरा भी अंश उसमें नहीं। समस्त पृथ्वी और आकाश सर्पमय हो गया था ऐसा कहने की बजाय यदि हम कहें कि कवि के दिमाग में ही सर्प भरे हुए थे तो अधिक सही होगा। उन सर्पों के रंग भी दिए हैं। मानो दो पीढ़ियों के बाद जनमे महिपति ने प्रत्यक्ष देखकर लिखा था। इस प्रकार के कविता के सबूत पर ऐसे अद्भुत चमत्कार को सत्य मानने के लिए

कहते हैं। और 'सिद्ध' होने की बात भी बताते हैं।

इसके उपरांत सुलतान भयभीत हुआ। उस काशीपंत को नामदेव की ओर भेजा। काशीपंत ने संत नामदेव से प्रार्थना की कि संत महाराज, महावैष्णव के छल का प्रायश्चित्त आपने सुलतान को दिया। आपके शाप ने कितने ही लोगों के प्राण हरण कर लिये हैं। उन मृतों और स्त्री-बच्चों पर आपको दया नहीं आई तो प्रत्यक्ष भगवान् भी उनकी रक्षा नहीं कर पाएँगे। अतः उनपर दया कीजिए और अपना सर्पास्त्र वापस लीजिए। नामदेव इस समय ब्रह्मानंद में मग्न होने के कारण बेहोश थे। उनके पीछे खड़े पांडुरंग ने उन्हें सचेत किया। तब उन्हें शव और स्त्री-बच्चों का रुदन देखकर दया आ गई। 'भगवान्, यह दुःख दूर करो' ऐसी पांडुरंग से प्रार्थना की। तब सारे मृत-शरीर जीवित होकर खड़े हो गए और सर्प भी अदृश्य हो गए।

अपराध किया सुलतान ने, परंतु भगवान् ने जो सर्पास्त्र छोड़ा उस कष्ट से सैकड़ों प्रजाजन मर गए; मुसलिम ही नहीं अपितु केवल 'प्रजाजन' यानी हिंदू भी। स्त्री-बच्चे हिंदुओं के घर-घर चिल्लाते रहे, परंतु जिस दुष्ट ने अपराध किया, संतों से छल किया, उस सुलतान को उन सर्पों में से कोई स्पर्श भी नहीं कर पाया। क्षण के लिए कम-से-कम भूमि पर लोटे इतना भी उसे काटा नहीं और न उसके स्त्री-बच्चों को डसा। संत तो ब्रह्मानंद की बेहोशी में थे परंतु जिसने यह सर्पास्त्र बदला लेने के लिए छोड़ा था वह भगवान् भी होश में नहीं था—ऐसा कह सकते हैं। उस पांडुरंग में यदि कोई 'राम' होता तो उसने सर्वप्रथम उस रावण को पकड़ा होता, पहला सर्प जो छोड़ना था वह उस सुलतान की नटई में दाँत घुसेड़ता जिसने हिंदू-वैष्णवों का छल किया था। हाँ, काशीपंत इतना बड़ा राजनीतिक प्रधान, उसने क्यों सर्पास्त्र पीछे लेने की बात की। उसे तो इसके विपरीत कहना था कि मुसलमानी तख्त को तोड़कर वैष्णवों का झंडा फहरानेवाली हिंदू पदपादशाही की स्थापना करो। परंतु ऐसे संत, स्वप्न के सर्पास्त्र और ऐसे प्रधान हिंदुओं में तब तक थे इसलिए वह बादशाही तख्त भी कायम रहा इसमें क्या आश्चर्य! और जब रामदास जैसे संत, बाघनख, भवानी भाऊ साहेबी मार जैसे शस्त्र और प्रथम बाजीराव जैसे प्रधान मंत्री हुए तब उन तख्तों का नाश हो गया इसमें क्या आश्चर्य।

वास्तविक रूप से देखा जाए तो नामदेवादि पूज्य संतों ने उस स्थिति में उनकी शक्तिनुसार और बुद्धिनुसार जितना कर सकते थे उतना जनहित किया, वे उनके उपकार ही थे। यह उनकी नाम महिमा थी। इस महिमा से इहलोक के कठिन जीवन से त्रस्त मन को अभी भी आस-पास की स्थिति का विस्मरण होने में और ब्रह्मानंद प्राप्त करने में सहायता मिलती है। इस नाम का व्यक्तिगत उपयोग होता है।

परंतु उससे ऐहिक सृष्टि की घटनाओं में उस नाम की महिमा अत्यल्प भी उपयोगी नहीं है। ब्रह्मानंद मिला, संत हो गया, समाधि सिद्ध हो गई कि वह मनुष्य कर्तुमकर्तुम समर्थ, सर्वज्ञ, सब प्रकरणों में परम प्रमाण ऐसा कोई मानव बनता है। उसके कहने पर ईश्वर भी उलटे-सीधे कार्य करने लगते हैं, इस भोली-भाली समझ के कारण ही इन संतों की फालतू विडंबना होती है। वह गलत समझ भी चित्रपटों के कारण अधिक प्रचलित होने से संभव न रहे; अतः उसका विवेचक बुद्धि से तीव्र विरोध करना प्रथम कर्तव्य बनता है।

□

लोकमान्य की स्मृतियाँ कैसे पढ़नी चाहिए?

लोकमान्य तिलक की स्मृतियाँ और जनश्रुतियाँ पुणे के श्री बापटजी ने संगृहीत कर केवल महाराष्ट्र को ही नहीं अपितु पूरे हिंदुस्थान को उपकृत किया है। लोकमान्य जैसे तपस्वी, राष्ट्र के नेतृत्व के महत्कार्य करनेवाले पुरुष के जीवन में सैकड़ों प्रसंग, सैकड़ों व्यक्ति, सैकड़ों स्थितियाँ और सैकड़ों विषय उत्पन्न और नष्ट होते थे। इन प्रसंगों, इन विषयों में इस असामान्य धुरंधर नेता ने कैसा-कैसा संघर्ष किया था, वे कैसा समन्वय करते थे, पेंच लड़ाते थे और पैंतरे बदलते हुए अपना राष्ट्रीय कार्य निरंतर चलाते रहते थे वह इतिहास इस महत्त्वपूर्ण पुस्तक के कारण अत्यंत सुबोध, मनोरंजक, परंतु परिणामकारक रीति से लोगों को ज्ञात हो सकता है।

परंतु इस इतिहास का मर्म समझने के लिए ये विभिन्न स्मृतियाँ तथा जनश्रुतियाँ कैसे पढ़नी चाहिए यह मात्र समझ में आना चाहिए। किसी भी महान् पुरुष की स्मृतियाँ लिखनेवाले उनके समान महान् होते हैं ऐसा नहीं। अर्थात् इन स्मृतियों को लेखक ने यथाशक्ति विस्तार से लिखने का प्रयास भी किया तो भी नैसर्गिक स्मृति विभ्रम या बुद्धि समता का काफी कुछ प्रभाव लेखन पर पड़े बिना नहीं रहता और उसे धुँधला किए बिना नहीं रह सकता। यह एक स्वाभाविक बात है।

दूसरी बात यह कि चाहे विस्तार से लिखकर रखी स्मृतियाँ ही क्यों न हों, परंतु वे उस फुटकर प्रसंग की होने के कारण तथा जिस परिस्थिति में उस व्यक्ति विशेष से बात कही गई वह परिस्थिति और वह व्यक्ति (जिसे बात कही गई) हमें पूरी तरह से ज्ञात है ऐसा समझा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए शिवाजी महाराज की एक कल्पित कथा ली जा सकती है। शिवाजी महाराज एक दिन मंत्रियों के साथ बैठे थे, तब एक मंत्री विशेष ने पूछा कि उत्तर के प्रदेशों पर आक्रमण करें या नहीं? उस मंत्री के संबंध में महाराज के मन में कुछ प्रतिकूल विचार थे, क्योंकि आशंका उत्पन्न करनेवाली घटनाएँ हुई थीं। परंतु महाराज ने गंभीर स्वभाव के

अनुरूप यह बात किसी से नहीं कही। इसलिए ऐसे संशयास्पद मनुष्य को पूछताछ करने के पूर्व उसे कुछ दिन पास में रख लेना चाहिए, परंतु उसपर विश्वास नहीं रखना है ऐसा सोचकर महाराज ने कहा, ''नहीं, नहीं, उत्तर से अपना क्या संबंध! अपनी उत्तर पर आक्रमण करने की बिलकुल इच्छा नहीं।'' यह वाक्य उस सभा में बैठे हुए वृत्तलेखक ने ध्यान में रखा और किस परिस्थिति में यह वाक्य कहा गया था इसकी उसे कल्पना न होने के कारण महाराज की मृत्यु के बाद उसने उनकी वह स्मृति प्रसिद्ध की, जिससे सामान्य पाठकों की मान्यता यह हुई कि महाराज उत्तर पर सवारी करने के विरुद्ध थे। इतने पर यह बात समाप्त नहीं हुई, श्रीमंत बाजीराव जब 'जड़ पर ही धावा बोलना चाहिए' ऐसे निश्चय से गर्जना करते हुए पराक्रम की कुल्हाड़ी लेकर चले तो उस आक्रमण के कारण अपने प्राण संकट में हैं, ऐसा समझनेवाले भयग्रस्त लोगों ने शिवाजी महाराज की उपर्युक्त स्मृति का आधार लेकर कहा था कि शिवाजी महाराज भी उत्तर पर चढ़ाई करने के विरुद्ध थे। अपनी शक्ति इतनी प्रबल नहीं। और अपनी भीरुता ही विद्वत्ता है ऐसी प्रामाणिक समझ स्वयं की करने लगे और बाजीराव को पागल करार देने लगे।

इस कल्पित कहानी में दरशाया गया परिवर्तन, स्मृतियाँ पढ़ते समय जो संदर्भ ध्यान में रखना चाहिए वह न समझने से हुआ। इस उदाहरण से किसी भी बड़े व्यक्ति की स्मृतियाँ पढ़ते समय प्रमुख बात जो पाठकों को ध्यान में रखनी चाहिए वह यह है कि किसी एक स्मृति में व्यक्त उनके विचार उनके सिद्धांत थे ऐसा नहीं कहना चाहिए। उस विषय के संबंध में समय-समय पर विभिन्न प्रसंगों में और परिस्थिति में जो विचार व्यक्त हुए हैं उन सबको संगृहीत करके उनका समन्वय करना चाहिए और उनमें समानता दिखाई दी तो उस पुरुष के विचार ऐसे थे ऐसा सिद्धांत करना चाहिए। कभी-कभी ऐसा भी होगा कि एक ही विषय पर उस पुरुष के इतने विचित्र विचार विभिन्न स्मृतियों में प्रकाशित होंगे कि उनका परिस्थिति आदि मर्यादाओं का विचार करने पर भी समन्वय नहीं किया जा सकेगा। ऐसे समय में उस विषय पर उस पुरुष के निश्चित विचार यही थे ऐसा सिद्धांत नहीं कहना चाहिए या उनका विचार परिवर्तित होता गया ऐसा सिद्धांत कहना चाहिए। तथापि उस दूसरे सिद्धांत की अपेक्षा पहला सिद्धांत अधिक तर्कशुद्ध है।

परंतु कई बार ये सिद्धांत ध्यान में न रखने के कारण लोकमान्य जैसे विलक्षण पुरुष के भिन्न स्थिति में 'देश काले च पात्रे च' इस न्याय से एक ही विषय पर दिए गए भिन्न-भिन्न विचारों से हम अनुकूल विचार या वाक्य लेकर प्रथम स्वयं का, बाद में दूसरों का दिशाभ्रम करने का दोष जाने-अनजाने कर बैठते हैं। उदाहरण के लिए अस्पृश्यता निवारण के संबंध में लोकमान्य के विचार का प्रश्न

लें। दूसरे खंड में शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटी ने लोकमान्य की स्मृतियों की आप अस्पृश्यता निवारण सभा का अध्यक्ष पद तब तक न स्वीकारें जब तक जनमानस उस तरफ नहीं झुकता, के संदर्भ में यह कहा कि लोकमान्य ने उनसे कहा। इस प्रकार शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटी के द्वारा प्रकाशित इस विचार को उस समय में लोकमान्य के विचार मानकर कुछ लोग कहते थे, 'लोकमान्य को देखिए, जब तक प्रत्यक्ष रूप से अस्पृश्यता का त्याग करने के लिए समाज तैयार नहीं होता तब तक ऐसे आंदोलन में भाग लेने के वे बिलकुल विरुद्ध थे। और इसलिए हम भी समाज अनुकूल होने तक इस आंदोलन में हाथ नहीं बटाएँगे।' प्रत्येक सामान्य व्यक्ति यदि तिलकजी द्वारा शंकराचार्य डॉ. कुर्तकोटी को दिया हुआ उपदेश अपने लिए समझने लगा और समाज के तैयार और अनुकूल होने तक अस्पृश्यता निवारणार्थ प्रत्यक्ष कुछ करने से मुँह मोड़ेगा तो वह समाज तैयार होगा कैसे? क्या किसी दिन प्रभात में सूर्य उगते ही समस्त हिंदू समाज, पूर्व में पृथ्वी गाय का या प्रस्तुत योग्यता की दृष्टि से बैल का रूप धारण करके खड़ा होगा और करुणापूर्वक रँभाकर कहेगा, "हे श्रीमान गोमा गणेश, मैं हिंदू समाज रात में नींद में करवट बदलते-बदलते मेरा मन बदल गया, अतः आज अस्पृश्यता निवारण के लिए तैयार हो गया हूँ।" ऐसा क्या इस व्यक्ति को लगता है? और वैसा वह सोचता भी हो तो भी लोकमान्य को ऐसा नहीं लगता था। कारण एक और स्मृति में श्रीमान शिंदे ने कहा है कि जब मैंने तिलकजी से पूछा कि मैं अस्पृश्यता निर्मूलन का कार्य छोड़ दूँ क्या? तब तिलकजी ने स्पष्ट रूप से कहा था कि वैसा मत कीजिए। (खंड दूसरा, पृ. २०३) शिंदे अस्पृश्यता निर्मूलन के लिए प्रत्यक्ष हरिजन-मांग आदि जातियों में मिलकर उन्हें शिक्षित कर काम-धंधे देकर केवल सार्वजनिक ही नहीं अपितु घरबार से भी अस्पृश्यता का नाम हटा देना चाहते थे। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को पशु से भी दूर का समझे इस नीच प्रवृत्ति का हमें अपने बीच से नाश करना है इस प्रकार की कट्टरता का उनका स्वरूप था, फिर भी उन्हें तिलकजी ने आग्रह से वे प्रयास जारी रखने के लिए कहा। क्योंकि वे जानते थे कि समाज निर्माण प्रयासों से सिद्ध होता है। शंकराचार्य को वह तत्पर समाज से मिलना होता है और वह भी कभी-कभी। परंतु अन्य लोगों को समाज सिद्ध करने के लिए ही अस्पृश्यता निर्मूलन आदि आंदोलन हाथों में लेने पड़ते हैं। इस प्रकार के क्रांतिकारी आंदोलन हाथ में लेने के पूर्व कभी-कभी अपना सिर भी हाथ में लेना होता है। इसलिए किसी को डर लगता हो और ऐसा करने की तैयारी न हो तो न करे। परंतु अपने भय को लोकमान्य के विचारों की आड़ देकर वही होशियारी करके स्वयं को और दूसरे को फँसाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। जिन्हें लोकमान्य के अस्पृश्यता संबंधी सही विचार

जानने हैं उन्हें उपर्युक्त स्मृतियों के साथ उस विषय पर लिखी सभी स्मृतियाँ पढ़नी चाहिए, ताकि उनके सही विचार क्या थे वह ज्ञात हो। इस संबंध में लोकमान्यजी कहते हैं, ''पेशवा के समय भी अस्पृश्यों के हाथ का पानी ब्राह्मणों ने पीया था। यदि अस्पृश्यता भगवान् को मान्य हो तो भगवान् को भी मैं भगवान् मानने को तैयार नहीं हूँ।'' इस वाक्य पर सात हजार से अधिक व्यक्तियों के समाज ने इतने जोर से तालियाँ बजाईं कि जिससे मंडप के नीचे गिरने का भय हो गया। अब इस बीमारी का नाश होना ही चाहिए (खंड-२ र, पृ. २०४) यह मत तिलकजी ने सार्वजनिक भाषण में व्यक्त किया था, अकेले-दुकेले व्यक्ति के पास नहीं।

समाज में कोई बात क्रांतिकारी है यह समझते ही उसको नष्ट करने के लिए लोकमान्य समाज के आगे एक नहीं, दस कदम चलकर वहीं मजबूती से कैसे बैठ जाते थे यह जिसको देखना हो उसे उनके संघर्ष के समय का स्फूर्तिदायी वृत्तांत स्मरण करना चाहिए।'मरी भैंस को मन भर दूध' इस कहावत के अनुसार लोकमान्य की मृत्यु के उपरांत अब जो लोग ऐसा कहते हैं कि 'लोकमान्य को देखो, समाज सुधार करना हो तो लोकमान्य ही करें।' ऐसा कहनेवाले लोगों की प्रवृत्ति के कारण ही चाय प्रकरण में उनके जीते-जी दस-बारह वर्षों तक उनका कठोर बहिष्कार किया गया था। उन्हें पुरोहित तक उपलब्ध नहीं होने दिया गया। विवाह की अक्षत (निमंत्रण) भी उन्हें मंदिर में जाकर देनी पड़ी थी। वाई के धर्मपत्र में तिलक के समाजसुधार-कार्यों को वाई से प्रकाशित होनेवाले धर्मपत्र में अनेक धर्ममार्तंड तिलक के समाजसुधार-कार्यों को प्रच्छन्न पाखंड कहते हुए उनपर हमले कर रहे थे। फिर भी उन्हें जो बात न्याय्य दिखी, समाजहितकारक दिखी, उन्होंने समाज के आगे सावधानी से कदम बढ़ाते लोगों को कहीं ऐसे लोकमान्य ने 'गीता रहस्य' में पूरी प्रामाणिकता से पूर्व आचार्यों का मतों का खंडन किया। उस समय उनपर जो शाब्दिक मार पड़ी उससे भी यही सीख मिलती है कि समाजहितार्थ समय पर दस कदम आगे जाने से भी वे नहीं डरते थे। पीछे हटते तो वे अपने सामाजिक कर्तव्य को कीर्ति लालसा के कारण बलि देते। ऐसा उन्होंने नहीं किया। इसीलिए वे लोकमान्य कहलाए।

एक ही प्रसंग की स्मृति भिन्न-भिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी ग्रहण शक्ति एवं धारणा शक्ति के अनुसार कैसी भिन्नता से देते हैं यह यदि देखना हो तो नासिक के क्रांतिकारियों से उनसे हुए भेंट का वर्णन उस समय उपस्थित भट और दातार इन दो प्रख्यात महाराष्ट्रियनों द्वारा दी हुई स्मृतियों में देख सकते हैं। श्री भट के प्रथम खंड में दिए हुए इस प्रसंग की स्मृति पढ़कर, तिलकजी की उस भेंट के संबंध में जो कल्पना मन में उभरती है उसकी अपेक्षा श्री दातार शास्त्री द्वारा दी हुई दूसरे खंड

की—उसी भेंट का वर्णन और मतितार्थ पढ़ा तो एकदम अलग प्रकार की कल्पना मन में आती है। यह उदाहरण इसलिए दिया गया है कि ऐसी भिन्न स्मृतियाँ एकत्र करके पढ़े बिना महान् लोगों के व्यवहार के संबंध में या विचारों के संबंध में कुछ यथार्थ कल्पनाएँ नहीं कर सकते हैं। एक के या एरवाद स्मृति से उसके एकपक्षीय या एकांगी होने की आशंका रहती है।

इस नियम का पालन न करते हुए किसी स्मृति प्रसंग का कोई वाक्य उठाकर वही मत प्रामाणिक है ऐसा समझने से जनता को कैसा राष्ट्रविघातक मोड़ मिलता है इसका परिणामकारक उदाहरण चाहिए तो वह भी दुर्भाग्य से अपने अवलोकन में अनेक बार आया है। लोकमान्य बार-बार किसी कार्य के बारे में कहते थे, ''मनुष्य कहाँ है ? चालीस होंगे तो मैं आऊँगा, सौ होंगे तो मैं आऊँगा।'' ऐसी कोई लाक्षणिक संख्या बताकर साहसी व्यक्ति को, आप वैसा साहस क्यों नहीं करते, ऐसा वे कहते थे। अब लोकमान्य के समान लोकनायक ने कुछ व्यक्ति दिखाए, मैं उनका नेतृत्व करूँगा ऐसा कहने में बहुत अर्थ है। परंतु उसी वाक्य का उच्चारण करके यदि प्रत्येक मनुष्य दूसरों को उत्तर देने लगा तो कितनी अव्यवस्था उत्पन्न होगी वह देखिए। लोकमान्य के वे वाक्य राजनीति के साहसी आंदोलन के संबंध में होते थे। दुर्भाग्य से हमें राजनीति के संबंध में बोलना मना है। अस्पृश्यता को हम नष्ट करना चाहते हैं, इस हमारे कृत्य का बदला लेने के लिए अस्पृश्यता ने राजनीति में अस्पृश्यता का पालन करने के लिए हमें बाध्य कर दिया है। अतः वह प्रश्न छोड़कर संगठन के राष्ट्रीय और धार्मिक कार्य में भी, 'मनुष्य बल लाओ, मैं आता हूँ' यह वाक्य आलसी और भयग्रस्त लोगों का किस प्रकार आदर्श वाक्य बन रहा है और इसके कारण कोई भी नया साहस, नई उड़ान, राजनीतिक कार्य में भी कैसा असंभव हो रहा है इतना ही हम देखेंगे।

मान लीजिए किसी व्यक्ति ने चंदा इकट्ठा करने का विचार किया। उसका कार्य सबको अच्छा लगता हो फिर भी यदि चंदा देनेवाला प्रत्येक व्यक्ति उसे कहे कि आप सौ रुपए जमा कर लाएँ और फिर एक सौ एकवाँ रुपया मेरा होगा। अब वह व्यक्ति जिसके पास जाए वह हरेक उससे कहे कि मुझे चंदे के जमा सौ रुपए दिखा दो फिर मैं एक सौ एकवाँ रुपया दूँगा। इतना ही नहीं अपितु जो शुल्क जमा करना चाहता है वह भी यदि लोकमान्य का भक्त होने के कारण, इस सामान्य वाक्य को आदर्श मानकर चलनेवाला हो तो अवश्य कहेगा कि सौ रुपए इकट्ठा होने पर मैं अपना भी एक रुपया दे दूँगा। पहले देना शायद मूर्खता होगी। ऐसी स्थिति में सौ रुपए कभी इकट्ठा होंगे ही नहीं। अर्थात् चंदे की राशि शून्य से अधिक कभी नहीं होगी। यही स्थिति मनुष्यों की संख्या के संबंध में है। हरेक कहेगा कि प्रथम

चालीस लोग इकट्ठा कर लो फिर मैं इकतालीसवाँ हो जाऊँगा। प्रत्येक व्यक्ति इस अकर्मण्यता हेतु तिलक बनना चाहे तो प्रथम चालीस व्यक्ति कैसे इकट्ठा होंगे? चालीस के बाद स्वयं आने का यह आदर्श वाक्य तुच्छ मानने के लिए कोई तैयार नहीं हो और तेरी पुकार या आह्वान भी कोई न सुनता हो तो, तू अकेला चल और तेरे इस हिंदू जाति के कल्याणार्थ, मंगल के लिए अपना तन, मन, धन, आवश्यक हो तो अपना सिर भी उसके लिए तू अकेला अर्पण कर। तेरा कर्तव्य तू कर, कोई करे न करे, तू अकेला चल। ऐसा आदर्श वाक्य लिखा हुआ ध्वज लेकर कोई जब तक आगे, सबसे प्रथम पंक्ति में नहीं बढ़ेगा तो कोई भी आगे नहीं होगा और फिर कार्य कभी पूरा होगा ही नहीं।

जब-जब महान् कार्य हुए हैं और मनुष्यजाति में संपूर्ण परिवर्तन करनेवाले भूकंपीय महान् आंदोलन पृथ्वी को कंपित करते गए तब-तब चालीस व्यक्ति इकट्ठा होने की प्रतीक्षा न करते हुए समाज के आगे केवल एक कदम नहीं अपितु सौ-सौ कदम चलनेवाले किसी समर्थक के, प्रचारक के या हुकूमशाह के साहस ने ही वह कार्य पूरा होना संभव बनाया। वानर सेना का अता-पता भी नहीं था, अकेला हनुमान केवल एक कदम ही नहीं अपितु पूरा समुद्र लाँघ गया। चालीस व्यक्तियों के लिए न रुकते हुए अपना अकेले का सिर हाथ पर लेकर गया और सीता की खोज की। तब कहीं उनके पीछे-पीछे वानर सेना का दल कदम-कदम बढ़ाते हुए रामचंद्रजी के साथ लंका पहुँचा। अकेला कोलंबस समाज के आगे पूरा एक 'खंड' पार करके किसी की राह न देखते हुए गया और अमेरिका के किनारे पर उसने झंडा फहराया। उसके बाद स्पेन और पुर्तगाल की नौसेना का संचालक उस सेना की मदद से अमेरिका को जीत सका। यीशू ने ईसाई धर्म का प्रचार किया तब वह अकेला ही था। मोहम्मद भी उस खाई में अकेला था जहाँ उसने मुसलमान धर्म की नींव रखी। वे सब अकेले-अकेले आगे बढ़े तब चालीस इकट्ठा होते गए और आज करोड़ों लोग उनके झंडे के नीचे झूल रहे हैं। प्रथम चालीस लोग ईसाई होने के बाद फिर 'मैं ईसाई धर्म क्या है वह बताऊँगा' ऐसा यदि यीशू कहता तो ईसाई धर्म क्या है यह उस धर्म में जाने के पहले न समझने के कारण आज दुनिया में क्रिश्चनियटी का नाम भी सुनाई नहीं देता।

अतएव 'आप चालीस व्यक्ति लाएँ, फिर मैं आऊँगा' या 'समाज के आगे एक कदम मैं रखता हूँ' यह कथन सेनापति या लोकनायक को यद्यपि शोभा देता है तो भी उसका आधार लेकर प्रत्येक अनुयायी ने भी उसी को अपना आदर्श वाक्य बनाकर; जब तक अन्य व्यक्ति चालीस मनुष्य इकट्ठा नहीं करता तब तक बैठे रहना और उसी में अपनी चतुराई समझना ऐसा उस वाक्य का अर्थ बिलकुल नहीं

है। तिलक कहते थे, 'चालीस लाओ' यानी आप प्रथम आगे बढ़ों। जो प्रथम आगे जाएगा वह मूर्ख नहीं, वही तिलक का सच्चा शिष्य! क्योंकि उसके आगे होने से ही अन्य चालीस के आने की संभावना है और फिर लोकनायक भी आकर मिलेंगे।

लोकमान्य का इस प्रकार का कोई एक वाक्य उस विषय के संबंध में उनका निरपेक्ष और संपूर्ण विचार मान लेने के कारण, कायरता को ही विद्वत्ता समझने की कुछ लोगों को बुरी आदत लग रही है यह कई बार अनुभव में आने के कारण आलसी लोग उन वाक्यों का सही अर्थ लगाते हैं वैसा लगाना कैसी मूर्खता है यह स्पष्ट कर दिखाया है। परंतु हमारे प्रारंभ में कथित नियमानुसार इस विषय के संबंध में लोकमान्य के सभी संस्मरण एकत्र कर पढ़ने से उनके प्रथम वाक्य का अर्थ कैसा लगाना चाहिए यह भाष्य भी सौभाग्य से उन्होंने ही लिखकर रखा है। उदाहरण के लिए वामन मल्हार जोशी का संस्मरण देखिए—

जोशी : परंतु यह मार्ग जोखिम भरा है। उसे लोगों की सही सहानुभूति चाहिए।

तिलक : *(कुछ झल्लाकर)* किंतु लोग यानी कौन? आप, हम, इष्ट मित्र आदि मिलकर ही तो लोग होते हैं।

जोशी : परंतु वे सब सच्चे चाहिए यानी सतत कार्य करनेवाले, न डगमगानेवाले, ऐसे सौ लोग दिखाएँ जो इस मार्ग से जानेवाले हैं तो फिर एक सौ एकवाँ मैं हूँ।

तिलक : ठीक, आज सौ लोग तैयार नहीं हैं यह बात मान लो। परंतु नहीं हैं इसलिए इकट्ठा नहीं करेंगे क्या? चलिए आज से ही हम इस कार्य के लिए जुट जाएँ। मैं पहला, आप दूसरे! सौ मिलते ही कार्यारंभ करेंगे। उस समय भी मैं आगे रहूँगा। जो बाधा होगी उसे मैं सहूँगा, बाद में अन्य। चलिए, आप हो रहे हैं न दूसरे? सौ मिलने पर काम चालू होगा, तब तक केवल नाम लिखवाना होगा। क्या एक सौ एकवाँ होने में भी इतना विलंब!

महाराष्ट्र के युवको, इस प्रकार मैंने तिलकजी का सही दर्शन किया है। आओ, मैं पहला। इस वाक्य में प्रतिपादित उस आदर्श का पालन करें! फिर सौ क्या, हजार लोग आएँगे। और न आए तो भी तेरा कर्तव्य तू पूरा करेगा। चालीस के पीछे लोकनायक आएँगे। परंतु लोकनायक का आना संभव करने के लिए उन चालीस को इकट्ठा करने में तू पहला बन जा। तब महत्कार्यपूर्ण होंगे। तत्पश्चात् हिंदू जाति एकाएक जाग्रत् होकर 'ध्येयं वा साधयेत्। देहं वा पातयेत्' इस प्रकार की गर्जना करके संगठनों के जातीय क्षेत्रों में खड़ी रहेगी।

आश्चर्य की बात तो यह है कि 'चालीस के बाद मैं आऊँगा' या 'समाज के आगे एक ही कदम रखो' ये वाक्य महाराष्ट्र में सर्वतोमुखी हो गए हैं। परंतु 'मैं पहला' यह वाक्य इतना लोकप्रिय हुआ नहीं दिखता। इस प्रकार संकट में डालनेवाले, चमड़ी को चुभनेवाले संस्मरण न याद आना स्वाभाविक है। जिन्होंने कर्मक्षेत्र से अलग होते समय समाज के आगे से एक छोड़कर दस कदम पीछे जाने में कम नहीं किया वे कर्मक्षेत्र में कदम आगे रखते समय समाज के आगे केवल एक कदम आगे हूँ ऐसी तिलक के वाक्य की गवाही देकर चिंता करते रहे। और भागते समय चालीस की तो क्या, परंतु एक की भी प्रतीक्षा न करते हुए 'मैं पहला' मानकर भागे और घर में जाकर छिप गए। उन्होंने ही पुनः तत्परता से मुकाबला करनेवाले को मूर्ख और साहसी कहकर, दोष देकर लोकमान्य की भक्ति के लिए हम समाज के तैयार हुए बिना चालीसवाँ तो क्या सौवाँ सैनिक होने के लिए भी नकार दें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। तिलक की सुविधाजनक सीख का पालन करना ही तिलक भक्ति की उनकी व्याख्या है।

परंतु ऐसे लोगों को छोड़ दिया तो भी जिन्हें तिलक या अन्य किसी महात्मा के सच्चे वचन के संबंध में प्रामाणिकता से जानना हो तो उन्हें चाहिए कि उनके हर विषय के संबंध में समग्र संस्मरण और वचन एकत्र करें और पढ़ें। यही उनके विचारों का सही अर्थ समझने का एकमात्र उपाय है।

□

दो शब्दों में दो संस्कृतियाँ

यूरोप या अमेरिका में कदम रखते ही कोई अर्थपूर्ण शब्द हमें आज सुनाई देता हो तो वह है 'अप-टु-डेट', 'अधुनातन'। अगर हम किसी मामूली बूट पॉलिश की डिब्बी खरीदने जाएँ तो दुकानदार तुरंत कहेगा कि यही डिब्बी खरीदो। यही क्यों? ऐसा पूछते ही वह कहेगा कि यह 'अप-टु-डेट' है इसलिए। दरजी के यहाँ जाएँगे तो शर्ट का, कोट का, जाकिट का, चोली का, लहँगे का उत्तम-से-उत्तम कपड़ा बताएगा और कहेगा यह एकदम 'अप-टु-डेट' (अधुनातन) है, इसलिए खरीद लीजिए। उत्तम यंत्र यानी अप-टु-डेट यंत्र, अप-टु-डेट पुस्तक ही उत्तम पुस्तक, अप-टु-डेट पोशाक, अप-टु-डेट जानकारी, अद्यावत् सुविधाएँ यानी उन पदार्थों का सर्वोत्कृष्ट प्रकार। जो मानव अप-टु-डेट नहीं वह बेढंगा है, इस प्रकार की अधुनातनता वहाँ पर बूटों के बंद से लेकर बिजली के बटन तक दिखाई देगी। उनकी कल की बंदूक से आज की बेहतर होगी, कल के विमान से आज का विमान अधिक अच्छा होगा। परसों लंदन के एक छोर के कमरे में बैठकर लंदन के दूसरी ओर के कमरे में बैठे हुए व्यक्ति आपस में दूरध्वनि से बात करते थे और कल लंदन के कमरे में बैठा हुआ व्यक्ति स्कॉटलैंड के घर में बैठे हुए व्यक्ति से बात करने लगा। और आज लंदन के उसी कमरे में बैठकर अमेरिका में बैठे हुए अपने मित्र से बात करके सुबह का बाजार-भाव पूछता है और तुरंत मुंबई से बात करके अपने दलाल को उसकी जानकारी देता है। इस प्रकार उनका 'आज' उनके कल के आगे लगातार दौड़ता है, 'कल' पीछे रहकर बेकार हो जाता है। उनका प्रत्येक 'आज' उनके कल से अधिक समझदार, पुष्टिकर, सरस हो रहा है। इसलिए उनका कल पर का विश्वास हटकर 'आज' पर अटल हो रहा है। इतना दृढ़ विश्वास कि आज के यूरोप-अमेरिका के जीवन का, संस्कृति का, प्रवृत्ति का मुख्य लक्षण यदि किसी एक शब्द में स्पष्ट किया जाता हो तो वह शब्द है—अधुनातन या अप-टु-डेट। आज के यूरोप-अमेरिका की संस्कृति का विशेष नाम है अप-टु-डेट, अधुनातन।

परंतु हमारे हिंदू राष्ट्र में आज भी हमारी मनोभूमि में गहरी जड़ें जमाकर जो संस्कृति बैठी है वह और जो हमारे समस्त जीवन में व्याप्त है उस संस्कृति का मुख्य लक्षण किसी एक शब्द में व्यक्त करना हो तो वह शब्द है 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त'। अप-टु-डेट के एकदम विपरीत। कोई भी वस्तु, पद्धति, चाल, ग्रंथ, ज्ञान सर्वोत्कृष्ट क्यों है ऐसा किसी यूरोपियन से पूछेंगे तो तुरंत एक शब्द में कहेगा कि वह अप-टु-डेट है इसीलिए। परंतु कोई भी ज्ञान, ग्रंथ, चाल, पद्धति, सुधार ग्राह्य या अग्राह्य, उचित या अनुचित यह तय करने के लिए हम यह नहीं देखेंगे कि वह उपयुक्त है, सुविधाजनक है, प्रगतिकारक है या नहीं, पिछले से अब अधिक पुष्टिकर, सरस है या नहीं। इन बातों का विचार न करते हुए हम एकदम जो सोचेंगे, पूछेंगे वह यह है कि वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है या नहीं। हमारी संस्कृति का अतिशय लज्जास्पद भूषण जो हम पालते हैं वह यह है कि वेदों में जो बताया है उसके आगे हम गत दस-पाँच हजार वर्षों में भी सामाजिक, राजनीतिक या धार्मिक विधिनिषेध में या कुशलता में किंचित् मात्र भी आगे नहीं बढ़े हैं। यूरोप, 'मैं कल के आगे आज गया या नहीं, कुछ अधिक सीखकर कुशल हुआ हूँ या नहीं, बाप से सवाई हुआ या नहीं? हम सारे कल की तो बात ही नहीं करते और ऐहिक काल के भी आगे नहीं गए। गत पाँच हजार वर्षों में अधिक चतुर तो हुए ही नहीं ऐसा कहा जाता है। बाप को जो ज्ञात नहीं था, वह मुझे ज्ञात हुआ, ऐसा कुछ नया सीखेंगे तो बाप का बापपन कैसे कायम रहेगा? यह हमें डर है। हमारे पूर्वज त्रिकालज्ञानी थे यह हमारी प्रतिज्ञा और उन्हें जो मालूम नहीं था वह हम सीखे ऐसा मानना या कुछ सीखना यानी उनके त्रिकालाबाधित ज्ञान का अपमान ही होगा। अतः ऐसा पाप अपनों से तो नहीं हो रहा? उनको जो अज्ञात था वह हमें ज्ञात तो नहीं हो रहा, यह हमारी चिंता का विषय बना है। वेदकाल में जिस बैलगाड़ी में बैठकर हमारी संस्कृति चल रही थी उसी बैलगाड़ी में बैठकर इस रेलगाड़ी के युग में भी वह र र र आवाज करती हुई चल रही है। यह हमारी श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त संस्कृति आज की ही नहीं अपितु वह उस श्रुतिस्मृतिपुराण के पूर्व की भी है, उसके बाद की है, आज तक लगातार चलती आ रही है। जन्म से मरण तक, गर्भाधान से अंत्येष्टि तक जो-जो आचार, निर्बंध, अभिप्राय, 'मनुस्मृति' जैसी आद्य स्मृति में बताए गए हैं, वे आचार या निर्बंध क्यों हितकर या आचरणीय हैं इसकी पड़ताल करके नहीं अपितु मुख्यतः और बहुधा 'एष धर्मः सनातनः' है इसलिए। यह एक प्रकार से राजमुद्रा ही है। वह बात श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है इतना एक महाकारण आगे किया जाता है। 'लहसुन क्यों नहीं खाना चाहिए?' उसका कारण किसी परिस्थिति में वैद्यकीय दृष्टि से हितकर है या नहीं, इसका परीक्षण न करते हुए केवल 'एष धर्मः सनातनः' ऐसा कहकर उसका

पालन किया जाता है। 'दिन में मलमूत्रोत्सर्ग उत्तराभिमुख करना चाहिए और रात को दक्षिणाभिमुख' ऐसा क्यों? उत्तर यही रहेगा—'एषः धर्मः सनातनः'। हमारे प्रथम श्रीमान मनु राजर्षि की सत्ता से अंतिम रावबाजी की राजसत्ता तक राज्य-व्यवहार में भी अनेक महत्त्वपूर्ण जातीय या राष्ट्रीय समस्याओं के जो निर्णय लादे गए, वे निर्णय बदलती स्थिति में उपयुक्त हैं या नहीं—इसकी बिलकुल जाँच न करते हुए केवल उपर्युक्त एकमेव राजमुद्रा लगाकर कहते थे कि 'नया करना नहीं। पुराना नष्ट करना नहीं।' शिवछत्रपति या शाहू छत्रपति, पहले बाजीराव और अंतिम बाजीराव, इनके अभिलेखों के सैकड़ों निर्णय-पत्रों में यह वाक्य, सभी विवाद एकदम बंद करनेवाले ब्रह्मवाक्य के समान कहाँ-कहाँ, किस प्रकार दिखाई देता है यह इतिहासकारों को ज्ञात है। पुराना बाधक बनने लगा, सड़ने लगा, इसलिए जो वाद, संघर्ष, संकट उत्पन्न हो गए उन्हें समाप्त करने के लिए आधार फिर वही वाक्य 'पुराना नष्ट करना नहीं और नया शुरू करना नहीं।' इसी सूत्र द्वारा युगानुयुग निपटारे करने के कारण पुराना अधिकाधिक बाधक बनता गया, सड़ता गया और यह चल रहा है आज तक। फिर भी आज स्पर्शबंदी, रोटीबंदी, समुद्रबंदी आदि जिन सामाजिक रूढ़ियों ने हिंदू समाज को नष्टप्राय कर दिया, उन रूढ़ियों को समाप्त करने की बात निकलते ही फिर अपने को सनातनी ही नहीं अपितु सुधारक कहनेवाले भी इस रूढ़ि को या उसके उन्मूलन को शास्त्राधार है क्या—इस एक समस्या से व्याकुल होकर ग्रंथ-पर-ग्रंथ लिख रहे हैं। शास्त्रार्थ की गुड़ की भट्ठियाँ विद्वत् परिषदों से चला रहे हैं। मनु राजर्षि का तो 'एष धर्मः सनातनः' शाहू राजर्षि का वह 'पुराना तोड़ना नहीं, नया करना नहीं' और आज के ब्रह्मर्षि का 'इसे शास्त्राधार है क्या? ये तीनों व्यक्ति जिस एक ही पुरुष के मानो औरस पुत्र हैं वह पुरुष यानी 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' ही है। सही माने में हमारी हिंदू संस्कृति की पूर्वापर विशेष प्रवृत्ति कौन सी, लक्षण कौन सा, महासूत्र कौन से यह बात एक शब्द में अपवाद छोड़कर व्यक्त करनी हो तो वह शब्द है, 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त'। आज की यूरोपीय संस्कृति का जो प्रमुख लक्षण, अधुनातन है उसके एकदम विपरीत। वे पूजक हैं 'आज' के और हम पूजक हैं 'कल' के। वे नए के पूजक तो हम पुराने के। वे 'ताजा' के, भोक्ता हम 'बासी' के भोक्ता। कुल मिलाकर देखें तो उनकी संस्कृति 'अधुनातन' और हमारी 'पुरातन'।

इस 'अधुनातन' और 'पुरातन' संस्कृति के आज के स्पष्ट उदाहरणस्वरूप यद्यपि हमने यूरोपीय तथा भारतीय जनपदों का ही उल्लेख किया है तो भी वास्तविक रूप से यह अद्यावतता या पुरातनता किसी एक जनपद का या जाति का अपरिहार्य गुणधर्म न होकर वह प्रमुख रूप से एक तत्त्व का गुण है। अपरिवर्तनीय शब्दनिष्ठ

धर्म और प्रत्यक्षनिष्ठ, प्रयोगक्षम और प्रयोगसिद्ध विज्ञान की भिन्न प्रवृत्ति के ये भिन्न नाम हैं। जो-जो धर्मग्रंथ अपौरुषेय समझा गया उसमें समाविष्ट संस्कृति भी सहज ही अपरिवर्तनीय समझी जाती है। जो लोग इन धर्मग्रंथों की सत्ता अपने पर चलने देते हैं वे 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' के या पुरातन मत के पक्के दास हो बैठते हैं। इन धर्मग्रंथों की लीक के बाहर वे कदम भी नहीं रख सकते। इन धर्मग्रंथों की जब प्रथम रचना की जाती है तो वे प्रथम किसी एक सुधार का समर्थन करने हेतु ही लिखे गए होते हैं और अपने व्यक्तित्व को ईश्वरीय शक्ति से जोड़कर अपनी रचना को अपरिवर्तनीय स्वरूप का मानने लगते हैं। अतएव वे सुधार के शीघ्र ही कटु विरोधी बन जाते हैं। इन ग्रंथों के दो पृष्ठों के अंदर यद्यपि वे समस्त विश्व और समस्त काल को बंद करके रखना चाहते हैं और मूर्खतापूर्ण हठ करते हैं तो भी सदैव चंचल, सदा नई, अदम्य और अमोघ निसर्गशक्ति और कालगति इन धर्मग्रंथों के दो पृष्ठों में निरंतर बंद थोड़ा ही रह सकती है? ईश-प्रेषितों का या प्रत्यक्ष ईश्वर का मनगढ़ंत हस्ताक्षर कर यद्यपि ये धर्मग्रंथ प्रकाशित किए जाते हैं तो भी भूकंप, ज्वालामुखी, जलप्रलय, वज्राघात आदि को इन पोथियों के ताड़पत्रों में लपेटकर रखने का उनका प्रयास व्यर्थ जाता है। एरवाद भूकंप भी उनके भूगोल को सहज ही नष्ट कर देता है। उनकी पवित्र नदी को ज्वालामुखी एक घूँट में ही पी जाता है। उनके लिए अज्ञात खंड प्रदेशों का उन्हें पता लगता है परंतु ज्ञात खंड प्रदेश नष्ट हो जाते हैं। ईश्वर के नाम से यद्यपि वे ग्रंथ अवतीर्ण हुए होते हैं, परंतु इन शब्दों की साख कायम रखने की ईश्वर को थोड़ी भी आवश्यकता एवं रुचि होने की बात इस ईश्वरी उत्पात के कारण नहीं दिखाई देती। उनके भूगोल की जो स्थिति होती है वही उनके इतिहास की भी। वेदों का दाशराज्ञ युद्ध यानी पंजाब जैसे राज्य के एक जिले के दस राज्यों की तनातनी। उसे उस समय के आर्य राष्ट्र के बाल्यकाल में इतना महत्त्व मिला कि अग्नि, सोम, वरुण की प्रार्थनाएँ, करुणा की प्रार्थना और सहायता के लिए सूक्तों की रचना की गई। और देवताओं को भी पक्ष-विपक्ष में बाँटना पड़ा।

यही बात क्रिश्चियन, यहूदी, पारसी, मुसलमान आदि के अपौरुषेय ग्रंथों की और उनके समय के इतिहास की। उन ग्रंथों के रचना काल में उनकी जातियों के लिए यह सब प्रसंग अत्यंत महत्त्वपूर्ण लगना स्वाभाविक था, फिर भी आज के त्रिखंड में मोरचे बाँधकर चिल्लानेवाले लाखों सैनिकों के प्रचंड महायुद्धों के मान के समक्ष उन मुट्ठी भर लोगों का संघर्ष कुछ भी नहीं है। आज के जगत्व्यापी साम्राज्यों की तुलना में उनके वे क्षुद्र राज्य और राजधानियाँ तुच्छ ठहरती हैं। ग्रंथों में इनका इतना गौरव किया है कि इन ग्रंथों को ईश्वरप्रणीत, त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ

और त्रिकालाबाधित समझना हास्यास्पद लगता है। उन धर्मग्रंथों के वर्णनानुसार उन देव-देवताओं को वे राजा, उनकी राजधानियाँ, वे राष्ट्र इतने रक्षणीय लगते थे कि उनकी सुरक्षा के लिए उन्होंने ईश्वरीय सूक्त, आयनी और देवदूतों की सेनाएँ भेजी थीं, तो फिर उनके बिना भी दुनिया चल सकती है ऐसा उसी ईश्वर को बाद में क्यों लगा। आज वह बैबीलोन के जार की राजधानी कहाँ है? वह इजराइल का स्वर्ण मंदिर, वे असीरियन, वे खाल्डियन, वे पारसी, वे क्रोधी मोलाक देवता के मंदिर, वे सब गए कहाँ? 'रघुपते: क्व गतोत्तर कोसला? यदुपते: क्व गता मथुरा पुरी?'

प्रकृति और काल स्वयं को अपरिवर्तनीय और त्रिकालाबाधित समझनेवाले धर्मग्रंथों के ताड़पत्रों का चूर्ण करके सतत स्वच्छंद धींगामुश्ती करते हैं। फिर भी इन ग्रंथों से आगे कदम रखना ही नहीं है, ऐसी मूर्खता करनेवाले लोगों की संस्कृति उन धर्मग्रंथों की प्राचीन संस्कृति की अपेक्षा कभी भी अधिक विकसित नहीं हो सकती, यह क्या बताना होगा?

जब तक बाइबिल को अपरिवर्तनीय और अपौरुषेय मानते थे तब तक यूरोप भी ऐसा ही श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पुरातन प्रवृत्ति के कुएँ का मेढक बनकर पड़ा हुआ था। पृथ्वी गोल है यह नया सत्य आविर्भूत होते ही, वह वैसी है या नहीं यह तय करने के लिए बुद्धिगम्य और प्रयोगक्षम ऐसे किसी भी कारण के संबंध में अधिक पूछताछ न करते हुए इसी यूरोप ने एक बार इतना ही पूछा था कि 'बाइबिल में वैसा लिखा है क्या?' पृथ्वी गोल है यह बात श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है क्या? यदि बाइबिल में पृथ्वी सपाट मैदान के समान है, ऐसा लिखा है तो पृथ्वी को वैसा ही होना चाहिए। कोलंबस ने अमेरिका भूखंड ढूँढ़ लिया। उसे देखकर लौटने के बाद भी ऐसे किसी भूखंड का, ईश्वर प्रदत्त सर्वज्ञ, त्रिकालाबाधित बाइबिल में उल्लेख नहीं है। अत: वह हो नहीं सकता—ऐसी धर्माज्ञा इसी यूरोप ने की थी। कितना ही भोलाभाला पोप हो वह अस्खलनीय ही होना चाहिए, इसी यूरोप की कभी इस प्रकार की दृढ़ श्रद्धा थी। पोप कितना ही पापी हो उसकी सिफारिश की चिट्ठी मृत व्यक्ति के हाथ में देकर जमीन में गाड़ने पर उसके लिए स्वर्ग के द्वार अवश्य खुलते हैं। इस प्रकार की श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त निष्ठा से लाखों प्रेतों के हाथों में वैसी लाखों चिट्ठियाँ होने पर इसी यूरोप के कबरीस्थान में खोदकर देखने पर लाखों चिट्ठियाँ लेकर पड़े हुए प्रेत वहाँ ही दिखाई देंगे, स्वर्ग में नहीं। जो बात यूरोप के क्रिश्चियन लोगों की वही बात मुसलिम जगत् की। यूरोप ने पुरातन वृत्ति को नकारा और कड़े संघर्ष के बाद आज वह वैज्ञानिक अधुनातन प्रवृत्ति का समर्थक हुआ है। परंतु कमाल पाशा का तुर्किस्थान छोड़ दिया तो, शेष मुसलिम जगत्, हिंदू जगत् के समान, आज भी इस 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' का ही बंदा गुलाम हुआ है। इसलिए

हिंदू के समान मुसलमान भी यूरोप के उस वैज्ञानिक, अद्यावत् संस्कृति के सम्मुख लगातार निराश और हतप्रभ हो रहा है। यही स्थिति पारसी तथा ज्यू लोगों की है। इस लेख में प्रमुख रूप से अपने हिंदू राष्ट्र के संबंध में ही कहना है। अत: उपर्युक्त धार्मिक और वैज्ञानिक जो दो प्रवृत्तियाँ बताईं—पुरातन और अधुनातन, उनकी सामान्य चर्चा यहीं त्यागकर हमारे लिए हम इतना ही कहना चाहते हैं कि पहले प्रकार की प्रवृत्ति श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त के पिंजड़े में हमारे समान गलती करनेवाले फँसते आए हैं। यह ऊपर दरशाया है फिर भी हमें उसी पिंजड़े में आगे भी रहना क्षम्य है, सहज है—ऐसा मात्र नहीं समझना चाहिए। हम जिसे अपौरुषेय और त्रिकालाबाधित मानते आए हैं वह धर्मग्रंथ आज के समस्त उपलब्ध धर्मग्रंथों में पुरातन पाँच हजार वर्ष पूर्व के मान लें तो भी पाँच हजार वर्ष पिछड़ा है। दुनिया पाँच हजार वर्ष आगे बढ़ गई है। परंतु अभी भी इन ग्रंथों की होशियारी से अधिक होशियार होना नहीं—ऐसा मानो हमारा कृतसंकल्प है, अत: पाँच हजार वर्ष के पिछड़ेपन को लेकर आज भी जन्मतिथि से लेकर मृत्युतिथि तक किस प्रकार चिपककर बैठे हैं यह स्पष्ट करने के लिए इस धार्मिक-पुरातन प्रवृत्ति की अंधपरंपरा के दो-चार उदाहरण मार्गदर्शन हेतु विचार में ले लें।

प्रथम अपनी यज्ञ संस्था को ही देखें। अत्यंत शीत प्रदेश में अग्नि का साहचर्य सुखकारक होता है। ऐसे किसी शीत प्रदेश में और शीत काल में, यज्ञ संस्था ने जन्म लिया। उस काल में घर-घर में अखंड अग्निहोत्र और समय-समय पर प्रज्वलित होनेवाले बड़े-बड़े यज्ञ आरोग्यप्रद और सुखप्रद होते होंगे। परंतु आजकल के भारत की असह्य उष्णता में इस अग्निपूजा से किसी भी प्रकार का भौतिक हित पूरा नहीं होता। इस प्रकार की आग घर-घर और गाँव-गाँव में जलाकर रखना दु:खदायी ही होता है। पूर्व में अग्नि जलाने के साधन भी सुलभ नहीं थे। वनों में पेड़-पर-पेड़ घिसकर अग्नि प्रज्वलित होती हुई देखकर प्राचीन मानव को कृत्रिम अग्नि उत्पन्न करने की विद्या ज्ञात हुई और सिद्ध हो गई। उसका उपयोग उस काल में यज्ञ संस्था में सहजता से किया गया। परंतु बाद में उसपर धार्मिक छाप पड़ने के कारण, अब अग्नि माचिस की लकड़ी के गुल में भी सँभालकर रखी जा सकती है फिर भी यज्ञ की पवित्र अग्नि कहते ही अत्यंत प्राचीन और अत्यंत अज्ञानी पद्धति से ही, मंत्रपूर्वक लकड़ी पर लकड़ी घिसकर 'अग्नि प्रदीप्त हो' ऐसी हृदयद्रावक प्रार्थनाओं से जलाना पड़ता है। लकड़ी और चकमक इन अज्ञानी साधनों के पार अग्नि प्रज्वलित करने का साधन गत पाँच हजार वर्षों में हम ढूँढ़ नहीं पाए। यूरोप ने माचिस की खोज की, बिजली निकाली, 'दीपज्योति: नमोस्तुते' आदि करुणापूर्ण प्रार्थना न करते हुए बूटों से भी बटन दबाए

तो भी तुरंत तेजस्वी प्रकाश करने के लिए बिजली को दासी के समान कार्य करना पड़ रहा है। परंतु यहाँ अभी भी श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पवित्र अग्नि यानी लकड़ी पर लकड़ी घिसकर जलाई जाती है। पिछड़े हुए ग्रंथ को त्रिकालाबाधित मानने के कारण उसके समान पिछड़ा ही रहना पड़ता है। अग्नि देवता है। 'यज्ञाद्भवति पर्जन्यः' ऐसी प्राचीनों की भावना थी। इसलिए वे अग्नि में मनों घी डालते थे यह बात तो समझ में आती है। फिर भी अब हजारों वर्षों के बाद अनुभव से यह निश्चित हुआ है कि अग्नि का नैसर्गिक गुण क्रोध करने पर न बढ़ता है, उसे प्रसन्न करने पर न शांत होता है। घृत की सतत धार पकड़कर 'अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् देव वसुनानि विद्वान्' ऐसी प्रार्थना करनेवाले यजमान के घर वही यज्ञ की अग्नि समय मिलते ही घर भस्म करने से नहीं चूकती। इस प्रकार यज्ञ की अग्नि हमेशा प्रज्वलित रहनेवाले भारत देश में, दस वर्ष में जितने अकाल हुए उतने पैसे की माचिस में अग्नि को बंद करनेवाले यूरोप में सौ वर्षों में भी नहीं हुए। यज्ञमंत्र और पर्जन्यसूक्त गा-गाकर भारतवासियों का गला सूख गया तो भी इस धार्मिक विचार को पर्जन्य भीख नहीं डालता। किंतु रूस में देखें, उन्होंने पर्जन्य का वैज्ञानिक सूक्त ढूँढ़ निकाला और अब कोई भी, वर्षा ऋतु न होते हुए भी 'पर्जन्य' को बुलाए, पर्जन्य जरूर उनके चरणों में गिर पड़ता है। विमान दूर की नदी पर से घुमाकर लाते समय वह नदी का जल खींच लेता है और फिर चाहे जिस खेत पर, किसी जल से भरे हुए बादल के समान वर्षा करता है। ऐसे अनुभव के उपरांत अब उस यज्ञ संस्था का हमें विसर्जन नहीं करना चाहिए क्या? यदि थोड़ा दूध उफनता है या घी की कटोरी तिरछी हो गई तो बहू को सास दोष देती है, ऐसी स्थिति में मनों घी हम लोग समारोहपूर्वक अग्नि को घंटों अर्पित करते रहते हैं। कारण? कारण इतना ही है कि वैसा करना श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है। उस यज्ञ संस्था का राष्ट्रीय केंद्र होने से इस आर्यावर्त पर जो प्राचीन काल में अनंत उपकार हुए, उसके संबंध में कृतज्ञता व्यक्त करके अब इसके आगे उस अग्नि में घी का एक भी बूँद न डालते हुए बुद्ध के समान वह सारी यज्ञ सामग्री और वह यज्ञकुंड गंगा में विसर्जन करना उचित है। 'यज्ञात्भवति पर्जन्यः' यह सूत्र छोड़कर अब 'विज्ञानदेव पर्जन्यः' यह सूत्र नई स्मृति में लिखना चाहिए।

वैसे ही शंकराचार्य की पालकी और बैलगाड़ी इन वैदिक काल के वाहनों के बाद गत पाँच हजार वर्षों में हम नया वाहन निर्मित नहीं कर पाए। विज्ञाननिष्ठ यूरोप ने तीन शतकों में अब तक तीन सौ प्रकार वाहन ढूँढ़ निकाले। दुचाकी, मोटर, रेलगाड़ी, विमान और अब हेलीकॉप्टर जिससे हर व्यक्ति स्वयं आकाश में उड़ने की स्थिति में है। परंतु हमारे शंकराचार्य चार व्यक्तियों के कंधे पर बैठकर ही

शोभा-यात्रा निकालते हैं। ग्राम तक यात्रा मोटर से होगी, परंतु गाँव में पाद्यपूजा हेतु निकलते ही मोटर पाखंड मानी जाती है। उस श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पालकी में बैठकर दिन में ही 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' मशाल जलाते हुए जाएँगे। प्रकृत जनों को रात को दिखता नहीं, मशाल लगती है। परंतु सकलशास्त्र पारंगत लोगों को दिन में भी मशाल के बिना नहीं दिखता। और मशाल भी वही धुएँवाली होनी चाहिए। उससे अधिक तेजस्वी बिना धुएँ की बिजली पर चलनेवाली नहीं चलेगी। क्योंकि वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त मशाल से अधिक अच्छी है, अतः त्याज्य है।

जो मशाल की बात वही उस नंदादीप समई की। पूर्व में मंदिर के गर्भगृह में अँधेरा होता था और समई के अतिरिक्त किसी अन्य दीप की जानकारी नहीं थी। तब समई का नंदादीप ठीक ही था। परंतु अब गोलाबत्ती (बल्ब) के द्वारा गर्भगृह दिन के समान प्रकाशित होने पर भी उन्हें नंदादीप की उपाधि या प्राचीनता प्राप्त नहीं होगी। जो गोलाबत्ती की ओर देखकर स्वयं ही शरमाती हो ऐसी समई जलाएँ तो ही भगवान् के सम्मुख दीप जलाने का पुण्य प्राप्त होगा। अधिक प्रकाशना मानो दीप का दीपपन नहीं है तो श्रुतिस्मृति काल की मंद जलनेवाली ज्योति जितना ही प्रकाशन सही धार्मिक दीयापन है। इसलिए बिजली के दीप को कोई भी, 'दीप ज्योतिर्नमोस्तुते' कहकर नमस्कार नहीं करता। वह सम्मान तो उस मंद-मंद जलनेवाली सनातन समई को ही मिलना चाहिए।

गत पाँच हजार वर्षों में नरकुल की लेखनी से अधिक अच्छे लेखन के साधन की कल्पना भी हम लिखने के लिए नहीं कर सके। विज्ञान-संस्कृति के अधुनातन प्रवृत्ति के यूरोप ने मुद्रण कला को उठाया, टंक लेखक (टाइप राइटर) एकटंक (मोनो टाइप), पंक्ति टंकक (लिनोटाइप) एक के बाद एक खोज निकाले। और अब बोलनेवाले की ध्वनि के साथ अपने-आप लेख टंकित करनेवाला स्वयं टंक ही निकल रहा है। शिवाजी महाराज के पूर्व से ही पुर्तगीजों ने हिंदुस्थान में छापाखाना लगाया था, परंतु हम बोरू की कलम से लंबे-लंबे कागजों पर कल-परसों तक अपनी पोथियाँ लिखते रहे। क्योंकि उस प्रकार के नरकुल से न लिखी हुई पोथी को पोथी कैसे कहेंगे? जिल्द लगाई हुई, छपी हुई पुस्तक को धार्मिक होने पर भी रेशम का पीतांबर पहनकर नहीं पढ़ा जाता है। पुरानी पोथियाँ ही भाविक, पंत, पंडित और भट भिक्षुकों द्वारा पीतांबर पहनकर पढ़ी जाती हैं।

हम जन्म लेते हैं वह भी केवल श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त में। उत्कृष्ट प्रकाश, वायुशल्यौषधियों से युक्त किसी आधुनिक प्रसूति-गृह में जाना यूरोप में स्त्रियों का कर्तव्य समझा जाता है। वही शिष्टाचार! परंतु हमारे यहाँ इसे शिष्टाचार का भंग माना जाता है। सभी सुविधाएँ उपलब्ध होने पर भी ऐसे प्रसूति-गृह में प्रसूति हेतु

जाना कोई बुरा कृत्य है ऐसा स्त्रियाँ ही समझती हैं। परंतु यही संकोच उन्हें श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त अंधकार से भरपूर और गोबर से लिपे हुए कमरे में प्रसूत होने में नहीं लगता। प्रकाश, वायु, शल्यौषधि इनकी आधुनिक सुविधाएँ हैं या नहीं यह देखने की अपेक्षा पंचमी और षष्ठी को देवी-डाइन पूजा यथाशास्त्र हो गई या नहीं इसकी चिंता अधिक होती है। नाल काटने की कैंची भी देवी के समान पीढ़े पर रखकर पूजी जाती है; डाइन कमरे में न आए इसलिए विशेष नरबेला की डालियाँ या पत्तियाँ देहरी पर आड़ी-तिरछी डालते हैं, भाई-बहन को भी नूतन बालक को स्पर्श करना मना होता है। डॉक्टर को भी स्नान करना पड़ता है, बच्चे को पहले दिन से ही सूप में सुलाकर अपने पास रखना, सूप की चावल और सुपाड़ी रखकर पूजा करनी होती है। दस दिन तक इसी प्रकार बालक को सूप में ही सुलाना। देवी-डाइन का चक्कर रात बारह के बाद होता है, अत: रात भर जागरण करना। सर्वप्रथम बट्टे को बच्चे के कपड़े पहनाकर झूले में सुलाना और बाद में उसके पास बच्चे को सुलाना, शाम को शांतिपाठ कराना। झूले को प्रथम धक्का उसकी माँ की पीठ द्वारा देना। इन सभी संस्कारों में अल्प भी अंतर नहीं पड़ना चाहिए, नहीं तो बच्चा और माँ पर डाइन हमला करेगी। परंतु देवी-डाइन की इतनी सेवा करनेवाले इस हिंदुस्थान देश में ही बालमृत्यु भयंकर है। इस देवी को कभी धूप जलाकर सुगंध न देनेवाले, शांतिपाठ कभी न करनेवाले और प्रकाश, वायु की चिंता न करनेवाले उस यूरोप के जच्चे-बच्चे को परेशान करने की देवी के बाप की भी हिम्मत नहीं होती है। उन देशों में बालमृत्यु की संख्या लगातार घट रही है। लड़के उत्तर-दक्षिण ध्रुवों पर चढ़ाई करनेवाले और लड़कियाँ इंग्लिश चैनल तैरकर पार करनेवाली और अटलांटिक महासागर विमान की उड़ान में पार करनेवाली हैं। विज्ञान की, आधुनिक संस्कृति की पूजा करनेवाले देशों के प्रसूति-गृहों में पैदा हुई ये संतानें देखें और हँसियाँ-कैंची, डाइन सबकी पूजा करनेवालों की हमारे श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रसूति-गृह की हमारी संतानें देखें।

जो बात जन्मतिथि की वही मृत्युतिथि की। पक्की, बंद पेटी में प्रेत को ढककर ले जाना अधिक सुविधाजनक होता है। परंतु बाँस की कमचियों को गठाने मारकर बनाई गई अरथी उठाना वेदकाल से चलता आ रहा है। वह अरथी भार के कारण कभी बीच में भी टूट सकती है। पाँच हजार वर्ष पुरानी अरथी पर, विद्रूप मुख खुला रखकर, यह सहन नहीं हो रहा ऐसा मानो उसकी गरदन हिल-हिलकर कह रही है। घर में उपले का टुकड़ा जलाकर एक मिट्टी के मटके में रखकर साथ में ले जाते हैं। खुले मस्तक से रिश्तेदार तथा मित्रमंडली श्मशान भूमि तक उसे ले जा रही है। यह प्रेत-यात्रा कितनी भी कष्टदायक हो तो भी पुण्यकार्य है। कारण

स्पष्ट है, क्योंकि वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है। भाग्य से हमारे प्रेत को दाह-संस्कार देने की हमारी पद्धति अच्छी है। वह अच्छी है इसलिए चालू है ऐसा नहीं, अपितु वह सनातन है इसलिए अभी तक चल रही है। कुछ हिंदू जातियों में प्रेत गाड़ने की भी पद्धति है। वे भी उसे सनातन समझते हैं। प्रेत जलानेवाले उसे नए विद्युत्गृह में जलाने को मान्यता नहीं देंगे। जब बिजली का पता नहीं था, माचिस की खोज नहीं हुई थी तब से चल रही इस अज्ञानी पद्धति से आग जलाकर मटके में, भले ही वह अग्नि वर्षा से बुझ जाए, ले जाकर श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पद्धति से ही चिता जलाई जाती है। यदि हम किसी भावुक प्रकृति के व्यक्ति को कहेंगे कि तेरा प्रेत पेटी में बंद करके ले जाएँगे और विद्युत्गृह में जलाएँगे तो बेचारा उस वार्त्ता से धक्का लगकर जीते-जी ही मर जाएगा। वह व्यक्ति अपने मृत्युपत्र में लिखकर रखेगा कि मेरे प्रेत की इस प्रकार दुर्दशा नहीं होनी चाहिए। उसे कसकर अरथी को बाँधकर खुले मुँह ले जाकर श्मशान में लकड़ी की चिता पर ही जलाना चाहिए। कारण यह है कि वही श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त पद्धति है और उससे ही सद्गति मिलती है। सत्य है, इन अपरिवर्तनीय शब्दनिष्ठ धर्मग्रंथों ने हजारों वर्ष की इस अज्ञानता को अमर करके रखा है।

इस सामान्य वैयक्तिक प्रकरण के समान रोटीबंदी, समुद्रबंदी, स्पर्शबंदी, शुद्धिबंदी जैसी अपने हिंदू राष्ट्र को अवनति की ओर ले जानेवाली दुष्ट राष्ट्रीय रूढ़ियों को भी ये श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त ग्रंथ आज भी अमर कर रहे हैं। इस कारण राष्ट्र मृत्यु के द्वार पर खड़ा है।

अतएव हिंदू राष्ट्र को इस काल की मार से बचाना हो तो जिन श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त बेड़ियों ने इसके कर्तृत्व के हाथ-पाँव जकड़ लिये हैं, उन्हें तोड़ देना चाहिए। यह भाग्य से हमारी इच्छा पर पूर्ण रूप से निर्भर है। कारण, यह मानसिक है। यूरोप चार शतकों के पूर्व तक धर्म की अपरिवर्तनीय सत्ता का ऐसा ही दास बना हुआ था। उसके कारण वह हमारी जैसी ही दुर्गति को पहुँचा था। परंतु उसके बाइबिल को दूर हटाकर विज्ञान की वकालत करते ही, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की बेड़ियाँ तोड़कर आधुनिक बनकर वह आज हमसे चार हजार वर्ष आगे निकल चुका है। त्रिखंड में विजयी हुआ है। भारत राष्ट्र भी इस प्रकार विजयी होना चाहता है तो सनातनी ग्रंथ को समाप्त कर और यह प्राचीन श्रुतिस्मृतिपुराणादि शासन लपेटकर और केवल उन्हें ऐतिहासिक ग्रंथ ही मानकर संग्रहालय में सम्मानपूर्वक रखकर विज्ञानयुग का पृष्ठ पलटना चाहिए। इन ग्रंथों का अधिकार 'कल क्या था' और 'आज क्या उचित है' यह बताने का अधिकार प्रत्यक्षनिष्ठ, प्रयोगक्षम विज्ञान का है। आधुनिकता में गत सभी अनुभवों का उपयुक्त सार सर्वस्व समाया होता है;

परंतु श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त में अद्यावत् ज्ञान का अंश भी नहीं होता। इसलिए अद्यावत् यानी अप-टु-डेट बनना ही उचित है। आगे चलकर कोई भी बात अच्छी या बुरी, सुधार इष्ट या अनिष्ट, इन प्रश्नों का उत्तर 'यह आज उपयुक्त है या नहीं' इस एक ही प्रत्यक्ष कसौटी पर परख लेनी चाहिए। 'यह शास्त्राधार है क्या?' यह प्रश्न अब कभी भी पूछना नहीं चाहिए। विद्वानों की परिषद् में, शास्त्रार्थ के विवादों में, मानो अंडी के कोल्हू में एक क्षण भी व्यतीत नहीं करना चाहिए। कुल मिलाकर 'आज क्या उपयुक्त है' यह देखकर ही फिर उसे करना चाहिए। इस एक वाक्य की चोट के साथ जो प्रश्न हम चार हजार वर्षों में हल नहीं कर पाए वह चार दिन में हल होगा तथा पुरानी बेड़ियाँ टूट जाएँगी।

आज कौन सी बात राष्ट्रोद्धार के लिए आवश्यक है यह बहुधा तुरंत बताई जा सकती है। परंतु कौन सी बात शास्त्रसम्मत है यह तो ब्रह्मदेव भी निर्विवाद रूप से नहीं बता पाएँगे। हम किसी भी ग्रंथ को अपरिवर्तनीय और त्रिकालाबाधित नहीं मानते। श्रुतिस्मृति आदि सभी पुरातन ग्रंथ हम अत्यंत कृतज्ञता से और ममता से सम्मानित करते हैं, परंतु केवल ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में। उन्हें हम अनुल्लंघ्य ग्रंथ नहीं मानते। हम उसका सारा ज्ञान, अज्ञान आज विज्ञान की कसौटी पर कसेंगे, उसके उपरांत 'राष्ट्रधारणा तथा उद्धार हेतु जो आवश्यक होगा' उसको बेझिझक व्यवहार में लाएँगे। इस तरह हम भी अद्यावत् या अप-टु-डेट बनेंगे।

इतना निश्चय होते ही अपनी प्रगति को पाँच हजार वर्षों से लगी पिछड़ी संस्कृति और उसे जकड़नेवाली श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की मानसिक बेड़ी टूटकर हमारे कर्तृत्व के हाथ मुक्त हो गए समझो। फिर इन मुक्त हाथों से जो बाह्य उपाधि हमारी उन्नति के मार्ग में बाधा बन रही है, उनका सिर कुचलकर अपना मार्ग प्रशस्त करना हमें आज से शतगुना अधिक सुलभ हुए बिना नहीं रहेगा।

□

आज की सामाजिक क्रांति का सूत्र

'किर्लोस्कर' मासिक के विज्ञाननिष्ठ विद्वान् और प्रगतिशील संपादक ने हमारे जो लेख प्रकाशित किए, उनकी मराठी नियतकालिकों के साथ-साथ हिंदी, उर्दू आदि नियतकालिकों में भी विचारकों में बेचैनी उत्पन्न करनेवाली समालोचना हो रही है। यह बात संतोषजनक भी है। उन लेखों पर जो प्रतिकूल प्रतिक्रियाएँ व्यक्त हुईं उनकी छानबीन हम इस लेख में प्रस्तुत कर रहे हैं। परंतु उन लेखों के उत्तर देने की विशेष आवश्यकता नहीं। परंतु प्रतिकूल मत छिपानेवाला पक्षपात सत्य प्रचार के कार्य में जैसा अनुचित, वैसे ही अनुकूल मत छिपानेवाला विनय भी अनुचित होने के कारण उसे एक ओर रखकर इस लेख के मुख्य विषय को कितने बड़े परिणाम में अनुकूलता मिल रही है इसका नमूना प्रस्तुत करने-हेतु उसका उल्लेख मैं प्रारंभ में ही कर रहा हूँ। इनमें से 'सकाल' आदि मराठी समाचारपत्रों के मत पाठकों ने पढ़े होंगे। उत्तर हिंदुस्थान में इन लेखों के अनुवाद तत्परता से हिंदी और उर्दू मासिक पत्रिकाओं में प्रकाशित किए गए हैं। श्रीमान भाई परमानंद द्वारा स्थापित जात-पाँत तोड़क मंडल ने अपने व्यय से उन लेखों के स्वतंत्र परचे छापकर सैकड़ों की संख्या में बाँटे। उधर की अनुकूल समालोचना के एक उदाहरण रूप में पंजाब के प्रसिद्ध 'युगांतर' मासिक के जुलाई माह के अंक में प्रकाशित संपादकीय टिप्पणी के कुछ अंश प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"प्रसिद्ध देशभक्त स्वातंत्र्यवीर बैरिस्टर सावरकरजी के पुण्य नाम से कौन भारत संतान अनभिज्ञ होगी। वे गंभीर त्यागी और देशहित के लिए मर मिटनेवाले पतंग हैं। उनके विद्वत्तापूर्ण 'रोटीबंदी की बेड़ी तोड़ दो!' 'सच्चा सनातन धर्म' आदि लेख जो भी पाठक पढ़ेंगे उन्हें उससे भूरि-भूरि लाभ होना निश्चित है। पाठक-पाठिकाओं से अनुरोध है कि उन लेखों को दो-दो बार पढ़ें। उनका 'दो शब्दों में दो संस्कृतियाँ' लेख बड़ा ही करारा है।"

दिल्ली के 'डेली तेज' पत्र के संपादक ने हमारे लेख के संबंध में हमें जो

पत्र भेजा है, उसमें से कुछ अंश हम दे रहे हैं, जो विचारणीय है—

"I am a great admirer of you and your writings. In fact, it is a great pity that the people of this part of the country, amongst whom there are numerous votaries of yours like myself are denied the previlege of inviting you to this part of the country. The only manner in which they can come into contact with you is to seek light from you through the Press. Your recent article published in a Maharashtra paper on religion and science was splashed by 'Tej' with a 5 columns headline and aroused much serious comment..."

अनुकूल समालोचन को स्पर्श करनेवाला उल्लेख करके अब प्रतिकूल चर्चा के आक्षेपों का सविस्तार विचार करेंगे। आक्षेप करनेवालों के दो वर्ग होते हैं, जैसे—

प्रथम वर्ग कट्टर सनातनी

पहला वर्ग कुल मिलाकर मीमांसकों की विचारधारा को मानने तथा व्यवहार में लानेवाला होता है। उनका मुख्य कटाक्ष ऐसा कि कोई भी बात उपयुक्त है या नहीं यह प्रश्न दोयम है। मुख्य प्रश्न यह है कि वह बात श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है या नहीं? यदि है तो वह धर्म, न हो तो अधर्म। उनकी दूसरी धारणा यह है कि आज जिन रूढ़ियों को बहुत समय से धर्म माना है, वे श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त होनी ही चाहिए। क्योंकि जो श्रुति में होगा वही स्मृतिपुराण के शिष्टाचार में होगा। श्रुतिस्मृतिपुराण और शिष्टाचार में संपूर्णतः एकवाक्यता है। प्रत्यक्ष अनुभव में ये रूढ़ियाँ अत्यंत हानिकारक हो रही हैं यह सिद्ध करनेवालों को वे साफ बताते हैं कि फिर भी शास्त्र में ऐसा लिखा है, अतः उस रूढ़ि का पालन करना चाहिए— 'वचनात्प्रवृत्तिः क्ष्वनान्निवृत्तिः' इस लोक में हानिकारक होने पर भी परलोक में सुखदायक होनी चाहिए। यदि आपने कहा कि उसका उल्लेख श्रुति में नहीं है तो वे स्पष्ट रूप से कहेंगे कि जिस कारण स्मृति या पुराण में या कम-से-कम शिष्टाचार में वह रूढ़ि है, धर्म मानकर बहुत समय से व्यवहार में लाई जा रही है, तो निश्चित वह श्रुति में होनी ही चाहिए। उपलब्ध श्रुति में न मिलती हो तो आज लुप्त हुए श्रुतिभाग में वह होनी चाहिए। श्रुति में है माने आज भी वह रूढ़ि धर्म ही है। इतना ही कहकर ये लोग रुकते नहीं अपितु इसके आगे जाकर कहते हैं कि बहुत समय से वह धर्म मानकर व्यवहार में लाई जा रही है, रूढ़ है; अतः वह श्रुति में होनी ही चाहिए। आज उपलब्ध श्रुति में नहीं प्राप्त हो रही है तो आज जो नहीं

है ऐसी श्रुतियों में वह अवश्य होगी। बालविवाह, पुनर्विवाह-निषेध, जन्मजात जातिभेद, जातियों में पोट भेद, अस्पृश्यता, रोटीबंदी, बेटीबंदी, समुद्रबंदी, परदेशगमन निषेध आदि आज अत्यंत हानिकारक होनेवाली रूढ़ियों से जचकी के कमरे में कैंची की पूजा तक और प्रेतयात्रा की अरथी से किराए से लाए जाते छाती पीटनेवाले और रोनेवालों तक, आज धर्म माननेवाले सभी संस्कारों का और रूढ़ियों का यह वर्ग समर्थन करता है। उपयुक्त है या अनुपयुक्त यह प्रश्न प्रमुख रूप से न पूछते हुए ये संस्कार श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त हैं इसलिए धर्म होने ही चाहिए यही उनका एकमेव आधार होता है। इसी को वे 'शास्त्राधार' कहते हैं और इसी को हम हमारे राष्ट्र की 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति' कहते हैं।

'दो शब्दों में दो संस्कृतियाँ' यह हमारा लेख प्रमुख रूप से इसी वर्ग, जिन्हें हम कट्टर सनातनी समझते हैं, को संबोधित था। श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की संपूर्णतः एकवाक्यता है यह बात हमें बिलकुल मान्य नहीं, यह अब पुनः कहने की आवश्यकता नहीं। हम तो ऐसा ही मानते हैं कि श्रुति परस्पर विरोधी विधि निषेधों से परिपूर्ण हैं। आज जिसे धर्म माना जाता है ऐसी सैकड़ों रूढ़ियों का श्रुति को पता भी नहीं है और सैकड़ों श्रुतियों ने उसका तीव्र निषेध भी किया है। इसलिए लेख में जिन-जिन स्थानों पर उस रूढ़ि को या विचार को 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त', 'सनातन', 'वेदकालीन' आदि विशेषण लगाए गए हैं, उन स्थानों पर बहुधा वे उपरोधात्मक हैं। हम उन्हें श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त मानते हैं यह बात नहीं है। परंतु हमारा कट्टर सनातनी वर्ग जो उसे मानता है, उनके मुख का वह विशेषण यहाँ केवल लिखा गया है। कुछ आक्षेपक इतने अरसिक या जान-बूझकर गलत रास्ते से जानेवाले मिले हैं कि वे संदर्भ से समझनेवाली बात भी नहीं समझ पाए और उन्होंने समझना दरशाया भी नहीं, इसलिए स्पष्टीकरण देना पड़ा।

परंतु मीमांसकों के समय से ही यह वर्ग आज के समाज का पौरोहित्य अपने हाथ में रखे हुए है और आज भी उपरिनिर्दिष्ट रूढ़ियाँ जिन अर्थों में रूढ़ियाँ हैं उन अर्थों में, बहुमत के कारण, इस वर्ग की श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति ही हमारे समाज की जाने-अनजाने नियमन करनेवाली साधारण प्रवृत्ति है यह नकारा नहीं जा सकता। इसलिए हम जो कहते हैं कि यूरोप में कुछ अपवाद छोड़कर, आज की प्रवृत्ति प्रत्यक्षनिष्ठ प्रवृत्ति यानी 'अप-टु-डेट', 'अद्यावत्' प्रवृत्ति है वैसे ही हमारी, अपवाद छोड़कर, जो शब्दनिष्ठ सर्वसाधारण प्रवृत्ति है वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है, यह हमारा कथन भी नकारा नहीं जा सकता। हमारा कट्टर सनातनी बंधु वर्ग भी इसे नहीं नकारेगा। इतना ही नहीं अपितु हमारे इस कथन का समर्थन ही करेगा, क्योंकि हमारा जो श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तता का आक्षेप है उसका यही आदर्श है।

दूसरा वर्ग अर्ध सनातनी

प्रत्यक्षनिष्ठ, विज्ञाननिष्ठ और अद्यावत् सुधारकों पर आक्षेप करनेवालों का दूसरा वर्ग अर्ध धर्मसनातनियों का है। आज की प्रगतिशील दुनिया से संघर्ष करते हुए अपने हिंदू राष्ट्र को जीवित रखना हो तो धर्म के नाम पर चल रही उपर्युक्त हानिकारक रूढ़ियाँ नष्ट करनी चाहिए यह बात इस वर्ग के लोगों को अच्छी तरह से ज्ञात हो चुकी हैं। आज हो रही वैज्ञानिक प्रगति के बारे में उन्हें काफी ज्ञान भी होता है। आज के नवीनतम शस्त्रों से अपना राष्ट्र सुसज्जित होना चाहिए ऐसी उनकी उत्कट इच्छा भी होती है। परंतु उनकी दृष्टि से यह सब होना चाहिए शब्दनिष्ठ श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति का संपूर्ण त्याग किए बिना। अद्यावत् वैज्ञानिक प्रवृत्ति को आत्मसात् कर व्यवहार में लाए बिना राष्ट्र को सुसज्ज बनाना असंभव है यह कहने का साहस या समझने का विवेक इनमें पूर्णत: नहीं दिखाई देता। बुद्धि और श्रद्धा, रूढ़िप्रियता और सुधार, पुराने संस्कार और नए संस्कार इनका सुसंगत समन्वय उनके मन में दृढ़ न होने के कारण वे न तो अद्यावत् प्रवृत्ति के बन पाते हैं और न तो श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति के। श्रुति से लेकर शनि-माहात्म्य तक के सारे ग्रंथ एक मुख से एक ही धर्म बताते हैं या सारे ग्रंथ मान्यता प्राप्त हैं यह समझना भी केवल गलतफहमी है—यह कहने की उनकी बुद्धि जाग्रत् अवश्य हुई होती है। परंतु किसी ग्रंथ को अनुल्लंघ्य धर्मग्रंथ, शास्त्र मानने के बिना, किसी शास्त्र का आधार लिये बिना, उनकी बुद्धि में केवल अपने बल पर उस रूढ़ि को नकारने की हिम्मत ही नहीं होती है। उदाहरणार्थ, अस्पृश्यता आज उपयुक्त नहीं यह बात उन्हें मान्य होने पर भी इस कारण से वे उसपर हथियार नहीं चलाएँगे। यह बात श्रुतिस्मृति धर्मग्रंथों में बताई नहीं गई, उसे शास्त्राधार नहीं, ऐसा निराधार समर्थन भी वे करेंगे। कुछ लोग अपनी मूर्खता न दिखने पाए ऐसा समझकर पुराणों को अप्रामाणिक मानेंगे, परंतु श्रुति को मात्र अनुल्लंघ्य प्रमाण मान लेंगे। फिर जो-कुछ नया या उपयुक्त होगा वह सब हमारी श्रुति में है ऐसा कहना नहीं भूलेंगे। कट्टर सनातनियों के समान, इन अर्ध सनातनियों की इस प्रकार की गतिविधियों से बेचारी श्रुति-स्मृति के अर्थ की, इतिहास की और सही योग्यता की खींचातानी होती रहती है। इधर रेलगाड़ी की खोज हो गई तो इन्हें वेदों में रेलगाड़ी के संबंध में जानकारी है ऐसा आभास होने लगता है। इधर विमान की खोज की गई तो वेदकाल में विमान थे यह कहने को संपादकीय लिख दिया ऐसा समझ लीजिए। और क्या बताएँ, इधर सत्याग्रह शुरू होते ही एक व्यक्ति ने 'वेदों में सत्याग्रह' इस नाम से एक अध्याय ही छाप दिया है यह पाठकों के ध्यान में होगा। अब शिरोडा में जो नमक की लूट की जा रही है, वह भी श्रुति में है ऐसा अथर्वण के कुछ मंत्रों के आधार पर सिद्ध

करनेवाला कोई महापंडित उनमें शीघ्र ही निकल आएगा ऐसी धारणा करना गलत नहीं होगा।

यथार्थ दृष्टि से देखें तो इस दूसरे वर्ग के लिए हमारा लेख नहीं लिखा गया था। क्योंकि यह वर्ग अभी भी 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' प्रवृत्ति के नियंत्रण से पूर्ण रूप से मुक्त नहीं हुआ है, तो भी आवश्यक सुधार करने के लिए किसी प्रकार तैयार हो जाता है। कट्टर सनातनी कहते हैं कि 'हिंदू अस्पृश्य, म्लेच्छ अहिंदुओं से हमारे लिए दूर के हैं, क्योंकि 'म्लेच्छ' जन्म से स्पृश्य है, परंतु हिंदू अस्पृश्य अस्पृश्य ही है ऐसा शास्त्र बताता है।' हिंदुत्व को कलंक लगानेवाले और हिंदू संगठनों की गरदन काटने का कृत्य करनेवाले ऐसे स्पष्ट निर्णय दूसरे वर्ग के लोग दें इतने शास्त्रभ्रमिष्त वे नहीं हैं। इसलिए शुद्ध सुधारकों का द्वेष जितना कट्टर सनातनी करते हैं उतना ही वे इन अर्ध सनातनी लोगों का उन्हें पाखंडी कहकर करते हैं। फिर भी हमारे लेख पर आक्षेप लेने में इस दूसरे वर्ग के भी लोग होने के कारण उन सबको हम एक साथ उत्तर देने का प्रयास कर रहे हैं। अधिकांश आक्षेप पंडित सातवलेकरजी के लेख में हैं, अत: उनके लेख का विचार करने से सबका ही निदान हो जाएगा, इसलिए हम पंडितजी का लेख ही प्रत्युत्तरार्थ चुन रहे हैं।

पंडित सातवलेकर के आक्षेप

हमारे लेख का समतोल बुद्धि से प्रत्युत्तर देने का पंडित सातवलेकरजी का मूल हेतु था यह बात उनके प्रारंभ के एक-दो परिच्छेदों से स्पष्ट होती है। उनकी इस सदिच्छा के लिए हम उनके आभारी हैं। यद्यपि उनके लेख में आगे चलकर क्वचित् उनके स्वयं के व्यंग्यात्मक टीका की दुर्बलता का अभाव मिटाने हेतु अन्य मार्ग न मिलने से, लेख में काफी हद तक चिड़चिड़ापन लेख में आ गया है। 'मरो, जलो' ऐसे बालिश गाली-गलौज देने तक बारी आ गई है। यद्यपि उन्होंने 'थोड़ी अच्छाई सीखो, श्रुति-स्मृति पढ़ो' इस प्रकार हमें मार्गदर्शन कर छोटे मुँह बड़ी बात की है फिर भी, उनकी मूल सदिच्छा का स्मरण करके हम उनके तात्कालिक चिड़चिड़ेपन की ओर दुर्लक्ष करते हुए विषय के संबंध में उनके द्वारा किए हुए आक्षेपों की ही चर्चा करेंगे।

पंडितजी दूसरे अर्ध सनातनी लोगों के वर्ग के हैं यह बात उनके प्रथम वाक्य से ही स्पष्ट होती है। विषय के आरंभ में ही वे कहते हैं, ''आज जो उपयोगी है वही करना चाहिए ऐसे कथन का हम कभी विरोध नहीं करेंगे।'' ठीक है, तो फिर आपने प्रथम झटके में ही हमारी सब बातें मान ली हैं, इसलिए आपका और हमारा महत्त्वपूर्ण मतभेद रहा ही नहीं। जो उपयुक्त है वही करना चाहिए—यही

हमारा कहना है। फिर वाद आप और हममें न रहकर उपर्युक्त वर्णित प्रथम वर्ग से ही आपको वाद करना चाहिए था। क्योंकि पुराणोक्त है क्या, यह प्रश्न ही व्यवहार में धर्माधर्म निर्णय में मुख्य। ऐसा वे कहते हैं, हम नहीं।

परंतु इस प्रकार का मतभेद मुख्य विषय में न होते हुए भी हमारे लेख का पंडितजी ने जो विरोध किया है उसका सही कारण उनके आगे के वाक्य में ही झलक रहा है। राष्ट्र को जो उपयुक्त है वही करना चाहिए। क्योंकि यह नियम अपने आपमें सही है। अर्थात् धारणक्षम धर्म है ऐसा हम कहते हैं; परंतु पंडितजी तुरंत कह देते हैं कि हमारे हिंदूशास्त्र यही बात कहते हैं। ठीक कट्टर सनातनी के समान वे एक अनुष्टुप श्लोक का 'शास्त्राधार' भी दे बैठते हैं। वह श्लोक इस प्रकार है—'श्रुतिस्मृति···स्वस्यचप्रियमात्मनः' उपयुक्त वही करना चाहिए—क्योंकि शास्त्रों में भी यही कहा गया है। परंतु शास्त्रों के उस प्रकार के वाक्यों का अर्थ वैसा नहीं होता। आज धर्म मानकर पालन की जानेवाली रूढ़ियाँ, किसी को अनुपयुक्त लगीं तो भी मनुष्य ही नहीं भगवान् भी नहीं बदल सकेगा। 'यह धर्म भी अपरिवर्तनीय है' ऐसा स्पष्ट कहनेवाले जो शास्त्री हैं उनका क्या होगा? शास्त्र का आप एक अर्थ करते हैं, मीमांसक दूसरा और रूढ़िवादी तीसरा। इसलिए हम कहते हैं कि यह शास्त्राधार की बात बंद करनी चाहिए। आज का नया ज्ञान-विज्ञान प्रयोग सिद्ध होने पर भी केवल शास्त्रों के काल में ज्ञात नहीं था इसलिए नकारा जाना चाहिए क्या? इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर देने में पंडितजी सहमते हैं। अतएव हमारे राष्ट्र की समूची प्रवृत्ति श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की बेड़ियाँ डालकर पंगु बनाई हुई जैसी हैं ऐसा जो हमने उस लेख में कहा, पंडितजी अपनी प्रवृत्ति से वही बात कह रहे हैं। वे कहते हैं, ''हिंदू धर्मशास्त्र भी आज 'उपयुक्त क्या है' इस बात को टालता नहीं। किंतु श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त की बात भी उसके पीछे जोड़ देता है। 'हमने भी यही कहा है। मानो यह 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' की बात उस 'उपयुक्त' के पीछे हाथ धोकर पड़ी है। इसलिए प्रत्यक्ष जो उपयुक्त वही बेखटके करनेवालों को भी, बदलती परिस्थिति का सामना करते हुए तुरंत-फुरंत आचार बदलनेवालों को 'अद्यावत्' यूरोपीय संस्कृति के सम्मुख हम शक्तिहीन, बलहीन होकर 'शास्त्राधार' के चक्कर में फँसे हैं ऐसा ही मानना चाहिए।

केवल कपट (आरोप)

तदनंतर प्रश्न उपस्थित कर पंडितजी कहते हैं कि 'किसी नई बात को स्वीकार करने के पूर्व यदि यह देखा जाए कि पुराने शास्त्रकार इस संबंध में क्या कहते हैं? फिर नई बात की उपयुक्तता तय की तो क्या बिगड़ता है? परंतु हमारे

विद्वान् देशभक्त बैरिस्टर सावरकर के अनुसार अब पुराना आधार देखने की आवश्यकता नहीं है।' इस प्रकार जो हमारी कही बात है ही नहीं, वह हमने कही है ऐसा कहते हुए पंडितजी किस तरफ भटक गए यह कहना भी कठिन है। ''शास्त्र जलाएँ, इतिहास जलाएँ, विश्वकोश जलाएँ, फिर बैरिस्टर सावरकर के ग्रंथ भी जलाने चाहिए क्या?'' यह वह हमसे पूछते हैं। हमारा उत्तर यही है कि जलाना ही है तो पंडितजी का यह व्यर्थ कपटी आरोप छोड़ कुछ जलाना आवश्यक नहीं। इसके विपरीत हमने अपने लेख में स्पष्टता से लिखा है कि 'प्राचीन श्रुतिस्मृतिपुराणादि शास्त्र, ऐतिहासिक ग्रंथ आदि किसी संग्रहालय में सम्मानपूर्वक रखने चाहिए और अब विज्ञानयुग का पृष्ठ पलटना चाहिए। उस ग्रंथ का अधिकार कल क्या हुआ यह बताने का है। परंतु आज क्या उचित है यह बताने का अधिकार प्रत्यक्षनिष्ठ विज्ञान का। अद्यावतता में गत सभी अनुभवों का सार समाविष्ट हुआ होता है' उसके बाद भी उपसंहार में उस लेख में हमने लिखा है, ''श्रुतिस्मृतिपुराणादि सभी स्मृतिग्रंथों का हम कृतज्ञता से और ममता से सम्मान करते हैं, पर केवल ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में। अनुल्लंघ्य धर्मग्रंथ के रूप में नहीं। हम उनका सारा ज्ञान और अज्ञान आज के विज्ञान की कसौटी पर कसेंगे और तदनंतर राष्ट्रधारणा के लिए उदाहरणार्थ, जो अनिवार्य लगेगा वह बिना हिचक व्यवहार में लाएँगे। इस प्रकार हम अद्यावत् बनेंगे, अप-टु-डेट बनेंगे।''

हमारे लेख के उपर्युक्त वाक्य उद्धृत करने के बाद पंडितजी लिखते हैं, ''पुराने ग्रंथों को देखना ही नहीं चाहिए उन्हें जला देना चाहिए ऐसा हमने कहा है।'' यह उनका कहना स्पष्ट रूप से कपटपूर्ण और झूठ है। यह अब फिर से कहने की आवश्यकता ही नहीं। कल तक के ज्ञान की कसौटी लेकर और कल के क्षितिज के रंग-रूप देखकर, फिर जो आज के राष्ट्रहित में उपयुक्त होगा वह एक बार तय करने पर, उन पुराने शास्त्रों का आधार न हो तो भी उसे व्यवहार में लाना चाहिए ऐसा हमारा स्पष्ट मत है। गुणों से ब्राह्मण न हो तो भी अमुक जाति का है इसलिए उसे ब्राह्मण के अधिकार नहीं मिलने चाहिए, वैसे ही आज प्रयोगांत में उपयुक्त या सत्य सिद्ध है, पुरानी पोथी में मिलता नहीं या निषिद्ध है अत: त्याज्य। इस अर्थ में जिसे शास्त्राधार कहते हैं ऐसा शास्त्राधार हमें नहीं चाहिए। परंतु इसका यह निष्कर्ष कि शास्त्राधार ही नहीं चाहिए—ऐसा करना केवल कपटपूर्ण आरोप है।

अंत में अरथी का आधार

हमारे लेख का प्रत्युत्तर देने की तीव्र इच्छा पंडितजी की थी, परंतु उलट उत्तर देने के लिए किस बात का सहारा लिया जाए यह न सूझने के कारण इस प्रकार

की अशरण स्थिति में जैसे कोई भी 'डूबते तिनके का सहारा' लेता है उसी प्रकार पंडितजी ने अपने समर्थन में अंत में अरथी का सहारा लिया है। आज की हमारी अरथी पर प्रेत ले जाने की प्रथा कितनी ही असुविधाजनक हो हम उसे छोड़ेंगे नहीं, सुधरेंगे भी नहीं, क्योंकि यही श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त हमारा धर्म है। हमने अपने उस लेख में जो पच्चीस-पचास अज्ञानी धर्म मान्यताओं के उदाहरण दिए हैं उनमें अरथी का भी एक उदाहरण दिया है। उसका उत्तर देने के लिए पंडितजी कहते हैं कि अथर्ववेद के समय भी, श्रुतिकाल में गाड़ी से प्रेत ले जाने की प्रथा थी इसलिए यह अरथी श्रुतिमान्य नहीं। यह उनका उत्तर उचित माना जाए तो भी यह उत्तर हमें न देते हुए कट्टर सनातनियों को देना चाहिए था, क्योंकि अरथी को या प्रस्तुत प्रेतयात्रा की अज्ञानी रूढ़ि को श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त कहकर हम उसका गौरव नहीं कर रहे हैं, वे कट्टर सनातनी इस प्रथा का गौरव करते हैं और हमने तो उलट उनकी वह टीका-टिप्पणी कितनी उपहासात्मक है यह दरशाने के लिए उनके 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' की रट उनके शब्दों में दोहराई है। दूसरी बात यह है कि पंडितजी ने वह मंत्र श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त माननेवाले हमारे इन कट्टर सनातनी बंधुओं को पढ़कर दिखाया, फिर भी वे उसकी टोका-टोकी करने के लिए नहीं चूकेंगे और कहेंगे कि आपका उत्तर बिलकुल उचित नहीं है, क्योंकि उस मंत्र में इतना ही कहा है कि अथर्व-काल में गाड़ी से भी प्रेत ले जाए जाते थे, अरथी पर नहीं ले जाते थे या नहीं लेकर जाना चाहिए ऐसा वह मंत्र नहीं बतलाता है। गाड़ी या अरथी ऐसा विकल्प है और इसलिए आज की रूढ़ि भी वैसा ही वैकल्पिक है। इसके आगे जाकर यदि आपने ऐसा वेद मंत्र ढूँढ़ लिया कि प्रेत अरथी पर लेकर जाना ही नहीं, तो भी यह सनातनी धर्म, पंडित सातवलेकरजी की बोलती बंद करने के लिए कहेगा कि उपलब्ध श्रुति में यदि स्पष्ट निषेध होगा तो भी लुप्त श्रुति में, 'अरथी पर ले जाओ' ऐसा विधि में ही लिखा है—होना ही चाहिए। और 'तुल्यबल विरोधे विकल्पः।' इसलिए विकल्प से आज की अरथी की प्रेतयात्रा श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है। वही सनातन धर्म है। धर्म या सनातन कहकर जिन रूढ़ियों का आज पालन हो रहा है उनका श्रुति के मंत्र भी विरोध नहीं कर सकेंगे। शास्त्राधारों के चर्वितचर्वण से यह प्रश्न कभी हल नहीं होने वाला, ऐसा जो हम कहते हैं वह इसी बात के लिए। उपलब्ध श्रुतियों में आधार नहीं होगा तो अनुपलब्ध श्रुतियों में होना ही चाहिए ऐसा वे मानकर ही चलते हैं। यह मत किन्हीं साधारण व्यक्तियों का नहीं होता है अपितु प्रत्यक्ष प्राचीन मीमांसाचार्य का। अब व्यक्ति जिस रूढ़ि को चाहे वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त, अतएव सनातन धर्म की है ऐसा निश्चित कर देगा इसलिए हम इस शास्त्राधार की चर्चा को व्यर्थ मानते हैं। और अरथी श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त हो, चाहे न हो तो भी उसकी चिंता न करते हुए

आज की प्रेतयात्रा की पद्धति असुविधाजनक है इसलिए उसे सुधारना चाहिए ऐसा हम मानते हैं।

केवल अरथी को ही नहीं अपितु पंडितजी बड़े गौरव से जिस अथर्व-काल की शवयात्रा का उल्लेख करते हैं उसे भी सुधारना चाहिए, क्योंकि उन श्रुतिमंत्रों में उल्लेखित बैलगाड़ी भी आज की मोटर कार के सामने टिकनेवाली नहीं। श्रुति में बैलगाड़ी से शव ले जाने की बात है फिर भी जिसे संभव हो उसे शव को मोटर से ले जाना चाहिए। श्रुति के पिछड़े काल में लकड़ियों की चिता ही सुविधाजनक होगी, पर अब बिजली से जलाई गई भट्ठी की अच्छी सुविधा निकली है। शव जलाने की यह नई पद्धति अद्यावत् है इसलिए सबको स्वीकारनी चाहिए।

परंतु मुंबई जैसे नगरों में विद्युत् भट्ठी में शव जलाने की जानकारी मिलते ही 'सनातन धर्म पर हमला! हमारी अरथी और चिता यही धर्म है।' इसलिए श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति ने इतनी गहरी चोट की है कि उसकी याद अभी ताजा है। बहुजन समाज की ओर से किस प्रकार 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' को समझ लिया जाता है उसका यह सबूत हमारे लेख के उन विधानों को मजबूती ही प्रदान करता है। वह उपयुक्त है क्या? यह प्रश्न नहीं, वह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त है क्या यह प्रश्न मुख्य है? यह जो हमारी परंपरागत अज्ञानी प्रवृत्ति है उसे छोड़कर जो उपयुक्त है उसे व्यवहार में लाने की अद्यावत् प्रवृत्ति हमें स्वीकारनी चाहिए। यह हमारे लेख का मुख्य विषय है और अरथी स्रोत है या नहीं, उससे हमारे विषय को कोई बाधा नहीं आती।

किंतु यह बकरा किसलिए?

अरथी के आधार में प्रस्तुत उनकी दलीलों की जो दुर्दशा हुई वही हमारे द्वारा यज्ञ संस्था के वैज्ञानिक युग की दृष्टि से की हुई छान-बीन के विरुद्ध जो आक्षेप उन्होंने किए थे उसकी भी हो गई। यज्ञ क्यों करना चाहिए? तो 'यज्ञात् भवति पर्जन्यः' यह पुरातन मान्यता अब अनावश्यक हो गई है यह हमारा कथन गलत साबित न कर सकने के कारण उसके संबंध में मौन धारण कर पंडितजी यज्ञ के समर्थन में दूसरे व्यापक लाभ की बात करते हुए कहते हैं कि 'यज्ञ में घी जलाने से रोग निवारण होता है।' साक्ष्य! पंडितजी पक्का निर्विवाद साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं, श्रुतियों में ऐसा कहा है—यज्ञ से रोग निवारण होता है यह सिद्ध करने, आज तक का अनुभव, वैद्यकीय या वैज्ञानिक प्रयोग इनका प्रत्यक्षनिष्ठ आधार मिलता है या नहीं, यह बिलकुल न देखते हुए 'इति श्रुतिः' यह सबूत उन्हें पर्याप्त लगता है। यही हमारे लोगों की शब्दनिष्ठ 'श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त' प्रवृत्ति! पंडितजी 'इति श्रुतिः' कहकर हमारे जिस लेख का विरोध करने निकले उसके ही एक

विधान को उसी वाक्य के साथ समर्थन दे चुके हैं। अस्तु! घी जलाने से वातावरण नीरोगी होता है यह यदि यज्ञ का मुख्य समर्थन है तो भी इस प्रकार की सरल बातों के लिए इस यज्ञीय कर्मकांड का यह भव्य और क्लिष्ट कर्म किसलिए चाहिए? इस यज्ञकुंड का आकार इतना चौड़ा होना चाहिए, उसके इतने कोण, दर्श इतना, समिधाओं की लंबाई अंगुलियों के बराबर, कब बैठकर घी डालना, कब खड़े होकर डालना। इस प्रकार यज्ञ के लिए लाखों रुपयों का व्यय करने के बाद भी उसकी विधि में अल्प गलती होने पर भी गोबर और गोमूत्र सेवन करना या उससे भी अधिक कठिन प्रायश्चित्त करना आदि यह सारे कष्ट क्या केवल आग में घी जलाने से वातावरण की शुद्धि होती है इतने छोटे और संदेहास्पद लाभ के लिए? उतना ही हेतु हो तो चूल्हे जलते ही हैं। उन्हीं में थोड़ा सा घी डालने से गृहशुद्धि हो जानी चाहिए और म्युनिसिपल झाड़ूवाले जब डांगर आदि चौक-चौक में जलाते हैं उसी में यदि पर्याप्त घी जला दिया जाए तो नगर की शुद्धि अपने आप होती रहेगी। घर-घर में धूप जलाने के लिए बरतन होता है वैसा ही एक बरतन घी जलाने के लिए रखना चाहिए। घी जलाने से यदि रोग हटते हैं तो वह सामर्थ्य घी जलाने की है, यज्ञ के भव्य कर्मकांड की नहीं।

परंतु वातावरण शुद्ध करने हेतु बरतन के बाद बरतन भर-भरकर यज्ञकुंड में घी डालते समय फिर ये बकरों के झुंड किसलिए यज्ञ की ओर ले जाए जा रहे हैं? बकरों की बलि देकर उनका खून बहाना, उनका शिर, मज्जा, हृदय, जिह्वा, वसा, नसा, मंत्रपूर्वक खींचकर जलती हुई आग में डालना और शेष पेट की खाई में डालना इसका क्या प्रयोजन है? इस मांस की बदबू से भी क्या वातावरण शुद्धि होकर राष्ट्र निरोगी होगा? और थोड़ा अप्रत्यक्षता से वैदिक और याज्ञिक ऐसा कहने से भी नहीं चूकते! क्योंकि यज्ञ का शेष मांस खानेवाले ऋत्विज लोग जिस प्रकार स्वर्ग को प्राप्त करते हैं उसी प्रकार मांस की पूर्ति हेतु यज्ञ के लिए काटकर हुतात्मा बनाए गए बकरों के झुंड भी स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। साधे देहरोग से ही नहीं तो भवरोग से भी मुक्त होते हैं ऐसा 'शास्त्र' प्रतिज्ञा करके बताते हैं। इसलिए चार्वाक भी जोरदार प्रश्न करते हैं कि 'पशुश्चे न्निहितः स्वर्गे ज्योतिष्टोमेग मिश्यति। स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हन्यते?'

जिस हिंदुस्थान में सहस्राधिक यज्ञों में और अग्निहोत्रों में प्रतिदिन मनों घी जलाया जाता रहा है और काफी कुछ आज भी जल रहा है, उस यज्ञीय आर्यभूमि में शीत, ज्वर, महामारी, प्लेग, माता आदि सभी बीमारियों का प्रत्यक्ष अध्ययन करने के लिए इसे दुनिया का प्रथम स्तर का संग्रहालय बना दिया गया है और यज्ञ में एक चम्मच भर भी घी गत हजारों वर्षों में भी न जलानेवाले उन यज्ञ द्वेष्टा अनार्य

यूरोप, अमेरिका आदि राष्ट्रों में आरोग्य और आयुर्मान वृद्धिगत हो रहा है। इससे क्या यह सिद्ध हो जाता है कि यज्ञ में घी जलाना आरोग्य का अति उत्कृष्ट, अपरिहार्य और दिव्य साधन है? बहिरोबा के सम्मुख बकरा मारने पर प्लेग हटता है, बाइयों को नचाने से देवी हटती है, फटाफट चावल के बली, मातंगी की पूजा करके उसे नचाते हुए शोभायात्रा निकालने से महामारी हटती है और इस जटिल यज्ञकांड की रामकहानी में घी चढ़ाने से राष्ट्र नीरोगी बनता है, मुक्त होता है यह कथन वैदिक होते हुए भी वैज्ञानिक दृष्टि से आज बिलकुल हास्यास्पद माना जाएगा। 'प्लवाहयेते अदृढा अज्ञ रूपा!' ऐसा ऋषि भी कहने ही लगे थे।

परंतु यज्ञ से वर्षा होती है, घी जलाने से रोग हटते हैं आदि कल्पनाएँ आज यद्यपि हास्यास्पद लगती हैं तब भी उनपर लोगों की निष्ठा थी, अत: वैदिक या प्राचीन काल को हँसने की आवश्यकता नहीं। उस समय के मानवी ज्ञान और अनुभव के मान से यज्ञ-श्राद्ध-वर्ण आदि साधनों से मोक्ष मिलता है, देवी-देवता अपनी प्रार्थनाएँ प्रत्यक्ष सुनते हैं आदि विचार उन्हें भाते थे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। हमारे प्राचीन पूर्वजों ने उस समय की दुनिया में अग्रस्थान प्राप्त किया था, इतना गौरव ही उनका महत्त्व दरशाने के लिए पर्याप्त है। इस यज्ञ संस्था ने भी उक्त काल में हमारे राष्ट्र की एकता और केंद्रीकरण के लिए जो प्रत्यक्ष सहायता दी उस संबंध में हमारे पूर्व के लेख में अपने कथनानुसार हम कृतज्ञता से उसे शतवार प्रणाम करते हैं। साथ ही अपने सनातन बंधुओं से प्रार्थना करते हैं कि वे आज भी उन संस्थाओं का वैज्ञानिक दृष्टि से समर्थन करने के बालिश प्रयास छोड़ दें। क्योंकि ऐसे प्रयासों से इस विज्ञान युग में उनका समर्थन नहीं होता, इसके विपरीत वे अकारण हँसी के पात्र होते हैं। वैदिक युग में घी जलाने से रोग हटते हैं यह विश्वास होना क्षम्य था। परंतु आज वही मनों घी और वे चावल के ढेर, वह मोहनभोग यज्ञ की आग में न जलाते हुए, भूख से पीड़ित अपने लाखों धर्मबंधुओं की पेट की आग में डालने से ही इस राष्ट्र के नीरोगी होने की थोड़ी-बहुत संभावना है।

श्रुति और श्रौतधर्म, उनके समय में जगत् में उनके अज्ञानी शत्रुओं से लड़ते समय दिग्विजय प्राप्त कर सके थे, अत: आज के विज्ञान युग में भी उसी प्रकार टिक सकेंगे ऐसी आशा करना व्यर्थ है। इंद्र दौड़ो, सोम दौड़ो, अग्नि देवता हमारे शत्रुओं को नष्ट करो, इस प्रकार की वैदिक प्रार्थनाओं से देव सहायता के लिए नहीं आते, वैज्ञानिक सूक्तों द्वारा ही उनसे दास के समान काम लिया जा सकता है। यह बात बहुतांश में अनुभवसिद्ध भी है। महाभारत का गांडीव धनुष खंडित हो गया। अब मशीनगन से लड़ना होता है। यह कहने से यदि स्वयं की अनावश्यक प्रशंसा करनेवाले हमारे शब्दनिष्ठ 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' प्रवृत्ति की हिम्मत यदि समाप्त

होती है, उसका तेजोभंग होता है तो उसमें राष्ट्र का हित ही है। अपने पर आक्रमण करनेवाली 'कल्पातसिंधु' सी कुरुशक्ति कितनी बलवान् है, उनके शस्त्र कितने जुझारू, यह स्पष्ट बताकर ही विराट् के अंत:पुर में झूठी प्रशंसा करनेवाले राजकुमार उत्तर के बालिश प्रताप मिटाने से, उसका तेजोभंग करने से ही उसका सही हित होने वाला था। उसे चने के पेड़ पर चढ़ानेवाले ही उसके वास्तविक शत्रु थे। तेजोभंग करने के लिए शल्य ने कर्ण को बार-बार फटकारा, परंतु कर्ण का प्रतिरथी, पार्थ उसे भी उसके सारथि ने वैसा ही फटकारा था। उन दोनों के हेतु में और परिणाम में जो अंतर है वही अंतर पाट्रियों की टीका में तथा जिन्होंने इस हिंदू राष्ट्र के लिए मृत्यु को भी रोकने में कम नहीं किया उनकी टीका का हेतु और परिणाम इसमें अंतर होना ही चाहिए। इस बात का विवेक भी जिनको नहीं उन्हें पंडित कैसे कहें?

उस पार्थसारथी के शब्दों में वे अद्यावत् प्रवृत्ति के समर्थक अपनी कूपमंडूकता की बेहोशी में प्रज्ञाहत हिंदू राष्ट्र को कहेंगे, ''कुतस्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्! अनार्यजुष्टम स्वर्ग्यम कीर्तिकरमर्जुन!'' छोड़ दो स्पर्शबंदी की, सिंधुबंदी की, रोटीबंदी की, पोथीजात जात-पाँत की पाँच हजार वर्ष पूर्व की अंधी भावनाएँ। तोड़ दो अपने कर्तृत्वता के चरणों में पड़ी हुई शब्दनिष्ठ श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति की बेड़ियाँ। और जो हथियार तुझपर आई हुई आज की विपत्ति का उच्छेद करने में समर्थ हो ऐसा हथियार चला। फिर वे शस्त्र तेरे शस्त्रागार में मिलें, चाहे नवीनों के शस्त्रागार से छीने जा सकें।

□

पुरातन या अद्यतन

'केसरी' दिनांक १९.१०.१९३४ के अंक में 'सावरकर और सातवलेकर' शीर्षक से एक लेख आया है। उसमें 'किर्लोस्कर' मासिक में मेरे लिखे हुए एक-दो लेखों की चर्चा है। उसमें ऐसा ही आशय होता कि मेरे द्वारा प्रतिपादित विचार गलत हैं, तो मैं उसको स्पष्ट करने का प्रयास नहीं करता। 'केसरी' के एक लेखक महोदय के विचार मुझसे भिन्न मत के हैं इतना ही मानकर मैं उसे हाथ से झटक देता। परंतु उस लेख में मेरा मत गलत है इतना ही आशय न होकर जिस मत को मैं गलत मानता हूँ वही मेरा मत है ऐसा विपरीत मत व्यक्त किया गया है। इसलिए मुझे स्पष्टीकरण देना आवश्यक लगता है।

'केसरी' में लेख के आरंभ में 'किर्लोस्कर' मासिक नए पंथ का प्रवर्तक है, 'पुरुषार्थ' मासिक पुराने और नए में से जो उत्तम है, लेना चाहिए—ऐसा प्रतिपादन करता है। इस प्रकार का उन मासिकों का जो परिचय पाठकों को करा दिया गया है वही पाठकों का मन पूर्वदूषित करनेवाला है। मानो 'नए पंथ' के लोग पुराने में से उत्तम भी नहीं लेना चाहिए या नए में से बुरा भी लेना चाहिए ऐसा कहते हैं। मैंने 'किर्लोस्कर' मासिक पत्रिका के बहुत से अंक पढ़े हैं। परंतु उसमें 'पुराने का उत्तम भी छोड़ो और नए की बुराई भी लो!' ऐसी घोषणा संपादकों ने की है ऐसा मेरे पढ़ने में कहीं नहीं आया। तथापि उस मासिक पत्रिका के सुविद्य संपादक अपनी नीति का उल्लेख आवश्यकतानुसार करने में समर्थ हैं, इस कारण मैं उस संबंध में अधिक जानकारी देना नहीं चाहता। परंतु इस प्रकार के नए पंथ की ओर से मैंने कलम उठाई है अर्थात् पुराने और नए में से उत्तम को स्वीकारना चाहिए इस मत का मैं विरोधी हूँ और इसलिए वैसा जिसका आदर्श है ऐसा 'पुरुषार्थ' मासिक पत्रिका मेरे विचारों को काट दे रही है। ऐसी जो विचारधारा 'केसरी' के उस लेख में व्यक्त होती है, वह मैं जो कुछ कहता हूँ उसे नकारनेवाली और यथार्थता का विपर्यास करनेवाली होने के कारण मैं अपनी सीमा तक उस

विचारधारा का प्रकट विरोध कर रहा हूँ।

मतभेद जो है वह पुराने या नए में से उत्तम को स्वीकारना चाहिए इस कथ्य से नहीं है, उलट हम भी वही कह रहे हैं। मतभेद जो है वह उत्तम, राष्ट्र के लिए आज उपयुक्त क्या है और उसे किस कसौटी से निश्चित करना है—शब्दनिष्ठ 'शास्त्राधार' से या विज्ञाननिष्ठ प्रत्यक्ष प्रयोग के द्वारा—इस मुद्दे पर है। 'किर्लोस्कर' में प्रकाशित हमारे दो विवादास्पद लेखों में निम्नांकित वाक्य हमारी स्पष्ट भूमिका क्या थी, वे दरशाएँगे। (हिंदी अनुवाद)—"ये प्राचीन श्रुतिस्मृतिपुराणादि शास्त्र ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में संग्रहालय में ससम्मान रखकर अब विज्ञान युग के पृष्ठ खोलने चाहिए। इन ग्रंथों का कल क्या हुआ था यह कहने का ही अधिकार है, आज क्या उचित है यह कहने का अधिकार प्रत्यक्षनिष्ठ अद्यतन विज्ञान का है। इस अद्यावतता में पिछले समस्त अनुभवों का सार समाविष्ट हुआ है। श्रुतिस्मृतिपुराणादि सभी ग्रंथों का हम अत्यंत आदर से सम्मान करते हैं, पर केवल ऐतिहासिक ग्रंथ के रूप में। अनुल्लंघ्य ग्रंथ के रूप में नहीं। उनका सारा ज्ञान और अज्ञान आज की कसौटी पर हम रखेंगे और तदनंतर राष्ट्रधारणा की दृष्टि से, उद्धार की दृष्टि से जो आवश्यक लगेगा उसका निर्भयता से उपयोग करेंगे। इसका अर्थ यह है कि हम अद्यावत् बनेंगे, अप-टु-डेट बनेंगे। कल तक के समस्त ज्ञान की कसौटी लेकर और कल के क्षितिज के दिख सकेंगे उतने रूप-रंग देखकर फिर आज जो राष्ट्रहित के लिए उपयुक्त होगा, उसके लिए पुराने ग्रंथों में शास्त्रार्थ न मिलता हो तो भी, निर्भयता से व्यवहार में लाना चाहिए। प्रयोग करने के बाद यदि जो आज सत्य या उपयुक्त है वह किसी पुराने ग्रंथ में शास्त्राधार नहीं इस कारण त्याज्य नहीं होना चाहिए—ऐसी शर्त जो रखता है ऐसा शास्त्राधार हमें नहीं चाहिए। परंतु इसका अर्थ शास्त्र देखना ही नहीं ऐसा निकालना केवल गलत आरोप है।

अद्यतन प्रवृत्ति

उपर्युक्त 'उद्धरण' से यह स्पष्ट होगा कि कल तक के प्राचीन में से प्रयोग करने के बाद जो आज भी उत्तम है और विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है, वह ज्ञान तो हम छोड़ने के लिए नहीं कहते; परंतु उस पुराने में से जो-जो आज के विज्ञान की कसौटी पर अज्ञान ठहरता है वह भी समाजशास्त्र और मनोविज्ञान की दृष्टि से हमें त्याज्य नहीं लगता। पुरातन सभी अच्छे-बुरे अनुभवों से, आज के विज्ञान की कसौटी पर जो राष्ट्रधारा को उपयुक्त है उसी को बेधड़क व्यवहार में लाना चाहिए। कल की बदली हुई स्थिति में और विज्ञान के विकास में यदि वह भी

अहितकारक होगा तो हमारा आज का व्यवहार बदलने के लिए 'कल' को भी बंधन होना नहीं चाहिए। इस प्रकार के विज्ञाननिष्ठ विचारों को ही हम अद्यावत् कहते हैं और अद्यतन प्रवृत्ति भी यही है।

सनातनी प्रवृत्ति

इसके विपरीत जो शब्दनिष्ठ, वेद-कुरान-बाइबिल को अपौरुषेय मानती है, उसका ही व्यवहार करना चाहिए फिर वह उपयुक्त हो या न हो—ऐसा कहनेवाली, वचनात्प्रवृत्ति र्वचनात् निवृत्ति ऐसा जिनका आदर्श हो वह सनातन प्रवृत्ति। सनातनी लोग उसके संबंध में स्वयं ही कहते हैं कि 'श्रुति अपौरुषेय होती है।' वेद 'सर्वज्ञानमयो हिसः' होने से त्रिकालाबाधित हैं। उस श्रुति में जो है वही स्मृति-पुराण में है, उनमें परस्पर विरोध बिलकुल नहीं है। आज धर्माचार रूप में पालन की जानेवाली रूढ़ि को, यदि आज की उपलब्ध श्रुतियों में आधार न मिलता हो तो जो श्रुतियाँ अनुपलब्ध हैं उनमें वह होना ही चाहिए। इसी रचना को आज श्रुतिस्मृतिपुराणोक्तता जिस अर्थ में कहते हैं उस अर्थ में वह तर्क आमूलाग्र असत्य और अहितकारक है ऐसा हमें लगता है, उस अर्थ में और उसके लिए हम यह श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति, हिंदूराष्ट्र की बुद्धि के चरणों में बँधी हुई बेड़िया हैं ऐसा मानते हैं और हम शीघ्र ही उन बेड़ियों को काटने का प्रयास करते हैं।

१. परंतु इसका दोष हम श्रुति-स्मृति पर नहीं लादते। हजारों वर्ष पूर्व की, उनके काल के ज्ञानानुसार, उनकी परिस्थिति में उत्पन्न राष्ट्रीय कठिनाइयों से उबरने के लिए उन्होंने यथासंभव जो आवश्यक लगा वैसा हल किया। दोष तो उनके समय में उपयुक्त व्यवहार को त्रिकालाबाधित माननेवाली आज की शब्दनिष्ठ, पुरातनी, श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति का है। गोवध पोथी में निषिद्ध है, इसके लिए मुसलमानों ने गायों के झुंड सेना के सामने रखकर हिंदुस्थान पर आक्रमण किया। ऐसे समय में गायें मरेंगी इस भय से मुसलमानों से लड़ने की बात जिस प्रवृत्ति ने टाली, दोष उसका है। जन्मजात युगों-युगों से जो लोग हिंदू थे उन्हें धर्मांतरित करने का जोरदार प्रयास मुसलमान और पुर्तगालियों ने किया और घर या कुएँ में डबलरोटी का टुकड़ा गिर गया तो उसको खानेवाले सभी व्यक्ति अहिंदू हो गए—यह जो प्रवृत्ति बताती है उसका दोष है। इतना ही नहीं अपितु आज भी उन्हें पुनः शुद्ध कर हिंदू धर्म में लेना हो तो कितने वर्ष पूर्व के पाँच वर्ष या साढ़े सात वर्ष के लोगों को शुद्ध कर लेना चाहिए इसके लिए भी शास्त्राधार ढूँढ़ने के लिए कितने ही शतकों का समय बिता रहे हैं। जागतिक

व्यापार और आक्रमण से प्रबल राष्ट्र भी प्रबलतर हो रहे हैं ऐसे समय परदेश गमन या समुद्र गमन करना चाहिए या नहीं—इसका शास्त्रार्थ ढूँढ़ने में आज डेढ़ हजार वर्ष से जो प्रवृत्ति पंचगव्य के हौज में डूबी हुई है ऐसी प्रवृत्ति का दोष है। इसी प्रवृत्ति के लोग परधर्म के हरि द्वेष्टा म्लेच्छों को स्पृश्य, परंतु स्वधर्मी हरिभक्त हिंदू महार को अस्पृश्य बताते हुए निर्लज्ज निर्णय देते हैं। इस प्रकार की उपर्युक्त सनातनी प्रवृत्ति के कारण ही हमारे राष्ट्र-शत्रुओं का हमारे बड़े-बड़े विश्व साम्राज्य मिटाना दस गुना सहज हो चुका है। हमें राष्ट्रीय स्वतंत्रता का संरक्षण करना भी कठिन हो रहा है। नए राज्य संपादन करने में तो इसका अड़ियल विरोध बाधा बन ही रहा है। ऐसा हमारा निश्चित मत इतिहास से और अनुभव से हुआ है। इस कारण से सनातनी शास्त्र की निरर्थक बातों और इस वचनात् प्रवृत्तिर्वचनान्निवृत्ति से हमें अत्यंत घृणा हुई है; परंतु श्रुति-स्मृति आदि परमवंदनीय शास्त्रों से नहीं।

२. अरथी की पद्धति वेदकाल में थी हमने ऐसा मत प्रतिपादित नहीं किया है या सातवलेकरजी द्वारा लिखे गए मंत्रों से भी सिद्ध नहीं हो रहा है। फिर भी 'केसरी' के लेख में ऐसा लिखा है कि श्रुति में गाड़ी से शव ले जाने की बात है ऐसा सातवलेकरजी ने साधार दिखा दिया है। इसी प्रकार के अन्य विधान भी स्थालीपुलक न्याय से सावरकरजी के साहित्य में असत्य है। स्थालीपुलक न्याय का यह उदाहरण अजब है। गिबन के इतिहास का एक विधान गलत हो गया तो स्थालीपुलक न्याय से उनका सारा इतिहास भी गलत हो जाएगा? मान लीजिए 'केसरी' में कोई मुद्रिताक्षर उलटा छप गया तो क्या स्थालीपुलक न्याय से संपूर्ण 'केसरी' उलटे अक्षरों में छपा है यह सिद्ध होगा। पंडितजी के सीधे-साधे लेख में ऐसे ढीले-ढाले वाक्य आ गए तो कोई बात नहीं, परंतु केसरी के हिसाबी लेख में ऐसे वाक्य किस प्रकार घुस गए यह बात समझ में नहीं आती। ऐसे स्थान पर स्थाली का न्याय नहीं लगता, रोटी का लगता है। एक रोटी कच्ची हो तो सभी रोटियाँ कच्ची हैं यह समझना उचित है क्या? हमारे लेख का मुख्य विषय प्रगत राष्ट्र के लिए शब्दनिष्ठ पुरातनी प्रवृत्ति हितकर है अथवा अद्यतन विज्ञाननिष्ठ है। फिर अरथी वेदोक्त सिद्ध हुई या नहीं यह निरर्थक बात बाधक नहीं।

३. किसी व्यक्ति का आदर रखने हेतु उसके असत्य विधानों को भी सत्य मानना चाहिए ऐसी प्रार्थना पंडितजी से किसने की थी? मैं वैसा कभी नहीं

करूँगा ऐसा जानकर वीरवृत्ति का आत्म प्रसाद भोगने के लिए स्वयं की समस्याओं से स्वयं जूझ रहे हैं। जो सत्य किसी एक अ, ब, स के मानने पर अस्तित्व में रहता है उसे हम तुच्छ मानते हैं।

४. अब शेष है 'केसरी' के लेख का तेजोभंग का आक्षेप। उसके संबंध में तथा विषय के समारोप के लिए हमें जो कहना है वह मूल लेख के उपसंहार में इस प्रकार लिखा है—

अनुवाद : श्रुति और श्रौत उस काल के अंत में अपने शत्रुओं से लड़ते समय दिग्विजय प्राप्त कर सके इसलिए विज्ञान युग में भी वे टिक जाएँगे, यह आशा व्यर्थ है। इंद्र दौड़ो, चंद्रमा, अग्नि! हमारे शत्रुओं को मारो—इस प्रकार की वैदिक प्रार्थनाओं से देव सहायता नहीं करते, परंतु वैज्ञानिक सूक्तों से उनसे काम लिया जा सकता है यह बहुतांश में अनुभव-सिद्ध हुआ है। महाभारत का गांडीव धनुष खंडित हुआ है। मशीनगन से भिड़ना है। इसका प्रतिपादन करने से यदि स्वयं की प्रशंसा करनेवाली, व्यर्थ बकवास करनेवाली, हमारी 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' प्रवृत्ति का साहस समाप्त हुआ तो हमारे राष्ट्र का निश्चित हित ही है। जैसे अपने राज्य पर आक्रमण करनेवाले वे कल्पांत-सिंधु समान कुरुसेना कितनी बलवान् है, उनके शस्त्र-अस्त्र भी बड़े जुझारू हैं आदि स्पष्टता से बताकर विराट् राजा के अंतःपुर में प्रशंसा करनेवाले युवराज उत्तर के बालिश प्रलाप काटकर और उसका तेजोभंग करने में ही, उनका सही हित साध्य होनेवाला था, ऐसे समय में उन्हें चने के पेड़ पर बैठानेवाले (अनावश्यक प्रशंसा करनेवाले) उनके सही शत्रु थे। एक उदाहरण यह भी दिया जा सकता है कि महाभारत के समय तेजोभंग करने के लिए शल्य को कर्ण ने बार-बार फटकारा था और कर्ण के प्रतिस्पर्धी अर्जुन को उसके सारथि कृष्ण ने भी इसी प्रकार फटकारा था। उन दोनों के उद्देश्य और परिणाम में जो अंतर पादरी लोगों की टीका में और जिन्होंने हिंदू राष्ट्र के हितार्थ मृत्यु को भी टोकने के लिए नहीं छोड़ा, उनके उद्देश्य और परिणाम में अंतर होना ही चाहिए। यह विवेक जिसे नहीं रहता उसे पंडित कैसे कहेंगे?

६. उस पार्थसारथी के शब्दों में ही वे अद्यावत् प्रवृत्ति के समर्थक इस कूपमंडूकता की बेहोशी में हतप्रभ हुए हिंदू राष्ट्र को बताएँगे कि 'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम कीर्तिकरमर्जुन!' छोड़ दो स्पर्शबंदी की व्यर्थ भावनाएँ जो पोथीजात जाति-पाँति की पाँच हजार

वर्ष पुरानी हैं। तोड़ दो अपने कर्तव्य के पैरों में पड़ी हुई शब्दनिष्ठ श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त प्रवृत्ति की बेड़ियाँ। और जो हथियार तुमपर आई हुई आपत्ति के उच्छेद हेतु आज समर्थ है—चला दो वह हथियार। फिर वह तुम्हारे पुराने शास्त्रागार में मिले या इन नए अद्यावत् प्रवृत्ति के शस्त्रागार से छीना जाए।

□

यंत्र

अपना देश आज जिस युग में प्रवेश कर रहा है, वह युग यूरोप में दो सौ वर्ष पूर्व ही शुरू हो गया था। अर्थात् हम यूरोप से दो सौ वंर्ष पीछे रह गए हैं। इस युग का अर्थशास्त्रीय नाम है यंत्रयुग। यूरोप में यह यंत्रयुग दो सौ वर्ष पूर्व जब वाष्प शक्ति आदि खोजों के कारण आया तब इस यंत्र प्रभाव के धक्के ने उधर भी उस समय के रूढ़ विचारों को और आचारों को झकझोर दिया था। मनुष्यजाति पर यह यंत्रयुग का भयंकर संकट आया है। इसलिए मानव मानवता से वंचित हुए बिना नहीं रहेगा। धर्म का नाश होगा। मनुष्य का जीवन यंत्र के समान हृदयशून्य, कृत्रिम और कलाहीन होकर उसका शरीर भी दुर्बल तथा परतंत्र होगा। इतना ही नहीं अपितु जिस आर्थिक संपन्नता की और सुख-सुविधा की लालसा से मनुष्य यंत्र के पीछे लगा है, वह आर्थिक लालसा भी यंत्र के पहियों में फँसकर नष्ट होगी। इस यंत्र के कारण मानव पेट भर न खाता-पीता तो भीख माँगने लगेगा। इस प्रकार का शोर उस समय की पुराणप्रिय स्थिति में और धर्म-भोले लोगों ने समस्त यूरोप में शुरू की थी। Back to nature यह उनका सूत्र था। 'यंत्र के कारण बेकारी बढ़ती है और मनुष्य भीख माँगने लगता है' ऐसा वयस्क अर्थशास्त्री कहने लगे। 'यंत्र शैतान की युक्ति है। भगवान् की महानता को नीचा दिखानेवाली रावणी इच्छा।' धर्मशास्त्री चिल्लाने लगे।

न्यूनाधिक दो सौ वर्ष पूर्व जब यंत्र शक्ति का जोरदार आगमन यूरोप में हुआ तब उसका सर्वत्र विरोध हुआ। उसकी पुनरावृत्ति आज हमारे देश में हो रही है। दो सौ साल बाद हम उस प्रगति के बिंदु पर आ पहुँचे हैं। 'यंत्र मानव को मिला वरदान नहीं शाप है' ऐसी चिल्ल-पों करने में कितना तथ्य या अतथ्य है यह विवेचन करने के कार्य में हमारे द्वारा उपयोग में लानेवाले तर्क और देनेवाले प्रमाण यूरोप की जनता के लिए एकदम बासी और खराब लगेंगे, क्योंकि वे आक्षेप-प्रत्याक्षेप, वाद-विवाद उनके यहाँ समाप्त हुए सौ-डेढ़ सौ वर्ष बीत चुके हैं। परंतु यूरोप की ओर

आज बिलकुल बासी, अज्ञानी, पागलपन माने जानेवाले उन्हीं आक्षेपों को हमारे यहाँ एकदम नया आक्षेप समझकर अनेक अज्ञानी संप्रदाय प्रचार कर रहे हैं इस कारण यंत्र शक्ति पर के वे आक्षेप काटकर यंत्रनिष्ठ प्रगति को पूर्व में दिए गए उन उत्तरों की पुनरुक्ति करना आवश्यक हो जाता है।

देवभीरुपन जितना घटे, यंत्रशीलता उतनी बढ़े

अपने समाज में यंत्रशीलता की कमी का प्रमुख कारण देवभीरुता की अधिकता है। दो सौ वर्ष पूर्व यूरोप भी क्रिश्चियन धर्मानुसार देवभीरु था। तब वहाँ भी यंत्रशीलता नहीं थी। लिस्बन का बड़ा भूकंप अठारहवें शतक में आया। तब उसका कारण, रोमन कैथॉलिक धर्म मत के विरुद्ध प्रोटेस्टेंट लोगों द्वारा चलाया हुआ व्यर्थ का वाद था। ऐसा यूरोप के बड़े-बड़े धर्मगुरुओं ने और सामान्य जनता ने भी माना। प्रोटेस्टेंट लोगों में भिक्षुणियों की शादियाँ भी हुईं, पादरी लोग भी शादी करने लगे। पोप का शब्द अस्खलनीय (infallible) और शिरसावंद्य नहीं मानते, इस पाप के कारण भूकंप हुआ था ऐसा निर्णय करके धर्मभीरु लोगों ने उसका उपाय ढूँढ़ा कि प्रोटेस्टेंटों को ही नष्ट कर देना चाहिए। ऐसी भोली वृत्ति को भूकंप के सही भौतिक कारण खोजने की बुद्धि होना ही कठिन, फिर भूकंप के नियम समझकर उसके झटके कब और कहाँ बैठेंगे इसकी आगामी सूचना देनेवाले भूकंपसूचक यंत्र को बनाने का कार्य जन्म-जन्मांतरण में ध्यान में आना संभव नहीं। यूरोप में इस प्रकार की दैववादी वृत्ति को गिरानेवाली विज्ञानवृत्ति जब उत्पन्न हुई तभी उस विज्ञान के नियमों पर अधिष्ठित यंत्रशीलता यूरोप में उन्नति कर सकी। परंतु हिंदुस्थान में आज भी राष्ट्र का 'सर्वाधिकारी' के रूप में प्रसिद्ध गांधी सरीखे अनेक नेता भी बिहार के भूकंप का कारण अस्पृश्यता का 'पाप' है यह 'आत्मा की दैवी आवाज' की शपथ लेकर बता रहे हैं। फिर क्वेटा के भूकंप का कारण मनुष्यजाति का कौन सा पाप होना चाहिए इसके संबंध में 'आत्मा की आवाज' की मान्यता लेने की कोशिश कर रहे हैं। उधर शंकराचार्यादि धर्म के सर्वाधिकारी, वे भूकंप अस्पृश्यतानिर्मूलन के पाप के कारण होते हैं ऐसा शास्त्रों की शपथ लेकर बता रहे हैं। जिस राष्ट्र के सर्वाधिकारी इतने भोले-भाले हों उस राष्ट्र की सामान्य जनता की भोली प्रवृत्ति का क्या वर्णन करें? यूरोप में आज १९३६वाँ सन् चल रहा है तो हमारे देश की प्रगति का सन् १७३६ चल रहा है।

देवभीरुपन यानी प्रत्येक घटना का कारण देव की इच्छा, क्रोध या लोभ और उन घटनाओं में से संकट की घटनाओं को टालने का उपाय यानी भगवान् को प्रसन्न करना। अर्थात् उनका यंत्र यानी प्रार्थना, पूजा, सत्यनारायण, जप-जाप्य, छा-

छू आदि। वर्षा नहीं हो रही? 'ऋग्वेद' का मंडूकसूत्र पढ़कर मेढक देवता की आराधना करना। नौका डूब रही है? वरुणसूक्त बोलकर समुद्र को नारियल अर्पित करो। प्लेग हो गया? बहिरोबा के लिए बकरा काटो? नहीं तो 'ईद को' गाय की कुरबानी करो, खुदा भले करेगा।

किंतु यंत्रशीलता इस सृष्टि के भौतिक व्यापार का निश्चित सृष्टि नियम का फल है और यदि हम उन नियमों के अनुसार उन घटकों को इकट्ठा कर सके तो वह कार्य फलित होना ही चाहिए। इस निष्ठा पर ही यंत्रशीलता का अधिष्ठान होगा। अमुक अंश तक पानी की गरमी बढ़ाई तो उसकी भाप होनी ही चाहिए, फिर उस समय वह यांत्रिक नमाज पढ़ने को भूल गया इस कारण उसका अल्लाह क्रोधित हुआ हो अथवा संध्या करना टालने के कारण देव गुस्से में हो, पानी की निश्चित मात्रा को निश्चित उष्णता का स्पर्श होते ही निश्चित पानी की भाप होनी ही चाहिए। चाहे भगवान् ने किए कहिए परंतु जो सृष्टि नियम एक बार बना दिए उसे प्रत्यक्ष भगवान् भी बदल नहीं सकता। आम के चार पिटारे भेंटस्वरूप भेजने पर अपनी ओर से निर्णय देनेवाले सामान्य कलेक्टर को हम अन्यायी और रिश्वतखोर कहते हैं, परंतु चार बकरों की बलि न देने पर समस्त गाँव को उसमें रहनेवाले बच्चों सहित प्लेग से मारने की भयंकर रिश्वतखोरी भगवान् पर आरोपित करना जो नहीं छोड़ता वह धर्मभीरुता, देव के देवत्व को कालिमा लगानेवाली है। निश्चित सृष्टि नियम भगवान् कभी नहीं बदलता। यह यथार्थनिष्ठा जितनी सही, उतनी ही धर्म्य है। ऐसी विज्ञानजन्य निश्चित सही यंत्रशीलता की जननी है। इसके कारण ही लोगों में देवभीरुता जिस मात्रा में घटेगी उस मात्रा में विज्ञाननिष्ठ यंत्रशीलता उनमें बढ़ेगी।

नाना फड़नवीस की एक कहानी

उपर्युक्त उल्लिखित तत्त्व के उदाहरणस्वरूप पेशवाई की एक छोटी बात कहने योग्य है। जिसके अतुल बुद्धि-बल से हिंदू पदपादशाही के सूत्र जिसके हाथों थे तब तक तो 'जलचर हैदर निजाम इंग्रज रण करितां थकले। ज्यांनी पुण्याकडे विलोकिले से संपत्तीला मुकले' (अर्थात् जलचर, हैदर, निजाम, अंग्रेज जिन्होंने भी पूना की ओर वक्र दृष्टि डाली, वे सब लड़ते-लड़ते थक गए तथा अपनी संपत्ति से भी हाथ धो बैठे।) इस प्रकार अपना दबदबा मराठों ने समस्त अहिंदुओं पर बैठाया था। उस नाना फड़नवीस की एक कहानी ऐतहासिक दस्तावेजों में मिली है, वह इस प्रकार है—नाना ने एक बार काशी में कुछ पुण्य कर्म करने हेतु कर्मनाशिनी नाम की नदी पर एक पुल बनाने का काम शुरू किया। परंतु प्रारंभ में रेत और पानी के कारण

नींव टिक नहीं पा रही थी। जिनके ऊपर इस बाँध की जिम्मेदारी सौंपी थी उन्होंने, काशी के हस्तकों ने, गंगा माई को प्रसन्न करने हेतु व पुल बनाने के लिए और उसकी अनुमति प्राप्त करने के लिए उस रुष्ट गंगा माई को तैयार करने का उनका जो परंपरागत उपाय था वह किया। ब्राह्मणों के द्वारा दिनांक ६.९.१७९५ के दिन से अनुष्ठान आरंभ किया। हवन में आहुतियाँ देकर अंत में ब्राह्मण थक गए, परंतु पुल का आधार स्थिर नहीं हो रहा था। बेचारे ब्राह्मण तो भयभीत हुए, परंतु आधार के नीचे पानी कम नहीं हो रहा था। जब यह समाचार पूना में नाना को ज्ञात हुआ तब उन्होंने इस अनुष्ठान को बंद करवाया और एक अंग्रेज इंजीनियर बेकर को वहाँ भेजा। उसने आधुनिक उपकरण कलकत्ता से मँगाए और देखते-देखते उस यंत्र की सहायता से पानी और रेत को हटाकर पक्का पुल बना दिया। जलदेवता की नाड़ी उचित स्थान पर दबाते ही वह होश में आया। धर्मभीरुता के अनुष्ठान से भौतिक सृष्टि नियमों में कुछ भी अंतर नहीं आता है। परंतु उन नियमों की खास युक्ति जानते ही उनसे चाहे वैसा काम कराया जा सकता है। परंतु भगवान् की इच्छा का वैज्ञानिक यंत्रशास्त्र में कोई स्थान नहीं होता।

उपर्युक्त छोटी बात में देवभीरुता जैसे-जैसे कम होती जाएगी वैसे-वैसे यंत्रशीलता बढ़ती जाएगी, यह बात स्पष्ट हो जाती है। उस पुराने समय में नाना को यह यंत्र की बात ध्यान में आई यह उनके एक अकेले तेज बुद्धि होने का प्रतीक है। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि पानी खींचने के पीपे जैसी सधी हुई वस्तु भी मराठी साम्राज्य में उपलब्ध न होते हुए उसे वह कलकत्ता के एक अंग्रेज के पास से मँगानी पड़ी और अंग्रेज की मदद से उस यंत्र को चलाना पड़ा। यह बात अपने राष्ट्र के उस समय की सामूहिक अज्ञानता और भोली वृत्ति का प्रमाण नहीं है क्या?

वास्तविक रूप से देखें तो यंत्रशास्त्र का यह मूल सिद्धांत है कि उसके सूत्र में ईश्वर की इच्छा का, धर्मशास्त्रीय पाप-पुण्य का या ज्योतिष के शकुन का कोई महत्त्व नहीं है। इतना ऑक्सीजन, इतना हाइड्रोजन, इतना प्राणवायु, इतना उदजन मिलाया कि बन गया पानी। फिर वह संयोग शुभ मुहूर्त पर हुआ हो या न हुआ हो, बकरा न मिलने पर बहिरोबा या ईद को गाय के कारण खुदा, उस समय क्रोध में हो चाहे न हो, वह रसायन सूअर को खानेवाला ख्रिस्त बनाए या मुसलमान, सिद्ध होगा ही। यंत्रशास्त्र का सिद्धांत ही इस प्रकार के देवभोले धर्मशास्त्र के सीधे विरोध में है। परंतु आश्चर्य यह है कि हमें जो कुछ पुराने यंत्रों की जानकारी है, जो कुछ पुराना यंत्रशास्त्र है उसे ही हम देवभोले लोगों ने धर्मशास्त्र की गोद में दत्तक देना नहीं छोड़ा।

यंत्रशास्त्र की अजस्र और मजबूत फौलादी प्रतिमा धर्मशास्त्र के कच्चे

आधार पर खड़ी करने का हमारा प्रयास कितना हास्यास्पद है! मकान की छत यदि मजबूत बनाई तो फिर वह शकुन देखकर बनाई हो या न हो, उसकी पूजा की हो या नहीं, वह छत की शिल्पशास्त्रीय मजबूती से अधिक या कम होना संभव नहीं। परंतु छत बनाते समय उसकी समंत्रक पूजा किए बिना वह घर मजबूत बना ऐसा हमारे मन को नहीं लगेगा। फिर कई माह तक हम उस घर में रहने के लिए नहीं जाएँगे। क्योंकि उस घर की वास्तुशांति नहीं हुई। हमारा मन इस डर के मारे चिंतित रहेगा। परंतु हमारे ध्यान में यह बात नहीं आएगी कि मुहूर्त न देखते हुए, वास्तुशांति न करते हुए हिंदुस्थान में बने अंग्रेजों के महल, राज्य कार्यालय, प्रवासी बँगले, ग्राम की चौकियाँ भी हमारे निर्माण से कम मजबूत हैं क्या? परंतु शुभ मुहूर्त देखकर बनाए गए और वास्तुशांति का शास्त्रोक्त विधि किए हुए हमारे वाडे, शनिवारवाडा भी भूमिसात् हो गए हैं, जबकि बिनाशकुन, बिना वास्तुशांति के बनाए गए अंग्रेजों के 'गवर्नर हाऊस' आज भी सही-सलामत हैं। उनका एक अंश भी नहीं गिरा है। हिंदू पदपादशाही के श्रीमंत प्रधानमंत्री के या महाराजाओं के वाड़े सुरक्षित रखने के लिए याचना करने हेतु उन्हीं अंग्रेजों के बनाए वस्तुओं के सामने खड़े होकर प्रार्थना करनी पड़ती है कि उन महलों को समाप्त होने से बचाइए और कम-से-कम उनपर स्मृति-पट लगाइए।

हमने सिंहगढ़, सिंधुगढ़, रायगढ़ ऐसे सैकड़ों विशाल दुर्ग और मुसलमानों ने उनके दीवानेआम और दीवानेखास हिंदू तथा मुसलिम शास्त्रोनुसार बनवाए। उनकी दीवारों पर वेदों के सूक्त तथा कुरान की आयतें लिखवाईं और धर्मशास्त्र की दृष्टि से उन्हें मजबूत बनाया; परंतु आज उनकी स्थिति क्या है? वे नष्ट हो चुके हैं। परंतु शकुन, रमल, वेद, कुरान, भगवान् किसी को न माननेवाले नास्तिक रूप के विशाल दुर्ग, विमान आदि आकाश में भी उड़ रहे हैं। चट्टानों पर बनाए गए हमारे विशाल गढ़ की अपेक्षा उनके हवा पर बनाए गए ये विशाल गढ़ आज अधिक मजबूत हैं।

इससे ज्ञात होता है कि इस जगत् की भौतिक संपत्ति और सामर्थ्य यदि भौतिक सृष्टि विज्ञान के अटल आधार पर खड़े हों तो टिकते हैं। धर्मशास्त्रीय देवभोलेपन का आँकी और मंदिर का विज्ञान एक ठोकर के साथ नष्ट हुए बिना नहीं रहता यह स्पष्ट नहीं हो रहा है क्या?

और विज्ञान की व्यष्टि यानी यंत्र

रेलगाड़ी का इंजन यानी क्या? इस प्रकरण में यह कहा जा सकता है कि जो वाष्पगति-स्थिति-विज्ञान के निश्चित सृष्टि नियम वैचारिक क्षेत्र में थे उनकी

वह घनत्व प्राप्त मूर्ति ही व्यवहार में अवतरित हुई है। जब तक उन निश्चित नियमानुसार वह यंत्र बनाया गया और चलाया गया है तब तक हमारी इच्छा के बाहर उस यंत्र की स्वतंत्र इच्छा ही नहीं है। भगवान् ने यदि मनुष्य की रचना की है तो इस अर्थ में मनुष्य को यंत्र का देव कहने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परंतु हमारे देवभोलेपन की मूर्खता का अतिरेक इस स्तर को पहुँचा है कि जिसका मनुष्य सही उपर्युक्त देव है उस यंत्र को भी हम अपना ही एक देव मानने लगे। आज भी हमारे लाखों लोगों में यंत्रों की तथा औजारों की पूजा हो रही है।

जितने यंत्र उतनी देवियाँ, जितने औजार उतने देव

बढ़ई रंधे की, मिस्तरी कन्नी की, सैनिक अपने भाले-बरछे की, ग्वाल बालाएँ मथनी की, गृहिणी अपने ओखली-मूसल की घर-घर पूजा करती है। जचकी के कमरे में सटवाई की पूजा के साथ नाल काटने की कैंची की भी पूजा की जाती है। मानो उस कैंची की भी अपनी कोई इच्छा होती है। क्रोध-लोभ मानापमान वह समझती है। यदि उसे (कैंची को) संतुष्ट न करेंगे तो वह बालक की नाल न काटते हुए कहीं उसका गला ही न काट दे। आजकल सटवाई से एक नया करार हो गया ऐसा लगता है। वह यह कि घर में प्रसूति हुई तो सटवाई का राज्य। वहाँ प्रसूति हुई तो कैंची की पूजा आदि पुरानी मानस पूजाएँ करनी पड़ती हैं किंतु सार्वजनिक प्रसूतिगृह में प्रसूति होने पर वहाँ उन सब बातों की सटवाई छूट देगी। प्रसूतिगृह की कैंची की पूजा न भी हुई तो भी वह हूँ या चूँ नहीं करेगी। प्रसूतिगृह में चमकनेवाली छुरी, चाकू आदि शस्त्र देखते ही सटवाई लगता है, डर जाती है। समस्त मान-अपमान, प्रतिष्ठा ठुकरानेवाले प्रसूतिगृह से प्रसूता की ओर देखने भी वह डरती है। वहाँ का जच्चा और उसकी माँ से सटवाई का कोई संबंध नहीं। न रिश्तेदारी, न कैंची की पूजा, न शांतिपाठ। फिर भी अस्पताल में दोनों माँ-बेटे को सताने की सटवाई की हिम्मत नहीं? उसकी स्मृति भी डॉक्टरी प्रसूतिगृह की देहरी पार कर अंदर नहीं आती।

यूरोप के अजय पद यंत्रबल के कारण

जब तक यूरोप हमारे जैसा भाविक था तब तक, आज जैसे हम दुर्बल हैं वैसा ही वह भी था। दो सौ वर्षों के आगे-पीछे उसकी भाविकता हटती गई और उसका बल, संपत्ति, साम्राज्य समृद्ध हुआ। परंतु हिंदुस्थान ही नहीं अपितु समस्त एशिया खंड उसी भोलेपन की बेहोशी में डूब गया था इसलिए विज्ञान मार्ग इसे

मिला ही नहीं। यूरोपवासी सृष्टि-शक्तियों को अपनी प्रगति के रथ में घोड़े के समान जोतकर दिग्विजय कर रहे थे, एशिया उन सृष्टि-शक्तियों को पूजता ही रहा। इसलिए एशिया में यंत्रशीलता आई ही नहीं। देखें, गत एक हजार वर्ष में हिंदू या मुसलमानों ने कोई नई वैज्ञानिक खोज नहीं की। नया यंत्र हो, औजार हो—उस अवधि में कोई नई युक्ति नहीं ढूँढ़ पाए। दियासलाई, साइकिल, सादी घड़ी, शिलाछापा, छायाचित्र आदि यूरोप ने खोजा तब हमें ज्ञात हुआ। हिंदू धार्मिक भोलेपन की और मुसलमान धर्म कट्टरता का नशा पीकर पड़ा हुआ था। मुसलिम बादशाह को अंग्रेज शस्त्रवैद्य दिल्ली बुलाना पड़ा। और एक पुल के नीचे पानी खींचने के लिए एक हिंदूपति के फड़नवीस को एक इंजीनियर अंग्रेजों से माँगना पड़ा। मुसलमानों के सब अल्लाह यथा पीर, मुल्ला, हकीम के गंडा-ताबीज से जो व्याधियाँ ठीक नहीं हो सकीं वे उस अंग्रेज शस्त्रवैद्य ने ठीक कर दीं। अनुष्ठान जप-तपों से जो पुल का आधार हिंदू नहीं बना पाए, उसे अंग्रेज इंजीनियर ने बनाकर दिखाया। परंतु यंत्रशीलता का उनका विज्ञान कैसा विकसित ही हो रहा है! उनकी एक-एक तांत्रिक युक्ति उन्हें दुर्जय बना रही है तो हमें दुर्बल बना रही है। यह बात उस समय भी किसी के ध्यान में नहीं आई। यंत्र विद्या का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कोई भी यूरोप नहीं गया। क्योंकि समुद्र पार करने से जाति भ्रष्ट होती है।

परंतु हमारे पास पूर्व में सामर्थ्य होते हुए भी हमने दुनिया पर हमला नहीं किया इसका प्रायश्चित्त हमें देने के लिए दुनिया ने हमपर हमला किया। यूरोप के प्रचंड यंत्रबल की कैंची में फँसकर हमारे राष्ट्र का, सत्त्व का एक बात छोड़कर चक्का चूर हो गया। एक बात जो हमारी अपनी टिकी हुई है, उसे यूरोप का यंत्रबल भी नहीं कुचल सका। वह बात है हमारी धर्म-भाविकता। भौतिक संकट निवारण करने के लिए, सृष्टि-शक्तियों को काम में लगाने का, भौतिक सामर्थ्य प्राप्त करने का विज्ञान और साधन यानी यंत्र, ये अभी भी हम नहीं जानते। भूकंप पर अस्पृश्यता निवारण का उपाय, सर्वराष्ट्रीय अरिष्टों पर अनुष्ठान का उपाय, कोई कमला नेहरू अस्वस्थ तो उनकी क्षय बीमारी के लिए ईश प्रार्थना उपाय, मशीनगन का प्रहार रोकना हो तो उसके आगे उसके गोलों की मार की सीमा में शांति से बैठकर मर जाओ, और उस मृत्यु से मशीनगन में दया भाव उत्पन्न करने का उपाय, बीमारी को हटाना हो तो बकरा काटने या बलि देने का उपाय। अभी भी हमारे राष्ट्र की भाविकता छूटी नहीं है और इसलिए इस नए यंत्र युग का निर्भयता से स्वागत करके यूरोप के सामर्थ्य की वह कुंजी युक्ति की प्रयुक्ति से प्राप्त करने का प्रयास छोड़कर ये लोग उस यंत्र युग से ही किसी संकट के समान डरकर भूतकाल की गुफा में

अधिक गहराई में जाकर छिप रहे हैं। यंत्र से मनुष्य अति दुर्बल हो रहा है, यंत्र से मनुष्य भूखा मर रहा है ऐसी इन देवभीरु लोगों की चिल्लाहट चल रही है मानो जिनके जूतों के नीचे हम पिस रहे हैं वे यंत्रबल में अग्रसर यूरोप से भीख माँगने पर मजबूर हैं और हमारी पापी संतान सबल है। भूखे, निर्वस्त्र, अकाल-पीड़ित और रोगग्रस्त लोगों का हमारा राष्ट्र यंत्र युग के सौ-दो सौ वर्ष पीछे चल रहा है। इसलिए क्या यह राष्ट्र बलिष्ठ, सुखी और संपन्न है?

इस लेख के प्रारंभ के परिच्छेद में ही हमने यंत्रों के विरोध में भोलेपन से किए गए आक्षेपों का उल्लेख किया है। उनका यथाशीघ्र प्रतिकार करना आवश्यक है। समाजीकरण में विज्ञान का सर्वस्व स्थापित होना चाहिए। इसी प्रकार, अपने राष्ट्र के अर्थकरण में भी उसी विज्ञान की मूर्त्ति के रूप में यंत्र प्रभाव बढ़ाना चाहिए।

कपड़ा मिल नामक संयंत्र आया है, अत: मिल के कपड़े का उपयोग न करें ऐसी चिल्लाहट गली-गली में होती थी और हो रही है। तकली चलानेवाली सेनाएँ अपने आत्मबल से 'तकली' के प्रभाव से जापान का समस्त यंत्रबल तुच्छ बनाने पर तुली हैं। केवल चरखे की प्रतियोगिता से लंकाशायर की मिलों और दुनिया की अन्य मिलों को ताले लगाए जाएँगे ऐसी प्रतिज्ञाएँ करनेवाले सेनानियों का समूह, राष्ट्र सभा के उच्चासन पर चरखा चलाते हुए बैठा है। और अब उनका साथ देने के लिए पीसने-कूटने के यंत्रों के संकट से देश की रक्षा करने कमर बाँधकर आए नए सेनानियों का समूह उसी राष्ट्रीय सभा के उच्चासन पर कोई हाथ की चक्की से अनाज पीसते हुए और ओखली में हाथ से चावल कूटते हुए दिखना भी संभव है। अर्थकरण में इन व्यक्तियों की पुकार है 'अब हमें यंत्र नहीं चाहिए।'

धर्मशास्त्र के भोलेपन के समान इस अर्थशास्त्र के भोलेपन को भी आज के विश्व में, इस यंत्र युग में जीवित रहना हो तो, अपने राष्ट्र को उसे ठुकराना चाहिए। राष्ट्रीय प्रचार के सूत्र इस देव भोलेपन के, धार्मिक या आर्थिक श्रुतिस्मृतिपुराणोक्त के या पुरातनों के हाथों से छीनकर विज्ञान के अद्यतन हाथों में देना चाहिए। यंत्र युग के विरुद्ध चल रही उनकी भोली चिल्लाहट की छाप को मिटाने के लिए जिस कारण कोई राष्ट्र विज्ञाननिष्ठ होगा, यंत्रशील होगा, वह प्रचार ताकत से, नि:स्पृहता से और अनिवार्य रूप से शुरू करना चाहिए।

यंत्र शाप है या वरदान

यंत्र का साधन मनुष्य के हाथों में आ जाने के कारण मनुष्य की हानि ही हो रही है, वह दुर्बल और दु:खी बन रहा है, दरिद्र बन रहा है, यंत्र मानवजाति के लिए

शाप है। इस प्रकार यंत्र के विरुद्ध जो चिल्लाते हैं उन्हें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यंत्र, औजार, कल वास्तव में सौ गुना अधिक कार्यक्षम हुआ मनुष्य का एक-एक इंद्रिय ही है। यह कल या यंत्र यानी इंद्रियों की विकसित कार्यक्षमता। औजार यानी हाथ से भी बढ़कर दस गुना शक्तिमान अपना एक अतिरिक्त हाथ। यंत्र यानी अपनी मूल शक्ति की अपेक्षा लाखों गुना शक्तिमान अपनी बहिर्गत इंद्रिय। यदि औजार, कल, यंत्र आदि न होते तो मनुष्य सृष्टि-शक्ति पर आज जैसी सत्ता चला रहा है वैसी सत्ता नहीं होती। इतना कहना यंत्रशक्ति की उपयुक्तता का अल्प वर्णन है। यंत्र के बिना, कुंजी के बिना मनुष्य अपने इस जीवन संग्राम में जीवित ही नहीं रह सकता था। लोमड़ी, कुत्ता भी उसे भारी होता। वे उसे फाड़कर खा जाते। मनुष्य को यह जो यंत्रबल की सहायता मिली है उसके संबंध में ऐसा कहना भी अतिशयोक्ति नहीं होगी कि शरीर से देखा जाए तो मनुष्य अति दुर्बल, परंतु यंत्र सही और प्रबलतम हुआ है।

किसी उन्मत्त पशु के सामने जंगल में मनुष्य को खड़ा कर दिया जाए तो वह अपने शरीर बल से कितना टिक सकेगा—इसकी कल्पना बार-बार कीजिए। उसे सिंह के समान नाखून नहीं, दाढ़ें नहीं, दाँत नहीं और गर्जना करके संपूर्ण वन को जाग्रत् कर देने योग्य ऐसी भीषण आवाज भी नहीं। एक शेर को एक मामूली भैंसे के बछड़े को मारने के लिए जितना श्रम करना पड़ता है उतना भी कष्ट उसे मनुष्य की गरदन मरोड़ने में नहीं होता। हमारे सामने जैसी मुलायम ककड़ी वैसा आदमी शेर के सामने! उसके मन में आते ही वह मनुष्य को कच्चा खा सकता है। मनुष्य अपनी देह के समान केवल दुर्बल होता है। वह शेर का प्रतिकार कर सके ऐसा कोई अंग उसमें नहीं है। हाथी के सामने तो मानव एक चींटी के समान है। अपने पैर के नीचे प्रचंड दबाव से वह उसे कुचल सकता है या अपने अजस्र सूँढ़ में उसे पकड़कर पत्थर पर नारियल के समान फोड़ सकता है। तड़स, भेड़िया, वनसूअर के सम्मुख खड़ा रहने की भी आदमी की हिम्मत नहीं होती है। वनसूअर के दाँतों का प्रतिकार कर सके ऐसा एक भी अंग उसमें नहीं है। बड़े शिकारी कुत्ते का डर भी उसे शेर के समान होता है। मनुष्य ने काटा या खरोंचा तो भी शिकारी कुत्ता उसे एक झटके में फाड़कर खाने से नहीं रहे। इतना ही नहीं अपितु दुर्बल, दीन, निरुपद्रवी जो गाय, उससे यदि मनुष्य का संघर्ष हुआ तो देखते-ही-देखते वह अपने सींगों से मनुष्य का पेट फाड़ सकती है। वनभैंसे, वनबैलों की उन्मत्त आवाज सुनते ही मानव को जान बचाने के लिए भागने के सिवाय कोई मार्ग नहीं। मधुमक्खी छोटी, परंतु बहुत सी मधुमक्खियाँ एक बार मनुष्य पर टूट पड़ीं तो उनके दंश और वेदनाओं से व्याकुल होकर मरने के सिवाय कोई मार्ग नहीं, परंतु वह उनको न डस सकता है

और न उन्हें लील सकता है। उनके पीछे उड़ भी नहीं सकता। कौआ भी मनुष्य के रक्त-सने घाव पर या सिर पर, जैसे किसी पशु पर चोंच मारता है वैसी चोंच मारकर उड़ जाता है और मानव को उलटा खिजाता है। अजगर तो उसे अपनी देह से लपेटकर गन्ने के समान निचोड़ सकता है। छोटा साँप, उसके पैर को कब और कैसे काटेगा और उसको क्षणार्ध में कब मार डालेगा इसका कोई पता नहीं। समुद्र, सरिताओं में तो मानव की दुर्दशा का ठिकाना नहीं होता। यदि पैर फिसल गया तो मानव मगर या मांसाहारी मछलियों का आहार बन जाता है। मनुष्य को निसर्गदत्त तीक्ष्ण दाँत नहीं हैं। पेट काट सके ऐसे सींग नहीं हैं। मुरगी, घास, पत्तियाँ, खून, हड्डियाँ पचानेवाला पेट भी उसके पास नहीं, शीत निवारणार्थ ऊन की शॉल भी उसके बदन पर नहीं। चील के समान दृष्टि नहीं, मच्छर के समान पंख भी नहीं, गरुड़ के समान अति तीक्ष्ण चोंच नहीं या कंठच्छेदक नाखून, रक्तपिपासु पंजे भी नहीं। विषैले दाँत नहीं, दंश नहीं, डंक नहीं। भारतीय लोगों को अंग्रेजों ने निःशस्त्र किया था। उससे कितने ही युग पूर्व में मनुष्य को सृष्टि ने ही निःशस्त्र बना दिया है। केवल वरिष्ठ श्वापदों से ही नहीं अपितु पक्षी, मत्स्य, मक्खियों से भी मानव मूल रूप से, शारीरिक दृष्टि से अत्यंत दुर्बल है। वास्तविक रूप में गाय से भी गया-बीता है।

किंतु वह आज भी इस भूतल पर समस्त प्राणियों का राजा, शासक, जेता होकर घूमता है। सृष्टि-शक्ति से ही मल्लयुद्ध करने के लिए खड़ा है। वाष्प, चुंबक, विद्युत्, रेडियम आदि को बहुत कुछ अपने काबू में उनके अजस्र बल से समुद्र, पृथ्वी और आकाश या मानवी जगत् के तीनों खंडों में दिग्विजय करता हुआ बढ़ा जा रहा है। किसके बल पर यह दुर्बल मानव इतना प्रबल हुआ है? कली के, कुंजी के, हथियार के बल से या यंत्र के बल से?

उसके निसर्गदत्त मुक्के से कुत्ता भी नहीं डरता था, परंतु किसी दिन एक बंदर मानव ने पहला पत्थर उठाकर फेंका तो उस दिन से मानो मानव को नया मुक्का प्राप्त हुआ। पत्थर दूर से फेंकने की युक्ति, हथियार जैसी, कृतांत की मुट्ठी जैसी असह्य बनकर, विशेष बनकर खड़ी हो गई। हाथ से उठाकर फेंकी हुई या ढकेली हुई शिला यानी 'कृतान्तस्य मुष्टिः पृथविक स्थिता।' बंदर मानव पेड़ों की शाखाएँ तोड़कर उससे पशुओं के समूहों को पीटते थे। साँप, नाग, बिच्छुओं को मारते थे। उनके विष से बाधित न होनेवाले नए हाथ—शाखाएँ, लकड़ियाँ आदि उसे प्राप्त हो गए थे। मनुष्य को जंगली सूअर के जैसे लंबे दाँत नहीं थे। उसका अभाव भाला-बरछी से समाप्त हुआ। भैंसे के समान टक्कर-मार सिर नहीं था, उसकी जगह गदा ने ली जिससे टकराकर वे परास्त होते हैं। सिंह, बाघ उसे यदा-

कदा नखाग्रों से डराते थे, परंतु मनुष्य को बरछी, खंजीर, कटार, खड्ग, कृपाण जैसे भयंकर नख प्राप्त होते ही शेर, सिंह आदि काँपने लगे। क्योंकि खड्ग अपना एक बढ़ा हुआ नाखून ही तो है। फिर मनुष्य के हाथ में बाण और पीठ पर धनुष प्रकट हुआ। सिंह की छलाँग, बाघ का झपट्टा, गिद्ध-गरुड़ों के प्रहार भी और ऊँचे उड़नेवाले पंख, समस्त प्राणी सृष्टि, मनुष्य के हाथ आए धनुष की टंकार के साथ ही चीं-चीं करते हुए तो कोई पूँछ दबाकर डरकर जंगलों में भाग गई। क्योंकि पास आने पर वे आक्रमण करें। परंतु यह धनुर्धारी तो पशु हमला बोले उसके पहले ही उनका कंठच्छेद करते हैं। मनुष्य की दुर्भेद्य त्वचा ही कवच है। दूरबीन तो शतगुना दर्शनक्षम, सूर्य को भी देख सके ऐसी आँख है। दूरध्वनि यंत्र शतगुना अधिक श्रवणक्षम हुआ और मुंबई की दीवार से लगा हुआ कान कलकत्ता या लंदन के मित्रों की बात सुन सकता है। आरू-दारू, विस्फोटक पदार्थ, गोलियाँ, बंदूक, तोप, विषैला धुआँ आदि जलकर भड़का हुआ मनुष्य का क्रोध है। यह चूल्हा, वैद्यकी भट्ठी या स्टोव मनुष्य के पेट की जठराग्नि की एक-एक शाखा है। एक बड़ा पेट जो सबको पचाता है वह आवेल। खल-ऊखली उसकी नीचे की नई दाढ़, वे दोनों अब प्रचंड आकार धारण कर वाष्प की शताश्व शक्ति से पूर्व में जैसा एक कोर वह मनुष्य चबाता था वैसे सहज रूप से अनाज के बोरे-के-बोरे वह एक-साथ निगल जाता है। उसकी पुरानी इंद्रिय ही इस प्रकार सहस्रगुना कल-हथियार-यंत्रबल में अधिक कार्यक्षम हुई ऐसा नहीं अपितु मनुष्य को स्वाभाविक रूप से जो प्राप्त नहीं होती ऐसी अद्भुत इंद्रिय-यंत्रबल से उसे प्राप्त हुई है।

छोटे से कुएँ में मेढ़क रहता है। उस जितना भी मनुष्य का अंग मूल रूप में जलस्तंभक नहीं। परंतु विज्ञान ने उसे अकस्मात् एक वरदान दे दिया है और कछुओं से कड़ी, देवमछली से बड़ी, सहस्र मगर जिसके एक धक्के से नष्ट होते हैं ऐसा एक प्रचंड जलदेह मनुष्य को दीया है—वेडर, पनडुब्बी, विनाशिका, प्रचंड वनिक नौकाएँ, आगबोट, वीजबोट। एक मशक के समान भी मनुष्य उड़ नहीं सकता है, परंतु विज्ञान की आराधना करते ही उसे ऐसा वरदान मिला जो उसे बड़े-बड़े ऋषि, पीर, पैगंबर भी नहीं दे सके और प्रत्यक्ष गरुड़ ने भी कभी देखे नहीं होंगे, ऐसे प्रबल पंख मनुष्य को मिले—विमान, हवाई जहाज।

जैसे सिद्धियाँ, बड़े-बड़े जप-तप कर करके अंधभक्ति को प्राप्त नहीं हुईं और किसी को मिलने का भास हुआ तो वह एक अत्यद्भुत, प्रत्यक्ष ईश्वरीय और विशेष कृपा-प्रसादी मंत्रबल की देन लगती थीं उनसे भी शतगुना अत्यद्भुत सिद्धियाँ आज के बाजार में पैसों से प्राप्त हो रही हैं, यंत्रबल लुटा रहा है। अतिदर्शन, अतिश्रवण, ध्वनिलेख, दूरध्वनि द्वारा अतिस्मरण, महासमुद्र के तल के नीचे अवगाहन,

विरल स्तर के भी ऊपर आकाश में उड़ान।

और यह अद्‌भुत प्राबल्य खुदा, जेहोवा या देव को बिना धूप जलाए प्राप्त होता है। यंत्र से मनुष्य दुर्बल नहीं हुआ बल्कि मानव जो एक प्राणी या जीव था वह आज पृथ्वी पर, आकाश में, महासागर के प्राणियों में प्रबलतम हुआ। इसका कारण हथियार यंत्र है। मंत्रबल से नहीं अपितु यंत्रबल से। शाप नहीं, अपितु यंत्र मनुष्य को अतिमानुष बनानेवाला विज्ञान का वरदान है।

□

यंत्र से क्या बेकारी बढ़ती है?

यंत्र मनुष्य के लिए शाप न होकर वरदान है। मंत्रबल से सृष्टिशक्ति मनुष्य पर प्रसन्न नहीं होती, परंतु यंत्रबल से ही प्राप्त होती है। उससे काम लेना आना चाहिए। प्राणी सृष्टि में सबसे अधिक दुर्बल और अक्षरश: गाय से भी गरीब मनुष्य प्राणी आज तो सर्वप्राणी सृष्टि का शास्ता और सभी प्राणियों में सबल हो चुका है। उसका कारण औजार-कल-यंत्र का प्रादुर्भाव है, इसलिए हम भारतीयों को अब इस यंत्र युग का मन से स्वागत करना चाहिए। इस प्रकार के हमारे प्रतिपादन के संबंध में अपनी शंकाएँ पूछने के लिए एक प्रामाणिक परंतु अपक्व विचार के एक 'ग्रामसेवक' हमसे मिलकर गए। उनकी शंकाएँ वैसे तो आज के 'ग्रामोद्धार' के उपयुक्त काम में लगे हुए कुछ लोग, अपने भाषणों में और लेखों में प्रकट करते ही हैं और यंत्र के पीछे लगेंगे तो दुर्बल होंगे, बेकार होंगे, वह पाश्चात्य राजसी इल्लत अपनी सात्त्विक पौर्वात्य संस्कृति के सादेपन का नाश करेगी आदि विधान-सिद्धांत करके गाँव-गाँव में फैलाते रहते हैं। हमसे मिले हुए इस गृहस्थ की शंकाएँ इसी प्रकार की थीं। वे गृहस्थ 'डबल ग्रेज्युएट' थे। अर्थात् उनकी शंकाएँ मूलत: कितनी भी अतथ्य हों तो भी विद्वानों को भी सहज मोह डालनेवाली आकर्षक थीं यह स्पष्ट है। यूरोप में यंत्रयुग के आरंभ में इसी प्रकार की शंकाओं और आक्षेपों से तीखा विरोध किया गया था। आज भी बीच-बीच में उनके भूत यत्र-तत्र खड़े होते हुए यूरोप में भी दिखते हैं। फिर आज भी समाज में लाखों लोग आक्षेपों की बलि चढ़ते हों तो इसमें क्या आश्चर्य है? परंतु उन आक्षेपों की ओर ध्यान न देना ठीक नहीं। वे चाहे कितने भी मूलत: विसंगत हों परंतु उनकी वह विसंगति खोलकर दिखाना तुच्छता का कार्य नहीं समझना चाहिए। क्योंकि उनका उत्तर दिया नहीं जाता इसलिए वे आक्षेप अकाट्य हैं ऐसा सामान्य जनता को लगता है और यंत्रविरोधी जनमत वृद्धिंगत होता है।

ये उपर्युक्त सहज सूझनेवाले आक्षेप वास्तविक रूप से कितने भोलेपन के

होते हैं यह दरशाने के लिए उपर्युक्त गृहस्थ ने अनेक बार जिसका समर्थन किया ऐसा एक आक्षेप देखें।

उन्होंने कहा, "आप कहते हैं कि यंत्र मनुष्य की सौ गुना स्वकार्यक्षम बहिश्चर इंद्रिय है। यही सही मानें तो भी मनुष्य की मूल इंद्रिय और उनकी अंगभूत कष्ट सहिष्णुता यंत्र के उपयोग का सहारा लेते रहने के कारण पंगु होती जाती है यह बात स्वयंसिद्ध नहीं है क्या? उपनेत्र या ऐनक (spectacles) लगाने से आँखें कमजोर होती हैं, मोटर, रेलगाड़ियाँ आदि वाहनों की संख्या में बहुत ज्यादा वृद्धि होने के कारण अपने पैरों पर लंबी दूरी तक चलने की शक्ति मनुष्य ने खो दी है। बार-बार गाड़ी का उपयोग करने पर मनुष्य के चलने की शक्ति भी नष्ट होगी ऐसा डर लगता है। यंत्र से घन मारने का कार्य होने लगा है इसके कारण लुहार के कठिन दंड भी नाजुक बनेंगे, और यांत्रिक आरा, यांत्रिक सिलाई मशीन, यांत्रिक बुनाई इनके कारण हस्तबल, हस्तकला और आनुवंशिक हस्तकुशलता नष्ट होगी। यांत्रिक खेती के कारण हाथों से हल चलाना, बखर चलाना, कटाई करना, बीनना आदि की आदत नष्ट होगी। टंकण-मुद्रण के कारण अक्षर बिछड़ गया है, हाथ से कलात्मक पोथी-पुस्तकें लिखने की कला नामशेष हो गईं, इस प्रकार इंद्रिय तथा अंग स्वयं अक्षम, निष्क्रिय और यंत्रनिर्भर होने के कारण यदि पुनः मनुष्य को यंत्र से रहित जीवन बिताना पड़ा तो उस विकसित मानव के इंद्रिय और अंगमूल यंत्रहीन जंगली मानव की तुलना में काफी कमजोर दिखेंगे। कहाँ वह पहाड़ों पर दोपहर की धूप में चढ़कर जानेवाला फौलादी देहधारी जंगली भील और कहाँ मोटर में बैठे-बैठे ही थकनेवाले ये मुरदा लोग।"

यंत्र के नित्य उपयोग के कारण मनुष्य की अंग मजबूती और इंद्रिय शक्ति की पंगुता, इस आक्षेप का उपर्युक्त स्पष्टीकरण ऊपरी तौर से सुननेवालों को जितना मार्मिक लगता है उतना ही इसकी मार्मिकता से छानबीन करने पर भोलापन ठहरता है। आँख अच्छी होने पर उसे जहाँ तक ठीक दिखता है उस अंतर के लिए चश्मा लगाना मूर्खता ही होगी। ऐसे व्यक्ति की दृष्टि अनुचित ऐनक के कारण अधिक मंद होती है या चलनेवाला कुबड़ी की आदत लगाए तो उसकी गति भी मंद होगी। यह उस कुबड़ी का या ऐनक का दोष नहीं, परंतु उस साधन का दुरुपयोग करनेवाले भोले अज्ञान का है। नेत्रों की मूल दृष्टि को सहायता देंगे वही उपनेत्र, वैसे ही जो दूर का आँखों से नहीं दिखता वह लाखों मील दूरी पर का दृश्य दिखानेवाला वह दूरबीन। आवश्यकतानुसार उनका उपयोग करें। अन्य समय में आँखों की मूल दृष्टि अक्षुण्ण रखकर उसे अधिक तेजस्वी बनाने के लिए जो नए व्यायाम आवश्यक हों उन्हें करना चाहिए। केवल आँख से पढ़ें, उपनेत्र इसके लिए आपको मना नहीं

करेंगे। दूरबीन एक बार लगाने पर, आँखों की पलकों के समान हमेशा चिपककर नहीं रहती। वही स्थिति मोटर तथा रेलगाड़ियों की। पूर्व के सहस्राधिक संत-महंत ऋद्धि-सिद्धि के बल से हरिद्वार को जितनी शीघ्रता से सदेह कभी जा नहीं सके, उतनी शीघ्रता से चार पुण्यवान रुपए फेंककर साधारण मनुष्य भी, वह पापी है या पुण्यवान यह भी भगवान् को न पूछते हुए यह मोटर, रेलगाड़ी उसे हरिद्वार पहुँचा देती है। ऐसे प्रकरण में उसका उचित उपयोग कर लेना चाहिए। मोटर कोई लौहचुंबक तो नहीं और आप कोई लोहे का टुकड़ा भी नहीं हैं कि एक बार मोटर में बैठने पर पुन: वहाँ से आपको उठना संभव न हो। फिर आप उसका उचित उपयोग समाप्त होते ही पाँवों की मूल गति कायम रखने हेतु और मजबूती बढ़ाने के लिए प्रतिदिन पदयात्रा क्यों नहीं करते? पर्वत तथा खाइयों के उतार-चढ़ाव पर पैदल नहीं चलना है ऐसी शपथ क्या आपको मोटर या रेलगाड़ी चलाते वक्त लेनी पड़ती है? कहते हैं, मुद्रण से हाथ से पोथी लिखने की शक्ति नष्ट हो गई। परंतु पोथी छापने पर भी हाथ से प्रतियाँ बनाना कोई दंडनीय अपराध नहीं होता है। व्यासजी बोले और गणेशजी ने महाभारत की एक प्रति लिखी। वह कृत्य दैवी हुआ। परंतु इस मुद्रण की सिद्धि के कारण कोई भी मुट्ठी भर सादा छापाखानेवाले प्रतिदिन प्रात:काल में एक-एक समाचारपत्र की लाख-लाख प्रतियाँ छापकर निकाल रहे हैं। ऐसी यह सवाई दैवी सिद्धि प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होने पर किसी को वह बोरू की कलम से जुन्नरी कागज पर या काँच की नली, सूई लेकर ताड़पत्री पर हाथ से समाचारपत्र लिखकर प्रकाशित करने की इच्छा हुई अथवा जितने समय में वाष्प मुद्रण में महाभारत की एक टाकी एक लाख सुंदर प्रतियाँ छाप सकते हैं, उतने ही समय में महाभारत की एक-आधी प्रति हाथ से लिखने की इच्छा किसी की हुई तो कोई उसका हाथ पकड़कर नहीं रखेगा। अपनी पसंद से उसे हाथ से आराम से पोथियाँ लिखनी चाहिए। कड़ी धूप तथा वर्षा से सुरक्षित रहने हेतु मनुष्य बड़े-बड़े बाड़े (मकान) बनाता है। यदि किसी ने कहा कि 'धूप-हवा-पानी सहने की शक्ति गृहहीन भ्रमण करनेवाले अंदमान आदि की जंगली जातियों में गृहवासी लोगों की तुलना में अधिक होती है, इसलिए बड़े मकान, बँगले आदि गिरा देने चाहिए, यह सब शाप है, वरदान नहीं।' तो उसका कहना जितना मूर्खतापूर्ण का है उतना ही यंत्रों पर किया हुआ आक्षेप मूर्खतापूर्ण है।

The machine rides man! ऐसा कहकर जो यंत्र की हिटलरशाही बता सकते हैं उनके ध्यान में यह बात नहीं आती कि उस आक्षेप से यंत्र की हिटलरशाही व्यक्त न होते हुए मनुष्य का अज्ञान ही दिखाई पड़ता है। कल कोई रोती सूरत का व्यक्ति यदि किसी को कहने लगे कि "घोड़ा पशु एकदम निरुपयोगी है, उसे कोई

न पाले। क्योंकि मैं उसपर सवार होने गया तो घोड़ा ही मुझपर चढ़ बैठा' तो उस रोती सूरत के व्यक्ति को लोग एक अज्ञानी, डरपोक और घोड़े पर सवारी करने में कच्चा मानेंगे, परंतु घोड़े को वे निरुपयोगी नहीं कहेंगे। यही बात ये अर्थशास्त्रीय रोती सूरतवाले अज्ञ लोगों की है। मनुष्य की इच्छा के परे यंत्र की स्वतंत्र इच्छाशक्ति होती है क्या? वह मनुष्य की इच्छा के विरुद्ध विद्रोह कर सकता है क्या? कभी घोड़ा आवेश में आकर मनुष्य को लताड़ सकता है, परंतु बेचारा यंत्र! मनुष्य की इच्छा ही उसकी इच्छा होती है। मनुष्य करेगा वह प्रमाण होगा और उसे चलाएगा वैसा चलेगा। यदि यंत्र कभी मनुष्य पर सवार होता हो, यदि सचमुच कहीं the machine rides mam का उत्पात हो और कोई यंत्र मनुष्य के शरीर पर खुद होकर बैठता हो ऐसी बात नहीं। वह तो मनुष्य ही है जो उसे कभी-कभी अपने सिर पर बैठा लेता है। रेलगाड़ी में बैठने की बजाय कोई मनुष्य उसके आग जलनेवाले बंबे में जाकर बैठा और जल गया तो क्या रेलगाड़ी का उसमें दोष हुआ? यंत्रों पर किए गए सारे आक्षेप मनुष्य द्वारा यंत्रों के किए गए दुरुपयोग पर होते हैं। चूल्हे में ठीक जलाई हुई अग्नि रसोइया के समान अपने भी काबू में रहती है। परंतु यदि कोई मूर्ख उसे अपने घर पर रख दे तो उसका घर तो जलेगा ही। यह अग्नि का दोष नहीं बल्कि इन योजकों का है। बड़े-बड़े पर्वत काटकर अपने लिए मार्ग खुला करनेवाली सुरंग बनाने का, खदानों की सुरंगों में छिपे हुए रत्नों के भंडार और रत्नों की राशि पास लाकर देने का कार्य, वे वृतासुर से छिपाए गए जल के भंडार खोजकर चट्टानों के भू-प्रदेश में पानी के मीठे प्रवाह अपने कुओं में, हौदों में लबालब भर देने का अत्यंत उपयुक्त कार्य करनेवाली बारूदी सुरंगों की मालाएँ यदि किसी ने अपने पैरों तले गाड़कर जला दीं तो उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े करने का दोष उस सुरंग की विद्या पर नहीं लादा जा सकता। वही बात यंत्रों की है।

हमसे चर्चा करनेवाले सज्जन ने प्रत्युत्तर किया—"आपकी बात हम अधिकांश में यथार्थ समझते हैं। परंतु यंत्र से मनुष्य मात्र की सही हानि तब होगी जब मनुष्य मात्र द्वारा यंत्रों का सदुपयोग किया जाएगा। तभी वह हानि अत्यंत तीव्रता से महसूस होगी। यंत्रों का सदुपयोग होने लगा, ये यंत्र अपना काम राक्षसी प्रमाण पर यथाशीघ्र करने लगे और मनुष्य के श्रम से जितना काम होता है उसके शतगुना काम अधिक होने लगा, मनुष्य अपने श्रम से जितने पदार्थ निर्माण कर सकता है उसके शतगुना पदार्थ यंत्र पैदा करने लगे। परिणामस्वरूप इन पदार्थों का निर्माण करनेवाले हस्तोद्योग निरुपयोगी होने लगेंगे और इन व्यवसायों के श्रमिक बेकार हो जाएँगे। रेलगाड़ियों ने जैसे बैलगाड़ियों को समाप्त किया और बैलगाड़ीवाले बेकार हो गए। कपड़ा मिलों ने एक-एक दिन में इतना कपड़ा बुनना शुरू किया कि चरखा-माँग पर उसे

बुनने के लिए पूरा एक साल लग जाएगा। फलस्वरूप उसपर निर्भर लाखों लोग पेट-पानी के धंधे को खो बैठेंगे और बेकार हो जाएँगे। वैसी ही स्थिति समस्त धंधों की होकर समस्त मानवजाति कार्य और श्रम करने के लिए क्षेत्र न बचने के कारण बेकार होगी। किसानों की बात लीजिए, आज करोड़ों लोग गाँव-गाँव से अपने-अपने हल-बैल लेकर संपूर्ण वर्ष भर खेत में मेहनत कर रहे हैं, पेट के लिए कुछ प्राप्त कर बेकारी के भूत से स्वयं को किसी प्रकार बचाते हैं। परंतु समझ लीजिए, कल प्रचंड यांत्रिक हल और सामुदायिक खेती देश भर में शुरू हुई, आपके उस यंत्र का एकदम शास्त्रीय सदुपयोग करना मनुष्य ने सीख लिया और उस यंत्र की सहायता से उसने सामुदायिक खेती में एक गाँव में एक दिन में हल चलाया, बखर चलाया, बीज बोया। जितना काम इस प्रकार एक दिन में हुआ उतना करने के लिए दो-दो माह का समय लगता था तथा सैकड़ों किसान पूर्व में श्रम करते थे वे अब बेकार होकर हाथ हिलाते नहीं बैठेंगे क्या?

बेकारी के कारण उनका जीवन बेकार, निष्क्रिय एवं नीरस होगा। पेट के लिए अन्न और शरीर पर पहनने के लिए कपड़ा प्राप्त करने के लिए श्रम करने में लक्षाधिक किसान अपने क्षेत्र में मधुमक्खी के समान जीवन-संगीत गुनगुनाते हुए वर्ष भर व्यस्त रहते हैं। उनका यह भरा-पूरा जीवन इन यंत्रों के दाँतों के नीचे पिसकर बेकारी का वह एक-एक दिन उन्हें एक-एक वर्ष के समान भारी नहीं जाएगा क्या? यंत्र जिन पूँजीपतियों के होंगे उनके हाथ में संपूर्ण उत्पादन जाकर ये किसान, बुनकर, सुनार, लुहार, दरजी, नाई, बैलगाड़ीवाले, घोड़ेवाले, धोबी, मजदूर, बढ़ई आदि जिन-जिन व्यवसायों को यांत्रिक शक्ति और यांत्रिक युक्ति बड़े पैमाने पर उत्पादन करने लगेंगी, उपर्युक्त समस्त लोगों का व्यवसाय ठप होने के कारण वे बेकार और भूखे, श्रमहीन, आलसी स्थिति में पड़े रहेंगे! 'यंत्रयुग-यंत्रयुग' करके आप जिसका इतना महत्त्व बढ़ा रहे हैं, वह यदि आपकी अपेक्षानुसार सही माने में स्थापित हो गया तो वह एक बेकारी का युग होगा।

काम, परिश्रम और बेकारी का सही अर्थ

यंत्रों का विकास यानी बेकारी की वृद्धि। इस आक्षेप की उपर्युक्त चिल्लाहट कितनी निरर्थक है यह दरशाने के लिए हम प्रथम कार्य, श्रम और बेकारी इन तीन महत्त्वपूर्ण शब्दों पर विचार करें, क्योंकि यंत्र-विरोधी लोग बार-बार उनका प्रयोग करते हैं और उनके उलटे-सीधे अर्थ लगाकर उपयोग में लाते हैं। उनकी वह उलझन हटाकर इन तीन शब्दों के तीन अर्थ अपने इस लेख के लिए हम प्रथमतः तय कर लेंगे जिससे हमारा यह अर्थ एक-दूसरे को पूर्णतः मान्य नहीं हुआ तो भी

कदाचित् परस्पर समझ में तो आएगा। काम (कार्य) अपने लिए जो इष्ट वह प्रिय उद्योग। परिश्रम का अर्थ होगा, जो परिश्रम हम अपने प्रिय उद्योग में अपनी रुचि के कारण करते हैं वे नहीं, अपितु हमारी इच्छा के विरुद्ध निरुपाय अपने चरितार्थ या अन्य कारणों से अनिवार्य रूप से करने पड़ते हैं ते श्रम और बेकारी यानी चरितार्थ या अन्य कारणों से आवश्यक प्राप्ति करने का अवसर प्राप्त न होना। अतिश्रम करने नहीं पड़े इसलिए मनुष्य बेकार हुआ ऐसा नहीं, अपितु मनुष्य के लिए आवश्यक चीजें प्राप्त करना असंभव हो गया और उन्हें प्राप्त करने के लिए आवश्यक सफल कष्ट करने का अवसर उसे न मिल पाया तो वह मनुष्य सही अर्थों में बेकार हुआ।

अब उपर्युक्त निश्चित अर्थ में यंत्र से बेकारी बढ़ती है क्या? यह देखना सरल है। यंत्रों के कारण उत्पादन घटता है यह कुछ यंत्र-विरोधियों का आक्षेप नहीं, परंतु उनका आक्षेप यह है कि यंत्र से उत्पादन विशाल पैमाने पर होता है। एक मनुष्य एक वर्ष में जितना धागा या कपड़ा चरखे की सहायता से बनाता है या बुनता है, उसके सौ गुना बुनाई मिल में एक दिन में होती है। लकड़ी का हाथ से चलनेवाला हल जितने खेत पर एक दिन में चलाया जाता है उसके शतगुना अधिक खेती यांत्रिक हल से होती है। वैज्ञानिक खाद, जलवायु आदि के सहायक यांत्रिक और सामूहिक खेती की फसल सौ गुना अधिक और खेडूत किसान की मामूली फसल ही अपेक्षाकृत सरस और शीघ्र निकाल सकता है। टिड्डी दल के हमले से छोटे खेडुतों की खेती की सुरक्षा नहीं हो सकती; परंतु टिड्डी दल नाशक रसायन विमान से मीलों तक छिड़ककर यांत्रिक कृषि में टिड्डी दल के हमले को असफल बनाया जा सकता है। यांत्रिक परिवहन के बल से अकालग्रस्त प्रांत में जहाँ अधिक फसल हुई हो वहाँ से धान आदि वस्तु पहुँचाई जा सकती है। कुल मिलाकर देखा जाए तो अत्यंत आवश्यक अन्न और वस्त्र तथा अन्य वस्तुएँ बिना यंत्र की पद्धति की अपेक्षा यांत्रिक पद्धति से लाख-लाख गुना अधिक प्रमाण में उत्पन्न की जा सकती हैं। जहाँ आवश्यक हो वहाँ भेजी जा सकती हैं। तब अन्न, वस्त्रादि अत्यावश्यक वस्तुओं का विलासी उपभोग्य पदार्थ की उत्पादन सामर्थ्य यंत्रशक्ति के साथ मनुष्य को मिलने पर पूर्वापेक्षा सहस्र गुना बढ़ती है, कम होना तो संभव ही नहीं। यह बात यंत्र के विरोधी भी स्वीकार करते हैं।

पूर्व की अपेक्षा एकदम कम श्रम में मनुष्य को सहस्र गुना अधिक अन्न, वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं और उपभोगों की पूर्ति जो यंत्र करते हैं, वे मनुष्य की बेकारी बढ़ाते हैं ऐसा कहना कितना विपरीत होगा यह अब सहज रूप से ध्यान में आने योग्य नहीं है क्या?

मान लें, एक परिवार के छह पुरुषों द्वारा हस्तश्रम और खेडूत पद्धति से साल

भर मेहनत करके अल्प अन्न-वस्त्र किसी प्रकार उत्पादित किया जा सकता था। उन्होंने उत्कृष्ट यंत्र लाकर वही खेती नई वैज्ञानिक पद्धति से की। परिणामस्वरूप पूर्वापेक्षा बहुत कम श्रम में दस गुना अन्न और वस्त्र वे पैदा कर सके यानी पूर्वापेक्षा वे लोग श्रीमंत, सुखी और संतुष्ट हो गए सिवाय इसके कि उनका भारी परिश्रम बच गया और इस कारण वे बहुत से दिन सुख से छुट्टियों में बिता सकें तो उनकी इस छुट्टी को 'बेकारी' कह सकते हैं क्या? बेकारी का अर्थ होगा कठिन परिश्रम करके भी पेट के लिए न मिलना, आवश्यक तथा उपभोग्य वस्तुओं का अप्राप्य होना। अन्न, वस्त्रादि सभी पदार्थों की पूर्ति बिना परिश्रम यथेच्छ होती हो और इसलिए श्रम करने की आवश्यकता ही न हो यह 'बेकारी' नहीं। इसके विपरीत उस परिवार को कठिन परिश्रम से मुक्त करानेवाली, सभी उपभोग्य वस्तुओं की पूर्ति अल्प प्रयासों से, न्यूनतम व्यय में, दस गुना अधिक मात्रा में करा देनेवाली और उसके कारण श्रम से मुक्त होकर अधिक समय आनंद से, सुख-चैन से बिताने के प्राप्त करानेवाली यंत्र सहायता से प्राप्त परिस्थिति सही अमीरी है।

अब समझ लें, उस परिवार का धन-धान्य आदि यंत्रबल से इस प्रकार दस गुना बढ़ने पर भी यदि उसका उपभोग उनमें से दो-तीन भाई ही लेने लगे और शेष भाइयों को कुछ नहीं मिला। यंत्र चलाने हेतु आवश्यक श्रम का बोझ इन भाइयों पर डाला गया, इस अन्याय के कारण उन भाइयों को अपनी इच्छा के विरुद्ध अधिक श्रम करना पड़ा और उस मान से भरपूर अन्न, वस्त्र न प्राप्त होकर उनका शोषण और छल होता रहा तो क्या वह दोष यंत्रबल का है? बिलकुल नहीं। वह दोष यंत्र का नहीं, विषम बँटवारे का है। यंत्र के द्वारा उत्पादन अत्यल्प श्रम में, न्यूनतम व्यय में, अत्यधिक प्रमाण में बढ़ गया तब यंत्र का कार्य, दायित्व समाप्त हुआ। इससे पूर्व अत्यधिक या पूर्व से अति सस्ता ऐसे अन्न, वस्त्रादि उत्पादन का उचित हिस्सा योग्य हिस्सेदार को नहीं मिला तो यह दोष यंत्र का नहीं, वितरण का है। ऐसी स्थिति में पीड़ित भाइयों को चाहिए कि अपना शोषण और छल समाप्त कराने के लिए, बँटवारे में सुधार लाने के लिए वे हिस्सेदारों से झगड़ें, यंत्र से झगड़ा निरर्थक है। जो बात इस परिवार की वही बात मानव समाज की।

बेकारी यंत्र से नहीं बढ़ती अपितु विषम वितरण के कारण बढ़ती है और विषम वितरण का दोष यंत्र का नहीं अपितु समाज-रचना का है

यंत्र से बेकारी बढ़ती है ऐसा कहना वर्षा काफी होने से अकाल हो गया या खाने के लिए भरपूर अन्न होने के कारण उपवास करना पड़ा ऐसा कहने के समान

वदतोव्याघात है। पूरी दुनिया में बेकारी है ऐसा कहने का मतलब यह होता है कि मनुष्य मात्र के लिए अन्न, वस्त्रादि आवश्यक वस्तुओं का अभाव है और, कष्ट करके भी वे उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते। परंतु यंत्र के सम्यक् उपयोग से वैज्ञानिक तथा सामुदायिक कृषि करने पर अन्न, वस्त्र का उत्पादन 'राक्षसी' प्रमाण पर बढ़ सकता है यही आक्षेप यंत्र-विरोधी लोगों का मूल रूप से है। अर्थात् यंत्र के कारण मानवजाति को यंत्रहीन स्थिति में जितना प्राप्त होता था उससे कई गुने (राक्षसी) अन्न, वस्त्रादि की पूर्ति मनुष्य को होने लगेगी। अत्यल्प श्रम में उपभोग्य पदार्थ प्राप्त होंगे। इसका अर्थ यह है कि कठिन श्रम की आवश्यकता न रहते हुए यंत्र से बेकारी मात्र नष्ट होगी। अन्न-वस्त्र मिलता नहीं, अतः मनुष्य कठिन श्रम करता है। उसे उसकी चाह होती है ऐसी बात नहीं। यदि आप कहते हैं कि यंत्र के कारण अन्न, वस्त्रादि पदार्थ प्रचंड प्रमाण में और कम कष्टों से उत्पन्न हो सकते हैं तो यंत्र से 'बेकारी' बढ़ती है यह कहना मूलतः असंभव है, ऐसा आपके कहने से ही सिद्ध होता है। यंत्र से सभी कार्य होने लगें तो किसी को नौकरी ही नहीं मिलेगी, करने के लिए काम ही नहीं बचेगा, इस प्रकार का भय आप प्रदर्शित करते हैं मानो मनुष्य केवल कठिन श्रम करने के लिए ही नौकरी ढूँढ़ता है। अन्न, वस्त्रादि उपभोग्य पदार्थ उसे यथेच्छ घर बैठे मिल गए तो भी वह नौकरी ढूँढ़ता फिरेगा, ऐसी कुछ विक्षिप्त समझ आपकी अनजाने में हो जाती है, इसलिए परस्पर विरोधी विधान किए जाते हैं। यंत्र से सभी काम होकर उत्पादन काफी बढ़ गया तो नौकरी नहीं मिलेगी यह सत्य है, परंतु उसका कारण यह है कि मनुष्य को आज की जैसी कष्टपूर्ण नौकरी करने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। नौकरी नहीं मिलेगी अर्थात् नौकरी करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। बिना कठिन श्रम आज की अपेक्षा अधिक सुलभता से और सुभीता से चाहे जो उपभोग्य अन्न, वस्त्रादि पदार्थ यंत्रबल से सामाजिक उत्पादन बढ़ने के कारण हरेक को मिलने लगेगा। इच्छित वस्तु बिना परिश्रम मिलने के कारण नौकरी के नहीं मिलने के कारण, कोई भी नौकरी नहीं करेगा तो उस स्थिति को कोई सार्वजनिक 'बेकारी' नहीं कहेंगे।

घर के एक परिवार के समान एक राष्ट्र की स्थिति, उस राष्ट्र में यंत्रहीन स्थिति में, उस देश के सभी लोगों को अन्न, वस्त्र, छाया, घरबार, गाड़ियाँ, शस्त्र आदि सांसारिक अनेक वस्तुओं के लिए दिन में दस-दस घंटे मेहनत करनी पड़ती थी। अब उन वस्तुओं का निर्माण करनेवाले यंत्र आ गए, यहाँ की खेती, मिलों, कारखानों का काम, नई विज्ञान पद्धति से यांत्रिक तरीके से शुरू हो गया अर्थात् उत्पादन भी यांत्रिक अनुपात में बढ़ेगा। अन्न-वस्त्र-बूट-छाता आदि सभी वस्तुएँ पूर्व की अपेक्षा दस गुना अधिक मिलने लगेंगी, दस गुना कम चिंता से और श्रम से,

इसलिए चीजें भी दस गुना सस्ती मिलने लगेंगी। उनकी आवश्यकताएँ इस प्रकार पूरी होने के कारण उनके पूर्वापेक्षा श्रम भी दशांश से कम हो गए। इसलिए बचा हुआ समय अपने प्रिय कार्यों में वे स्वेच्छा से बिता सकेंगे या आराम कर सकेंगे। कुछ भी हुआ तो भी उस खाली समय को बेकारी बढ़ गई है ऐसा कोई नहीं कहेगा।

अनावश्यक दोष यंत्र पर लादे नहीं जा सकते

किसी राष्ट्र में यंत्रबल से दस गुना अन्न, वस्त्रादि का उत्पादन होने पर भी यदि उस राष्ट्र के कुछ व्यक्तियों को उसमें से कुछ नसीब नहीं हुआ तो उसका दोष यंत्र का क्यों कहेंगे? पूर्व की अपेक्षा दस गुना अन्न बिना परिश्रम प्राप्त हो रहा हो तो यंत्र ने प्रत्येक व्यक्ति को दस गुना अधिक सुखी किया है, ऐसा ही मानना चाहिए, बेकार किया ऐसा नहीं मान सकते। यहीं पर यंत्र का कर्तव्य समाप्त हो जाता है। दस गुना उत्पादन होने पर भी कुछ लोगों को लूटा गया या वे भिखारी हो गए तो वह दोष समाज-रचना का कहा जाएगा। इन यंत्रों को सामयिक रखिए। और वह यथेच्छ उत्पादित अन्न-वस्त्र समान प्रमाण में प्रत्येक व्यक्ति को बाँट दीजिए। कम परिश्रम भी को विशिष्ट वर्ग के सिर का बोझ बनाने की बजाय सबसे काम लेकर सबका भार हलका करिए। पूर्व की अपेक्षा अधिक खाली समय का लाभ और कम परिश्रम का लाभ सबको मिलने दीजिए। परिश्रम के बिना और अनिवार्य कार्य न होने का समय सबको अपनी इच्छानुसार काव्यकला, व्यायाम, अध्ययन, परोपकार, अन्य उद्योग, शोध-संशोधन, मनोरंजन आदि में बिताने दीजिए। यंत्र सभी कार्य करने लगे तो मनुष्य क्या करेगा? इस शंका से भयग्रस्त व्यक्तियों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि मनुष्य जो कठिन परिश्रम करता है वे परिश्रम उसकी इच्छा से नहीं होते। यंत्र से कठिन परिश्रम की आवश्यकता जितनी कम होगी उतना ही मनुष्य को आराम मिलेगा। अच्छा लगेगा। परंतु यंत्र से कठिन परिश्रम टाले जा सकते हैं यानी मनुष्य को अपनी रुचि का काम भी नहीं करना चाहिए ऐसा यंत्रशास्त्र का कहना नहीं है। इसके विपरीत मनुष्य अपनी इच्छानुसार कुछ भी कार्य करने के लिए या न करने के लिए स्वतंत्र होगा। क्योंकि यंत्र से उत्पादन बढ़ने पर आज जो मजबूरी से करना पड़ता है उस परिश्रम से मनुष्य मुक्त होगा। इसी प्रकार जो सरल-सादा जीवन बिताना चाहता है उसे भी यंत्र नहीं रोकते। वह चाहे तो पंचा या लँगोट पहन सकता है। वह कुछ भी न पहने तो भी जबरदस्ती उसे जरीयुक्त धोती नहीं पहनाना। वह मठ में रहे, झोंपड़ी में रहे, फल खाए या उपवास करे। यंत्र से सादा रहन-सहन नष्ट होकर समाज महँगा या विलासी बनता है यह कहना भी अज्ञान का ही होगा। यंत्र बेचारा जड़, निर्जीव, इच्छाशून्य तथा परतंत्र होता है। यंत्र

अपने उत्पादन का बड़ा हिस्सा अपने किसी लाड़ले वर्ग को नहीं देता। किसी से लेता भी नहीं। इसलिए यंत्र से बेकारी बढ़ती है, सादा रहन-सहन बिगड़ता है, श्रीमंत-गरीब की विषमता बढ़ती है, वर्ग-कलह बढ़ता है आदि कहना उचित नहीं।

यंत्र-विरोधी ऐसा आक्षेप भी है कि 'सारा काम यंत्र ही करने लग गया तो मनुष्य खाली रहने से आलसी तथा निकम्मा बनेगा। मनुष्य काम करके पसीना बहाने पर मिलनेवाली रोटी खाने के आनंद को नहीं पाएगा। वह इंद्रियों से दुर्बल, मन से अनुदार, अंग से वृद्ध बनेगा और यंत्र का गुलाम बन जाएगा।' इस प्रकार की समस्त चिल्लाहट पूर्णतः अज्ञानपूर्ण और भयग्रस्त है। आज के समाज की विषमता के ये दोष केवल अज्ञानवश यंत्र पर लादे जाते हैं। घर के आधार जैसे स्तंभ से अपनी गलती से कोई बालक टकराता है और उसके सिर में चोट आती है तब उसका दोष वह चिड़चिड़ा बालक खंभे पर लादते हुए उसको ही लकड़ी से पीटने लगता है। इसी चिड़चिड़े अज्ञान के कारण वह, यंत्र का सदुपयोग करने की बजाय, सामाजिक विषमता के कारण हो रहे अर्थयुद्ध, शोषण, बेकारी आदि मनुष्य के दोष यंत्र के ऊपर लादता है। उसका हेतु ध्यान में रखकर हमारे राष्ट्र को बिना हिचक इस यंत्र युग का मन से स्वागत करना चाहिए।

यंत्र से तो लाभ ही होता है। यंत्र के दुरुपयोग को टालकर सामूहिक सदुपयोग कैसे करना चाहिए इसका सही आर्थिक विचार रूस आज दुनिया को दे रहा है। यदि यंत्र से बेकारी बढ़ती होती और मनुष्य दुर्बल हुआ होता तो आज सामूहिक यंत्र प्रयोग के कारण जिसका प्रचंड राष्ट्रीय बल उत्पन्न हुआ है, जिसने प्रचंड पूँजी लगाई है वह रूस समस्त जगत् का भिखारी, बेकार, दुःखी और दुर्बल हुआ होता। परंतु आज बीस वर्षों के प्रयोग के उपरांत भी वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। यंत्रशक्ति के कारण ही रूस आज प्रबल, संपन्न, प्रत्येक व्यक्ति को काम, अन्न, वस्त्र, आनंद एवं समता उपलब्ध करानेवाला राष्ट्र माना जा रहा है।

□

'न बुद्धिभेदं जनयेद' यानी क्या?

कुछ दिन पूर्व केड़गाँव में धर्मांधता का जो खराब प्रदर्शन हुआ या सांगली में जो यज्ञ हुआ, इसके समान आज के अपने हिंदू राष्ट्र का उद्धार करने या उसकी धारणा को आवश्यक सहयोग न कर धर्मांधता का रोग फैलाने के कारण 'धर्मकार्य' पूर्वापेक्षा बहुत कम होते हैं—ऐसा सनातनी लोग बार-बार कहते हैं।

उनका वह दुःख सही है। पूर्व में बारह-बारह वर्ष तक चलनेवाले प्रचंड यज्ञ, जप-जाप्य के सतत अनुष्ठान पूरे देश में चलते थे। वैसे 'धर्मकार्य' आज लगभग नामशेष हो रहे हैं यह बात झूठ नहीं है। इस प्रकार के धर्मकार्यों का युग समाप्त हो गया है। किसी स्थिति में उनका भी महत्त्व था। उस परिस्थिति में उनका अस्तित्व और आचरण भी अपरिहार्य था। परंतु अब उनका कोई उपयोग नहीं रहा है। इसके विपरीत अपने हिंदू राष्ट्र की प्रज्ञा धर्मांधता की अफीम की गोली देकर बेहोश करने में ही ये धर्मकार्य जाने-अनजाने कारण बन रहे हैं। इसलिए वे 'धर्मकार्य' कहने योग्य भी नहीं रहे हैं। नवग्रहों के संकट-मुक्ति हेतु लाख-लाख जप, एक लाख अथर्वशीर्ष पाठ, गायत्री मंत्र के करोड़ों आवर्तन, अग्नि होम या हवनकुंडों में घी के हौद जला देना आदि धर्मकार्यों से अपने हिंदू राष्ट्र का कुछ भी ऐहिक हित सधने वाला नहीं। पारलौकिक,हित का प्रश्न विचार में लिया तो भी ऐसे लोगों को प्रज्ञाहत करनेवाले लोगों के ऐहिक उद्धार को और धारणा को कुछ भी सहायता न देते हुए इसके विपरीत उनका प्रत्यक्ष रूप से अहित करनेवाले इन 'धर्ममप्यसुखोदर्क लोकविकृष्टमेवच' को त्यागकर जिससे निःश्रेयस और अभ्युदयःप्रसक्ष रूप से राष्ट्र का हो सके ऐसे जो सात्त्विक धर्म साधन हैं, अब इन तामसिक बातों की अपेक्षा, उन्हें ही अधिक आचरणीय और आदरणीय समझना चाहिए।

इस प्रकार अज्ञानाधिष्ठित प्रचंड कर्मकांड दिन-प्रतिदिन नष्ट हो रहे हैं, इस प्रकार यह लोकविकृष्ट असुखोदर्क और प्रज्ञाघातक धर्मकृत्य लुप्त हो रहे हैं, यह

सनातनी लोगों की शिकायत सही है। परंतु उसके संबंध में उनको जो बुरा लग रहा है वह सर्वथा अकारण है। मनुष्य के मन पर धार्मिक मंतर-जंतर का प्रभाव था वह पूर्वापेक्षा कम होकर हिंदुस्थान में भी विज्ञान युग का प्रभाव अधिकाधिक हो रहा है। बुद्धिवादी पक्ष के इस संबंध में किए जानेवाले प्रयास उस अनुपात में सफल हो रहे हैं, यह बात यह सनातनी दु:ख प्रमाण सहित सिद्ध कर रहा है।

इसलिए बुद्धिवाद की बौछार दुगुने उत्साह से कर धर्मभीरुता की उछाल करने की प्रवृत्ति को दबा देना चाहिए। यह बात हमें, घृणा से नहीं, क्रोध से नहीं, मजाक करके नहीं, द्वेष से भी नहीं, बल्कि अपने राष्ट्र को धार्मिक अज्ञान के तमोयुग से निकालकर आधुनिक विकसित विज्ञान युग में उसे लाने का यह अपना अत्यंत पवित्र कर्तव्य है और यही सच्चा धर्म है—इस भावना से करना चाहिए। हमारे देश में पुरातन विचारों की आज भी पूजा करनेवाले सनातनी लोगों को हमें बुद्धिवाद से समझाना होगा कि नवग्रह-शांति आदि भोली धर्म-कल्पनाओं से कुछ भी लाभ नहीं होगा और आज की स्थिति में हिंदू राष्ट्र के लिए उद्धारक, लोक-हितकारक, वैज्ञानिक सत्य पर आधारित और परलोक में भी नि:श्रेयस्कर व्यवहार करना ही आज सही धर्माचरण होगा। इतना विचार परिवर्तन करने के लिए हमें निष्ठापूर्वक सनातनी लोगों से चर्चा करनी होगी। अनावश्यक कर्मकांड को पुन:-पुन: धिक्कारना होगा। आज कतिपय प्राचीन धर्म-विधियाँ, समझ, निष्ठा, झूठी और बेकार सिद्ध हुई हैं, उनके ऊपर का मानवजाति का शेष विश्वास भी स्पष्ट रूप से नष्ट करना होगा। तब तक हमें सत्य का प्रचार प्रमाण-शुद्ध प्रयत्नों से करना होगा। केवल हिंदू समाज के लिए यह सीमित कार्य नहीं करना है अपितु इसी प्रकार की प्रवृत्ति से ग्रस्त हुए ईसाई, मुसलमान इत्यादि समाज को भी इस अज्ञान रोग से मुक्त करना होगा तथा उन्हें विज्ञान के शुद्ध वातावरण में लाना बुद्धिवादियों का परम कर्तव्य है। क्योंकि जैसे गाँव में कोई रोग फैल जाए तो उसका प्रभाव समस्त गाँव के लोगों पर होता है, सबका स्वास्थ्य ही संकट में पड़ जाता है।

धर्मांध कर्मकांडियों के तीन वर्ग

जो लोग आज भी अज्ञानवश अंध धर्माविधि का प्रभाव बढ़ाते रहते हैं ऐसे लोगों के तीन वर्ग हैं। प्रथम अटल लुच्चों का। इन लोगों का तो यह व्यवसाय ही बन जाता है—गप्पें लगाकर और फँसानेवाले चमत्कारों की करामत से लोगों में दैवी शक्ति के संबंध में खूब प्रचार करना और लाखों सीधे-सादे लोगों को मनौतियाँ, गंडे-धागे, ताईत-ताबीज आदि पाखंड की बातों में फँसाकर लाखों रुपए कमाना। इस वर्ग के लोग तर्क-वितर्क तथा युक्तिवाद को नहीं मानते। क्योंकि वे

जान-बूझकर ही झूठा प्रचार करते हैं। इस पाखंड या ढकोसले से लाखों लोग जो झुकाए जाते हैं उनका अंधविश्वास समाप्त करना ही इस पाखंडी-व्यवसायियों को ठिकाने पर लाने का सही उपाय अपने हाथ में है।

दूसरा वर्ग उन भोले-भाले ग्राहकों का है जिनका उपर्युक्त धार्मिक ढकोसलों पर विश्वास होता है। परंतु उनमें जाकर यदि हम उन ढकोसलों की सही जानकारी देकर विज्ञान का और बुद्धिवाद का प्रचार करें तो उनमें से अधिकांश लोग जाग्रत् हो सकते हैं।

तीसरा वर्ग है ज्ञानी लोगों का। यह धार्मिक कर्मकांड अज्ञानजन्य है, बेकार है, अबाधित सृष्टि नियम, पूजा-प्रार्थना से टलनेवाला नहीं। समुद्र, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, भूकंप, रोग, आरोग्यादि पदार्थ—सृष्टि-नियमों से बद्ध होते हैं। भौतिक कार्य-कारण भाव के अबाधित सूत्रों से ही उनका नियमन होकर वैदिक ऋचाओं के, कुरानों की आयतों के या बाइबिल के सर्मनों के कितने ही पाठ करके भी उन्हें प्रसन्न नहीं किया जा सकता। खंभे के सामने पढ़ी हुई कविताएँ उनकी समझ में नहीं आतीं, वैसे ही उपर्युक्त पदार्थों को हमारे स्तोत्रों का एक अक्षर भी समझने में नहीं आता। इन बातों को ये ज्ञानी समझते हैं। उनका स्वयं का अंधविश्वास इन भोले अनुष्ठानों की फलश्रुति पर नहीं रहता।

किंतु इस तीसरे वर्ग के लोग ऐसे धर्मांध अनुष्ठानादि आचार या बड़ाई का विरोध नहीं करते। इतना ही नहीं अपितु अज्ञानी लोगों की भावना को ठेस पहुँचाना शिष्टाचार नहीं, ऐसा समझकर उन अज्ञ अनुष्ठानादि को प्रोत्साहन भी देते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि अज्ञानमय क्यों न हो उनकी धर्मबुद्धि तो जाग्रत् रहती ऐसी भोली कल्पना उनकी होती है। और भी एक बात इस प्रकार के दोमुँहे लोगों की होती है कि वे धर्मांध लोगों को खुलेआम दुःखी नहीं करना चाहते और उनके बीच जो इनका दबदबा होता है उसे बिगाड़ना भी नहीं चाहते। वे स्वयं शनिदेव की पूजा नहीं करेंगे, संध्या-पूजा नहीं करेंगे, कोई नगण्य नारायण महाराज स्वयं को 'अनंतकोटी ब्रह्मांड नायक' कहकर भक्तों से चुपचाप कहलाने लगे या शनिस्तोत्र के पारायण करने लगे तो अंतःस्थ संभाषण में उनकी निंदा भी करेंगे। परंतु लोगों के बीच अपना जो सम्मान है उसे भी वे गँवाना नहीं चाहते, इसके लिए केड़गाँव पहुँचकर वहाँ के 'गोविंद' के भजन में भी वे तालियाँ बजाकर साथ देंगे। उसे किसी फर्जी साधु ने चरणतीर्थ पीने के लिए दिया तो मन में गुस्साएँगे, परंतु जाहिर रीति से उसे नकारेंगे नहीं, भले ही नाक पर अँगुली रखकर पीने का बहाना करेंगे। यदि कोई पूछता है कि क्या ढोंग-धतूरे का विरोध करना आपका कर्तव्य नहीं है? तो वे कहेंगे किसी की भावनाओं को क्यों ठेस पहुँचाएँ? कहा है कि 'न बुद्धिभेदं जनयेद्

अज्ञानां कर्मसंगिनाम्!!'

धार्मिक दृष्टि से भोले-भाले लोगों के ये तीन वर्ग हैं—लुच्चे धंधेबाज, ज्ञात-भोले और ज्ञात-संकोची। इन तीनों के मुख में अपने व्यवहार के समर्थनार्थ एक ही वाक्य प्रमुखता से रहता है कि 'न जनयेद् बुद्धिभेदम्!' किसी भी बुद्धिवादी ने किसी अंधश्रद्धा की रूढ़ि पर या विधि पर टीका की तो उनकी यह चिल्लपों शुरू होती है कि 'आपका कहना सही होगा, परंतु लोगों का बुद्धिभेद क्यों करते हो? उनकी भावनाओं को क्यों ठेस पहुँचाते हो?' 'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्। जोषयेत सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्' यह श्लोक हमारे सामने स्वयं की धर्मांधता का या लोकभीरुता के समर्थनार्थ, सुधार के विरोधियों ने या सुधारकों का खुला समर्थन करने में डरनेवाले लोगों ने इतनी बार हमारे सम्मुख रखा है कि उस श्लोक का सही अर्थ एक बार निवेदन करने से सदिच्छा से प्रामाणिकता से जो लोग पूछते हैं कि 'बुद्धिभेद क्यों करते हो? या भावनाओं को क्यों नकारते हो?' आदि प्रश्नों का उत्तर दिया जाएगा। इससे गलत भावनाओं का और रूढ़ियों का विरोध करने के लिए और सुधारों को बढ़ाने के लिए आगे बढ़ने की संभावना है। हमारे लिए तो बुद्धिवाद का समर्थन हमने किया ऐसा होगा।

जिस 'भगवद्गीता' में यह श्लोक है, वह गीता भी 'बुद्धिभेद' करनेवाली नहीं है क्या?

किसी भी अज्ञ मानव के किसी कृत्य या भावना का विरोध नहीं करना चाहिए। इसके विपरीत विद्वानों को चाहिए कि वे प्रज्ञाहत, भोले, लोकहितघातक कर्म को उन अज्ञानी लोगों के साथ व्यवहार में लाएँ। ऐसा अर्थ यदि गीता का है तो प्रत्यक्ष गीता का मूलाधार ही दोषपूर्ण है ऐसा कहना होगा। क्योंकि उथली भूतदया के झटके से ही अज्ञानी बने अर्जुन को राज्य गया तो भी चिंता नहीं थी, परंतु लड़ेंगे नहीं, ऐसी जो बुद्धि हो गई थी, उसका भेद करके, 'कुतस्त्वां कश्मलमिंद विषमे समुपस्थितम्' इस वाक्य की फटकार लगाने के लिए और अर्जुन की कोमल भावनाएँ अत्यंत सत्य-निष्ठुरता से दुखाने के लिए गीता के अठारह अध्याय श्रीकृष्ण ने बताए। अर्जुन की बुद्धि का पूरा भेद किया जिसके परिणामस्वरूप नीचे डाला हुआ धनुष पुनः उठाने के लिए उसे बाध्य किया। अर्जुन आँखों से आँसू बहाकर 'युद्ध नहीं चाहिए' कह रहा है, परंतु बुद्धिवाद से, 'श्रेयो भोक्तु भैक्ष्यमपीह लोके' ऐसा तत्त्वज्ञान भी कह रहा है, तब 'न जनयेद् बुद्धिभेदम्' ऐसे अपने ही उपदेश के अनुसार उसे लड़ने के लिए न कहते हुए रण-मैदान छोड़कर जाने देना था। उस अज्ञानपस्त अर्जुन की भावनाओं को छेड़ने की बजाय उसकी भावनाओं का सम्मान करते हुए ऊपर-ऊपर से उसके सभी कर्मों को करने का दिखावा करके अर्जुन द्वारा

राज्य त्यागकर झोली लेकर भिक्षा माँगने हेतु निकलने पर स्वयं कृष्ण को उनके पीछे घूमना चाहिए था। 'जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।' ऐसा कुछ व्यवहार श्रीकृष्ण ने करके नहीं दिखाया। इसके विपरीत अर्जुन की भैक्ष्य बुद्धि को क्लैब्य करके उसकी भर्त्सना की। उसकी भावनाओं को ठुकराया, उसके पुष्पितावाक् अज्ञान को झाड़कर उसको पानी-पानी कर दिया। और उसके बुझते हुए पराक्रम की अग्नि अपनी उत्तेजक वाणी से—स्फोटक ईंधन से प्रज्वलित करके उस रणकुंड में आक्रामकों की लाखों आहूतियाँ स्वाहा-स्वाहा की गर्जना करते हुए दीं।

ज्ञान का हर उपदेश अज्ञान का 'बुद्धिभेद' करता है। पृथ्वी गोल है ऐसा कहते ही यूरोप के कट्टर धर्मवादी लोगों की भावनाओं को धक्का लगा। उन कट्टर धर्मियों ने इस सत्य वक्ता की हत्या कर दी। पोप की धर्मबुद्धि को अमेरिका ज्ञात नहीं था। कोलंबस ने कहा कि अमेरिका है। पोप की धार्मिक भावनाओं को ऐसी ठेस पहुँची कि उन्होंने कोलंबस को पाखंडी घोषित कर दिया। ऐसे समय में पोप की भावनाएँ ध्यान में रखकर अमेरिका नहीं है ऐसा झूठा कथन कोलंबस को करना चाहिए था क्या? नहीं। सुबह बच्चे की इच्छा पाठशाला जाने की नहीं होती तब उसका बुद्धिभेद करके क्या उसे पाठशाला में नहीं भेजना चाहिए? अज्ञानी व्यक्ति द्यूत खेलना अपने हित का समझता है इसलिए क्या उसे द्यूत-विरोधी उपदेश नहीं करना चाहिए? उसका बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए क्या?

भोले-भाले धार्मिक अनुष्ठानों या अस्पृश्यता जैसी दूषित धर्मबुद्धि को, गाय जैसे पशु को स्वर्गदायी देवता मानकर मंदिर में स्थापना कर पूजा करनेवालों के अज्ञान को या भूख से लोग मर रहे हों ऐसे समय में आग में घी डालकर यज्ञ करनेवाले लोगों के अविवेक को दूध देनेवाले पवित्र और उपयुक्त पशु की बलि चढ़ाने से भगवान् प्रसन्न होता है ऐसा माननेवाली मुल्लाशाही को या हजारों वर्षों पूर्व मनुष्य द्वारा लिखित ग्रंथ जैसे वेद, अवेस्ता, कुरान-पुराण, बाइबिल, इंजिल आदि आदरणीय को वैद्य माना है जिनमें विज्ञान की कसौटी पर न ठहरनेवाले और मनुष्य के हित और प्रगति के लिए बाधक गुलामगिरी के समान संस्थाओं को भी वैध माना गया है। उन ग्रंथों को ईश्वरकृत मानकर और उनका एक-एक अक्षर त्रिकालाबाधित सत्य है ऐसा दुनिया को मानना चाहिए, यह प्रचार जबरन करनेवालों के दुराग्रह को हम बुद्धिवादी लोग यदि संर्पक युक्तिवाद से और प्रत्यक्ष सबूत से झूठा सिद्ध करने लगे, उसका विरोध करने लगे तो हमें जो कहते हैं, 'बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए, धार्मिक भावनाओं को ठेस नही पहुँचानी चाहिए,' वे ही लोग भिन्न धार्मिक मतवालों का बुद्धिभेद करने के लिए और उनकी भावनाओं को ठेस पहुँचाने से नहीं चूकते हैं। यह गीता का श्लोक, उनके द्वारा कथित अर्थ के साथ

स्वंय ही वे किस तरह मानते नहीं, यह देखें—

गोपूजा तथा पंचगव्य की धर्मभीरुता का हम विरोध करने लगे तो बुद्धिभेद करके हमारी धर्मभावनाओं को कष्ट न दीजिए, ऐसा हमसे डाँटकर कहनेवाले चौबे महाराज आदि गोरक्षक यात्रा में भैंसें मारनेवाले सैकड़ों गाँववालों की धार्मिक निष्ठा का निषेध करके उनकी भावनाओं को ठेस लगाने और बुद्धिभेद करने में नहीं चूकते। उन 'अज्ञानी लोगों के सभी कर्मों का समादर कर वे स्वयं भी चार भैंसें जमा कर देवी बहिरोबा के सामने क्यों नहीं मारते? यज्ञ संस्था को केवल पशुवध होता है हम इस कारण नकारते नहीं। 'अग्नि, सूर्य आदि निर्जीव वस्तुएँ, सृष्ट पदार्थ जो सृष्ट भौतिक नियमों से बद्ध होते हैं उन्हें प्रसन्न करने के लिए घी को आग में जलाना, स्तोत्र कहना, यह केवल छोटी बच्चियों के खेल जैसा होता है।' ऐसा उपदेश कर 'यज्ञ संस्था का अब विसर्जन करना चाहिए' ऐसा लिखते ही कुछ प्रमुख शिष्ट लोग हमें रोकते हैं कि 'याज्ञिक लोगों की धार्मिक भावनाओं को क्यों दुखाते हो? परंतु सांगली के यज्ञ में वे ही लोग यज्ञ में 'पशुवध मत करो, वह कृत्य वर्ज्य है,' ऐसा आग्रह खुले रूप से करते हैं। उसपर समाचारपत्रों में लेख भी लिखते हैं। परंतु पशुबलि वैदिक धर्म की याज्ञिक प्रक्रिया का मुख्य अंग है ऐसा माननेवाले मीमांसकों की भावनाओं को दुखाने से पीछे नहीं हटते। बुद्धिभेद करना नहीं छोड़ते। ''वेद मनुष्यकृत हैं, हमारे राष्ट्र को अब आधुनिक होना चाहिए, धार्मिक अज्ञान की अग्नि, सूर्य आदि का पूजा-पाठ छोड़कर हमें विज्ञान का आश्रय लेना चाहिए'' हमारे ऐसा 'किर्लोस्किर' मासिक पत्रिका में लिखते ही पंडित सातवलेकरजी को क्रोध आया और उन्होंने गर्जना की कि 'धार्मिक भावनाओं को मत दुखाओ।' परंतु उन्होंने गणेशांक में, 'श्री गणेश एक शिवाजी के समान राष्ट्रवीर व्यक्ति थे,' ऐसा लिखकर और उस भगवान् का समस्त इतिहास लिखकर श्री गणेश को देवाधिदेव माननेवाले गणपति भक्तों की भावनाओं को पैरों तले कुचला। 'हंस' पत्र में सनातनी लोगों की भावनाएँ सातवलेकर ने गणेशांक द्वारा कैसे दुखाईं और देव को मनुष्य बनाने का पाप किस प्रकार किया है यह बड़े क्रोधित होकर लिखा है।

हमने पाठशालाओं में पूर्वास्पृश्य बच्चों को एक साथ बैठाने का आंदोलन रत्नागिरि जिले में चलाया तब गाँव-गाँव की स्पृश्य जनता क्रोधित हो उठी। हरेक हमें कहने लगा, ''हे भाई, आप हमारी स्पृश्य धर्मभावना को क्यों दुखा रहे हो?'' तब हम उन्हें पूछते थे कि हम क्या करें? आपकी जैसी भावनाएँ अस्पृश्यों की नहीं हैं क्या? आपकी भावना उन्हें कुत्ते से भी दूर रखने की है, उसे न दुखाएँ तो हमारे मानवी बंधुओं को कुत्ते से भी अधिक अस्पृश्य मानने में और जिन पाठशालाओं में कुत्ते बैठते हैं उनमें से अस्पृश्यों को निकालने से उनकी भावनाओं का ठेस पहुँचती

है। ऐसी स्थिति में जिनकी भावनाएँ अन्यायी, लोकहित-विघातक, आततायी हैं, उनकी भावनाओं को दुखाना उचित है। चोर की भावना को दुखाना नहीं चाहिए, अत: मालिक को नहीं जगाएँ? यही न्याय, 'बुद्धिभेद मत करो, भावना को मत दुखाओ' आदि कहनेवालों पर लागू होता है।

बुद्धिभेद नहीं करें, पर दुर्बुद्धि-भेद अवश्य करें; सद्भावनाएँ नहीं दुखाएँ, पर असद्भावनाएँ अवश्य दुखाएँ!

'श्रीमद्भगवद्गीता' के श्लोक का ऐसा ही अर्थ करना होगा। नहीं तो श्लोक स्वयमेव ही एक अनर्थ हो बैठेगा। 'अज्ञान' के बुद्धिभेद के संबंध में ऐसा ही कहना होगा कि जब तक अज्ञान का वह कार्य जनहित में पोषक हो रहा है तब तक उस कार्य का प्रमुख हेतु न समझते हुए भी केवल रूढ़िवश सम्मान्य लोग व्यवहार में लाते होंगे या उसका व्यवहार करते समय उन्हें अल्पप्रमाण में कुछ लालन, मनोरंजनादि उत्तेजन देने पड़ेंगे, या बड़े प्रमाण में लोकहित साध्य होते, अल्प प्रमाद होते हों तो उस ओर ज्ञाताओं को ध्यान नहीं देना चाहिए और महाकृत्य को संपादित होने देना चाहिए। केवल छोटे कारण के लिए उस महाकृत्य को बिगाड़ना नहीं चाहिए। इस प्रकार लोकसंग्रह का, दस लोगों को साथ लेकर चलने का, हर किसी घर-समाज का, विपुल सहनशीलता से पुन: समाज को एकत्रित कर आगे ले जाने का कार्यकर्ता का गुण ही केवल उपर्युक्त श्लोक में सुझाया गया है। परंतु रूढ़ि से समूचा राष्ट्र नष्ट होने का धोखा उत्पन्न हो या धर्मविधि से असत्य का और अधर्म का फैलाव होकर राष्ट्र प्रज्ञाहत होता हो, तो किसी प्रकार लोकहित का सर्वनाश होता हो तो ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश करना ही चाहिए। ऐसा दुर्बुद्धि-भेद बुद्धिमान् व्यक्ति को करना ही चाहिए। लोकहितनाशक असद्भावों को नष्ट कर सद्भावनाओं का पोषण करना चाहिए। दुर्योधन, दु:शासन की भावनाओं को श्रीकृष्ण ने इसलिए ही साँप के समान कुचल डाला। अज्ञ अर्जुन को प्रज्ञ और गतसंदेह किया और 'गीतारहस्य' के लेखक लोकमान्य तिलक ने पंचांग-शुद्धि के समान प्रश्नों में भी लाखों सनातन पंडितों की अज्ञ भावना को दु:ख देना गलत नहीं माना। रोटीबंदी के समान राष्ट्रघातक रूढ़ि को समाप्त करने के लिए सहभोज के कार्यक्रमों का आयोजन होने लगा तब सुधारक लोग उपदेश देने लगे कि 'लोकमान्य की ओर देखो, वे लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचाने का अतिरेक नहीं करते हैं।' परंतु इन सुधारकों ने तिलक पंचांग शुद्धि प्रकरण में गणितशास्त्रीय प्रकरण में भी हठवाद करके सत्य के विज्ञान का निमित्त कर समाज में संघर्ष पैदा किया। किसी के घर

उपवास तो किसी के घर हलवा, एक का आषाढ़ तो दूसरे का श्रावण मास ऐसी सदैव समाज-जीवन में फूट डालनेवाले पुरातन पंचांग क्यों प्रचलित रहें? ऐसा सोचकर ही पंचांग शुद्धि के लिए लोकमान्य ने भी हजारों धार्मिक लोगों की भावनाओं को ठेस पहुँचाई और बुद्धिभेद किया। उनमें असद्भावनाएँ और दुर्बुद्धि थी इसलिए ही उन्हें वह करना पड़ा।

जिन लोगों को अपना पेट पालने के लिए और झूठी प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए लोगों के अज्ञान का आधार आवश्यक होता है वे अज्ञान का बुद्धिभेद करना नहीं चाहते। परंतु जिन्हें लोगों के अज्ञान का व्यवसाय नहीं करना है उन्हें यह स्पष्टता से बताना चाहिए कि केड़गाँव में फैली हुए धर्मांधता की महामारी केवल रोग है जिसपर लोगों ने लाखों रुपए खर्च किए। उन्होंने जाने-अनजाने प्रज्ञाहतता का विष लाखों रुपयों से खरीदकर राष्ट्रबुद्धि को वह अमृत मानकर पिलाया। उनका वह अज्ञानतापूर्ण कार्यक्रम किस प्रकार का था? देखिए—

जो सूर्य, शनि, मंगल आदि ग्रह अर्थात् केवल निर्जीव, निर्मानस, निर्बुद्ध तेज गोल है, नगर निगम के लालटेन के समान निश्चित मात्रा में जलनेवाले आकाश के दीप, उनके नामों का करोड़ों बार जप किया। उनकी प्रार्थनाएँ कीं। आज के ज्योतिषीय ज्ञान से जिस मंगल की स्थिति मंगरुल की स्थिति के समान प्रत्यक्ष रूप से देखी जा सकती है और वह एक हमारे उत्तर ध्रुव के समान भूमि का एक टुकड़ा मात्र है—प्रार्थना, पूजा समझनेवाला कोई इच्छावान जीव नहीं। किसी मिट्टी के गोले के समान ये सारे नवग्रह जड़ पदार्थ हैं। इनकी पूजा-प्रार्थना कई शतकों तक करके भी हमारे राष्ट्र ने क्या प्राप्त किया? परतंत्रता, दरिद्रता, दुःख, अपमान, दुर्लक्ष। और इन सारे नवग्रहों के लिए एक दमड़ी भी व्यय न करते हुए और धूप न जलाते हुए प्रगति करनेवाले यूरोप की ओर देखें। उन्हें शनि की पीड़ा नहीं होती, मंगल ग्रह उनके लिए अमंगल नहीं बनता। उनकी समृद्धि हमारे ग्रहपूजकों की छाती पर उनकी सत्ता है। नवग्रहों की पूजा करने की अनुमति देने का अधिकार भी उनका। उनकी इच्छा हो गई तो हमारे ग्रह होम-कुंडों को एक क्षण में वे ध्वस्त कर सकेंगे। इसलिए नवग्रहादि की पूजा और एक सौ आठ-आठ लाख सत्यनारायण कथाएँ भी वैसी ही हैं जैसे बेजान खंभे से राजनीति के संबंध में प्रश्न पूछना निष्फल मूर्खता ही है।

सही धर्मसेवा, ये लाखों रुपए प्रत्यक्ष रूप से हितकारक होंगे इसलिए किसी अनाथाश्रम को या हिंदू जाति को समर्थ बनाने हेतु 'मुंजे' की सैनिक संस्था को दे दिए जाते तो धर्मसेवा हो जाती।

ताँबे के बरतन को भगवान् समझकर उसकी करोड़ों बार पूजा करके लाखों

रुपए खर्च करनेवाला और उसके द्वारा खर्च करानेवाला नारायण असत्यनारायण है, सत्यनारायण नहीं।

हमारे धर्मग्रंथों ने भी घोषणा की है कि नर में ही नारायण की अभिव्यक्ति उत्कटता से होती है। वही तत्त्व स्वीकार कर इस ताँबे के लोटे को सत्यनारायण का प्रतीक मानने की अपेक्षा हरेक हिंदू अनाथ को ही यदि नारायण का प्रतीक मानकर ऐसी एक सौ आठ सत्यनारायण कथाएँ प्रतिघंटा की गई होतीं माने इतने हिंदू अनाथों के लिए उनकी सुरक्षा हेतु धन दिया गया होता तो इस लोक में हिंदू राष्ट्र की प्रत्यक्ष सेवा न हो जाती क्या? वह क्या धर्मकृत्य नहीं होता? इस प्रकार ऐहिक फल प्राप्ति के साथ ही पारलौकिक फल पर भी आपका विश्वास हो तो उन अनाथ लोगों का जीवनदान देने का सत्कृत्य ईश्वरार्पण बुद्धि से किया होता तो ताँबे के भगवान् को हलुवे का प्रसाद चढ़ाने की बजाय नर की उस सेवा से उन भूखों को, धर्मशत्रु जिन्हें भगाकर ले जाते हैं, उन बच्चों को हलुवा खिलाने से वह भगवान् नारायण संतुष्ट नहीं होता क्या?

सही माने में केड़गाँव में जिन दानी पुरुषों ने लाखों रुपए खर्च किए, उतने धन से एक बड़ा भारी अनाथालय बनाया जा सकता था, परधर्मियों के चंगुल से छुड़ाए गए सैकड़ों बच्चों का पालन-पोषण करनेवाली एक जीवित कृषि जैसी चिरंतन संस्था बनाई जा सकती थी। हिंदू युवकों के लिए एक वैमानिक शिक्षा की अच्छी संस्था खोली जा सकती थी। जो हो गया सो हो गया। परंतु हमारे दानी पुरुषों को चाहिए कि भविष्य में हिदू धर्म के लिए धार्मिक दान देना और धर्मकार्य करने के लिए ऐसी किसी गतिविधि का उन्हें चयन करना चाहिए। यही सच्चा धर्मकार्य होगा। सच्ची धर्मसेवा होगी।

□

यदि आज पेशवाई होती!

हमारे हिंदू समाज में स्पर्शबंदी, समुद्रबंदी, शुद्धिबंदी, रोटीबंदी आदि अनेक धार्मिक रूढ़ियाँ हैं जिनके कारण अपने राष्ट्र की बहुत हानि हो रही है। परंतु ये दोष दिखाकर और अन्य विविध प्रकार की धार्मिक छाप की अज्ञानी बातों का उच्चारण करने के लिए जब-जब प्रयास किए जाते हैं तो ऐसा देखा गया कि सनातन मंडली की ओर से सुधारक मंडली पर जो आक्षेप बार-बार लगाए जाते हैं उनमें 'लोगों की धर्मभावना आपके प्रचार के कारण दुखती है इसलिए आपकी सुधारणाएँ ग्राह्य नहीं हैं,' यह आक्षेप हमेशा किया जाता है। परंतु ये सुधार राष्ट्रहित में आवश्यक हैं या नहीं इस संबंध में वे विचार भी नहीं करते। उनके कथनानुसार सुधार कितने भी हितप्रद हों, यदि उनसे बहुजन समाज की धार्मिक रूढ़ियों के संबंध में आदर कम होता हो और उनकी उन रूढ़ियों के संबंध में परंपरागत धर्मबुद्धि नष्ट हो रही हो तो सुधार के प्रचार का कार्य भी उपद्रवी होता है। श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं—

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्॥
जोषयेत् सर्व कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्॥'

इसलिए हमारे सनातन बंधुओं को उनके ही आक्षेपकों का हेतु स्पष्ट करने के लिए और उपर्युक्त गीतावचनों का मर्म यथार्थता से बताने के लिए हमने पहले 'किर्लोस्कर' मासिक में 'बुद्धिभेदं जनयेद' क्या है? और 'हमारी धर्मभावना को मत दुखाओ!' ऐसे दो लेख लिखे हैं। इस प्रस्तुत लेख के अनुसंधानार्थ उनका सारांश पुनः एक बार यहाँ कहना आवश्यक है, वह यों कि 'गीता' के उपर्युक्त अनुष्टुप का अर्थ अज्ञ जनों की बुद्धि को अनुचित मार्ग से ले जाकर उन्हें दुर्बुद्धि न सिखाएँ, इतना ही है। अज्ञानी जनों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए अर्थात् उनके अज्ञान का अनुचित लाभ लेकर उनका बुद्धिभ्रंश नहीं करना चाहिए। सनातनी लोगों

के कथनानुसार लोगों का बुद्धिभेद करना नहीं चाहिए यानी उनका दुर्बुद्धिभेद भी नहीं करना चाहिए ऐसा अर्थ किया तो अनर्थ होगा। स्वयं कृष्ण की गीता अर्जुन को हुए व्यामोह की दुर्बुद्धि को भंग करने हेतु ही तो निवेदन करने को रची गई। किसी को भी किसी प्रकार अहितकारी, व्यामोह हुआ तो भी, अपनी लोकप्रियता सँभालने के लिए, उन्हें उस दुर्बुद्धि के मार्ग का ही अनुसरण करने देना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु विद्वानों को उनके अनुसार दूषित और अनुचित 'सभी कर्म' स्वयं भी करते रहने चाहिए। 'जोषयेत सर्व कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्!' ऐसा उपर्युक्त श्लोक का अर्थ करना, उस श्लोक का उपहास करना होगा।

वही बात धर्मभावना की! धर्म होगा तो उस संबंध में सद्भावनाओं को नहीं दुखाना चाहिए यह उचित है। परंतु यदि कोई अधर्म को धर्म समझता हो और यदि उस अधर्म के संबंध में उनकी भावनाएँ इतनी धर्मांध होंगी कि धर्म के सभ्य और सदिच्छ उपदेश से भी वे दुखेंगी तो ऐसे प्रसंग में अधर्म की उन भावनाओं को ठेस पहुँचाना ही सही धर्मकृत्य होगा। धर्मप्रसार के लिए वैसी अधर्म भावनाएँ उस अर्थ में दुखाए बिना गति नहीं। सभ्य व्यक्ति को चोर के नियंत्रण से मुक्त करते समय चोर की भावनाएँ दुखती हैं—सभ्य को मरने दो, ऐसा कहेंगे क्या? अपनी माँ वायु के प्रकोप के झटके में खिड़की से खड्डे में कूदने लगी तो ऐसे प्रसंग में उसकी भावनाओं को कितना ही दुखाया गया तो भी उसे प्राणघातक कूद से रोकना ही मातृभक्ति का कर्तव्य है, सही पुत्रधर्म है। यही बात राष्टभक्ति की और स्वधर्मभक्ति की है। राष्ट्रहित के लिए अत्यंत हानिकारक जो-जो रूढ़ियाँ आपको और हमें लोकविरोधी लगती हैं उनका नाश करने का प्रयास ही आपका और हमारा राष्ट्रीय कर्तव्य है। राष्ट्रधर्म है।

मलाबार के मोपलों का और मध्यप्रांत के 'हलबी' का उदाहरण नमूने हेतु सोचकर देखिए। समुद्रयातुः स्वीकारः कसौ पंच विवर्जयेत्—समुद्रगमन करनेवाले को जातिबहिष्कृत करना चाहिए, यह समुद्रबंदी का धर्मनियम जब शास्त्रों ने बताया तब से हिंदू राष्ट्र का समस्त विदेश—वाणिज्य व्यापार हमने स्वयं ही विदेशी लोगों के हाथ में सौंप दिया। अर्थात् मलाबार के हिंदू राजा भी समुद्र उल्लंघन को महापाप समझने लगे। परंतु अरब लोग मलाबार से जो सामुद्रिक व्यापार करते थे उसके द्वारा अमित संपत्ति प्राप्त करते थे वैसी अमित संपत्ति हमें भी मिले इस भावना से प्रेरित होकर अपने सेवकों द्वारा बड़ी-बड़ी नौकाएँ ले जाकर दुनिया का धन लाकर अपने भंडार में जमा करना चाहिए ऐसा विचार मलाबार के हिंदू राजा को हुआ। तब समुद्रगमन का पाप भी नहीं होना चाहिए और बाहर की संपदा भी प्राप्त होनी चाहिए इस दृष्टि से हिंदू राजाओं ने कौन सी

युक्ति सोची होगी? राजा ने सोचा प्रत्येक हिंदू परिवार का कम-से-कम एक लड़का मुसलमान हो जाए। राजा ने आज्ञा की और इस धार्मिक भावना के कारण सहस्रों परिवार के लड़के मुसलमान बन गए। जैसे खाना बनाने हेतु ईंधन चाहिए तो अपने हाथ-पाँव काटकर ही चूल्हे में डाल दिए गए हों। यह एक ऐतिहासिक घटना है, विडंबना नहीं। ये जो सहस्र हिंदू लड़के, समुद्रबंदी के धर्म की रक्षा करने के लिए मुसलमान बन गए उनके वंशज मोपले मुसलमान हैं। आज वे ही हिंदू समाज पर आत्यंतिक अत्याचार कर तलवार की नोक पर हमें मुसलमान बनाने में लगे हुए हैं।

इसी प्रकार की 'धर्मभावना' का उदाहरण श्रीयुत जगनप्रसाद वर्मा ने 'केसरी' में कुछ दिन पूर्व प्रकाशित किया था। मध्यप्रांत में राजपूत हिंदुओं की एक जाति हलबी है। वे विधवा की अवैध संतति और कुमारियों की अवैध संतति मुसलमानों को दे देना ही धर्म मानते हैं। इस प्रकार की व्यभिचारज और कानीन संतति मुसलमानों को दिए बिना विधवा को या कुमारियों को शुद्ध नहीं माना जाता। उन्हें जाति में नहीं लिया जाता। यह प्रायश्चित्त उन्हें इतना सद्धर्म लगता है कि ऐसी संतति मुसलमानों को न देते हुए हमें दो, हम उन्हें स्वीकारते हैं, ऐसा संगठनपंथी हिंदुओं ने कहा तो भी वे बच्चे कभी हिंदुओं को नहीं दिए जाएँगे। मुसलमानों को बच्चे दे देना ही धर्म! हिंदुओं को देने पर उनकी माताएँ शुद्ध ही नहीं होतीं।

अब यह धर्मभावना—शुद्धि की हत्यारी बेहोबी? वर्माजी कहते हैं, ''ऐसे उदाहरण एक-दो होते तो उपेक्षणीय होते, परंतु हलबी लोगों की जनसंख्या लाखों की है और ऐसी घटनाएँ प्रतिवर्ष हजारों में होती हैं। इसी कारण जहाँ मुसलमानों के एक दो घर थे वहाँ सैकड़ों घर हो गए और संख्या बढ़कर हिंदू समाज के लिए घातक हो रही है।

ये प्राणघातक 'धर्मभावना' के उदाहरण कुछ भी नहीं। रोटीबंदी, शुद्धिबंदी, समुद्रबंदी इन सबके कारण ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं। घर में कदम रखते ही परिवार भ्रष्ट हो गया, कुएँ में डबल रोटी गिरते ही गाँव-के-गाँव भ्रष्ट हो गए। सच तो यह है कि सैकड़ों अलाउद्दीन-औरंगजेब की तलवारों से जितना हमारे हिंदू राष्ट्र का कत्ल नहीं हुआ उससे कई गुना ज्यादा हमने ही अपनी राष्ट्रीय संतानों का भयंकर कत्ल इस प्रकार की धर्मभावनाओं से किया है। दूसरों को जबरदस्ती पकड़कर, उनका धर्म-परिवर्तन करके अपनी संख्या करोड़ों में बढ़ानेवाले पुर्तगीज, मुसलिम आदि प्रबल धर्मशत्रु जब देश पर आक्रमण करने आए थे, उस समय हम हिंदू अपनी सैकड़ों संतानों को भगवान् को अर्पित करने के समान धर्मशत्रुओं को अर्पित

करना ही स्वधर्म समझ रहे थे। हिंदू हो तो वह अस्पृश्य और हिंदू धर्म छोड़ने पर वह शुद्ध स्पृश्य। एक-दो नहीं, ऐसी कितनी ही प्राणघातक रूढ़ियाँ इस राष्ट्र में जनमीं और इस कारण यह राष्ट्र हतबल क्यों हुआ यह प्रश्न नहीं है, प्रश्न यह है कि अभी तक यह टिक कैसे गया? यही आश्चर्य है। पागलपन में अपनी स्त्री और बच्चों की हत्या करनेवाले, विष पीनेवाले या उस्तरे से केश काटने की बजाय गला काट लेनेवाले पागल यहाँ मिलेंगे। परंतु विष का प्याला 'स्वधर्म' मानकर पीनेवाले, स्वयं की गरदन काटना ही पवित्र धर्मसंस्कार समझनेवाले पागल भी सहजता से नहीं मिलेंगे। इस प्रकार की आत्महत्या के पागलपन को ही जो शास्त्र-व्यवस्था 'धर्म' समझती है वह धर्म-व्यवस्था नहीं, धारण-व्यवस्था भी नहीं अपितु मारण-व्यवस्था ही है।

इस प्रकार की मारण-व्यवस्था को, जो हमारे सामने ही राष्ट्रबल का गला दबा रही है, क्या हम आग न लगाएँ? सद्धर्म के अज्ञान से परिपूर्ण उन अज्ञ लोगों की, वह धर्मभावना मानकर उसे दुखाना नहीं चाहिए? उनके पागलपन में उन हमारे भाई-बहनों को विष पीने दें? राष्ट्र की गरदन काटने दें? यह उनकी धर्मबुद्धि समझकर क्या बुद्धिभेद नहीं करें? तीव्र विरोध नहीं करें? प्रतिकार का तो नाम ही नहीं लेना चाहिए। परंतु उन पागल लोगों के रंजनार्थ उनके ही समान यह अधर्म की अज्ञानी राष्ट्रहत्या ज्ञानी राष्ट्र संघटकों को भी करनी पड़ी? अपनी लाखों संतानें पीर-पादरियों को देना—इसको ही धर्म मानें? अज्ञानी के समान क्या 'जोषयेत सर्वकर्माणि, विद्वान् युक्तः समाचरन्?'

सनातनियों का जो दूसरा आक्षेप कि 'यस्मान्नोद्विजते लोकः' उसका वे जो विकृत अर्थ निकालते हैं उसी अर्थ को सही मानकर क्या हम केवल लोकप्रियता हेतु लोकहित की ही बलि दें? यदि श्रीकृष्ण भगवान् को हम सही अर्थ में समझ लें तो उन्होंने अत्यंत उचित उपर्युक्त सूत्र भगवद्गीता में बताया और बाद में इसके विपरीत आचार किया इसे क्या कहें? आज श्रीकृष्ण राष्ट्र के मेरुमणि माने जाते हैं, परंतु उनकी पीढ़ी में अनेक प्रसंगों में आर्यावर्त का बहुमत उनके अत्यंत विरोध में था ऐसा दिखता है। कृष्णभक्त अल्पसंख्य, कृष्णद्वेष्टा बहुसंख्य थे। भारतीय युद्ध में भी गीताद्रष्टा के साथ सात अक्षौहिणी परंतु उसके शत्रु पक्ष के साथ ग्यारह अक्षौहिणी सेना थी। श्रीकृष्ण का नाम लेते ही सभी कौरवों के मन में उत्साह भरता था और उनका नाम लेते ही भगवान् उत्साहित होते थे। परंतु लोकहितार्थ सत्यप्रतिष्ठापना हेतु लोकप्रीति या लोकोद्वेग को महत्त्व नहीं देना चाहिए ऐसा उपर्युक्त श्लोक का अर्थ नहीं है।

क्या इसलिए कृष्ण ने उन्मार्गगामी कंस, जरासंघ, दुर्योधन आदि का पक्ष

लेनेवाले करोड़ों लोगों से प्राणघाती शत्रुता की? यस्मान्नोद्विजते लोकः का सही अर्थ इतना ही है कि लोगों को स्वार्थ के लिए उपद्रव नहीं करना चाहिए। उनके हित के लिए उनमें गड़बड़ी फैलाई न जाए। इतना ही नहीं अपितु बहुमत की दुर्भावनाओं को भी नहीं दुखाना चाहिए। किसी प्रकार लोकप्रियता प्राप्त करनी चाहिए यह 'गीता' ने नहीं सिखाया है। क्योंकि—

सुधार यानी अल्पमत, रूढ़ि यानी बहुमत!

इसलिए जगत् में जग के हित के लिए या सत्य के प्रकटीकरणार्थ महान् सुधारक, जब-जब प्रचलित असत्य अपधर्मीय और जनघातक रूढ़ियों को हटाकर किसी महान् सुधार हेतु और नव सत्य का प्रतिपादन करने के लिए सामने आया, तब-तब जो प्रथम स्वार्थ-त्याग करना पड़ता था वह इस लोकप्रियता का ही होता था! Ye build sepulchres into those whom your fathers stoned death! ऐसा जीसस ने अपनी पीढ़ी के बहुसंख्य विरोधियों को फटकारा, उसका अर्थ यही है। उसका कारण भी यही। आज जीसस, बुद्ध, मोहम्मद करोड़ों लोगों के देवदूत और देव बन गए हैं। परंतु उन सुधारकों के समय के स्वयं की पीढ़ी के लोगों ने जीसस की हत्या की, बुद्ध पर हत्यारे भेजे, मोहम्मद को भागने के लिए पृथ्वी कम पड़ गई। ये लोग संघर्ष में जख्मी हुए, दाँत गिर गए, पाखंडी कहकर भगा दिए गए। तब आप लोगों में गड़बड़ी फैलाकर अशांति फैलाते हैं, लोगों की अप्रियता का पात्र बनते, समाज को नेस्तानाबूद करते हैं, धर्मभावनाओं को दुखाते हैं, बहुमत को लताड़ते हैं, बुद्धिभेद करते हैं आदि समस्त आक्षेप सुधार के आक्षेप न होते हुए उसके अपरिहार्य परिणाम हैं। प्रत्येक सुधारक को उनका मुकाबला करना पड़ा। क्योंकि वह सुधार यानी किसी दूषित रूढ़ि का नाश! रूढ़ि अर्थात् बहुसंख्य लोगों द्वारा विकट निष्ठा से स्वीकारी हुई पद्धति। इसलिए उसका नाश करने का प्रयास करनेवाले सुधार का प्रतिकार बहुसंख्य लोग करेंगे ही। उसे लोकप्रियता का त्याग करना ही होगा। जिस रूढ़ि को करोड़ों लोग मानते हों उसे तोड़नेवाला सुधारक सबसे अधिक अप्रिय होता है। परंतु वह भय उस व्यक्ति को होगा जो लोगों की हाँजी-हाँजी करके जितना जोड़ सकता है उतना ही करना उचित समझता है। वह डर से काँपते हुए धार्मिक या सामाजिक क्रांति का मार्ग छोड़कर, बहुसंख्यों की अराधना करता है और लोकप्रियता प्राप्त करना ही उसका व्यवसाय बन जाता है। परंतु सच्चा सामाजिक या धार्मिक सुधारक जो हो गया और जिसको होना है उसका लोकहित ही ध्येय था या होना चाहिए। हमारे लिए मन में लोकप्रियता या लोकहित का व्यामोह न रहे इसलिए हमारे एक श्लोक के एक सूत्र से हम अपने मन को

उपदेश देते रहते हैं कि—

'वरं जनहितं ध्येयं केवला न जनस्तुतिः।' जनस्तुति कौन नहीं चाहता? कालिदास ने 'कुमारसंभव' नाटक में वैराग्य मुकुटमणि भगवान् महादेव के संबंध में यही कहा है कि 'स्तोत्रं कस्य न तुष्टये' जनस्तुति प्रिय है, वांछनीय है। परंतु जनहित की बलि देकर प्राप्त होनेवाली जनस्तुति संपूर्णतः त्याज्य है। उस मोह से सामाजिक या धार्मिक सुधारकों को विशेष रूप से दूर रहना चाहिए, क्योंकि राजनीतिक क्षेत्र में जो लोग जनहित में झगड़ते हैं उन्हें काफी कुछ जनस्तुति सहजता से प्राप्त होती है। बहुजन समाज का उस राजनीतिक क्षेत्र में दूसरों से कुछ लाभांश प्राप्त करना होता है। वह दिलाने के लिए जो कष्ट करता है वह सहजता से प्रिय हो जाता है। यह भी तब तक होता है जब तक बहुजनों की चमड़ी को हानि नहीं पहुँचती है। अन्यथा वैसे जुझारू नेता पर भी दोषारोपण करके उसको भगाने में बहुजन समाज पीछे नहीं रहता। परंतु सामाजिक या धार्मिक सुधार मूल रूप से रूढ़ियों के विरुद्ध अर्थात् बहुजनों के विरुद्ध होने से उन्हें धार्मिक सुधारक शब्द अप्रिय होता है। इसलिए जनहितार्थ संघर्ष करते हुए उसे जनस्तुति प्राप्त नहीं हो सकती। इसके विपरीत कभी-कभी तो लोकप्रियता गँवाकर जिनके हितार्थ वे संघर्ष करते हैं उनके ही छल के लिए उसी अपराध के लिए बलि होना पड़ता है।

लोकमान्य के संबंध में एक भ्रमपूर्ण मान्यता

जिस लोकमान्य संप्रदाय के हम अभिमानी हैं उस संप्रदाय के हमारे अनेक हितचिंतक और पूर्व सहयोगी हमने जब से जातिभेद उन्मूलन का आंदोलन चलाया है तब से कुछ नाराज हैं। ममता से, परंतु क्रोधित होकर हमें उपदेश देते हैं कि ऐसे धार्मिक या सामाजिक सुधार करने हों तो धीरे-धीरे लोगों की धर्म-भावनाओं को न दुखाते हुए ही करने चाहिए। हमारे सनातनी विरोधी हमपर वार करने के लिए जिन वाक्यों का उपयोग करते हैं, तिलक संप्रदायी लोग भी हमें समझाने के लिए उन्हीं वाक्यों का उपयोग करते हैं—"न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगीनाम्!" और "यस्मान्नोद्विजते लोकः लोकान्नो द्विजते च यः।" वे कहते हैं—लोकमान्य को देखो! उन्होंने लोगों को कभी दुखी किया क्या? नहीं! इसलिए वे कितना बड़ा लोकसंग्रह कर पाए। धर्मभावना को धक्का न लगाते हुए, समाज में अंतःकलह न कराते हुए वे समाज को आगे ले गए और लोक मान्यता प्राप्त की। आप तो अपनी पूर्व पुण्याई से प्राप्त लोकप्रियता को बेकार के कामों में गँवा रहे हैं। समाज को अपने प्यार से धीरे-धीरे आगे ले जाना चाहिए। फिर उनकी धार्मिक भावनाओं पर

चाबुक चलाकर उन्हें चिढ़ाना और भड़काना क्या उचित है? गाय की निंदा, चमार, हरिजन के घर जाकर भोजन करने पर जैसा बहुत बड़ा कृत्य किया है इस शान से समाचारपत्रों में नाम छापकर प्रसिद्धि प्राप्त करना ठीक नहीं। लोकमान्य जिस कुशलता से समाज को आगे ले जाते थे वैसी कुशलता न हो तो चुप बैठिए। ये काम आपके वश का नहीं। इस काम के लिए लोकमान्य के समान धैर्यशाली पुरुष चाहिए। 'जाति तोड़ो' ऐसा वे कहते तो लोग एक दिन में जाति तोड़ते। उनका प्रभाव ही ऐसा था। उन्होंने एक बार अस्पृश्यता कैसे समाप्त कर दी, जानते हैं? अस्पृश्यों को गणेश मूर्ति के विसर्जन हेतु कोई साथ नहीं लेता था। उन्होंने अपनी गणेश मूर्ति के पास अस्पृश्यों का गणपति बैठा लिया और उसका बड़ा प्रचार भी नहीं किया। समाज सुधार इस प्रकार लोकमान्य के समान करना चाहिए फिर समाज सुधार भी लोकमान्य होता है।

आज लोकमान्य होते तो उन्होंने अस्पृश्यता निवारण, जातिभेद निर्मूलन जैसी सामाजिक और धार्मिक समस्याएँ किस प्रकार हल की होतीं—इसकी चर्चा पहेली हल करने जैसी विनोदी होगी, परंतु किसी निश्चित सिद्धांत के समान मार्गदर्शक होना संभव नहीं। इतना स्पष्ट है कि यदि ऐसा महापुरुष समाज सुधार का प्रश्न उठाता तो उसे बड़ी कुशलता से हल भी करता। उनमें कुशलता और धीरता थी। परंतु कारण कुछ भी हो, उन्होंने अपने जीवन में, मुख्य रूप से राजनीतिक क्षेत्र में, संघर्ष किया। उन्हें उस स्थिति में जो-जो जनहितकारक लगा वह सब उन्होंने किया और वह भी इतना प्रचंड है कि इस अपने हिंदू राष्ट्र पर उनके जो उपकार हुए उन्हें हम जन्म-जन्म भी लौटा नहीं सकते हैं। परंतु 'मृत भैंस को मन भर दूध' इस कहावत के अनुसार लोकमान्य के प्रकरण में केवल बातें करके लोगों का दिशाभ्रम करने का क्या मतलब है? इस प्रकार की झूठी बातों से राष्ट्रकार्य की दिशाभूल होती है। सामाजिक और धार्मिक सुधार के कार्य में लोकमान्य ने कुछ विशेष कारणों से अपने को समर्पित नहीं किया था। इसलिए ऐसी समस्याओं का हल उन्होंने कैसे निकाला होता, इसपर अपनी बुद्धि को अनुमानित करना व्यर्थ है। परंतु जब-जब लोकमान्य ने सौम्यता से भी समाज की धार्मिक रूढ़ियों को हाथ लगाया तब-तब लोकमान्य को भी हानि उठानी पड़ी। यह नकारा नहीं जा सकता। सामाजिक और धार्मिक सुधार की बात की तो प्रचलित रूढ़ियों की अर्थात् बहुसंख्यकों की धर्मभावना किसी भी प्रकार दुखाई जा सकती है, अतएव सुधारक रूढ़िवादी बहुजनों की लोकप्रियता गँवा बैठेगा ही। यह हमारा कथन तिलकजी के सामाजिक और धार्मिक आंदोलनों में किस प्रकार अनुभव में आया यह बतलाने के लिए कुछ बातों की याद दिलाना काफी है।

सत्य के प्रचारार्थ और राष्ट्रहित के साधनार्थ लोकमान्य तिलकजी रूढ़ 'धर्मभावना' को दुखाने में पीछे नहीं हटे

उदाहरण हेतु प्रसिद्ध चाय प्रकरण को लीजिए। अंत:स्थ रूप से तिलक ने ईसाइयों की चाय पी थी। परंतु वह प्रकरण बाद में सार्वजनिक हो गया। उसके साथ ही सारा सनातनी समाज क्रोधित हुआ। तिलकजी का बहिष्कार किया गया। उन्हें प्रायश्चित्त करने के लिए कहा गया। ईसाई के साथ चाय पीने के लिए प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नहीं—यह तिलकजी ने कहा और उसे अंत तक नहीं छोड़ा। उन्होंने प्रायश्चित्त नहीं किया। दूसरा अवसर है—वैदिक संशोधन का। 'उत्तर ध्रुव से आर्य आए' और 'वेदकाल' ऐसे दो ग्रंथ उन्होंने लिखे। उन दोनों ग्रंथों में वेदों का ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थ लगाया है। मानव ने ही वे सूक्त लिखे हैं। वे देश-काल-परिस्थिति की सीमाओं में बँधे हैं। ये दोनों बातें निर्विवाद सत्य मान करके उनका उन्होंने समर्थन किया है। अर्थात् वेद सनातनी अर्थ में अपौरुषेय नहीं या जगत् के आरंभ में एकाएक ईश्वर उच्छ्वासितों के साथ प्रकट नहीं हुए, इसको सत्य माना गया है। उनके इन विचारों से हजारों सनातनी विद्वानों की धर्म-भावनाओं को ठेस पहुँची। आर्य लोग भारत में ही उत्पन्न हुए, आर्यावर्त ही आर्यों का और वेदों का मूल स्थान है—इस धार्मिक भावना को अज्ञान माना और अज्ञानियों को मनाते रहने के लिए उस अज्ञ भावना का तिलक समर्थन करते रहे। यह भी ध्यान में रखना होगा कि आर्यों का मूल स्थान कौन सा है यह कोई ज्वलंत प्रश्न नहीं था, पर केवल जो सत्य उन्होंने पाया उसे प्रकट करने के लिए ऐसे दूसरे दरजे के प्रश्न पर भी उन्होंने सनातनियों की धार्मिक भावनाओं—अति प्रबल और मूलभूत ऐसा वेदों का अपौरुषेयत्व और आर्यावर्त ही आर्यों का मूल स्थान है—इन दोनों भावनाओं के जड़ पर ही तर्क की कुल्हाड़ी चलाने में वे पीछे नहीं हटे। तीसरी बात पंचांगवाद की। इस प्रश्न में तिलकजी ने लोकमत की और सनातनी संप्रदायियों की धर्म-भावनाएँ तीव्रता से दुखाई हैं और समाज में इतनी गड़बड़ी पैदा की है कि घर-घर में फूट पड़ी है और आज बीस वर्षों के बाद भी वह घाव भरा नहीं है। इसके विपरीत वह घाव बढ़ता ही जा रहा है। क्योंकि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम्' इन वचनों का सनातनी अर्थ तिलक भी नहीं जानते थे। वे भी राष्ट्रहितार्थ या सत्यस्थापनार्थ अज्ञ जनों का 'बुद्धिभेद' करना कर्तव्य समझते थे। स्वयं वे अज्ञों के समान 'सर्वकर्माणि का आचरण नहीं करते थे यह सिद्ध करने के लिए इनका पंचांग सुधार से अधिक निर्विवाद साक्ष्य देने की आवश्यकता ही शेष नहीं रहती है। पर आश्चर्य यह कि जो

'केसरी' आदि समाचारपत्र तिलक पंचांग का लगातार समर्थन करते हैं और उसी का पालन करते हैं, और इस प्रकार बहुसंख्य सनातनी हिंदू समाज की धर्म-भावनाओं को प्रतिदिन, प्रतिक्षण दुखाते हैं वे करोड़ों लोगों की एकादशी के दिन मुट्‌ठी भर लोगों की द्वादशी मानकर भरपूर खाते हैं। बहुसंख्य लोगों के पौष मास में विवाह कराते हैं। उनके श्रावण मास में अपना पितृपक्ष घुसेड़ते हैं। इस प्रकार के लोकमान्य-संप्रदायी समाचारपत्रवाले और स्वर्णमध्य साधनेवाले सज्जन, रोटीबंदी के समान अत्यंत हिंदू हितघातक दूषित रूढ़ि को जाति-उच्छेदक पक्ष तोड़ना चाहता है तो उन्हें सलाह देते हैं कि 'क्यों इस झमेले में पड़ते हो? समाज की धर्म-भावनाओं को क्यों दुखाते हो? लोकमान्य ने कभी किसी का बुद्धिभेद किया है क्या? लोकसंग्रही पुरुषों को इन बातों को ध्यान में रखना चाहिए। आप सहभोज में जाकर भरपेट खा आइए, परंतु भोजन किया ऐसा समाचार प्रकाशित करा बहुजन समाज को क्यों दुखाते हो?'

स्थानाभाव के कारण अब लोकमान्य का केवल 'गीता रहस्य' का ही उदाहरण दिया जा सकता है। आद्य शंकराचार्य के गीतार्थ के विरोधी विचार प्रकट करके 'कर्मयोगी विशिष्यते' यह बताने में सत्य और जनहित घातक कर्तव्यनिष्ठा से करने में लोकमान्य नहीं हटे। इस कारण उन्होंने भारत में उपस्थित सभी शंकराचार्य के पीठों की 'धर्म-भावनाएँ' दुखाईं। लाखों ज्ञानमार्गियों से वितंडावाद शुरू किया। करोड़ों शंकर मतानुयायियों का 'बुद्धिभेद' किया। मानो शंकराचार्य से अधिक बुद्धिमान् होने का दावा किया।

यद्यपि लोकमान्य ने कुछ चुने हुए अवसरों पर और बिलकुल दूसरी श्रेणी के सामाजिक या धार्मिक सुधार हाथ में लिये थे फिर भी उन अवसरों से बहुजन समाज में उनकी 'लोकप्रियता' को जबरदस्त धक्का लगा। सुधार यानी अल्पमत, बहुमत का विरोध उसे होगा ही। इस सत्य को उनकी लोकमान्यता भी अपवाद नहीं हुई। रूढ़िप्रिय बहुसंख्यक ने उनके समान अधिकारी पुरुष की आज्ञाओं का भी पालन नहीं किया। आज भी उनका पंचांग बहुसंख्य समाज नहीं मानता—पुरोहित तो उसे लताड़ते हैं। चाय-पान प्रकरण में उन्हें समाज द्वारा बहिष्कार सहना पड़ा। पुणे में उन्हें प्रत्यक्ष बहुजनों के विरोध की बलि होना पड़ा। इस संबंध में जानकारी केलकर कृत तिलक चरित्र में 'तिलक और ग्रामण्य' भाग १३ में दी गई है। उसे जिज्ञासु लोगों को पढ़ना चाहिए। उसमें कुछ वाक्य निम्नानुसार हैं—(कृष्ण पक्ष पर बहिष्कार होने पर उस मुट्‌ठी भर कृष्ण पक्ष के चाय-पान किए हुए रानडे, तिलक आदि गृहस्थों के उन शुक्ल पक्षियों के सनातनी बहुसंख्य समाज के बिना समय-समय पर अड़ने लगा।) किसी-किसी का तो कुछ भी न होता था। उनके परिवार के

लोगों को विशेष कष्ट सहने पड़े। उनकी महिलाओं को विशेष दंड भुगतना पड़ता था। प्रत्येक त्योहार के समय वे असंतुष्ट होती थीं। आखों में आँसू आ जाते थे। बाहर गाँव में ब्याही उनकी लड़कियाँ दो-दो वर्ष तक मायके नहीं आ सकीं, क्योंकि उनकी ससुराल के सनातनी लोग उन्हें मायके भेजने के लिए तैयार नहीं होते थे। स्वयं तिलकजी को अपने कुछ लोगों के सहवास से, भोज से विमुख होना पड़ा। विशेष कठिनाई उपयन, विवाह में होती थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र का व्रतबंध हुआ तो उन्हें ब्राह्मण (उपाध्याय) तक नहीं मिला। किसी प्रकार ब्राह्मण मिल गया तो खाना बनाने के लिए आचारी (रसोइया) मिलना कठिन हो गया था। कभी-कभी तिलक परिवार की महिलाओं को अड़ोस-पड़ोस की महिलाओं से कुछ व्यंजन तैयार करवाने पड़े और एक रईस मित्र ने उन्हें रसोइया दिया। तब जाकर उनके यहाँ उपनयन और विवाह हो सके। बहिष्कार के कारण तिलकजी ने घर की श्रावणी पोथी पढ़कर कर ली। लड़की की शादी के समय अक्षत की दिक्कत आई। कस्बा के गणेश मंदिर में तिलकजी को नहीं आने दिया तो क्या करेंगे? तब उन्होंने उपाध्याय को अकेले जाकर गणेशजी का अक्षत देने के लिए कहा। श्राद्ध पक्षों में अनेक वर्षों तक ब्राह्मण न मिलने के कारण तिलकजी ने स्वयं श्राद्ध करा लिया।

लोकमान्य के संबंध की उपर्युक्त चर्चा का हमारा हेतु उनके द्वारा किए गए सामाजिक और धार्मिक सुधार की समालोचना करना भी नहीं है, फिर आलोचना की बात तो दूर! उस राष्ट्रपुरुष को प्राप्त स्थिति में राष्ट्रहित में जो आवश्यक वह यथामति, यथाशक्ति करने के लिए हम मुक्त हैं। हमारे लोकमान्य-संप्रदायी हितचिंतकों का इस प्रकरण में जो भ्रम है और 'धर्मभावना' को नहीं दुखाते हुए, 'लोकप्रियता' न गँवाते हुए ऐसी सुधारणाओं के प्रकरण में, 'तिलक ऐसा कर लेते, वैसा कर लेते, ऐसा आप करो!' ऐसा जो कहते हैं उनके भ्रम दूर करने के लिए यह चर्चा की गई है।

हम सुधारकों को यह ज्ञात हो चुका है कि हमारे हिंदू राष्ट्र के गले में फाँस बननेवाले इस पंडिताई जातिभेद का नाश किए बिना हिंदू राष्ट्र का अभ्युत्थान होना संभव नहीं। हम बुद्धिनिष्ठ, विज्ञानवादी लोगों ने सभी प्रकार की धर्मांधता और लुच्चेपन से, चाहे वह वैदिक हो बाइबिलीय हो या कुरानीय हो, समाज को मुक्त करना अपना पवित्र धर्मकृत्य माना है। इसमें ही मनुष्य जाति का कल्याण है। इस सत्य का प्रचार करने में और उसे व्यवहार में लाने में हम हिंदू संगठक, सुधारक किसी की धर्म-भावनाएँ नहीं दुखाते हैं। परंतु अपधर्म भावनाओं को ठेस लगती है तो उपाय नहीं। हम किसी का बुद्धिभेद नहीं करते, दुर्बुद्धिभेद करना ही चाहिए। हमारे जो मत आपको गलत लगें उनके विरोध में आप भी प्रचार कर सकते हैं। हम

नहीं कहेंगे कि हमारी धर्म-भावनाएँ मत दुखाओ। इसके विपरीत, हम तो कहते हैं कि सुधारकों को यदि सुधार करने का अधिकार है तो समाज को भी सुधारकों का बहिष्कार करने का अधिकार है। जो सुधारक बहिष्कार को सह लेगा वही सच्चा सुधारक है।

सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचला होता

हमारे कुछ शीघ्रकोपी सनातनी बंधु क्रोध के आवेश में परिषदों में और वैयक्तिक संवाद में भी कहते हैं कि 'परराज्य है, अत: बहिष्कार का कोई महत्त्व नहीं। अपना सनातनी राज नहीं। इसलिए हरिजनों के साथ भोजन करनेवाले जात-पाँत तोड़नेवाले, धर्मनिंदक और पाखंडी लोगों की चल पड़ी है। यदि आज पेशवाई का राज होता तो ऐसे लोगों को हाथी के पैरों से बाँधकर मृत्यु का प्रायश्चित्त दंड दिया होता।' क्षुद्र लोगों की कल्पनाएँ भी क्षुद्र होंगी। जैसे कुम्हार की कल्पना में गधे-ही-गधे होंगे। गधों के मनोराज्य में घूरे-ही-घूरे! इसी प्रकार आज की इस भाग्यहीन पीढ़ी के मनोराज्य में सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचलने के सिवाय और सुंदर दृश्य क्या हो सकता है?

यदि आज पेशवाई होती तो सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचल देने की सुविधा उपलब्ध होती। बुरा सोचने वाले इन लोगों से और क्या अपेक्षा हो सकती है।

परंतु तर्क करना हो तो इस अभागी आशा को जैसा लगता है वैसा पेशवाई पर दूसरे बाजीराव के बाद सब दूसरे बाजीराव ही आते रहे होते ऐसा किस आधार पर माना जाए? और शाहू महाराज के बाद सभी दुर्बल छत्रपति सातारा की गद्दी पर बैठते ऐसा भी मानने का क्या आधार? आज यदि पेशवाई होती तो उसपर नए-नए पहले बाजीराव नहीं आते क्या? रायगढ़ में दूसरा कोई प्रतिशिवाजी का अवतरण नहीं होता क्या? 'यदि पेशवाई होती?' यह वाक्य कहते ही मेरी आँखों के सामने कैसे-कैसे अद्भुत दृश्य आने लगते हैं—कि क्या कहूँ? मैं सोचता हूँ उज्जयिनी अखिल हिंदू साम्राज्य की राजधानी बनाई जाती, उसपर अप्रतिरथ कुंडलिनी-कृपाणांकित हिंदू ध्वज लहरा रहा होता। नए-नए भाऊ साहेब पेशवा, हरिसिंह नलवे, प्रति चंद्रगुप्त, प्रति विक्रमादित्य लाखों सैनिकों के दल लेकर हिंदू राष्ट्र को, जिन्होंने अपमानित किया, छला, उनपर हमला करने निकले हैं। उनको बलहीन करते हुए, बदला लेकर कोई श्मशान पहुँच गया है, कोई लंदन तो कोई पेरिस! सर्वत्र हिंदू खड्ग की ऐसी धाक बैठी है कि हिंदू साम्राज्य की ओर आँख उठाकर देखने की किसी की हिम्मत ही नहीं हो! अद्यावत् यंत्र और आधुनिक तंत्र, हिंदू

विमानों के समूह आकाश में उड़ रहे हैं। हिंदुओं का प्रचंड रणवाद्य पूर्व समुद्र में और पश्चिम समुद्र में (अरबी समुद्र नाम बदलकर) प्रचंड जल तोपों का खड़ा पहरा दे रहे हैं, हिंदू संशोधकों के वैमानिक पथक उत्तर ध्रुव पर तथा दक्षिण ध्रुव पर नए भूभाग खोजकर हिंदू ध्वज फहरा रहे हैं। ज्ञान, कला, वाणिज्य, विज्ञान, वैद्यक आदि हरेक कर्तव्य क्षेत्र में सैकड़ों हिंदू स्पर्धक विश्व उच्चांक प्राप्त कर रहे हैं। लंदन, मास्को, पेरिस, वाशिंगटन आदि राष्ट्रों के राजप्रतिनिधियों की भीड़ हिंदू साम्राज्य की बलशाली राजधानी के, उस उज्जयिनी के महाद्वार के पास, हिंदू छत्रपतियों को अपने-अपने उपहार अर्पित करने हेतु प्रतीक्षा कर रहे हैं। यदि आज पेशवाई होती तो ऐसा होता ही कैसे मान सकते हैं? यदि मनोराज्य ही करना है तो इस प्रकार करें—यदि पेशवाई होती तो कुछ अंशों में लगभग इसी प्रकार के मनोराज्य देखती और पहले बाजीराव की पेशवाई में हम सुधारकों को हाथी के पैरों तले कुचलने की बजाय हाथी की पीठ पर रखी हुई अंबारी में ही बैठाया गया होता।

क्योंकि प्रथम बाजीराव या शिवराय की सहानुभूति की टिप्पणी किसी सामान्य भटजी या चंद्रराव मोरे की टिप्पणी से अधिक हम संगठित सुधारकों की टिप्पणी के अधिक समान होती। ये दोनों अपने समय के महावीर थे और 'सुधारक' थे। कारण, उन दोनों के ही धार्मिक और सामाजिक रूढ़ियों के विरोध में होनेवाले व्यवहार को सनातनियों ने तो बहिष्कार योग्य माना होता। शिवाजी ने स्वतंत्र हिंदुस्थान का स्थापनकर्ता के रूप में क्षत्रियत्व पर अपना अधिकार जताया और वेदोक्त राज्याभिषेक हो इसके लिए 'शास्त्र' के विरोध में हठ किया। इसलिए उनपर मुसलमानी बादशाह को सुबह-शाम कुर्निसात करनेवाले मुरदा मराठे सरदार और पैठण के पक्वान्नपुष्ट ब्राह्मण क्रोधित हुए थे। मुसलमानों द्वारा भ्रष्ट किए गए हिंदुओं को शुद्ध करने का पातक करके शिवाजी ने सनातनी शास्त्र का अपमान किया वह अलग। पहले बाजीराव का पानी तो एकदम बेछूट था। हिंदू कन्याओं को मुसलमानों के घर भेजने का परंपरागत सनातन धर्म छोड़कर उनके द्वारा मुसलमान लड़कियों को हिंदू घरों में लाया गया। हिंदुओं को हिंदू स्त्री से प्राप्त व्यभिचारी संतानें मुसलमानों को दे देने से शुद्ध हो जाती हैं यह सनातन शास्त्र! परंतु बाजीराव ने मुसलमान स्त्री को हिंदू से हुई मस्तानी की चित्तपावन संतान को जनेऊ पहनाकर शुद्ध कर लेने का आग्रह किया तो इस पाप के लिए पेशवाओं के घर पर सनातनियों ने बहिष्कार किया। इस प्रकार की पेशवाई होती तो हाथी के पैरों तले कौन गया होता यह हमारे सनातनी भटजी, शेठजी को स्वयं से पूछना चाहिए? वेदोक्त को अनुकूल करके कुर्तकोटि के ही शंकराचार्य के पद पर बैठने की संभावना अधिक थी। 'किर्लोस्कर' की तोपें, बेडरी आदि शस्त्रास्त्रों के भव्य कारखानों का 'क्रूप'

बनाया होता। धर्मभास्कर मसूरकरजी को उनके शुद्धिकार्य के लिए सोने की पालकी में बैठाकर शोभायात्रा निकालकर गोमंतक का धर्मपीठाधीश्वर नियुक्त किया होता। हमें हाथी के पैरों तले न कुचलते हुए किसी और पुण्य के लिए नहीं तो भी भाषा शुद्धि के कार्य हेतु रघुनाथ पंडितजी को सहयोग देने के लिए शिवाजी महाराज ने रख लिया होता।

हमारे सनातन बंधुओं को यह बात भूलना नहीं चाहिए कि परराज्य की अपेक्षा स्वराज्य में सामाजिक तथा धार्मिक सुधार अधिक सुलभता से और तेज गति से हो जाते हैं। जापान को स्वराज्य मिलते ही वह जाग्रत् हो गया और केवल पचास वर्षों में ही आधुनिक बनकर यूरोप की बराबरी करने लगा। हिंदू पदपादशाही के धुरंधर भी यूरोप की युक्तियाँ सीखने लगे थे। मराठों ने भी यूरोप के समान सैन्य संचालन और तोपों के कारखाने शुरू कर दिए थे। मुद्रण की खोज की ओर नाना फड़नवीस के समान चतुर पुरुष का ध्यान आकर्षित हो गया था। 'गीता' के लकड़ी के अक्षर नाना ने तैयार कराए थे। काशी में पुल बनाना था और पानी नहीं समाप्त हो रहा था तो अनुष्ठान शुरू हुआ था। यह सुनकर नाना ने अनुष्ठान बंद करवाकर यूरोप की तकनीक उपयोग में लाकर पानी सोखा। दैवी अनुष्ठान से तकनीक अच्छी, यह ज्ञात हो गया था। स्वराज्य होता तो इसी प्रकार हिंदुस्थान शत गुना अधिक गति से यंत्रयुग में, विज्ञान युग में प्रवेश करता यही अधिक संभव होता। उस शीघ्रता से वह सुधारक भी बन जाता। क्योंकि यंत्र और विज्ञान के पीछे-पीछे सामाजिक सुधार को भी दौड़ते हुए दास के समान आना ही चाहिए। अभी का प्रत्यक्ष प्रमाण ही देखिए। जो थोड़ा अधूरा स्वराज्य बचा है वही सुधार शीघ्रता से हुआ या नहीं? बड़ौदा के सयाजी राव ने राज्य की भाषा हिंदी कर दी। अनेक प्रगत नियम राज्य में शुरू करके अहितकारक और दूषित धार्मिक रूढ़ियों को दंडनीय माना। 'अस्पृश्य शब्द को मेरे राज्य की सीमा से बाहर कर देना चाहिए,' इस प्रकार का आदेश कोल्हापुर के छत्रपति ने किया था। ऐसा ही कोई धर्मसुधारक महापुरुष साम्राज्य का अधिपति नहीं होता—ऐसा किस आधार पर माना जाए? और हम स्वयं ही पेशवा या नाना फड़नवीस नहीं हुए होते यह किस आधार पर?

तब बवा मूँछ होती तो क्या होता, इस वाद में न पड़ते हुए गंगभट और 'हम जैसे हैं वैसे हैं' ऐसा समझकर जो तर्क करना हो वह करना ही उचित होगा।

□

हमारी धर्मभावना को मत दुखाओ

कुछ दिन पूर्व लोणी गाँव में एक सनातन धर्म-परिषद् हुई थी, तब उसमें एक प्रस्ताव पारित हुआ कि अस्पृश्यता निवारण, जाति-उन्मूलन, स्पृश्य-अस्पृश्यों के सहभोज, विवाह पद्धति का उच्चाटन आदि अधर्म्य और गर्हणीय सनातन वैदिक संस्कृति के उच्छेदन का कार्य 'कांग्रेस' और हिंदू महासभा के कुछ नेताओं ने चलाया हुआ है जिसका सनातन धर्म परिषद् विरोध करती है; परंतु इस प्रस्ताव से भी परिषद् के चालकों को संतोष नहीं मिला। उन्होंने एक अन्य प्रस्ताव यह रखा कि 'स्वेच्छाचार प्रवर्तक' और धर्मभावना विघातक, वाङ्मय द्वार समाज का बुद्धिभेद करनेवाले बैरिस्टरों, सावरकर आदि लेखक और 'किर्लोस्कर' मासिक पत्र का भी यह सभा तीव्र निषेध करती है।

हरेक से उसके लेख के संबंध में बोलो

हिंदूसभा या राष्ट्रसभा के नेता हों, सभी एक ही प्रकार के विचार एक ही तरह से नहीं बताते। इसी प्रकार 'किर्लोस्कर' के समान प्रसिद्ध और विविध विषयों पर नामांकित लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित करनेवाली मासिक पत्रिका के लेखक एक ही प्रकार के विचार प्रतिपादित नहीं करते। जो लेखक 'जाति-उच्छेदन' जैसे किसी विषय पर एकाध लेख लिखते हैं वे इसी अंक में प्रकाशित अन्य विषयों के लेखों के विचारों से सहमत नहीं होते हैं। संपादक अनेक प्रसंगों में अपने विचार-प्रवर्तक नियतकालिक में महत्त्वपूर्ण विषयों पर पूर्ववत् और उत्तर पक्ष दोनों प्रकार के विद्वानों के लेख जान-बूझकर प्रकाशित करते हैं। ऐसे प्रकरण में जिसका लेख जिस विषय पर होगा उसे उस विषय के लिए ही उत्तरदायी मानना चाहिए। किसी भी अंक के सभी लेखों का दायित्व सामूहिक रीति से सबपर लादना और इनमें से किसी एक का विचार अन्य सभी लेखकों का और संपादक का भी विचार मानना हास्यास्पद है। परंतु यह महाभूल भी यह प्रस्ताव करनेवाले सांख्य वेदांततीर्थ

मीमांसा मार्तंडादि की परिषद् की शास्त्री मंडली के ध्यान में क्यों नहीं आई? क्वचित् ऐसा भी होगा कि वह परिषद् केवल श्रद्धानिष्ठ लोगों की होने के कारण बुद्धि उसका सदस्य नहीं बन सकी।

धर्मभावना-विघातक और बुद्धिभेदक का अर्थ?

इस परिषद् में हमारे और 'किर्लोस्कर' के संपादक के निषेध का जो स्वतंत्र प्रस्ताव किया गया, हमारे नामोल्लेख के साथ, उसमें हमारे सनातनी बंधुओं ने उपर्युक्त दो आरोप हमारे विरोध में लगाए हैं। हमने अपने इस लेख द्वारा अपने हिंदू संगठनार्थ और उद्धारार्थ जिन सुधारों को बताया है, उनकी आवश्यकता और उपयुक्तता उन्हें पटाने का प्रयास ममत्व-बुद्धि से करने की हमारी उत्कट इच्छा सदैव रहने से, इन सुधारों के संबंध में हमारे धर्मबंधुओं के आरोपों का निराकरण जितनी बार आवश्यक हो उतनी बार, बार-बार करना हमारा कर्तव्य है और उसमें भी हमारे 'लेखों के कारण 'धर्म-भावनाएँ दुखती हैं' और 'सामान्य जनों का बुद्धिभेद होता है इसलिए ऐसा क्यों करना चाहिए' इस प्रकार के सवाल हिंदू संगठन से संबंधित लोग सहयोग और सहानुभूति रखनेवाले अनेक मध्यम प्रवृत्ति के लोग और हितचिंतक भी बार-बार पूछते हैं। अतएव 'किर्लोस्कर' मासिक में लेख लिखकर स्पष्टीकरण करने के बाद भी फिर से इस लेख में हम आरोपों का सविस्तार उत्तर दे रहे हैं। इससे यह स्पष्ट होगा कि हम न तो धर्म-भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं और न ही किसी का बुद्धिभेद करते हैं। अपने हिंदू राष्ट्र के और मनुष्य मात्र के उद्धार हेतु जो आवश्यक कर्तव्य और प्रत्यक्ष प्रयोग से अबाधित होकर बने रहनेवाले सत्य का ही प्रचार करते हैं वह सद्धर्म को कभी हानिकारक और दुःखदायी नहीं होगा। यदि कुछ होता है तो दुर्बुद्धिभेद होता है, अपधर्म-भावनाओं को ठेस पहुँचती है। हम बुद्धिभेद नहीं करते और धर्म-भावनाओं को भी चोट नहीं पहुँचाते।

अपने हिंदू राष्ट्र का उद्धार हम सबका आज का ध्येय है

अपने हिंदू राष्ट्र का उद्धार ही वाद करते समय हम सबको विस्मरण हो जाता है कि हम सबमें कितने ही मतभेद हों, हम सबका ध्येय एक ही है। हम सबको प्राणों से भी अधिक प्रिय स्वदेश और राष्ट्र को आज की पतन अवस्था से उद्धार कर उसे जगत् के किसी भी राष्ट्र की तुलना में थोड़ी भी कमी महसूस न हो इसलिए उसे संगठित, सशक्त और प्रगतिशील करना है। मानवता के लिए संघर्ष करने की पात्रता और बल उसमें आ जाए यही हमारे हिंदू संगठन पक्ष का उद्देश्य

है। इस हिंदू राष्ट्र के और हिंदू धर्म के परिमाणार्थ और संस्थापनार्थ हमारे सनातनी पक्ष का भी अंत:करण दु:खी होना ही चाहिए। हिंदू राष्ट्र के एकनिष्ठ अनुयायी, उनमें शक्ति और युक्ति हो या न हो, परंतु हिंदुत्व की विजयाकांक्षा जिनके हृदय में है ऐसे लोग हमारी वेदशालाओं, शस्त्रशालाओं और सनातन मंडलों में मिल सकते हैं। हम सब एक मातृभूमि की संतानें हैं। एक राष्ट्र की, एक धर्म की, एक संस्कृति की संतानें हैं। सनातनी या संगठक हिंदू सब आपस में धर्मबंधु हैं, राष्ट्रबंधु हैं।

ऐसी हमारी भावना होने से हम सनातन बांधवों के संबंध में जो कुछ लिखेंगे उन्हें स्वकीय समझकर बंधु भाव से लिखेंगे, बैरभाव से नहीं। इतना ही नहीं अपितु हिंदू राष्ट्र की उन्नति के लिए आवश्यक सुधार करते समय क्रोधी या मूर्ख सनातनी यदि हमें गलत बातें बोलते और परेशान करते हैं तो भी उनके संबंध में हमारी बंधुभावना थोड़ी भी कम नहीं होगी या उनकी स्वधर्मनिष्ठा के संबंध में हमारा आदर भी कम नहीं होगा। हर पक्ष में कुछ चिड़चिड़े, मूर्ख, मिथ्याचारी होते ही हैं। सनातनी लोगों में कुछ पाखंडी हैं, तो क्या संगठक या सुधारक पक्ष में नहीं? हमारे किसी भी लेख में पक्षपात न हो, ऐसा हम यथासंभव कोशिश करते हैं। हमारा हेतु, हमारे द्वारा प्रतिपादित सुधार अपने हिंदू राष्ट्र की उन्नति के लिए कितने अनिवार्य और उपकारक हैं यह हमारे सनातनी बंधुओं को समझाकर उनका मत परिवर्तन करना और इसीलिए उन्होंने हमारा कितना भी निषेध किया तो भी हम शांति और संयम बनाए रखकर उन्हें समझाने का प्रयत्न बार-बार करेंगे, हमें विश्वास है, आज तक के अनुभव से, उनमें से अधिकांश प्रामाणिक लोग धीरे-धीरे हमारे कार्यक्रम का बुद्धिपूर्वक समर्थन करेंगे।

यदि किसी की धर्म-भावनाएँ दूसरे को अधर्म लगती हों तो उनका निषेध किए बिना कैसे होगा?

अस्पृश्यता निर्मूलन, जातिभेद निवारण आदि जो सुधार हम करना चाहते हैं वे धर्म-विरोधी हैं और उनके कारण हिंदू राष्ट्र की हानि होने वाली है इसलिए उनका समर्थन करना निदंनीय है ऐसा प्रस्ताव किसी परिषद् ने रखा तो वह बात भिन्न होगी। ऐसा प्रस्ताव उनकी वर्तमान श्रद्धा के अनुकूल होगा, परंतु ऐसा करते समय उनकी यह भावना कि हमारे जैसे लोग दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुँचाते हैं और उनका बुद्धिभेद करते हैं—ऐसा जो निषेध उन्होंने किया है वह सर्वथा अनावश्यक है तथा यह उनके ही विरुद्ध जाने वाला है।

कारण कि जिसको जो आचार-धर्म ठीक लगता है या जो आचार-धर्म रूढ़ होगा वह गलत है ऐसा कोई कहेगा तो उसकी भावना दुखेगी। श्रुति-स्मृति को अज्ञात ऐसे लोक-व्यवहार भी धर्म हैं, इसलिए उनको आदरणीय लगते हैं और ये

धर्माचार समझकर उन्हें व्यवहार में लाना चाहिए ऐसा श्रुति में प्रमाण भी मिलता है। 'यस्मिन्देशे य: आचार: पारंपर्यक्रमागत: । वर्णानां किल सर्वथा स सदाचार उच्चते।' या 'यद्यदाचर्यते येन धर्म्य वाधर्म्यमेव वा। देशस्याचरणं नित्यं चरित्रं तद्धि कीर्तितम्॥' इन वचनों से लोकाचार, धर्म्य या अधर्म्य होंगे तो भी देश के लिए धर्म होते हैं ऐसी सदाचार की श्रेणी विस्तृत है। अत: जो-जो आचार-धर्म लोगों द्वारा किया जाता है वे कितने भी निंद्य, राष्ट्रविघातक, हिंसक या जंगली होंगे तो भी उनका निषेध करना उन लोगों की भावनाएँ दुखाना ही होगा। उनका बुद्धिभेद ही होगा। अतएव धर्म-भावनाएँ दुखानी नहीं चाहिए, अज्ञानियों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए ऐसा कहना अज्ञानियों को यावत्चंद्र दिवाकरौ अज्ञानी ही रहने दो ऐसा कहने के समान नहीं होगा? इस प्रकार का नियम नए संगठनवादी सुधारकों के समान ही इस परिषद् के सनातनी लोगों की जीभ पर बंधनकारी होगा। इसलिए सामाजिक या धार्मिक चर्चा के संबंध में बोलना भी सबको और इसलिए उन्हें भी असंभव होगा। ऐसे मत-प्रचार को मृत्युदंड होगा। सनातनी भी इस अर्थ में धर्मभावना को ठेस पहुँचाए या बुद्धिभेद किए बिना एक क्षण भी नहीं रह सकते यह इस सभा के उदाहरण से ही दिखाया जाएगा।

सनातनी आपस में ही परस्पर धर्म-भावनाओं को कुचलते हैं। बुद्धिभेद करते हैं।

लोणी परिषद् की शास्त्री मंडली को भी कुछ धार्मिक सुधार करने की इच्छा हुई। उन्होंने हिंदू राष्ट्र को वर्तमान संकट से बचाने के लिए दहेज लेना-देना नहीं चाहिए, अन्य तरह के उपहार साड़ी-चोली आदि भी नहीं देना चाहिए—विवाह में परस्पर हँसी-मजाक की बातें न हों—दामाद रूठे नहीं, लोग भ्रष्ट हो रहे हैं, मुसलमानों के दंगे हो रहे हैं, कन्यापहरण, मंदिरों का ध्वंस आदि पूरे देश में अत्याचार हो रहे हैं; हिंदुस्थान को पाकिस्तान बनाने का विचार चल रहा है; मिशन के लोग घरों को खोखला बना रहे हैं; अस्पृश्य हमारे छल के कारण और उनके विधर्मियों द्वारा पटाने के कारण समाज से अलग हो रहे हैं; न राष्ट्र, न राज्य, और न अन्न—इस प्रकार के जीर्ण राष्ट्र को तारने के लिए इन न्याय-मीमांसा, वैदिक तर्क, वेद वाचस्पतियों को उपर्युक्त उपाय दिख रहे हैं, परंतु उसमें भी प्रश्न ऐसा है कि ये रूढ़ियाँ लाखों लोग सैकड़ों वर्षों से शिष्टाचार, सदाचार और धर्माचार समझकर चला रहे हैं। हजारों महिलाओं तथा भाविक कुलाचारनिष्ठ लोगों को इन बातों को त्यागने से या उनका निषेध करने से दु:ख होगा। इतना ही नहीं अपितु शादी का कुलधर्म, कुलाचार पूरा हुआ ऐसा उन्हें नहीं लगेगा। यह बात स्पष्टता से

घर-घर होते हुए भी लोणी के सनातनी लो[illegible]ने इन लाखों लोगों के शिष्टाचार कुलाचार, कुलधर्म को क्यों दुखाएँ? वे अज्ञानी हैं इसलिए? परंतु 'न बुद्धिभेदं जनयेद् अज्ञानां कर्मसंगिनाम् [illegible] कर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्।' यह शास्त्रार्थ आपका ही है, हम [illegible] न अज्ञजनों का आप बुद्धिभेद क्यों करते हैं? इस परिषद् के अध्यक्ष ने तो ब्राह्मणों के हृदय को ही नोच डाला।

इस सनातन परिषद् के अध्यक्ष वेदशास्त्र-संपन्न श्रीधर शास्त्री वारे ने कहा है कि 'वैदिक लोक हो, मंत्र केवल कंठस्थ करने से नहीं होगा।' केवल अर्थशून्य मंत्र-पाठों से संस्कार की सामर्थ्य नहीं जगाई जा सकती अपितु मंत्र सिद्ध करके मंत्र सामर्थ्य बढ़ाना चाहिए, अब यह सच है तो आज के वैदिक पुरोहित, ब्राह्मणों द्वारा जो हमारे संस्कार किए जा रहे हैं, मंत्र-जापादि धार्मिक कृत्य संपादित किए जा रहे हैं उनके मन को बिच्छू ने डंक मारा ऐसा नहीं होगा क्या? क्योंकि केवल कंठस्थ मंत्र कहने पर भी धर्मसंस्कार ठीक होते हैं यही उनकी पीढ़ी-दर-पीढ़ी भावनाएँ रही हैं। आज भी हजारों पुरोहित समाज के समस्त संस्कार कंठस्थ अर्थज्ञानशून्य मंत्रों से ही संपन्न कर रहे हैं। उनमें कुछ अधमता कोई दोष मानते नहीं। फिर उनके दोष दरशाकर उनकी धर्म-भावनाओं को क्यों दुखाया? केवल कंठस्थ मंत्र बोलना अहितकारक है ऐसा कहकर उनका बुद्धिभेद क्यों किया?

धर्म-भावनाएँ चाहे कितनी ही अधर्मप्रवण हों, लोक-विरोधी हों, भ्रमपूर्ण हों, परंतु उनका निषेध नहीं करना चाहिए, उन्हें दुखाना नहीं चाहिए। किसी भी सामाजिक या धार्मिक रूढ़ि को, वह कितनी ही दरिद्र और हानिकारक हो तो भी उसका विरोध करके अज्ञजनों का या भ्रांतजनों का बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए—ऐसा यदि कहेंगे तो आपको हिंदू महासभा, बैरिस्टर सावरकर, 'किर्लोस्कर' आदि का निषेध करने के पूर्व तुकाराम का निषेध करना चाहिए था। क्योंकि 'शाक्त गधड़ा जये देशी, तेथे पापाचिया राशि॥' कहकर उन्होंने शाक्तों की और 'गण्या गणपति विक्राल। लाडू मोदकांचा काल।' कहकर गाणपत्यों की भावनाएँ निंदाजनक शब्दों से दुखाई थीं। संत रामदासजी ने भी कहा है—

'पाषाणांचा देव केला। एके दिवशी भंगोनि गेला।
तेणे भक्त दुखाला। रडे पडे आक्रंदे॥ १॥
एक देव घटिला सोनारी। एक देव ओतला ओतारी॥
एक देव घडिला पाथारी। पाषाणंचा॥ २॥
धातु-पाषाण मृत्तिका। चित्रलेप काष्ठ देखा॥
तेथे देव कैचा मूर्खा। भ्रांति पडली॥'

(दासबोध)

अर्थात्—पत्थरों का देव बनाया। एक दिन वह खंडित हो गया। जिससे भक्त की भावना को ठेस पहुँची और वह रोने लगा। एक देव सुनार ने बनाया तो एक देव धातुकार ने बनाया। धातु-पाषाण और मृत्तिका और चित्रांकित लकड़ी को देखो। वहाँ भगवान् कैसे हो सकता है, मूर्ख, केवल चित्त का भ्रम है।

इस प्रकार निर्गुण की महिमा करते-करते मूर्तिपूजा का रहस्य न समझने से पत्थर-मूर्ति को ही प्रत्यक्ष देव, पिता के छायाचित्र को ही पिता माननेवाले भोलेपन की ही यह विडंबना है। इस भाव से पत्थर, म्हसोबा, भैरव को पूजनेवाले सहस्रों जनों की धर्म-भावनाएँ दुखाई नहीं क्या? बुद्धिभेद नहीं हुआ क्या? ज्ञानेश्वर, एकनाथ, रोहिदास इनकी बात तो रहने दीजिए, परंतु प्रत्यक्ष आद्य शंकराचार्य की कर्ममार्गियों की और मीमांसकों की 'धर्मभावना' शंकरा-भाष्य के हर पृष्ठ पर दुखाई नहीं गई है क्या? बुद्धिभेद नहीं हुआ है क्या?

दूर जाने की आवश्यकता नहीं। लोणी की धर्म-परिषद् में जितने सांख्य शास्त्री, मीमांसक या अद्वैती थे उनमें से हरेक का दर्शन दूसरों की धर्म-भावनाएँ दुखाने और बुद्धिभेद करने का नहीं था क्या? मीमांसक कहते थे, 'हमें ईश्वर-वीश्वर मालूम नहीं।' यज्ञादि वैदिक कर्म में पशुहिंसा करते थे। इससे भक्ति मार्गी वैष्णव और अद्वैती लोगों की भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचती क्या? सांख्य मार्गी कहेंगे कि 'पुरुषा विशेषो तंत्र' और निरीश्वरवादी कहेंगे, 'पुरुष और प्रकृति, पुरुष-अनंत प्रकृति आदि सांत!' इस प्रकार माया-मोह में फँसे हुए भ्रांत लोगों को अद्वैती कहेंगे 'सर्वं खलु इदम् ब्रह्म' इस प्रकार के ये लोग दूसरों की धर्म-भावनाओं का निषेध करते हुए सत्य और राष्ट्रहितकारक प्रचार के समय बड़े भोले बन हमें डाँट रहे हैं कि 'धर्म-भावनाएँ मत दुखाओ! बुद्धिभेद मत करो॥'

गोरक्षक स्त्री-पुरुषों का विनोद

धर्मभावना दुखाने का और बुद्धिभेद करने का अपराध हम सुधारक कर रहे हैं ऐसा समझकर गोरक्षक मंडली हमपर उखड़ी हुई थी। ये लोग गाय को मंदिर में बाँधकर समंत्रक पूजा करते हैं। उसे गंध-फूल चढ़ाकर, आरती उतारकर उसकी पूँछ अपनी आँखों पर से घुमाते हैं। उसके खुर की विभूति लेते हैं और उसका गोमूत्र-गोबर मिलाकर पंचगव्य बनाकर पीते हैं। परंतु उतने में यदि वहाँ कोई अस्पृश्य पहुँचा तो उससे अपवित्र न हो इसलिए ये लोग दूर भागते हैं। कभी-कभी इस अस्पृश्य को ही भगा देते हैं। गोरक्षक स्त्री-पुरुषों का ऐसा व्यवहार हमने कई बार देखा है इसलिए उनमें से कुछ से हमने पूछा कि 'गाय जैसे एक पशु के स्पर्श से आप अपवित्र नहीं होते और पंचगव्य पीने से आपकी जिह्वाएँ अपवित्र नहीं होतीं

तो स्वच्छ, सुशिक्षित, सुशील अस्पृश्य, अपना धर्मबंधु, उसकी छाया से भी दूर क्यों भागते हैं ? और हम अस्पृश्यों को एक मानव समझकर स्पर्श करते हैं तो आप हमारी निंदा करते हैं ?' इसपर गोरक्षक कहते हैं कि 'गाय की निंदा मत करो ! अपने विचार अपने पास रखो ! हमारी धर्म-भावनाएँ दुखाने का या हम लोगों का बुद्धिभेद करने का आपको अधिकार नहीं।' इस प्रकार कहते हुए वे हमपर क्रोध करते थे। उनमें एक हमारे आदरणीय चौड़े महाराज भी होते थे।

इस कारण आजकल कीर्तनों में और लेखों में बहुत मजा आता है। प्रथम वे आदिशक्ति जगन्माता गो-देवि को हमने एक उपयुक्त पशु कहकर उनकी धर्म-भावनाओं को दुःखी किया और सामान्य जनों का हमने बुद्धिभेद किया, इसलिए हमारे पापों का निषेध करते हैं और तुरंत दूसरे वाक्य में पशुबलि देने की धर्मभावना तामसी, क्रूर, जंगली होने के कारण अतिशय निंदनीय है ऐसा स्पष्ट बताते हैं। इस प्रकार वे भी सामान्य जनों की धर्म-भावनाओं को दुखाने का पाप स्वयं पुण्य समझकर व्यवहार में लाते हैं।

सारांश यह है कि किसी की धर्म मान्यता को सुधारने का प्रयास यदि धर्मभावना को दुखाने का और बुद्धिभेद करने का पाप होता है तो इसके बाद सनातनियों को भी मतप्रसार या सत्य का प्रचार करने के लिए शब्द उच्चारना असंभव होगा। दो दूनी पाँच कहनेवाले लड़के का बुद्धिभेद न हो इसलिए उसे दो दूनी चार होते हैं ऐसा कहना गुरुजी के लिए चोरी हो जाएगी। इसके विपरीत अज्ञानी लड़का होने के कारण विद्वान् गुरु को ही दो-दो पाँच कहना पड़ेगा। कारण 'जोषयेत् सर्वकर्माणि विद्वान् युक्तः समाचरन्!' परंतु न बुद्धिभेदं जनयेत् अज्ञानां कर्मसंगिनाम्॥' बुद्धिभेद का यदि ऐसा अर्थ लगाना हो तो इसके बाद मूर्खों को विद्वान् बनाने का विचार छोड़कर विद्वानों को ही मूर्ख होना आवश्यक है।

यदि यह दुरवस्था टालनी हो तो 'धर्मभावना' दुखाने की और बुद्धिभेद की उपर्युक्त विक्षिप्त व्याख्या का त्याग कर उसकी युक्तिसंगत व्याख्या ही स्वीकारनी होगी। जिसको जो सत्य दिखाई देगा उससे वह प्रकट रूप से बताना चाहिए। जो सामाजिक या धार्मिक व्यवहार लोकहित-विरोधी होगा या असत्य के आधार पर होगा, वह वैसा है यह युक्तिसंगत चर्चा करने का अधिकार प्रत्येक को होना चाहिए। जब तक वह प्रचार सभ्य, युक्तियुक्त और सदिच्छापूर्ण है और केवल मत्सरग्रस्त हेतु से व्यक्तिशः किसी की विषयांतरपूर्वक मानहानि नहीं करता, तब तक किसी की धर्मभावना दुखाने का दोष उस प्रचार से हुआ ऐसा नहीं समझना चाहिए। वैसे ही बुद्धिभेद नहीं करना इसलिए दुर्बुद्धिभेद भी नहीं करना चाहिए ऐसा समझना केवल मूर्खता है। कोई अनिष्ट भावना, धर्म मानकर आदरित की जाती हो

तो उसका भी उच्छेद करना प्रत्येक लोकहितैषी पुरुष का कर्तव्य है। वह भावना धार्मिक होकर भी दुर्बुद्धि है, बुद्धि नहीं। बुद्धिभेद नहीं करना चाहिए इसका मतलब इतना ही कि जिस भावना से या कृति से, लाभ की अपेक्षा थोड़ी सी हानि हो रही है तो लाभ की स्थिति में उसको ही अधिक महत्त्व देकर उसका उच्छेद नहीं करना चाहिए। 'अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन, विचारमूढः प्रतिमासि में त्वम्॥' ऐसा उस प्रकरण में कह सकेंगे। जैसा किसी बच्चे को शक्कर लपेटकर दवाई की गोली देना, परीक्षा में उत्तीर्ण होने पर मिठाई बाँटना, दशहरे के त्योहार में सोना बाँटना, रंगपंचमी को रंग खेलना, इस प्रकार की रूढ़ियों को परंपरा से पालना। वे लाभकारक या निरुपद्रवी हों तो लोकसंग्रहार्थ उचित मर्यादा में लोगों का रुझान देखकर व्यवहार में लाना चाहिए।

इस सूत्रानुसार धर्म-भावनाएँ दुखाने का या बुद्धिभेद करने का आरोप हमपर आना असंभव है। और यदि वह आना संभव है तो श्रीकृष्ण से लेकर ज्ञानेश्वरादि संतों तक हरेक महान् मत प्रचारक पर भी आ सकेगा, इतना ही नहीं अपितु लोणी परिषद् के 'दामादों को नाराज नहीं होना चाहिए। पहेलियाँ नहीं बुझानी चाहिए।' जैसे भुक्कड़ प्रस्ताव रखनेवाली बूवा पर भी आ सकता है।

एक मजा ऐसा कि हिंदू राष्ट्र पर आनेवाले संकटों को टालने के लिए 'दामादों को नाराज होकर बैठना नहीं चाहिए।' जैसा समाज-विघातक प्रस्ताव पारित किया और अद्भुत राष्ट्रीय महत्त्व का उपाय सुझाया, इतनी सुधारणा अपने धर्मसंस्कार में करने का साहस हम क्यों कर रहे हैं; यह परिषद् कहती है कि 'अभी की हिंदुओं की स्थिति ध्यान में लेकर हमारे संस्कार में प्रचलित अधिक व्यय की प्रथाएँ समाज-विघातक तथा अनावश्यक होने के कारण उन्हें समय पर नियंत्रण में रखना आवश्यक है। इसका अर्थ ये लोग 'आज की परिस्थिति' इस बात को तो जानते हैं? और इसे ध्यान में रखकर समाज-विघातक प्रथाएँ बदलना उन्हें आवश्यक लगता है। इसी प्रकार समाज में कुछ ऐसी प्रथाएँ, कुलधर्म, कुलाचार हैं कि उनका निषेध लाखों सामान्य लोगों की धर्मभावना दुखाने और बुद्धिभेद करने के लिए समाजहितार्थ उन्होंने आगे-पीछे देखा नहीं। तो फिर 'वर्तमान परिस्थिति' इस शास्त्र के आधार पर हिंदू राष्ट्र के परित्राणार्थ हमें अस्पृश्यता निर्मूलन, समुद्रबंदी-रोटीबंदी का उच्छेद, जन्मजात जातिभेद के फालतू आचारों का उच्चाटन, आदि सुधार आज 'आवश्यक' लग रहे हैं। समाज-विघातक ऐसी बहुत सी रूढ़ियाँ अशास्त्रीय होने के कारण बदलना आवश्यक लगता है इसलिए हम उन्हें बदलना चाहते हैं। इस काम के लिए 'रूठनेवाले दामाद' की कुलधर्म भावना दुखाकर उपहारवालों का बुद्धिभेद करने जैसा निषेधार्थ नहीं मानते, वैसे ही हमारे इस प्रचार को भी आप

धिक्कार नहीं सकते। क्योंकि हमारे मत से स्पर्शबंदी, शुद्धिबंदी, समुद्रबंदी, रोटीबंदी आदि अनंत हाथों से हिंदू राष्ट्र के संगठन बल के जड़ पर ही चोट लगानेवाली पंडिताई जातिभेद धर्म न होकर, सद्य:स्थिति में समाजघातक महान् अपधर्म हो चुका है। यह दुर्बुद्धि है, बुद्धि नहीं।

हमारे समान आपको ये सुधार कुधार लगते हों तो आरोप करे। शुद्धि से हिंदू राष्ट्र का संख्याबल घटता है—जातिभेद से—एक ब्राह्मण जाति में एक हजार रोटीबंद, बेटीबंद जातियाँ बनाने से ही हिंदू राष्ट्र मजबूत हो रहा है ऐसा निर्भयता से कहते रहें। किंतु हमें जो सत्य लगता है वह आपको असत्य लगता है इसलिए हम उसे छोड़ दें। हमें स्पष्ट दिखता है, आपकी वह बुद्धि समाज-विघातक दुर्बुद्धि है फिर भी हम बोलेंगे तो निषेधार्ह! ऐसा आरोप करना छोड़ दीजिए नहीं तो वह आरोप आप पर भी लागू होगा।

हमारा शास्त्राधार 'वर्तमान स्थिति' है, उसे आपने मान लिया यह प्रशंसनीय बात है। फिर किस मुँह से आप हमें वह आधार लेने के लिए मना करेंगे। सबसे अधिक भयग्रस्तता की सनातनी परमावधि यानी इस परिषद् में एक भी ऐसा प्रस्ताव पारित नहीं हुआ जिसने अभी के मुसलमान आदि अहिंदुओं के अत्याचारों का निषेध किया हो। मानो अत्याचारों से इनकी भावनाओं को ठेस नहीं पहुँचती हो। जैसे आज की लोणी परिषद् की शास्त्री मंडली की धर्मभावना के सही शत्रु केवल हिंदू महासभा के नेता ही हैं। श्रद्धानंद, लाजपतराय, परमानंद, मालवीय, जिन्होंने हिंदू राष्ट्र के सम्मानार्थ अहिंदू कट्टरवादियों से आजन्म संघर्ष करके स्वयं पर प्राणांतक संकट मोल लिये, आजीवन देह-यातनाएँ सहीं। हिंदू राष्ट्र के गौरव के लिए कर्तव्य के रणक्षेत्र में लड़ते समय जिनके शरीर पर कोई खरोंच न आई हो, ऐसा हो नहीं सकता, पर यह अनदेखा कर, वे मिष्टान्न से पुष्ट शब्दवीर हिंदू महासभा के धर्मवीर नेताओं का निषेध करते हैं। स्वयं को क्षत्रिय घोषित कर लेने से मेरी धर्म-भावनाएँ दुखित हुई हैं ऐसा कहते हुए शकार शिवाजी का निषेध करता है।

☐

धर्म के पागलपन के विष को नष्ट कर सकेगा विज्ञान-बल

किसी भी एक तत्त्व का सर्वसामान्य विचार करना प्रसार के लिए जैसे आवश्यक होता है, उसी प्रकार सर्वसाधारण विचार करते समय विशिष्ट व्यक्तियों की विशेष शंकाओं का समाधान करने से, कुछ प्रकरणों में वही सर्वसामान्य तत्त्व बहुसंख्यक लोगों को व्यक्तिगत रूप से समझाने के लिए बहुत उपयोगी होता है

अपने हिंदू राष्ट्र की दृष्टि पंडिताऊ नहीं, विज्ञाननिष्ठ होनी चाहिए। पुराण प्रवृत्ति एवं सनातन प्रवृत्ति छोड़कर अद्यतन प्रवृत्ति होनी चाहिए। इस तत्त्व की चर्चा आज तक हमने जो 'किर्लोस्कर' आदि मासिक पत्रों में की और जिसका अधिकतर भाग जिन्हें सही लगा है वे भी किसी के कुछ तो अन्यों के कुछ सामान्य कारणों से तथा व्यक्ति विशिष्ट शंकाओं के कारण वे अभी तक सर्वमान्य नहीं हो रहे हैं। इन व्यक्तियों की शंकाओं का अलग-अलग चर्चा करके निर्मूलन किया जाए तो इस मंडली को उनकी पसंद की बातों का उदार मन से समर्थन करना संभव दिखता है। अत: इन वैयक्तिक शंकाओं का अलग-अलग विचार करना हमारा कर्तव्य है। हमारे इसके पूर्व के लेखों में हमने उन शंकाओं का और डर का निर्मूलन भी किया है। परंतु हर व्यक्ति हर लेख की प्रत्येक पंक्ति समान ध्यान देकर पढ़ नहीं सकता। और अल्प उल्लेख से संतोष भी नहीं हो सकता। इसलिए ऐसी दो प्रमुख शंकाओं को, जो विद्वान् और प्रामाणिक व्यक्तियों ने प्रकट की हैं, हम स्पष्ट कर रहे हैं। हमारे विस्तृत विचार उनको मान्य हों या न हों, परंतु प्रतिपादन करने का संतोष हमें मिलेगा। इन शंकाओं में से कई व्यक्तियों द्वारा पूछी गई शंकाएँ ऐसी हैं कि हमें भी मुसलमानों के समान कट्टर पंडिताऊ होना चाहिए।

उन मुसलमानों को देखो, दाढ़ी रखेंगे, बुरका कष्टदायक होगा फिर भी समाज का विशेष चिह्न मानकर उस रूढ़ि का पालन करेंगे। मसजिद से फकीरों के

आवाज देते ही हमला करने के लिए तैयार। कुरान ईशप्रेषित धर्मग्रंथ है इसलिए सब उसका आदर करेंगे। उसके नाम से सब एक होंगे। सूअर का मांस नहीं खाना माने नहीं खाना। कुरान का प्रत्येक आचार कितना ही पुराना हो या कष्ट का हो सामाजिक और धार्मिक बंधन मानकर व्यवहार करना। पाँच समय तो पाँच समय ही सभी नमाज पढ़ेंगे। रोजा होगा तब सब करेंगे।

ये रूढ़ियाँ क्या तर्क के आधार पर हैं? क्या धर्म-कट्टरतावादी नहीं? किंतु उनके कारण ही उस समाज में एकजीवता (एकात्मता) और एकता मजबूत हुई है।

हम हिंदुओं को भी इसी कारण से, जो हमारी प्राचीन रूढ़ियाँ और धर्म-मान्यताएँ हैं, वे अन्य दृष्टि से हास्यास्पद हों तो भी, समाज में मुसलमान के समान धर्मकट्टरता का संचार कराने के लिए उनका पालन करना चाहिए।

धर्मांधता या पंडिताई से मुसलमानों की भी दुर्दशा हो रही है

पांडित्य के कारण मुसलमानी समाज एकरूप, प्रबल और प्रगतिशील हो रहा है और इसीलिए हमें उनसे भी अधिक पंडिताऊ होना चाहिए ऐसी भावना आज बहुत से हिंदू संगठकों में है। वह मूल रूप से दुगुनी गलत है। पंडिताई से मुसलमानों की कौन सी प्रगति हुई है? आज हिंदुस्थान में भी वे विद्या में पिछड़े हुए हैं। अज्ञान, दरिद्रता, संकुचितता इनमें हिंदुओं से वे अधिक ग्रस्त हैं। साहित्य में तो हिंदू ही श्रेष्ठ हैं। बड़ी-बड़ी संस्थाएँ हिंदुओं ने ही स्थापित कीं और चलाई हैं। बड़े-बड़े कवि, संशोधक, उद्भावक, प्रकल्पक, संपादक, विद्वान्, प्राध्यापक, सुधारक, वक्ता, कर्ता जो कोई गत सदी में सफल हो गए हैं उनमें पंचानवे प्रतिशत हिंदू हैं। ऑक्सफोर्ड, कैंब्रिज, पेरिस, बर्लिन आदि यूरोपीय विद्यापीठों में भारतीय विद्वत्ता की जो छाप दिखाई देती है वह हिंदुओं के कारण ही है। रैंग्लर्स, आइ.सी.एस., नोबेल प्राईजमैन, वैज्ञानिक, संशोधक, इनमें से यूरोप में जो कोई चमक उठे वे अधिकांश हिंदू हैं। गत सौ वर्षों में राजनीति में जो संघर्ष हुए वे हिंदुओं ने ही किए हैं। तिलक, लाजपतराय, गोखले, बनर्जी, पाल, गांधीजी, मालवीय, अय्यर आदि प्रमुख स्मरणीय नेता हिंदू थे। जर्मन महायुद्ध जैसा जो कोई सुअवसर अच्छे-बुरे प्राप्त हुए उनमें सिख, गुरखा आदि लोगों ने ही सैनिक शौर्य प्रकट किया। हिंदू सैनिकों ने अपना क्षात्रतेज ऐसे समय में दिखाया। यही स्थिति उद्योग क्षेत्र की थी। वीमा मंडली, कारखाने, बैंक, पतपेढ़ी आदि बड़ी-बड़ी औद्योगिक संस्थाओं का फैलाव आज जो बढ़ रहा है वह अधिकतर हिंदुओं के कर्तव्य का तथा नेतृत्व का सुफल है।

जो बात वर्तमान समय की वही भूतकाल की थी। पंडिताई, देवभोलापन, धर्मांधता के कारण ही मुसलमान शूर और विजयी हुए ऐसा कुछ मुसलमान बार-बार कहते हैं। हमारे हितशत्रु भी यही कहते हैं; परंतु वह अर्धसत्य है। जो समाज उनसे भी अधिक असंगठित और धर्मांध थे उनपर मुसलमानों की धर्मांधता ने सफलता पाई है। परंतु जब उनसे भी अधिक संगठित समाज से उनका मुकाबला हुआ तब मुसलमानों को उनकी पारलौकिक पंडिताई उपयोगी सिद्ध नहीं हुई। इसका ठोस सबूत चाहिए तो महाराष्ट्र का इतिहास देखिए। पोथीनिष्ठ औरंगजेब की मराठों ने फजीहत कर दी, उसकी याद कर लीजिए। इतना ही नहीं अपितु सन् १६०० से सन् १८०० तक जहाँ-जहाँ हिंदू सेना से मुसलमानों को मुकाबला करना पड़ा ऐसी लगभग पचास लड़ाइयों में मुसलमान हारे। रोहिलखंड से द्वारिका, अटक से रामेश्वर तक फैली हुई मुसलिम सत्ता को हिंदुओं ने जीत लिया। उस समय क्या मुसलमान पाँच बार नमाज नहीं पढ़ते थे? क्या रोजे नहीं रखते थे? कलमा नहीं कहते थे? क्या दाढ़ी नहीं रखते थे? तब क्या कुरानशरीफ उनकी एकमात्र पोथीनिष्ठ धर्मपुस्तक नहीं थी?

विज्ञान-बल के सामने धर्मांधता का विष और पोथीनिष्ठता का दंश कैसे ढीला पड़ता है यह यूरोप में देखिए।

तीन सौ वर्ष पूर्व यूरोप को भी ईसाई पोथीनिष्ठता और धर्मांधता ने खोखला बना दिया था। उनकी पोथीनिष्ठता हिंदुओं की पोथीनिष्ठता के समान सहिष्णुता की थी। इसलिए मुसलमानों की ठोस पोथीनिष्ठता ने उसको नष्ट कर दिया था। पुर्तगाल, स्पेन जीतकर वे पेरिस के किनारे पर आए और दूसरी ओर से हंगरी में पहुँचे। परंतु आगे चलकर जब यूरोप में विज्ञाननिष्ठा आई; भाप, बिजली और विमानों का युग आया तब उसी यूरोप ने उन्हीं मुसलमानों की कैसी दुर्दशा कर दी यह कहने की आवश्यकता नहीं! जिस मूरो ने स्पेन जीता, उस मूरो को आज स्पेन और फ्रांस ने तोड़ा है। देवभीरुता और पोथीनिष्ठता का आगार अबीसीनिया को विज्ञान-बलशाली इटली ने पंजे के एक फटकार से नष्ट कर दिया। साइबेरिया के पोथीनिष्ठ और कट्टरवादी लाखों मुसलमानों पर निरीश्वर और निधर्मी रूस राज्य कर रहा है। इराक, इजिप्ट और दिल्ली के खलीफाओं और बादशाहों के पोथीनिष्ठ तख्त आज इंग्लैंड की प्रदर्शनियों में रखे जाते हैं।

मुसलमानों की दुनिया भर में हुई इस दुर्दशा को कहने योग्य एक अपवाद है तुर्किस्थान। इसका कारण तुर्किस्थान का विज्ञाननिष्ठ होना ही है। जो-जो भावना विज्ञान ने असत्य ठहराईं और जो-जो रूढ़ि आज की स्थिति में घातक रही, वह पुराने छप्पन ग्रंथों में होने पर भी उसे कमाल के तुर्कों ने नकार दिया। कुरान में

बुरका है, बहुपत्नीत्व है, कमाल ने उसे निषिद्ध ठहराया। सभी पौरविधान (civil law) दंडविधान (criminal law) और सैनिक विधान तुर्कों ने स्विटजरलैंड, जर्मनी आदि देशों से लिये। उनका धर्म से संबंध तोड़कर और उस विषय में कुरान के जो विधि निषेध विरुद्ध थे उन्हें रद्द किया। अरबी धर्मभाषा का बहिष्कार किया, अरबी लिपि मुद्रण हेतु बाधक थी इसलिए बंद की और रोमन प्रारंभ की। मुसलिम धर्मपीठ खिलाफत को मूल रूप में उखाड़कर ही फेंक दिया। तुर्किस्थान यूरोप जैसा अद्यतन बना। प्रयोगक्षम भौतिक विज्ञान का उपासक बना इसलिए सुरक्षित रहा।

हमारी हार्दिक इच्छा है कि भारतीय-मुसलमान पोथीनिष्ठ प्रवृत्ति छोड़कर विज्ञाननिष्ठ बनें। देवनिष्ठ तथा धर्मांधता आदि बंधन से उनकी बुद्धि मुक्त हो और उनका समाज भी शिक्षित और अभ्युन्नत हो। यह बात उनके ध्यान में आएगी कि विज्ञान की शक्ति के सामने अज्ञानी धर्मांधता कभी भी टिक नहीं सकती तो वे भी तुर्कों का मार्ग स्वीकारेंगे। आज यूरोपीय शक्ति के आगे जो उनकी हार हो रही है वह रुकेगी। मुसलमान यदि विज्ञाननिष्ठ और प्रगत हुए तो उसमें भी हिंदुओं का कल्याण ही है; भारतीय-मुसलमानों का तो महाकल्याण है।

किंतु इसके बाद भी मुसलमानों को उनकी पोथीनिष्ठा की प्रवृत्ति ही हितकारक लगती हो तो वे उसका व्यवहार सुख से करें। परंतु हमें यह निश्चित समझ लेना चाहिए कि बुद्धिनिष्ठ प्रगति के अभाव में मुसलमान आज भी हिंदुओं की अपेक्षा अधिक अज्ञानी, दरिद्र और अवनत है। हमें तो विज्ञान युग और यूरोप के वैज्ञानिक बल से संघर्ष करना है। इसलिए मुसलमान पोथीनिष्ठ है, अत: हमें सवाई पोथीनिष्ठ होना चाहिए ऐसा नहीं। सवाई धर्मांधता या देवनिष्ठता हमारी उन्नति का मार्ग नहीं। अनुकरण करना हो तो हमें यूरोप की विज्ञाननिष्ठता का करना चाहिए। धर्मभेद का डंक जिसके आगे ढीला पड़ जाता है उस विज्ञान-बल को प्राप्त करना चाहिए। देवभीरुता के सारे ताईत-ताबीज, शिव्या-शाप जिस कवच पर नहीं चल सकते वह विज्ञान-कवच आज इंग्लैंड, रूस, जर्मनी में दिखाई दे रहा है। उसे ही हमें धारण करना चाहिए।

एकदम ताजे एक-दो उदाहरण

उपर्युक्त विचार स्पष्टत: ध्यान में आ जाएँ अतएव हम गत माह का एक उदाहरण बताते हैं। पंजाब में विधिमंडल में एक मुसलमान महिला प्रतिनिधि चुनकर आई। विधिमंडल की शपथविधि के समय वह जब सभागृह में आई तब उधर की प्रथा के अनुसार, शिष्टाचार के कारण बुरके में आई। एकांत स्थान देखकर बैठ गई। उनका मुखदर्शन तो असंभव ही था, परंतु सभा की पद्धति के अनुसार

हस्तांदोलन करना भी मुश्किल हो गया। कुरान में बुरका पहनना चाहिए ऐसा उल्लेख है यह सत्य है और उस माननीय महिला की उस पोथीनिष्ठ भावना का सम्मान करना चाहिए। परंतु 'मुसलिम स्त्रियों को देखें वे कितनी स्वधर्माभिमानी होती हैं।' इस प्रकार उनकी प्रशंसा क्यों करनी चाहिए?

बुरका पहनने की पद्धति एक अज्ञानी, फालतू, विद्रूप रूढ़ि है। उसे छप्पन पोथियों में सराहा गया होगा तो भी आज त्यागना चाहिए। यह बात भारतीय मुसलमानों के ध्यान में न आई हो तो भी दुनिया के प्रगत मुसलमानों के ध्यान में आई है। लाहौर के विधिमंडल में भारतीय-मुसलिम स्त्री बुरका पहनकर प्रतिनिधित्व कर रही थी यह बात प्रशंसा की थी। समाचारपत्रों में छप रही थी। उसी समय उधर अलबेनिया के बादशाह ने अपनी मुसलिम प्रजा को आदेश दिया कि जो स्त्री बुरका पहनकर बाहर घूमेगी उसका वह एक दंडनीय अपराध माना जाएगा। तुर्कों ने अपने राज्य से बुरका निकाल दिया। ईरान ने भी बुरके का निषेध किया है।

इनके कारण भी ध्यान में रखने योग्य हैं। राज्यक्रांति के दिनों में तुर्क-विधिमंडल में महिलाओं को प्रतिनिधित्व का अधिकार प्राप्त हुआ। विरोधी पक्ष कब हिंसा करेगा इसका कमाल पाशा को विश्वास नहीं होता था। अब विधिमंडल में यदि पच्चीस-पचास महिलाएँ बुरका पहनकर आईं तो उनमें सभी स्त्री प्रतिनिधि हैं या कोई छद्‌मवेषी भी उनमें है यह पता कैसे चलेगा। कोई हत्यारा भी स्त्री वेश में प्रतिनिधि बनकर आ सकता है। ऐसी स्थिति में पोथीनिष्ठ धर्मांधता को बलि न जाते हुए तरुण तुर्कों ने उपर्युक्त कानून बनवाया। उनके अनुसार जिस स्त्री को पोथीनिष्ठा का प्रदर्शन करना है उसे अपना अंत:पुर छोड़कर बाहर जाने की जरूरत ही क्या? हाट-बाजार की भीड़ में घुसना और लोगों का स्पर्श होता है इसलिए चिढ़ना मूर्खता है या छेड़खानी? तरुण तुर्क के समान मुसलिम राष्ट्रों ने अज्ञानी रूढ़ि समझकर बुरकों का त्याग किया तो भारतीय-मुसलमान यदि उसे भूषण मानने लगेंगे तो उनका ही नुकसान होगा। इस प्रकार के स्वधर्माभिमानियों का अनुकरण करना पागलों के पीछे लगकर स्वयं पागल होना है।

देखिए यूरोप को। बाइबिल में स्त्रियों और गुलामों को केवल आश्रित और दया का विषय माना है—समानता का नहीं! परंतु आज के व्यवहार में उस पोथी को बाँधकर उन्होंने आज के राष्ट्र की धारणा हेतु आवश्यक स्त्री समानता के, स्वतंत्रता के नए-नए निर्बंध तुरंत लागू किए। इसलिए आज उनकी महिलाओं की सेनाएँ रण-मैदान में लड़ रही हैं।

उन्होंने दासप्रथा अपने लोगों के लिए दंडनीय ठहराई है। इसलिए हमें उनका उपयुक्त प्रमाण में अनुकरण करना चाहिए। 'मनुस्मृति' में 'न स्त्री स्वातंत्र्यम्

अर्हति' यह वचन है। वैसा ही यह वचन भी है कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' प्रथम वचन के लिए मनु के नाम से रोते रहने में क्या अर्थ? इसका दूसरा वाक्य हमारा व्रीदवाक्य बनकर स्मृतिकारों के लिए गौरव क्यों नहीं होना चाहिए?

दूसरा उदाहरण, राष्ट्रसभा आदि के अधिवेशन अवसरों पर नमाज का समय होते ही भारतीय-मुसलमान उस अधिवेशन का काम स्थगित करने की माँग करते हैं, इसको देखिए। यह उनकी पोथीनिष्ठ प्रवृत्ति उन्हें ही बाधक होगी। यदि कल उनकी रूस के साथ लड़ाई हुई और सुबह नौ बजे, दोपहर बारह बजे, शाम पाँच बजे मुसलिम सैनिक लड़ाई छोड़कर नमाज पढ़ने लगे तो क्या रूस के सैनिक नमाज समाप्ति तक तोपों की दारू में पानी डालकर रखेंगे? इसके विपरीत वे नास्तिक बोल्शेविक इसी अवसर का लाभ उठाकर आग की जबरदस्त मार करेंगे, और नमाज समाप्ति पूर्व लड़ाई समाप्त कर देंगे। जो नमाज को बैठा वह फिर नहीं उठ पाएगा। मास्को के विधिमंडल के मुसलिम सदस्य यदि नमाज के समय दिन-रात में पाँच-पाँच बार उठ गए तो सोवियत सदस्य मुसलिम अहितकारक पच्चीस बिल इस अवसर का लाभ उठाकर पारित कर देंगे। 'गाय को मारना पाप है' यह समझकर उसकी आड़ में आने वाले शत्रुओं को आत्मघातक पोथीनिष्ठा से हमने मारा नहीं और स्वयं ही मर गए—यह मुसलिम आवृत्ति है।

और मुसलमानों की इस प्रकार की धर्मनिष्ठा में बढ़कर सवाई होने के लिए उनके नियमानुसार अपनी संध्या-पूजा का क्यों आत्मघातक प्रपंच करें? नमाज के समय विधिमंडल, राष्ट्रसभा, युद्ध भी बंद करो ऐसा मुसलिम मौलवी कहते हैं। अतएव संध्या-पूजा के समय उन्हें बंद रखने की माँग का आग्रह हमारे पंडितों को भी करना चाहिए क्या? 'जैसे को तैसा' यह बात एक-आध बार शोभा देगी। यदि हम भी पोथीनिष्ठता से संध्या का महत्त्व बढ़ाने लगेंगे तो अपने ही गले में एक बेकार की मुसीबत बाँध दी ऐसा नहीं होगा क्या? विधिमंडल में उनकी नमाज की छुट्टी नौ बजे होती है। वह समाप्त होते ही हमारे मध्याह्न, संध्या की छुट्टी शुरू होगी। उनकी पाँच बजे की नमाज की छुट्टी समाप्त होते ही हमारी संध्या की छुट्टी शुरू होगी। इस प्रकार पोथीनिष्ठ प्रतिनिधियों के विधिमंडल का नाश होने में समय नहीं लगेगा।

तब ऐसे प्रकरणों में, मुसलमान के समान पोथीनिष्ठ बनना उचित बात नहीं है अपितु यूरोपियनों के समान विज्ञाननिष्ठ, प्रत्यक्षनिष्ठ, भौतिक उपयुक्ततानिष्ठ होना ही उसका सही उपाय है। मुसलमान चाहते हों तो नमाज के समय उठकर चले जाएँ, परंतु इसके लिए राष्ट्रसभा स्थगित करना हम क्यों स्वीकार करें? राष्ट्रीय कार्य निरंतर करते रहना ईश्वर की प्रार्थना है, संध्या है, नमाज है। जो प्रत्यक्ष राष्ट्रघात का

कारण हो वह प्रार्थना नहीं, पाप है।

तीसरा उदाहरण मांसाहार का देखिए। हमने पूर्व में ही कहा है कि मांस खाना या न खाना केवल वैद्यकीय प्रश्न है। उसका पारलौकिक पुण्य-पाप से कोई संबंध नहीं है। मनु प्याज खाना नरकगामी और सूअर का मांस खाना महत्पुण्य समझते हैं। अन्य स्मृतियों में इससे विपरीत स्थिति है। इसी प्रकार गोमांस की बात है। वह वैद्यक, आर्थिक और अंशत: ममता का प्रश्न है। वह एक दुधारू पशु है। उसमें भी गाय या भैंस मारना नहीं चाहिए यह उसका आर्थिक पहलू है। पालतू और मनमोहक प्राणी गाय, कुत्ता, घोड़ा, तोता, गधा यथासंभव पालने योग्य हैं। इसलिए मनुष्य हानि होती हो या राष्ट्रीय दृष्टि से अपरिहार्य हो तो गोमांस खाने में कुछ पाप है ऐसा मन में भी लाने का कोई कारण नहीं। अमेरिका स्वयं गोमांस भक्षक है तो वहाँ की गाय का मांस उनके द्वारा पकाया हुआ खाने में हमें क्यों खराब लगे? यह हमारी बात हमारे निष्ठावंत जाति बंधुओं को अच्छी नहीं लगी। इसलिए क्रोध में वे हमें कुछ अपशब्द बोल गए तो वह स्वाभाविक है। हमें वह सहन करना चाहिए। कर्तव्य पालन करते हुए जिन सुधारकों को समाज की भावनाएँ दुखानी पड़ती हैं, उन्हें समाज का क्रोध भी कुछ समय तक सहना चाहिए यह उनका कर्तव्य है। परंतु हमारी गलतियाँ दिखाते समय उन्होंने जो मुद्दे उठाए, वे राष्ट्रहित की दृष्टि से विघातक हैं। वे कहते हैं, ''देखो, हमारे हिंदू सुधारक कितने स्वाभिमानशून्य हैं! इसलाम धर्म में सूअर खाना निषिद्ध इसलिए मुसलमान प्राण भी गया तो भी सूअर नहीं खाएँगे। परंतु ये अपने आपको हिंदू कहकर युद्ध में, इंग्लैंड में गोमांस खाने की बातें करते हैं। हममें मुसलिम कट्टर धर्माभिमान नहीं इसलिए हमारी दुर्गति हो रही है।''

यह विधान प्रतिकूल है। उनकी कट्टर पोथीनिष्ठता मुसलमानों को ही हानिकारक है। सेनापति हरिसिंग नलवा की बात लीजिए। सीमा पर के पठानों पर काबुल नदी तक विजय प्राप्त करते हुए गए। उसके बाद पठानों ने उनकी सेना को घेर लिया और अनाज आना बंद कर दिया। गाँव-गाँव में जो अनाज के संग्रह थे उन्हें सिख लूटते थे इसलिए पठानों ने उनपर गाय का खून छिड़क दिया। अर्थात् सिखों ने वह अनाज नहीं खाया। तब इस हरिसिंह ने वनसूअर मारकर उसका खून अनाज पर छिड़ककर उसे शुद्ध किया। मुसलमान पठानों में आक्रोश हुआ। अब वे वह अनाज नहीं खा रहे थे। वे भूखे रहने लगे। हरिसिंह ने मुसलमान के अनाज भंडार भ्रष्ट किए इसलिए मुसलमानों का पक्ष भगवान् ने लिया, देवदूत उनकी मदद हेतु भेजे और हरिसिंह 'काफिर का' धुब्बा उड़ाया ऐसा कुछ नहीं हुआ। इसके विपरीत हरिसिंह 'काफिर की' प्रचंड विजय हो गई।

कल भारतीय मुसलमानों का युद्ध रूस के साथ होता है और उनका दाना-पानी रोक दिया जाता है तो उस जंगल में सैकड़ों जंगली सूअर होने पर भी क्या मुसलमानों को भूखे रहना चाहिए? रूस के लोग तो उसी मांस को खाकर मोटे होंगे।

अर्थात् गोमांस विषयक हिंदुओं की पोथीनिष्ठता के समान मुसलमानों की वराहमांस विषयक पोथीनिष्ठा भी राष्ट्रीय दृष्टि से घातक है। पुनः पारलौकिक दृष्टि से एक ही भगवान् की परस्पर विरोधी आज्ञाएँ उस विरोध के कारण भयग्रस्त हैं यह स्पष्ट दिखाई देता है। देव के नाम पर हुआ वह मानव का मतिभ्रम है। इस खान-पान के संबंध में विज्ञाननिष्ठ यूरोपियन का सिद्धांत प्रत्यक्ष अनुभव का हितकर है उसका हमें अनुकरण करना, खाना-पीना यह वैद्यकीय प्रश्न है, धार्मिक नहीं। जिस स्थिति में जो उचित लगेगा और पचेगा वह खाना चाहिए। इस कारण यूरोपियन लोग उत्तरी ध्रुव से लेकर दक्षिणी ध्रुव तक कहीं भी गए तो भी अन्न होकर पोथीनिष्ठता के कारण भूखे रह गए ऐसा नहीं होता। प्याज खाएँ या लहसुन, गिलकी या मुरगी खाएँ, सूअर या मछली, पुराने करार में लिखित छप्पन अखाद्य, कुरान के पौन सौ अखाद्य और पुराणों के पाँच सौ अखाद्य पदार्थ, इन सब झंझटों और चर्चा को उन्होंने ब्रिटिश म्यूजियम की अलमारियों में बंद करके रखा है। वे प्रत्यक्ष व्यवहार में एक अद्यावत् वैद्यक हाथ में लेकर भोजन करते हैं। जो अच्छा लगेगा और पचेगा उसके हाथ का, किसी स्थान पर खा-पीकर वे मुक्त होते हैं। उन्हें हरिजन, मुसलमान, ब्राह्मण, एस्किमो, ईरानी कोई भी आचारी पंडित खाना बनाने के लिए चलता है। खाना अच्छा बनाना भर आना चाहिए। उन्हें न रोजा आड़े आता है न उपवास। भूख जोरदार लगेगी वह द्वादशी और अपच होगा उस दिन ग्यारस। रोज हुआ तो रोजा। उपवास आदि प्रत्यक्षनिष्ठ वैद्यक का विषय—पोथीनिष्ठ फालतू बातों का नहीं। पोथीनिष्ठ अंधता की बेड़ियाँ उन्होंने तोड़ीं इसलिए वे दुनिया में अप्रतिहत संचार कर रहे हैं। रोजों के दिनों में लड़ाई हुई तो क्या एक माह तक भूखे सैनिकों को लड़वाएँगे। ग्यारस आ गई तो मुसलमान रोजे रखते हैं इसलिए हिंदू भी लड़ाई छोड़कर ग्यारस का उपवास करते बैठेंगे?

एक धर्मग्रंथ तय करना भी व्यर्थ

बहुत से हितचिंतकों को ऐसा लगता है कि मुसलमानों का जैसे एक ही धर्मग्रंथ कुरान है या ईसाइयों का बाइबिल है वैसे ही हिंदुओं का भी कोई एक धर्मग्रंथ होना चाहिए। समस्त मुसलमान जैसे कुरान के नाम पर एक होते हैं वैसा एक ग्रंथ होने पर हिंदू भी एक होंगे। परंतु यह आशा भी गलत है। कुरान एक ही धर्मग्रंथ होने के कारण मुसलमानों को संगठन की दृष्टि से लाभ हो रहा है, वे सबल

बन रहे हैं यह बात जितनी ऊपर से दिखती है उतनी सच नहीं। कुरान के एक-एक वाक्य पर मुसलमानों ने अन्य मुसलमानों के खून किए हैं। खलीफाओं के सिर कटे हुए हैं। बगदाद, दमिश्क, मक्का, मदीना ये मुसलमानी नगर और धर्मक्षेत्र मुसलमानों के विभिन्न गुटों ने नष्ट किए हैं। हमारे हिंदुओं को यह इतिहास मालूम नहीं होता इसलिए उनकी हानि होती है। अरबस्थान में बहावी और सुन्नी पंथियों की दुश्मनी आज भी है। कादियानी और अहर्रर की दुश्मनी पंजाब में केवल धारा १४४ के द्वारा ही रोकी जा सकी है। लखनऊ में शिया-सुन्नी का आपसी बैर चल रहा है। यह केवल पोथीनिष्ठता की दुर्घटना है। यदि एक ही धर्मग्रंथ होना आज के युग में भी मुसलमानों की एकता का कारण होता तो आज यूरोपियनों ने सारे जगत् में मुसलमानों को परेशान कर रखा है किस आधार पर? यूरोपियनों को प्रबल बनानेवाला वह धर्मग्रंथ कौन सा? बाइबिल नहीं! उन्होंने तो 'बाइबिल' बंद किया और वे जाग्रत् हुए। रूस ने तो बाइबिल फाड़कर फेंक दी। जिनका एक धर्मग्रंथ है उन मुसलमानों पर बिना धर्मग्रंथ वाला रूस शासन कर रहा है। मुसलमान पिछड़े, यूरोपियन प्रगत, वे दुर्बल ये प्रबल—ऐसा क्यों? क्योंकि रूस ने अपनी समाज संस्था का आधार किसी भी धर्मग्रंथ पर न रखते हुए विज्ञानग्रंथ पर रखा है।

अतएव मुसलमानों की पोथीनिष्ठता का अनुकरण न करते हुए इस विज्ञाननिष्ठता का पालन करना चाहिए। जिस समाज ने जिस ग्रंथ के साथ स्वयं को जोड़ लिया वह समाज एवं धर्मग्रंथ यदि सहस्राधिक वर्षों से पुराना हो तो उतने ही वर्ष पिछड़ा हुआ रहेगा। धर्मग्रंथों के आधार पर समाज खड़ा करने के दिन अब लद गए। सदैव से अपने हिंदू धर्म में किसी भी एक धर्मग्रंथ रूपी पिंजड़े में न फँसने की तत्त्वज्ञान-बुद्धि की जो स्वतंत्र उड़ान दिखाई देती है वह भूषणास्पद है। वेदोपनिषद् आदि ग्रंथ पूजनीय हैं, आदरणीय हैं, यह ठीक है, परंतु वे परम प्रमाण नहीं होने चाहिए।

इस विज्ञान युग में समाज संस्था का जो भी संगठन करना हो वह प्रत्यक्ष ऐहिक और विज्ञाननिष्ठ तथ्य पर आधारित होना चाहिए। उस मार्ग पर चलकर इंग्लैंड, रूस, जापान आदि राष्ट्र बलवान् हुए हैं। अतः हिंदू राष्ट्र भी बलवान् हुए बिना नहीं रहेगा।

(किर्लोस्कर, जून १९३७)

□

ॐकार की उपपत्ति तथा गजानन की मूर्ति

'ॐ इति एकाक्षरं ब्रह्म'

हमारे वाङ्मय में औपनिषदीय काल से ॐकार का अवर्णनीय महत्त्व गाया गया है। ऐसा क्यों? जिज्ञासा से यदि इसकी खोज में हम पूर्व के ग्रंथों को पढ़ने लगें तो बहुत से स्पष्टीकरण कुछ सांप्रदायिक, कुछ श्रद्धामय और तर्कहीन तथा कुछ भोलेपन के होने के कारण बुद्धिवादी तर्क स्वीकार करने योग्य नहीं। ॐ यह अक्षर किसी संप्रदाय के मत में ब्रह्मा, विष्णु, महेश है तो कुछ संप्रदाय उसे उत्पत्ति-स्थिति—लय से जोड़ते हैं। विभिन्न देवताओं के प्रतीक के रूप में ॐ की मान्यता है। परंतु वह एक सांप्रदायिक संकेत है। ॐ यानी प्रणव-प्रणव में सर्ववेद, सर्वज्ञान का अंतर्भाव होता है। ॐ अर्थात् वेद, ॐ अर्थात् अक्षर ब्रह्म, ॐकार के बिना पठन व्यर्थ है आदि अनेक विधान ग्रंथों में मिलते हैं। परंतु ॐ का ही इतना महत्त्व क्यों? ॐ के इतने महत्त्व का क्या कारण हो सकता है? इसलिए श्रद्धा की दृष्टि से ये विधान सही लगें, फिर भी ॐ का मूल रूप युक्तिसंगत तरीके से समझ लेने के लिए अन्यत्र कुछ जानकारी प्राप्त होती है क्या? देखें।

प्राचीन ग्रंथों में से कुछ ग्रंथों में ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं कि ॐ अक्षर अ, ऊ, म् इन तीन अक्षरों से मिलकर बना है। अ + उ = ओ इस प्रकार ओ३म्, यह बात तो बुद्धि को पटनेवाली है।

परंतु अ, ऊ, म् इन तीन अक्षरों पर सांप्रदायिकों ने जो मन में आए वे अर्थ लगाकर ओ३म् का महत्त्व बढ़ाया है। कोई कहता है अ यानी ब्रह्म, ऊ अर्थात् विष्णु और म् अर्थात् महेश। कोई अ को शक्ति, ऊ को स्थिति, म् को लय मानता है। कोई इन सबके अलग ही अर्थ लगाता है। ये परस्पर विरोधी अर्थ एकत्र करके उसमें से सही अर्थ लगाने के लिए निश्चित साधन नहीं। क्योंकि उनका प्रत्येक अर्थ केवल पोथीनिष्ठता पर आधारित है।

इसमें दिक्कत यह है कि ओ३म् अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश या सृष्टि-स्थिति-लय इस प्रकार किसी भी त्रिपुटी को मान लेने से ॐ का अद्वितीयख कौन सा है?

चित्रलिपि

लिपिशास्त्र का ऐसा एक सिद्धांत है कि लिपि का मूल चित्रों में है। मनुष्य प्रारंभ में अपने विचार प्रकट करने के लिए चित्र बनाने लगा। लेख का अर्थ खोदना, चित्र बनाना भी होता है। प्रथम लेख अक्षरों का नहीं था। अक्षर विचार प्रकट करने की विकसित स्थिति है। चित्रलिपि मूल लिपि है। चीन, प्राचीन मिस्र देश की प्राचीन लिपि चित्रलिपि ही है। वृक्ष, पक्षी, हाथ, पाँव, घर आदि चित्रित किए जाते थे। घर शब्द लिखना हो तो घर के समान कोई चित्र निकालना। मनुष्य की प्राथमिक अवस्था में यही पद्धति स्वाभाविक रूप से उसे अवगत हुई। इस चित्रलिपि से अक्षरलिपि या वर्णों की खोज का कैसा विकास हुआ यह इस लेख का विषय नहीं है। वस्तुओं का निर्देश उनकी आकृतियों से करना कितना कठिन कार्य होगा। वस्तुएँ असंख्य, उनके समूह करके उसके लिए आकृतियाँ तय कीं तो भी सैकड़ों चित्र उस लिपि में रहेंगे, यह आज की चीन की चित्रलिपि से भी ज्ञात होता है। इसमें से मार्ग निकालने के लिए वर्णों की खोज की गई। असंख्य वस्तुओं के असंख्य शब्द होते हैं। बार-बार उच्चारित होनेवाले वर्णों को समूहबद्ध करके उनके लिए संकेत निश्चित कर दिए जाएँ तो असंख्य शब्दों को प्रदर्शित-चित्रित कर सकेंगे, लिख सकेंगे। यह युक्ति एक महान् खोज थी। मनुष्य का भविष्य बदलनेवाले कुछ खोजों में चित्रलिपि युग से वर्णलिपि युग को जन्म देनेवाली यह खोज महत्त्वपूर्ण थी। उच्चार करने की आगे की सीढ़ी का अनुक्रम पहले अंदाज से तय होता था। उसको एक नैसर्गिक और शास्त्रशुद्ध सूत्र में डालना मानवी बुद्धिमत्ता की कसौटी थी।

वर्ण-व्यवस्था

हम हिंदुओं के लिए यह स्वाभिमान की बात है कि अन्य अनेक प्रकरणों में जैसा होता है वैसा इस प्रकरण में भी अपनी भारतीय बुद्धिमत्ता ही इस कसौटी पर खरी उतरी। आज उपलब्ध जागतिक साहित्य के निर्विवाद प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि वर्णमाला का शोध हिंदू बुद्धिमत्ता का परिणाम है। वर्णमाला के अनुक्रम का शास्त्रशुद्ध सूत्र तो निःसंशय रूप से हमारे सूक्ष्मदर्शी कुशाग्रबुद्धि ऋषियों ने ढूँढ़ निकाला। वे सूत्र अर्थात् मनुष्य के नैसर्गिक ध्वनियंत्र से ध्वनि जैसे-जैसे प्रकट

होती है वैसा ही उसका वर्णस्थान निश्चित करना—इसकी अत्यंत मार्मिक और संपूर्ण चर्चा अपने प्राचीन ग्रंथों में है। मूल अ, इ, उ, आदि स्वर ध्वनि नैसर्गिक रूप से जिस-जिस स्थान पर पड़ते हैं उनका अनुक्रम पकड़कर उस मूल ध्वनि पर आघात होने से जो व्यंजन प्रकट होता है उसका कंठ, तालु, दंत्य, ओष्ठ्य इन स्थानों के अनुसार वर्गीकरण करके उनके विभाग कंठ्य, तालव्य, दंत्य, ओष्ठ्य इस प्रकार किए हैं। यह व्यवस्था जितनी मौलिक (original) उतनी ही अबाधित थी। क्योंकि नैसर्गिक ध्वनियंत्र जो मुख है, इसपर ही अधिष्ठित होने के कारण, और मनुष्य का मुख जैसा है वैसा ही रहेगा इस कारण वर्ण-व्यवस्था भी अबाधित रहेगी। संपूर्ण मानवजति की समस्त भाषाओं पर यही नियम लागू होगा।

इसकी आगे की सीढ़ी यानी ये वर्ण लिखने के प्रकार को निश्चित करना। चित्रलिपि, शंकुलिपि, कोनलिपि आदि अनेक सीढ़ियों से जो आकृतियाँ शब्द लिखने में स्वीकारी गईं—उन्हीं में अनेक आकार आज की हमारी लिपि के वर्ण लिखने में उपयोग में लाए गए। जगत् में प्रचलित समस्त अक्षर रूप किस प्रकार विकसित हुए यह प्रश्न आज तर्क-वितर्क में फँसा हुआ है। परंतु इस लेख में हम इतना ही लिखना चाहते हैं कि भारतीय तत्त्वज्ञों ने उपर्युक्त वर्णों का उच्चारण करते समय मुख के विभिन्न अंगों के मोड़ के अनुसार वर्णों की आकृतियाँ भी निश्चित कीं। जिह्वा की होनेवाली हलचल पर आधारित अक्षराकृति बनाना लगभग असाध्य था। परंतु ऐसा प्रयत्न किया गया था। वर्णों का उच्चारण करते समय जिह्वादि अंगों का घुमाव मुख में होता है वही चित्र, वही आकार उस वर्ण का अक्षर रूप होता था। यह तत्त्व कुछ अक्षर-रूपों के प्रकरण में उपयोग में लाया गया था। इसका निर्विवाद सबूत अ, आ, ऊ और ॐ इन अक्षरों में अभी भी मिलता है। अ मूल ध्वनि का आकार 'अ' ही क्यों? उसके उच्चारण में कंठ, जिह्वा, ओष्ठ सीधे रखे जाते हैं। कंठ का आकार 'उ' ऐसा, जिह्वा '—' ऐसी। ओष्ठ के खुले अंतर की सीधी रेखा, इस प्रकार। इसलिए 'अ' अक्षर का उच्चारण करते समय बननेवाले मुख के मोड़ का रेखाचित्र, संकेतात्मक 'अ' ऐसा बना सकेंगे। इसलिए 'अ' उच्चारण का नैसर्गिक आकार 'अ' जैसा ही होगा और हुआ। 'आ' अर्थात् अधिक फैलाए हुए ओठ इसलिए दो खड़ी मात्राएँ। वही स्थिति 'ऊ' की। कंठ 'उ', जिह्वा '—' ओठ सीधे खोले हुए 'आ' के समान नहीं होते इसलिए सिरा थोड़ा झुका हुआ —'ऊ'। वह प्रमुख चित्र ही 'ऊ' का रूप हुआ। उपर्युक्त तत्त्व अपने तत्त्वज्ञों में से कुछ ने कल्पित किया और उपयोग में लाने का प्रयास किया। यह यद्यपि निश्चित था तो भी उसका प्रयोग कितना किया यह कहना कठिन है। आज के अक्षर के रूप में तो उसका पता भी नहीं लगता। परंतु निदान 'ॐ' अक्षर के लिए भी वह तत्त्व उपयोग

में लाया गया यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

हमें लिपि विषय का विचार करते समय यह उच्चारणानुसार अक्षराकृति की कल्पना अपने प्राचीन ऋषियों की थी यह ध्यान में आने के पूर्व ओ३म् अक्षर परंपरा से ऐसा क्यों बनाना चाहिए—यह प्रश्न था। परंतु इस तत्त्व की कुंजी मिलते ही, यह प्रश्न हमें सहजता से हल हो गया। ॐ अक्षर ऐसा क्यों लिखना चाहिए इसका कारण कहीं पर भी स्पष्ट रूप से नहीं दिया गया था। हम इस कारण से सहमत हैं। कोई किसी ग्रंथ में इसका स्पष्ट उल्लेख दिखा देगा तो अच्छा ही है। हमारी यह उपपत्ति उस प्राचीन आधार से दृढ़ हो जाएगी। यह उपपत्ति ऐसी है कि 'ॐ' अक्षर ऐसा ही क्यों लिखना चाहिए और उसे अक्षरब्रह्म क्यों कहा गया है?

सभी उच्चारण कंठ-जिह्वा-ओष्ठ इस मार्ग में आघात, गति आदि उपाधि से होते हैं। अर्थात् उच्चारण का मूल कंठ से ओष्ठ तक का मुख है। तब स्फुट, फुटकर, प्रत्येक अक्षर यह जो मूल, अस्फुट, अविशेष अविकृत उच्चारण का विकृत रूप है, उसके उच्चारण की मूल प्रकृति लिखनी हो तो मुख के चित्र से ही होगी। उपर्युक्त तत्त्व के अनुसार यह सबकुछ है। इसलिए कंठ, जिह्वा और ओष्ठयुग्म खोलकर मिलाए ऐसा ॐ का रूप होता है। मानवी ध्वनियंत्र का वह मूल चित्र अव्याकृत ध्वनि लेखन में व्यक्त करने के लिए वही आकार नैसर्गिक है। किसी व्यक्ति की केवल इच्छानुसार बनाया हुआ नहीं, सांकेतिक भी नहीं। एकदम वस्तुस्थिति पर आधारित आकार है।

सारांश संक्षिप्त में यह कि सभी उच्चारों का वाचा का ओ३म्, कंठ, स्थिति, जिह्वा, खोलकर बंद किए ओठ इसलिए संपूर्ण उच्चारों की प्रकृति अर्थात् अक्षर ब्रह्म, उन अंगों के आकार के अनुसार लिखे गए ॐ यह रूप सिद्ध होता है।

कुछ लोग अनुनासिक का अंतर्भाव करने के लिए 'ऊ' को 'ऊँ' चंद्रबिंदुयुक्त लिखते हैं वह उपर्युक्त उपपत्ति के अनुसार ही है।

ॐ की महिमा

यह उपपत्ति बुद्धिगम्य और युक्तिसंगत भी है। इतना ही नहीं अपितु ॐ के इस अर्थानुसार उसकी महिमा कितनी भी अतिरंजित और अतिशयोक्तिपूर्ण लगे तो भी वह समझ सकते हैं। इसका कुछ अर्थ है। इसके दो-चार उदाहरण देखें—

१. ॐ अक्षर उपर्युक्त स्पष्टीकरणानुसार प्रत्येक उच्चारण में और इसीलिए संपूर्ण वांङ्मय में होने के कारण तथा सभी अक्षरों का वह सामान्य घटक होने के कारण उसे अक्षरब्रह्म कहते हैं।
२. वस्तु के भिन्न नाम भिन्न अक्षरों से (जैसे इंद्र, चंद्र, सूर्य) प्रकट किए

जाते हैं। अर्थात् संपूर्ण वस्तुजात के अनुसार जो मूल व्रत उसका संबोधन करना हो तो संपूर्ण अक्षरों में, शब्दों में, वाङ्मय में अनुस्यूत जो मूल ॐ, उससे संबोधन करना प्रशस्त युक्त है, अतः इसे ॐ कहा है यह बात युक्तिसंगत है। प्रणव आकार अर्थात् ब्रह्म।

३. देवी-देवताओं की स्तुति से भरा हुआ वेद कहने के पूर्व परब्रह्म का नामोच्चारण, स्मरण आवश्यक, इसलिए किसी भी मंत्र आदि के पठन के पूर्व ॐ कहना चाहिए। यह भी स्पष्ट होता है।

४. ॐ इस एक अक्षर में समस्त वाङ्मयीन ज्ञान, वेद बीज रूप में समाविष्ट है ऐसा क्यों कहते हैं यह उपर्युक्त विवेचन से समझ में आता है। सभी अक्षर ॐ में बीज रूप से हैं। क्योंकि जिन कंठ, जिह्वा, ओष्ठ की सहायता से सभी अक्षर उच्चारे जाते हैं ॐ उनके मूल अव्याकृत आकार का ही प्रतीक है। इसलिए सभी अक्षरों का वह बीज तथा समस्त वाङ्मय एवं वेदों का भी बीज है।

उपर्युक्त विचारों का ऐसा अर्थ लगता है। अतिशयोक्ति होते हुए भी समझ में आता है। ॐकार की अन्य प्रशंसा केवल अतिरंजित, अर्थवादी, भावुक श्रद्धा का और उस समय के धार्मिक भोलेपन का साक्ष्य है। वेदों में मेढक के ऊपर रचित एक सादे गीत को 'सूक्त' मंत्र कहकर गौरव करने से और उसे बोलने से वर्षा होती है, मेढक देवता के प्रसन्न होने एवं इस सूक्त पठन से धन-धान्य प्राप्त होता है, पुण्य मिलता है आदि अवास्तविक वर्णन करनेवाले उस समय के अर्थवादी ने ॐकार के पावित्र्य का, महिमा का, धर्मभीरुता और लहरी-संकेतों का तथा प्रशस्ति का पुराण के केवल उस समय के लोकमानस का परिचय करा देने के लिए उपयोगी है। बुद्धि और तर्क को पटे ऐसा उसमें कुछ मिलने वाला नहीं। उसके मूल रूप की खोज करते समय उपर्युक्त उपपत्ति इतनी ही बुद्धिगम्य और युक्तिसंगत प्राप्त होती है।

उस काल में गहन तत्त्वों को हमारे महर्षियों ने अपनी बुद्धि के प्रभाव से ढूँढ़ निकाला या तत्त्वज्ञान के अमूर्त सत्य को मूर्त स्वरूप देने के लिए तत्त्वज्ञान के साथ मूर्तिकल्प भी प्रगति करता गया। सांख्य, शाक्त, बौद्धों के दर्शन में अनेक गहन प्रमेय और सिद्धांत अपने मूर्तिकल्प ने साकार किए हैं। उनमें से कुछ मूर्तिकल्प की पृष्ठभूमि की कल्पनाएँ गहन, सुंदर, सूचक हैं कि उनके सामने ग्रीस का शिल्प या आज का मूर्तिशिल्प भी फीका पड़ता है। विश्व के साथ मनुष्य का संवाद पंचज्ञानेंद्रियों द्वारा ही हो सकता है। इस सत्य को, ज्ञानमय सृष्टि को व्यक्त करनेवाला पंचमुखी महादेव, कालशक्ति का संहार करनेवाली काली, वह काव्य कला की देवी सरस्वती

जान सकती है। कितने अनुतथ्य, अनुरूप, अनुपम मूर्तिकल्प हैं ये कैसे बताएँ! तत्त्व के समान भाव-भावनाओं की, बहुविध अमूर्त पदार्थों की व्यक्त मूर्तियों की कल्पना करने की अपनी प्राचीन संस्कृति को चाह थी। संगति की विभिन्न राग-रागिनियों की मूर्ति देखें। त्रिदोषादि बीमारियों को भी देवता समझकर उनके गुणावगुण के अनुसार ऐसी मूर्तियों की कल्पना की गई, उन्हें चित्रित किया गया। आज यह प्रवृत्ति समाप्त हो गई है अन्यथा प्लेग को एक देवता मानकर जाँघ में, बगल में, कान के पास भयंकर गाँठ है ऐसी प्लेग की साकार मूर्ति का तैयार चित्र नहीं, एक देव या दैत्य आज हमारे पूजास्थान पर सुप्रतिष्ठित होकर बैठ जाता। क्योंकि पदार्थों का दैवीकरण और मूर्तिकरण तुरंत करने की ग्रीकों के समान हमारी प्राचीन संस्कृति को भी बहुत आदत थी। कुछ प्रकरणों में वे मूर्तिकल्प अति गहन तथा अति सुंदर हैं, और कुछ सामान्य और उथले भी हैं।

ॐ की मूर्ति अर्थात् गणपति गजानन

दैवीकरण और मूर्तिकरण की प्रवृत्ति से ॐकार के समान वैदिक काल में पावित्र्य और महत्त्व प्राप्त देवता का रूप साकार करने हेतु आगे बढ़ना स्वाभाविक था। ॐ की मूर्ति बनानी हो तो प्रथम दिक्कत यह थी कि मनुष्य का तो क्या किसी का भी मुख उस अक्षर से मेल नहीं खाता था। किसी मूर्तिकार को उसपर सोचते-सोचते एक युक्ति मिल गई। उस अक्षर को यदि खड़ा करके देखें तो बिलकुल हाथी के मुख के समान दिखता है। उसने मानवी देह पर हाथी के मुख की कल्पना कर ली। ॐ की देहधारी मूर्ति बनानी हो तो उस अक्षर का शास्त्रशुद्ध और तर्कशुद्ध आकार ध्यान में रखकर मूर्ति बनाई जा सकती थी। ॐकार की मूर्ति अर्थात् गजवदन, गजानन। ॐकार को उपर्युक्त कथित महनीय विशेषण और महत्त्व प्राप्त हुआ था और वह सारा गजानन पर संक्रमित हुआ। वाङ्मय की देवी, कविता, कला, नृत्य-गीत की देवी सरस्वती का वह स्वामी, ॐ कार ब्रह्मस्वरूप इसलिए स्मरणीय और सभी वैदिक धर्मकार्यादि के पूर्व गजानन पूज्य इसलिए विघ्ननाशक। सभी विद्याओं का, लेखन का, वाणी का वह उद्‌गम स्थल इसलिए प्रथम नमस्कार गणेश को, श्री गणेशाय नमः। उसके बाद अ, आ, इ, इत्यादि।

गजानन की जन्मकथा

अब इस अनुरूप मूर्तिकल्प के मार्ग में एक कठिनाई रह गई थी। मानव देह पर हाथी का मुख कैसे आ गया? पुराणों ने उसपर भी उपाय सोच लिया। पार्वती एक बार स्नान कर रही थी तब उसने अपने शरीर से निकलनेवाले मल से बने हुए

गणपति नाम के लड़के को पहरे पर नियुक्त किया। किसी को भी अंदर न आने देने की उसे आज्ञा की। इस बीच में शंकर भगवान् आए और अंदर जाने लगे तो उस कुमार ने उन्हें रोका। इस बाधा से संतप्त शंकर भगवान् ने कुमार का सिर काट दिया। जब सही बात शंकर को मालूम हुई तब उन्होंने हाथी का सिर लाकर उस कुमार को जीवित किया। यह अद्‌भुत कथा उस प्रकार तैयार हुई। और पुराणों ने गणपति, गजानन कैसे हो गए यह कथा बना ली।

इस कथा में भी एक रूपक है। मल से यानी रजोगुण से कार्यप्रवृत्ति ने जन्म लिया। रजोगुण का लक्षण कार्य, गणपति कार्यकर्ता देव। परंतु इस कथा के रूपक को स्पष्ट करने का यह समय नहीं है। विषय भी केवल गजानन की मूर्ति के लिए ही है और रूपक को कितना भी स्पष्ट करें या किया तो भी वह कहने के लिए पुराणकथा, केवल मनोरंजन।

ॐकार की उपपत्ति का और गजानन की मूर्ति का रहस्य ऐसा है। उसका तथ्य और सही इतिहास बस इतना ही है।

उपसंहार-गणानां त्वां गणपति हवामहे

गणपति की मूर्ति ॐकार की मूर्ति है यह यद्यपि सही है तो भी इसे नहीं भूलना चाहिए कि गणपति यानी केवल ॐकार ही नहीं है, गणपति अर्थात् गणानां पतिः, गण अर्थात् राष्ट्र। उस राष्ट्रशक्ति का, संगठन का देवता यानी गणपति। वैदिक काल से ही अपने भारतीय राष्ट्र का वह गणदेवता है। उसका उत्सव आज महाराष्ट्र में तो एक राष्ट्रीय महोत्सव जैसा होता है। आज हिंदू-संगठनों के हाथ का यह गणपति उत्सव एक अत्यंत प्रबल शस्त्र है। लोकमान्य तिलक के परिश्रम और पुण्य से उसको आज की रीति का राष्ट्रव्यापी रूप प्राप्त हुआ है। परंतु इस प्रथा से केवल स्पृश्य बांधवों का ही संगठन हो पाया है। अब हमें इस महोत्सव के मूल उद्‌देश्य की पूर्ति हेतु उसकी कक्षा में स्पृश्य-अस्पृश्य आदि समस्त हिंदूमात्र को संगठित करना चाहिए। पूर्व से होनेवाले गणेशोत्सव से यह सधनेवाला नहीं। इसके लिए प्रत्येक नगर में बड़े-बड़े अखिल हिंदू गणेश उत्सव स्वतंत्र रूप से शुरू करने चाहिए, वही एकमात्र उपाय है। अपने स्पृश्य बंधुओं के परंपरागत स्पृश्य उत्सवों से यथासंभव मनःपूर्वक सहयोग करते हुए हमें यह अखिल हिंदू गणेशोत्सव भी मनाना चाहिए। इसमें किसी प्रकार जातिभेद या ऊँच-नीच का भेद न मानते हुए भंगी बांधवों को भी समस्त हिंदुओं के समान नियमों के अनुसार सबके साथ हाथ बढ़ाना संभव होना चाहिए। परंतु प्रश्न उठता है मूर्तिपूजा धार्मिक अंधविश्वास नहीं है क्या? बहुत से प्रामाणिक हिंदू संगठक बुद्धिवादी लोगों द्वारा यह प्रश्न बार-बार

उठाया जाता है और हमें भी आक्षेप है इसलिए उसका निराकरण करना इष्ट है। उनका कहना है कि धर्मभीरुता को बढ़ानेवाली मूर्तिपूजा में हम भाग क्यों लें? तो भी इतना कहना होगा कि मूर्तिपूजा में उतनी धर्मभीरुता नहीं होती। धार्मिक या भाविक दृष्टि छोड़ दें तो भी, केवल राष्ट्रीय दृष्टि से इस लोक के लाभ का ही विचार किया तो भी मूर्तिपूजा मिथ्याचार नहीं ठहरती। क्योंकि जैसी एक धार्मिक पूजा होती है वैसे ही एक बौद्धिक (rationalist) मूर्तिपूजा भी होती है।

पत्थर या मिट्टी की मूर्ति ही सजीव द्वैत बनकर धूप की सुगंध लेती है, फूल स्वयं सूँघती है, मोदक भी गुप्त रूप से खाती है। मोदक नहीं दिए तो वह मूर्ति क्रोधित होती है ऐसे पत्थर को ही भगवान् माननेवाली मूर्तिपूजा को बुद्धिवादी अज्ञान समझेगा। सही बुद्धिवादी इस दृष्टि से गणपति की ओर नहीं देखेगा। परंतु हमारे हिंदू राष्ट्र संगठन का प्रतीक, राष्ट्रशक्ति, गणशक्ति की मूर्ति इस दृष्टि से उसका उत्सव, पूजा, करने के लिए बुद्धिवादियों को कोई आपत्ति नहीं। मूर्ति या मनुष्य-मूर्ति का चित्र बनाना भी पाप है ऐसा समझनेवाले कट्टर मुसलिमों का मूर्तिद्वेष जैसा धर्म-पागलपन है वैसा ही संगठन का प्रतीक मानकर भी गणशक्ति की मूर्ति की मूर्तिपूजा निषिद्ध मानकर गणेशोत्सव में भाग न लेना भी बुद्धि का पागलपन है। अमेरिका में बहुत ऊँची स्वतंत्रता की स्त्री-देह प्रतिमा है। उसका वे फूल-मालाओं से राष्ट्रीय सत्कार कर उत्सव करते हैं। फ्रांस देश में सभी प्रांतों को भगिनी संघ मानकर उनकी प्रतिमाएँ इकट्ठी स्थापित की गई हैं। राष्ट्र-एकता के दिन में उनका बड़ा उत्सव मनाया जाता है। नास्तिक रूसी बोल्शेविकों ने भी लेनिन की मोम की प्रचंड मूर्ति बनाकर उसका पूजन चलाया है? पिता चित्र, शिवाजी की प्रतिमा, राष्ट्रध्वज के समान ही यह राष्ट्रीय संगठन की गणशक्ति की मूर्ति गणपति! हमारे पूर्वाचार्यों की शताधिक पीढ़ियों की कर्मशक्ति के मजबूत आधार पर हमारे राष्ट्रीय संगठन की गणशक्ति की परंपरागत मूर्ति खड़ी हो गई है। पारलौकिक या धार्मिक या भाविकता से कुछ लोग उसकी पूजा करेंगे। बुद्धिवादी लोग केवल राष्ट्रीय दृष्टि से ही उसकी ओर देखेंगे। एक प्रतिमा भाव से देखेंगे, एक चित्र समझकर देखेंगे और हिंदू संगठन का आदर वे इस मूर्ति के या प्रतीक के सत्कार में या उत्सव में प्रकट करेंगे। राम के मंदिर में हमारे हिंदू बंधु वह मूर्ति भगवान् समझकर पूजेंगे। बुद्धिवादी उनमें से किसी भी श्रद्धा से जकड़े हुए नहीं हैं तो भी राष्ट्र के एक अत्यंत पराक्रमी राष्ट्राधिपति का स्मारक मानकर उस मूर्ति की ओर देखेंगे। वे राष्ट्रीय भावना से उसकी पूजा करेंगे। इतना ही अंतर है। परंतु राजा रामचंद्र के मंदिर में या महोत्सव में भाग ही नहीं लेना ऐसा लोकसंग्रह और राष्ट्रीय संगठन को विघातक अतिरेक वे नहीं करेंगे। ऐसा अतिरेक बुद्धिवाद नहीं, धर्मकट्टरता

के समान बुद्धि का पागलपन है। उपर्युक्त धर्मभीरुता भी कभी-कभी बहुत टिकाऊ होती है।

इसके आगे जाकर हम यह स्पष्ट कहना चाहते हैं कि जो बुद्धिवादी है उसे उपयुक्ततावादी होना ही चाहिए। उसे समाजशास्त्र का यह सिद्धांत ज्ञात होना चाहिए कि लोकसंग्रह कभी भी व्यक्ति-व्यक्ति के अकेले चलने से सफल नहीं होता। सभी व्यक्तियों का जो सांघिक सामान्य सूत्र होगा यह उसपर ही आधारित होगा। इसलिए कोई एक मान्यता या रूढ़ि धर्मभीरु होगी फिर भी यदि उसके योग से समाज-मानस के परिवर्तन से कुल मिलाकर राष्ट्रीय हित ही है तो इस धर्म अज्ञानता को लोकसंग्रह का एक अस्थायी साधन मानकर वह कर्ता बुद्धिवादी उपयोग करेगा। परंतु इसके कारण कुल मिलाकर राष्ट्र का जो अहित होगा उस सबको वह अपने से दूर करेगा। अन्य लोगों की ओर दुर्लक्ष्य करेगा। स्वयं धर्मभीरु न रहते हुए धर्मांधता या किसी भी लोकश्रेय को, राष्ट्रहित को धक्का न पहुँचाते हुए इस प्रकार उच्छेद करते समय वह राष्ट्र के संघठन को आवश्यक प्रमाण में राष्ट्रीय शक्ति के लिए पोषक ऐसी किसी भी रूढ़ि को केवल अज्ञान के कारण नहीं ठुकराएगा। इस दृष्टि से देखते हुए आज अपने हिंदू राष्ट्र के संगठन से एक प्रबल शस्त्र होनेवाले, आजकल के गणपति उत्सव जैसे राष्ट्रीय महोत्सव में हिंदू संगठक पोथीजात जातिभेद उच्छेदक बुद्धिवादी सुधारकों को अवश्य भाग लेना चाहिए। उनको अखिल भारतीय गणेशोत्सव स्वतंत्र रूप से स्थापित करके और स्पृश्य-अस्पृश्य सबको मिलाकर स्पर्शबंदी तोड़नी चाहिए। भंगी से गीता-गायत्री का पठन कराना चाहिए वैसे ही गणपति की प्रकट पूजा वेदमंत्रों से करते हुए वेदोक्त बंदी तोड़नी चाहिए। शुद्धि समारोह करके और शुद्धिकृत को देवपूजा करने देकर शुद्धिबंदी तोड़नी चाहिए। और सबसे आवश्यक बात यह है कि पूर्वास्पृश्य बंधुओं को पंक्ति में बैठाकर, समाचारपत्रों में नाम छापकर, सहभोज की प्रथा शुरू कर देनी चाहिए। रोटीबंदी की बेड़ी इस प्रकार तोड़ देनी चाहिए।

हम फिलहाल सामाजिक समस्या के संबंध में बता रहे हैं, इसलिए इतना ही कहते हैं कि सामाजिक क्रांति को चारों तरफ से उठाना होगा और इस प्रश्न को हल कर लेना चाहिए। इसलिए स्थान-स्थान पर गणेशोत्सव शुरू करें। खुले सहभोज का आयोजन शुरू करें।

□

हर जगह अखिल हिंदू गणपति की स्थापना करें!

परंपरा से चल रहे हिंदू महोत्सवों में से गणेशोत्सव संस्था हिंदू संगठन के लिए अत्यंत उपकारक है। यह संस्था अनेक पीढ़ियों के और सदियों के सतत श्रम के मजबूत आधार पर खड़ी है। महाराष्ट्र में हिंदुत्व की प्रबल भावना से समस्त हिंदू राष्ट्र अनुप्राणित करने का कार्य या तो पंढरपुर का महोत्सव करता है या दूसरा यह राष्ट्रीय गणेश उत्सव।

उसमें भी एक महत्त्व का अंतर यह है कि पंढरपुर का महान् उत्सव हिंदुओं को धार्मिक एकता की रश्मि से संगठित करता है; लेकिन यह गणेशोत्सव राष्ट्रीय एकता की भावना भरकर हिंदुओं को एकप्राण, एकराष्ट्र बना सकता है।

विट्ठल की या गणेशोत्सव की धार्मिक आराधना से कौन-कौन से पारलौकिक फल मिलते हैं, कितनी दूब चढ़ाने से, संकीर्तन से या मोदक चढ़ाने से स्वर्ग की कितनी सीढ़ियाँ चढ़ सकते हैं आदि प्रश्न इस लेख का विषय न होने के कारण उसे छोड़कर यह राष्ट्रीय महोत्सव आज की स्थिति में अपने हिंदू राष्ट्र की भौतिक शक्ति बढ़ाने और राष्ट्रीय संगठन मजबूत करने के लिए कितना उपयोगी है उसको इस राष्ट्रीय दृष्टि से और प्रमुखता से देखना है।

गणेशोत्सव आरंभ से ही प्रवृत्ति परक है। उसका स्वरूप सार्वजनिक है। उसका अधिष्ठाता देवता राष्ट्रीय है। गणों का जो पति वह गणपति। वह देवता वैयक्तिक मूर्ति न होकर गणशक्ति की, राष्ट्रीय जीवन की, हिंदू संगठन की मूर्ति है। झाँकी, मिष्टान्न, भोजन, गीत, नृत्य, मनोरंजन, पान-सुपारी, इत्र-गुलाब, ढोल, बाजा, शहनाई आदि आवाज, जनसमुदाय, हाथी, घोड़े, झंडे, सवार, बंदूकें, तोपें आदि धूम-धड़ाके के साथ सहस्रों नर-नारियों के राष्ट्रीय जयघोष में गणपति की सवारी विमान में विराजमान होकर निकलती है। इस महोत्सव में ये समस्त विधि-विधान, परंपरा और प्रक्रिया सार्वजनिक हैं। प्रवृत्तिपरक हैं, राष्ट्रीय हैं। उसमें भी आज की स्थिति में उस महोत्सव को अधिक-से-अधिक उपयुक्त बनाने के लिए

आवश्यक मोड़ लोकमान्य ने अपने पराक्रम से देकर उस महोत्सव को पहले ही आधुनिक बना दिया है। यह गणपति उत्सव हिंदू संगठन के हाथ का आज का प्रबल औजार है। हमारे हिंदू राष्ट्र का, राष्ट्रीय आकांक्षा का वह एक प्रचंड ध्वनिक्षेप और ध्वनिवर्धक है।

मूर्तिपूजा के संबंध में एक नया आक्षेप

इस सांघिक महोत्सव को अद्यावत् राष्ट्रीय स्वरूप देते समय जो परिवर्तन करने पड़े उसपर किए जानेवाले संभावित आक्षेपों का निराकरण लोकमान्यादि आद्याचार्यों ने किया हुआ है। उन आक्षेपों में मूर्तिपूजा के अंगों के संबंध में भी आक्षेप आ चुके थे। परंतु वह आर्यसमाज आदि के वैदिक या धार्मिक दृष्टिकोण का था। उनके कथनानुसार मूर्तिपूजा वैदिक नहीं, धार्मिक भी नहीं। परंतु उस राष्ट्रीय महोत्सव से बड़े-बड़े लाभ होते हैं। लोकसंग्रह ही जिसका ध्येय, उसमें कोई एक पक्ष, किसी दूसरे पंथ को या व्यक्ति को नापसंद हो तो भी समन्वय की दृष्टि से उस ओर उपेक्षा भाव से देखकर, कुल मिलाकर उत्सव को राष्ट्रहितवर्धक जानकर उनका विरोध करना लोकहितघातक हो सकता है, अत: आर्यसमाज आदि वैदिक या प्रार्थना समाजवादी धार्मिक सुधारक पंथों ने विवेक दिखाया और आज इस राष्ट्रीय महोत्सव में अनेक आर्यसमाजी नेता मूर्तिपूजा की ओर दुर्लक्ष करते हुए भी उनके राष्ट्रीय कार्यक्रमों में अवश्य भाग लेते हैं। न्यायमूर्ति रानडे प्रार्थना-समाज से संबद्ध थे, परंतु लोकसंग्रह की व्यापक राष्ट्रीय दृष्टि से मूर्तिपूजा के इस नगण्य प्रश्न को महत्त्व न देते हुए राष्ट्रीय महोत्सव में भाग लेते थे। इस लेख में उत्सव का धार्मिक या पारलौकिक पक्ष बिलकुल विचार में नहीं लेना है। उस उत्सव की ओर केवल भौतिक और राष्ट्रीय दृष्टि से ही देखने के कारण मूर्तिपूजा के धार्मिक पक्ष की चर्चा का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है।

परंतु गत डेढ़-दो वर्षों में हिंदू संगठनों के कर्मठ उपासकों में उस संगठन की ओर केवल राष्ट्रीय दृष्टि से ही देखनेवाला, पारलौकि लाभालाभों का विचार न करते हुए मौलिक हो या पारलौकिक—सभी प्रश्नों का हल बुद्धिवाद की कसौटी पर परखनेवाला वर्ग बढ़ रहा है। उनमें से बहुत लोगों को मूर्तिपूजा यदि बुद्धिवाद की कसौटी पर नहीं टिकती हो तो वह जिस पूजा में चलती है उस पूजा में स्वयं भाग लेना मिथ्याचार है यह शंका उन्हें आए बिना नहीं रहती। मूर्तिपूजा के संबंध में इस राष्ट्रीय महोत्सव पर पूर्व में जो आक्षेप होता था वह धार्मिक लोगों का होता था। परंतु यह आक्षेप मूर्तिपूजा के विरुद्ध होने पर भी वह बौद्धिकों का होता था। मूर्ति वेदोक्त है या नहीं यह आर्य-समाजीय प्रश्न या ईश्वरीय उपासना

का, मूर्तिपूजा निराकार प्रभु को साकार संकुचित मानने के पाप से लिप्त होने से अधार्मिक है, यह निर्गुण निराकारवादियों का प्रश्न—ये दोनों प्रश्न धार्मिक हैं। परंतु उनसे इन बौद्धिकों के आक्षेपों का कुछ भी संबंध नहीं है। मूर्ति के संबंध का उनका आक्षेप अधार्मिक है। मूर्ति वेदों में हो या न हो, उसकी पूजा से देव हँसा क्या या रोया क्या? बौद्धिक लोगों को उस लफड़े से कुछ भी लेना-देना नहीं। उनका कहना इतना है कि 'एक मिट्टी के चित्र का, पुराण के किसी गणेश जन्मकथा को ही इतिहास मानकर, उसकी जयंती मनाना, पूजा-अर्चना आदि समारोह करना और पालकी को कंधे पर उठाकर उस चित्र की शोभायात्रा निकालना बुद्धि को केवल बच्चों के खेल जैसा लगता है। तब ऐसे बच्चों के खेल में भाग लेना मिथ्याचार नहीं तो क्या है?' 'कितने ही प्रामाणिक और हिंदू संगठन के अभिमानी कार्यकर्ता ऐसी शंका करते हैं, इस कारण उनकी शंका का निराकरण किए बिना आगे बढ़ना ठीक नहीं। वह शंका मन में खटकती रहने की अपेक्षा एक बार संक्षेप में, परंतु स्पष्ट रूप से चर्चा में आनी चाहिए। हमारे पोथीवादी आक्षेपों में से अधिकतर और बुद्धिवादी मित्रों में से कुछ-एक हमसे पूछते हैं कि 'फिर आप गणेशोत्सव में कैसे भाग लेते हैं? पत्थर को भगवान् समझकर पूजन कैसे करते हैं?

जैसी एक धार्मिक मूर्तिपूजा है, वैसी एक बौद्धिक मूर्तिपूजा भी है और वह बुद्धिवाद की कसौटी पर पूर्णतः खरी है।

इस लेख के लिए इस प्रश्न का अल्प सा विवेचन करना आवश्यक होने के कारण उदाहरणों से ही उसे सिद्ध करेंगे। कोई भी अमूर्त तत्त्व, भाव एवं भावनाएँ जिससे चित्रशिल्प या मूर्तिशिल्प आकार लेते हैं उनका बुद्धिवादी लोग निषेध नहीं करते। देव की मूर्ति बनाना भयंकर पाप है, इतना ही नहीं अपितु देव द्वारा बनाया हुआ जो मानव प्राणी उनके चित्र बनाना भी धर्मबाह्य होने के कारण चित्रशिल्प या मूर्तिशिल्प यानी नरकगामी अघोर अधर्म है ऐसा माननेवाले मुसलमानों में कुछ कट्टरपंथी हैं और वे उस निष्ठा के लिए मूर्तियाँ फोड़ते हैं, चित्र को फाड़ते हैं ऐसा अत्याचार कई बार करते हैं यह यदि धर्मांधता होती है तो मूर्ति को ही मूर्खता और चित्र को विचित्र कहनेवाला अज्ञानी बुद्धिवाद भी एक बुद्धि का पागलपन नहीं है क्या? शिवाजी महाराज की प्रतिमा खड़ी करके उस विभूति के संबंध में अपना आदर उसे फूल चढ़ाकर, नमस्कार कर या धूप-दीप से पूजा कर व्यक्त करना हृदय की अत्यंत मंगल और उदार प्रवृत्ति है। वह संपूर्णतः अनिंद्य नहीं अपितु उत्तेजनाई

है। क्योंकि मनुष्य की उदात्त मनोभावनाओं को वह पोषक और सद्‌गुणों को प्रेरक होती है। अर्थात् मनुष्य हितसाधक और उपयुक्त होती है। जो बुद्धिवादी हैं वे उपयुक्त वादी (utilitarianism in the noblest sense) होते ही हैं। उन्हें होना चाहिए और इसलिए ऐसी मूर्तिपूजा को वे कभी नहीं नकारेंगे। परंतु जब इस विभूति पूजा की भावना अज्ञानता की सीमा पर पहुँचती है और प्रतिमा को ही शिवाजी महाराज समझकर, सजीव समझकर, उसे मनौती करने लगते हैं; प्रसाद सूक्ष्म रूप से वह प्रतिमा ही खाती है, फूल सूँघती है, पूजा से प्रसन्न होकर धन-धान्य देती है, नहीं तो क्रोध में गाँव में प्लेग जैसी बीमारी फैलाती है, ऐसा लोग मानने लगें तो वे बुद्धिवादी इस प्रकार की मूर्तिपूजा को बुद्धिघातक, धर्मांध, अहितकारक, इसीलिए अनुपयुक्त समझकर उसका निषेध करने लगते हैं। आज के बोल्शेविक रूस में तो rationalism का, बुद्धिवाद का केवल अर्क है, परंतु रूसी बोल्शेविक लाखों की संख्या में अपनी राजधानी के लेनिन के विशाल समाधि मंदिर में जाकर लेनिन की मृत देह की प्रतिकृति का, मूर्ति का, दर्शन करते हैं पर केवल उसे मूर्ति मानकर ही। यह बुद्धिवाद है! परंतु अपने यहाँ कितने ही लोग समाधि और कबरों का दर्शन करने के लिए जाते हैं तो इसलिए कि उनमें रखे हुए शव मनौती से प्रसन्न होते हैं। वे संतान देते हैं और चढ़ौतियों का उपभोग लेते हैं। भोग नहीं चढ़ाया तो क्रुद्ध होते हैं इस भावना से इस प्रकार को बुद्धिवाद धर्मांधता कहता है। पहली बौद्धिक मूर्तिपूजा बुद्धिवाद को मान्य। दूसरी मूर्तिपूजा केवल मूर्खता, धर्मांधता, बुद्धिशून्यता इसलिए उसमें बुद्धिवादी भाग नहीं लेंगे। परंतु इस प्रकार की समाधि या कबर को देखने के लिए भी वह इतिहास की रुचि के कारण जाना नहीं छोड़ेगा। पागल वहाँ मनौती माँगने जाएँगे, बुद्धिवादी उसमें ऐतिहासिक संस्मृति के लिए जाएँगे, बस इतना ही अंतर है!

जो बात मानवी प्रतिमाओं की, कबरों की या चित्रों की वही अमूर्तता और भाव-भावना व्यक्त करनेवाली कल्पमूर्ति की, कल्पचित्रों की। ग्रीक लोगों में सौंदर्य, रति, शक्ति, वत्सलता आदि भावनाओं का सुंदर मूर्तिकरण किया जाता था। अपने यहाँ का मूर्तिशिल्प अति गहन ऐसे अमूर्त तत्त्व का भी मूर्तिमान करने में केवल अतुलनीय है। सौंदर्य, संपदा, प्रीति, रति आदि कोमल भावनाओं के जो चित्र या मूर्ति अपने यहाँ हैं, उनसे भी अधिक सुंदर, उचित, आकर्षक मूर्तिकल्प देवों के भी काव्य में मिलना संभव नहीं। वह कमल विलासी लक्ष्मी की मूर्ति देखें। वह वीणा बजानेवाली, एक हाथ में वेद तथा दूसरे में काव्यकमल लिये हुई, उसका वाहन सुंदर पंखवाला मोर! ऐसी वह गीत, नृत्य, काव्य, कला, ज्ञान-विज्ञान की देवी, सरस्वती की वह मूर्ति देखें। मदनरति के जो सुंदर शब्द चित्र कुमारसंभव में

कल्पित किए गए हैं वे बहुत हृदयंगम हैं। जगत् के काव्य में उस लालित्य की तुलना नहीं, काव्य कोमलता में या तत्त्व-गहनता में ही नहीं अपितु उग्र, भयानक उसके मूर्त रूप देने में भी मूर्तिकार डरे नहीं। उस मूर्तिकार ने सृष्टि के विलास को जैसे नाजुक कूची से और टाँकी से मूर्त रूप दिया, उसी तत्परता से, उसी यथातथ्यता से उन्होंने सृष्टि की दूसरे सत्य की उग्र मूर्ति को वज्रघन से मूर्त किया। हलाहल के रंग में, चिता की ज्वालाओं की कूची बनाकर चितारी जैसी नरमुंडधारी काली को देखें! गीता में दरशाया गया विश्वरूप का चित्र! उस काली के या विश्वरूप की मूर्ति में सृष्टि का अति अद्‌भुत दर्शन होते ही अर्जुन के समान 'नमो पुरस्तात अथ पृष्ठतश्च। पुनश्च भूयोपि नमो नमस्ते॥' ऐसा संकीर्तन करनेवाली वह प्रबुद्ध बुद्धि उस स्थान पर ही समाधिस्थ हो जानी चाहिए।

बुद्धि भी मूर्तिपूजक ही है परंतु इस अर्थ में इस अनुपात में पेरिस में बुद्धिवाद की लहर फैली और राज्यक्रांति हुई तब मनौती से प्रसन्न होनेवाली देशु- की, मेरी की मूर्तियाँ चर्च-मंदिरों से नास्तिकों ने उखाड़कर फेंक दी थीं। परंतु इन बुद्धिवादी, मूर्तिभंजक नास्तिकों ने तुरंत क्या किया? तो एक रीजन की—बुद्धि की ही प्रतिमा बनाकर बड़ी शोभायात्रा निकालकर पेरिस में घुमाकर उसकी देवी रूप में पूजा की। मूर्तिभंजक क्रांति की जो देवी बुद्धि उसकी मूर्ति बनी। पेरिस में राष्ट्र एकता चौक (प्लेस डी-ला-कंकार्ड) नामक एक राष्ट्रीय क्षेत्र के समान पूजनीय स्थान है उसमें फ्रांस राष्ट्र के प्रत्येक प्रांत की एक-एक सुंदर स्त्री की कल्पना कर उनकी मूर्तियों को चक्र में स्थापित किया गया है। प्रतिवर्ष बड़े महोत्सव से उस स्थान पर लाखों फ्रेंच लोग इकट्ठा होकर उन मूर्तियों पर फूल चढ़ाते हैं। उनके सम्मुख राष्ट्रगीत गाकर सम्मान देते हैं। यही बौद्धिक मूर्तिपूजा, अमेरिका में न्यूयॉर्क के प्रवेश द्वार में एक ऊँचे स्तंभ पर एक प्रचंड मूर्ति बनाकर की है। उस राष्ट्र की स्वतंत्रता की वह राष्ट्रीय मूर्ति है, उसे स्वतंत्रता की देवी (liberty statue) कहते हैं।

वैसा ही हमारे हिंदू राष्ट्र के संगठन की, गणशक्ति की परंपरागत मूर्ति यानी गणपति। उसकी पूजा हम भावभक्ति से करके उसके सम्मुख 'गणानां त्वा गणपतिं हवामहे' यह राष्ट्रगीत या वेदगीत करोड़ों कंठों से गाते हैं। इस दृष्टि से देखें तो इस संगठन शक्ति की आदर्श मूर्ति के उत्सव में बुद्धिवादियों को भाग लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। धार्मिक दृष्टि के लोग राममूर्ति को अवतार समझकर भजते हैं, आर्यसमाजीय अपने राष्ट्र की एक ऐतिहासिक महान् विभूति के रूप में भजेंगे। उपयुक्ततावादी लोग संग्राहक ऐसा एक आकर्षक केंद्र मान उसी राममूर्ति के उत्सव में भाग लेंगे।

श्रीकृष्ण के संबंध में कहा गया है—

'कंसा मृत्यु, अशक्त पामर जनां, संतास तत्त्वाबुधि।
श्री शेषासन यादवा हरि दिसे, रंगांत नानाविधि॥'

वही न्याय ऐसे प्रकरणों में होगा और जब तक किसी सार्वजनिक महोत्सव में किसी प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करना नहीं पड़ता कि 'हम इस मिट्टी की मूर्ति को सजीव देवता मानेंगे, वह मूर्ति ही प्रसाद खाती है। फूलों की सुगंध लेती है, यदि उसे मोदक (लड्डू) नहीं खिलाए तो अपने वाहन चूहे के द्वारा तुम्हारा सारा घर और भाग्य पोला बना देती हूँ।' तब तक उस मूर्ति की ओर अपनी दृष्ट से देखने की स्वतंत्रता होगी। शिवाजी का चित्र, लेनिन की प्रतिमा, स्वतंत्रता की मूर्ति या राष्ट्रीय ध्वज की जैसी शोभायात्रा निकालते हैं वैसी हिंदू संगठन की प्रतिनिधि जैसी गणपति की मूर्ति घुमाने में, उत्सव में उसकी प्रतिष्ठापना करने में किसी भी प्रकार की निर्बुद्ध भोली भावना नहीं या झूठी भावना नहीं। ऐसी बौद्धिक मूर्तिपूजा या मूर्तिप्रियता ही चित्रकला की, मूर्तशिल्प की और कविता की जननी है, धात्री है। अमूर्त भाव को मूर्त स्वरूप दिए बिना बुद्धि नहीं मानती और हृदय को अच्छा नहीं लगता। दूसरी बात यह है कि यदि समाज-हितकारी हो तो किसी मूर्खता की ओर भी उपयुक्ततावादियों को दुर्लक्ष्य करना चाहिए।

उसे मूर्खता न मानते हुए, और दूसरों के मन से भी वह बात धीरे-धीरे निकालने का प्रयास करते हुए जब तक लाखों लोग एकत्रित करने का महान् कार्य उस भाविकता से हो रहा है और कुल मिलाकर वह मूर्खता इतनी निरापद है कि उसके कारण होनेवाला समाज का अहित अति अल्प होकर उससे होनेवाला हित ही अधिक है तब तक उस मूर्खता की ओर दुर्लक्ष्य कर वही औजार हाथ में लेकर वह समाज-हित प्राप्त करना चाहिए। प्रत्येक विषैली ओषधि या शल्यक्रिया देह का अल्प सा अहित करता है, यह जानकर भी बलवान् रोग हटाने का अधिक हित उससे सिद्ध होता है इसलिए कुशल वैद्य वह औषध देता है या शल्यक्रिया करता है। वैसे ही उपयुक्ततावादी भी इस प्रकार की भावना का इस अनुपात में लोकहितार्थ उपयोग कर लेता है।

अत: बुद्धिवाद से उपयोगी सिद्ध उपरोल्लिखित कोटिक्रम को ध्यान में रखकर अपने हिंदू राष्ट्र के संगठन को अत्यंत उपकारक होनेवाले इस राष्ट्रीय महोत्सव में सुधारक वर्ग को भाग लेने से बिलकुल पीछे नहीं हटना चाहिए। छोटे-छोटे मतभेदों को ऐसे सांघिक कार्य में इस अनुपात में भुलाए बिना लोकसंग्रह संभव नहीं।

लोकमान्य ने गणेशोत्सव को राष्ट्रीय महोत्सव का स्वरूप दिया। परंतु उस समय के हिंदू राष्ट्र की स्थिति में उस उत्सव में वास्तविक रूप से देखते हुए वे केवल स्पृश्य हिंदुओं को समाविष्ट कर पाए। किसी भी जाति-पाँति का भेदाभेद न रखते हुए जिस महोत्सव में संपूर्ण हिंदू समता से समाविष्ट हो सकता है, हिंदू ध्वज के नीचे स्पृश्यास्पृश्यता का राष्ट्रबल घातक भेदाभेद न मानते हुए समस्त हिंदू एक हो सकते हैं ऐसा पूर्ण राष्ट्रीय स्वरूप उस उत्सव को नहीं मिल पाया। इस कार्य को अब हमें पूर्ण करके इस महोत्सव को अखिल भारतीय हिंदू स्वरूप देना चाहिए। जन्मजात जातिभेद की जिस विभेदक प्रथा ने आज इस हिंदू राष्ट्र को दुर्बल बना दिया है, उसे नष्ट कर समस्त हिंदू राष्ट्र एकप्राण, एकजाति करने के कार्य में उस राष्ट्रीय महोत्सव जैसा अवसर महाराष्ट्र में तो और दूसरा नहीं है। इसलिए हिंदू संगठन के समर्थकों को चाहिए कि पूर्वजों की पीढ़ियों से चल रहे और पूर्व से ही राष्ट्रीय स्वरूप प्राप्त गणपति उत्सव की महान् संस्था का औजार हाथ में लेकर हिंदू राष्ट्रबल-विघातक इस जातिभेद के उच्छेद के लिए उपाय करना चाहिए और इस राष्ट्रीय महोत्सव को अखिल हिंदू महोत्सव बनाना चाहिए।

यह दु:खद बात है कि लोकमान्य तिलकजी ने गणेश उत्सव का नेतृत्व कर उसे जो राष्ट्र-उपयोगी दिशा प्रदान की थी आज वह नष्ट हो रही है। अपने हिंदू राष्ट्र पर चारों ओर से संकट छा रहे हैं, विपत्ति आ रही है, ऐसे समय में राष्ट्रहितार्थ अपना धन और समय खर्च होना चाहिए, विपत्तियाँ दूर करने में धन और समय लगना चाहिए। परंतु आज इधर-उधर नाच, तमाशे, गाना-बजाना जैसे कार्य हो रहे हैं। ये दिन क्या केवल मनोरंजन में डूबने के हैं? ये दिन कर्तव्य के कठोर क्षेत्र के युद्ध के हैं, परंतु हम इन छोटे कार्यों में लगे हैं। मनोरंजन थोड़ा सा लोकसंग्रहार्थ चाहिए। परंतु लोकसंग्रह मनोरंजनार्थ नहीं चाहिए। एक बार लोक समूह प्राप्त हुआ तो उस बल से कार्य को आगे बढ़ाना चाहिए। प्रत्येक सार्वजनिक गणेशोत्सव मंडल को अपने कार्यक्रम में तय करना चाहिए कि हिंदू राष्ट्र के लिए आवश्यक छोटे-बड़े परंतु कोई-न-कोई प्रत्यक्ष कार्य अवश्य करना होगा। इस महोत्सव के सप्ताह में कोई तय करे कि वह अपने गाँव में या नगर में दो हजार का स्वदेशी सामान बेचेगा। कोई घर-घर घूमकर स्वदेशी माल खरीदने की हजारों नागरिकों से प्रतिज्ञा करवाए, कोई शुद्धीकरण का कार्य तेजी से करते हुए हजारों लोगों को शुद्ध कराके अपने धर्म में वापस लाए। विधर्मियों के आक्रमणों की साधार रूपरेखा तीव्र भाषा में बताकर, हिंदुओं पर हो रहे अत्याचारों की सप्रमाण करुण कहानी कहते हुए हिंदुस्थान के हिंदुत्व को नष्ट करनेवाले राक्षसों की कमर तोड़े, लाखों हिंदुओं में तेजस्विता लाए। इस प्रकार चारों ओर से शत्रुओं पर हमला बोल देना चाहिए। जिस

उत्सव में अस्पृश्यता को प्रवेश न होगा, जाति निवारण के कार्यक्रम को मान्यता नहीं होगी ऐसे हमारे सनातनी उत्सव में या स्पृश्य उत्सवों में हम कुछ कार्य तो कर सकेंगे।

उपर्युक्त विचारों के अनुसार अब ऐसा समय आ गया है कि हिंदू संगठन का क्षेत्र जो पूर्व में केवल स्पृश्यों के लिए सीमित था, स्पृश्यों में भी जातियों में ऊँच-नीच, भेद-भाव, टूट-फूट कायम रखकर हिंदू जाति के घटक केवल एक-दूसरे के समीप लाए जाते थे, चौखट बनाने हेतु लकड़ी काटकर रंधा मारकर रखी थी। अब उन्हें जोड़ देना चाहिए। हिंदू राष्ट्र के घटक एकजीव बना देने चाहिए। अतएव राष्ट्रीय महोत्सव में स्पृश्य-अस्पृश्य, ब्राह्मण-अब्राह्मण, मराठा-महार—सबको समान अधिकार देकर एकराष्ट्र बनाना चाहिए। एक हिंदू ध्वज के नीचे यह उत्सव होना चाहिए। हिंदू संगठन का मुख्य कार्य पूरा करने के लिए इस राष्ट्रीय उत्सव की प्राणप्रतिष्ठा हुई है। हिंदू संगठन जाति विरहित होकर ऐसे उत्सवों में ही पूर्ण रूप से व्यक्त हो सकेगा।

किंतु आज जो उत्सव प्रचलित हैं ऐसे पुराने सार्वजनिक उत्सवों को ही अखिल हिंदू स्वरूप देना कठिन होगा। उनमें भी यह कोशिश करनी चाहिए कि मंडप में, सभाओं में स्पृश्यास्पृश्य एक-साथ बैठें। परंतु इतनी अधूरी बात से एकता नहीं बनेगी। इसलिए उत्तम मार्ग है तीन-चार वर्षों से रत्नागिरि में जैसा गणेशोत्सव हो रहा है वैसा अखिल हिंदू गणेशोत्सव प्रत्येक नगर में कम-से-कम एक स्थान पर ही सही, मनाया जाना चाहिए।

जन्मजात जातिभेद का निराकरण करने की प्रतिज्ञा लिये हुए बीस-पच्चीस लोग यदि ऐसे गणेशोत्सव में इकट्ठा हुए तो भी वह आदर्श गणेशोत्सव होगा। हजारों की उपस्थिति में होनेवाले नाच-गाने के गणेशोत्सव की अपेक्षा इस आदर्श गणेशोत्सव की ओर लोगों के मन आकर्षित हुए बिना नहीं रहेंगे। इसके अनुकूल या प्रतिकूल चर्चा होते-होते ही यह एक प्रथा बन जाएगी। इसलिए अन्य उत्सवों से संबंध रखते हुए भी संगठक सुधारकों को अपने अखिल हिंदू गणपति उत्सव स्वतंत्रता से मनाने चाहिए। मुंबई, पुणे आदि बड़े-बड़े नगरों में ऐसे दस-पाँच उत्सव जोर-शोर से शुरू कर सकते हैं। उनका कार्यक्रम हिंदू संगठनों को अत्यंत हानिकारक आज के इस पोथीजात जातिभेद के उच्छेद के लिए आवश्यक उन सभी नए सुधारों को प्रत्यक्ष व्यवहार में लानेवाला होना चाहिए। जातिभेद उच्छेदक व्याख्यान, मेले, संवाद होंगे ही। साथ ही जातिभेद उच्छेद के केवल नारे लगाने से वह नहीं मिटेगा और सुधार भी नहीं होंगे यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए।

रूढ़ि को समाप्त करना हो तो पहले स्वयं उसे तोड़ना चाहिए। कोई प्रत्यक्ष सुधार किए बिना, आचार में लाए बिना, व्यवहार में लाए बिना केवल शब्दों से नहीं

होता। इसलिए ऐसे अखिल हिंदू गणेशोत्सवी पोथीजात जातिभेद तोड़ने की समस्या तो कम-से-कम हल होनी ही चाहिए। उसके लिए कार्यक्रम की एक सामान्य रूपरेखा निम्नानुसार दरशाई जा सकती है—

१. कार्यकारी मंडल जाति उच्छेदक विचार के सदस्यों का ही होना चाहिए। उसी विचार से उत्सव मनाना चाहिए, परंतु प्रवेश सबको होना चाहिए। 'पोथीजात जातिभेद' का कोई भी भेदभाव न मानते हुए समस्त हिंदुओं को इस उत्सव में समानता से समान नियमों से प्रवेश दिया जाएगा यह ध्येय हो।
२. गणेश मूर्ति को पालकी में रखते समय, स्थापना के समय, पालकी उठाते वक्त महार-मराठा-ब्राह्मण-चमार सबको मिलकर मूर्ति को हाथ लगाकर उठाना चाहिए और इस तरह स्पर्शबंदी का उच्छेदन करना चाहिए।
३. मूर्ति की पूजा वेदोक्त होनी चाहिए। कम-से-कम एक-दो बार भरी सभा में शुचिर्भूत भंगी या हरिजन बंधु द्वारा मूर्ति की पूजा करनी चाहिए। यथासंभव गायत्री और गीताध्याय स्वर शुद्ध कहनेवाला भंगी या हरिजन बंधु हो तो गीता-गायत्री पाठ का कार्यक्रम उनके द्वारा ही किया जाए। इस प्रकार स्पृश्यास्पृश्य हिंदुओं को एकत्रित करना चाहिए। पुजारी ब्राह्मण हो तो उसकी प्रशंसा करनी चाहिए—यदि उसे पूजाविधि में प्रवीणता हो। ब्राह्मण शुचिर्भूत तथा अखिल हिंदू संगठन का अभिमानी होना चाहिए। इसी प्रकार अस्पृश्य, क्षत्रिय, वैश्यों को गायत्री मंत्र या वेद पाठ से मना करनेवाले को गायत्री कहनेवाले भंगी बंधुओं से मुँहतोड़ जवाब देना चाहिए।
४. स्त्रियों के या पुरुषों के किसी भी कार्यक्रम में शोभायात्राओं में ब्राह्मण-अब्राह्मण, चांडाल सबको लेना चाहिए।
५. ऐसे उत्सव में यदि जातिप्रिय सनातनी बंधु आते हैं तो उनका मनःपूर्वक स्वागत करना चाहिए। उन्हें यदि अपने विरोधी विचार प्रतिपादित करने हों तो सभ्य नियमों के अनुसार बोलने देना चाहिए। उनका कहना ध्यान से सुनना चाहिए। छद्म भाव से उनको निष्कारण टालना नहीं चाहिए।
६. परंतु जाति उच्छेदक सभी कार्यक्रमों में बिलकुल अपरिहार्य, अग्रगण्य कार्यक्रम रोटीबंदी की बेड़ी को तत्काल तोड़नेवाला है सहभोज।

सहभोज! सहभोज! सहभोज!

प्रत्येक अखिल हिंदू उत्सव में, गणेशोत्सव में पचास हों चाहे पाँच सौ हों— हिंदुओं का सहभोज होना चाहिए। ऐसे उत्सव में पहले तो पूर्वास्पृश्य को साथ में भोजन हेतु बैठाकर, उसका प्रचार समाचारपत्रों में करना चाहिए। पूर्व में

गणेश चतुर्थी को एक-दो ब्राह्मण भी रहना चाहिए ऐसा नियम था वैसा अब गणेशोत्सव की पंक्ति में एक-दो भी चमार-हरिजन-भंगी बंधु होने चाहिए यह नियम हो। मुंबई-पुणे-नागपुर-अमरावती जैसे बड़े-बड़े शहरों में हजारों हिंदू बांधवों के गणेशोत्सव में सहभोज होने चाहिए। कम-से-कम पच्चीस-पचास संगठक-सुधारकों को सहभोज कराना चाहिए। रोटीबंदी टूटने पर जातिभेद का एक विषैला दाँत ही टूट जाएगा। क्योंकि रोटीबंदी टूटने से स्पर्शबंदी, समुद्रबंदी, वेदोक्तबंदी और व्यवसायबंदी, इन जातिभेदों की बेड़ियाँ अपने आप ही टूट जाती हैं।

इस प्रकार का कम-से-कम एक अखिल हिंदू गणेशोत्सव प्रत्येक नगर में अवश्य शुरू करके हिंदू-संगठन की कक्षा में स्पृश्यास्पृश्य, जाति-पाँति विरहित हिंदू समाज संगठित करने का मूल हेतु परिपूर्ण करना चाहिए। अन्य स्पृश्य उत्सवों में भी हरेक सुधारक अपना सहभोज का कार्यक्रम अवश्य आयोजित करे।

इस प्रकार महाराष्ट्र में लगातार अखिल हिंदू उत्सव संभव है क्या? इस शंका का निराकरण रत्नागिरि का उदाहरण देकर किया जा सकता है। उपर्युक्त कार्यक्रम रत्नागिरि के उत्सव में हो रहे हैं। हजारों लोगों के सहभोज आयोजित हो रहे हैं। आज पाँच लोग साथ में भोजन करते हैं तो कल पचास लोग सहभोज करने क़ी हिम्मत करेंगे। तब आप भी इस कार्य में लग जाइए। रोटीबंदी तोड़ेंगे तो जातिभेद अपने आप टूटेगा।

(किर्लोस्कर, सितंबर १९३५)

□

रहस्यकार और उपयुक्ततावाद

'सूक्ष्मो हि भगवंधर्मः परोक्षो दुर्विचारणः।
अतः प्रत्यक्ष मार्गेण व्यवहार विधिं नयेत्॥'

यूरोप में भौतिक शास्त्रों की दिन-प्रतिदिन प्रगति होने के कारण और नए-नए शास्त्रीय अनुसंधानों एवं प्रगति को धन, समय और सत्ता की जो शक्ति मिलना आवश्यक होती है वह शक्ति मिलना संभव होने के कारण, और वह समर्थन वहाँ मिलने से और अपने यहाँ समर्थन मिलना कठिन होने के कारण भौतिक शास्त्र के ग्रंथ यूरोप में जैसे निर्मित हो रहे हैं वैसे अपने हिंदी भारतीय वाङ्मय में अभी तक निर्मित नहीं हो रहे हैं। यह बात यद्यपि सही है तथापि बौद्धिक शास्त्रों में अपनी मराठी, हिंदी, बँगला, तमिल, तेलुगु आदि भारतीय भाषाओं में या अंग्रेजी में भारतीय विद्वानों ने कुछ ऐसे उत्कृष्ट स्तर के ग्रंथ प्रसिद्ध किए हैं कि यूरोप में उस विषय पर इस स्तर के ग्रंथ कदाचित् ही मिलते हैं। यूरोपीय वाङ्मय और परिस्थिति का अध्ययन करके यूरोपीय विद्वान् अपने ग्रंथ लिखते हैं। अर्थात् यूरोप के अलावा पौर्वात्य जगत् के ज्ञान की और परस्थिति का ज्ञान न होने के कारण वे ग्रंथ कुछ हद तक और कभी-कभी तो अधिकतर एकदेशीय होते हैं। पौर्वात्य वाङ्मय और उसमें भी 'जो पुराना वह सोना' इस मंत्र का अखंड पाठ करते हुए पौराणिक स्थिति की मर्यादा में स्वयं को बंद करके हमारे जो पुराने पंडित ग्रंथ लिखते हैं वे भी भारत के बाहर के जगत् के ज्ञान को और अनुभव को प्राप्त न कर सकने के कारण यूरोपीय विद्या का अध्ययन किए हुए विद्वानों के ग्रंथानुसार और कभी-कभी तो उनसे भी अधिक आकुंचित और अप्रगामी होते हैं।

पाश्चात्य और पौर्वात्य पंडित

एक पक्ष यूरोपीय और पाश्चात्य भ्रम से दूषित तो दूसरा भारतीय और पौर्वात्य अभिमान से अंध है। आज तक के यूरोपीय और भारतीय पंडितों के ग्रंथों

में जो एकदेशिता मिलती है वह उपर्युक्त कारणों से अपरिहार्य थी। परंतु अब यूरोपीय विद्वानों के उच्च और उदात्त विचारों का जिन्होंने परिशीलन किया है और किसी सव्यसाची के समान जो अपने भारतीय शास्त्र में भी निष्णात हैं ऐसे विद्वानों का प्रादुर्भाव अपने हिंदुस्थान में होने के कारण उनके द्वारा लिखे गए ग्रंथों में यूरोपीय और भारतीय इन दोनों विचार शैलियों का केवल शुद्ध मिश्रण ही नहीं अपितु समन्वय भी दिखता है। समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शनशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि शास्त्रों पर गत बीस-तीस वर्षों में मराठी, बँगला और अन्य भारतीय विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों में कुछ ग्रंथ ऐसे हैं कि उन विषयों पर यूरोपीय ग्रंथों में जोड़ नहीं मिलते। क्योंकि यूरोपीय विद्वान् पौर्वात्य ज्ञान के अनुभव और स्थिति से अपरिचित होने के कारण और पौर्वात्य पंडित पाश्चात्य ज्ञान से अपरिचित होने के कारण दोनों के ग्रंथों में दिखनेवाली संकुचितता आजकल के हमारे बड़े विद्वानों के ग्रंथों में उनके उभयविध ज्ञान का, स्थिति का और अनुभव का अध्ययन किए होने से नहीं दिखाई देता। संस्कृतादि पौर्वात्य ज्ञान की गंगा पाश्चिमी ज्ञान की यमुना से और शोण से संगम पाकर ऐसे ग्रंथतीर्थों से अपने संपूर्ण वैभव से अवतीर्ण हो गई है। इन भारतीय विद्वानों द्वारा लिखित अर्वाचीन ग्रंथों में लोकमान्य तिलक का 'गीता रहस्य' ग्रंथ केवल सरस्वती के मुकुटमणि के समान शोभायमान है।

उपयुक्ततावाद का विचार

गीता में कर्मयोग के विवेचन में भारतीय नीतिशास्त्र अथवा कार्यव्यवस्थिति विषयक सिद्धांतों की पाश्चात्य विचारों से तुलना करने पर रहस्यकारों ने, यूरोपीय नीतिशास्त्रों ने उपयुक्ततावाद के संबंध में जो विचार रखे हैं, उसका समालोचन किया है। यह करते समय उपयुक्ततावाद के जो भेद हैं उनका दोषाविष्करण करके गीता में प्रतिपादित कर्मयोग के तत्त्व का, उपपत्ति का और व्यवस्थापन का ऊहापोह करना उन्हें संभव हुआ। परंतु उन्हें केवल तुलनात्मक कार्य करना था इसलिए उन्होंने उपयुक्ततावाद के दोष चुनकर उन्हें गीता के तत्त्वज्ञान में निरस्त किया है। यह दरशाने का उनका कार्य रहस्यकार जब कर रहे थे तब सामान्य पाठकों की ऐसी समझ होने की संभावना है कि रहस्यकारों द्वारा संक्षेप में उल्लिखित दोष उपयुक्ततावाद में कुछ पक्षों की विचार-शैली का दोष न होते हुए यह इस उपयुक्तता तत्त्व का अपरिहार्य व्यंग्य है। परंतु वास्तविक स्थिति वैसी नहीं है और उपयुक्ततावाद का सर्वसामान्य महत्त्व विवेचनात्मक परीक्षण होते हुए और उसमें स्फुट दोषाविष्करण करते हुए रहस्यकार जानते थे; परंतु उनका मुख्य कार्य उपयुक्ततावाद को सभी प्रकार से छानना न होकर उसमें से कुछ व्यंग्य प्रमुखता से उल्लेख करके उनके

कर्मयोग के ब्रह्मात्मैक्य उपपत्ति से निराकरण हो सकता है यह दरशाने का होने से उन्होंने सहजता से उपयुक्ततावाद की सर्वसामान्य महिमा की चर्चा मुख्य रूप से नहीं की। तथापि तदर्थक उल्लेख उनकी कलम से बहुत से स्थानों पर प्रत्यक्ष रूप से और अनेक स्थानों पर अप्रत्यक्ष रूप से लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ रहस्य के पृष्ठ ८८ पर (प्रथम आवृत्ति) वे कहते हैं—''अनेक का बहुत हित—यह सिद्धांत एकदम निरुपयोगी है ऐसा हमारा कहना नहीं है। केवल बाह्य बातों का विचार कर्तव्य होते हुए इसकी अपेक्षा दूसरा सिद्धांत मिलनेवाला नहीं; परंतु केवल इसी सिद्धांत पर निर्भर नहीं रह सकते।''

उपयुक्तता में वह व्यवहार नैतिक होता है जिससे यथासंभव अधिकाधिक मानवों का हित हो जाता है। इस मत का वास्तविक रूप से रहस्यकारों द्वारा प्रतिपादित गीता का आत्मैक्य प्रतीति से स्वीकारा हुआ और सर्वभूतहितरत ऐसे साम्यबुद्धि के या शुद्धबुद्धि के नीति तत्त्व से कोई विरोध नहीं है। यह उपयुक्ततावाद का या संक्षेप में हितवाद का तत्त्व पाश्चात्यों ने प्रथम ही ढूँढ़ा है ऐसा नहीं, वह तो महाभारत के अनेक श्लोकों में ग्रंथित एवं सूचित किया गया है। हमारे विचार से एकदम प्रथम और प्रसिद्ध उपयुक्ततावादी यदि कोई होगा तो वह पार्थसारथी भगवान् श्रीकृष्ण है। रहस्यकारों ने उपसंहार में गीता में प्रतिपादित आत्मौपम्य भाव से सर्वभूतहित तत्पर ऐसे शुद्धबुद्धि स्थितप्रज्ञों के जिस व्यवहार को नीति का आधार कहकर, नीति की माप मानकर, नीतिशास्त्र का आधार मानकर निर्दिष्ट किया है उस व्यवहार का, उपयुक्ततावाद से किसी प्रकार विरोध नहीं है, इतना ही नहीं अपितु वे एक-दूसरे के कैसे पूरक हैं यह बात निम्नलिखित संक्षिप्त प्रमेय से भी स्पष्ट होगी।

सुखवाद यानी क्या?

प्रथमतः यह बात स्पष्ट करनी चाहिए कि सुखवाद या हितवाद का अर्थ अनेक वैषयिक सुख ही है, ऐसा नहीं। इसके विपरीत इस जगत् में या परलोक में विश्वास रखनेवालों के विश्वास के अनुसार, परलोक में भी होनेवाले सुख यानी आत्यंतिक सुख हैं। वैषयिक सुख की अपेक्षा आध्यात्मिक सुख बहुत अंश में चिरकालीन, अपरतंत्र और उत्कृष्ट होने के कारण उपयुक्ततावाद के अनुसार वे भी उपार्जनीय और नैतिक होते हैं। सुख शब्द का अर्थ आध्यात्मिक सुख 'गीता' में भी लिखा है। 'सुखमात्यंतिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतींद्रियं', 'सुखमत्यंतमश्नुते' सुख शब्द के स्थान पर 'हित' शब्द डाल देने से वाद ही नहीं रहता। नीति की पराकाष्ठा सर्वभूतहित तत्त्व ही है और यही रहस्यकारों ने नीतिसर्वस्व तय किया है। उपयुक्ततावाद

का यही सिद्धांत है कि जिसके कारण अधिक-से-अधिक लोगों का सुख या हित होगा वह कर्म विहीत है। अर्थात् करणीय है।

'सर्वभूतहित तत्त्व' शब्द में सर्वभूत पद का अर्थ यदि हम करने लगें तो हमें अंत में उपयुक्ततावादियों की परिभाषा का ही आश्रय लेना पड़ता है; क्योंकि सर्वत्र एक ही अविच्छिन्न और अविच्छेद्य ऐसा सघन ब्रह्म भरा हुआ है। यह यद्यपि सत्य है और यह उपयुक्ततावाद से, साम्य बुद्धि के विचार से, वह है उससे अधिक विरोधी नहीं हो सकता। तथापि एक बार ब्रह्मसृष्टि से मायासृष्टि में कदम रखा कि वहाँ भेदाभेद उत्पन्न होता है। इसलिए नीति-अनीति का प्रश्न उत्पन्न होता है। ब्रह्मसृष्टि में जो मेरी आत्मा वही दूसरे की, यह वाक्य भी अर्थपूर्ण होता है। परंतु आत्मैक्य बुद्धि से क्यों न हो, एक बार साम्य के आकाश से हम वैषम्य की स्थिर, परंतु जड़ भूमि पर उतरें तो वहाँ सर्वभूतहित तत्त्व का अर्थ अक्षरश: सर्वभूतों का हित करना असंभव हो जाता है।

नैतिक घपले

मेरी आत्मा के लिए जो अनुकूल वही दूसरे की आत्मा के लिए भी अनुकूल— हम ऐसा मानकर चलने लगें तो चलना जितना असंभव उतना ही न चलना भी असंभव हो जाता है; जीना जितना अनीति का उतना ही मरना भी अनीति का है; क्योंकि चलते (पग बढ़ाते हुए) जीना हो तो 'पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात् स्कंध पर्यय:' ऐसे सूक्ष्म हजारों जीव, मेरी आत्मा के समान जिन्हें जीवित रहने की इच्छा है, मारे जाते हैं। न जीने पर या न चलने पर मेरी आत्मा दु:खी होती है। आत्महत्या होती है और पुन: चलते लगने पर जीव मारे जाते हैं। उससे भी बैठे-बैठे कुछ कम जीव मारे जाते हैं ऐसा भी नहीं! सर्वभूत शब्द का अर्थ सूक्ष्म भूत छोड़कर दृश्य भूत किया तो भी निर्वाह नहीं होता। क्योंकि व्याघ्र किसी आश्रम में गाय-बछड़े पर टूट पड़ता है और ऐसे समय स्थितप्रज्ञ ऋषि भी व्याघ्र से गौ को छुड़ाना और व्याघ्र को मार डालना नीति समझते थे। अब आत्मौपम्य दृष्टि से गौ को मरने नहीं देना यह नीतियुक्त तो है ही, परंतु व्याघ्र का भक्ष्य छीनकर उसकी क्षुधा को और बढ़ाना, इतना ही नहीं अपितु उसके प्राण भी ले लेना केवल आत्मौपम्य दृष्टि से अनीति का ही कार्य है।

महाभारत में आए हुए डाकुओं के दृष्टांत में भी केवल आत्मौपम्य बुद्धि या सर्वभूतहित तत्त्व से निभाव नहीं होता। डाकू को मारा क्या या बाघ को मारा क्या? वह सर्वभूतहितों के विरुद्ध है। क्योंकि बाघ या डाकू को न मारने से गौ या कोई शिकार मारा जाकर पुन: सर्वभूतों का हित नहीं साधता। तथापि शिकार

के लिए डाकू को और गौ के लिए व्याघ्र को मारो ऐसा स्थितप्रज्ञ कहते हैं। उनका यह कहना सर्वभूतहित कहने की अपेक्षा उपयुक्ततावादियों की परिभाषा को मानने पर अधिक समर्थनीय हो जाता है। डाकू को मारना चाहिए, क्योंकि उस एक के मारने के कारण समाज का अर्थात् अधिकतम लोगों का हित होता है। बाघ को मारकर गौ को छुड़ाना चाहिए, क्योंकि मानव को व्याघ्र की अपेक्षा गौ अधिक उपयोगी होती है। तब सभी भूतों का हित साधना सभी तरह से असंभव होने से मनुष्य के लिए व्यावहारिक संभावना का एक ही मार्ग खुला है और वह है अधिक-से-अधिक लोगों का कल्याण, अधिक-से-अधिक लोगों का सुख साधना। 'सर्वभूतहिते रत:' यह पद अर्थवादात्मक होकर उसका मुख्यार्थ बहुमनुष्य हित में रत, ऐसा ही है। इसलिए कृष्ण ने कंस को मारा और अर्जुन को क्यों लड़ाया तथा उपदेश दिया ऐसा रहस्यकारों ने ग्रंथित किया है। उसमें भी दुर्योधन अन्यायी होने के कारण उसे मारने के लिए कहा। कारण कि मनुष्यजाति के हित को बाधा हो रही है और एक के असुख से, वध से यदि सहस्रों लोगों का कल्याण हो रहा है तो उसे मारना उचित है ऐसा कहा है। परंतु यह तारतम्य आत्मौपम्य बुद्धि से या सर्वभूत हितेच्छु की अपेक्षा उपयुक्ततावादियों की परिभाषा से अधिक सुस्पष्ट हो जाता है।

उपयुक्ततावाद की उपयुक्तता

इतना ही नहीं अपितु शुद्धबुद्धि या साम्यबुद्धि संपादित करना यद्यपि रहस्यकारों ने मनुष्य का प्रथम कर्तव्य और नीति का मूल माना है तब भी बार-बार यह मान्य किया है कि किसी की भी शुद्ध बुद्धि की परीक्षा उसके बाह्य आचार से ही करनी चाहिए। बाह्य आचार का मतलब उसका आचार सात्त्विक, राजस, तामस आदि कर्म-दान-तप क्रिया का जो वर्गीकरण गीता में किया है उसके अनुसार सत्त्वगुण विशिष्ट है या नहीं यह देखना है न? अब रहस्यकारों ने यह भी स्पष्ट किया है कि जगत् की धारणा जिन गुणों से होती है वे गुण उत्कर्षापकर्ष प्रमाण से सात्त्विकादि वर्ग में ग्रंथित किए गए हैं। अब जगत् का धारण इसका अर्थ सर्वभूत हित के अर्थानुसार और पूर्व में कथित तद्विषयक कारणों के लिए मनुष्य की धारणा ऐसा करना पड़ता है। इतना ही नहीं अपितु अंत में अधिक-से-अधिक मानव का साध्य उतना अधिक धारण, पोषण और कल्याण ऐसा करना पड़ता है। किसकी बुद्धि शुद्ध हुई यह तय करने के लिए उपयुक्ततावाद के बिना अन्य मार्ग नहीं है। इसलिए नीति नियमों का और 'बहुतों का बहुत सुख' इस निकर्ष की कसौटी ही निर्णायक होती है। यह जो प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव में उत्पन्न हुई है, उसकी उपपत्ति भौतिकवादियों

के समान मान ली या आध्यात्मिक पंथ की ब्रह्मात्मैक्य बुद्धि से की तो भी दो कर्मों में एक कर्म ग्राह्य क्यों यह तय करने के लिए नीतिशास्त्र को उपयुक्ततावाद का ही आश्रय लेना पड़ता है। प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण के समान जो शुद्धबुद्धि और स्थितप्रज्ञ हैं उन्होंने भी जब-जब दो धर्मों में से एक कर्म न्यायेतर क्यों? इसका विवेचन किया तब-तब उन्हें स्पष्टता से 'लोकसंग्रह-हमे वापि संपश्यन् कर्तृमर्हसि' या कर्णपर्व में कथित 'धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्यो धारयति प्रजा:' ऐसा प्रतिपादन किया है।

शुद्धबुद्धि की कसौटी

कौन सा कर्म अधिक लोगों का हित करेगा यह तय करना यद्यपि विशिष्ट समय पर कठिन हो जाता है और वैसा वह हित नापने के लिए अभी तक तापमापी के समान कोई यंत्र नहीं निकला है तथापि किसकी शुद्धबुद्धि है यह तय करने के लिए भी यंत्र नहीं है। श्रीकृष्ण को स्वार्थी और अशुद्धबुद्धि कहनेवाले शिशुपाल और बुद्ध को दंभी सुखलोलुप कहनेवाले देवदत्त यदि निकल सकते हैं तो दूसरों की क्या बात! इतना ही नहीं अपितु किसकी शुद्धबुद्धि है यह नापने के लिए कम-ज्यादा प्रमाण से समर्थ कौन सा साधन होगा तो वह उसका बाह्य वर्तन, उसका जगहितार्थ व्यवहार, भूहितार्थ यानी यथासंभव अधिक मानवों के हित के लिए अनुकूल है या नहीं यह उपयुक्ततावाद की कसौटी लगाकर देखना ही साधन है। रहस्यकारों के शब्दों में कहना हो तो बाह्य व्यवहार का विचार नैतिक दृष्टि से यदि कर्तव्य हुआ तो भी इस उपयुक्ततावाद से अधिक दूसरा उत्कृष्ट तत्त्व नहीं मिलेगा।

बाह्य व्यवहार से ही हमारा संबंध होकर हमें कर्म के पीछे की वासना से या बुद्धि से कोई कर्तव्य नहीं ऐसा सभी उपयुक्ततावादी नहीं कहते। इतना ही नहीं अपितु—कर्म के पीछे की बुद्धि—मैं यह कर्म मानवजाति का अधिकाधिक हित करूँगा, करना चाहिए, कर रहा हूँ—ऐसा होना यह कर्म की नीतिमत्ता का अत्यंत प्रबल दर्शक है, यह मानने के लिए भी उन्हें कोई आपत्ति होने का कारण नहीं। उसी प्रकार या परमार्थ साधक प्रवृत्ति 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस अद्वैत सिद्धांत से उत्पन्न होनेवाली आत्मैक्य बुद्धि से उत्पन्न हुई है ऐसा मानने में भी उन्हें कोई आपत्ति मानने का कोई कारण नहीं या ईश्वर ने ही बुद्धि ऐसी उत्पन्न की है इससे अधिक कुछ बताया नहीं जा सकता। अद्वैत सिद्धांत में अनुमानित होनेवाले उपपत्ति को भी उनका विरोध नहीं। ब्रह्म सृष्टि का विचार करके जगदुत्पत्ति, जगद्धेतु और मनुष्य कर्तव्य इस संबंध में सात्त्विक सूक्ष्म और शुद्धबुद्धि से यथासंभव विचार करके कोई भी सिद्धांत किया तो भी एक बार व्यवहार में उतरे कि कर्माकर्म का

तारतम्य जानने के लिए विशारदों के जो सूत्रात्मक नाम बताए गए हैं उनमें बहुत लोगों का बहुत हित यह सुखवाद का या हितवाद का तल अनुस्यूत हुआ है इसलिए शुद्धबुद्धि और स्थितप्रज्ञता प्राप्त महापुरुषों को भी 'किं कर्म किं कर्मेति' ऐसा प्रश्न आते ही केवल आत्मैक्य के या साम्यबुद्धि की कसौटी का आश्रय अधूरा होकर उसे लोकहित, लोकसंग्रह, दुष्टबुद्धि विनाश अर्थात् अधिक लोगों का अधिक सुख— इस तत्त्व की कसौटी लगानी पड़ेगी, पड़ी है।

□

पुनर्जन्म की एक चामत्कारिक, किंतु विचारणीय घटना

केवल एक विचारणीय प्रश्न, इससे अधिक ऐसे पूर्वजन्मादि स्मृतियों पर निश्चित रूप से विश्वास नहीं करना चाहिए।

हम जिसे चमत्कार कहते हैं उसका अर्थ इतना ही होता है कि वह बात कैसे घटित हुई, उसके कार्य-कारण भाव के जो ज्ञात नियम हैं उनके द्वारा हम विवेचन नहीं कर पाते। वास्तविक रूप से इस जगत् में होनेवाली प्रत्येक घटना एक चमत्कार है। पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, सूर्य रोज सुबह उगता है; गोबर मिट्टी में लगाए एक पौधे पर अत्यंत सुंदर गुलाब का फूल लगता है। यह क्या चमत्कार नहीं? नीले रंग में पीला रंग मिलाते ही सुंदर हरा रंग दिखता है। क्या यह चमत्कार नहीं? मूल रंग में हरा रंग नहीं था, लेकिन मिश्रण से हरा दिखने लगा। कैसे आया यह रंग! चमत्कार! परंतु इन घटनाओं का कार्य-कारण भाव नियमित रूप से हम बता पाते हैं। एक बात का दूसरी बात पर परिणाम जरूर होता है। ऐसा बार-बार हमें दिखाई दिया तो उसे हम नियम कहते हैं। परंतु किसी घटना को देखते ही उसका कारण क्या है यह हमें निश्चित रूप से समझ नहीं आता। यह घटना निश्चित नियम से हर समय, उस निश्चित पद्धति से, निश्चित कारणों से उत्पन्न की जा सकती है या उत्पन्न होती है, ऐसा हम जिस अपूर्व घटना के संबंध में नहीं बता सकते, उसे हम चमत्कार कहते हैं। अपूर्व बात और कार्य-कारण भाव का अज्ञान यानी चमत्कार, इस अर्थ में चमत्कार हमेशा होते रहते हैं।

क्योंकि सृष्टि तो अमर्यादित और अनंत है। मनुष्य का ज्ञान कितना भी विकसित हुआ तो भी मर्यादित रहता है। जैसे-जैसे मानवी ज्ञान बढ़ता है वैसे-वैसे अज्ञान क्षितिज के समान और पीछे हटा हुआ लगता है, तो भी पूर्व के समान ज्ञान की पकड़ से, हाथ से दूर रहता है। सांत ज्ञान के चारों ओर का अज्ञान का घेराव

कभी उठनेवाला नहीं। किंतु ज्ञान यानी सांत, अज्ञान वही अनंत। सांत ऐसी मानवी मन के नियंत्रण में न आई हुई नई-नई घटनाएँ इस अनंत सृष्टि में हमेशा होती रहती हैं। उनकी उस अपूर्वता से उनका कार्य-कारण भाव तत्काल तय करना कठिन होगा। इसलिए अपूर्व और अद्‌भुत घटनाएँ एवं चमत्कार होते ही रहेंगे।

इसलिए 'चमत्कार' कहते ही उसकी निंदा करना ठीक नहीं। यह बात सही है कि 'चमत्कार' बनावटी और धर्मांधता से, अतिशयोक्ति से होते हैं। परंतु चामत्कारिक बातों को न सुनते हुए तुच्छता दरशाने की बजाय सुनना चाहिए, उनकी जाँच करनी चाहिए कि वे किस प्रकार बनावटी या मूर्खता की हैं। लोगों का भ्रम दूर होगा। धर्मांध लोगों की आँखें खुलेंगी। ऐसी चामत्कारिक बातों का कार्य-कारण भाव सप्रयोग सिद्ध कर सकें तो उसका गूढ़ाश्चर्य अपने आप नहीं के बराबर होगा, जैसे राजापुर की गंगा। अकस्मात् उसका जल क्यों बहने लगता है और यकायक क्यों रुक जाता है, गुप्त हो जाता है, यह बात भू-जलविद्या के निश्चित नियमों से जिन लोगों को समझाया गया उन्हें वह चमत्कार नहीं लगता। पानी के वे निर्झर जिन्हें महाराष्ट्र में उन्हाले कहते हैं और जो गरमी के दिनों में बहते हैं, के संबंध में ग्रीष्म ऋतु के भौतिक नियम सीखे हुए बच्चों को बिलकुल आश्चर्यचकित नहीं करते। उस 'गंगा' का या 'उन्हाले' का दैवीपन गायब हो जाता है। वही बात ऐंद्रजालिक चमत्कारों की। अत: चमत्कार से सामने आई हुई बातों पर अकस्मात् विश्वास नहीं करना चाहिए। उनका धिक्कार भी नहीं करना चाहिए। एक प्रश्न समझकर चमत्कार को अपने पास लिख लेना चाहिए, उसका मनन करके खोज करनी चाहिए। केवल बनावटी हो तो वह बनाया गया है यह सबूत के साथ लोगों की नजर में लाना चाहिए। यदि वह अतिरंजित या अतिशयोक्त हो तो लोगों को समझाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है और ज्ञान की सीमा में नहीं है तो एकदम झूठ है ऐसा कहना पाप है। क्योंकि अपूर्व घटना की चामत्कारिकता हमें एक नया नियम सिखाने का सृष्टि द्वारा दिया हुआ आमंत्रण है।

हम जिसका कारण नहीं बता सकते ऐसी कोई भी घटना (fact) देखते ही उसे एकदम दैवी समझकर नारियल चढ़ाना, फूल चढ़ाना, यह नहीं होना चाहिए या होना चाहिए इसके लिए भगवान् की प्रार्थना करना, यह जैसी धर्मांधता है वैसे ही आज मानव को ज्ञात सृष्टि के नियम उतना ही ज्ञान है, और अब कुछ समझने को रहा नहीं, ऐसा दंभ यह भी एक बुद्धि का पागलपन है। यह बुद्धि का अज्ञान ही होगा। सही वैज्ञानिक वृत्ति का अर्थ है प्रत्येक चमत्कार को सृष्टि का एक नया प्रश्न समझकर उसे हल करने की हिम्मत रखनी चाहिए।

विज्ञान वही जो यह समझता है कि ज्ञान कितना भी बढ़ गया तो भी 'अज्ञानं पुरस्तस्य भाति कक्षासु कासुचित्॥'

पुनर्जन्मवाद

हमारे आज के ज्ञात कार्य-कारण भाव की कक्षा से बाहर और जिसके संबंध में कोई भी सिद्धांत स्थापित नहीं हो पाया, ऐसी समस्याओं में एक पुनर्जन्मवाद का प्रश्न है। प्राचीन समय से मनुष्यजाति इसे हल करने का प्रयास कर रही है परंतु वह अभी हल नहीं हो पाया। जन्म से गणितज्ञ, जन्म से गायक, जन्म से कवि है, ऐसा बार-बार हम सुनते हैं। बड़े-बड़े गणितज्ञ जो गणित हल नहीं कर पाते उन्हें केवल मौखिक हल करनेवाले बालक, सात साल का बच्चा गाने में प्रवीण, ज्ञानदेव-शंकराचार्य के समान अद्‌भुत तत्त्वज्ञानी बालक, उनकी यह 'अलौकिक' शक्ति कहाँ से आई ? पूर्वजन्म की स्मृतियाँ ताजी होती हैं यह बुद्ध जैसे सत्यवादी प्रामाणिक लोग अपने अनुभव से कहते हैं, उसकी संगति कैसे लगाएँ? सभी चमत्कारों का कार्य-कारण भाव 'पुनर्जन्मवाद' से कुछ हद तक होता है। यह बात यद्यपि विचारणीय है तो भी अन्य वादों (hypothesis) से वह हल नहीं हो सकता ऐसा नहीं है। कुछ भी हो, पुनर्जन्म की संभावना बनी हुई है। जब तक वह संभावना या असंभावना निर्विवाद रूप से सिद्ध नहीं होती तब तक उस संबंध में प्रस्तुत किए जानेवाले सबूतों पर हमें एकदम विश्वास भी नहीं करना चाहिए। हाँ, हमें उसका उपहास भी नहीं करना चाहिए। इस धारणा से यूरोप में जो psychical research की संस्थाएँ चल रही हैं, वैसे ही पुनर्जन्म को चमत्कार मानकर ध्यानपूर्वक उसका अध्ययन होना चाहिए। उनके संबंध में आवश्यक प्रमाण इकट्ठा कर और जो घटनाएँ अंत में सही तय होंगी उनकी उपपत्ति भी पुनर्जन्मवाद से ही हो सकती है या नहीं—यह तय करना ही वैज्ञानिक वृत्ति का कर्तव्य है।

ऐसे संशोधन के योग्य चमत्कारों में से गत तीन-चार माह से दिल्ली की ओर घटित एक पूर्वजन्म की स्मृति ने जनता का तथा वैज्ञानिकों का ध्यान आकर्षित किया हुआ है। अध्ययन की दृष्टि से इस लेख में उसका परिचय जिज्ञासु पाठकों के लिए यहाँ कर रहे हैं।

पूर्वजन्म की स्मृतिवाली आठ वर्ष की एक आश्चर्यकारक कन्या-कुमारी शांति माथुर (दिल्ली)

दो-तीन वर्ष से दिल्ली के एक परिवार की पाँच-छह वर्ष की बालिका बार-बार कहती है कि मैं पूर्वजन्म में फलाँ स्थान पर रहती थी, मुझे एक लड़का है, इस प्रकार के रंगीन खिलौने मेरे घर पर थे, मेरे बच्चे को बहुत पसंद आते थे। कभी-कभी वह पूर्व की स्मृतियों से शोकाकुल हो जाती थी। उस परिवार के

व्यक्तियों के नाम भी बताने लगती थी। इस प्रकार इस परिवार का और पड़ोसियों का ध्यान उसकी ओर आकर्षित हुआ। उसमें से कुछ बातों की वे लोग जाँच करने में लग गए। वे बातें सही निकलने लगीं। तब दिल्ली में बुद्धिजीवियों में भी चर्चा प्रारंभ हुई। आगे चलकर पंजाब से बंगाल तक के समाचारपत्रों में उसका यह किस्सा प्रकाशित हुआ और वैज्ञानिक दृष्टि के लोगों का ध्यान उस वार्त्ता की ओर अधिक आकर्षित हुआ, क्योंकि उसमें स्पष्ट पता, वर्णन, संदर्भ आदि दिए हुए थे। उत्तर हिंदुस्थान के कुछ वैज्ञानिक विद्वानों का एक परीक्षक मंडल नियुक्त किया गया। यदि उस अल्पायु कन्या की पूर्वजन्म की स्मृतियाँ सही निकलीं तो पुनर्जन्मवाद सिद्ध होने के लिए इस घटना का साक्ष्य उपयोगी है यह जानकर स्थानीय हिंदू नेता, महंत और धर्मप्रचारक इस समस्या की ओर ध्यान देने लगे। उतनी ही सशंकता से पुनर्जन्म न माननेवाले मुसलमान नेता, मौलवी आदि ने भी उस प्रश्न की ओर ध्यान दिया। इस प्रकार गत दो-तीन माह से पंडित मालवीय और उधर के हिंदू-मुसलमान विद्वान् और शिक्षित जनता में यह विषय आकर्षण का केंद्र बना रहा। सामान्य जनता में यह चर्चा का विषय बन गया। उस बालिका को देवी समझकर लोग पूजने नहीं लगे, यही भाग्य!

उल्लिखित परीक्षक मंडल में दिल्ली के प्रमुख उर्दू दैनिक 'तेज' के संचालक लाला देशबंधु गुप्त, प्रसिद्ध नेता पंडित नेकीराम शर्मा और एडवोकेट ताराचंद माथुर तीनों थे। उन्होंने न्यायिक विधि से सभी सबूतों की जाँच करके अपना वक्तव्य सर्वानुमति से प्रकाशित किया। उसे उधर के समाचारपत्रों ने प्रकाशित किया है जिसका अनुवाद इस प्रकार है—

कुमारी शांति चार वर्ष की आयु तक विशेष बोलती नहीं थी। बाद में कुछ-कुछ ऐसा बोलने लगी मानो वह अपना पूर्व वृत्तांत बता रही है। फल खाने लगती तो कहती थी कि मथुरा में घर था, वहाँ पर भी मैं इसी प्रकार के फल खाती थी। उसकी माँ उसे कपड़े पहनाती थी तो वह कहती कि मथुरा में मैं फलाने प्रकार के कपड़े पहनती थी। मेरा पति कपड़े का व्यापारी है। मेरा पूर्व का घर पीले रंग का था। मथुरा के पूर्व घर की गली में अमुक दुकानें थीं। इस छोटी बच्ची के इन वाक्यों से स्वाभाविक रूप से सबको आश्चर्य होता था। यह बात कौतूहल की न रहकर सोचने योग्य जिज्ञासा का विषय हो गई और लड़की के पिताजी ने अपने चाचा श्री बिशनचंद्र, जो रामजस विद्यालय के अध्यापक थे और दरियागंज में रहते थे, उन्हें एक साल पूर्व लड़की को दिखाया। उन्होंने सहज रूप से लड़की से पूछा, 'तुम्हारे पति का नाम क्या था?' उसने जोर से न कहकर चाचा के कान में अपने पूर्व पति का नाम कहा, 'पंडित केदारनाथ चौबे।' उस आठ-नौ साल की बच्ची

का यह अकृत्रिम व्यवहार देखकर बिशनचंद्रजी ने इस बात की खोज करने का विचार बनाया। कन्या ने साथ में मथुरा जाने की बात की तब उसे कहा गया कि 'हम पहले पता लगा लेते हैं, बाद में तुम्हें ले जाएँगे।' लड़की के माँ-बाप को डर था कि कहीं लड़की हाथ से न चली जाए, अत: उन्होंने जाँच नहीं की। लड़की बार-बार पति के संबंध में पूछती थी तो उसे किसी प्रकार समझा दिया जाता कि पता ही नहीं मिला।

गत दशहरे के दिन दरियागंज में रहनेवाले प्रिंसिपल लाला किशनचंद्र एम.ए. ने लड़की के पिताजी से बेटी से मिलने देने की विनती की, क्योंकि वे इस बात की सत्यता को जानना चाहते थे। एक छोटी बैठक हुई, जिसमें लड़की ने स्पष्टता से अपने पूर्वजन्म के पति का नाम मथुरा के केदारनाथ चौबे ही बताया। तब उसके द्वारा बताई गई निशानियों के आधार पर मथुरा के उस पते पर प्रिंसिपल किशनचंद्र एम.ए. ने एक पत्र भेजा।

आश्चर्य की बात यह थी कि मथुरा के केदारनाथ चौबे ने स्वहस्ताक्षर से पत्रोत्तर दिया। उसमें केदारनाथ ने कहा कि लड़की द्वारा बताई गई बातें लगभग सही हैं। इतना ही नहीं, उन्हें भी अति जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उन्होंने उस उत्तर में निवेदन किया था कि उनके एक रिश्तेदार पंडित कांजीमल दिल्ली के भानमल गज्जारी मंडली में नौकर हैं, उन्हें उस लड़की से मिलाया जाए। इस प्रार्थनानुसार पंडित कांजीमल लड़की से मिलने आए तब लड़की ने उन्हें तुरंत पहचाना और कहा कि ये मेरे छोटे भाई के रिश्ते में हैं। इस प्रकार लड़की की पूर्वजन्म की स्मृति सही मानकर कांजीमल ने मथुरा से लड़की के पूर्व पति को दिल्ली बुलाया।

कुमारी शांति की पूर्वजन्म के पति से प्रत्यक्ष भेंट

बड़े-बड़े लोगों के उस आश्चर्यकारक निमंत्रण पर पंडित केदारनाथ चौबे, अपनी दूसरी पत्नी और पहले पत्नी का दस वर्ष का लड़का साथ लेकर दिनांक १३ नवंबर, १९३५ को दिल्ली पहुँचे। उन्हें देखते ही लड़की ने अपने पति और पुत्र को पहचाना तथा भावना विवश होकर आधे घंटे तक पुरानी स्मृति के कारण रोती रही। उसके बाद पंडित केदारनाथ ने उससे वैवाहिक जीवन के एकांत की कुछ बातें पूछीं और अंत:स्थ संभाषण में कुछ गुह्य निशानियाँ पूछीं। पूर्वजन्म के सभी अनुभवों को कुमारी शांति ने सही-सही बताया। तब पंडित केदारनाथ को भी निश्चित रूप से यह अपनी पूर्वजन्म की पत्नी होने की बात जँच गई और रोना आ गया। कुमारी शांति ने अपने लड़के को गोद में लिया और उसे अपने खिलौने देने के लिए अपनी माता से कहा। फिर उसने मथुरा के अपने गत जन्म के ससुराल के घर के चिह्न, उस घर

के रास्ते, विश्रामघाट का और द्वारकाधीश मंदिर का वर्णन किया। पड़ोसियों की बातें बताईं। इतना ही नहीं अपितु उसे याद आया कि मृत्यु के पूर्व द्वारकाधीश के मंदिर को दान देने के लिए उसने अमुक एक कमरे में सौ रुपए गाड़कर रखे थे। वह मथुरा जाने का हठ करने लगी, परंतु उस समय उसके माँ-बाप ने वह बात नहीं मानी।

पर बाद में अनेक प्रतिष्ठित लोगों के कहने पर शांति के माँ-बाप ने उसे मथुरा ले जाने की बात मान ली। मिस्टर आसफ अली, दिल्ली का प्रसिद्ध मुसलमान व्यक्तित्व, अपनी विदुषी पत्नी के साथ जाने वाले थे, परंतु ऐन समय पर निकले नहीं। अमेरिका से लौटे श्री लाला को हम कमेरे के साथ ले गए। गाड़ी मथुरा के लिए निकलते ही उस लड़की को बहुत हर्ष हुआ।

कुमारी शांति अपने पूर्वजन्म के घर ले जाती है

मथुरा के पास आते ही उसकी मुद्रा उत्सुकता और आनंद से लाल हो गई। उस नौ वर्ष की लड़की ने, बिना पूर्व में देखे या जिसे समाचार पढ़ना भी संभव न हो, तो भी गाड़ी स्टेशन पर रुकने के पूर्व ही कहा कि अब ११ बजे यदि पहुँचे तो द्वारकाधीश मंदिर बंद मिलेगा। यही वहाँ का नियम है। गाड़ी स्टेशन में घुसते ही लड़की खड़ी हो गई और खुशी से चिल्लाने लगी कि 'मथुरा आ गई, मथुरा आ गई!'

जेठ को प्रणाम

पहली आश्चर्यकारक घटना हमारे स्टेशन पर उतरते ही हो गई। भीड़ थी इसलिए परीक्षण मंडल के श्री देशबंधु ने उस बालिका को गोद में ले लिया। थोड़ा आगे जाते ही एक अर्धवयस्क गृहस्थ मथुरा पद्धति के परिधान में आ रहा था। हमें भी नहीं मालूम था कि वह कौन है? इसलिए हमारा ध्यान ही नहीं गया। लड़की तो हमारे पास ही थी इसलिए उसे किसी के कुछ बताने की बात ही नहीं थी। परंतु उस अनोखे व्यक्ति को देखकर वह गोद से नीचे उतरी और उसके पास गई। उसके चरणों को छूकर बाजू में सलज्ज खड़ी हो गई। यह कौन है? ऐसा पूछते ही उसने धीरे से कहा, ''ये मेरे जेठ हैं, बाबूरामजी चौबे!'' यह सुनते ही बाबूराम की आँखों में भी आँसू आ गए।

उसके बाद हम लोगों ने हमें जो ठीक लगा एक ताँगा पसंद किया। यह इसलिए कि लुच्चेपन का मौका न मिले और लड़की को आगे की सीट पर बैठाया ताकि कोई उसे कुछ न बताए। पुनः उस लड़की के आस-पास कोई रिश्तेदार न रहे ऐसा पहरा रखा। लड़की कहेगी वैसे ताँगे को रास्ते में मोड़ते गए।

लड़की ने कहा, "होली फाटक की ओर चलो।" रास्ते में जो मकान लगते गए उसका भी वह वर्णन करती थी। 'फाटक' तक पहुँचने के पूर्व उस चौक का बराबर वर्णन उसने किया। एक स्थान पर ताँगे को रोककर उसने कहा, "अब इस गली से ले चलो।" और वह गली आते ही कहा, "अब उतरिए।" हम उतरकर गली में पैदल चले। फटे कपड़े पहने एक पचहत्तर वर्षीय व्यक्ति को देखते ही शांति ने कहा, "ठहरिए, यही मेरे ससुरजी हैं!" उसने उनके चरणों में प्रणाम किया। उस गंभीर प्रसंग का वहाँ के सभी लोगों पर परिणाम हुए बिना न रहा। यद्यपि उसका वह पहला घर पीले रंग का नहीं रहा था तो भी वहाँ जाते ही उसने 'यही मेरा घर' ऐसा कहा। उस मकान में अब कोई दूसरा किराएदार रहता है। मथुरा के दो-तीन प्रमुख गृहस्थों को भी हमने साथ में लिया और लड़की को उस घर में ले गए। उस घर में आते ही लड़की ने अपने कमरे में सीधे प्रवेश किया। उस समय मथुरा के नेताजी ने लड़की से पूछा, "घर का जैजरुर कहाँ है?" यह शब्द 'जैजरुर' दिल्ली में हममें से किसी ने नहीं सुना था, पर उस शब्द को सुनते ही उसने सीधे जीने के नीचे का संडास दिखाया। उसे घर की पूरी-पूरी जानकारी थी यह बात स्पष्ट हो गई।

कुमारी शांति पूर्वजन्म के स्वयं के घर में

अल्पाहार के बाद लड़की ने कहा, "मुझे अपने दूसरे घर ले चलो। वहाँ मैंने रुपए गाड़कर रखे हैं।" वह मकान भी उसने सहज और तुरंत पहचान लिया। यह मेरा स्वयं का घर है, मैंने अधिकतर जीवन इसी घर में बिताया। जहाँ उसने जिंदगी बिताई थी। पंडित केदारनाथ का परिवार आज भी वहीं रहता है। पंडित नेकीराम शर्मा ने पूछा कि वह कुआँ कहाँ है, जिसकी बात तुम दिल्ली में कहती थीं। लड़की दौड़ती हुई छोटे आँगन में गई, परंतु वहाँ कुआँ नहीं था। तब वह कुछ परेशान नजर आई। परंतु एक कोने में जाकर उसने कहा, "कुआँ यहीं था!" तब पंडित केदारनाथ ने वहाँ का पत्थर हटाया। लड़की खुशी से चिल्लाई, "वह देखो।" कुआँ कुछ ही दिन पूर्व ढककर रखा गया था। गड़ा हुआ धन कहाँ है ऐसा पूछते ही उसने कहा, "ऊपर चलिए! वहाँ के कमरे का ताला खोलिए।" ताले को खोलने का भी उसे धीरज न रहा। वह दरवाजे की झिरी से अंदर देखने लगी। कमरा खोलकर अंदर जाते ही उसने एक कोने में पाँव रखकर कहा, "यहाँ रुपए गाड़े हैं।" केदारनाथ चौबे पहले उस स्थान पर खोदने से मना करने लगे, पर अंततः खोदा। भूमि खोदते ही एक गल्ला मिला। उसमें रुपए नहीं थे। लड़की को वह सही नहीं लगा, वह स्वयं मिट्टी में पैसे खोजने लगी, पर उसमें कुछ नहीं मिला; फिर

भी वह कहती रही—मैंने रुपए इसी गल्ले में रखे थे। फिर सहसा कुछ स्मरण कर उसने कहा, ''मेरे माता-पिता के घर चलो।''

शांति की पूर्वजन्म के माँ-बाप से भेंट

दिल्ली में जब वह थी तब उसे माँ-बाप की स्मृति नहीं आई थी। मथुरा में घूमते समय स्मृति होते ही वह माँ-बाप का घर दिखाने ले गई। एक घर दिखाया और पाँच-दस आदमियों में से अपने माँ-बाप को पहचान लिया। लड़की ने माँ को देखते ही गले लगाया और वह शोकमग्न होकर रोने लगी। पूर्वजन्म की उन माँ-बेटी की भेंट का वह दृश्य देखकर हमें ऐसा लगा कि पूर्वजन्म की स्मृति नहीं रहती तो यही अच्छा है।

शाम तक यह सब दौड़-धूप चलती रहने से लड़की को नींद आने लगी। परंतु वह कहने लगी कि मथुरा में कुछ दिन रहना चाहिए।

जाँच करने पर हमें पता चला कि पंडित केदारनाथ चौबे की प्रथम पत्नी की मृत्यु ४ अक्तूबर, १९२५ को हुई और कुमारी शांति का जन्म ग्यारह दिसंबर को हुआ। परीक्षक मंडल की इस रिपोर्ट से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस मामले में आवश्यक सबूत सामने आ गया है, अत: पुनर्जन्मवाद की चर्चा में यह उदाहरण विचार योग्य है।

परंतु इस संबंध में एक चेतावनी

इस संबंध में एक चेतावनी देना भी आवश्यक है। इसमें जो घटनाएँ विश्वसनीय लगती हैं उससे भी अधिक अनुत्तरीय और बनावटी प्रकरण पुनर्जन्म की स्मृति के संबंध में यूरोप और अमेरिका में घटित हैं। पाँच-दस लोग मिलकर आपस में नाटक रचकर किसी व्यक्ति को तोते के समान सिखा और उपर्युक्त प्रयोगों के समान प्रयोग करके बड़े-बड़े शास्त्रज्ञों को धोखा देना। ऐसा कई बार हुआ है। चमत्कार होने पर धन और नाम की कमाई भी काफी होती है। उपर्युक्त छोटी लड़की को आजकल पटियाला के महाराजा ने बुलाया है। अपने माँ-बाप के साथ वह पटियाला जाएगी ऐसी जानकारी मिली है। उपर्युक्त संपूर्ण प्रकार सतही तौर पर विश्वसनीय लगा तो भी और अविश्वसनीय कहने के लिए कोई आधार भी नहीं तो भी उसमें कपट और भ्रमित करने के अनेक स्थल दिखाई देते हैं। परंतु इस प्रश्न को अलग रखकर निश्चित और ठोस सबूत इस प्रकरण में अभी भी मिलना आवश्यक है। इतने पर भी वह प्रकरण सही निकले तो भी उसका हल पुनर्जन्मवाद के समान अन्य मानसशास्त्रीय उपपत्ति से लगाने जैसा है। पुनर्जन्म सिद्ध होने पर भी पूर्वजन्म के वे

संबंध किसी को भी बंधनकारक होंगे, ऐसा मानने का कोई कारण नहीं।

कितने ही बदमाश लोग पूर्वजन्म की स्मृतियों की झूठी बात करके अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। 'तुम मेरी पूर्वजन्म की पत्नी हो!' मुझे लगता है, बिना सबूत ऐसा कहकर भोली-भाली महिला को ठगते हैं। ये पुराने संबंध इस जन्म में भी बंधनकारक हैं ऐसा मानकर, 'तुम मेरे पिछले जन्म के पुत्र, मित्र या शिष्य हो।' ऐसा बताकर कितने ही साधुओं ने, महिलाओं ने, महंतों ने अन्य भोले लोगों को लूटा है। ऐसे उदाहरण हैं। इसलिए सबको एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि इस जन्म के प्रत्यक्ष स्नेह संबंध यदि इस आयु में ही बंधनकारक नहीं होते हैं, बारह वर्ष के बिना व्यवहार का ऋण, संपत्ति और स्वामित्व डूब जाता है, इस जन्म में एक दूसरे से नहीं जमी तो विवाह-विच्छेद, तलाक मिलता है! पुनर्विवाह होते हैं, पुराने स्नेह, कपट या संबंध में खंड आने से टूटते हैं। नए जुड़ते हैं। इसलिए पूर्वजन्म के असिद्ध, अप्रत्यक्ष, संदेहमय ऐसी रिश्तेदारी से भी कोई बंधन में नहीं रहता। पूर्वजन्म के प्रिय संबंध यदि माना तो फिर बैर, वितुष्टि, ऋण यह सब अवांछनीय तत्त्व इस जन्म में भी गले पड़ सकते हैं। और फिर दुर्दशा हो सकती है।

तब केवल यह एक विचारणीय चिंतन का प्रश्न है। इसके अतिरिक्त ऐसी पूर्वजन्मादि स्मृतियों पर निश्चित रूप से विश्वास नहीं करना चाहिए। उस स्मृति से आज के प्रत्यक्ष सिद्ध व्यवहार में बिलकुल बाधा नहीं लानी चाहिए। पूर्वजन्म में कोई बात थी केवल इसलिए नहीं, पर इस जन्म में वह उपयुक्त या वांछनीय है तो ही उसे व्यवहार में लाना चाहिए। उस बंधन को मानना चाहिए और प्रत्यक्ष व्यवहार रखकर ऊपरी तौर पर अपूर्व और चामत्कारिक लगनेवाली घटनाओं की वैज्ञानिक छानबीन करके उनकी उपपत्ति लगाने या भंडाफोड़ करने का प्रयत्न करना चाहिए।

□

भारतीय पंचांग का सूतोवाच

भारत के महाराज्य में एकात्मता की भावना संचारित करने और उसका प्रशासन व्यवस्थित करने के लिए जिस प्रकार एक संविधान, एक सेना, एक राष्ट्रभाषा, एक लिपि, एक मुद्रा, एक मापन पद्धति आदि संगठक साधन आवश्यक हैं उसी प्रकार सभी राष्ट्रीय और व्यक्तिगत व्यवहार में जिसकी कालगणना का उपयोग मान्य हो ऐसा एक राष्ट्रीय पंचांग भी आवश्यक है।

राष्ट्रीय पंचांग हेतु आंदोलन

यह आवश्यकता, अपने बारे में बोलना हो तो लंदन में सर्वप्रथम हमारे ध्यान में आई। सन् १९०७ में 'अभिनव भारत' की एक बैठक में राष्ट्रीय पंचांग की आवश्यकता विषय पर हमने एक भाषण दिया था। वह पंचांग कैसा हो इसकी भी चर्चा बीच-बीच में होती रहती थी। परंतु उस संबंध में कोई निश्चय नहीं हो पाया। आगे चलकर फ्रेंच रिवोल्यूशनरी पुस्तकों का अध्ययन करते समय कार्लाइल की इस विषय की पुस्तक पढ़ने में आई। फ्रेंच क्रांतिकारियों के जैकोबिन पक्ष ने क्रिश्चियन धर्म के विरुद्ध जब क्रांति की तब रोम का पंचांग भी निरस्त करके उसके स्थान पर 'रॉमे' (Romme) द्वारा तैयार किया हुआ व्यावहारिक पंचांग फ्रांस की संविधान समिति ने कानून से संपूर्ण फ्रांस राष्ट्र में लागू किया। इस घटना का और इस पंचांग की विशेषताओं का चटपटा वर्णन कार्लाइल ने उपर्युक्त पुस्तक में किया है। रॉमे के पंचांग की रूपरेखा देखकर हमारी 'भारतीय पंचांग की सामान्य कल्पना' एक साँचे में बैठने योग्य आकार लेने लगी। किंतु उसके बाद शीघ्र ही क्रांति के तूफान में इतने वेग से और आवेश से हम सब प्रभावित हो गए थे कि उस महत्तम कर्तव्य के सामने एकदम साधारण यह कार्य हमारे मन के किस कोने में जाकर गिरा इसकी जानकारी भी हमें नहीं मिली। अब वह योग आ गया है। अन्यत्र भी कुछ लोगों को उस समय में भी राष्ट्रीय पंचांग की आवश्यकता अनुभव हुई होगी।

तथापि गत चालीस वर्षों में राष्ट्रभाषा और राष्ट्रलिपि के संबंध में देश में चर्चा होकर जनता के निश्चित विचार बने। इस कारण संविधान समिति में इस विषय पर विचार होकर उचित निर्णय लिया गया, परंतु राष्ट्रीय पंचांग के संबंध में वैसी चर्चा नहीं हुई। और कोई निश्चित योजना संगठित रूप से संविधान समिति के सामने रखी भी नहीं गई। गत दो-तीन वर्षों से एक भारतीय पंचांग की आवश्यकता और पंचांग का स्वरूप क्या होना चाहिए इस संबंध में चर्चा शुरू हुई है। इस प्रकार का पंचांग अपनी योजनानुसार छापने का प्रत्यक्ष उपक्रम भी कुछ स्थानों पर हुआ यह हमारे देखने में आया है। उदाहरणस्वरूप पुणे के श्री वा.वि. साठे द्वारा प्रकाशित छोटी दैनिकी, 'भारतीय प्रजासत्ता युग की छोटी दैनिकी' बताई जा सकती है। तथापि इस प्रकार के यदा-कदा होनेवाले प्रयत्नों से कुछ नहीं होगा। उन सब विचारों को केंद्रित करके भारतीय पंचांग समस्या के लिए संगठित आंदोलन किए बिना राष्ट्रभाषा समस्या के समान यह प्रश्न अधिकृत रीति से हल नहीं होगा। इस दिशा में हमारी दृष्टि से अगला कदम हम इस लेख द्वारा रख रहे हैं।

रॉमे का कालदर्शक (Calender)

फ्रेंच क्रांतिकारियों की संविधान समिति द्वारा स्वीकारे हुए राष्ट्रीय पंचांग की छानबीन ने हमारे राष्ट्रीय पंचांग की कल्पना को जैसी प्रेरणा दी वैसी वह अन्य लोगों को प्रेरणादायी होने की संभावना है। इसलिए रॉमे के कालदर्शक की संक्षिप्त रूपरेखा हम यहाँ दे रहे हैं। उस कालदर्शक की मुख्य बात यह है कि वह केवल ऐहिक या व्यावहारिक दृष्टि से रचा हुआ था कि फ्रेंच वायुमान (मौसम) के हिसाब से समान चार ऋतुओं का वर्ष, वर्ष के बारह माह, प्रत्येक माह के समान तीस-तीस दिवस यानी कुल तीन सौ साठ दिन होते हैं। वर्ष के शेष पाँच दिन बुद्धि, श्रम, कर्मफल, मतप्रचार आदि उत्सवों के लिए रखे गए। कुल वर्ष के दिन तीन सौ पैंसठ हो गए। उपवाद यानी प्रत्येक चौथे वर्ष के अंत में एक छठवाँ दिन अधिक पकड़कर उसे क्रांति-उत्सव के रूप में मनाना। प्रत्येक माह के तीस दिन के तीन भाग करके तीन दसवडे। उन दसवडे के अंतिम दिन को छुट्टी। क्योंकि 'सनबाथ' शब्द क्रिश्चियनों का है, अतः उसकी और रविवार की छुट्टी का बहिष्कार। बारह माह के विसंगत नाम बदलकर उन नामों से प्रचलित फ्रांस का पंचांग नष्ट करके यह भौतिक पंचांग होना चाहिए इसलिए फ्रांस के कोने-कोने से लोगों ने प्रदर्शन किए। अंत में संविधान समिति ने इस राष्ट्रीय पंचांग को विधितः लागू किया। क्रिश्चियन सन् १७३२ रद्द करके उसके स्थान पर क्रांतिसंवत् वर्ष प्रथमतः प्रारंभ किया। उस दिन लोगों ने राष्ट्रीय उत्सव मनाया। अब अपने स्वतंत्र भारत के लिए

एक राष्ट्रीय 'भारतीय' पंचांग क्यों होना चाहिए और वह कैसा हो इस संबंध में कुछ सुझाव नीचे दे रहा हूँ—

परंपरा-विरोधी रोमनीय पंचांग

रोमनीय क्रिश्चियन पंचांग हमारा राष्ट्रीय पंचांग नहीं हो सकेगा; क्योंकि वह विदेशी है। उसे हमपर विदेशी राजसभा ने जबरदस्ती लादा है। उसके बिना हमारा कुछ काम रुकेगा ऐसा कोई भी विशेष गुण उसमें नहीं और हमारी राष्ट्रीय परंपरा से वह सर्वथा विरोधी है। कैसा है ? यह देखें। यह पंचांग प्राचीन रोमन लोगों का है। इसका आरंभ मार्च माह से होता था। आगे चलकर रोमन लोग ईसाई होने पर उसी पंचांग का किसी तरह ईसाई पंचांग में संस्करण बदला गया। इसलिए उसमें माहों के नामों और संख्या में आज की हास्यास्पद विसंगति हुई दिखती है। नाम से जो सप्टेंबर (सप्तम) माह उसे आज गिनते हैं नौवाँ। जो आक्टोबर (अष्टम) उसे दसवाँ, जो नोव्हेंबर (नवम) उसे ग्यारहवाँ, जो डिसेंबर (दशम) उसे बारहवाँ। अन्य माहों के नाम भी रोमन संस्कृति से संबद्ध! प्राचीन रोमनों का जो द्विमुखी देवता जेनस था, उसके नाम से माह जनवरी (जानुअरी), बुद्धि का देवता Maia उसका मास मई। ज्युनिअर्स ब्रूटर्स, ज्युलिअस सीजर और ऑगस्टस इन रोमन वीरों के नाम से क्रमश: जून, जुलाई, अगस्त। इन नामों का अपने देश के माहौल से, कथाओं से, इतिहास से, भारतीय परंपरा से कुछ भी संबंध नहीं है, इसके साथ ख्रिस्ती संवत्, सन्, उपवास, धार्मिक कथाएँ जोड़ दी गई हैं। ऐसा यह पंचांग अंग्रेजों की राजसत्ता के कारण आज देश के कोने-कोने में और घर-घर में और दैनंदिन व्यवहार में उपयोग में लाया जा रहा है। परंतु स्वराज प्राप्ति के बाद परकीय सत्ता की गुलामी का यह प्रतीक भारतीय महाराज्य के राष्ट्रीय पंचांग के रूप में स्वीकारना और उसका सम्मान करना बेशरमी का लक्षण होगा।

पूर्व में मुसलिम पंचांग ने भी इसी प्रकार हिंदुस्थान के राष्ट्रीय व्यवहार पर अपनी पकड़ मजबूत की थी। मुसलमानों की बादशाही समाप्त करनेवाले मराठे, उनके राजनीतिक और व्यक्तिगत व्यवहार में भी हिजरी सन्, महीना, तारीख कितना अधिक प्रभाव था यह उनके ऐतिहासिक कागज-पत्रों से स्पष्ट होता है। हमारे बचपन में भी स्कूल में बच्चों को मुसलिम माह के नाम याद करने पड़ते थे। इतना ही नहीं अपितु प्रत्यक्ष पटवर्धनी संस्थानों में सन् १९४३ तक यह मुसलिम कालगणना सरकारी व्यवहार में चलती थी। उसके बाद कुछ हिंदू संस्थाओं के कारण यह अरबी कालगणना हमारे राष्ट्रीय व्यवहार से उखाड़कर फेंक दी गई।

वैसे ही यह अंग्रेजी कालगणना उखाड़कर फेंकनी चाहिए। परंतु यहाँ यह

बात स्पष्ट करना आवश्यक है कि मुसलिम पंचांग या ईसाई पंचांग जिन्हें अपना धार्मिक पंचांग लगता है वे मुसलिम या ईसाई नागरिक उसका पालन अपने-अपने समाज में शांति से कर सकते हैं। ये पंचांग राष्ट्रीय पंचांग का अखिल भारतीय स्थान नहीं ले सकेंगे।

धार्मिक आचार के लिए स्वकीय पंचांग

यह विदेशी पंचांग छोड़ दें तो भी हमारी भारतीय संस्कृति और परंपरा के अनुरूप जो दस-बीस पंचांग हिंदू जगत् में प्रचलित हैं उनमें से किसी एक को स्वीकृत कर अखिल भारत का अधिकृत राष्ट्रीय पंचांग बनाना भी असाध्य और अनुचित है। वेदांग ज्योतिष के काल से तो आज तक पंचांग संशोधन का कार्य अपने हिंदू राष्ट्र में निरंतर चलता आ रहा है। उसका संबंध धार्मिक आचार से अविछिन्न जुड़ा हुआ है। उन पंचांगों के विभिन्न सिद्धांतों में आज तक एकमत नहीं हुआ है। आगे भी नहीं होगा। आज भी एक की जिस दिन एकादशी उसी दिन दूसरे की द्वादशी। एक की संक्रांत तो दूसरे की 'कर'। एक का श्रावण सोमवार तो दूसरे का पितृपक्ष। उनमें से किस पंचांग को कानून के अधिकार से दूसरों पर लादा जाए? और किसी की भावना क्यों दुखाएँ? अधिक कारण न देते हुए इतना ही कहना होगा कि अपने हिंदू पंचांग अपने-अपने अनुयायियों में सुख से चलने दें।

ऐहिक व्यवहार के लिए मर्यादित क्षेत्र

परंतु केवल ऐसे जो राष्ट्रीय वैयक्तिक दैनंदिन व्यवहार हैं उनके लिए सभी नागरिकों को सर्वसामान्यतः कालगणना के काम में उपयुक्त होगा ऐसा एक नया राष्ट्रीय पंचांग कानून से संपूर्ण भारत में लागू करना चाहिए। उसका नाम 'भारतीय पंचांग' रखना चाहिए। व्यवहार की दृष्टि से ही उसका क्षेत्र मर्यादित होना चाहिए।

आज प्रचलित पंचांगों में से कोई भी पंचांग राष्ट्रीय व्यवहार में इस प्रकार एकमुखी और सुसंगत कालगणना हेतु उपयोग में नहीं लाया जा सकता। परंतु यह दिक्कत विदेशी अंग्रेजी पंचांग फिलहाल दूर कर सकती है। यही कारण है कि हमारे धार्मिक पंचांगानुयायी लोग भी भौतिक व्यवहार के लिए अंग्रेजी पंचांग को हिंदुस्थान में चुपचाप उपयोग में ला रहे हैं। यदि उस विदेशी पंचांग के स्थान पर राष्ट्रीय व्यवहार हेतु एकमुखी, सुसंगत और केवल भौतिक क्षेत्र के कार्य में कालगणना करनेवाला और स्वकीय परंपरा का उन्नयन करनेवाला भारतीय पंचांग अधिकृत रीति से शुरू किया जाए तो सभी लोगों को आनंद होगा। आनंद होना चाहिए। उसका विरोध होना असंभव है।

भारतीय संवत्

प्रचलित पुराने पंचांगों की जो व्यवस्था ऊपर कही है वह व्यवस्था उन्हीं कारणों से प्रचलित विविध शंकाओं और संवतों पर लागू करनी चाहिए। राज्य संस्थापकों ने या धर्मप्रवर्तकों ने अपने-अपने शक-संवत् शुरू किए हैं। भारत के विभिन्न प्रांतों में या पंथों में वे हैं। वैसे ही चलने देने चाहिए। उनका जन्म भारत में ही हुआ। भारत के महापुरुषों ने संवतों का प्रचार किया इसलिए युधिष्ठिर संवत्, विक्रम संवत् , शालिवाहन शक, वीर संवत् आदि अनेक छोटे-बड़े शक-संवत् हम हिंदुओं को वंदनीय हैं। वे अपने ही हैं। परंतु अखिल भारत में एकमुखी और कानून की दृष्टि से जो संवत् शुरू करना हो उसका नाम होना चाहिए। भारतीय संवत् शब्द ही रखना चाहिए। कारण, कुछ इतिहासों में शक शब्द का संबंध विदेशी शक जाति से लगाते हैं। परंतु संवत् शब्द पूर्णतः भारतीय है।

यह भारतीय संवत् यद्यपि आज शुरू होनेवाला हो तो भी अपना भारतीय राष्ट्र कोई आज का जनमा नहीं है। आज के किसी भी राष्ट्र की परंपरा उससे अधिक प्राचीन, अखंड अथवा महान् नहीं। वह प्राचीन और अखंड भारतीय परंपरा इस नए 'भारतीय संवत्' में व्यक्त होनी चाहिए। उसका आरंभ जैसे आज ही हुआ ऐसा अयथार्थ और अपमानास्पद आभास उत्पन्न नहीं होना चाहिए। इसके विपरीत आज उपलब्ध ऐतिहासिक ज्ञान के आधार पर जो तर्कशुद्ध हो सकेगा, उतना ही उस भारतीय परंपरा का प्राचीन इतिहास जानना चाहिए। केवल पौराणिक किंवदंतियों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए।

इस दृष्टि से युद्धकाल तक, ढाई हजार वर्षों पूर्व तक की भारतीय परंपरा की प्राचीनता विशुद्ध रूप से इतिहास सिद्ध कर रहा है। उस समय का हमारा प्रचीन वाङ्मय सौभाग्य से आज भी उपलब्ध है। उस काल का हमारा समाज संगठित, व्यापक और विकसित दिखाई देता है। वैसा बनने के लिए उसे लगभग ढाई हजार वर्ष अवश्य लगे होंगे। यह बात समाजशास्त्र की तर्क पद्धति से भी सिद्ध होती है। अन्य बातों की चर्चा स्थानाभाव से छोड़ रहे हैं। उपर्युक्त दो प्रमाणों के आधार पर हमारी भारतीय संस्कृति का प्रातःकाल ऐतिहासिक दृष्टि से भी आज से भूतकाल में पाँच सहस्र वर्षों पूर्व का होना चाहिए। इसलिए नए भारतीय पंचांग का अधिकृत आरंभ जब होगा तब उसका प्रारंभ १, २ से न करते हुए भारत की प्राचीनता और अखंड परंपरा, जिसमें प्रतिबिंबित होगी ऐसा ५००१ से आरंभ करना चाहिए।

भारतीय पंचांग में वर्ष के बारह महीने होते हैं। उनके नाम कौन से होने चाहिए? उनके चालू नाम चैत्र-वैशाख आदि हैं। हिंदुस्थान में वे नाम और ऋतुओं

के नाम समान होने के कारण राष्ट्रीय एकात्मता के उपकारक हैं। इसलिए उन्हें स्वीकारना चाहिए। ऐसा हमेशा लगता है। परंतु इन महीनों का आरंभ भिन्न प्रांतों में भिन्न दिन से होता है। उनके बाद आनेवाली तिथि क्षय और वृद्धि से तथा अन्य कारणों से वह मास और तिथियाँ अखिल भारतीय व्यावहारिक कालगणना में बाधक होती हैं। मधुमाधवादि ऋतुएँ-मासों के नाम दिए तो भी कालांतर से ऋतुएँ ही बदलती हैं। 'चैत्र वैशाखयो: वसंत:' यह वचन छोड़कर 'फाल्गुन-चैत्रयो: वसंत: ऐसा कहने की बारी आई है। इसलिए नक्षत्र, राशि और ऋतु के नाम महीनों को देना निश्चित कालगणना के लिए बाधक और नए घोटाले उत्पन्न करना होगा यह ध्यान में आता है। नए पंचांग के माह के नाम संख्यावाचक रखना उचित होगा। प्रथम मास, द्वितीय, तृतीय, आदि। पुराने पंचांग अपने-अपने क्षेत्रों में कायम रखने चाहिए। उन पंचांगों में चैत्रादि महीने और वसंतादि ऋतुओं के नाम कायम रहेंगे। भारत का एकमुखी अधिकृत, सभी भौतिक व्यवहार साधने की दृष्टि से पंचांग होगा। माह के नाम 'गद्य' जैसे लगें तो यह बात ध्यान में आनी चाहिए कि आज की तिथियों के नाम भी द्वितीया, तृतिया ऐसे संख्यावाचक ही हैं। यह बताना भी आवश्यक है कि माह और साठ संवत्सरों को व्यक्तियों के नाम देना अप्रशस्त होगा। पुणे के वि.वि. साठे और अन्य कुछ गृहस्थों ने ऐसे 'भारतीय पंचांग' की जो योजना बनाई है उसमें माहों को तथा साठ संवत्सरों को आजकल की पीढ़ी के प्रमुख व्यक्तियों के नाम दिए हैं। बालमास, पालमास, मोहनमास, विनायकमास या उमेशचंद्र संवत्सर, तैयबजी संवत्सर, कान्हेरे संवत्सर आदि। इन व्यक्तियों का गौरव अन्य तरह से किया जा सकता है। जिसे भारतीय कालदर्शन कहना हो उसमें व्यक्तियों के नाम विसंगत लगते हैं। अन्य आक्षेप छोड़ दिए तो भी मुख्य दिक्कत यह आएगी कि उनका चयन कितना ही नि:पक्षपात ढंग से किया जाए तो भी इस प्रकरण में पक्षपात न होना पूर्णतया असंभव है। अपने देश में गत पाँच हजार वर्षों में चक्रवर्ती, शककर्ता, धर्मसंस्थापक, महाकवि, दर्शनकार, तपोभास्कर, महाधनुर्धर और राष्ट्र धुरंधर जिन्हें केवल अवतारी पुरुष कह सकते हैं ऐसे हो गए हैं कि उनकी तुलना में आजकल की पीढ़ियों से वैसे नाम कठिनाई से मिलेंगे। इसलिए इस राष्ट्रीय पंचांग के महीनों को तथा सवंत्सरों को वैयक्तिक नाम देने की बात छोड़ देना ही उचित होगा।

साठ संवत्सरों के पुराने नाम हैं ही। उन्हें पुराने पंचांगों में चलने दें। भारतीय पंचांग में उनकी आवश्यकता नहीं। राष्ट्रीय और भौतिक व्यवहार में उनके बिना कुछ रुकने वाला नहीं।

महीनों के दिन—प्रथम ग्यारह माह के दिन तीस-तीस होने चाहिए। बारहवें

मास के पैंतीस दिन हों। प्रत्येक चार वर्षों के बाद बारहवें माह के छत्तीस दिन होने चाहिए।

सात वारों के नाम रविवार, सोमवार आदि रहने दिए जाएँ। 'उदयातुदयम् वार:' इस अपने ज्योतिर्विदों के संकेत से वार गिनने चाहिए। यह भारतीय पंचांग राष्ट्र के भौतिक व्यवहार क्षेत्र में ही लागू होगा तो भी उनके उस-उस दिनांक के सामने उन-उन प्रांतों की तिथियाँ, त्योहार, मुहूर्त, ग्रहण, योग आदि जानकारी भी दी जा सकती है। इस प्रकार उसमें तिथि-वार, नक्षत्र आदि पंचांग के पाँच उपांग बताए जाएँ, अत: उसे पंचांग कहने में कोई आपत्ति नहीं। उनके श्रवण से 'गंगा स्नानफल' प्राप्त होना संभव क्यों नहीं होना चाहिए? यदि किसी को पंचांग कहना अच्छा नहीं लगे तो 'भारतीय कालदर्शक' कहना भी ठीक होगा।

सारांश यह कि जिस दिन यह भारतीय पंचांग अधिकृत रूप से प्रचारित करके लागू किया जएगा वही पहला दिन होगा। जैसे—भारतीय संवत् वर्ष ५००१ प्रथम मास दिनांक। अभी केवल चर्चा के लिए यह योजना प्रस्तुत की है। उसमें क्या कम-अधिक दिखेगा उसे ठीक करने पर ही आगे का कदम उठाना है और उसका संगठित प्रचार करना है।

(केसरी, १३ व २० मई, १९५१)

□

यह खिलाफत क्या है?

कभी-कभी कोई व्यक्ति जीते-जी जितना उपद्रवी नहीं होता उतना उसके मरने पर उठा उसका भूत होता है, ऐसा भूतों आदि पर विश्वास रखनेवाले व्यक्तियों का कहना बहुत बार किसी-किसी संस्था पर भी लागू होता है, इसमें कोई शंका नहीं। मुसलिम जगत् की कुछ समय के लिए अधिष्ठात्री सार्वभौम संस्था खिलाफत के प्रकरण में भी आजकल ऐसा ही अनुभव आ रहा है। वह खिलाफत संस्था इस सदी में जिनके हाथों में संपूर्णत: थी उस तुर्क राष्ट्र ने अंतिम सुलतान या अंतिम खलीफा काजी को महायुद्ध के बाद पदच्युत करने के बाद मुस्तफा कमाल पाशा ने उस खिलाफत संस्था को ही नष्ट कर दिया। इस प्रकार मुसलमानों के आज तक तो शिरोमणि, बलवान्, बुद्धिमान् कर्तृत्ववान् ऐसे तुर्कराष्ट्र ने उस खिलाफत को अपने राष्ट्र में नष्ट कर दिया तो भी उसका पुनरुज्जीवन करने का प्रयास हिंदुस्थान के मुसलमान शुरू कर रहे हैं। विशेष आश्चर्य की बात है कि जिस खलीफा पद का उपभोग सदियों से मुसलिम तुर्कराष्ट्र ने किया और वह संस्था जब उन्हें हानिकारक लगी तब उसका तिरस्कार कर उसे गाड़ भी देने के बाद—उस खलीफा का जिन हिंदुओं से कुछ भी संबंध नहीं और हो तो पुराना अहितकारक संबंध है ऐसे हिंदुओं का प्यार उसके लिए उमड़कर आ रहा है। खिलाफत आंदोलन दस- बारह वर्ष पूर्व बड़े जोरों पर था और उसका प्रचार करने के लिए हिंदू प्रचारक, हिंदू कार्यवाह और हिंदू नेता कार्यरत थे। उन्होंने लाखों रुपए हिंदू लोगों की जेब से निकालकर खिलाफत दफ्तर की जेब में पहुँचाए। प्रत्यक्ष मुस्तफा कमाल ने खलीफा को पदच्युत करके उसकी सुलतानगिरी और खलीफागिरी छीनकर उस खिलाफत संस्था को ही बंद कर दिया। तब उस खलीफा को अपनी उपाधि के साथ हिंदुस्थान में रहने का प्रेम भरा निमंत्रण भी कुछ हिंदू नेताओं ने दिया और उस कार्य में मुसलमानों को ममता से सहयोग दिया। परंतु खलीफा और खिलाफत को हिंदुस्थान में स्थापित करने के प्रयास का अर्थ क्या होता है, उसकी थोड़ी चर्चा करने की बुद्धि

किसी को न हुई। हिंदुस्थान में हिंदुओं द्वारा शंकराचार्य पीठ बंद करने पर उसे पुनः स्थापित करने हेतु तुर्किस्थान के मुसलमान यदि लाखों रुपए चंदा इकट्ठा कर आंदोलन करें, युद्ध करें और इतना ही नहीं अपितु हिंदुओं द्वारा पदच्युत किए गए शंकराचार्य को अपनी पूजा की सामग्री के साथ, देवी-देवताओं की मूर्तियों के साथ तुर्किस्थान में आकर मठ बनाकर रहने का निमंत्रण देते तो भी आश्चर्यकारक नहीं होता। क्योंकि शंकराचार्य जानते-बूझते केवल एक साधु, तुर्किस्थान में हिंदुओं का प्रबल संगठन भी नहीं कि वहाँ जाकर वे तुर्की सत्ता पर कोई दबाव डाल सकें। परंतु खलीफा साधु नहीं, खिलाफत सुलतानी है, राजसत्ता है। और उसका हिंदुस्थान में आगमन हो, संस्थापन हो ऐसा सोचनेवाले करोड़ों भारतीय मुसलमानों का अंतःस्थ हेतु हिंदुस्थान में ही इसलामी केंद्र स्थापित करने का है, ताकि यहाँ के हिंदू संगठनों के गले में एक भयंकर पत्थर बाँधा जा सके। इसकी खुली चर्चा करने की भी हिंदू राष्ट्र को आवश्यकता नहीं हुई। हिंदू संगठनों के विचारक और दूरदर्शी ऐसे दो-चार नेता और समाचार पक्ष छोड़ दिए जाएँ तो हिंदू जनता और हिंदू नेताओं ने इस समस्या का विचार ही नहीं किया। हम क्या कर रहे हैं और उसका दुष्परिणाम क्या होगा यह उनके ध्यान में ही नहीं आया।

परंतु मुसलमान नेताओं की समझ में वह आया था। निश्चित नीति से वे इस प्रकरण के पीछे पड़े हुए थे। खलीफा पदच्युत हुआ, उसका पद भी हटा दिया गया फिर भी उन्होंने खिलाफत कार्यालय चालू रखे, खिलाफत आंदोलन को जीवित रखा। अब तो निजाम के लड़के का पदच्युत खलीफा की कन्या से विवाह करके और इस खलीफा को निजाम, भोपाल आदि मुसलमान रियासतदारों ने आज तक हिंदू प्रजा के पैसों से जो लाखों रुपए चुराए वे वैसे ही उस आंदोलन के लिए चुराते रहने का तय करके तुर्किस्थान की पराजित खिलाफत संस्था के प्रेम को हैदराबाद लाकर एक अच्छी कब्र बाँधने का निश्चय किया है। मुसलमानी कब्र की परंपरानुसार हिंदुस्थान में खिलाफत की यह कब्र हिंदुओं की प्रगति की शोभायात्रा को राजमार्ग से बाजे-गाजे के साथ जाने में बाधक बनेगी। निजाम से लेकर शौकत अली तक सभी मुसलमान नेता इस कार्य में जुटे हुए हैं, परंतु हिंदुओं को उसका आकलन भी नहीं हो रहा है। 'ये मौलाना-मौलवी पागल हैं।' इतना कहने भर से कुछ होने वाला नहीं। आने वाले दस-बीस सालों तक यह खिलाफत के संकट का काँटा हिंदू संगठनों को चुभता रहेगा इसकी उन्हें कल्पना भी नहीं है।

हिंदुओं की इस उदासीनता की आत्मघातक नीति का एक कारण ऐसा है कि खिलाफत है क्या? इसका हिंदुस्थान में किसी को अधिक ज्ञान ही नहीं। पंजाब के उर्दूशिक्षित हिंदू छोड़ दें तो शेष हिंदू जनता को मुसलमानों के हिंदुस्थान के

बाहर के इतिहास का, परंपरा का, धर्मतत्त्व का स्वरूप ज्ञात नहीं रहता। वैसे इसकी अधिक आवश्यकता भी नहीं। परंतु भारतीय मुसलमानों में पुनः इसलामी हवा गति पकड़ रही है। अतः इतिहास का अखिल इसलामी संस्था का और आकांक्षा का थोड़ा सा परिचय दिए बिना काम नहीं चलेगा। यदि हमारे हिंदू पत्रकार को, नेता को और जनता को 'खिलाफत क्या है?' इसका ऐतिहासिक और पारंपारिक ज्ञान होता तो पिछले खिलाफत आंदोलन के समय हिंदुओं ने हिंदुओं के लाखों रुपए खर्च करके मुसलमानी धर्मांधता को स्वयं ही हिंदुस्थान में फैलाया, फैलाने दिया वैसा सहज न हुआ होता। कम-से-कम इस संबंध में जो नीति थी वह सोच-समझकर, बुद्धिपूर्वक और युक्तिसंगत ही बनी होती तो किसी भेड़िए के पीछे प्रेम से बकरी लग गई ऐसा न होता। इसलिए भविष्य के लिए ही खिलाफत आंदोलन के खिलाफ हिंदू पत्रकारों को, नेताओं को और हिंदू जनता को मुसलिम नेताओं की आकांक्षाओं का परिचय प्राप्त कर लेना चाहिए। उसके कारण हिंदुओं का क्या हित-अहित होने वाला है और उसका मुकाबला किस प्रकार करना चाहिए, उसकी शक्ति की मर्यादा क्या है और उसका जोश कितना है इस संबंध में हिंदू संगठनों को क्या नीति स्वीकारनी चाहिए यह निश्चित हो सकेगा।

खिलाफत का पुनरुज्जीवन करने के हिंदी मुसलमानों के प्रयास का अंतःस्थ हेतु हिंदुस्थान के मुसलमानी समाज का धार्मिक बल बढ़ाना और उस धर्म का भारतीय लोगों में प्रबल प्रचार करना ही नहीं है, उसका अंतःस्थ वर्तमान राजनीति में एक महत्त्वपूर्ण क्रांति करना भी है। परंतु खिलाफत के संबंध के राजनीतिक दाँव-पेंचों को अलग रखना हमपर लादी गई विषयबंदी के कारण आवश्यक है। हमपर राजनीतिक विषय पर लिखने का, बोलने का प्रतिबंध है, अतः प्रचलित राजनीति में खिलाफत से आने वाले संबंध छोड़कर उसके केवल ऐतिहासिक, धार्मिक और सांस्कृतिक पहलू का ही विचार हम इस लेखमाला में करना चाहते हैं। खलीफा केवल शंकराचार्य या पोप नहीं होता। खलीफा शब्द सुनते ही हिंदू पाठकों को हिंदुओं के शंकराचार्य या क्रिश्चयन के पोप की उपमा जैसी समझ में आती है और खलीफा मुसलमानी पीठ का शंकराचार्य या पोप ही होता है ऐसा वे समझते हैं। यह समझ भ्रामक है इसलिए खिलाफत प्रकरण में बड़े हिंदू नेता और जनता ने जो नीति अपनाई है वह बिलकुल गलत है। क्रिश्चियनों का पोप केवल उनका धर्माधिरक्षक होता है। उसे राजशक्ति नहीं होती। इतना ही नहीं अपितु वह राजा हो ही नहीं सकता। उसे संन्यासी होना चाहिए। उसे शादी नहीं करनी चाहिए। उसका कोई और पुत्र पोप नहीं होगा, उसको शस्त्र भी पास नहीं रखने चाहिए। वह केवल धर्मदंड का अधिकारी होगा, राजदंड का नहीं; उसकी सत्ता केवल नैतिक, केवल

धार्मिक। यूरोप के बड़े राजा भी उससे किसी समय डरते थे। उसका कारण था इसकी शापशक्ति, दंडशक्ति नहीं। क्योंकि यीशू ख्रिस्त भी कोई राज्य संस्थापक नहीं था। "मैं ऐहिक राज्य की बात नहीं कर रहा हूँ। मेरा राज्य है स्वर्ग में—my kingdom is in heaven" ऐसा यीशू ख्रिस्त स्पष्ट रूप से कहते थे। अर्थात् उनका उत्तराधिकारी पोप उस स्वर्ग में धर्मसत्ता का ही अधिकारी, ऐहिक राजसत्ता का नहीं। यही स्थिति हिंदुओं के आचार्यपीठ की होती है। भगवान् बुद्ध के पीछे उनका वसन उन्होंने महाकाश्यप को दिया और उसे ही बुद्ध का उत्तराधिकरी नियुक्त किया। परंतु बौद्धधर्मियों का वह उत्तराधिकारी सर्वेसर्वा पीठाध्यक्ष नहीं था। पोप या शंकराचार्य की तुलना में उनकी बौद्धधर्मीय सत्ता एकदम नाममात्र की होती है, क्योंकि बुद्ध का सही उत्तराधिकारी कोई एक व्यक्ति न होकर संघ होता है। यह व्यवस्था बुद्ध ने स्वयं करके रखी थी इसलिए बौद्धसंघ ही बौद्धधर्मियों का सही पोप या पीठाध्यक्ष होता है। उस संघ के हाथ में भी केवल धर्मदंड ही था, राजदंड नहीं। परंतु खिलाफत के सिद्धांत के अनुसार खलीफा धर्मदंड का ही नहीं अपितु राजदंड का भी अप्रतिस्पर्धी, अप्रतिम और अनन्य अधिकारी होना चाहिए। इसलामी जगत् का वह केवल धर्माध्यक्ष ही नहीं अपितु सेनाध्यक्ष तथा राजाध्यक्ष भी होगा। अत: खलीफा को हिंदुस्थान में बुलाने का मतलब अपने शंकराचार्य जैसा उसे किसी विस्मृत निउपद्रवी मठ में बैठाने जैसा नहीं होता। यह जो कल्पना हिंदुओं की होती है वह एकदम गलत है। खलीफा केवल माला जपनेवाला कोई पोप, शंकराचार्य नहीं होता वह तो इसलामी सेना के आगे रहकर शस्त्र से लड़नेवाला सेनापति और समस्त विश्व पर सम्राट् पद का अधिकार जतानेवाला विजिगीषु नेता है। होना ही चाहिए। अपने यहाँ धर्मसत्ता और राजसत्ता का दोहरा आधिपत्य सत्ता बतानेवाले केवल सिखों के दसवें गुरु हैं। गुरु हरगोविंदसिंह और उनका महापुरुषार्थी वंशज गुरु गोविंदसिंह सिखों का दसवाँ गुरु। उन्होंने सिखों का धर्माध्यक्ष पद और राजाध्यक्ष पद भी अपने हाथ में केंद्रित किया था। गुरु गोविंदसिंह अपनी कमर में दो खड्ग बाँधते थे। एक योग का और एक भोग का। एक धर्म का, एक राज्य का। वे सिख राज्य के शंकराचार्य भी थे ओर सरसेनापति भी। मुसलमानी खलीफाओं में मुसलमानी जगत् में इस प्रकार दोहरी सत्ता एकीकृत होती थी। इस प्रकरण में सिखों के दशम गुरु में और मुसलिम खलीफा में भेद यही था कि सिखों के आद्यगुरु से दोहरी सत्ता गुरुपीठ में एकत्र नहीं थी। क्योंकि गुरुनानक एक साधु थे। परंतु इसलामी धर्मछल से सिख पंथ की रक्षा करने की जिम्मेदारी सँभालने के लिए उनके गुरु को भी हाथ में तलवार लेनी पड़ी, और सिख राष्ट्र के राजनीतिक संगठन के अध्यक्ष पद की जिम्मेदारी भी अपने कंधे पर लेनी पड़ी। परंतु मुसलिम खलीफा को प्रारंभ से ही ये

जिम्मेदारियाँ प्राप्त थीं। क्योंकि उसका मूल धर्मसंस्थापक मोहम्मद पैगंबर राज्य संस्थापक भी था।

शिया धर्मशास्त्री

कहते हैं कि मोहम्मद से धर्मप्रेरणा की परंपरा अली के घराने में आई है। मोहम्मद के लड़का नहीं था। अली को ही अपना पुत्र मानने के कारण और उसी को अपनी लड़की फातिमा ब्याही इसलिए अली और उनके वंशजों में मोहम्मद की दिव्य प्रेरणा के अंश होने से धर्माचार्यत्व के औरस अधिकारी मानने चाहिए। लोगों द्वारा खलीफा का चयन करना उसे बिलकुल पसंद नहीं। जमात (लोक) खलीफा को कैसे जानेगी? खलीफा के पास जो ईश्वरीय शक्ति होती है वह ईश्वर दे सकता है। यह उसने मोहम्मद को दी जो बीजानुपरंपरा से अली के वंश में स्थिर हो गई। वह ईश्वरीय और जन्मसिद्ध शक्ति है। वह लोगों की इच्छानिच्छा पर निर्भर नहीं। दूसरी बात ऐसी कि उस शक्ति के वास्तव्य से इमाम स्वाभाविक रूप से सद्‌गुणी और जन्म से ही निष्पाप होता है। तीसरी बात यह कि उनका अंतिम इमाम का बच्चा इस वंश का होते हुए भी नाफ्त हुआ—वह फातम यानी सत् जीवित होने के कारण सैकड़ों वर्ष बीतने के बाद भी पुनः लौट आएगा—यह निश्चित होने के कारण धर्मशास्त्रानुसार दूसरा इमाम या खलीफा चुनना संभव नहीं—यह शिया लोगों का मुख्य तत्त्व हो गया। परंतु इस विषय पर सुन्नी धर्मशास्त्री क्या कहते हैं? यह देखना होगा।

सुन्नी धर्मशास्त्री

उनका कहना है कि खलीफा मोहम्मद के वंश का ही होना चाहिए यह तत्त्व ही गलत है। तथापि इतना सही है कि वह मोहम्मद की जाति का अर्थात् कोरेश जाति का होना चाहिए। कोरेश वंश के बाहर का खलीफा उत्पन्न होना संभव नहीं। उस कोरेश जाति को ही ईश्वर ने पैगंबर भेजकर पवित्र किया है। इसलिए जो मनुष्य कोरेश जाति का है, स्वतंत्र है, होश में है और मुसलमानी सत्ता चलाने की जिसमें शक्ति है ऐसा कोई भी व्यक्ति खलीफा के पद पर नियुक्त किया जा सकता है। परंतु इस इमाम पीठ पर एक बार किसी खलीफा की नियुक्ति हो गई तो फिर वह कितना भी दुर्गुणी हो, छल करनेवाला हो, तो भी उसे इमाम पद से हटाया नहीं जा सकता। इतना ही नहीं अपितु कोरेश जाति के इमाम द्वारा पापी, दुर्व्यसनी होने पर भी उस पीठ के धर्माचार्य के रूप में की हुई सार्वजनिक प्रार्थना भी परमेश्वर को पहुँचती है। उसे यथाशास्त्र मान्य किया जाता है।

शिया और सुन्नी में मुख्यत: धर्मशास्त्र का खलीफा कौन होना चाहिए इसी बात पर परस्पर विरोधी विचार हैं। अत: इन दोनों का मिलकर एक ही इमाम या खलीफा होना असंभव है। ये लोग एक मसजिद में एकत्र प्रार्थना भी नहीं कर सकते। तब वे एकमत से खलीफा या इमाम चुनेंगे और उनकी अध्यक्षता को मान लेंगे यह असंभव है।

यहाँ इस बात को कहना भी आवश्यक है कि इसलाम धर्म की जानकारी जिसे नहीं है ऐसे भोले हिंदू को कोई मौलवी जातिभेद का दोष बताकर कहता है कि हममें जातिभेद नहीं, हम सभी मानव एकसमान मानते हैं, गुणधर्मानुसार उनसे व्यवहार करते हैं। यदि वह शिया है तो उसे पूछना चाहिए कि 'हजरत अंधे खाँ, अली के वंश के बाहर के मनुष्य को आप इमाम क्यों नहीं मानते?' और यदि वह सुन्नी है तो उसे कहना चहिए, 'भोंदू मियाँ, कोरेश जाति का ही खलीफा क्यों होना चाहिए?' प्रार्थना (नमाज) अरबी भाषा में ही क्यों होनी चाहिए? परमेश्वर क्या किसी कोरेश जाति का कोई अरब है? क्या उसे अपनी जाति के बाहर के व्यक्ति को अधिकार देना पसंद नहीं?

इसलाम धर्म में इन दो पंथों की खलीफा के संबंध में सहमति होना कितना असंभव है यह ऊपर दरशाया गया है। परंतु उनमें जो अन्य वर्ग भेद हैं उन्हें देखने से यह प्रश्न और भी जटिल है यह स्पष्ट होता है। ये बहावी पंथी लोग अन्य उपपंथी मुसलमानों को मुसलमान कहने के लिए भी तैयार नहीं होते! फिर इमाम की बात तो बहुत दूर की। इसी प्रकार बाबी पंथ और मोहम्मद के बाद पैदा हुए अन्य पैगंबर और ईश्वरांश पैदा हुए या होंगे ऐसा जो मानते हैं वे एक खलीफा की सत्ता के नीचे आ नहीं सकते। क्योंकि उन्हें दूसरे लोग मुसलमान ही नहीं समझते। मोहम्मद के कट्टर अनुयायी करोड़ों शिया और सुन्नी मोहम्मद के बाद कोई दूसरा पैगंबर आया था या आ सकता है यह सुनना भी पाप मानते हैं। तब वे बाबी पंथियों के साथ नमाज कैसे कर सकते हैं? वे सब एक खलीफा के आचार्यत्व में रहेंगे तो हिंदी मुसलमान भी एक ही शंकराचार्य के धर्माचार्याधीन होने जैसा है। बाबी पंथ भी मानता है कि जो दूसरे पैगंबर पैदा हुए उनके पंथ का आचार्य पद उसी पैगंबर के वंश को जाना चाहिए। धर्मशास्त्र की दृष्टि से इस प्रकार मुसलमानों का एक ही खलीफा होना असंभव है। उनके पंथभेदों में राष्ट्रभेद को जोड़ दिया जाए तो यह प्रश्न कभी भी हल नहीं होगा। हमारे दिए हुए इस संक्षिप्त इतिहास से हमारे हिंदू पाठकों के ध्यान में आया होगा कि पूर्वकाल में हरेक राष्ट्र की तथा जाति की प्रवृत्ति अपने हाथ में खिलाफत रखने की थी। इजिप्ट में इजिप्शियन, तुर्की में तुर्क, स्पेन में स्पेनिश उमैयद। इस प्रकार इन मुसलमान देशों में तटस्थ मुसलमान ही खलीफा

होना चाहिए या खिलाफत उनके हाथों में ही होना चाहिए—ऐसा राज्य लोभ से उन्हें हमेशा लगता था और लगता रहेगा।

समस्त दुनिया के मुसलमानों की परिषद् बुलाकर हम एक खलीफा चुनेंगे, यह केवल एक इच्छा होगी, परंतु वह संभव नहीं यह बात मुसलमान धर्मशास्त्री जानते हैं। परंतु अपनी मुसलमानी एकता का हिंदुओं के मन पर एक हठवादी बोझ डालने के लिए वह एक गप लगा दी जाती है। इससे अधिक तथ्य हमें इस बात में नहीं दिखाई देता। यदि असंभव बात होते हुए भी मुसलमानों ने एरवाद खलीफा का चयन कर दिया तो भी दो दिन में फिर से 'ध्राता यथापूर्वमकल्पयत' इस न्याय से एक के इक्कीस खलीफा होने में देर नहीं लगेगी। अब सभी मुसलमानों का न हो तो भी कम-से-कम सभी सुन्नी लोगों का एक खलीफा या इमाम होना तत्त्वत: यद्यपि संभव है तो भी आज की स्थिति में इसकी भी संभावना कम है; क्योंकि तत्त्व को न मानते हुए आज तक राज्यलोभ, वंशभ्रष्टता के घमंड आदि विकारों से सुन्नी लोगों को कभी भी एकत्रित नहीं होने दिया गया, वैसे ही इसके बाद भी उनका एक ही खलीफा की सत्ता के नीचे रहना असंभव है। खलीफा केवल निष्क्रिय धर्माचार्य या शांतिरस्तु पुष्टिरस्तु कहनेवाला कोई पोप होता तो बात दूसरी थी। परंतु खलीफा धर्माचार्य ही नहीं अपितु मुसलमानी जगत् का स्वामी और राष्ट्रप्रमुख है। ऐसा होना चाहिए ऐसी समझ होने के कारण मुसलमानों को कोई भी जीवित राष्ट्र अन्य राष्ट्रपुरुष के हाथों में अपना स्वामित्व नाममात्र भी देने के लिए तैयार नहीं होगा। हिंदुस्थान के मुसलमानों की बात अलग है, उन्हें न स्वयं का घर है न द्वार। किसी के द्वार पर भीख माँगने में उन्हें अपमानित होने का कारण नहीं। इसके विपरीत हिंदुस्थान के हिंदुओं की जब तक अधिक जनसंख्या है तब तक वे चाहें उस राष्ट्र से बादरायण संबंध जोड़कर, इसके बाद मुसलिम एकता की, पान इसलाम की बात करें या खिलाफत से प्रेम दरशाकर, उनकी सहायता से अपने पक्ष की सामर्थ्य बढ़ाने का विचार करते रहें। परंतु तुर्किस्थान के किए उनका जो अध्यक्ष वही खलीफा या इमाम निश्चित समयावधि के लिए रहेगा यह तय होने के कारण उस राष्ट्र के नवजीवन हेतु, सामर्थ्य के लिए और प्रगतिशीलता में सहायक होने के कारण तुर्क लोग बाहरी राष्ट्र के किसी नेता को अपना राजनीतिक अधिकारी या धार्मिक नेता मानेंगे यह असंभव है। भविष्य में भी मौलवियों ने या मुल्लाओं ने हस्ताक्षर करके यहाँ के जमायत-उल-उलेमा संस्था ने बेचैनी के आँसुओं में स्नान करके कुरान की आयतों का जप करते हुए और कमाल पाशा के चरणों पर सिर रखकर उससे प्रार्थना की कि हमारी अखिल मुसलमानों की सभा में अमुक व्यक्ति को खलीफा चुना गया है इसलिए आप उसके सामने झुककर शरण जाइए, तो कमाल पाशा क्या उत्तर देगा

यह कहना ही पड़ेगा यह आवश्यक नहीं। 'प्रत्यक्ष परमेश्वर आया तो भी उसे हम यह अधिकार नहीं देंगे।' परसों ही इस प्रकार का उत्तर तुर्की अध्यक्ष को तुर्कों ने दिया है। तो मोहम्मद अली के समान गुलाम हिंदुस्थान के मुसलमान को, कितना ही वह आक्रोश करे कि मैं 'प्रथम मुसलमान हूँ और बाद में भारतीय हूँ' कौन महत्त्व देगा? वही स्थिति इजिप्ट की, अरबों की, ईरान, मोरक्को आदि देशों की। ईरान और मोरक्को के सुलतान तो कभी भी तुर्किस्थान के खलीफा को नहीं मानते। उनके अपने खलीफा पदाधिष्ठित हैं। मोहम्मद की मृत्यु से लेकर आज तक जिन अरबों ने खिलाफत अपने हाथ में रखने के लिए क्रांतियाँ, लड़ाइयाँ, कत्ल और हत्याएँ कीं, वे अरब अब राष्ट्रीयता की भावना पनपने के बाद विदेशी खलीफा को मान लेंगे और राष्ट्राध्यक्ष पद या धर्माध्यक्षत्व अर्पित करेंगे—ऐसी आशा करना मूर्खता है। अत: सभी मुसलमानों का एक खलीफा होगा यह भी खलीफा की व्याख्यानुसार बहुत कठिन है। केवल अखिल मुसलमानों की सभाएँ करके एक खलीफा निश्चित करना और उसके आदेशों का पालन करना भी असंभव है। जैसे लीग ऑफ नेशंस के आदेश के अनुसार सारी दुनिया की पार्लियामेंटें उसके सामने झुक जाना असंभव है।

इसके पूर्व भी कभी एक ही खलीफा नहीं हुआ। जब-जब बहुत बड़े भाग पर एकच्छत्री खिलाफत हुई दिखी तो भी उस छत्र का उत्तरदायित्व किसी उलेमा का कागजी प्रस्ताव नहीं था। वह तो रण-मैदान में प्रबल लोगों की फौलादी तेज तलवार थी।

संक्षेप में जब तक खिलाफत का अधिकार अपने हाथ में केंद्रित करने के लिए या नियुक्त किए हुए खलीफा की सत्ता सभी मानें इसके लिए पूर्व समान मुसलमान आज रण-संग्राम करने के लिए तैयार नहीं होते तब तक खिलाफत की बातें हिंदुस्थान के अज्ञ मुसलमान और मूर्ख हिंदुओं में कितनी ही होती रहें तो भी सभी मुसलमानों का एकच्छत्री खलीफा या इमाम होना संभव नहीं। संभव यही दिखता है कि प्रत्येक मुसलमानी राष्ट्र अपनी-अपनी जातियों तथा राष्ट्र के राज्याध्यक्षों को ही खलीफा के अधिकार देंगे।

परंतु सुन्नी लोगों में केवल धार्मिक एकाधिपत्य स्थापित होना संभव नहीं। जो कुछ संभव दिखता है वह इतना ही कि विभिन्न मुसलिम राष्ट्रों के सुन्नी लोग अपने-अपने राजाध्यक्षों को ही खलीफा बनाएँगे। शिया और अन्य मुसलमान अनेक पंथ के भिन्न-भिन्न धर्मगुरु और सुन्नी लोगों में राष्ट्र की विभिन्नतानुसार दस-पाँच खलीफा नियुक्त करने की दुगुनी बहस मुसलमानों में जारी रखेंगे यह स्पष्ट है।

अब इन बहसबाज मुसलमानों का हिंदुस्थान में कार्यक्रम कैसा तय होना संभव है और उन्हें अभिप्रेत कार्यक्रम को कितना यश प्राप्त होने की संभावना है यह देखें। सुन्नियों का खलीफा उसके मूल के आधार पर बनता है इसलिए खलीफा के मूल पुरुषों के घराने के किसी व्यक्ति को हिंदुस्थान में लाया जाएगा या यहाँ के किसी मुसलमान को खलीफा बनाएँगे। सुन्नी लोगों का प्रथम तत्त्व ही खलीफा स्वतंत्र होना चाहिए यह होने के कारण भारतीय सुन्नी मुसलमान खुद होकर गुलामी की बेड़िया स्वयं खलीफा को पहनाएगा तो उसकी बुद्धि की प्रशंसा कौन करेगा? खलीफा स्वतंत्र होकर उसे मुसलमानी राजसत्ता चलाने की पात्रता चाहिए इस सिद्धांत से यह भी स्पष्ट होता है कि इसके लिए प्रथम राजनीतिक स्वतंत्रता चाहिए। यह हिंदुस्थान के परतंत्र मुसलमानों में न होने के कारण उनमें से कोई भी खलीफा नहीं हो सकता। केवल कुछ सुन्नी उपभेद के लोगों के कहने के अनुसार केवल धर्माचार्य पद की नैतिक सत्ता खलीफा होने के लिए पूरी समझने पर भी भारतीय मुसलमानों की यह नैतिक सत्ता भी तुर्क, पठान, अरब आदि कट्टर जातियों के लोग नहीं चलने देंगे। ऐसी स्थिति में भारतीय मुसलमानों ने तुर्क आदि के गले में हाथ डालने की कोशिश की तो भी वे नहीं पहुँचेंगे। दो-तीन सालों से हिंदी मुसलमान यह निरर्थक प्रयास कर रहे हैं। तब भारतीय मुसलमानों को विदेशी लोग खलीफा या धर्माचार्य बनाएँगे ऐसी समझ मूर्खतापूर्ण है।

इन सब बातों को सोचते हुए यह निश्चित कह सकते हैं कि देश की परतंत्र अवस्था में बाहर के किसी नामधारी खलीफा को लाने से भारतीय मुसलमानों की इसलामी गौरव की और भावी सामर्थ्य की आकांक्षा कभी भी पूर्ण नहीं होगी। यह बात मुसलमान भी जानते हैं। जब कोई हिंदू आँखों में आँसू बहाकर उसे कहता है कि 'क्या शोचनीय बात है। खलीफा से तुर्किस्थान में भगा दिया है न? कोई बात नहीं, हम सब मिलकर अब उसे हिंदुस्थान में लाकर रखेंगे फिर तो होगा न?' तब वे हँसते हुए कहेंगे, 'एक पैर से लँगड़ा हुए को दोनों पैरों से लँगड़ा, अपने कंधे पर ले जाने के लिए तैयार हुआ है।' गद्दी पर से जमीन पर गिरे हुए व्यक्ति को चिता पर चढ़ाने का यह प्रेमपूर्वक आग्रह करने के लिए मुसलमान इतने पागल नहीं हुए हैं।

सारांश यह कि भारतीय मुसलमानों का सब मिलकर एक खलीफा या इमाम होना पंथ परंपरा से भी असंभव है। भारतीय मुसलमान भी बाहर से किसी निष्क्रिय और दुर्बल खलीफा को अंदर नहीं लाएँगे या उनकी इस परतंत्र अवस्था में किसी को स्वयं के लिए भी खलीफा नहीं चुनेंगे। क्योंकि खलीफा को सत्ता चाहिए, वह भी स्वतंत्र सत्ता। यहाँ दोनों बातों का अभाव है। इसलिए तीसरे मार्ग से

भारतीय मुसलमानों के नेता आज तीन-चार वर्ष से गुप्त रीति से और खुले तौर प्रयास कर रहे हैं। वही मार्ग हिंदुओं को शीघ्र और स्पष्टता से दिखेगा तब वे भावी संकट का मुकाबला करने के लिए तैयार होंगे। खिलाफत के आंदोलन का इष्ट परिणाम यह है कि भारतीय मुसलमान बाहरी राष्ट्राध्यक्ष को अपना खलीफा मानने और भविष्य में उसकी सहायता से हिंदुस्थान में भी स्वतंत्र मुसलमानी राज्य स्थापित करने का प्रयास करें। तीन साल से नेताओं के यही विचार हैं। परंतु हिंदुओं की आँखें बंद हैं। इसलिए ये विचार केवल उर्दू पत्रों में और सरकारी कागजों से स्पष्ट हो रहे हैं। हिंदुओं ने इस तरफ ध्यान नहीं दिया। शिक्षित, अशिक्षित मुसलमानी समाज यह मनोराज्य कर रहा है। तुर्कों के नाही कर देने के बाद और प्रबल मुसलमानी राष्ट्राध्यक्ष अफगानिस्तान के सिवाय कोई भी न होने के कारण वहाँ के अमीर को ही अपना खलीफा बनाने का विचार, आज नहीं तो कल, पक्का होगा ऐसा दिखाई पड़ रहा है। अफगानिस्तान के पूर्व के अमीर की हत्या कर जब नई राज्यक्रांति हो गई और आज का अमीर गद्दी पर बैठा तब वह राज्यक्रांति भी इन गुप्त आकांक्षाओं की एक चिनगारी लिये थी। तब से आज तक हिंदुस्थान पर हमला करने के लिए अफगान आतुर हैं। अफगान समाचारपत्र खुल्लमखुल्ला इसकी चर्चा कर रहे हैं। जब जर्मन युद्ध चल रहा था तब अफगान के अमीरों से संबंध जोड़कर उसे हिंदुस्थान के सिंहासन पर बैठाने के लिए यहाँ के मुसलमानों का सहयोग दिया जाएगा, ऐसे अभिवचन और ऐसे पत्र लाने-ले जाने का कार्य करनेवाले कुछ मुसलमान पकड़े भी गए थे और उन्होंने यह बात कबूल भी की थी। जिस समय हिंदुस्थान में खिलाफत आंदोलन खूब जोरों पर था तब उधर साइबेरिया के किनारे पर हिंदुस्थान से मोहाजरीन होकर गए हुए अनेक मुसलमानों को सैनिक शिक्षा दी जाती थी। उसके अलावा उसी समय कुछ मुसलमानी धर्मशास्त्री सभाएँ करके अफगानिस्तान के अमीर को खलीफा बनाने के विषय पर चर्चा करके उसके अनुकूल लोकमत तैयार करने में लगे हुए थे। इधर हिंदुस्थान में 'मुसलिम धर्म के गौरव के लिए यदि किसी इसलामी राष्ट्र ने हिंदुस्थान पर हमला किया तो हम उसका प्रतिकार नहीं करेंगे—क्योंकि वैसा प्रतिकार करना मुसलिम धर्म के विरुद्ध है।' यह यहाँ के खिलाफत के नेता जोरदार शब्दों में कहते थे। वैसा उपदेश भी देते थे। आज भी वही स्थिति है। इतना ही नहीं अपितु खिलाफत का प्रश्न अब अंतिम स्थिति में होने के कारण अमीर के झंडे के नीचे इकट्ठा हो रहे भारतीय मुसलमान कहते हैं कि अमीर को ही खलीफा बनाओ। अब उन्हें अपनी महत्त्वाकांक्षा पूर्ण करने का अन्य मार्ग नहीं दिखता। अभी-अभी शौकत अली ने अध्यक्ष पद से खिलाफत परिषद् में बताया कि अफगानिस्तान और हिंदुस्थान सरकारों की लड़ाई

होने पर मुसलमानों को सत्याग्रह करना होगा। वे अंग्रेजों को सहायता नहीं देगे। वैसी सहायता करना वे अपने धर्म के विरुद्ध समझेंगे। इससे अधिक स्पष्ट कहे बिना यदि उनका हेतु भारतीय जनता की समझ में नहीं आता है तो उनकी बुद्धि-भ्रष्टता पर जितनी दया करें कम है। इसलिए हिंदुओं को निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि सुशिक्षित हो या अशिक्षित हिंदुस्थान पर किसी भी इसलामी सत्ता का आक्रमण होने पर उसे भारतीय मुसलमानों की पूरी सहानुभूति मिलेगी। झोंपड़ी-झोंपड़ी तक मुसलमान अमीर हिंदुस्थान में उतरा इस एक ही वाक्य से इस अज्ञानी और धर्मांध समाज के सुप्त 'इसलामी गौरव' की आकांक्षाएँ भड़क उठेंगी और इस्लामी गौरव की दृष्टि से देखने पर हिंदुस्थान में पुनः इसलामी बादशाही की स्थापना की अपेक्षा अधिक गौरव की बात इस जगत् में और कोई नहीं, यह बात केवल उनके नेताओं के ही दिल में नहीं अपितु गाँव-गाँव के लोगों के दिल में है। मलाबार में मोपलों ने 'स्वराज' के लिए दंगा करते ही तुर्किस्थान का झंडा फहराया था यह बात ध्यान देने योग्य है। और 'अलीमुसेलि' नाम के उनके नेता ने 'स्वराज' की और 'एकता' की जो व्याख्या की है वह किसी घोषवाक्य के समान सभी हिंदुओं को अपने चित्त में रखनी चाहिए। जब यह आंदोलन जोरों पर था तब उसकी एक सभा में नेता ने अपने अनुयायियों से कहा—

"स्वराज्य ही मुसलमानी राज्य है और अली मुसेलियर मोपलो में कोई सामान्य गुंडा नहीं, एक प्रसिद्ध कुलीन, धार्मिक प्रभाव का नेता था।" स्वराज्य ही मुसलमानी राज्य है यह वह कुरान की आयतें पढ़कर कहता है—"हिंदू-मुसलमानों की एकता के माने सभी हिंदुओं को मुसलमान होना चाहिए।" उसके इन शब्दों पर तालियाँ बजाकर लोगों ने सहमति दी। इन शब्दों को उद्धृत कर उर्दू समाचारपत्रों ने सहानुभूति से उसका समर्थन किया है। मलाबार के अशिक्षित मोपला से लेकर 'सुशिक्षित' अध्यक्ष तक जो इसलामी राष्ट्र का प्रतिकार करना पाप समझते हैं ऐसी मुसलिम जनता हिंदुस्थान पर यदि अफगान मुसलमानों का आक्रमण हुआ तो क्या करेंगे इसका हिंदुओं को ठीक विचार करना चाहिए। यदि झोंपड़ी-झोंपड़ी से 'अल्ला हो अकबर' की गर्जना उठेगी और अमीर का हार्दिक स्वागत होगा तब यदि हिंदू असंगठित होगा तो घर-घर में मलाबार हो जाएगा। खिलाफत के धन में कुछ घोटाले हो गए हैं यह हमने पूर्व में पढ़ा है। इसका स्पष्टीकरण देते हुए संबंधित समिति ने कहा था कि लाखों रुपए अफगानिस्तान के खिलाफत कार्य के लिए और इसलाम के कार्य-हेतु खर्च किए गए हैं—परंतु इस कार्य से इसलामी आंदोलन की हानि न हो, अतः गुप्त रखना इष्ट है। अफगानिस्तान में यह कौन सा गुप्त कार्य हुआ जिसके लिए लाखों रुपए खर्च हो गए? हिंदुओं ने इस खिलाफत की निधि को जो

सहायता की उसका प्रायश्चित्त उन्हें मिला ऐसा क्यों न कहें ? जब तुर्कों ने खिलाफत संस्था को ही उलट दिया है तब हिंदुस्थान में भी उसका पतन होगा ही ऐसा हिंदुओं को नहीं समझना चाहिए। अन्य देशों में जैसे-जैसे राष्ट्रीय भावना जाग्रत् होगी और शिक्षा और विद्यालयों के बौद्धिक प्रकाश में जैसे-जैसे यह धार्मिक अंधता हटती जाएगी वैसे-वैसे खिलाफत का महत्त्व मसजिद के बाहर नहीं बचेगा यह सत्य है। फिर भी भारतीय मुसलमानों में ऐसी स्थिति आना इस सदी में असंभव है। क्योंकि हिंदुस्थान में मुसलिम सत्ता स्थापित करने की उनकी राजनीतिक आकांक्षा है। हिंदुओं को हमेशा यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जैसे ही अंग्रेजी सेना हिंदुस्थान में थोड़ी सी बचेगी वैसे ही अफगान सेनाएँ इस देश भर आक्रमण करेंगी और मुसलमान उनसे सक्रिय सहानुभूति दरशाए बगैर नहीं रहेगा। मुसलिम सत्ता हिंदुस्थान में स्थापित करने का यही एक मार्ग है। ऐसी स्थिति में उनकी इस राजनीतिक आकांक्षा को, खिलाफत की धार्मिक भावना को समर्थन अत्यंत आवश्यक होने के कारण दुनिया के अन्य मुसलमानों द्वारा खिलाफत का नाश करने पर भी भारतीय मुसलमान उस कल्पना को धर्मनिष्ठा या राजनीति कहकर या हिंदुओं पर अपनी एकता का दबाव डालने के लिए खिलाफत का आंदोलन और भावना नहीं छोड़ेंगे। वे अमीर को खलीफा बनाएँगे। यद्यपि सुन्नी खलीफा कोरेश वंशीय होना चाहिए तथापि पूर्व से ही सुन्नी समाज में यह शर्त झूठी समझनेवाला एक पंथ है और आज सुशिक्षित राजनीतिक मुसलमान भी उधर नहीं होगा। उसके अलावा शास्त्राधार से नियुक्त खलीफा को शस्त्राधार मिलेगा ही ऐसा नहीं कहा जा सकता तो भी शस्त्राधार से आगे आए हुए खलीफा को शास्त्राधार आसानी से मिल सकता है। इसलिए किसी कोरेश वंशीय लड़की से अमीर की शादी कराकर या कोई नया वंश वंशी सजाकर उसे खलीफा बनाने के लिए योग्य समझा जाएगा। वर्तमान अमीर जैसे महत्त्वाकांक्षी पुरुष को भारतीय सुन्नी मुसलमानों का समर्थन हिंदुस्थान से प्राप्त हो रहा है और पीछे से रूस भी प्रेरणा दे रहा है ऐसे में अंग्रेजों को किसी विश्वयुद्ध में फँसा हुए देखकर और अंग्रेजी सेना जिस देश में कम रह गई हो ऐसे हिंदुस्थान पर आक्रमण करना असंभव नहीं। मुसलमानों का यह पूर्व निश्चित कार्यक्रम है। उनका आंदोलन इस दिशा में प्रेरित हुआ है। इतना ही नहीं अपितु इस कार्य के लिए हिंदुओं की सहानुभूति प्राप्त करने के प्रयास भी अफगानिस्तान में और हिंदुस्थान में लगातार खुलेआम चल रहे हैं। अफगानिस्तान में समुद्र तट न होने के कारण कराची तक समस्त हिंदू प्रदेश (हिंदुस्थान) उस देश का माना जाए ऐसे प्रयास यहाँ के मुसलमानों की सहमति से अफगानिस्तान में आज दस वर्ष से चल रहे हैं। और अब तो सब बातें छोड़कर अमीर की सत्ता स्थापित कर और उसके वंश

में राजमुकुट रहा तो वह भी हिंदुस्थान के हिंदुओं को पार्लियामेंट के अधिकार देने के लिए राजी है। इस प्रकार की जानकारी उर्दू पत्रों में और मुसलमान नेताओं द्वारा हिंदुओं को दी जा रही है। यह समस्या मुसलमानों को जितनी ज्वलंत लगती है उतनी हिंदू नेता और उनके अनुयायियों को नहीं लगती। उनकी आकांक्षाएँ उत्तेजित हुई हैं, आज नहीं तो कल यह होगा, ऐसी उन्हें उम्मीद है। अत: खिलाफत मरी नहीं किंतु बहुतांश में हिंदुस्थान के पास आई है। तुर्किस्थान से आज नहीं तो कल वह अफगानिस्तान में आ सकती है और एक दिन अफगानिस्तान का अमीर खलीफा और सुलतान हिंदुस्थान में पुन: राज्य करने लगेगा। हम जो बात लिख रहे हैं यह बात हर शिक्षित और धार्मिक मुसलमान जानता है। वह इस आकांक्षा को नकार नहीं सकता कि वह इसके लिए सक्रिय शुभकामनाएँ देगा, प्रत्येक समझदार मुसलमान को यह ज्ञात है। दु:ख की बात तो यह है कि इतनी महत्त्वपूर्ण बात करोड़ों हिंदू नहीं जानते। यह हिंदुत्व की दृष्टि से कितना भयंकर है वह उसे अभी भी समझ में नहीं आता। इसके विपरीत इसी बात के लिए लाखों रुपए देकर, लाखों लेख लिखकर वे खिलाफत को और तेज बना रहे हैं।

तो क्या इस नए संकट को देखकर हिंदू राष्ट्र की भावी समर्थता की आशा विफल समझें? नहीं! बिलकुल नहीं। ऐसे दस संकट भी एक साथ आएँ तो भी हिंदू राष्ट्र की भावी सामर्थ्य की, उत्कर्ष की, गौरव की आकांक्षा सफल हुए बिना नहीं रह सकती। परंतु हमें राजनीति में आज का जो भोलापन है उसे छोड़ना चाहिए। 'आत्मिक बल', 'सत्यमेव जयते,' 'विश्वास' आदि शब्द फौलाद जैसे कठिन शत्रुओं से आपकी सुरक्षा कर सकेंगे ऐसी मूर्खता की भावना हमें छोड़ देनी चाहिए। तो क्या केवल मुसलमानों को लाखों गालियाँ देनी हैं? नहीं! उन्हें अपना काम करने दो! हम अपना संगठन समर्थता के मजबूत आधार पर और फौलाद के तीक्ष्ण शस्त्र से खड़ा करें तो हिंदू-स्वतंत्रता छीन लेनेवाली आकांक्षा हमारे लिए लाभदायक होगी। सुंदोपसुंदों का संघर्ष जिस प्रकार देवों के लिए लाभदायी रहा उसी प्रकार हमें भी लाभ मिलेगा; परंतु उसके लिए हमें चाणक्यता, नीतिपटुता और समर्थता का उपयोग करना होगा। ये बातें बिना हिंदू संगठन के नहीं होंगी। खिलाफत का आंदोलन उस नाम-रूप से कदाचित् भारत में अस्त हो जाएगा, परंतु वह अन्य रूप से अमीर के ध्वज के चारों ओर केंद्रीभूत होकर हिंदुत्व के स्वामित्व पर झपटने के लिए नजर रखेगा। यह बात एक बार हिंदू जान लें तो संकटों की क्षमता आधी ढीली पड़ गई ऐसा समझ लें। परंतु हम पहले ही जिस आंदोलन के चक्कर में फँसे हैं उसमें से बाहर आने के लिए मुसलमानों का सहायक हाथ प्रेम से पकड़ने का प्रयास करना क्या हमें अधिक लाभदायक नहीं होगा? इसका उत्तर यही है कि वह

हाथ सहायक हाथ नहीं है। यही तो मूल रूप से सिद्ध करना है। वह मलाबार के मोपलों का हाथ है। वह हसन-ए-जामी का हाथ है। हैदराबाद को त्रस्त करनेवाले, किंतु विदर्भ को स्वराज्य देने की बात करनेवाले निजामशाही का हाथ है। कोई शराबी, नीच, पापी हो तो भी मुसलमान हो तो मुझे गांधी से भी अधिक प्रिय और पवित्र होगा ऐसा कहनेवाले राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष का वह हाथ है। पहले मुसलमान, बाद में भारतीय ऐसी धार्मिक निष्ठा पालनेवाले करोड़ों मुसलमानों का वह हाथ है। इसलिए इस संकट से उबरने के लिए उस हाथ को पकड़ने जाएँगे तो जनता को सावधानी से और सँभलकर जाना चाहिए। इतना ही नहीं अपितु जिस हाथ से एक करोड़ रुपए इकट्ठा करके हिंदुस्थान में हिंदुत्व नहीं बचना चाहिए इसलिए वे प्रयास कर रहे हैं, उसमें भी उनका कोई दोष नहीं है क्योंकि यह जीवन-कलह है। हिदुत्व के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अमीर का संकट नहीं, खिलाफत की आफत नहीं, सिंगापुर का अड्डा नहीं, वर्तमान असहायता भी नहीं, उसकी बाधा तो एकता, सरलता, आत्मिक बल, अप्रतिकार आदि साधुता की झूठी बातें अफीम की तरह खाने से, हमपर आया हुआ निष्क्रियता का मुरदा है। यही बड़ा संकट है। यह नशा छोड़ देना होगा। हम एकता की भावना से दूसरों के गले में हाथ डालें तो एकता होती है यह मानना गलत है। एकता करना चाहते हो तो करो, नहीं तो जाओ। तेरे से जो बने कर लेना इस प्रकार की बेरहमी और हिम्मत अपने शरीर में होनी चाहिए। संकट है यह मालूम होना चाहिए। संकट से निपटने की शक्ति नहीं रही इस कारण हिंदू राष्ट्र रसातल को कभी नहीं जाएगा। परंतु संकट कहाँ से आया है, यह न समझने के कारण यह राष्ट्र किसी भी समय धोखा खा सकता है। अपने हिंदू राष्ट्र के जीवन पर आने वाला नया संकट 'मुसलमानी आकांक्षा' पुराने संकट के समान ही भयंकर है यह समझना चाहिए। यह समझकर उसका मुकाबला करने हेतु तुरंत हिंदू संगठित होने प्रारंभ होंगे तो उस संकट का अर्धनाश हो गया ऐसा समझने में आपत्ति नहीं। पुराने संकट के सम्मुख नया संकट खड़ा करके भी उनके संघर्ष में अपना कार्य सफल होगा। परंतु इसके लिए हिंदू संगठन एक मानव के समान एकात्म होकर अखाड़े में उतरकर चाणक्य द्वारा सिखाए गए कुश्ती के दाँव-पेंच लड़ाकर तो यह कर सकता है। जिन्हें संगठित होना ही नहीं तो उनका हाथ क्यों पकड़ते हो? एक संकट से उबरने के लिए दूसरे का हाथ पकड़ोगे तो उससे भी अधिक संकट में पड़ोगे इसे भूलना नहीं।

हिंदुओ! उस हाथ को पकड़ने की अपेक्षा संगठन का आश्रय लेना ठीक नहीं है क्या? सामर्थ्य का हाथ पकड़ो। अपने स्वयं का हाथ पकड़ो। भगवान् का हाथ पकड़ो।

वर्तमान में जिस संकट में हम पड़े हैं वह निस्संशय गहरा है। जिसका हाथ संशयास्पद है उसे पकड़ना धोखा है। तो क्या हुआ? चाणक्य के पेंच, चंद्रगुप्त का पराक्रम, आप प्रयास करेंगे तो कुछ भी भय नहीं। यह राष्ट्र हिंदुओं का है। इस राष्ट्र को मारने का प्रयास हमारी शक्ति के कारण दशमुखी रावण भी पूरा नहीं कर सका।

हे राष्ट्र जननि! कुछ भी हो
पर जिसका सारथि कृष्ण
अभिमानी और राम सेनानी
वह बीस करोड़ सेना
नहीं रुकेगी, नहीं रुकेगी,
वह करेगी शत्रु दमन
गाड़ेगी अपने हाथों
स्वतंत्रता के हिमालय पर
झंडा, स्वतंत्रता का झंडा।

फिर भी भारतीय मुसलमानों के खिलाफती कार्यालय से हिंदुस्थान में, निजाम के पुत्र का तुर्किस्थान के खलीफा कुल की वधू से शादी हो जाने के कारण, उसे ही खलीफा बनाने की योजना बन रही है। काबुल के अमीर को हिंदुस्थान पर आक्रमण करना चाहिए, दिल्ली का बादशाह बनना चाहिए और उसे ही खलीफा उद्घोषित करना चाहिए ऐसे प्रयास भी मुसलमानों ने किए थे। इतना ही नहीं अपितु कुछ आत्मविस्मृत हिंदू नेताओं ने भी 'खिलाफत अर्थात् स्वराज्य' ऐसी आत्मघातक घोषणाएँ करके मुसलमानों के उस देशद्रोही षड्यंत्र में भाग लिया था। यह बात स्वामी श्रद्धानंद जैसे निश्छल नेता ने ही स्पष्ट कही थी। उस षड्यंत्र की जो दुर्गति हुई वही इस निजाम को खलीफा बनाने के षड्यंत्र की होगी। इस षड्यंत्र के पीछे भारतीय मुसलमानों की राजनीतिक और धार्मिक सुलतानशाही पुनः स्थापित करने की जो महत्त्वाकांक्षा भारतीय मुसलमानों के रोम-रोम में फैली हुई थी, वही इस खिलाफत आंदोलन के मूल में है। इस भयंकर सत्य को जानकर हिंदू समाज को इस आंदोलन को आर्थिक सहायता नहीं देनी चाहिए। थोड़ी भी सहानुभूति नहीं दरशानी चाहिए। खिलाफत संस्था का मूल अर्थ है मुसलिमों का धार्मिक और राजनीतिक अधिराज्य! इस लेख में दी गई संक्षिप्त जानकारी से इतना भी हिंदू लोग समझें तो ठीक! मुसलमान अपने शासन हेतु लड़ते हैं, उसमें उनका क्या दोष? दोष है उनका इतिहास, धर्मशास्त्र, जातिप्रवृत्ति आदि का अध्ययन न करते हुए उनके हाथ का खिलौना बननेवाले हिंदुओं का। पूर्व में जो निंदनीय मूर्खता हो गई सो हो

गई। आगे चलकर इस संस्था का हिंदुओं को निरंतर विरोध करना चाहिए, ताकि हिंदुस्थान में उनके पैर जम न जाएँ। मुसलिम जनता की यद्यपि यह असली खिलाफत है तो भी हिंदुओं पर गिरनेवाली वह आफत या आपत्ति है।

उस छोटे से कुरान में उस अरबी पैगंबर ने अपने ज्वालाग्राही विचारों की जो बारूद भरकर रखी है उसमें प्रचंड शक्ति संगृहीत है कि उस छोटे से हथगोले का स्फोट होते ही पेरिस से पीकिंग तक और हंगरी से हिंदुस्थान तक जितने रजवाड़े और मठ-मंदिर हैं तुरंत गिर जाएँगे और उनके टुकड़े-टुकड़े हो जाएँगे। उस विनाश के भयंकर अंधकार में अरबों का अर्धचंद्र प्रकाशित होने लगेगा। उस अंधकार में प्रकाश देने के लिए उसका उपयोग हुआ होगा। परंतु साथ-साथ यह भी सच है कि कुरान ग्रंथ के अंदर ही अरब संस्कृति के आरंभ के समान अंत भी समाविष्ट होने के कारण, जब दुनिया उन दो पृष्ठों के अंदर न समा पाएगी, विस्तीर्ण, ऊँची और चौड़ी तथा गहरी विकसित होगी तब उसे समाने के लिए कुरान असमर्थ होगा। कुरानांतर्गत ही अरब संस्कृति की यह अवस्था हुई ऐसा नहीं अपितु अपरिवर्तनीय ऐसे किसी भी ग्रंथ के दो पृष्ठों के बीच ही सारा विश्व और समस्त काल तक बंद करनेवाली किसी भी संस्कृति की आज नहीं तो कल यही गति होगी। उस धर्मग्रंथ के प्रथम पृष्ठ पर आविर्भूत नई शक्ति उसके अंत के पृष्ठ तक कार्यरत रह सकती है, पर उसके आगे नित्य बाहर जाना उसे निषिद्ध होने के कारण उसे वहीं पर समाप्त हो जाना होगा।

टिप्पणी—वीर सावरकर का यह लेख मैंने प्रथम शके १९०४ सन् १९८२ में 'स्फुट लेख' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया। उसके पूर्व उसे कोई प्रकाशित नहीं कर रहा था। यह मूल लेख उनके द्वारा लिखित उनके संग्रह में मिला। उसके नीचे दिनांक नहीं दिया है। परंतु यह लेख सन् १९२६-२७ का होना चाहिए।

(बाल सावरकर)

१. मुसलमानों का पंथोपंथ का इतिहास लेख पढ़िए। (जात्युच्छेदक निबंध, पृष्ठ)
२. वीर सावरकर लिखित 'मला काय त्याचे' (मोपल्यान्चे बंड) उपन्यास पढ़िए।

□□□

प्रथम राजनेता जिन्होंने विदेशी वस्त्रों की होली जलाई। (पुणे में ७ जुलाई, १९०५ को)

प्रथम भारतीय नागरिक जिन पर हेग के अंतरराष्ट्रीय न्यायालय में मुकदमा चलाया गया।

प्रथम छात्र जिनकी बैरिस्टर की उपाधि राजनिष्ठा की शपथ लेने से इनकार करने के कारण रोक ली गई।

प्रथम राजनीतिक बंदी जिन्हें दो जन्मों का कारावास मिला।

प्रथम साहित्यकार जिन्होंने, लेखनी और कागज से वंचित होने पर भी, अंदमान जेल की दीवारों पर कीलों, काँटों और यहाँ तक कि नाखूनों से विपुल साहित्य का सृजन किया और ऐसी सहस्रों पंक्तियों को वर्षों तक कंठस्थ कराकर अपने सहबंदियों द्वारा देशवासियों तक पहुँचाया।

प्रथम भारतीय लेखक जिनकी पुस्तकें, मुद्रित व प्रकाशित होने से पूर्व ही, दो-दो सरकारों ने जब्त कीं।
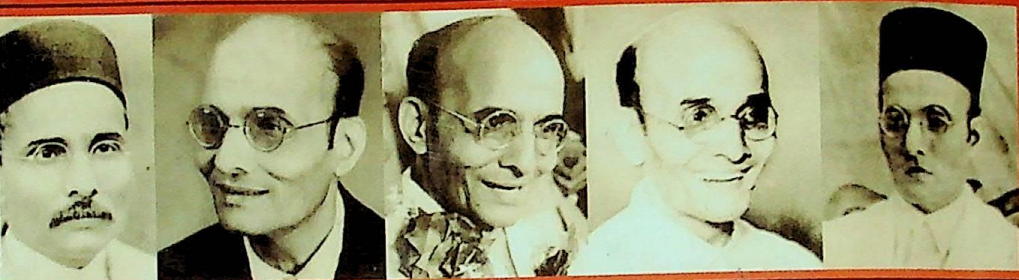
जिस देश में जन्म लिया और जिसका अन्न खाया, उसके ऋण से मुक्त हुए बिना अपने लिए स्वर्ग के द्वार कदापि नहीं खुल सकते।

स्वतंत्रता हमें मिली नहीं, स्वतंत्रता को बड़े-से-बड़ा बलिदान देकर प्राप्त किया गया है। 'स्वतंत्रता मिली' कहना सर्वथा मिथ्या है!

काल स्वयं मुझसे डरा है, मैं नहीं। फाँसी का फंदा चूमकर, कराल काल के स्तंभों को झकझोरकर मैं अनेक बार लौट आया हूँ। फिर भी जीवित रहा, यह शायद काल की ही भूल थी।

देवकार्य हेतु निर्वंश होनेवाली वंशलता अमर हो जाती है और उसकी लोकहित-परिमल की सुगंधि समस्त दिशाओं में व्याप्त हो जाती है।

देशद्रोहियों की प्रथम पंक्ति में खड़े रहने से कहीं अच्छा है देशभक्तों की अंतिम पंक्ति में खड़ा होना।

अपनी कुलदेवी माँ अष्टभुजा के चरणों में बैठकर शपथ लेता हूँ कि मातृभूमि का विदेशियों से मुक्त कराने के लिए आजीवन सशस्त्र क्रांति का ध्वज लेकर जूझता रहूँगा, चाहे इस प्रयास में हम तीनों भाइयों की भी वही नियति क्यों न हो जो चाफेकर बंधुओं की हुई।

ISBN 81-7315-327-2

ISO 9001 : 2008 प्रकाशक
www.prabhatbooks.com
₹ 600/-